अन्तर्राष्ट्रीय कानून

लेखक

हरिदत्त वेदालंकार, एम० ए०

प्राध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

(अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पाश्चात्य राजनीतिक
चिन्तन का इतिहास आदि के प्रणेता तथा मोतीलाल नेहरु, कौटिल्य,
बंगाल हिन्दी मण्डलादि विविध पुरस्कार विजेता)

प्रकाशक

सरस्वती सदन,

७-यू० ए०, जवाहर नगर, दिल्ली-७

[मूल्य : १५ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक
सरस्वती सदन, मसूरी
७ यू० ए०, जवाहर नगर, दिल्ली-७

प्रथम संस्करण, अक्तूबर, १९६०
द्वितीय संशोधित संस्करण, दिसम्बर, १९६४
तृतीय संशोधित संस्करण, जुलाई १९६८

मुद्रक
भारत मुद्रणालय
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का सम्पूर्ण रूप से संशोधित तृतीय संस्करण प्रस्तुत करते हुए इस बात का पूरा प्रयास किया गया है कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून विषयक नवीनतम विकास, घटनाओं और मामलो का समावेश किया जाय। अत इसमे बाह्य अन्तरिक्ष संधि (Outer Space Treaty, p 235), गहरे समुद्रतल (Deep Sea-bed) पर प्रभुत्व की समस्या (पृ०२२७), क्षेत्रीय आश्रयविषयक नवीन दृष्टिकोण (पृ० ३२३–४), युद्ध की वैधता के विचार की समाप्ति, अप्रत्यावर्तन के सिद्धान्त (पृ० ३२४) आदि पर नवीन प्रकाश डाला गया है। राजदूतों की अवध्यता और दूतावासो की अनतिक्रम्यता (Inviolability) के अन्तर्राष्ट्रीय नियम की अवहेलना के नवीन उदाहरण (पृ० ३४७–६) दिये गये है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा दक्षिण अफ्रीका के मामलो पर निर्णय (पृ० ४११–६) पर विस्तृत विचार किया गया है तथा सैब्बाटिनो (पृ० ६०२), स्वेतलाना (पृ० ३२१), सुच्चासिंह (पृ० ३०४), धर्मतेजा (पृ० ३२०–१) जैसे नये मामलो का निर्देश किया गया है।

इस संस्करण मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून विषयक भारतीय उदाहरणो तथा मामलो को अधिक विस्तार से दिया गया है। १९६५ के भारत-पाक संघर्ष मे पाकिस्तान द्वारा हवाई युद्ध के नियमों की अवहेलना (पृ० ४६४-५), पाकिस्तान के अधिग्रहण न्यायालय की वैधता (पृ० ४८६), समुद्री युद्ध के नियम तथा सास्कृतिक सामग्री को जब्त न करना (पृ० ४७७), राज्य उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे भारतीय परिपाटी और व्यवहार (पृ० १९५–२०२), भारत मे राष्ट्रीयताविषयक कानूनो का विकास और मामलो (२९७–३०३) पर नवीन सामग्री दी गई है। इस संस्करण की एक विशेषता यह है कि इसके प्रथम परिशिष्ट मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विदेशी मामलो के साथ-साथ भारतीय मामलो को विस्तृत परिचय दिया गया है (पृ० ६१२–६२३)। अनुक्रमणिका मे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो को काले टाइप मे दिया गया है ताकि इन्हे पुस्तक मे आसानी से ढूंढा जा सके।

इस पुस्तक का नवीन संस्करण प्रस्तुत करने मे मुझे इण्डियन कौन्सिल आफ वर्ल्ड अफेयर्स (Indian Council of World Affairs), सप्रू हाउस, नई दिल्ली के पुस्तकालय से इस पुस्तक के संशोधन के लिये आवश्यक पुस्तको तथा पत्रिकाओ को प्राप्त करने मे बहुमूल्य सहायता मिली है, इसके लिये मैं इसके अध्यक्ष का बहुत आभारी हूँ। आशा है, नवीन संस्करण इस विषय मे अभिरुचि और अनुराग रखने वाले पाठको के लिये उपयोगी तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा।

गुरुकुल कांगड़ी
(हरिद्वार)

—हरिदत्त

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का द्वितीय संशोधित संस्करण प्रस्तुत करते हुए लेखक को बड़ा हर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निरन्तर विकास हो रहा है। अतः इस संस्करण में १९६३ के अन्त तक इस कानून के विविध क्षेत्रों में होने वाले सभी महत्वपूर्ण नवीन परिवर्तनों का यथास्थान समावेश करने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है, इस विषय में अभिरुचि और अनुराग रखने वाले पाठकों के लिये नया संस्करण अत्यन्त उपयोगी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा। इंडियन कौन्सिल आफ् वर्ल्ड अफेयर्स, नई दिल्ली के पुस्तकालय से इस संस्करण के संशोधन के लिये मुझे अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर नई पुस्तकों और पत्रिकाओं को प्राप्त करने में बहुमूल्य सहायता मिली है, इसके लिये मैं इसके अध्यक्ष का बहुत आभारी हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी
२४-११-६३

—हरिदत्त

प्रथम संस्करण की भूमिका

वर्त्तमान शताब्दी के आरम्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन बिल्कुल निरर्थक समझा जाता था और इस विषय की सत्ता मे भी सदेह प्रकट किया जाता था। १९०७ मे जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न विषयो पर नियमो के निर्माण के लिये दूसरा हेग सम्मेलन बुलाया गया तो पश्चिमी देशो के कतिपय उच्च सैनिक अधिकारियो ने इस विषय मे यह मन्तव्य प्रकट किया कि "तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रोफेसरो तथा किताबी कीडो के दिमाग की उपज है, इन नियमो मे वे स्थल एव जलसेनाओ के सेनाध्यक्षो को कुछ कार्य करने से रोकना चाहते है। ऐसे नियम बिल्कुल बेकार हैं, *क्योंकि इनका पालन करने वाली कोई राजनीतिक सत्ता या शक्ति नही है।*" लार्ड साल्जबरी (Salisbury) ने यह मत प्रकट किया —'कानून शब्द का प्राय जिस अर्थ मे समझा जाता है, उस अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई सत्ता नहीं है। इसे लागू कराने वाला कोई न्यायालय नही है, अत इसे कानून कहना बहुत भ्रामक है।'[1]

किन्तु पिछले पचास वर्षो मे कई कारणो से, न केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता स्वीकार की जाने लगी है, अपितु इसका अध्ययन और पालन आवश्यक समझा जाने लगा है। दो विश्वयुद्धो ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अराजकता के दुष्परिणामो को सुस्पष्ट करते हुए इसमे कानून की प्रतिष्ठा बढाने और उसके पालन की अनिवार्यता पर बहुत बल दिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर आविष्कृत अणुबमा ने तथा इसके बाद बनाये गये हाइड्रोजन बमो, अन्त महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रो (Intercontinental Ballistic Missiles), अन्तरिक्षगामी राकेटो (Rockets), स्पूतनिको (Sputniks) चन्द्रगामी ल्यूनिको (Luniks) ने मानव सभ्यता के विनाश, विध्वस और प्रलय के ताण्डव की अमित सम्भावनाये उत्पन्न कर दी हैं।

इन परिस्थितियो मे अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन को वैसा ही अनिवार्य समझा जाने लगा है, जैसा विभिन्न देशो में राष्ट्रीय (Municipal) कानून का पालन आवश्यक समझा जाता है। जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र मे कानून ने अराजकता का अन्त किया है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे *मात्स्य न्याय की समाप्ति होनी चाहिए, अन्यथा भयङ्कर तृतीय विश्वयुद्ध मे* मानवजाति का सर्वनाश हो जायगा। कहा जाता है कि जब एक बार सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइनस्टाइन स पूछा गया कि अगले विश्वयुद्ध में लडाई के क्या साधन होंगे तो उन्होने कुछ समय तक विचार के उपरान्त यह कहा कि 'अगले विश्वयुद्ध के साधनो का तो मुझे ज्ञान नहीं, किन्तु उसमे अगले युद्ध तक यदि मानव जीता रहा तो वह पत्थरों से तथा अपने नाखूनो से ही लडेगा'। प्रलयङ्कर शस्त्रों द्वारा प्रवर्त्तित वर्तमान सभ्यता के

१. हालैण्ड—लेक्चर्स ऑन इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ५

सर्वमेध यज्ञ के बाद मनुष्य के पास इनके अतिरिक्त किसी अन्य शस्त्र के रहने की कल्पना नही की जा सकती।

इस समय मनुष्य के लिये सताप और चिन्ता का सबसे बडा विषय यह है कि गोर्की के शब्दो मे वह "आकाश मे पक्षियों की तरह उड सकता है, समुद्र मे मछलियो की तरह तैर सकता है किन्तु यह नही जानता कि पृथ्वी पर कैसे रहना चाहिए।" विश्वविध्वंसकारी अणुबमो तथा प्रलयकर प्रक्षेपणास्त्रो की विभीषिका अब उसे बाधित करने लगी है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता स्वीकार करे, इसकी प्रतिष्ठा बढाये, इसका पालन सब राज्यो के लिये अनिवार्य समझा जाय, इसकी अवहेलना उपेक्षा दृष्टि से न देखी जाय, जिस प्रकार विभिन्न देशो मे फौजदारी कानून का उल्लघन करने वाले व्यक्तियो को दण्डित किया जाता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भग करने वालो के लिये प्रभावशाली दण्ड-व्यवस्था हो। अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करने वाले राज्य अपनी सम्मिलित शक्ति द्वारा ऐसे प्रबल लोकमत का निर्माण करें कि कोई राष्ट्र ऐसा दुस्साहस न कर सके। इस समय सभी राजनीतिक और विचारक, तथा सामान्य व्यक्ति इस प्रश्न पर सहमत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था और पालन आवश्यक है।[1] सर्वनाश और विध्वस के ताण्डव मे मानवजाति के परित्राण का एकमात्र प्रभावशाली साधन यही है। नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय।

प्रस्तुत पुस्तक मे इसी महत्वपूर्ण विषय के सक्षिप्त, सागोपाग और सारगर्भित प्रतिपादन का विनम्र प्रयास किया गया है। यह अत्यन्त जटिल और दुरूह कानूनी विषय है, किन्तु इसका वर्णन अत्यधिक स्पष्ट, सुबोध और सरल शब्दो मे करने का प्रयत्न किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्वपूर्ण अगो और विषयो को हस्तामलक बनाने के लिये उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को विस्तार से दिया गया है।

अब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ग्रंथो मे भारतीय विचारधारा और पृष्ठभूमि का बहुत कम उल्लेख होता है, इसकी प्राय उपेक्षा की जाती है। इस पुस्तक मे पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्राचीन भारतीय विचारो को आधुनिक विचारो के साथ तुलनात्मक रूप मे दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधुनिक विद्वानो—ग्रोशियस, बिंकरशोयेक, वैटल, ब्लशली, हालैण्ड, हाल, आपेनहाइम, लारेन्स, हाइड, ब्रियर्ली, स्टार्क आदि के विचारो के साथ-साथ रामायण, महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, कामन्दकीय नीतिसार, नीतिवाक्यामृत आदि भारतीय धर्मग्रथो धर्मसूत्रो, स्मृतियो तथा नीतिग्रथो के विचारो का यथास्थान उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ दूतों (पृ० ३३६ ३४२), सधियो (पृ० ३७२ पृ० ३७४), स्थलयुद्ध (पृ० ४५६, ४६१–२, ४६५, पृ० ४६७, ४७२), समुद्रीयुद्ध (पृ० ४७४) तटस्थता (पृ० ५१७–८) विषयक प्राचीन भारतीय विचारो को पादटिप्पणियो मे दिया गया है। अन्त मे द्वितीय परिशिष्ट मे महाभारत, रामायण, कौटिलीय अर्थशास्त्र, धर्मसूत्रो और स्मृतियो

---

१. फिलिप सी० जेस्सप—ए माडर्न ला ऑफ नेशन्स, पृ० १

की अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी कुछ व्यवस्थाओं का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। पहले अध्याय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐतिहासिक विकास का प्रतिपादन करते हुए भारतीय विचारो को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास प्रधान रूप से पश्चिमी देशो मे हुआ है, अत इस विषय को स्पष्ट करने के अधिकाश उदाहरण या मामले (Cases) इन्ही देशो के हैं। इस समय ये मामले (Cases) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रमुख आधार हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को समझने के लिए इनकी जानकारी आवश्यक है। दुर्भाग्य वश प्राचीन भारत की ऐसी वादविधि (Case Law) हमे बिल्कुल उपलब्ध नही होती। इस पुस्तक मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे महत्वपूर्ण मामलो का यथास्थान परिचय दिया गया है। प्रथम परिशिष्ट मे इनका पृथक् रूप से भी उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही इस बात का प्रयत्न किया गया है कि यथासम्भव भारतीय उदाहरणो का समावेश हो। राज्यो की सीमाओ और सीमावर्ती नदियो के सम्बन्ध मे भारत, पाकिस्तान और चीन के आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के उदाहरण दिये गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय निरन्तर विकासशील है। इस पुस्तक मे इस बात का प्रयत्न किया गया है कि इसमे नवीनतम विचारो और उदाहरणो के समावेश से इसे अधिक से अधिक *अद्यतनीन (Up-to-date)* और *अभिनव बनाया जाय*। इसमे प्रादेशिक समुद्र की सीमा के सम्बन्ध मे मार्च १९६० के **समुद्री कानून के दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन** (International Second Conference on the Law of the Seas) के परिणामो का, १२ अप्रैल १९६० को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा पुर्तगाल के भारतीय प्रदेश मे से होकर गुजरने के अधिकार के विषय मे दिये गये निर्णय का, १ मई १९६० को अमरीकी यू-२ विमान द्वारा सोवियत आकाश की सीमा के अतिक्रमण से उत्पन्न हुए अन्तर्राष्ट्रीय विवादो तथा स्पुतनिको द्वारा बाह्य अन्तरिक्ष (Outer Space) की प्रादेशिक प्रभुता सम्बन्धी सर्वथा नवीन और अद्यतन विषयो का प्रतिपादन किया गया है।

हिन्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर पुस्तक लिखने मे सबसे बडी कठिनाई पारिभाषिक शब्दो की है। इस विषय मे अनेक सराहनीय प्रयत्न हुए हैं, किन्तु ये सब इस कानून की जटिल पारिभाषिक शब्दावली के लिये अपर्याप्त सिद्ध हुए है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अंग्रेजी शब्दावली बडी समृद्ध है, उसमे एक प्रधान अर्थ के विभिन्न सूक्ष्म भेदो को स्पष्ट करने के लिये अनेक शब्द हैं, *Authority, Title और Right अधिकार* के विभिन्न भेदो को सूचित करते हैं। किसी प्रदेश को वशवर्ती बनाने के लिये subjugation, subjection, subordination, annexation आदि अनेक शब्दो का प्रयोग होता है, किन्तु इन सबमे सूक्ष्म अन्तर है। यही दशा Interference, Intervention, Continuity, Contiguity आदि बीसियो शब्दो की है। यहाँ इस बात का प्रयत्न किया गया है कि इन शब्दो का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करने के लिये यथासम्भव पृथक्-पृथक् शब्दो का प्रयोग किया जाय।

कानूनी शब्दावली का निर्माण करते हुए तीन सिद्धान्तो का पालन किया गया

है। सर्वप्रथम भारत सरकार द्वारा स्वीकृत और प्रकाशित कानून, राजनीति और राजनय की पारिभाषिक शब्दावलियों से शब्द लिये गये है। इनमे शब्द न मिलने पर प्राचीन भारतीय साहित्य मे से इसके लिये उपयुक्त शब्द खोजे गये हैं। Prescription के लिये नारदस्मृति का चिरकालिक भुक्ति अपनाया गया है, Belligerent के लिये मनुस्मृति का युध्यमान ग्रहण किया है। Armistice के लिये हिन्दी मे युद्धविराम का प्रचलन है, Truce के लिये भी इसी शब्द का प्रयोग होता है, दोनों मे अन्तर रखने के लिये महाभारत के अवहार शब्द को अपनाया गया है। अनेक प्राचीन शब्द इस समय हिन्दी मे प्रयुक्त नही हो सकते। Convention के लिये पुराना सस्कृत शब्द 'समय' है, आजकल हिन्दी मे यह कालवाचक है, अत इसका प्रयोग अभि उपसर्ग के साथ 'अभिसमय' के रूप मे किया गया है ताकि कालवाची समय से इसका भेद बना रहे। इस बात पर पूरा ध्यान दिया गया है कि पारिभाषिक शब्द सरल, स्पष्ट और सुनिश्चित अर्थ के द्योतक हो।

अग्रेजी मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की शब्दावली का प्रमुख आधार रोमन कानून और लैटिन की शब्दावलिया है। लैटिन के अनेक वाक्याशो का अग्रेजी मे बहुत प्रचलन है। इस ग्रन्थ मे पहली बार इनके सस्कृत प्रतिरूप निश्चित करके इनका प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, Nullum crimen sine lege, pacta sunt servanda तथा Rebus sic Stantibus के लिये क्रमश 'नियमाभावे दण्डाभाव' 'राज्यसमया सम्माननीया', 'वस्तूनामावर्त्तमानस्थिते' का व्यवहार किया गया है। इसके साथ ही हिन्दी मे इनका आशय स्पष्ट कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन म लेखक को कई व्यक्तियो से बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिये वह इन सबका आभारी है। गुरुकुल कागडी के पुस्तकालय मे तथा इसके अध्यक्ष श्री प० धर्मदेव जी वेदवाचस्पति तथा अन्य कार्यकर्त्ताओ श्री विजयस्वरूप जी तथा श्रीराम जी शर्मा ने मुझे पुस्तकालय सम्बन्धी जो सुविधाये दी हैं, उनके बिना इसका लेखन सम्भव नही था, इसके लिये वह इन महानुभावों का कृतज्ञ है। बन्धुवर श्री रामरक्खामल जी ने इस पुस्तक के प्रूफ देखने मे तथा भाषा परिष्कार मे सहायता देकर लेखक को अनुगृहीत किया है। पारिभाषिक शब्दों के चयन मे दी गई सहायता के लिये लेखक श्री धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड का आभारी है। श्री विश्वरजन जी को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन की प्रेरणा की, इसके लिये प्रोत्साहन दिया, इसके सुचारु, सुन्दर और शीघ्र मुद्रण की व्यवस्था की, एतदर्थ लेखक उनका आभारी है।

स्पतर्षिगृह
६ अक्तूबर, १९६०
गुरुकुल कागडी

—हरिदत्त

विषय-सूची

प्रथम भाग

विषय प्रवेश

दूसरा भाग
शान्ति के कानून

सोलहवाँ अध्याय—राजनयिक प्रतिनिधि—राजदूत और वाणिज्यदूत (Diplomatic Agents and Consuls) ३३८—३६५

सत्रहवाँ अध्याय—सन्धियाँ (Treaties) ३६६—

तीसरा भाग

युद्ध के नियम

प्रथम खण्ड

विषय प्रवेश

प्रथम अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐतिहासिक विकास

(Historical Development of International Law)

विषय का महत्व—वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन कई दृष्टियो से असाधारण महत्व रखता है। इस समय वैज्ञानिक आविष्कारो द्वारा यातायात एव सचार के साधनो मे अभूतपूर्व उन्नति हुई है, इनसे तथा अन्तरिक्षगामी राकेटो, स्पूतनिको और चन्द्रगामी ल्यूनिको द्वारा देश और काल की दूरी पर विलक्षण विजय पायी जा रही है। इनके कारण तथा आधुनिक जीवन की अन्य परिस्थितियो मे सब देशो के सम्बन्ध एक दूसरे के साथ बढ रहे हैं, एक दूसरे पर निर्भरता मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। आर्थिक, व्यापारिक, सास्कृतिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक, शैक्षणिक, राजनीतिक आवश्यकताओ के कारण विभिन्न देशो के पारस्परिक सम्बन्ध इतने प्रगाढ हो रहे है कि इस समय कोई भी सभ्य राष्ट्र दूसरे राज्यो से सर्वथा पृथक् रह कर न तो अपना जीवनयापन कर सकता है और न ही किसी प्रकार की कोई उन्नति कर सकता है। पिछले दो विश्वयुद्धो ने यह भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है कि इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ का निर्माण असाधारण महत्व रखते हैं। अब यह समझा जाने लगा है कि जिस प्रकार विभिन्न राज्यो मे मनुष्यो ने अनेक नियमो तथा कानूनो का निर्माण करके समाज मे शान्ति स्थापित की है, अराजकता का अन्त किया है, मात्स्य न्याय की समाप्ति की है, इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बलवान् राष्ट्रो द्वारा निर्बल राष्ट्रो को हडपे जाने से रोकने के लिये और विश्व-शान्ति बनाये रखने के लिये कुछ नियमो, परम्पराओ और प्रथाओ का पालन आवश्यक है। जिस प्रकार एक राज्य मे रहने वाले व्यक्तियो के आपसी सम्बन्ध और व्यवहार उस राज्य के देशीय या राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) से नियन्त्रित होते है, वैसे ही विभिन्न राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा सचालित होने चाहियें।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्गम—वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून या विधि (International Law) की परिभाषा के १७८० ई० मे सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विधिशास्त्री जेरेमी बैन्थम (१७४८–१८३२) को दिया जाता है। उससे पहले राष्ट्रो के अन्योन्य सम्बन्ध और पारस्परिक सम्पर्क को नियन्त्रित करने वाले नियमो को लैटिन मे राष्ट्रो का कानून (Droit des gens) कहा जाता था। बैन्थम ने इसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Droit entere les gens) की परिभाषा का प्रयोग करने को कहा और इसका कारण बताते हुए कहा कि यह पहली परिभाषा की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट और सुबोध है।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस शास्त्र का उद्गम भी बैन्थम के साथ हुआ। ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है, जो इसे सर्वथा आधुनिक काल में विकसित हुआ शास्त्र मानते हैं। श्री लारेन्स ने तो यहां तक लिखा है कि प्राचीन काल में योरोपियन राज्यों के पास तटस्थता (Neutrality) का अभिप्राय प्रकट करने के लिये कोई शब्द तक नहीं था। श्री अल्फ्रेड जिमर्न का मत है कि "१९१४ से पहले विभिन्न राज्य तटस्थता रूपी गगन में बड़ी भव्यता के साथ परिभ्रमण करने वाले ऐसे नक्षत्र थे कि उनके भ्रमणमार्ग या कक्षायें कभी कभी आपस में टकराती थीं और इनके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ थोड़े से ही नियम बने थे"।[१]

इसमें सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकतम विकास आधुनिक युग में हुआ है, किन्तु प्राचीनकाल में इसके बीज अवश्य पाये जाते हैं। मानव समाज के आविर्भाव के समय से ही इसमें एकीकरण और पृथक्करण की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर मनुष्य ने आत्मरक्षा और विकास के लिये नियमों और कानून के क्षेत्र को विस्तीर्ण करते हुए शनैः शनैः परिवार, जनजाति (Tribe), नगर-राज्य (City-State), राज्य और साम्राज्य का संगठन किया, दूसरी ओर ये परिवार, जनजातियां और राज्य एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। इनसे विविध जातियों तथा राज्यों का उत्थान और पतन होता रहा। उपर्युक्त प्रवृत्तियों के संघर्ष से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक विचारों का उदय मानव समाज के उषाकाल में ही हो गया। कार्बेट ने लिखा है— "पुरातत्व और मानवविज्ञान ने हमें यह बताया है कि मनुष्य कई हजार वर्ष पहले ही समूह बना कर रहने लगा था, ये समूह अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था रखते थे और अन्य समूहों के साथ अपना सम्पर्क रखते हुए कुछ निश्चित नियमों का पालन करते थे। यूनान के नगर राज्यों द्वारा अपने संघ (Leagues) तथा मैत्रीसन्धियाँ करने तथा मध्यस्थों को अपने विवाद सौंपने से बहुत पहले, राजा अपने कूटनीतिक प्रतिनिधि मण्डलों द्वारा राजनैतिक चर्चा करने लगे थे, सन्धियों का निर्माण करते थे, युद्धों की घोषणा करते थे तथा कुछ निश्चित नियमों के अनुसार लड़ाई किया करते थे"।[२] हालैण्ड ने यह ठीक ही लिखा है कि प्राचीनकाल के राष्ट्र स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में प्रधान रूप से तीन प्रकार के नियम स्वीकार करते थे—(१) राजदूतों के विशेषाधिकार, (२) सन्धियां, (३) युद्ध की घोषणा तथा उसके संचालन के नियम।[३] अतः यह स्पष्ट है कि मानव समाज में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है, विभिन्न देशों के व्यापारिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्पर्क ने तथा युद्धों ने इसके विकास में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है।

विकास के तीन युग—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐतिहासिक विकास को श्री लारेन्स ने तीन युगों में बांटा है—

(१) **प्रथम युग**— मानव इतिहास के उषा-काल से रोमन साम्राज्य की स्थापना

१. अल्फ्रेड जिमर्न— दी लीग आफ नेशन्स एण्ड दी रूल आफ ला, पृ० ८८
२. पी० ई० कार्बेट-ला एण्ड सोसाइटी इन दी रिलेशन्स आफ स्टेट्स, पृ० ४
३. हालैण्ड-इण्टरनेशनल ला, अष्टम संस्करण, पृ० १०

तक—इस युग की यह विशेषता थी कि उस समय सब राज्यों में यह विश्वास प्रचलित था कि जाति या नस्ल (Race) की दृष्टि से समान होने पर ही राज्यों का एक दूसरे के प्रति कोई कर्त्तव्य है, अन्यथा कोई कर्त्तव्य नहीं है। उदाहरणार्थ, यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने यूनानी राज्यों में परस्पर युद्ध होने की दशा में इसके संचालन के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये, किन्तु यूनानियों से भिन्न बर्बर जातियों के साथ लड़ाई में इन नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं समझा।

(२) दूसरा युग-रोमन साम्राज्य से योरोप की १६वीं शती की धार्मिक सुधारणा (Reformation) तक—इस काल की यह विशेषता है कि इस समय यह माना जाता था कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन एक सामान्य उच्च शक्ति (Common Superior) द्वारा होना चाहिये। मध्यकाल में योरोप में दो ऐसी शक्तियाँ थीं—पवित्र रोमन सम्राट् तथा पोप। धार्मिक सुधारणा के साथ पोप की धार्मिक प्रभुता क्षीण हो गई और उपर्युक्त विश्वास शिथिल हो गया।

(३) तीसरा युग धार्मिक सुधारणा से वर्तमानकाल तक। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस समय इस सिद्धान्त का प्राधान्य है कि विभिन्न राष्ट्र एक विशाल राष्ट्र-समुदाय (Community of Nations) के सदस्य हैं, इन सब के एक दूसरे के प्रति कुछ अधिकार और उत्तरदायित्व हैं। यहां इन तीनों युगों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

प्रथम युग (क) भारत—यहाँ प्राचीनकाल में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का विकास हुआ। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, नीतिवाक्यामृत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक नियमों का वर्णन मिलता है। इनमें दूतों की अवध्यता, युद्ध के नियम और वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में मण्डल सिद्धान्त उल्लेखनीय है। आगे यथास्थान इनका विस्तृत वर्णन होगा, यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वर्तमानकाल की भांति उस समय भी दूत अवध्य समझा जाता था। महाभारत में यह कहा गया है कि इनको मारने वाला राजा अपने मन्त्रियों सहित नरकगामी होता है।[४] युद्ध छिड़ जाने पर भी दूत को तथा उसके साथियों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाई जा सकती थी (नीति प्रकाश ७।६४)। आजकल की भांति उस समय दूतों के कई वर्ग और श्रेणियाँ होती थीं। कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१६) में दूतों के तीन भेदों का वर्णन किया है—(१) निसृष्टार्थ—इसे दूसरे राजा को देश तथा काल के अनुसार उचित समझी जाने वाली सभी बातें कहने की पूरी स्वतन्त्रता और अधिकार होता था। पाण्डवों द्वारा दुर्योधन के पास सन्धि की चर्चा के लिये भेजे गये श्रीकृष्ण इसी प्रकार के दूत थे। यह वर्ग आजकल के राजदूत (Ambassador) के समान होता था। (२) परिमितार्थ—निश्चित उद्देश्य के साथ भेजा हुआ दूत (Envoy)।

---

४. महाभारत १०।८५।२६, दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत् सचिवैः सह। दूत सम्बन्धी नियमों के लिये देखिये—वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड ५२।१५, २१, युद्धकाण्ड २५।२६; महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म १००।२७—२८, तथा ७८।२६—२७ कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१६।

(३) शासनहर—यह केवल राजाज्ञाओ अथवा सन्देशो का वाहक होता था।[5]

युद्ध के नियमो के बारे में प्राचीन भारतीय साहित्य मे अनेक वर्णन उपलब्ध होते है। कौरव पाडवो की लडाई शुरू होने से पहले दोनों पक्षों ने इन नियमों के सम्बन्ध म एक समझौता किया था (देखिये द्वितीय परिशिष्ट तथा भीष्म पर्व १।२६—३२)। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।५।१०।१२), बौधायन धर्मसूत्र (१।१०।१०—१२), गौतम धर्म-सूत्र (१०।१७—१८), मनुस्मृति (७।९०—९३), याज्ञवल्क्य (१।३२६), महाभारत (शान्ति पर्व ९५।७—१४, ९६।३, ९८।४८—४९, २९७।४, द्रोणपर्व १४३।८, कर्णपर्व ९०।१११—११३, मौप्तिकपर्व ५।११—१२, ६।२१—२३), शुक्रनीति (४।७।३५४—६२), रामायण (युद्ध काण्ड १८।२७।२८) मे युद्ध विषयक बडे उदात्त और मानवीय नियमों का प्रतिपादन है। वर्तमान समय मे १९०७ के हेग के चतुर्थ समझौते मे तय किये गये नियमो से इनकी तुलना हो सकती है। जिस प्रकार हेग समझौते की धारा २३ के अनुसार विषैली गैसों तथा शस्त्रो के प्रयोग का, धोखे से मारने या घायल करने का और हथियार डाल देने वाले व्यक्ति को मारने का निषेध किया गया था, इसी प्रकार मनु ने कहा है—युद्ध म शत्रुओ को धोखा देने वाले कूट हथियारो (ऊपर से लकडी के खोल वाले किन्तु इनके अन्दर गुप्त रूप से लोहे के तेज हथियार रखने वाले) से लडाई न करे, यह लडाई लोहे की नोक वाले (कर्णी), विष से बुझे हुए तथा जलती हुई आग वाले बाणो द्वारा नही होनी चाहिए। रथ से उतर कर जमीन पर आये, नपुसक (प्राण-दान के लिए), हाथ जोडने वाले, (प्राण बचाकर भागने मे) खुले बालो वाले तथा 'मैं तेरा हूँ' ऐसा कहने वाले को, सोये हुए, कवच खोले हुए, नग्न, नि शस्त्र, न लडने वाले तथा लडाई देखने के लिए आये दर्शक, टूटे हथियार वाले, पुत्रादि के शोक से पीडित, बहुत अधिक घायल, डरे हुए तथा युद्ध से विमुख होकर भागने वाले को नही मारना चाहिए।[6] महाभारत (शान्तिपर्व) मे युद्ध मे बूढे, बच्चे, स्त्री तथा आत्मसमर्पण करने वालो को मारने का निषेध किया है और यह कहा गया है कि शत्रु सैनिक के घायल होने पर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए तथा अच्छा होने पर उसे मुक्त कर देना चाहिए।[7] एक आधुनिक विधिशास्त्री आर्थर नसबौम (Arthur Nusbaum) ने यह लिखा है कि मनु के ये नियम युद्ध सम्बन्धी विषयो मे अत्यधिक मानवीयता को प्रदर्शित

---

५. अर्थशास्त्र १।१६, याज्ञवल्क्य स्मृति १।३२८ की टीका करते हुए विज्ञानेश्वर ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—तत्र निसृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितु क्षमा। उक्तमात्र ये परस्मै निवेदयन्ति ते सदिष्टार्था। शासनहरास्तु राजलेखहारिण।

६. मनुस्मृति ७।९०—९३ न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्। न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनै॥ न च हन्यात्स्थलारूढ न क्लीब न कृताजलिम्। न मुक्तकेश नासीन न तवास्मीति वादिनम्। न सुप्त न विसन्नाह न नग्न न निरायुधम्। नायुध्यमान पश्यन्त न परेण समागतम्॥ नायुधव्यसनप्राप्त नार्त नातिपरिक्षतम्। न भीत न परावृत्त सता धर्ममनुस्मरन्।

७. शान्तिपर्व ९८।४८—४९ वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न स्त्री न चैव पृष्ठत। तृणपूर्ण-मुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत्॥

करते हैं।[८] इस मे कोई सन्देह नही कि इन नियमो का प्राचीन भारत मे सदा पालन नही होता था। महाभारत मे इनके उल्लघन के अनेक उदाहरण है, एकाकी वीर अभिमन्यु को अनेक महारथियो ने मिलकर मारा था। भीम ने गदायुद्ध के नियम को तोडा था। फिर भी सामान्य रूप से इन नियमो का पालन होता था। युद्धो के समय सैनिक मध्य युग की भाँति असैनिक जनता का क्रूरतापूर्वक सहार नही करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय भारत आये यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने उसकी पुष्टि करते हुए लिखा था—"निकटवर्ती प्रदेश मे लडाई होने पर भी भूमि पर खेती करने वाले कृषक किसी प्रकार के भय से आतंकित नही होते क्योकि युद्ध करने वाले कृषि मे लगे हुए व्यक्तियो के कार्य मे कोई बाधा नही डालते।"[९]

प्राचीनकाल मे युद्धो के दो भेद किये जाते थे—धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध। धर्मयुद्ध मे उपर्युक्त नियमो का पूरा पालन किया जाता था, कूटयुद्ध मे सब प्रकार की धोखेबाजी और छल के प्रयोग की अनुमति थी, उपर्युक्त नियमो का पालन आवश्यक नही था। कौटिल्य ने कहा कि शक्तिशाली होने पर धर्मयुद्ध ही करना चाहिए। (अधिकरण १०, अध्याय ३)। भीष्म (महाभारत शान्तिपर्व) और शुक का यह मत है कि धर्म एव कूट दोनो प्रकार के युद्धो से शत्रु का सहार करना चाहिए। श्री राम और लक्ष्मण ने छल से ही बालि तथा मारीच को मारा था[९a]। भारत मे कूटयुद्धो की प्रथा प्रचलित होने पर भी सुदूर पूर्व के अन्य देशो के समान यहाँ अमानवीय और नृशसतापूर्ण कार्य नही होते थे। यहाँ किसी राजा ने थूतमोज तृतीय (Thutmoses III) अथवा असुरनजरपाल की भाँति मानवीय खोपडियो से दीवारें बनाने की डीग नही हाकी थी अथवा नगर के द्वारो और दुर्ग की दीवारो को पराजित शत्रुओ की खालो से अलकृत नही किया था।[१०] यहाँ इस बात पर बहुत बल दिया गया कि राजा को अधर्म द्वारा राज्य जीतने की इच्छा

---

८. आर्थर नसबौम—ए कन्साइज हिस्टरी आफ दी ला आफ नेशन्स, पृ० ३

९. मेक्क्रिण्डल—एन्शेएट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज फ्रैगमैण्ट १, पृ० ३२। नसबौम ने यह लिखा है कि यह विश्वास करना कठिन है कि वास्तविक युद्धों में उपर्युक्त नियमों का कोई बडा महत्व था, क्योंकि इन नियमों को सुदृढ बनाने के लिए कोई कानूनी अनुज्ञप्तियाँ (Legal Sanctions) नहीं थीं। इस विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि उस समय कानूनी दण्डों की अपेक्षा धार्मिक दण्डों का अधिक महत्व था। परलोक बिगडने और नरकगामी होने की नैतिक अनुज्ञप्ति (Moral sanction) कानूनी अनुज्ञप्तियों से अधिक प्रबल थी। इसके भय से लोग उपर्युक्त नियमों का पालन करने के लिए बाधित होते थे। मनु ने नैतिक अनुज्ञप्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि जो सैनिक सग्राम में भयभीत और पराङ्मुख व्यक्ति को मारता है, उसे अपने स्वामी का सारा पाप लगता है (७।९४)।

९a शुक्रनीति ४।३५०, धर्मयुद्धै० कूटयुद्धैर्हन्यादेव रिपु सदा। ४।३५६ रामकृष्णेन्द्रादिदेवैः कूटमेवादृत पुरा। कूटेन निहतो बालिर्यवनो नमुचिस्तथा।

१०. अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एशेण्ट इण्डिया, पृ० २२१

कभी नहीं करनी चाहिए।[11]

अपने पड़ोसी देशों के साथ बरती जाने वाली वैदेशिक नीति का परिचय हमें **मण्डल** के प्रसिद्ध सिद्धान्त से मिलता है। इसका अनेक प्राचीन ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन है।[12] यहाँ इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि अपने राज्य को बढ़ाने की तथा विजय करने की इच्छा रखने वाले (विजिगीषु) राजा के राज्य की सीमा के साथ लगा हुआ सामने वाला पड़ोसी राज्य स्वाभाविक रूप से उसका शत्रु (अरि) होगा, किन्तु इससे अगला राज्य उसके शत्रु (अरि) का मित्र होने से अरि का मित्र होगा, किन्तु इसके बाद वाला इसी प्रकार उसके मित्र का मित्र और अगला राजा अरिमित्र का मित्र होगा। ये पाँच राज्य तो विजिगीषु के राज्य के सामने वाली दिशा (पुरस्तात्) में हुए, इसी तरह उसके पीछे (पश्चात्) भी कुछ राज्य होते हैं, इन में से एकदम पिछले राज्य को पार्ष्णिग्राह (पार्ष्णि अर्थात् एड़ी को पकड़ने वाला) कहा जाता है। वह भी स्वाभाविक रूप से शत्रु होगा, उसे यह नाम इसलिए दिया गया है कि जब विजिगीषु विजय के लिए आगे बढ़ता है तो वह पीछे से उसके राज्य में गड़बड़ उत्पन्न करता है। पार्ष्णिग्राह से अगला राज्य आक्रन्द कहलाता है, इसे यह नाम देने का यह कारण है कि यह ऐसा होता है जिसकी सहायता पाने के लिए विजिगीषु पुकार (आक्रन्द) करता है। यह सामान्य रूप से पार्ष्णिग्राह का शत्रु होने से विजिगीषु का मित्र होगा। आक्रन्द के बाद का राजा पार्ष्णिग्राह का मित्र होने से पार्ष्णिग्राहासार तथा इससे अगला राजा आक्रन्द का मित्र होने से आक्रन्दासार कहलाता है। इसके अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के राज्य भी हैं—मध्यम तथा उदासीन। मध्यम ऐसा राज्य है जिसका प्रदेश विजिगीषु तथा अरि के राज्यों की सीमा के साथ लगा हुआ है, मध्यम दोनों की चाहे वे मिले हुए (संहत) हों या शत्रु हों—सहायता करने में समर्थ होता है और इन दोनों के आपस में न मिले होने की दशा में दोनों का मुकाबिला कर सकता है। उदासीन राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि तथा मध्यम तीनों राज्यों की सीमाओं से परे होता है, यह बहुत प्रबल होता है, उपर्युक्त तीनों के परस्पर मिले होने या न मिले होने की दशा में वह उनकी सहायता कर सकता है और उनके परस्पर न मिले होने की दशा में से प्रत्येक का मुकाबिला कर सकता है। इस प्रकार बारह राजाओं का यह समूह मण्डल कहलाता है। श्री पाण्डुरंग वामन काणे द्वारा दिये गये निम्नलिखित चित्र से इन बारह राज्यों की स्थिति स्पष्ट हो जायगी।[13]

---

११. महाभारत—१२।९६।१—३ नारभेत मही जेतु लिप्सेत पृथ्वीपति । अधर्मविजयं लब्ध्वा कोऽनुमन्येत भूमिप । अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ।

१२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण ६ अध्याय २ तथा अधिकरण ७, मनु ७।१५४—२११, महाभारत, आश्रमवासिपर्व ६—७, याज्ञवल्क्यस्मृति १।३४५—३४८, कामन्दक ८ से ११ अध्याय, अग्निपुराण अध्याय २३३ तथा २४०, नीतिवाक्यामृत पृ० ३१७—३६४, राजनीतिप्रकाश पृ० ३१६—३३०, नीतिमयूख पृ० ४४—४६ ।

१३. पाण्डुरंग वामन काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृ० २२२

	उदासीन								
अरिमित्र मित्र	मित्रमित्र	अरिमित्र	मित्र	अरि / मध्यम	विजिगीषु	पार्ष्णिग्राह	आक्रन्द	पार्ष्णिग्राहासार	आक्रन्दासार

मण्डल सिद्धान्त का मूल तत्व यह है कि इस बात की बहुत अधिक सभावना है कि किसी राजा के पडोसी राजा उसके शत्रु और इन पडोसी राजाओ के अगले पडोसी इनके वैरी होने से पहले राजा के मित्र हो, वे उसके साथ मिलकर मध्यवर्ती राजाओ को चक्की के दो पाटो म गेहू की तरह पीस सकते है। अत पहले राजा की इनके साथ मैत्री होना स्वाभाविक है। मण्डल सिद्धान्त मे इसी के आधार पर राज्य की वैदेशिक नीति सचालित करने तथा दूसरे देशो को अपना मित्र बनाने पर बल दिया गया है।

कौटिल्य ने सामुद्रिक युद्ध के कुछ नियमो का उल्लेख किया है। उसने नावाध्यक्ष के कार्यो का वर्णन करते हुए कहा है कि वह चोर डाकुओ की नौकाओ को नष्ट कर दे, इसी प्रकार शत्रु के देश को जाने वाली बाजार के तथा बन्दरगाह के नियमो को उल्लघन करने वाली नौकाओ का विध्वस कर देना चाहिए।[14] भारत का मध्यकाल मे यूरोपियन राज्यो तथा से उनकी विचारधारा से कोई सम्बन्ध नही था, अत वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर भारत का प्रभाव नगण्य सा ही है।

(ख) <u>प्राचीन मध्यपूर्व के राज्य</u>—चौथी सहस्राब्दी ई० पू० से मध्यपूर्व के राज्यो मे अन्तराष्ट्रीय व्यवहार और कानून के कुछ प्रमाण मिलने लगते है। ३१०० ई० पू० मे लगश तथा उम्मा के मेसोपोटामियन नगर राज्यो मे सीमा के सम्बन्ध मे हुई एक सधि का वर्णन करने वाला एक प्रस्तर अभिलेख मिला है। इसमे पराजित उम्मा जाति ने पाँच शक्तिशाली सुमेरियन देवी देवताओं की शपथ लेते हुए दोनो की सीमावर्ती खाई और पत्थर को न लाघने की प्रतिज्ञा की है। कुछ विद्वानो के मतानुसार इसमे पच निर्णय (arbitration) का भी वर्णन है, क्योकि लगश तथा उम्मा के बीच सीमासूचक पत्थर की स्थापना इनके समीपवर्ती किश राज्य के राजा मेसिलिम ने की थी। दूसरी सहस्राब्दी ई० पूर्व० से मिट्टी की मुहरो पर तथा पत्थर पर खुदी हुई अनेक सधियां उपलब्ध हुई है। ये मिश्री तथा हिट्टाइट शासको के मध्य मे हुई हैं और इनका प्रधान विषय सीमा विवाद का निर्णय, शान्ति स्थापन और मैत्री स्थापित करना है। इनमे सबसे प्रसिद्ध सधि १२७९

---

१४ अर्थशास्त्र २।२८। २४-२५ हिंस्रिका निर्घातयेत्। अमित्रविषयातिगा: पण्यपत्तन चारित्रोपघातिकाश्च ॥

ई० पू० मे मिश्र के राजा रेमसीज (Ramses II) और हिट्टाइट राजा हतुसिली के मध्य हुई थी, इसमे यह व्यवस्था की गई है कि एक राज्य मे अपराध करने के बाद जो अपराधी दूसरे राज्य में भाग जायें, उन्हे पकड़कर पहले राज्य को लौटा दिया जाय। सम्भवत प्रत्यर्पण (Extradition) का यह प्राचीनतम उल्लेख है। इसमें दोनों राजाओं ने एक दूसरे के आन्तरिक शत्रुओं के विरुद्ध सहायता देने की प्रतिज्ञा की है और इसके लिए अनेक मिश्री और हिट्टाइट देवताओं को साक्षी बनाया है।[15]

यहूदियों के साहित्य में भी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का कुछ वर्णन है। पुराने अहद-नामे (Old Testament) की एक पुस्तक डिट्रानमी में युद्ध मे स्त्रियों तथा बच्चों को मारने का निषेध है। इनमें धर्म की रक्षा के लिए पवित्र युद्ध करने का विधान है। विषम परिस्थितियों म भी शत्रु को दिये गये वचन के प्रतिपालन पर बल दिया गया है (इसीहा ८:६)।

(ग) यूनान—प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० मे यूनानियों ने उत्कृष्ट कोटि की सभ्यता का विकास किया। वर्तमान टर्की और यूनान के प्रदेश में इनके अनेक लघु नगर राज्य थे। इन सबकी नस्ल, भाषा, धर्म और रीति रिवाज एक जैसे थे। इनमे वाणिज्य का विकास होने से सामुद्रिक व्यापार के नियम बने, रोडस टापू इसका बड़ा केन्द्र था, अत ये नियम रोडियन कानून (Rhodian Laws) के नाम से प्रसिद्ध है। लारेन्स के मतानुसार इन नियमों का प्रभाव रोमन सम्राटों के सामुद्रिक तथा व्यापारिक नियमों पर पड़ा। यूनान के विभिन्न राज्यों मे अनेक राजनीतिक सन्धियां होती थीं। इनम १६वीं शताब्दी जैसी जटिल सधियां और सघ पाये जाते हैं। उस समय विदेशियों (Aliens) की सत्ता कानूनी तौर से स्वीकार की जाती थी। इसी प्रकार का एक वर्ग मीटिओकोई (Metoikoi) था। ये प्राय व्यापार और वाणिज्य में लगे हुए विदेशी व्यक्ति होते थे, इन्हें कानूनी रक्षा के अधिकार अन्य नागरिकों के समान प्राप्त थे, किन्तु राजनीतिक अधिकार नहीं होते थे और ये अचल सम्पत्ति (Real Estate) रख सकते थे। इनमें वर्तमान व्यापार प्रतिनिधि (Consul) से समानता रखने वाले प्रोक्सीनोस (Proxenos) होते थे। यह प्राय एक ऐसा प्रतिष्ठित नागरिक होता था, जिसे कोई विदेशी राज्य सरकारी तौर से अपने नागरिकों की सुरक्षा तथा अपने राज्य के अन्य राजनयिक (Diplomatic) कार्य सौंपता था।

धर्म ने यूनान की राजनीति पर बड़ा प्रभाव डाला था। कई बार किसी विशेष पवित्र धर्मस्थान की रक्षा के लिए कुछ यूनानी नगर-राज्य आपस मे समझौता करके एक सघ का निर्माण करते थे। इस प्रकार के सघ एम्फिक्टियनी (Amphictyony) कहलाते थे। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण यूनान के पवित्रतम मन्दिर डेल्फी (Delphi) की रक्षा के लिए बनाया गया सघ था। ये धार्मिक सघ बाद मे राजनीतिक बन जाते थे। यहाँ धर्मस्थानों मे शरण लेने वाले अपराधी सुरक्षित समझे जाते थे, उन्हें नहीं पकड़ा जा सकता था, आश्रयाधिकार (Right of Asylum) व्यापक रूप से स्वीकार किया

१५. आर्थर नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २-३

जाता था। सीमाओं, नदियों तथा स्रोतों के सम्बन्ध में होने वाले विवाद पञ्च निर्णय (Arbitration) द्वारा तय किये जाते थे।

युद्धों के सम्बन्ध में यूनानियों का दृष्टिकोण प्लेटो द्वारा सुकरात के मुँह में कहलायी हुई कुछ सूक्तियों से स्पष्ट होता है। इनके अनुसार उसका यह विचार था कि युद्ध शब्द का प्रयोग यूनानियों द्वारा अपने से भिन्न जातियों के साथ किये जाने वाले संघर्षों तक सीमित करना चाहिए। यूनानी लोगों में होने वाले संघर्ष युद्ध नहीं, किन्तु बीमारी और फूट हैं। इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु यदि यह अनिवार्य हो जाय तो इसकी उग्रता को कम करने का प्रयास होना चाहिए। इसके लिए उस समय अनेक नियम प्रचलित थे। पहला नियम एम्फिकटियनिक संधियों द्वारा धर्मस्थानों की सुरक्षा थी, इन्हें युद्ध में किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाई जा सकती थी, लडाई से भागकर इनमें शरण ग्रहण करने वाले व्यक्ति अवध्य समझे जाते थे। दूसरा नियम यह था कि पुरोहित अवध्य माने जाते थे। तीसरा नियम यह था कि दोनों पक्षों को रणक्षेत्र में निहत होने वाले सैनिकों को विधिपूर्वक दफनाने की अनुमति थी। चौथा उल्लेखनीय नियम यह था कि रणक्षेत्र में विजय की स्मृति को सुरक्षित बनाने के लिए पत्थर या कांसे के स्थायी स्मारक न बनाये जायें। केवल लकडी के स्मारक खडे किये जा सकते थे। यह नियम इसलिए था कि शत्रुता की कोई स्थायी स्मृति नहीं होनी चाहिए। इन नियमों के होते हुए भी नसबौम ने *यह स्वीकार किया है कि यूनान में मनुस्मृति के नियमों* (देखिये ऊपर पृ० २०) जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी।[१६]

यूनानियों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर कोई बडा प्रभाव नहीं डाला। नसबौम के मतानुसार यूनानियों के उपर्युक्त अधिकांश नियम धार्मिक थे, नगर-राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी ये नियम अन्तर्राष्ट्रीय (International) न होकर अन्तर्दशीय (Intermunicipal) थे। यूनानियों को राष्ट्रों के परिवार (Family of nations) का कोई ज्ञान न था। कुछ यूनानी नियम वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं से समानता रखते हैं, किन्तु यह सर्वथा आकस्मिक और काकतालीय है। यूनानियों में कानूनी विचारों के विकास की प्रतिभा नहीं थी, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रोमन विचारक यूनानी दर्शन से प्रभावित हुए। इस प्रकार परोक्ष रीति से यूनानी विचारधारा ने अन्तर्राष्ट्रीय के कानून के विकास पर प्रभाव डाला।[१७]

<u>दूसरा युग–रोम</u>—पश्चिमी जगत् में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में यूनान की अपेक्षा रोम का अधिक असर पडा। प्राचीनकाल में रोमन लोगों ने कानून के विकास में *विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया था।* इस विषय में उनका सर्वोत्तम स्मारक बाइजैण्टाइन सम्राट जस्टीनियन (५२७-५६५ ई०) द्वारा तैयार करवाया हुआ दीवानी नियमों का सग्रह (Corpus juris civilis) है। रोमन लोगों में यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई बडा महत्व नहीं था, फिर भी मध्यकाल में इसकी कानूनी पद्धति

---

१६. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६

१७. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विचारकों का प्रधान प्रेरणा स्रोत और आधारशिला थी।

यूनानियों की भांति रोमन लोगों में भी सन्धि विग्रह धार्मिक कार्य समझे जाते थे। ५६० ई० पू० में समाप्त होने वाले राजाओं के आरम्भिक युग से लड़ाई छेड़ने, सन्धि करने, कूटनीतिक वार्ता चलाने, दूत भेजने, प्रत्यर्पण आदि के अन्तर्राष्ट्रीय तथा वैदेशिक कार्य फीशल (Fetial) नामक बीस पुरोहितों का विशेष रूप से संगठित समुदाय (Collegium Fetialium) किया करता था। युद्ध छेड़ने के सम्बन्ध में इनका कार्य बड़ा महत्वपूर्ण होता था। युद्ध दो प्रकार के माने जाते थे—न्याय्य (Just) और अन्याय्य (Un-Just)। न्यायपूर्ण युद्धों के चार कारण थे—(१) रोमन प्रदेश का अतिक्रमण, (२) दूतों के विशेषाधिकारों का उल्लंघन, (३) सन्धियों का भंग करना, (४) अब तक मित्र बने किसी राज्य द्वारा युद्ध में शत्रु को सहायता देना। न्यायपूर्ण युद्ध उपर्युक्त कारण उपस्थित होने पर तभी किये जा सकते थे, जब जटिल धार्मिक विधान के बाद फीशल पुरोहित देवताओं को साक्षी बनाकर युद्ध के कारणों की सत्यता की घोषणा करें और चार फीशल सन्धि भंग करने वाले राज्य से इस विषय में कोई सन्तोषजनक उत्तर न प्राप्त कर सकें। यदि दूसरा देश विचार के लिए समय चाहता था तो उसे तीस या तेंतीस दिन की अवधि दी जाती थी। यदि इसमें कोई समाधान नहीं हो पाता था तो फीशल यह प्रमाणित करते थे कि युद्ध के लिए न्यायोचित कारण है। सीनेट द्वारा युद्ध का निश्चय हो जाने पर एक फीशल रोमन सीमान्त से एक भाला दूसरे देश की ओर फेंकता था, इसे लड़ाई की विधिपूर्वक घोषणा समझा जाता था। ऐसा युद्ध न केवल न्यायपूर्ण अपितु पवित्र (Belum Justum et pium) समझा जाता था। रोमन लोगों को इस धार्मिक विधि द्वारा यह विश्वास होता था कि देवता युद्ध में उनका साथ देंगे, इससे उनका उल्लास और साहस (Morale) बना रहता था। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से फीशल विषयक कानून (Jus fetiale) विशुद्ध रूप से रोम का देशीय (Municipal) कानून था, फिर भी इसमें अन्तर्राष्ट्रीय विचारों के कुछ बीज अवश्य थे। फीशल विधि विधान तो रोम के गणतन्त्रीय युग में लुप्त होने लगे किन्तु न्यायपूर्ण युद्ध के विचार को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बड़ी महत्ता दी जाने लगी। नसबौम ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में रोम का सबसे बड़ा अंशदान (Contribution) बताया है।[१८]

रोमन युद्ध की समाप्ति तीन प्रकार से करते थे—(क) शान्ति-सन्धि द्वारा, (ख) शत्रु के समर्पण (Deditio) से, (ग) शत्रु के देश पर अधिकार या आवेशन (Occupation) द्वारा। उस समय सन्धियां तीन वर्गों में बांटी जाती थीं—(अ) सौहार्द सन्धि (Treaty of Friendship or Amicitia), (आ) मैत्री सन्धि (Treaty of Alliance or foedus), (इ) आतिथ्य सन्धि (Treaty of Hospitality or Hospitium)। सन्धियाँ धार्मिक विधियों द्वारा सम्पन्न की जाती थीं। इनमें देवताओं का आह्वान और अनेक प्रकार के यज्ञ होते थे, अतः इन्हें बड़ा पवित्र समझा जाता

१८. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ११

था। रोमन लोगो को किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते को करने तथा सीनेट द्वारा उसकी औपचारिक स्वीकृति या अनुसमर्थन (Ratification) मे सूक्ष्म अन्तर का पूरा ज्ञान था। यदि कभी रोम की ओर से सन्धि वार्ता करने वाला प्रतिनिधि किसी दूसरे पक्ष के साथ शपथग्रहण करके कोई समझौता करता था और बाद मे यह समझौता सीनेट द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता था तो ऐसे व्यक्ति को निर्वासित करके दूसरे पक्ष के पास भेज दिया जाता था। इसका उद्देश्य सन्धिकर्ता की दैवीय प्रकोप से रक्षा करना था। उसने रोमन पक्ष की ओर से जिन देवताओ की शपथ लेकर सन्धि की थी, वे रोम द्वारा इस सन्धि के सीनेट द्वारा अस्वीकृत होने पर, स्वभावत इसका उल्लघन करने वालो को दण्ड देने का अधिकार रखते थे। किन्तु उस व्यक्ति के दूसरे पक्ष मे चले जाने से वह व्यक्ति इस विषय मेदेवता उसके प्रकोप से मुक्त समझा जाता था। दूतों की अवध्यता प्राचीन रोम मे स्वीकार की जाती थी।

रोम को अपने गणतन्त्रीय (Republican) तथा शाही (Imperial) युगो में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की बहुत कम आवश्यकता पडी, अत उनमे प्रत्यक्ष रूप से इसके विकास की सम्भावना बहुत कम थी। किन्तु रोमन कानून ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर परोक्ष रीति से बडा प्रभाव डाला है। १६वी १७वी शताब्दियो मे जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन और अनुसन्धान की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ, उस समय पश्चिमी जगत् मे रोमन कानून सर्वमान्य था। किन्तु यह कानून प्रधान रूप से वैयक्तिक (Private) था। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्ध रखने वाली कोई बात नही थी। फिर भी विद्वानो ने वैयक्तिक रोमन कानून के सिद्धान्तो के साथ सादृश्य रखने वाली अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में इन्हे लागू करना शुरू किया, उदाहरणार्थ वैयक्तिक स्वामित्व (Private ownership or Dominium) के नियम राज्यो की प्रादेशिक प्रभुसत्ता *(Territorial Sovereignty)* *के बारे मे लागू किये गये। वैयक्तिक ठेको या* सविदाओ (Contracts) के नियम सन्धियो के बारे मे सत्य समझे जाने लगे। रोम के *वैयक्तिक कानून की अनेक परिभाषाओ को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में ग्रहण कर लिया* गया। इसके कुछ रोचक उदाहरण निम्नलिखित है। स्वामीहीन किसी चल या अचल सम्पत्ति पर स्वामित्व स्थापित करने को प्राचीन रोमन विधिशास्त्री Occupatio कहते थे, इसी से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का Occupation (आवेशन या कब्जा) शब्द बना है और यह लडाई में सेना द्वारा अधिकृत प्रदेश की ऐसी स्थिति सूचित करता है, जो किसी प्रभुसत्तासम्पन्न शासक (Sovereign) के अधीन नही है। परवत्ता को सूचित करने वाला शब्द *Servitude* भी दासत्व वाचक रोमन शब्द *Servitas* से निकला है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपचय (Accretion), चिरकालिक भोग (Prescription) आदि अनेक शब्दो का मूल रोमन है। इनमे सबसे महत्वपूर्ण शब्द इस शास्त्र को अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन मे क्रमश Law of nations, Droit des gens तथा Volkerrecht का नाम देने वाला है, यह रोम के Jus gentium का शाब्दिक अनुवाद है। इस शब्द से अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हुए है, अत. इनके विकास का सक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

जस जेन्शियम—रोम का परम्परागत प्राचीन कानून केवल रोमन नागरिकों पर लागू होता था। यह अत्यधिक कठोर, आदिम और सकीर्ण था। इसे **दीवानी कानून** (Jus civile) कहा जाता था। रोम नगर के महत्वपूर्ण व्यापारिक और राजनीतिक केन्द्र बन जाने पर यहाँ विदेशी व्यक्ति बहुत बडी सख्या मे आने लगे, ये रोमन कानून की परिधि से बाहर समझे जाते थे, २४२ ई० पू० मे इनकी सत्ता स्वीकार करते हुए इनके आपसी विवादों के तथा रोमन लोगों के विदेशियों के साथ विवादो के निर्णय के लिये विशेष न्यायाधीश (Praetor peregrinus) नियत किये गये। ये विदेशियों के मामलों मे रोमन कानून लागू नही कर सकते थे, अत इन्होंने विदेशी एव रोमन कानूनो के उदार एव न्यायपूर्ण तत्वों को ग्रहण करके इनके सम्मिश्रण से एक नये प्रकार के कानून का निर्माण आरम्भ किया। इसमे जस सिविली (Jus civile) की अपेक्षा बहुत कम बन्धन, औपचारिकता और प्रतिबन्ध थे। उदाहरणार्थ, इसमे बिक्री की कानूनी कार्यवाही के लिये पाच साक्षियो की उपस्थिति तथा अनेक लेखबद्ध जटिल विधियो का पालन आवश्यक था, किन्तु नये कानून मे मौखिक रूप से की गई बिक्री के कार्य को स्वीकार कर लिया जाता था। शनै-शनै ये उदार नियम रोमन नागरिको के मुकद्दमो मे भी लागू किये जाने लगे और प्राचीन Jus civile से इनका भेद स्पष्ट करने के लिए नये नियमो को जस जेन्शियम (Jus gentium) कहा जाने लगा। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इसका "राष्ट्रों के आधुनिक कानून" या "अन्तर्राष्ट्रीय विधि" से कोई सम्बन्ध न था, क्योंकि यह विभिन्न प्रभुसत्ता-सम्पन्न, स्वतन्त्र राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है और जस जेन्शियम रोम का राष्ट्रीय (Municipal) कानून था क्योंकि वह रोमन साम्राज्य में रहने वाले विदेशियों और रोमन नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता था।

रोमन साम्राज्य मे रहने वाले विदेशियो के कानून के अतिरिक्त, **जस जेन्शियम** शब्द का प्रयोग प्राचीन रोम मे एक दूसरे अर्थ मे भी होता था। इस अर्थ मे यह सब देशो मे पाये जाने वाले सार्वभौम नियम का वाचक है। जस्टीनियन द्वारा बनवाये गये रोमन कानून संग्रह (corpus juris) के आरम्भ मे ही दूसरी शताब्दी ई० के एक विधिशास्त्री गेयस (Gaius) की यह उक्ति उद्धृत की गई है कि जस सिविली तो प्रत्येक जनता (Populus) द्वारा बनाया गया कानून है और जस जेन्शियम वह कानून है जो प्राकृतिक तर्क (Natural reason) द्वारा सब मनुष्यो (Homines) के लिए बनाया गया है और जिसका पालन सब राष्ट्र (Gentes) करते है। यह इसका दार्शनिक अर्थ है। इसके ऐतिहासिक अर्थ मे तो रोमन साम्राज्य मे विदेशियो के साथ बरता जाने वाला कानून आता है, किन्तु दार्शनिक अर्थ मे सब जगह पाये जाने वाले विवाह, सम्पत्ति की सुरक्षा आदि के अनेक कानून आ जाते हैं, इनमे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले दूतो की अवध्यता, युद्ध की लूट के बँटवारे आदि के नियम भी सम्मिलित किये जाते हैं। किन्तु इससे यह नही समझना चाहिये कि जस जेन्शियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून है क्योंकि दार्शनिक अर्थ मे भी इसका अधिकाश भाग किसी भी राष्ट्र मे पाये जाने वाले कानूनो से सम्बन्ध रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ मे जस जेन्शियम का प्रयोग १७वी

शताब्दी से ही होने लगा है।

प्राकृतिक नियम—रोम के प्राकृतिक नियम (Natural law, jus naturale) के सिद्धान्त ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परवर्ती विकास पर काफी प्रभाव डाला। तीसरी श० ई० पू० के यूनानी स्टोइक (Stoic) दर्शन के इस सिद्धान्त को रोम मे पहली श० के सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री सिसरो ने बडा लोकप्रिय बनाया। इसका तात्पर्य यह है कि यथार्थ तर्कबुद्धि (Right reason) द्वारा ऐसे नियम बनाये जा सकते है, जो सर्वत्र समान रूप से लागू किये जा सके। इस सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को दो प्रकार से प्रभावित किया (१) प्राकृतिक नियम प्राय जस जेन्शियम के दार्शनिक अर्थ से अभिन्न समझा जाता था, किसी नियम की सार्वभौमता उसके स्वाभाविक होने का परिणाम समझी जाती थी। उदाहरणार्थ जस जेन्शियम के नियमो के अनुसार दूत को अवध्य समझा जाता था, यह नियम सभी देशो मे पाया जाता है, अत इसे प्राकृतिक नियम भी माना जाता था। किन्तु कई बार जस जेन्शियम और प्राकृतिक विधि (Jus naturale) मे विरोध भी होता था, जैसे दासता की प्रथा सर्वत्र प्रचलित होने से जस जेन्शियम का अग समझी जाती थी। किन्तु यह प्राकृतिक विधि का अग नही मानी जाती थी, क्योकि सब मनुष्य स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र होते है। (२) प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि इस सिद्धान्त की अत्यधिक अस्पष्टता, प्राचीनता तथा सर्वमान्यता ने मध्यकाल मे विद्वान तार्किको (Scholastics) को एक ऐसी जादू की छडी प्रदान की, जिसकी सहायता से वे अपने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय विचारो और सिद्धान्तो को प्राकृतिक नियम की दुहाई देकर प्राचीन एव सुप्रतिष्ठित सिद्ध कर सकते थे।[१६]

मध्यकाल मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे सहायक तत्व—४थी शताब्दी के अन्त मे बर्बर जातियों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करके उसके पश्चिमी प्रान्तो को जीत लिया, इसके बाद ५वी से ११वी शती तक योरोप में अन्ध युग (Dark Age) तथा ११वी से १५वी शती तक मध्य युग (Middle Age) रहा। १४६२ ई० मे अमरीका के महाद्वीप की खोज के साथ आधुनिक युग का श्रीगणेश हुआ १६वी शताब्दी के धार्मिक सुधार आन्दोलन ने वर्तमान युग की प्रवृत्तियों को सुदृढ करने मे बडा भाग लिया। आधुनिक युग ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास को बहुत प्रोत्साहित किया। किन्तु इसे देखने से पहले मध्यकाल मे इसके सहायक तत्वों का ज्ञान आवश्यक है। आपेनहाइम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का मार्ग प्रशस्त करने वाले निम्न तत्व माने हैं[२०]—

(१) चर्च के धार्मिक कानून (canon law) की तथा दीवानी कानून (civil law) की विवेचना करनेवाले व्यक्तियों ने युद्ध सम्बन्धी भावी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ प्रश्नो की मीमासा की। (२) इस समय समुद्री कानूनो के अनेक सग्रह और सकलन किये गये। (३) व्यापार करनेवाले नगरो के अनेक सगठनो ने पारस्परिक विवादो को

१६. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १६

२०. ओपनहाइम—इण्टरनेशनल ला खण्ड १, अष्टम सस्करण, पृ० ७१-८२

सुलझाने के लिये पंचनिर्णय (Arbitration) करने के नियम बनाये। (४) १५वीं शताब्दी के अन्त मे राज्यो द्वारा दूसरे देशो को स्थायी दूत भेजने की प्रणाली का श्रीगणेश हुआ। (५) बड़े राज्यो द्वारा स्थायी सेनायें रखे जाने मे युद्ध के सम्बन्ध मे सार्वभौम नियम और रीति रिवाज बनने लगे। (६) १४वीं शती मे स्थायी शान्ति स्थापित करने की कुछ आदर्श योजनाय बनने लगी। (७) १५वी शती मे विज्ञान और कला की पुनर्जागृति (Renaissance) ने तथा १६वीं शती के धर्म-सुधार (Reformation) के आन्दोलनो ने योरोपियन जगत् मे पोप की एकच्छत्र आध्यात्मिक प्रभुता का अन्त करके अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे बडा सहयोग दिया। यहाँ उपर्युक्त तत्वो के सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण तथ्यो का सक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

(१) **चर्च**—रोमन साम्राज्य का पतन हो जाने के बाद अन्ध युग मे चर्च ने एक विशाल कानूनी पद्धति का विकास किया, मध्यकाल म **धार्मिक कानून निकाय** (corpus juris canonici) के नाम से इसके अनेक सग्रह और सकलन किये गये। यह कानून न तो राष्ट्रीय था और न अन्तर्राष्ट्रीय, किन्तु अधिराष्ट्रीय (Supranational) था, अर्थात् यह सब राष्ट्रो के कानूनो के ऊपर था और इसका पालन धार्मिक दृष्टि से आवश्यक था। धार्मिक कानून ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे जो नियम बनाये,उनका उस समय आजकल की अपेक्षा अधिक पालन होता था। इसका मुख्य कारण धार्मिक दृष्टि से इनके अनुकूल आचरण को आवश्यक माना जाना तथा इनका उल्लघन करने वालो के लिये इस लोक मे बहिष्कार (Excommunication) के धार्मिक दण्ड का भय और परलोक मे नरकगामी होने की आशका थी।

इस क्षेत्र मे चर्च का सबसे बडा कार्य युद्ध और शान्ति के नियमों का निर्धारण करना था। उस समय विभिन्न मनुष्यों मे होने वाले, रक्तरंजित भीषण वैयक्तिक युद्धो (Private wars) की कुप्रथा अपने चरम शिखर पर पहुँच गई थी। चर्च के लिए इनका सर्वथा बन्द कर देना सम्भव नहीं था। किन्तु इस बुराई को कम करने के लिये चर्च ने **भगवान के रणविरामों** (Truces of God) की घोषणा की। ये ऐसे दिन या अवधि थी, जिनमे युद्ध करना वर्जित था। १०४१ ई० मे फ्रांच धर्माधिकारियो (Prelates) ने इनकी अवधि को बढाकर इसे प्रत्येक सप्ताह मे बुधवार के सूर्यास्त से सोमवार के सूर्योदय तक कर दिया। इसके अनुसार वैयक्तिक युद्ध सप्ताह मे केवल तीन दिन ही हो सकते थे। लेटरन के गिरजाघर मे हुई रोमन कैथोलिकों की दूसरी परिषद् (Second Lateran Council) ने ११३९ मे युद्ध मे एक विशेष प्रकार के धनुष (Cross bow) का प्रयोग वर्जित ठहराया क्योकि यह बहुत "घातक और भगवान को अप्रिय" था। तीसरी लेटरन परिषद् (११७९) ने युद्ध मे पकडे ईसाईयो को दास बनाने की प्रथा को निषिद्ध ठहराया। लेखनकला का व्यापक प्रसार होने से पहले सधियो की पुष्टि हस्ताक्षरो द्वारा न होकर चर्च की धार्मिक विधियो से हुआ करती थी, इनमे बाइबिल या पवित्र धार्मिक अवशेषो (Relics) पर हाथ रख कर शपथ ग्रहण करना होता था। ऐसी विधियो के बाद सन्धि का पालन दोनों पक्षो के लिये अनिवार्य समझा जाता था। पोप को ईश्वरीय प्रतिनिधि होने के नाते विभिन्न विवादो मे मध्यस्थ या पच बनाया जाता था, इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण

पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ द्वारा १४६३ ई० मे कोलम्बस द्वारा खोजी गई नई दुनिया का स्पेन और पुर्तगाल मे बँटवारा करना था। जेरुसलेम तथा पेलेस्टाइन की पवित्र धर्मभूमि को विधर्मी मुसलमानो के प्रभुत्व से मुक्त करने के लिये लड़े जाने वाले क्रूसेडो या धर्म-युद्धो के समय पोप ने तथा चर्च की विभिन्न परिषदो ने अनेक आदेशो द्वारा ईसाइयो के लिये मुसलमानो के साथ व्यापार करना, उन्हें युद्ध के लिये उपयोगी सामग्री या हथियार, तथा जहाज बनाने के लिये लकडी बेचना निषिद्ध ठहराया, ऐसा व्यापार करने वाला के लिये बहिष्कार के अतिरिक्त भारी जुर्मानो की व्यवस्था की। मुसलमानो के साथ व्यापार रोकने वाले इन कानूनो का उल्लघन घोषणा विरुद्ध (Contra Bannum) कहलाता था और यह कुछ विद्वानो द्वारा विनिषिद्ध (Contraband) का मूलरूप समझा जाता है।

चर्च के विद्वानो ने न्याय्य युद्ध (Just war) सम्बन्धी सिद्धान्त की मीमासा करके अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विचार को आगे बढाया। टर्टुलियन (१६०–२३० ई०) आदि ईसाइयत के आरम्भिक विचारक यह मानते थे कि ईसाइयो को युद्ध मे भाग नही लेना चाहिये और सेना मे सेवा नही करनी चाहिये। किन्तु सैण्ट आगस्टाइन (३५४-४३० ई०) ने इसमे परिवर्तन करते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ईसाइयो को केवल उन्ही युद्धो मे भाग लेना चाहिये जो न्यायोचित (Just) एव धर्मानुकूल हो। उसकी दृष्टि मे केवल वही युद्ध न्याय्य है, जो किसी अन्याय के प्रतिशोध के लिये लडा जाय। यदि कोई राष्ट्र अन्यायपूर्वक ली गई दूसरे राष्ट्र की वस्तुओ को वापिस करने को तैयार नही है अथवा दूसरे राष्ट्र को हानि पहुँचाने वाले अपने नागरिको के बुरे कार्यों को दण्डित करने के लिये उद्यत नही है तो उसके साथ युद्ध करना धर्मानुकूल है। किन्तु शक्ति बढाने या वैर निर्यातन के लिये कभी युद्ध नही करना चाहिये। आर्कबिशप सेविल के इसिडोर (५६०-६३६) ने सिसरो के सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए न्याय्य युद्धो का विवेचन किया। किन्तु इस विषय मे सबसे महत्वपूर्ण विचार थामस एक्विनास (१२२५-१२७४) का था। उसने अपने ग्रन्थ Summa Theologia के दूसरे भाग मे इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या लडाई करना सदैव पाप है। उसके मतानुसार निम्न अवस्थाओ मे यह पाप नही है —(१) राजा ने लडाई करने की आज्ञा दी हो (२) लडाई का कोई न्याय्य कारण (Justa causa) हो। (३) लडने वाले का सकल्प शुभ (Recta intentio) हो अर्थात् वह भलाई की वृद्धि और बुराई को रोकना चाहता हो। थामस एक्विनास ने युद्ध मे झूठ बोलने तथा प्रतिज्ञा भग करने का निषेध किया, लडाई मे स्त्रियो और बच्चो का वध वर्जित ठहराया गया क्योकि इनके विरुद्ध लडाई करना सर्वथा अन्यायपूर्ण था।

इसके अतिरिक्त चर्च के विचारको ने प्राकृतिक नियम के रोमन सिद्धान्त पर भी विचार करके उसे नया रूप प्रदान किया। वे प्रकृति को ईश्वर का एक व्यक्त रूप मानते थे, अत प्राकृतिक नियम (Natural law) को उन्होने मानवीय नियम (Human law) से ऊँची स्थिति रखने वाला ईश्वरीय नियम (Divine law) समझा। थामस एक्विनास ने इसकी व्याख्या करते हुए यह कहा कि यह शाश्वत नियम (Eternal law) से भिन्न

है, शाश्वत नियम तो इस संसार को शासित करने वाली भगवान की बुद्धि की सनातन बने रहने वाली योजना है, यह मानवीय बुद्धि की समझ से बाहर है। किन्तु प्राकृतिक नियम ईश्वरीय इच्छा से मानवीय बुद्धि द्वारा भगवान की योजना पूरा करने में लिया जाने वाला अधूरा हिस्सा है। प्राकृतिक नियम का सबसे बड़ा सिद्धान्त भलाई को बढ़ाना तथा बुराई को हटाना है।

(२) व्यापारिक तथा समुद्री कानूनों का विकास—मध्य युग में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सबसे अधिक विकास इसी क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। व्यापारिक कानूनों के विकास के इस समय दो बड़े प्रेरक हेतु थे पहला दूसरे देशों की वस्तुओं के साथ अपने देश के व्यापारिक पण्य का विनिमय करके अन्य देशों से आवश्यक वस्तुएँ का प्राप्त करना। दूसरा हेतु राजाओं की यह इच्छा थी कि वे विदेशों से आने वाले माल पर चुंगी लगाकर तथा विदेशी व्यापारियों से लिये जाने वाले अन्य करों द्वारा अपनी राजकीय आय में वृद्धि कर सकें। यह तभी सम्भव था जब विदेशी व्यापारियों को उनके देश में व्यवसाय करना अधिक लाभदायक और आकर्षक प्रतीत हो। इस दृष्टि से सबसे आवश्यक बात यह थी कि विदेशी व्यापारियों को उनके जान और माल की सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय। पारस्परिक हित और सहिष्णुता के सिद्धान्त पर आधारित प्राचीन रीति-रिवाजों द्वारा व्यापारियों को यह सुरक्षा प्रदान की जाने लगी। सम्राट शार्लमेगन ने ७९६ ई० में मर्शिया (सैक्सन इंगलैंड) के राजा ओफा को एक पत्र में लिखा था कि 'व्यापार के प्राचीन रिवाज' के अनुसार मर्शिया के व्यापारियों को संरक्षण प्रदान किया जायगा। इसके बाद राजाओं ने विभिन्न व्यापारियों को इस प्रकार के विशेषाधिकार और सुविधायें लिखित आज्ञाओं (Franchises) के रूप में देनी शुरू की। अन्त में इस विषय में विदेशी व्यापारियों को लाभ पहुंचाने वाले सामान्य कानूनों का विकास होने लगा।

इसका पहला उदाहरण विसिगाथों द्वारा ६५४ ई० में बनाये गये नियमों से मिलता है, इनके अनुसार इनके राज्य में विद्यमान विदेशी व्यापारी आपसी झगड़ों को निपटाने के लिये अपने मजिस्ट्रेट बना सकते थे और वे अपने देश के कानून के अनुसार फैसला करते थे। १२१५ के सुप्रसिद्ध ब्रिटिश बृहत् अधिकार-पत्र (Magna Carta) की धारा ३० के अनुसार इंगलैंड में विदेशी व्यापारियों को सुरक्षित रूप से निवास और व्यापार की अनुमति दी गई और पारस्पर्य (Reciprocity) की शर्तों के आधार पर उन्हें युद्ध होने पर भी किसी प्रकार से परेशान न करने की बात कही गई है। इंगलैंड विदेशी व्यापारियों को ये सुविधायें निरन्तर प्रदान करता रहा और वहाँ इनसे सम्बन्ध रखने वाली एक विशेष व्यापारिक कानूनी पद्धति (Law merchant) का विकास हुआ। १२२० ई० में सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय ने अपनी एक सुप्रसिद्ध आज्ञा (Authentica Omnes peregrini) द्वारा सब विदेशियों को वसीयत और वसीयत द्वारा अपनी सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। इससे पहले किसी विदेशी के मरने पर उसकी सम्पत्ति पर उस देश के राजा का स्वामित्व माना जाता था।

रेलों के आगमन से पहले समुद्री व्यापार का बड़ा महत्व था। इस समय स्थानीय

रीति-रिवाजो और न्यायालयो के निर्णयो द्वारा इस सम्बन्ध मे बनने वाले कानूनो का सग्रह होने लगा। १२वी शती मे बिस्के की खाडी के एक छोटे टापू ओलेरोन (Oleron) के व्यापारिक न्यायालय के निर्णयो का सग्रह Rolls of Oleron के नाम से हुआ और यह अटलान्टिक और बाल्टिक समुद्रो के तटवर्ती प्रदेश मे मान्य समझा जाने लगा। १५वी शताब्दी मे इगलैड की 'नौविभाग की कृष्ण पुस्तक' (Black Book of Admiralty) मे इसके नियमो को सम्मिलित किया गया। सामुद्रिक कानूनो का इससे अधिक महत्वपूर्ण सग्रह १४वी शताब्दी मे बार्सीलोना मे सकलित किया गया। इसका नाम Consolato del mare है। कान्सोलेटो मे यद्यपि जहाज के निर्माण, बिक्री, इसके कप्तान के अधिकारो, कर्तव्यो आदि वैयक्तिक कानून (Private) से सम्बन्ध रखने वाले विषयो का अधिक वर्णन है, फिर भी इसमे सामुद्रिक युद्ध के एक महत्वपूर्ण विषय, युद्ध मे शत्रु द्वारा पकडे गये जहाजो के कानून (Prize Law) का वर्णन है और यह इसकी प्रसिद्धि का एक बडा कारण है। कान्सोलेटो का उद्देश्य तटस्थ देशो की सम्पत्ति की रक्षा था, इसका मूल सिद्धान्त यह था कि युद्ध सलग्न देशो (Belligerents) मे से किसी शत्रुदेश के जहाजो पर लदे हुए तटस्थ देशो के सामान को तथा शत्रु के सामान को ढोने वाले तटस्थ देशो के जहाजो को नही पकडा जाना चाहिये। इसके साथ ही युद्ध-सलग्न देशो को यह अधिकार दिया गया कि वे जहाज के कागजो की जाच पडताल कर सकते है। बाद मे यही निरीक्षण और तलाशी (Visit and search) के रूप मे युद्ध कारी देशो का एक विशेषाधिकार समझा जाने लगा। तटस्थ देशो की सम्पत्ति की रक्षा के कान्सोलेटो के मौलिक विचार को मध्यकाल से अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे बडा महत्व दिया जा रहा है।

समुद्री व्यापार की एक बडी बाधा समुद्री डकैती (Piracy) थी। तीसरी लेटरन परिषद् (११७९) ने ईसाई जहाजो के लूटने वालो के लिये बहिष्कार (Excommunication) का दण्ड निश्चित किया। १४वी शताब्दी के बाद से इटली के तथा योरोप के अनेक राज्यो ने इसके दमन के लिये राजाज्ञाय जारी की। प्राचीनकाल मे किसी जहाज के डूबने या नष्ट होने पर स्थानीय जनता द्वारा उस का माल लूट लेने की प्रथा थी। पोतभग के इस कानून (Law of shipwrecks) का उन्मूलन करने के लिये मध्यकालीन सम्राटो और राजाओ ने अनेक आज्ञाएँ जारी की। हेसियाटिक लीग (Hanseatic League) ने अपनी व्यापारिक प्रवृत्तिया द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे सहयोग दिया। जर्मन भाषा मे हेस (Hanse) व्यापारियो के समुदाय या श्रेणी (Guild) को कहते है। उत्तरी जर्मनी के कुछ स्वतन्त्र नगरो के व्यापारी समुदायो ने अपनी आर्थिक उन्नति और सुरक्षा के लिये एक सघ बनाया था। यही हेसियाटिक लीग कहलाता है। १४-१५वी शतियो मे इसका चरम उत्कर्ष हुआ। इसमे ७० जर्मन शहर तथा जर्मन साम्राज्य से बाहर के रीगा आदि अनेक नगर सम्मिलित थे। इनका नेता ल्यूबेक का शहर था। इस लीग के सदस्यो ने इगलैड, स्वीडन, नार्वे, फ्लैण्डर्स (बेल्जियम) के राज्यो के साथ अनेक सधिया करके विशेष सुविधाये प्राप्त की तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे भाग लिया।

मध्य युग के नगर-राज्यो ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति (Diplomacy) की अनेक पद्धतियो का श्रीगणेश किया। दूसरे देशो मे स्थायी रूप से राजदूत भेजने की परम्परा का आरम्भ उसी समय से हुआ। इससे पहले विशिष्ट कार्यों के लिये ही दूत भेजे जाते थे। वेनिस के समृद्ध नगर-राज्य ने १३वी शती ई० मे राजदूतो के एक व्यावसायिक वर्ग (Professional class) को जन्म दिया और इसके सम्बन्ध मे अनेक नियम बनाये। इनके अनुसार राजदूत विदेश मे अपनी पत्नी को साथ नही ले जा सकता था क्योकि उससे राजकीय रहस्यों के उद्घाटित हो जाने की आशका थी। उसे विदेश मे अपना रसोइया अवश्य ले जाना पडता था ताकि कोई उसे विष न दे सके। ये कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१६) के नियमो से मिलते है।

रोमन कानून के अध्ययन ने भी इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र को विशद बनाया। सम्राट् जस्टीनियन (५२७ ५६५) द्वारा दीवानी कानून के सकलन (corpus juris civilis) के बाद से इसे असाधारण गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। जिस प्रकार पुराने रोमन विधानशास्त्री रोमन साम्राज्य मे रहने वाले विभिन्न राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय मे जस जेन्शियम के सिद्धान्तो को लागू करते थे, इसी प्रकार पिछली शताब्दियो मे यह सर्वथा स्वाभाविक था कि पवित्र रोमन साम्राज्य[21] (Holy Roman Empire) मे रहने वाले व्यक्तियो और राज्यो के आपसी सघर्षो का निर्णय जस्टीनियन की विधि सहिता (Code) द्वारा किया जाये। १२-१३वी शताब्दी से इटली के बोलोग्ना तथा अन्य विश्वविद्यालयों मे रोमन कानून का व्यवस्थित अध्ययन आरम्भ हुआ। कार्पस ज्यूरिस पर अनेक टीकाये लिखी जाने लगी। इसमे बार्तोलस (Bartolus १३१४–५७) तथा बाल्डस (१३२७–१४१०) के नाम उल्लेखनीय है। बार्तोलस ने प्रत्यपहार (Reprisals) के बारे मे एक पुस्तक लिखी, युद्ध की लूट के सम्बन्ध मे यह सुन्दर नियम निश्चित किया कि इसे प्राप्त करने वाला सैनिक बँटवारे के लिये अपने राजा को दे। इन टीकाकारो को इस बात का श्रेय है कि इन्होंने वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Private International Law) का विकास किया।

मध्य युग मे स्थायी शान्ति स्थापित करने की अनेक योजनाये बनी। पियरे डुबोइस (Pierre Dubois 1250–1312) नामक फ्रेंच विधिवेत्ता ने १३०६ ई० मे प्रकाशित अपनी एक पुस्तिका मे नया क्रूसेड करने की आवश्यक शर्त यह बतायी कि ईसाई

---

२१. यह मध्य योरोप में प्रधानरूप से जर्मनभाषाभाषी जनता का साम्राज्य था। इसकी स्थापना का समय ८०० ई० में पोप द्वारा शार्लमेगन के अथवा ६६२ ई० में ओटो के राज्याभिषेक की धार्मिक विधि सम्पन्न कराने से माना जाता है। १८०६ ई० में नैपोलियन द्वारा परास्त होने पर आस्ट्रिया के पवित्र रोमन सम्राट् फ्रांसिस द्वितीय ने अपने इस पद का त्याग कर दिया और इस साम्राज्य का अन्त हो गया। मध्यकाल में यह पुराने रोमन साम्राज्य का ऐसा नवीन रूप समझा जाता था, जिसमें पोप को पूरी धार्मिक प्रभुता प्राप्त थी, अतएव इसके आगे पवित्र शब्द का विशेषण लगाया जाता था। वस्तुत: यह नाम बहुत भ्रामक था, क्योंकि ब्राइस के शब्दों में न तो यह पवित्र था, न ही रोमन था और न ही अन्य साम्राज्यों की भाँति कोई सुसगठित शासन था।

जगत् मे सार्वभौम शान्ति स्थापित होनी चाहिये। इसके लिये पोप की अध्यक्षता मे सब ईसाई राजाओ तथा चर्च के उच्चाधिकारियो (Prelates) की एक सामान्य परिषद् (General council) बनायी जानी चाहिये, इसके सदस्य युद्ध को अवैध समझे, आपसी झगडो का निर्णय दोनो पक्षो द्वारा चुने गये तीन ईसाई राजाओ की तथा चर्च के तीन उच्चाधिकारियो की पचायत द्वारा हो, इसके निर्णय के विरुद्ध पोप के पास अपील की जाय। इस प्रकार स्थापित होने वाली शान्ति का उल्लघन करने वाले राजा का दमन परिषद् के अन्य राजाओ की सयुक्त सेनाये करे। ऐसे राजा की सारी सम्पत्ति छीन कर उसे पेलेस्टाइन मे निर्वासित कर दिया जाय ताकि वह वहा अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग काफिरो के उन्मूलन मे करे। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास की दृष्टि से डुबोइस का यह महत्त्व है कि उसने सर्वप्रथम सभ्य जगत् के राजनैतिक सगठन पर आधारित अनिवार्य पचायती निर्णय (Compulsory arbitration) का विचार दिया। आजकल इस योजना के कारण उसे बहुत महत्व दिया जाता है, किन्तु मध्य युग मे उसकी इस योजना ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सैद्धान्तिक विकास पर कोई प्रभाव नही डाला।

आधुनिक युग—१४९२ ई० मे कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज के साथ आधुनिक युग का श्रीगणेश समझा जाता है। इसके बाद धार्मिक सुधार (Reformation) आन्दोलन से वर्तमान युग की प्रवृत्तियो को बडा बल मिला। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास करने मे सहायक अनेक तत्त्व उत्पन्न हो गये, इनसे इसे प्रबल प्रोत्साहन मिला।

इनमे अधिक महत्वपूर्ण कारण पोप की सार्वभौम धार्मिक प्रभुता की समाप्ति, अमरीका की खोज, स्पेन, इगलैंड, फ्रास आदि नवीन राष्ट्रीय राज्यो (National States) का अभ्युदय थे। धार्मिक सुधार आन्दोलन से पहले योरोप के समूचे ईसाई जगत् मे पोप का एकछत्र धार्मिक साम्राज्य था, उसकी स्थिति विभिन्न पार्थिव राजाओ से ऊपर की थी और वह इनके सम्बन्धो का नियन्त्रण कर सकता था। मार्टिन लूथर द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन से उसकी सर्वोच्च सत्ता को तथा योरोप की धार्मिक एकता को गहरा धक्का पहुँचा, प्रोटेस्टेण्ट तथा कैथोलिक मत वाले राज्यो के मध्य उग्र सघर्ष आरम्भ हुआ, इसने योरोप के रक्तरजित तीसवर्षीय युद्ध[२२] को जन्म दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अभाव तथा इसकी आवश्यकता को तीव्रता से अनुभव कराया, इसके विकास मे बडा सहयोग दिया। दूसरा कारण अमरीका की खोज था, इससे नये प्रदेशो के स्वामित्व के सम्बन्ध मे जटिल अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न उत्पन्न हुए, १४९३ ई० मे यद्यपि पोप ने अपने

---

२२. यह १६१८-४८ तक जर्मनी के कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट राज्यों में चलता रहा। इसका आरम्भ बोहीमिया के प्रैस्बिटिन मतानुयायी जमींदारों के विद्रोह से हुआ। इसमें पहले ये लोग पवित्र रोमन सम्राट् द्वारा हरा दिये गए, इस पर इनकी सहायता के लिए लूथर के अनुयायी उत्तरी जर्मनी के राज्य इसमें कूदे। बाद में डेनमार्क, स्वीडन, फ्रांस तथा हालैण्ड ने भी इसमें भाग लिया। इसकी समाप्ति १६४८ की वैस्ट फालिया की सन्धि से हुई। यह इतिहास का बडा बर्बरतापूर्ण युद्ध समझा जाता है।

आदेश द्वारा केप वर्डे टापू के पश्चिम मे १०० लीग की दूरी पर से गुजरने वाली रेखा के पश्चिम के सब प्रदेश स्पेन को तथा पूर्व के सब प्रदेश पुर्तगाल को बाट दिये तो भी दोनो देश इससे सतुप्ट नही थे और अन्य देश पोप के इस निर्णय को मानने के लिये उद्यत नही थे। इसमे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न हुए। तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व राष्ट्रीय राज्यो (National States) का उत्थान था। १५वी शताब्दी के अन्त मे स्पेन और पुर्तगाल ने अपने देश को विधर्मी मूरो (उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका के मुस्लिम अरबो) की दासता के पजे से मुक्त किया, इस समय इनमे धार्मिक उत्साह के अतिरिक्त राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल प्रसार हुआ। १४९२ मे फर्डिनेण्ट और इसाबेला ने ग्रेनाडा से मुस्लिम शासन का अन्त किया, स्पेन का एकीकरण किया। अमरीका की खोज से इसके साम्राज्य का विस्तार हुआ, योरोप मे फिलिप द्वितीय (१५५६–१५९८) के शासनकाल मे स्पेन के शासन का अधिकतम विस्तार हुआ, सार्डीनिया, नेपल्ज, सिसली और १५८० के बाद पुर्तगाल इसके आधीन हुए। राजनीतिक दृष्टि से यह काल स्पेन का स्वर्णयुग था। स्पेन के साथ ही पुर्तगाल का भी उत्कर्ष हुआ। १७वी शताब्दी मे हालैड ने स्पेन के साथ उग्र राष्ट्रीय सघर्ष करके १५७९ मे यूट्रेक्ट की सधि द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की। १६४८ मे वैस्ट फालिया की सधि मे पवित्र रोमन साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशो की पृथक् सत्ता मान ली गई। फ्रास और इंगलैंड में भी राष्ट्रीयता की भावना प्रबल और पुष्ट हो रही थी। इन राष्ट्रों के अभ्युत्थान के साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनेक समस्यायें उठ खडी हुई और अनेक विद्वानो ने इन पर विचार करना आरम्भ किया। इनमे प्रमुख विचारको का यहाँ उल्लेख होगा।

फ्रांसिस्को विटोरिया (Francisco Vitoria 1480–1546)—यह स्पेन के डोमिनिकन सम्प्रदाय का परिव्राजक तथा सालामाका विश्वविद्यालय म धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था। इसने अमरीका की खोज होने पर वहाँ के आदिवासियो के साथ स्पेनिश लोगो के सम्बन्धो पर तथा इनके साथ युद्धो पर अपने विचार प्रकट किये है। नई दुनिया की खोज होते ही यहा डोमिनिकन सम्प्रदाय के ईसाई साधु धर्मप्रचार के लिये गए, इन्होंने यह देखा कि स्पेनिश विजेता अमरीकी रेड इडियनो पर घोर अत्याचार और अमानुपिक क्रूरताय कर रहे है। विटोरिया ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए रेड इडियनो के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सिद्धान्तो को लागू किया। इससे पहले स्पेन मे यह समझा जाता था कि जो देश या राजा ईसाई नही है, उसके नास्तिक (Heathen) होने के कारण ईसाई राजाओ को उन पर चढाई करने तथा उन्हे नष्ट करने का पूरा अधिकार है। विटोरिया पहला व्यक्ति था जिसने इस बात पर बल दिया कि गैर-ईसाई नास्तिक जातियो के राजा और राज्य उसी प्रकार वैध होते हैं जैसे ईसाइयो के राजा। उनके विरुद्ध युद्ध तभी छेडा जा सकता है, जबकि इसके लिए कोई न्यायपूर्ण (Just) कारण हो। उसने यह भी मत प्रकट किया कि यदि रेड इडियन स्पेनिश लोगो को भगाने या मारने का प्रयत्न करे तो भी उन्हें केवल आत्मरक्षा करनी चाहिए, आक्रमणात्मक युद्ध नही करना चाहिये, क्योकि वे शक्तिशाली हथियार रखने वाले नये अपरिचित व्यक्तियो के दर्शनमात्र से भयभीत हो जाते हैं। गैर ईसाई राजाओ का

दर्जा ईसाई राजाओं के समान मानने के अतिरिक्त विटोरिया ने स्पेनिश लोगों के अमरीका मे व्यापार करने की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। उसने यह सिद्धान्त भी सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि विश्व के राष्ट्रों का एक समुदाय (community) है।

फ्रांसिस्को सुआरेज (१५४८–१६१७)—स्पेन के एक उच्चकुल मे उत्पन्न यह जेसुइट परिव्राजक विटोरिया की भांति धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था। मध्यकालीन धर्म और परम्परा का अगाध पडित होने के कारण इसे उस समय का सबसे बडा तार्किक (Scholastic), स्पेनिश संस्कृति का सर्वोत्तम प्रतिनिधि और जेसुइट सम्प्रदाय का सबसे अधिक यशस्वी व्यक्ति कहा जाता था। इसने अपने दो ग्रथों On Laws of God as Legislator (1612) तथा मृत्यु के बाद छपे On the Threefold Theological Virtue मे अन्तर्राष्ट्रीय विषयो का वर्णन किया है। इसने 'जस जेन्शियम' तथा प्राकृतिक नियम की विशद मीमासा की तथा जस जेन्शियम के कई अर्थों में से एक अर्थ को स्पष्ट रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साथ सम्बद्ध किया। ग्रोशियस आदि परवर्ती लेखक उसके विचारो से बहुत प्रभावित हुए। उसने युद्धो की न्याय्यता पर विस्तृत विचार किया, उसके मतानुसार अन्यायपूर्ण युद्ध छेडने वाले राजा के सैनिक पकडे जाने पर मारे जा सकते हैं, किन्तु इस विषय मे अनेक शर्तें लगाकर वह इन्हें बचाने की व्यवस्था भी करता है। उसका मत है कि इस प्रकार के वेतनभोगी सैनिकों को उस दशा मे नही मारा जाना चाहिए, जबकि उन्ह विरोधी पक्ष के युद्ध को न्याय्य बनाने के कारणो का ज्ञान न हो। प्राय ऐसा ज्ञान नही होता, अत अधिकाश सैनिक अवध्य है। सुआरेज का न्याय्य युद्ध से सम्बन्ध रखने वाला न्यायिक सिद्धान्त (Judicial theory) सबसे अधिक आपत्तिजनक है। इसके अनुसार न्याय्य युद्ध छेडने वाले राजा को उसने प्रतिशोधपूर्ण न्याय' (Vindictive Justice) प्राप्त करने के सब अधिकार दे दिये है। उसके युद्ध को अदालत की डिगरी जैसा ठहराया गया है, इस प्रकार उसे वादी और न्यायाधीश दोनों बना दिया है। उसने पचनिर्णय (Arbitration) उसी दशा मे स्वीकार करने को कहा है, जबकि अन्याय की कोई आशका न हो, क्योंकि उसके मतानुसार प्रत्येक राजा विदेशी न्यायाधीशों के सद्भाव मे सन्देह रखता है। अत उसने राजा को बुद्धिमान् और सुशिक्षित व्यक्तियों से युद्ध के औचित्य के सम्बन्ध मे परामर्श लेने को कहा है। परवर्ती लेखको ने उसके इन मन्तव्यों का खण्डन किया। उसकी बडी विशेषता यह है कि उसने इस बात पर बहुत बल दिया कि अपने राष्ट्रीय जीवन मे स्वतन्त्र होते हुए भी विश्व के विभिन्न राज्य मानव जाति का अग हैं, अतएव वे पारस्परिक व्यवहार के लिए आचरण के एक कानून (Law of conduct) के वशवर्ती है, यह कानून मुख्य रूप से प्राकृतिक तर्क पर तथा कुछ अशो पर मानवीय रीति-रिवाजों पर आधारित है।

पीरिनो बेल्ली (Pierino Belli १५०२–१५७५)—बेल्ली इटली मे उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसने स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय की सेना मे दीर्घकाल तक सेवा की। उसकी पुस्तक On Military Matters and War मे प्रधान रूप से सैनिक विषयों की चर्चा है, फिर भी इसमे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक विषयों की चर्चा है। इसमे युद्ध की घोषणा करने तथा उसके कारणो के सम्बन्ध मे विचार है। वह अपनी पुस्तक में प्राय

रोमन कानून के मूलस्रोतो तथा इसके टीकाकारो के उद्धरण देना है। फिलिप के सैन्याधिकारी के रूप मे प्रकट किये गए अपने विचारो और सम्मतियो को उद्धृत करता है। इसमे उसके ग्रन्थ को बडा ठोस, क्रियात्मक और व्यावहारिक आधार मिल गया है, वह तार्किको (Scholastics) के ग्रन्थो जैसा दार्शनिक और विचारात्मक नही रहा। कई अशो मे वह अपने पूर्ववर्ती लेखको मे आगे बढा हुआ है, उसने युद्धबन्दियों के साथ अविवेकपूर्ण क्रूर व्यवहार का विरोध किया है, शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश के निवासियो के साथ अच्छा बर्ताव करने पर बल दिया है। उसका यह भी मत है कि यदि कोई शासक अपने विवाद का पचायत द्वारा निर्णय कराने को तैयार हो तो उसके विरुद्ध युद्ध की कार्यवाही बन्द कर देनी चाहिये।

बल्थसर अयाला (Balthasar Ayala)— स्पेन के एक सम्भ्रान्त कुल मे एण्टवर्प मे जन्म ग्रहण करने वाला अयाला हालैण्ड के विरुद्ध भेजी स्पेनिश सेना मे एडवोकेट जनरल था। उसकी १५८२ मे प्रकाशित पुस्तक On the Law and Duties and Military Discipline ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धार्मिक क्षेत्र मे सासारिक क्षेत्र मे लाने का सफल प्रयास किया। उसका मुख्य उद्देश्य यद्यपि हालैण्ड मे स्पेन की सेना द्वारा किये अत्याचारपूर्ण कार्यों को न्याय्य सिद्ध करना था किन्तु फिर भी उसने कुछ नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये। युद्ध के नियमो मे उसने इस पर बल दिया कि शत्रु के साथ विश्वास घात नही करना चाहिये, किन्तु विद्रोहियो के साथ तथा अन्यायपूर्ण युद्ध करने वालो के साथ इस नियम का पालन आवश्यक नही था।

एल्बेरिको जैण्टिली (१५५२–१६०८)—उत्तरी इटली के सानिजेसियो नगर मे जन्म लेने वाले तथा २० वर्ष की अवस्था मे डाक्टरेट प्राप्त करने वाले जैण्टिली को प्रोटेस्टेट होने के कारण इन्क्विज़िशन (धार्मिक न्यायालय) के दण्ड से बचाने के लिये १५७९ मे मातृभूमि से भाग कर इगलैण्ड मे शरण लेनी पडी। यहा ये आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे रोमन कानून के व्याख्याता नियत हुए। इनके अध्यापन और विद्वत्ता की कीर्ति इतनी बढी कि १५८४ मे ब्रिटिश सरकार ने स्पेन के राजदूत मेदोजा के मामले मे उनसे परामर्श लिया। इस राजदूत ने कैथोलिक रानी स्काटलैण्ड की मेरी को बन्धन-मुक्त कराने के तथा रानी एलिज़ाबेथ को सिंहासनच्युत करने तथा मारने के उद्देश्य से रचे गये एक षड्यन्त्र मे भाग लिया था। ब्रिटिश सरकार ने रोमन कानून के अन्य विद्वानो के साथ जैण्टिली से इस विषय मे परामर्श लिया कि क्या मेदोजा को ब्रिटिश न्यायालय द्वारा दण्डित किया जा सकता है? जैण्टिली की यह सम्मति थी कि राजदूत होने के कारण यह अवध्य है, किसी इगलिश न्यायालय मे उस पर मामला नही चलाया जा सकता। सरकार ने इस परामर्श का आदर करते हुए उस पर मुकदमा न चला कर उसे अपने देश से बाहर निकाल दिया। इस मामले से जैण्टिली का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ओर आकृष्ट हुआ। १५८५ मे उसने On Embassies नामक एक निबन्ध प्रकाशित किया। १५८८ मे इगलैड पर स्पेन के विशाल बेडे (Armada) का आक्रमण होने पर जैण्टिली ने अपने वार्षिक व्याख्यान के लिये युद्ध के नियम का विषय चुना। इसी का विस्तृत रूप १५९८ मे उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ On the Law of War के रूप मे

प्रकाशित हुआ। मृत्यु के बाद उनका एक अन्य ग्रन्थ Pleas of a Spanish Advocate भी छपा।

जैण्टिली की प्रधान विशेषता यह है कि उसके ग्रन्थों में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तत्कालीन सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों का विवेचन हुआ। उन दिनों उपर्युक्त षड्यन्त्र के कारण राजदूतों के अधिकारों का प्रश्न सार्वजनिक विवाद का विषय बना हुआ था। अनेक विचारक दूतों को गुप्तचर समझते थे, उसने इस भ्रान्त धारणा का खण्डन करते हुए उनकी अवध्यता और देशीय कानून (Municipal law) के क्षेत्राधिकार से उनकी उन्मुक्ति स्वीकार की। किन्तु ऐसा करते हुए भी उसने इस उन्मुक्ति को बड़ी सकीर्ण सीमा में बांध दिया। उसका यह मत था कि क्रियात्मक रूप में परिणत न होने वाले षड्यन्त्र के सम्बन्ध में राजदूत पर उस देश में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता, जहां वह राजदूत बनकर जाता है। दीवानी मामलों में उसका यह मत था कि उसे राजदूत मानने वाले देश के अधिकारी उसके घर में प्रविष्ट नहीं हो सकते, उसकी चल सम्पत्ति को जब्त नहीं कर सकते। उसका राजदूत विषयक यह अध्ययन इस विषय का पहला व्यवस्थित विवेचन था। उसके युद्ध के नियम वाले ग्रन्थ के तीन भागों में युद्ध के कारणों, युद्ध के स्वरूप और शान्ति सन्धियों का वर्णन है। इसका तीसरा भाग विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि पहले विचारकों ने अब तक इसकी उपेक्षा की थी। उस समय सन्धियां केवल उनपर हस्ताक्षर करने वाले राजाओं के जीवनकाल तक ही पालन योग्य मानी जाती थीं। किन्तु उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि उनके उत्तराधिकारियों को भी इनका पालन करना चाहिए। उसने यह भी कहा कि कोई हारा हुआ राजा इस आधार पर किसी शान्ति सन्धि को रद्द नहीं कर सकता कि उसे भय या दबाव (Duress) के कारण सन्धि स्वीकार करनी पड़ी थी। जैण्टिली ने सन्धियों को सामान्य वैयक्तिक संविदाओं (Contracts) से भिन्न स्थिति प्रदान की और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सभी परवर्ती लेखकों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। सन्धियों के बारे में उसका सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक सन्धि में सदैव यह शर्त अन्तर्हित होती है कि उसका पालन उसी समय तक आवश्यक है, जब तक उस सन्धि की परिस्थितियां अपरिवर्तित रहती हैं। यही नियम Clausula rebus sic stantibus कहलाता है। यह मूलतः चर्च के कानून का एक नियम था, एक मध्यकालीन दीवानी विधिशास्त्री एल्सियाटस (१४९२–१५५०) ने इसे रोमन वैयक्तिक कानून की कठोरता कम करने के लिये चर्च से ग्रहण किया था। जैण्टिली की यह विशेषता है कि उसने इसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू किया।

जैण्टिली की एक अन्य विशेषता अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धर्म के प्रभाव से मुक्त करना है। युद्ध के न्यायपूर्ण कारणों की गणना करते हुए पुराने लेखक इनमें ईसाइयत के प्रचार में बाधा डालने को तथा ईसाइयत स्वीकार करने के विरोध को सम्मिलित करते थे। जैण्टिली ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया। लड़ाई में मुसलमानों के विरुद्ध अधिक क्रूरता को उसने न्यायोचित नहीं बताया। उसने अपनी रचनाओं में चर्च और पोप को विशेष महत्त्व नहीं दिया। उसके ग्रन्थों में दिये गये अधिकांश प्रमाण व उद्धरण कानूनों,

ऐतिहासिक और दार्शनिक ग्रन्थो से लिये गये हैं। उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धर्म-निरपेक्ष बनाने का प्रयत्न किया। नसबौम के शब्दों मे वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धर्मनिरपेक्ष विचारधारा का प्रथम प्रवर्त्तक है।[२३] उसके मरणोत्तर ग्रन्थ Pleas of a Spanish Advocate में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर उसकी सम्मतिया हैं। इनमे सामुद्रिक कानून का विशेष रूप से वर्णन है। उस समय अमरीका की खोज तथा नौचालन कला मे उन्नति होने से इस विषय को विशेष महत्त्व मिल रहा था। उसने समुद्रो की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेक प्रतिबन्धो के साथ किया है। उसके मतानुसार प्रादेशिक समुद्र की सीमा १०० मील तक है जब कि परवर्ती लेखको ने इसे उस समय की तोप के गोले की मार के क्षेत्र—तीन मील तक ही माना है। उसने समुद्री डाकुओ की कडे शब्दों मे निन्दा की है। उसके मत मे जो उनसे माल खरीदते हैं, उनका उस पर कोई स्वत्व नही होता। एक मामले मे कुछ अंग्रेजो ने ट्यूनिस मे समुद्री डाकुओ से माल खरीदा था, उसने वह माल उन स्पेनिश लोगो को वापिस करने को कहा, जिनसे डाकुओ ने यह माल लूटा था।

जैण्टिली के ग्रन्थो का एक बडा दोष उसकी अतिशय वादविवादप्रियता है। धर्मनिरपेक्षता का पुजारी होने पर भी उसके ग्रन्थों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सशक्त बनाने वाली नैतिकता पर आवश्यक बल नही दिया गया। उसके विचारो का कोई सुनिश्चित सैद्धान्तिक आधार नही है, उसके 'जस जैण्टियम' आदि के विचार सुस्पष्ट नही हैं। अत बहुत समय तक उसके ग्रन्थो को विशेष मान्यता तथा लोकप्रियता नही मिली। १८७४ मे आक्सफोर्ड के दीवानी कानून के प्राध्यापक श्री टी० ई० हालैंड ने अपने एक व्याख्यान मे जब जैण्टिली के कार्य का प्रतिपादन किया तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे उसका यथार्थ महत्त्व समझा जाने लगा।

ह्यूगो ग्रोशियस (१५८३–१६४५)—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता माने जाने वाले ग्रोशियस का मूल नाम ह्यूगो वान ग्रूट (Hugo Van Groot) था। १५८३ मे हालैण्ड के एक सुप्रतिष्ठित और सुसंस्कृत कुल में जन्म लेने वाले इस असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति के बारे मे यह कहा जाता है कि वह शैशवहीन था। सात वर्ष की आयु मे उसने लैटिन मे कवितायें बना कर चाचा की मृत्यु से सतप्त अपने पिता को सान्त्वना प्रदान की। ११ वर्ष की आयु मे वह लीडन विश्वविद्यालय मे प्रविष्ट हुआ, तीन वर्ष बाद उसने अपनी शिक्षा पूरी करके गणित, दर्शन और कानून पर शोध निबन्ध (Theses) लिखे, ग्रीक तथा लैटिन मे अनेक कवितायें रची और ग्रन्थ लिखे। १५ वर्ष की आयु मे उसे "हालैण्ड के नमस्कार" के रूप मे एक डच दूत मण्डल ने फ्रास के राजा हेनरी चतुर्थ के समक्ष उपस्थित किया, आर्लियन्ज (Orleans) के विश्व विद्यालय ने उसे कानून के डाक्टर की उपाधि दी। १६ वर्ष की अवस्था मे उसे वकालत करने की आज्ञा मिली। १६०३ ई० मे अन्य सुप्रसिद्ध विद्वानो के होते हुए भी, वह हालैण्ड का इतिहास लेखक नियत किया गया। १६१३ मे उसे हालैण्ड के दूसरे बडे शहर राटरडम

२३ नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०१

का एक उच्चाधिकारी बनाया गया। उन दिनो यहा कुछ धार्मिक विवाद चल रहे थे, ग्रोशियस ने इनमे महत्त्वपूर्ण भाग लिया। शीघ्र ही इन विवादो ने राजनीतिक रूप धारण किया। परिणामस्वरूप ग्रोशियस को बन्दी बना लिया गया। मई १६१६ मे एक विशेष न्यायालय ने राजनीतिक कारणो के आधार पर ग्रोशियस को आजीवन कारावास का दण्ड दिया। कारागार मे ग्रोशियस को ग्रन्थ मगाने, पढने और लिखने की सुविधा दी गई और जेल मे उसने 'डच विधिशास्त्र की प्रवेशिका' तथा 'ईसाई धर्म की सत्यता' पर अत्युत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे। मार्च १६२१ मे अपनी बुद्धिमती पत्नी की सहायता से ग्रोशियस पुस्तको के एक बडे बक्से मे बन्द होकर जेल से भाग निकले और फ्रास पहुँचे।

यहा कई वर्ष तक अध्ययन के बाद उन्होने १६२५ मे अपना सुप्रसिद्ध ग्रन्थ युद्ध और शांति का कानून (De Jure belli ac pacis) प्रकाशित किया। इससे उन्हे बडी ख्याति मिली, किन्तु हालैण्ड की सरकार द्वारा स्वदेश प्रत्यावर्तन की अनुमति न मिलने से बडी निराशा हुई। स्वीडन के राजा गुस्टावस एडोल्फस को ग्रोशियस की यह पुस्तक बहुत पसन्द थी। उसके प्रधानमन्त्री ने राजा की इच्छा का आदर करते हुए १६३४ मे ग्रोशियस को फ्रास मे स्वीडन का राजदूत नियत किया। अगले दस वर्ष तक ग्रोशियस इस पद पर बने रहे, किन्तु उनका सारा समय अध्ययन और लेखन मे व्यतीत होता था। गम्भीर विद्वान् होने पर भी वे राजदूत के रूप मे सफल नही हुए क्योंकि उनमे दूतोचित गुणो का अभाव था। वे अपने अध्ययन तथा धार्मिक विवादो मे इतने तल्लीन रहते थे कि उनका दौत्य कार्य प्राय उपेक्षित होता रहता था। कहा जाता है कि एक बार जब फ्रास के राजा के यहा राजदूतो का कोई स्वागत समारोह था, उस समय वहा ग्रोशियस एक खिडकी की आड मे खडे होकर बाइबल के न्यू टेस्टामेण्ट का एक नया रोचक सस्करण पढ रहे थे। फ्रेंच राजा के अनुकूल होते हुए भी फ्रेंच सरकार से ग्रोशियस के सम्बन्ध ठीक नही रह सके और १६४४ मे स्वीडन ने उन्हे वापिस बुला लिया। स्काटहोल्म पहुँचने पर उनका भव्य स्वागत हुआ, किन्तु कोई नया पद नहीं दिया गया। इस पर वे स्वीडन मे जहाज द्वारा जर्मनी के लिए रवाना हुए किन्तु मार्ग मे ही पोत भग हो जाने पर वे ल्यूबेक जाने के लिए एक गाडी मे सवार हुए। वहा पहुँचने से पहले मार्ग मे ही २९ अगस्त १६४५ को अपूर्व प्रतिभा सम्पन्न यह महानुभाव दिवगत हो गये।

ग्रोशियस के ग्रन्थ—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ओर ग्रोशियस का ध्यान सर्वप्रथम १६०१ मे एक कानूनी मामले द्वारा आकृष्ट हुआ। इस समय हालैण्ड और स्पेन का युद्ध चल रहा था, इसमे डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बेडे ने मलक्का के समीप पुर्तगाल का एक जहाज पकड लिया। पुर्तगाल उस समय स्पेन के आधीन था और इस जहाज पर बहुमूल्य माल लदा हुआ था। इस जहाज को हालैण्ड ले आकर इसका माल बेच दिया गया। किन्तु कपनी के हिस्सेदारो ने इस कार्य पर इस कारण आपत्ति की कि ईसाइयो को आपस मे नही लडना चाहिए। कम्पनी ने इस विषय मे ग्रोशियस से सम्मति मागी। उसने इसके सभी पहलुओ का गम्भीर अध्ययन और मौलिक चिन्तन करके लूट

के माल का कानून (On the Law of Spoils) नामक पुस्तक तैयार की। इसका एक अध्याय स्वतन्त्र समुद्र (Mare liberum) के नाम से १६०९ में प्रकाशित किया। इसके बाद इस विषय का अध्ययन और मनन जारी रहा और १६२५ में युद्ध और शान्ति पर उसका उपर्युक्त महान् ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसका नामकरण सिसरो के एक लैटिन वाक्यांश De Jure belli ac pacis पर किया गया था। इसमें धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और विधिशास्त्र की त्रिवेणी का अपूर्व संगम था। ग्रोशियस से पहले अनेक विद्वानों ने इन समस्याओं पर विचार किया था। किन्तु कोई भी अध्ययन इतना व्यापक, *गम्भीर, क्रमबद्ध, व्यवस्थित, प्रौढ़ और प्रगतिशील नहीं था।*

ग्रोशियस के सिद्धांत—जब ग्रोशियस ने अपना ग्रन्थ लिखा, उस समय योरोप में तीसवर्षीय युद्ध (१६१८–१६४८) चल रहा था (देखिए ऊपर पृ० ३५)। इस समय ईसाई जगत में युद्ध करने में जितनी स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता प्रदर्शित हो रही थी, वह जंगली जातियों को भी मात देने वाली थी। अत्यन्त तुच्छ कारणों से अथवा अकारण ही युद्ध छेड़ दिये जाते थे और एक बार युद्ध छिड़ जाने पर सभी ईश्वरीय और मानवीय नियम भुला दिये जाते थे, बिना किसी प्रतिबन्ध के सब प्रकार के अत्याचार और क्रूरतापूर्ण कार्य करने की दोनों पक्षों को खुली छूट मिल जाती थी। ग्रोशियस ने इस अराजक और भयावह स्थिति का नियन्त्रण करने के लिए **विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों के विषय में** *कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियम निश्चित किए। उसका यह मत था कि मानवीय संस्थाओं द्वारा कोई निश्चित कानून (Positive laws) न बनाये जाने पर भी सामाजिक दशा में रहने वाले मनुष्यों के लिये इन नियमों का पालन करना आवश्यक है।* इस अवस्था को उसने प्राकृतिक दशा (State of nature) का नाम दिया और विभिन्न समुदायों के पारस्परिक व्यवहार को नियंत्रित करने वाले नियमों को प्राकृतिक कानून (Natural law) कहा। इसका लक्षण करते हुए उसने कहा, "प्राकृतिक कानून सद्बुद्धि द्वारा किया गया आदेश (Dictate of right reason) है, यह इस बात को सूचित करता है कि कोई विशेष कार्य मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति (Rational nature) के अनुकूल या प्रतिकूल होने के कारण नैतिक दृष्टि से या तो असत् है या आवश्यक है, अतएव यह कार्य प्रकृति के स्रष्टा भगवान् द्वारा या तो निषिद्ध ठहराया गया है या विहित बनाया गया है।" सभी राष्ट्र समान प्रकृति रखने वाले नागरिकों से मिलकर बने होते हैं, अतः वे सब प्राकृतिक नियमों के आदेशों का पालन करते हैं।

इन आदेशों को जानने के दो प्रकार के साधन हैं। पहला साधन बुद्धि द्वारा *ज्ञात किये जाने वाले निगम्य (a priori) तर्क का है, इसमें किसी विशेष कार्य के सम्बन्ध में यह विचार किया जाता है कि क्या यह मानवीय समाज की सत्ता के लिए अनिवार्य समझे जाने वाले मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों के अनुकूल है या प्रतिकूल।* दूसरा साधन अनुभवगम्य (a posteriori) तर्क का है, इसके अनुसार यह माना जाता है कि विभिन्न कालों और देशों में सभी अथवा अधिकांश सभ्य जातियों द्वारा सत्य स्वीकार किए जाने वाले आचरण के नियमों का प्रादुर्भाव प्राकृतिक कानून से हुआ होगा। ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून के अतिरिक्त राष्ट्रों के ऐच्छिक कानून (voluntary

law of nations) को भी स्वीकार किया । इसका आधार विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पारस्परिक सधियों और समभौतों के पालन के लिए स्पष्ट रूप से दी गई सहमति अथवा रीति-रिवाजों (Usages) और देशाचारों (Customs) के रूप में अस्पष्ट रूप से दी गई स्वतन्त्र सहमति होती है। इस कानून को उसने 'जस जैन्शियम' का नाम दिया। यह जहाँ तक सद्बुद्धि के आदेशों के अनुकूल होता है, वहाँ तक प्राकृतिक कानून का ही अंग है। यदि इन दोनों में विरोध हो तो प्राकृतिक कानून को ही मौलिक और प्रबल समझना चाहिए, क्योंकि राष्ट्रों के रीति-रिवाज प्राकृतिक कानून की प्रामाणिकता को खण्डित नहीं कर सकते।

प्राकृतिक कानून को आधार एवं मौलिक कसौटी बनाकर ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्राचीन समय से चले आने वाले सभी विवादास्पद प्रश्नों को इस पर कसा। क्या युद्ध न्यायपूर्ण हो सकता है ? न्याय्य युद्ध के क्या आधार है ? युद्ध में दोनों पक्षों को कैसा आचरण रखना चाहिए ? सधियों के क्या नियम होने चाहिए ? इन सब प्रश्नों के सूक्ष्म कानूनी विवेचन को उसने उस समय तक के सभी पश्चिमी विद्वानों, दार्शनिकों, कवियों, ऐतिहासिकों और राजनीतिज्ञों के ग्रंथों के उदाहरणों तथा अवतरणों से पुष्ट, सजीव एवं प्रामाणिक बनाया। यही उसकी विशेषता है। यदि वह १६वीं शती के लेखकों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का सकलन मात्र करता तो उसके ग्रन्थ का कोई विशेष महत्त्व न होता। उस समय की अराजकता से व्यथित होकर ग्रोशियस ने राष्ट्रों के रीति-रिवाजों में प्रकट होने वाले स्वच्छन्द आचरण की अपेक्षा प्राकृतिक कानून को अधिक ऊँचा माना और उसने अपनी विलक्षण प्रतिभा और अगाध विद्वता से युद्ध के न्याय्य, अन्याय्य कार्यों का प्रामाणिक वर्णन किया। उस समय युद्धकाल में की जाने वाली अमानुषिक बर्बरताओं से ऊबे हुए राजनीतिज्ञों को इसकी बड़ी आवश्यकता थी। ग्रोशियस का ग्रन्थ इस सामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने के कारण बड़ा लोकप्रिय हुआ।

युद्ध के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसने उसकी बर्बरता और क्रूरता को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया। युद्ध की वैधता के सम्बन्ध में सशय होने पर उसने उसे टालने पर तथा सधि-चर्चा द्वारा विवादास्पद समस्याओं के समाधान पर बल दिया। मानवीयता, दूरदर्शिता और धर्म के नाम पर बड़े प्रभावशाली शब्दों में उसने युद्ध में निर्दयतापूर्ण कार्यों का निषेध किया, उसकी दृष्टि में पराजित और बन्दी बनाये शत्रु का वध केवल उसी दशा में उचित है, जब विजेता के प्राण सकट में हों या पराजित व्यक्ति ने कुछ भीषण अपराध किये हों। सैनिक आवश्यकता होने पर शत्रु की सम्पत्ति का विध्वंस करना चाहिये। यदि शरीरबन्धक (Hostages) ने कोई बुरा काम न किया हो तो उनका वध नहीं किया जाना चाहिये। विजित प्रदेशों के व्यक्तियों को कुछ विषयों में विशेषत धर्म के क्षेत्र में कुछ स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये। उस समय तक मुसलमानों के साथ तथा अन्य गैर-ईसाइयों के साथ युद्ध और शान्ति के व्यवहार में भेदभाव बरता जाता था। मुसलमानों को सधि करने योग्य नहीं समझा जाता था, इनके साथ युद्ध में सभी प्रकार का व्यवहार उचित बताया

ग्रोशियस ने मुसलमानो के साथ सधि करने मे कोई आपत्ति नही समझी। वह अपराधो के नियन्त्रण करने के लिये अपराधियो के प्रत्यर्पण (Extradition) के पक्ष मे था। महासमुद्रो की स्वतन्त्रता का उसने प्रबल समर्थन किया। राजदूत को उसने कानून की दृष्टि से उस देश के प्रदेश से बाहर माना, इसके लिये उसने Quasi extra territorium शब्द का प्रयोग किया, यही वर्तमान समय मे प्रदेशबाह्यता (Exterritoriality) के विचार के रूप मे विकसित हुआ। वह राजदूत को राज्य के फौजदारी कानून के क्षेत्राधिकार से बिल्कुल बाहर समझता था, उसके मत मे गम्भीर अपराध का दोषी होने पर दण्डित करने के लिये राजदूत को स्वदेश मे वापिस लौटा देना चाहिये। सधियो को उसने सविदाओ से भिन्न समझा। तटस्थता के सम्बन्ध मे कानूनी दृष्टि से विस्तृत विचार करने वाला वह पहला लेखक था। उसका यह मत था कि तटस्थ राज्य को अन्यायपूर्ण प्रयोजन (Wicked purpose) के समर्थन के लिये कुछ नही करना चाहिये और इस प्रकार न्याय्य पक्ष की सहायता करनी चाहिये।

दोष ग्रोशियस के ग्रन्थ मे कई बडे दोष है। नसबौम के मतानुसार इसमे पाण्डित्य का प्रदर्शन आवश्यकता से बहुत अधिक है, इसकी तर्क प्रणाली अतिभारपूर्ण (Ponderous) है।[२४] सारा ग्रन्थ बडा असतुलित है, इसमे वैयक्तिक कानून के विषयो का अधिक विस्तार से वर्णन है। धार्मिक विवादो से बहुत अधिक बचने का प्रयत्न करते हुए प्राय सभी उदाहरण प्राचीन साहित्य और इतिहास से लिये गये है। इसमे अनेक दकियानूसी तथा प्रतिगामी सिद्धान्त हैं, ग्रोशियस ने अनेक प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जनता को अत्याचारी राजा का प्रतिरोध करने का कोई अधिकार नही है। ऐसे राजा के विरुद्ध जनता का युद्ध करना अन्यायपूर्ण (Unjust) है।

किन्तु इन दोषो के होते हुए भी ग्रोशियस अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सस्थापक समझा जाता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए प्राध्यापक लौटरपाक्ट ने यह ठीक ही लिखा है "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्तमान क्षेत्र को देखते हुए ग्रोशियस का 'युद्ध और शान्ति' भले ही अधूरा हो, किन्तु इस विषय पर यह पहला विस्तृत और व्यवस्थित ग्रन्थ था। ग्रोशियस इस विषय का पहला लेखक नही था। युद्ध के नियमो पर १५४३ मे बेल्ली ने, १५८२ मे अयाला ने तथा १५९८ मे जेण्टली ने बडी विद्वत्तापूर्ण रीति से लिखा था। १५३२ के लगभग विटोरिया ने और १६१२ मे सुआरेज ने अन्तर्राष्ट्रीय समाज की समस्या को समग्र रूप से विधिशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने की आधारशिलाएँ स्थापित की थी। किन्तु ग्रोशियस से पहले किसी व्यक्ति ने इस विषय का सर्वांगीण प्रतिपादन करने का प्रयत्न नही किया। इस ग्रन्थ में बहुत से विषय ऐसे है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत कभी नही माने जाते रहे, किन्तु १६२५ मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून समझे जाने वाले सभी विषयो का समावेश इसमे है।"

इस ग्रन्थ को मिली अभूतपूर्व सफलता और ग्रोशियस की लोकप्रियता इन तथ्यो से स्पष्ट हो जायेगी। अब तक लैटिन मे मूल ग्रन्थ के ५० सस्करण हो चुके हैं, डच,

२४ नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १११

इगलिश, फ्रेंच, जर्मन, स्वीडिश, स्पेनिश, चीनी और जापानी मे इसके अनेक अनुवाद छप चुके है। १९१५ में इगलैंड मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन के लिये बनी सस्था का नाम ग्रोशियस सोसायटी रखा गया। १९२० में मित्रराष्ट्रों ने जर्मन सम्राट् कैसर के हालैंड भाग जाने पर जब डच सरकार से उसके प्रत्यर्पण की माग की तो उसे पुष्ट करने के लिये ग्रोशियस के ग्रन्थ के प्रमाण दिये। १९२५ मे ग्रोशियस के 'युद्ध और शान्ति' ग्रन्थ के प्रकाशन के ३०० वर्ष पूरे होने पर इसकी त्रिशताब्दी बडी धूमधाम से मनायी गई और इस समय इस पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध मे सम्मिलित होने से पूर्व सयुक्त राज्य अमरीका के महान्यायवादी (Attorney General) श्री जेक्सन ने हिटलर के जर्मनी के प्रति अपनायी हुई भेदभावपूर्ण तटस्थता की *नीति का समर्थन ग्रोशियस के आधार पर किया। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त* होने पर युद्धापराधियों पर अभियोग चलाते समय ग्रोशियस के ग्रन्थो के प्रमाण दिये गये। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों मे ग्रोशियस की साक्षी बडी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। आजकल यद्यपि उसके ग्रन्थ का विस्तृत अध्ययन पिछली शताब्दियों की भाति नही होता किन्तु उसके विचार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार बने हुए हैं।

स्टार्क के शब्दो मे "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास पर ग्रोशियस का स्थायी प्रभाव पडा है। न्यायालयों के निर्णयों मे तथा सुप्रसिद्ध लेखकों के ग्रन्थों मे ग्रोशियस का ग्रन्थ प्रामाणिक रूप मे उद्धृत किया जाता है। उसके कुछ सिद्धान्तो ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बहुत प्रभावित किया है जैसे सब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का कानून के नियम द्वारा अनुशासित होने का सिद्धान्त, न्याय्य तथा अन्याय्य युद्धो का अन्तर, व्यक्ति के मौलिक अधिकारो और स्वतन्त्रताओं की मान्यता, शान्ति का विचार, विशेष प्रकार की तटस्थता (Qualified neutrality) का सिद्धान्त। इसमे कोई अत्युक्ति नही है कि ग्रोशियस की पुस्तक के परिणामस्वरूप ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ।"[२५]

ग्रोशियस का ग्रन्थ प्रकाशित होते ही उसे असाधारण लोकप्रियता और महत्त्व मिला। इसका कारण इस पुस्तक के आन्तरिक गुणों के अतिरिक्त इसके प्रकाशन का समय और विशेष परिस्थितिया भी थी। ब्रियर्ली ने इनका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि इस पुस्तक के छपने के समय तक ग्रोशियस इतना विख्यात हो चुका था कि उसकी लेखनी से प्रसूत कोई भी रचना विद्वत्समाज मे समादृत होने के योग्य थी। दूसरा कारण ग्रोशियस का ऐसे देश का नागरिक होना था, जो १६वीं शती मे स्पेन के विरुद्ध स्वातन्त्र्य सग्राम मे प्रसिद्ध हो चुका था और १७वी शती मे अनेक दृष्टियो मे योरोप का एक प्रमुख राज्य और योरोपियन सभ्यता का नेता था। धार्मिक सहिष्णुता और लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्र सस्थाओं के विकास मे उसने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। जब इगलैंड मे निरकुश राजसत्ता और लोकतन्त्र का सघर्ष चल रहा था, फ्रेंच राज्य-क्रान्ति से पूर्व सारे योरोप मे स्वेच्छाचारी शासन का बोलबाला था, उस समय हालैंड ने

२५. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, ४र्थ सस्करण, पृष्ठ ६

निरकुश राजसत्ता का अन्त कर अपने देश मे स्वतन्त्रता की ध्वजा का उत्तोलन किया था। तीसरा कारण इस ग्रन्थ का असाधारण पाण्डित्य और ग्रीक तथा रोमन ग्रन्थो के प्रमाणो और उद्धरणो की बहुलता थी। पुनर्जागृति के आन्दोलन से प्रभावित, रोमन कानून मे अगाध श्रद्धा रखने वाले योरोपियन विद्वत्समुदाय मे इस ग्रन्थ का मान्य होना सर्वथा स्वाभाविक था। चौथा कारण प्राकृतिक कानून को सदाचरण की कसौटी बनाना था। यह शब्द सबके लिये बडा आकर्षक था। पाचवा कारण उस समय युद्धो मे बरती जाने वाली भीषण उच्छृखलता से लोगो का ऊब जाना था। इसे बन्द करने की तीव्र आवश्यकता सभी राजनीतिज्ञ अनुभव कर रहे थे। ग्रोशियस का ग्रन्थ इस विषय मे उनका पथ-प्रदर्शन करने मे बडा लोकप्रिय हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तीन सम्प्रदाय (Three Schools of International Law)—ग्रोशियस के ग्रन्थ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध मे विचार एव चिन्तन को प्रबल प्रेरणा प्रदान की। इस समय राष्ट्रो के पारस्परिक सम्पर्क बढने, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो, राष्ट्रीय राज्यो के विकास और योरोपियन साम्राज्यो के विस्तार ने इस विषय के अध्ययन को बडा महत्त्वपूर्ण बनाया। इन कारणो से इस विषय के सम्बन्ध मे गम्भीर अध्ययन और अन्वेषण होने लगा। इसके परिणामस्वरूप तीन प्रकार की विचारधाराए या सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। पहले सम्प्रदाय के लेखक इस कानून के सैद्धान्तिक पक्ष पर बहुत बल देते थे, प्राकृतिक कानून (Natural law) को प्रधानता देने के कारण ये प्रकृतिवादी (Naturalists) कहलाते थे। दूसरा सम्प्रदाय राष्ट्रो के वास्तविक आचरण को अधिक महत्व देता था। इसके मतानुसार विभिन्न राष्ट्रो के आपसी व्यवहार मे पालन किये जाने वाले रीति-रिवाजो के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वास्तविक सत्ता थी। राष्ट्रो के ऐसे निश्चित कानून (Positive law of nations) की सत्ता के अस्तित्व मे विश्वास रखने के कारण यह अस्ति (Positivist) सम्प्रदाय कहलाता था। तीसरा सम्प्रदाय ग्रोशियस का अनुयायी होने के कारण ग्रोशियन (Grotian) कहलाता था। यह पहले दो सम्प्रदायो के मध्यवर्ती था और राष्ट्रो के कानून के दो आधार प्राकृतिक कानून तथा रीति रिवाजो और सधियो को मानता था। किन्तु ग्रोशियस की भाति यह इन दोनो मे प्राकृतिक कानून को अधिक प्रबल नही मानता था। इन तीनो सम्प्रदायो के प्रमुख मन्तव्य और विचारक निम्नलिखित हैं :—

(१) **प्रकृतिवादी** (Naturalists)—ये रीति रिवाजो या सधियो पर आधारित राष्ट्रो के किसी वास्तविक कानून (Positive law) की सत्ता नही स्वीकार करते थे। इनका मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रकृति के कानून (Law of nature) का अग है। सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक हाब्स ने निरकुश सत्ता का समर्थन करने के लिये १६५१ मे प्रकाशित अपने ग्रन्थ The Leviathan मे प्रकृति के कानून का विशद प्रतिपादन किया था। उसके मतानुसार मनुष्य स्वभावत पशुतुल्य, समाज विरोधी और दूसरो के साथ लडने वाला है, यह उसकी प्राकृतिक दशा है। किन्तु आत्मसरक्षण के विचार से वह अन्य व्यक्तियो के साथ समझौता करके लडाई आदि के अपने प्राकृतिक अधिकार

लेवियथन (Leviathan) को सौंप देता है, बाइबल के मतानुसार यह समुद्री महाराक्षस है, किन्तु हाब्स के मत मे यह उपर्युक्त समझौता करने वाले व्यक्तियो की इच्छाओ का मूर्तरूप है और सर्वोच्च शासन के रूप मे व्यक्तियो का नियन्त्रण करता है। राज्यो मे जब तक इस प्रकार का कोई समझौता नही हुआ, तब तक वे एक-दूसरे के प्रति प्राकृतिक दशा (State of nature) मे है अर्थात् एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध की स्थिति मे है।

मध्यकालीन धर्मशास्त्री प्रकृति के कानून को ईश्वरीय कानून समझते थे क्योकि उनके मतानुसार ईश्वर प्रकृति का स्रष्टा माना जाता था। किन्तु इस नये सिद्धान्त मे इसे धर्मशास्त्र से विच्छिन्न कर दिया गया। इससे राज्य अपनी प्रभुसत्ता (Sovereignty) पर अधिक बल देने लगे, वे और किसी उच्च कानून की सत्ता न मानते हुए अपने आचरण के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक किये अपने समझौते को ही प्रमाण मानने लगे।

हाइडलवर्ग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक सेमुअल प्यूफनडोर्फ (Samuel Pufendorf) ने प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे लागू किया। १६७२ मे प्रकाशित उसकी रचना De jure natural let gentium में उसने ऐसी प्राकृतिक दशा की कल्पना की जिसका मूलसिद्धान्त प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य माना गया कि वह अपने साथियो के साथ सामाजिक सम्बन्ध बनाये। जहाँ कोई कार्य ऐसे परिणाम उत्पन्न करे, उन्हे प्राकृतिक नियम समझा जाना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के मानदण्ड का निर्धारण किसी रिवाज या सधि द्वारा नही होता किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के मामले मे बुद्धि के प्रयोग द्वारा होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम केवल प्राकृतिक नियम मे निकसित होते हे। इस सिद्धान्त के अन्य अनुयायी Christian Thomasius (1655–1726), Jean Barbayrac (1674–1744) तथा Jean Jacques burlanaqui (1694–1748) है।

(२) अस्तिवादी सम्प्रदाय (Positivist School)—यह सम्प्रदाय प्रकृतिवादियो का सर्वथा विलोम है। प्रकृतिवादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई पृथक् भावात्मक (Positive) सत्ता या अस्तित्व नही मानते, वे प्राकृतिक कानून की ही वास्तविक सत्ता मानते है। किन्तु इसके विपरीत अस्तिवादी सम्प्रदाय राष्ट्रो द्वारा आपसी व्यवहार मे पालन किये जाने वाले रीति-रिवाजो और सन्धियो के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वास्तविक और भावात्मक (Positive) सत्ता मे विश्वास रखता है और इसे प्राकृतिक कानून से अधिक महत्वपूर्ण मानता है। इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन १६५७ ई० मे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सिविल लॉ के प्रोफेसर रिचर्ड जौचे (Richard Zouche) के ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ हुआ। इसमे उसने इस बात पर बहुत बल दिया था कि रूढि या प्रथा को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण स्रोत समझना चाहिए। किन्तु राष्ट्रो का रिवाज होना ही कानून का पर्याप्त आधार नही है। यदि किन्ही राष्ट्रो मे शत्रु की नाक काटने की प्रथा हो तो इससे यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून नही बन सकता। अत जौच ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का लक्षण करते हुए कहा कि यह अधिकाश सभ्य राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत ऐसी प्रथाय है जो बुद्धि के अनुकूल हैं।

१८वी सदी मे इसी सम्प्रदाय का प्राधान्य रहा। एक डच न्यायाधीश बिन्कर-

शोइक (Bynkershoek) ने १७०२ से १७३७ के बीच अनेक ग्रन्थ लिखकर इस सम्प्रदाय को पुष्ट किया। उसने प्रकृति के कानून का स्थान बुद्धि और तर्क को प्रदान किया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो मुख्य स्रोत बुद्धि और प्रथा (Usage) माने। उसके मत मे स्थायी रूप से चली आने वाली प्रथा अनेक पीढियो की तथा विभिन्न राष्ट्रो की सम्मिलित बुद्धि और तर्क का परिणाम होती है। अत इस प्रकार की प्रथा पारस्परिक सहमति पर आधारित प्रथा की भाति विभिन्न पक्षो द्वारा पालन योग्य समझी जाती है। उसने एक बार यहा तक कहा कि विभिन्न राष्ट्रो मे स्वेच्छापूर्वक (Tacit) समझौते द्वारा स्वीकार की गई प्रथाओ के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई पृथक् सत्ता नही। एक जर्मन विद्वान् जान जेकब मोज़र (John Jacob Moser) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी सन्धियो तथा प्रथाओ का विशाल सग्रह करके पूर्वोदाहरणो (Precedents) के रूप मे इस कानून को भावात्मक (Positive) स्वरूप प्रदान करने मे बडा सहयोग प्रदान किया। ऐसा ही कार्य गाटिजन के प्रोफेसर जार्ज फ्रीडरिक डीमार्टेन्स (George Friedcrich de Martens) ने १७८८ मे अपने एक ग्रन्थ के प्र[illegible]न द्वारा किया।

(३) ग्रोशियन सम्प्रदाय (Grotian School)—यह पहले दोनो सम्प्रदायो मध्यवर्ती था, राष्ट्रो का दो प्रकार का कानून मानता था—प्राकृतिक कानून तथा प्रथाओं और सधियों के रूप मे स्वीकार किया हुआ कानून। १७वी और १८वी शती मे इसके दो प्रबल पोषक क्रिश्चियन वुल्फ (१६७९–१७५४) तथा वैटल (१७१४–१७६७) थे। जर्मन दार्शनिक वुल्फ ने सब राष्ट्रो के एक ऐसे महान् गणराज्य (Civitas gentium maxima) की कल्पना की, जो अपने अगभूत सभी सदस्य-राज्यो पर अनुशासन रखने वाला विश्व राज्य हो। वैटल सैक्सनी राज्य के कूटनीतिक विभाग मे काम करने वाला स्विस विधिशास्त्री था। १७५८ मे उसकी प्रसिद्ध पुस्तक **Le Droit des gens** प्रकाशित हुई। यह कहा जाता है कि वह मौलिक विचारक होने की अपेक्षा दूसरो के विचारो का अधिक प्रचारक था। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर उसका बडा प्रभाव पडा। उसने प्राकृतिक दशा (State of nature) के सिद्धान्त को स्वीकार किया। राष्ट्रो का निर्माण सभ्य समाज की स्थापना से पूर्व स्वाभाविक रूप मे स्वतन्त्र रहने वाले मनुष्यो मे मिलकर होता है, अत इन राष्ट्रो को प्राकृतिक दशा मे स्वतन्त्रतापूर्वक रहने वाले नागरिको की भाति समझना चाहिए। जिस प्रकार प्राकृतिक रूप म सब मनुष्य समान होते है, इसी प्रकार सब राज्य भी समान हैं। राज्यो मे शक्तिमत्ता या निर्बलता के आधार पर बडे-छोटे का कोई भेदभाव नही करना चाहिये। एक बौना और एक बहुत ऊँचे कद वाला दोनो व्यक्ति जैसे मनुष्य होते है, इसी तरह एक छोटा गणराज्य भी वैसा ही प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य है, जैसा सबसे शक्तिशाली राज्य। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त के क्षेत्र मे **राज्यो की समानता** (Equality of States) का विचार वैटल की एक बहुत बडी देन है।

वैटल ने प्रकृति के कानून को राष्ट्रो पर लागू करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कई भेद किये। पहला भेद राष्ट्रो का **आवश्यक या प्राकृतिक कानून** (Necessary or

Natural law of Nations) था। ये ऐसे नियम थे, जिनके सत्-असत् होने में किसी प्रकार सन्देह ही नहीं हो सकता था। इन नियमों का पालन राज्यों के लिए आवश्यक था। इनका उल्लंघन होने पर राज्यों को आत्म-रक्षा के उपाय करने का पूरा अधिकार था। दूसरा भेद **राष्ट्रों का ऐच्छिक कानून** (Voluntary law of Nations) का है। कई बार कुछ मामलों में प्राकृतिक कानून को लागू करने में बड़ा सन्देह होता है, इनमें प्रत्येक राज्य इसकी व्याख्या अपनी इच्छानुसार करता है। कई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को वास्तविक हानि पहुँचाये बिना ऐसे कानूनों का पालन नहीं करते। इनमें कानूनों का पालन उनकी इच्छा पर होता है। अतः यह ऐच्छिक कानून है। वैटल के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का तीसरा भेद सन्धियों के रूप में पारस्परिक अभिसमयों (Conventions) द्वारा तय होने वाला **अभिसमयात्मक कानून** (Conventional law) है। चौथा भेद विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पालन किये जाने वाली प्रथाओं और रूढ़ियों का कानून (Customary law) है। 40273 B 18

वैटल की विचार पद्धति बड़ी जटिल थी, किन्तु उसका अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने इस पद्धति से जो उदार और मानवीय परिणाम निकाले, वे बड़े लोकप्रिय हुए। उसने न्याय्य तथा अन्याय्य युद्ध के विचार को समाप्त कर दिया। उसके ऐच्छिक कानून में प्रत्येक राज्य को अपने मामलों में कार्य की स्वाधीनता मिली, प्रभुसत्ता (Sovereignty) के सिद्धान्त को पोषण मिला। उसने कुछ अवस्थाओं में राज्य के एक अंश को मूल राज्य से पृथक् होने का अधिकार माना। वैटल का यह उदार दृष्टिकोण भी उसे लोकप्रिय बनाने में सहायक हुआ। ग्रोशियस ने निरंकुश सत्ता का समर्थन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून लिखा था, वैटल ने राजनीतिक स्वतन्त्रता का पोषण करते हुए अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया।

१९वीं तथा २०वीं शतियाँ—इनमें कई कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास बड़ी तेजी से हुआ। पहला कारण योरोप में नये शक्तिशाली राज्यों का अभ्युदय, योरोपियन देशों द्वारा विशाल साम्राज्यों का निर्माण, यातायात के साधनों में उन्नति, नवीन आविष्कार और अधिक विध्वंसक शक्ति रखने वाले शस्त्रास्त्रों का निर्माण था। दूसरा कारण ब्रिटिश और अमरीकन न्यायालयों द्वारा युद्ध में पकड़े गये जहाजों और माल के सम्बन्ध में किये गये अनेक निर्णय और कई विधिशास्त्रियों द्वारा इस विषय पर सुप्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रकाशन था। ग्रेट ब्रिटेन में विलियम स्काट ने तथा स० रा० अमरीका में प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने अभिग्रहण कानून (Prize law) के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निर्णय दिये। ब्रिटिश लेखकों में फिलिमोर, हाल, वाकर, लारेन्स, वेस्टलेक, ओपेनहाइम के नाम उल्लेखनीय हैं। स० रा० अमरीका में इस विषय पर लिखने वाले प्रमुख व्यक्ति हेनरी व्हीटन, थियोडोर वूल्जी, फ्रांसिस लीबर, रिचर्ड डाना, मूर, हाइड, स्टोवेल और हेक्वर्थ हैं। योरोप में इसके प्रधान विचारक क्लूबर हेफ्टर, ब्लंशली, जेलिनेक, ह्वरिंग और कौफमैन हुए। तीसरा कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली अनेक सन्धियों का तथा अनेक सम्मेलनों का सम्पन्न होना था। नैपोलियन के पतन के बाद योरोप के राजनीतिक पुनर्निर्माण के लिये १८१५

मे हुई वियना की महासभा योरोपियन राजनीतिज्ञो का ऐसा पहला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था, जिस ने डेन्यूब जैसी कई देशो मे से होकर गुजरने वाली नदियो मे नौचालन के अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाये, विभिन्न प्रकार के राजदूतो के पदो की प्रतिष्ठा के पौर्वापर्य का क्रम निश्चित किया। इसी समय रूस के जार एलेग्जेण्डर प्रथम की प्रेरणा से अन्तर्राष्ट्रीय विषयो मे ईसाइयत के सिद्धान्त को लागू करने के लिये **पवित्र सघ** (Holy Alliance) बनाया गया, किन्तु इसने कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया। ग्रेट ब्रिटेन, रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया ने १८१५ मे एक **चतुर्मुख मैत्री सघ** (Quadruple Alliance) बनाया, इसका उद्देश्य जनता की शान्ति और कल्याण के कार्यो पर तथा महत्वपूर्ण सामान्य हितो के प्रश्नो पर विचार करने के लिये समय समय पर सम्मेलन बुलाना था। इसके चार सम्मेलन १८१८, १८२०, १८२१ तथा १८२२ मे हुए। १८२० के ट्रोप्पौ के सम्मेलन मे यह महत्वपूर्ण निश्चय किया गया कि यदि किसी राज्य के आन्तरिक विद्रोह से दूसरे राज्यो की सुरक्षा या सत्ता सकटग्रस्त हो तो वे इसके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप कर सकते है। १८२२ के बाद इस सघ का कोई अधिवेशन नही हुआ। 1856

पेरिस की घोषणा (Declaration of Paris)—क्रीमिया के युद्ध के बाद पेरिस मे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, आस्ट्रिया, रूस, प्रशिया और सार्डीनिया ने समुद्री युद्ध के सम्बन्ध मे चार नियमो की घोषणा की। यह **पेरिस की घोषणा** (Declaration of Paris) कहलाती है। ये चार नियम निम्नलिखित थे —

(क) युद्ध सलग्न देशो द्वारा वैयक्तिक सशस्त्र जहाजो की सहायता से शत्रु पर आक्रमण करने की प्रथा (Privateering) का अन्त किया जाता है।

(ख) तटस्थ देशो के जहाजो मे युद्ध मे विनिषिद्ध वस्तुओ (Contraband) के अतिरिक्त शत्रु का माल जा सकता है।

(ग) शत्रु देश के जहाजो मे यदि युद्ध मे विनिषिद्ध वस्तुओ के अतिरिक्त तटस्थ देशो का अन्य कोई माल लदा हो तो इसे पकडा नही जा सकता है।

(घ) परिवेष्टन या तटरोध (Blockade) के प्रभावशाली होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके लिये शत्रु देश के तट पर पहरे के लिये इतने अधिक जहाज रखे जाएँ कि वह दुष्प्रवेश्य हो। १८८८ मे स्वेज नहर मे सब देशो के निर्बाध नौचालन के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ।

हेग सम्मेलन—पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्ष मे रूस के जार की प्रेरणा पर हेग मे २६ राष्ट्रो के सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और सघर्ष को कम करने के लिये कई महत्वपूर्ण निश्चय किये। यद्यपि १८९९ का पहला हेग सम्मेलन शस्त्रास्त्र निर्माण *की सीमा निर्धारित* करने के अपने प्रधान उद्देश्य मे सफल नही हो सका, फिर भी इसने स्थल युद्ध मे सब राष्ट्रो द्वारा पालन किये जाने वाले आचरण के कुछ नियम निश्चित किये। इसमे यह सिद्धान्त भी स्वीकार किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के निर्णय का सबसे अधिक प्रभावशाली और न्यायपूर्ण साधन पचायती निर्णय (Arbitration) है। पचायती निर्णय का स्थायी न्यायालय (Permanent court

of Arbitration) स्थापित किया गया। यद्यपि यह सम्मेलन सब राष्ट्रों को अनिवार्य रूप से पंचायती निर्णय का साधन स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं कर सका, युद्ध छेड़ने के प्रत्येक राष्ट्र के सर्वोच्च अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सका, किंतु फिर भी इसने पहली बार विभिन्न राष्ट्रों द्वारा स्थल युद्ध में पालन किये जाने वाले नियमों का निर्माण किया, यह प्रदर्शित किया कि पारस्परिक सहमति से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कानूनों का निर्माण हो सकता है।

१५ जून १९०७ से आरम्भ होने वाले दूसरे हेग सम्मेलन में भाग लेने वाले ४४ राष्ट्रों ने १३ अभिसमयों (Conventions) पर हस्ताक्षर किये। ये समझौते प्रधान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निम्न विषयों के सम्बन्ध में थे—शान्तिपूर्ण निपटारा, युद्ध आरम्भ करने के नियम, स्थल युद्ध के नियम, तटस्थ राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य, युद्ध छिड़ने पर शत्रु के व्यापारिक जहाजों की स्थिति, व्यापारिक जहाजों को सशस्त्र जहाजों में परिणत करना, समुद्र के अन्दर सुरंग बिछाना, युद्ध के समय जहाजों द्वारा गोलाबारी के नियम, समुद्री युद्ध के नियम, अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय (International Prize Court), समुद्री युद्ध में तटस्थ शक्तियों के अधिकार और कर्त्तव्य।

दूसरे हेग सम्मेलन के बाद यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सबसे बड़ा दोष ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अभाव है, जो "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या कर सकें और इनका पालन करवा सकें"[२६]। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इस अभाव की पूर्ति के लिये राष्ट्रसंघ (League of Nations) और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय की स्थापना की गई। अगले अध्यायों में इनके कार्यों का विस्तार से वर्णन किया जायगा। १९२५ में फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और बेल्जियम के मध्य सम्पन्न हुई लोकार्नो संधि द्वारा यह निश्चय किया गया कि जर्मनी और बेल्जियम तथा जर्मनी और फ्रांस की सीमाओं के सब झगड़े शान्तिपूर्वक निपटाये जायेंगे। १९२८ के **केलाग-ब्रिआं पैक्ट** (Kellogg-Briand Pact) के अनुसार संसार के अधिकांश देशों ने यह घोषणा की कि वे अपने विवादों का निर्णय शान्तिपूर्ण उपायों से ही करेंगे। पहली जुलाई १९२९ को ४७ राज्यों के प्रतिनिधियों ने जेनेवा में एकत्र होकर रणक्षेत्र में आहत और बीमार व्यक्तियों के साथ तथा युद्ध-बन्दियों के व्यवहार के सम्बन्ध में दो अभिसमय किये, युद्ध-बन्दियों के साथ प्रतिशोधपूर्ण तथा क्रूर व्यवहार को वर्जित ठहराया गया। रणक्षेत्र में आहतों और बीमारों की शुश्रूषा में संलग्न तथा चिकित्सा करने वाले व्यक्तियों को विशेष सुविधायें प्रदान की गईं। राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध करने (Codification) के भी कुछ प्रयत्न किये।

जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून को खुली चुनौती दी गई। १९३९ में आरम्भ होने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को बहुधा भंग किया गया। किन्तु इस युद्ध ने शान्ति बनाये रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों

---

२६. जेराप—ए मार्डन ला आफ नेशन्स, पृ० ८

की आवश्यकता को बडी तीव्रता से अनुभव कराया। परिणामस्वरूप २४ अक्टूबर १९४५ को स० रा० सघ की स्थापना हुई। १९४६ मे अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के निर्णय के लिये न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) बनाया गया। १९४८ मे मानवीय अधिकारो का सार्वभौम घोषणापत्र तैयार किया गया। जातिवध (Genocide), शरणार्थियों आदि के सम्बन्ध में अनेक समझौते किये गये। अगले अध्यायो मे स० रा० सघ के अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) के कार्यो का वर्णन किया जायगा।

इसमे कोई सन्देह नही है कि इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे अनेक प्रबल बाधाये है। किन्तु अणुबमो की विभीषिका ने इनके निराकरण की अनिवार्य आवश्यकता सब विचारको के चित्त पर भली भाँति अंकित कर दी है। वे यह अच्छी तरह समझ गये है कि मानव जाति के परित्राण का एकमात्र उपाय भावी युद्धो की सभावना को समाप्त करने वाले, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का तथा इसे पालन कराने वाले समुचित सगठन का विकास करना है। इसके अतिरिक्त मानव समाज की सत्ता के सातत्य को बनाये रखने का कोई दूसरा उपाय नही है, नान्य: पन्था: विद्यते अयनाय। इस बात की पूरी सभावना है कि भविष्य मे इसका विकास तीव्र गति से होगा। पिछला इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे पर्याप्त प्रगति हुई है। १९३४ मे प्रिवी कौंसिल ने हाल (Hall) की सुप्रसिद्ध पुस्तक की भूमिका से एक अवतरण उद्धृत करते हुए अपने निर्णय मे लिखा था—"पिछली दो शताब्दियो पर दृष्टिपात करने पर हम यह देखते हैं कि प्रत्येक पचास वर्ष की अवधि की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस अवधि के प्रारम्भिक काल की अपेक्षा अधिक सुसगठित दशा मे है। शनै शनै इसकी जड सुदृढ होती गई है और कार्य का क्षेत्र भी बढता चला गया है। यही बात इसके भविष्य के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है"[२७]।

२७. जे० बी० मूर—दी अमेरिकन जर्नल आफ इंटरनेशनल ला, ख० १, १९०७, पृ० १२

द्वितीय अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप

(Nature of International Law)

समाज मे सुव्यवस्था और शान्ति बनाये रखने के लिए व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ व्यवहार करने के लिए कुछ नियम आवश्यक होते हैं। यदि ऐसा न हो तो समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाय। जब मनुष्य किसी समाज या राष्ट्रीय राज्य (National State) के रूप में सगठित होते है तो वे आपसी व्यवहार के लिए कुछ नियमो की सत्ता स्वीकार करते हैं। मनुस्मृति (७।३), महाभारत और कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि भारतीय ग्रन्थो मे एक ऐसे आदिम समाज की कल्पना की गई, जिस मे न राजा था और न राज्य। जगल के कानून या मात्स्य न्याय का प्रचलन था,[१] बडी मछली छोटी मछली को खाती थी, प्रबल निर्बल के अधिकारो का अपहरण करता था। इस शोचनीय स्थिति का अन्त करने के लिए व्यक्तियों ने आपस में मिलकर राजा की और राज्य की सस्था का निर्माण किया और उसमे पालन किये जाने वाले नियमो को निश्चित किया। राज्यो के निर्माण तथा समाजो के सगठन के बाद इनके आपसी सम्बन्ध बढने लगे और इनके पारस्परिक व्यवहार के लिए नियमो की आवश्यकता हुई। रीति-रिवाज और रूढि (Custom) द्वारा ये नियम बनने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के इन नियमो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जाने लगा।

नियम और कानून (Rule and Law)—इन नियमो के लिए कानून (Law) शब्द के प्रयोग ने अनेक जटिल वाद विवाद उत्पन्न किये है, अत इन दोनो का भेद जान लेना आवश्यक है। नियम समाज मे व्यक्तियो के आचरण को नियन्त्रित करने के लिए बनाये जाते हैं। ये अनेक प्रकार के होते हैं और कई बार इनका पालन कानूनी नियमो की अपेक्षा अधिक दृढता के साथ होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन नियमो को पालन कराने के लिए बाध्य कराने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) अधिक प्रबल होती है। उदाहरणार्थ, चोरी करना धार्मिक और नैतिक दृष्टि से पाप समझा जाता है। धर्म और नीति मनुष्य के अन्त करण पर गहरा प्रभाव डालते हैं। जिस व्यक्ति के मन पर चोरी करने पर पापी होने या धर्मविरुद्ध कार्य करने के कारण रौरव नरकगामी होने का भय अच्छी तरह अकित हो गया है, वह चोरी कभी नही करेगा। इसी प्रकार जिस नियम के विषय मे प्रबल लोकमत और रूढि बन जाती है, उस नियम

१. महाभारत १२।६७।१८, अराजका: प्रजा: पूर्वं विनेशुरिति न: श्रुतम्। परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥

का भी उल्लघन बहुत कम किया जाता है। इसी लिए हमारे यहाँ यह कहा जाता है—शास्त्राद्रूढिः बलीयसी।

किन्तु कानून (Law) राजकीय आदेश के कारण बाधित रूप से पालन किये जाने वाले नियमों को कहते हैं। राज्य इनका उल्लघन करने वालो के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। इस दण्ड के भय से लोग इसका पालन करते है। प्राय राज्य के उन्ही कानूनो का अधिक पालन होता है, जिनको राजदण्ड के भय के अतिरिक्त मनुष्यो के अन्त करण तथा प्रबल लोकमत की अनुज्ञप्ति या सम्मोदन (Sanction) का बल प्राप्त हो। यदि चोरी के सम्बन्ध मे पाप का विचार बिल्कुल उठ जाय, समाज मे चोर को निन्दा और घृणा की दृष्टि से न देखा जाय तो केवल राजदण्ड के भय से चोरी के कानून का बहुत अधिक पालन नही हो सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी शासन और व्यवस्था की वैसी ही प्रबल आवश्यकता है, जैसी राष्ट्रीय क्षेत्र मे। किन्तु इसे बनाये रखने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि जैसे राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसकी सब व्यवस्थाओ को बलपूर्वक पालन करवाने के लिए राज्यो की शक्ति का विकास हुआ है, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे विभिन्न राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को पालन करा सकने में पूर्ण रूप से समर्थ किसी शक्ति का अभी तक प्रादुर्भाव नही हुआ है, अत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे राष्ट्रीय कानून जैसी बाध्यकर्त्री शक्ति (Sanction) नही है। इस अवस्था मे यह प्रश्न होता है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहना कहाँ तक उचित है। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा के सम्बन्ध में बडा मतभेद है। यहाँ विभिन्न विधिशास्त्रियो द्वारा की गयी इसकी कुछ मुख्य परिभाषाओ का वर्णन किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा (Definition of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लक्षण करते हुए पुराने लेखको और विद्वानो ने इस कानून के आधारभूत स्रोतों—तर्क बुद्धि तथा न्याय के तत्वों पर बल दिया है और नवीन लेखको ने अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के वर्तमान तत्वो पर। इसकी कुछ प्रसिद्ध परिभाषायें निम्नलिखित हैं—(१) अमरीकन विधिशास्त्री ह्वीटन (Wheaton) ने लिखा है—"सभ्य राष्ट्रों मे माने जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह स्वतन्त्र राष्ट्रो मे विद्यमान समाज का स्वरूप देखकर तर्कबुद्धि द्वारा निश्चित किये गये न्यायानुकूल आचरण के नियमों से निर्मित होता है। इसमें विभिन्न देशो की सामान्य सहमति से इन नियमों मे किये गये सशोधन भी सम्मिलित होते हैं।"[२]

(२) ब्रिटिश विधिवेत्ता सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने अपने लक्षण मे इसके विभिन्न तत्वों पर बल देते हुए लिखा है—"राष्ट्रों का कानून एक जटिल

---

२ ह्वीटन—एलीमेण्ट्स आफ इण्टरनेशनल ला, अनुच्छेद १४.

International law as understood among civilized nations, may be defined as consisting of those rules of conduct which reason deduces, as consonant to justice from the nature of the society as existing independent nations, with such definitions and modifications as may be established by general consent.

पद्धति है, यह अनेक तत्वों से मिलकर बना है। इसमे इन तत्वों का समावेश है—अधिकार एव न्याय के वे सामान्य सिद्धान्त जो प्राकृतिक समन्याय (Equity) की दशा मे रहने वाले व्यक्तियों के आचरण के लिए तथा राष्ट्रों के सम्बन्धों और आचरण के लिए समान रूप से उपयुक्त हों, प्रथाओं (Usages), रूढ़ियों या आचारों (Customs) का, तथा विधान शास्त्रियों की सम्मतियों का सग्रह, सभ्यता तथा व्यापार का विकास, निश्चित कानून (Positive) की सहिता।[३]

(३) ब्रिटिश विधिशास्त्री हाल (Hall) ने इस परिभाषा को सरल बनाते हुए यह कहा है—अन्तर्राष्ट्रीय कानून आचरण के ऐसे नियम है जिन्हे वर्तमान सभ्य राज्य एक-दूसरे के साथ व्यवहार मे ऐसी शक्ति के साथ बाधित रूप से पालन करने योग्य (Binding) समझते है, जिस शक्ति के साथ सदसद्विवेकी (Conciensious) कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति अपने देश के कानूनों का पालन करते हैं और यह समझते है कि इनका उल्लघन होने की दशा मे उपयुक्त साधनों द्वारा इन्हे लागू किया जा सकता है।[४]

(४) उपर्युक्त सभी लक्षण पिछली शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं के वर्तमान विकास से पहले किये गये थे। आधुनिक परिस्थितियों को दृष्टि मे रखते हुए स्टार्क (Starke) ने यह नई परिभाषा की है—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह ऐसा कानून समूह है जिसके अधिकाश भाग का निर्माण उन सिद्धान्तों तथा आचरण के नियमों से हुआ है, जिनके सम्बन्ध मे राज्य यह अनुभव करते हैं कि वे इनका पालन करने के लिये बाध्य है। अतएव वे सामान्य रूप से अपने पारस्परिक सम्बन्धों मे इनका पालन करते हैं। इसमे निम्न प्रकार के नियम भी सम्मिलित है (क) अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं तथा सगठनों की कार्यप्रणाली से सम्बन्ध रखने वाले तथा इन सस्थाओं के राज्यों तथा व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम। (ख) व्यक्तियों से तथा राज्येतर सत्ताओं (Nonstate entities) से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम उस अश तक इसके अन्तर्गत हैं, जिस अश तक ऐसे व्यक्ति और राज्येतर सत्ताएँ अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अध्ययन या चिन्तन का विषय हैं।"[५] इस लक्षण मे स्टार्क

---

३. मेन—इण्टरनेशनल ला, १८८३, पृ ३२

The law of nations is a complex system, composed of various ingredients. It consists of general principles of right and justice, equally suited to the conduct of individuals in a state of natural equity and to the relations and conduct of nations, of a collection of usages, customs and opinions, the growth of civilization and commerce and a code of positive law

४ हाल—इण्टरनेशनल ला, पृ० १

International law consists in certain rules of conduct which modern civilized states regard as being binding on them in their relations with one other with a force comparable in nature and degree to that binding the conscientious person to obey the laws of his country, and which they also regard as being enforceable by appropriate means in case of infringement

५. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल ला, चतुर्थ सस्करण, पृ० १

ने व्यक्ति के मानवीय अधिकारो तथा मौलिक स्वतन्त्रताओ को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे लाने का प्रयत्न किया है। इसमे कोई सन्देह नही कि यह लक्षण बहुत व्यापक है, किन्तु जटिल भी है।

(५) कुछ आधुनिक लेखको ने इसके बडे सरल और सक्षिप्त लक्षण किये हैं। प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री आपेनहाइम (Oppenheim) के मतानुसार "राष्ट्रो का कानून या अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रथागत (Customary) तथा आपसी समझौतो मे बने अभिसमयात्मक (Conventional) नियमो का सग्रह है, जिन्हे सभ्य राज्य एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध मे अवश्य पालन करने योग्य समझते हैं।"[६]

(६) ब्रिअर्ली (Brierly) के मतानुसार "राष्ट्रो के कानून या अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह कार्य करने के ऐसे नियमो और सिद्धातो के समूह है, जो सभ्य राज्यो द्वारा एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध मे बाधित रूप से पालन किये जाने वाले होते हैं।"[७]

(७) अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने एस० एस० लोटस के मामले (देखिये प्रथम परिशिष्ट) के निर्णय मे लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अभिप्राय उन सिद्धान्तों से है जो सब स्वतन्त्र राज्यो के मध्य (व्यवहार मे) लागू होते हैं।"[८]

(८) प्रिवी कौसिल ने वैस्टरेन्ड गोल्ड माईनिंग कम्पनी लिमिटिड (देखिए प्रथम परिशिष्ट) के मामले मे इसकी व्याख्या करते हुए लिखा था—"ये ऐसे नियम है, जिन्हे सभ्य राज्य एक-दूसरे के प्रति तथा एक-दूसरे के नागरिकों के प्रति अपना व्यवहार निश्चित करने वाला समझते है।"[९]

(९) लारेन्स ने इसकी बडी सुन्दर और लघु परिभाषा करते हुए लिखा है—"ये ऐसे नियम है जो सभ्य राज्यो के सामान्य समूह के पारस्परिक व्यवहारो का निर्धारण करते हैं।"[१०] इस परिभाषा म सब विवादास्पद शब्दो से बचने का प्रयत्न किया गया है। इसमे कानून (Law) के स्थान पर नियम (Rule) शब्द का प्रयोग किया गया है। 'सब राज्यों' के स्थान पर 'सभ्य राज्यो के सामान्य समूह' का व्यवहार किया गया है। यह सम्भव है कि कुछ राज्य विशेष परिस्थितियों मे स्वार्थवश इन नियमो का उल्लघन करें,

६. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खण्ड १

International law is the name for the body of customary and conventional rules which are considered legally binding by civilized states in their intercourse with each other

७. ब्रिअर्ली—दी ला ऑफ नेशन्स

The law of Nations or international law may be defined as the body of rules and principles of action which are binding upon civilised states in their relations with each other

8. "The principles which are in force between all independent nations"

9 "The form of the rules accepted by civilised states as determining their conduct towards each other and towards each other's subjects"

10 The rules which determine the general body of civilised states in their mutual dealings

किन्तु सभ्य राज्यो का सामान्य समूह इनका उल्लंघन नही करता। लारेंस ने यह भी लिखा है कि सभ्य राज्यो का अभिप्राय ईसाई राज्य नही है, किन्तु इसमे टर्की, जापान, चीन जैसे गैर ईसाई राज्य भी सम्मिलित हैं। इस परिभाषा का व्यवहार (Dealings) शब्द बहुत व्यापक है, इसमे शान्तिपूर्ण और शत्रुतापूर्ण दोनो प्रकार का व्यवहार सम्मिलित है, अत यह परिभाषा अन्य लक्षणों की अपेक्षा सुस्पष्ट, सुनिश्चित और सुन्दर है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक तत्व (Essentials of International Law)—उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक तत्व निम्नलिखित है—

(१) यह एक कानूनी पद्धति है। इसका निर्माण निम्नलिखित तत्वों से होता है—(क) विभिन्न राष्ट्रों के मध्य में पाये जाने वाले पारस्परिक व्यवहार या आचरण के नियम (Rules of Conduct), (ख) रिवाज या परम्पराए (*Usages*), (ग) विभिन्न राष्ट्रों मे किये जाने वाले समझौते या अभिसमय (Conventions)।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मूल प्रतिपाद्य वस्तु (Contents) ऐसे नियम है जो सभी स्वतन्त्र तथा सभ्य राज्यों ने स्वीकार कर लिये हैं। अत वे इनके पालन के लिये बाध्य है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को बाध्य रूप से पालन कराने वाली शक्ति (Sanction) हाल के मतानुसार मनुष्यों की सत् असत् विवेक करने वाली वह बुद्धि है, जो उन्हे अपने देश के कानूनो का पालन करने के लिये बाध्य करती है। स० रा० सघ (U N O) के चार्टर मे दिये गये कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियमो का भग होने पर ये सघ द्वारा अथवा न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (*International Court of Justice*) के द्वारा लागू किये जाते है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का चार प्रकार का वर्गीकरण (Classification of International Law)- -(क) **सार्वजनिक तथा वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून** (Public and private International Law)—*इसका वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता* है। **पहला प्रकार** इसे सार्वजनिक (Public) और वैयक्तिक (Private) अन्तर्राष्ट्रीय कानून नामक दो बडे वर्गों मे विभक्त करता है। सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध ऐसे विषयों से होता है, जो दो या अधिक राज्यो के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) में आते है। अनेक राज्यों या राष्ट्रों के क्षेत्राधिकार मे आने के कारण इसे अन्तर्राष्ट्रीय कहा जाता है। किन्तु इनका सम्बन्ध व्यक्तियों के साथ होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई ब्रिटिश नागरिक इगलैंड मे विवाह करने के बाद भारत मे आ जाता है और कुछ समय बाद इस विवाह के विषय मे या इसके तलाक के सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न होता है तो भारत के न्यायालयों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि इस मामले मे इगलैंड का कानून लागू किया जाय या भारत का। इस प्रकार इसमे दो कानूनो का टकराव पैदा होने से इसे डायसी (*Dicey*) के शब्दों मे 'कानूनों का संघर्ष' (*Conflict of*

laws) भी कहते हैं। पिट काब्बेट के अनुसार "वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे नियमों का समूह है जो दीवानी मामलों में किसी देश के एक न्यायालय के सामने आये ऐसे प्रश्नों और क्षेत्राधिकार का निश्चय करता है, जिनमें एक विदेशी तत्व होता है। इनका सम्बन्ध विदेशी व्यक्तियों से, विदेशी वस्तुओं से तथा विदेशों में आंशिक अथवा सम्पूर्ण रूप से किए गए व्यापारों (Transactions) से होता है, अथवा किसी विदेशी कानूनी पद्धति से होना है।"

वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उद्देश्य अथवा लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

(१) न्यायालय के अभियोग या वाद (Suit) सुनने का अधिकार रखने की योग्यता (Competency) का निर्णय करना वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन शर्तों का प्रतिपादन तथा निर्धारण करता है, जिनके अनुसार किसी मामले में 'कानूनों का सघर्ष' उत्पन्न होने पर यह निर्णय किया जाता है कि प्रस्तुत मामले पर विचार करने का अधिकार किस देश के न्यायालय को है। कुछ वर्ष पहले समाचारपत्रों में यह प्रकाशित हुआ है कि श्री रिजवी नामक एक भारतीय नागरिक ने स्विट्ज़रलैंड की महिला से स० रा० अमरीका मे विवाह किया, बाद मे रिजवी ने उसे तलाक दिया और इस विवाह से उत्पन्न सन्तान–एक लडकी को लेकर भारत चला आया। मातृस्नेह से विह्वल माँ अपनी लडकी को लेने के लिये भारत आई, उसने दिल्ली के एक न्यायालय मे पुत्री की प्राप्ति के लिए आवेदनपत्र दिया। इस मामले मे यह विवाद उत्पन्न हुआ कि इसे सुनने का अधिकार अमरीकन न्यायालय को है, स्विट्ज़रलैंड की अदालत को है या भारतीय न्यायालय को। (२) इसका दूसरा उद्देश्य इस बात का निर्णय करना है कि किसी ऐसे मामले मे किस देश का कानून लागू किया जा सकता है। उपयुक्त उदाहरण मे यह प्रश्न है कि इस मामले मे कौनसा कानून प्रामाणिक समझकर लागू किया जाय— स० रा० अमरीका का कानून, स्विट्ज़रलैंड का अथवा भारत का कानून। (३) इसका तीसरा उद्देश्य इन मामलो मे विदेशी न्यायालयों के निर्णयों की वैधता का निर्णय करना है। उदाहरणार्थ, रिजवी के मामले मे यदि स० रा० अमरीका अथवा स्विट्ज़रलैंड के न्यायालयों ने कोई निर्णय किये हो तो भारतीय न्यायालयों को यह निर्णय करने का पूरा अधिकार है कि वे कहां तक वैध माने जा सकते हैं और लागू किये जा सकते हैं।

इन दोनों प्रकार के कानूनों का एक बड़ा भेद स्पष्ट करते हुए सर रार्बट फिलिमोर (Robert Philimore) ने लिखा है कि सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से प्राप्त होने वाले अधिकार पूर्ण एवं निरपेक्ष (Absolute) होते हैं यदि इनका भंग हो तो यह युद्ध का कारण (Casus belli) बन सकता है, इन्हे प्राप्त करने के लिए लड़ाई छेड़ना उचित समझा जा सकता है। किन्तु वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम विभिन्न राज्यों मे सम्पर्क बढाने के लिए तथा उन्हे सुविधा देने के लिए होते हैं, अत ये पूर्ण और निरपेक्ष नही होते। दोनों कानूनों का एक दूसरा भेद यह है कि सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय मे होता है, अत उसमे दोनों पक्ष दो राज्य होते हैं। वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे ऐसी स्थिति नही है। इसमे एक ही देश के न्यायालय विदेशियों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ मामलों मे लागू किये जाने

सा अ कानून निरपेक्ष होते हैं जबकि व्य क निरपेक्ष नहीं होते

वाले सिद्धान्तो और नियमो का निश्चय करते हैं। इस दृष्टि से इस कानून के साथ अन्तर्राष्ट्रीय विशेषण का प्रयोग भ्रामक है।

(ख) **वास्तविक और प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून** (Substantive and Procedural International Law)—**वर्गीकरण का दूसरा प्रकार** वास्तविक (*Substantive*) तथा प्रक्रियात्मक (*Procedural*) अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। देश की स्वतन्त्रता से तथा किसी प्रदेश पर स्वामित्व में सम्बन्ध रखने वाले विषयों का कानून वास्तविक (Substantive) कहलाता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध वास्तविक (Substantive) अधिकारों से होता है। इन अधिकारो की रक्षा करने की विधियाँ तथा अधिकारों का हनन होने पर प्रतिकार के उपाय प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत समझे जाते है।

(ग) तीसरा प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो को युद्ध और शान्ति के दो बड़े भागो में विभक्त करता है। पिछले अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता माने जाने वाले ग्रोशियस (Grotius) की पुस्तक का नाम ही 'युद्ध और शान्ति पर' (De Jure Belli ac Pacis) है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय नियमो का वर्णन इन दो वर्गो मे बाट कर किया है। पहले युद्ध के नियमों पर बहुत बल दिया जाता था, आजकल शान्ति के नियमो का विकास महत्वपूर्ण माना जाता है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्गीकरण के **चौथे प्रकार** का आधार यह है कि कोई एक कानून या नियम कितने राज्यो पर लागू होता है। इस दृष्टि से इसे **विशेष** (Particular), **सामान्य** (General) और **सार्वभौम** (Universal) नामक तीन वर्गो मे बाटा जाता है। १८१७ मे ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका में रशबेगोट (Rush-Bagot) समझौता हुआ, इसके अनुसार दोनो देशो ने यह निश्चय किया कि वे महाझीलो (Great Lakes) के प्रदेश मे कोई सेना नही रखेगे। यह विशेष अन्तर्राष्ट्रीय कानून हुआ। दो देशों मे होने वाली सधिया इसी वर्ग मे आती है। सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आशय ऐसी सधियो, समझौतो और नियमो से है जिन्हे विश्व की प्रमुख शक्तिया तथा अधिकाश देश स्वीकार करते है। युद्ध का परित्याग करने वाले १६२८ के केलाग-ब्रीआं पैक्ट को ६३ राज्यो ने स्वीकार किया था, स०रा० सघ के चार्टर को उसके १२३ सदस्यो ने माना है। अत ये सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत समझे जाते हैं। तीसरा वर्ग सार्वभौम अन्तर्राष्ट्रीय कानून का है, इसमें ऐसे नियम आते हैं, जो सभी राज्यो द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक परम्परागत (*Customary*) नियम इसी प्रकार के हैं, जैसे राजदूतो के विशेषाधिकार, तीन मील तक के समुद्र को तटवर्ती राज्य की सीमा मे मानना, महासमुद्रो की स्वतन्त्रता (Freedom of the High Seas)।

(ङ) लन्दन विश्वविद्यालय के जार्ज श्वार्सनबर्जन ने **चौथे प्रकार** का एक अभिनव वर्गीकरण किया है। वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को **शक्ति** (Power), **सहयोग** (Co-ordination) तथा **पारस्परिकता** (Reciprocity) के तीन वर्गो मे बाटता है। स्वामी और दास के सम्बन्ध पहले वर्ग मे आते हैं, प्रबल और निर्बल राष्ट्रो मे इस प्रकार के

सम्बन्ध होते हैं। सहयोग के कानून के उदाहरण स्त्रियों के व्यापार का निरोध, अफीम के व्यापार का निरोध, शरणार्थियों के साथ व्यवहार के नियम हैं। इन नियमों के पालन कराने मे सभी राष्ट्र एक-दूसरे को सहयोग देते है। तीसरा वर्ग पारस्परिकता के नियमों का है। इनमे राजदूतो के विशेषाधिकार, अपराधियों के प्रत्यर्पण (Extradition) आदि के नियम आते हैं। प्रत्येक देश दूसरे देश के राजदूतो को कुछ सुविधायें देता है और ऐसी ही सुविधायें उसके राजदूत अन्य देशों मे प्राप्त करते है। यदि एक देश किसी दूसरे देश के राजदूतो की सुविधायें छीनता है, तो दूसरा देश पहले देश के राजदूत की सुविधायें समाप्त कर देता है। यही पारस्परिकता का व्यवहार है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिपाद्य विषय (Subjectmatter of International Law)—ग्रोशियस के मतानुसार इस के मुख्य अग युद्ध और शान्ति के कानून है। विख्यात विधिवेत्ता ओपेनहाइम ने इस विषय पर अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक को दो खण्डो मे विभक्त करते हुए एक मे शान्ति के तथा दूसरे मे युद्ध के नियमों का वर्णन किया है। वस्तुत. इनमे शान्ति के नियमों की ही प्रधानता है। डा०जेन्क्स (Jeynks) ने वर्तमान शान्ति के कानून को निम्न आठ अगों मे बाँटा है[११]—(१) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के स्वरूप का तथा कानून निर्माण की प्रक्रियाओ का नियन्त्रण करने वाला कानून। (२) राज्यो के मध्य विभिन्न सम्बन्धो को अनुशासित करने वाला कानून–इसमें प्रदेश विषयक तथा महासमुद्रो की स्वतन्त्रता के, आकाश की प्रभुता के क्षेत्राधिकार के, राज्यों के उत्तरदायित्व के और राज्यो के पारस्परिक सम्पर्क के नियम आते है। (३) अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टियो द्वारा सुरक्षित किये जाने वाले मानवीय अधिकार—इनमे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नागरिक (Civil) सभी प्रकार के अधिकार आते है। (४) अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप रखने वाली सम्पत्ति के तथा कापीराइट, पेटेण्ट आदि के अधिकार। (५) अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ द्वारा बनाये गये हवाई, समुद्री यातायात के नियम, विभिन्न आर्थिक और प्राविधिक समझौते। (६) वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्ध रखने वाले नियम। (७) सन्धियो तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के सम्पन्न करने, वैध बनाने, इनके सशोधन, व्याख्या और समाप्ति करने के नियम। (८) अन्तर्राष्ट्रीय पचनिर्णय (Arbitration) के नियम।

स० रा० सघ के महामन्त्री द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) को विचारणीय विषयो के सम्बन्ध मे दिए गए एक आवेदनपत्र मे इसके २५ अग बनाये गए हैं। ये इस प्रकार हैं—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय (Subjects) अर्थात् राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत, राज्यों के कानून के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्व, राज्यो के मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य, राज्यो और सरकारों की मान्यता, राज्यो और सरकारो का उत्तराधिकार (Succession), घरेलू क्षेत्राधिकार (Domestic jurisdiction), विदेशी राज्यों की मान्यता, विदेशी राज्यो पर क्षेत्राधिकार, प्रादेशिक क्षेत्राधिकार (Territorial jurisdiction) के दायित्व, राष्ट्रीय

---

११. दी ब्रिटिश यीअर बुक आफ इण्टरनेशनल ला, १९५४, पृ० १०

प्रदेश से बाहर किये गये अपराधो का क्षेत्राधिकार, राज्य का प्रादेशिक क्षेत्र (Domain), महासमुद्रो तथा प्रादेशिक सम् . पर प्रभुता, अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का शान्तिपूर्ण निपटारा. राष्ट्रीयता और राज्यहीनता (Statelessness), कूटनीतिक सम्पर्क (Diplomatic intercourse) और विशेषाधिकार, व्यापारिक प्रतिनिधियो का सपर्क और विदेशियो (Alien) के साथ व्यवहार, प्रत्यर्पण (Extradition) आश्रयदान (Asylum) का अधिकार, सधियो का कानून और राज्य का उत्तरदायित्व, मध्यस्थ निर्णय की प्रक्रिया, युद्ध के कानून। इस सूची मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लगभग सभी प्रतिपाद्य विषयो का वर्णन आ जाता है। q. uest.

अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या वास्तव मे कानून है ? (Whether International Law is true law ?) — (क) **पूर्वपक्ष** — इस प्रश्न पर विधिशास्त्रियों मे तीव्र मतभेद है। आस्टिन (Austin), हालैंड (Holland) आदि पुराने कानूनवेत्ताओ का यह मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई सत्ता नही है। किन्तु अधिकाश अर्वाचीन विचारक और विधिशास्त्री इसे कानून मानते है। यहाँ दोनो पक्षो के मतो का सक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वास्तविक कानून न माननेवाले प्रमुख विचारक निम्नलिखित है—

(अ) प्रिवी कौसिल के लार्ड चीफ जस्टिस कोलरिज ने फ्रेंकोनिया (Franconia) के मामले मे अपना निर्णय देते समय पहले पक्ष का प्रबल पोषण करते हुए कहा था—"सच्ची बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अयथार्थ शब्द (Inexact expression) है। यदि इसकी अयथार्थता को मन मे न रखा जाय तो इससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। कानून से यह सूचित होता है कि कोई कानून को बनाने वाला है तथा इसे लागू करने वाला तथा इसका उल्लघन करने वाले को दण्ड देने वाला कोई न्यायालय है। किन्तु सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) राज्यो के लिये कोई विधान निर्माता नही है और न ही किसी न्यायालय को यह अधिकार है कि वह उन्हे अपने आदेशो द्वारा इसके पालन के लिये बाधित कर सके और यदि राज्य इस कानून की अवहेलना करे तो उन्हे दण्ड दे सके। राष्ट्रो का कानून प्रथाओ का ऐसा समूह है, जिसके सम्बन्ध मे सभ्य राज्यो ने यह स्वीकार कर लिया है वे कि एक-दूसरे के साथ व्यवहार मे इन प्रथाओ का पालन करेगे। सधियाँ केवल राष्ट्रो के समझौतो का परिणाम है और कम-से-कम इगलैंड मे ये सधियाँ न्यायालयो को बाधित नही कर सकती। न ही विधिशास्त्रियो का किसी विषय मे ऐकमत्य न्यायालय को बाधित कर सकता है। यह केवल अन्तर्राष्ट्रीय विषयो मे राष्ट्रो के समझौते का सूचक है और ऐसे विषयो पर ब्रिटिश न्यायालय जब कोई निर्णय देंगे तो वे उसे इगलिश कानून का अग मानकर ही देंगे।" सर जेम्स स्टीफन ने भी यही मत प्रकट किया था।

(आ) उपर्युक्त निर्णय का प्रधान आधार ब्रिटिश विधिशास्त्री जान आस्टिन (१७९०—१८५९) का कानून सम्बन्धी सिद्धान्त था। इसके अनुसार "कानून" शब्द का प्रयोग केवल ऐसे नियमो के लिये किया जाना चाहिये जो विधान निर्माण करने का अधिकार रखनेवाली किसी निश्चित शक्ति द्वारा बनाये गये हो और जिनको किसी भौतिक शक्ति

के बल या दबाव से लागू किया जाता हो। बाध्य रूप से इनका पालन कराने वाली शक्ति को उसने अनुज्ञप्ति या सम्मोदन (Sanction) कहा है।[१२] उसके मतानुसार **"कानून" सदैव एक आज्ञा होती है, यह राजनैतिक दृष्टि से प्रभुसत्ता (Sovereignty) रखने वाले की ओर से अपने वशवर्तियो को दी जाती है।** "यदि कानून की इस कसौटी पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कसा जाय तो वह खरा नही उतरता। क्योंकि राष्ट्रो का कानून भावात्मक कानून (Positive law) नही है। ऐसा कानून सदैव किसी प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति द्वारा अपने अधीनस्थ व्यक्तियो को दिया जाने वाला आदेश होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही है। क्योंकि उसकी स्थापना एक सामान्य सम्मति (General opinion) से होती है। उसके पालन की बाध्यकर्त्री शक्ति (Sanction) नैतिक ही है, क्योंकि सामान्य रूप से स्वीकृत और सम्मानित अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को तोडते हुए राज्यो को यह डर होता है कि इससे दूसरे देशो मे उनके प्रति शत्रुता का भाव उत्पन्न होगा, उन्हे इससे बडी क्षति उठानी पडेगी।"[१३] अतएव आस्टिन ने यह मत व्यक्त किया है कि सादृश्य (Analogy) के आधार पर भले ही अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को कानून कह लिया जाय, किन्तु कानून की मौलिक विशेषतायें इनमे नही है, अत इन्हे कानून नही कहा जा सकता। यह केवल भावात्मक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (Positive International morality) है।

(६) एक अन्य ब्रिटिश विधिशास्त्री डा० हालैण्ड (Hollond) ने भी उपर्युक्त कारणो से आस्टिन के पक्ष का समर्थन किया है। उन्होंने अपने एक प्रसिद्ध तथा बहुधा उद्धृत वाक्य मे कहा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधिशास्त्र का तिरोधान बिन्दु (Vanishing Point of Jurisprudence) है। इसका यह अभिप्राय है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र तक पहुँचने से पहले ही विधिशास्त्र की सीमा लुप्त और धुधली होने लगती है, अत उसे विधिशास्त्र का अग नही मानना चाहिये। इसे सौजन्यवश (By Courtesy) ही कानून कहा जाता है। यह वस्तुत नैतिक नियमो का सग्रहमात्र है। हालैण्ड ने इसके दो हेतु दिये हैं। पहला हेतु तो यह है कि इसमे दोनो पक्षो के ऊपर, राज्यो के पारस्परिक विवाद का निर्णय करने वाली कोई शक्ति नही है। दूसरा हेतु यह है कि ज्यो ज्यो राज्यो के एक बडे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय मे सगठित होने से अन्तर्राष्ट्रीय नियम कानूनो जैसा रूप धारण करने लगते हैं, त्यो-त्यो इसका यह स्वरूप

---

१२. इस शब्द का इतिहास बडा मनोरजक है। अग्रेजी का Sanction लेटिन के Sanction से निकला है। इसका मूल अर्थ धर्मार्पण (Consecration) था। इसके बाद इसका प्रयोग धार्मिक दायित्व के रूप में होने लगा। रोमन लेखकों ने इसका व्यवहार किसी नियम के आवश्यक रूप से पालन के लिए किया। बेन्थम ने आधुनिक कानून में इसका वर्तमान अर्थ में प्रयोग आरम्भ किया। हिन्दी में Sanction का असली मूल अर्थ देने वाला शब्द धर्म है, किन्तु इसका उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग सम्भव नहीं है। अत यहां इनके लिये अनुज्ञप्ति या सम्मोदन का प्रयोग किया गया है।

१३. आस्टिन—प्रोविन्स आफ जूरिसप्रडेन्स डिटर्माइण्ड, द्वितीय संस्करण, १८६१, पृ० १२७ तथा १७७।

लुप्त हो जाता है और यह सघीय (Federal) सरकार के सार्वजनिक कानून के रूप मे परिणत हो जाता है।"

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को कानून न मानने वाले पहले पक्ष की मुख्य युक्तियां निम्नलिखित हे—(१) कानून एक सर्वोच्च प्रभुशक्ति सम्पन्न राजनैतिक सत्ता द्वारा बनाये जाते है और उस सत्ता की भौतिक शक्ति तथा राजदण्ड के भय द्वारा लोगो को कानून का पालन करने के लिये बाधित किया जाता है। प्रत्येक कानून के पीछे उसका पालन बाध्य रूप से कराने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) अवश्य होनी चाहिये। नैतिक (Moral) नियमो और कानून में यही बडा अन्तर है कि पहले मे ऐसी शक्ति का सर्वथा अभाव होता है। अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को बाधित रूप से पालन कराने वाली शक्ति (Sanction) का तथा सत्ता (Authority) का अभाव है, अत इसे कानून नही कहा जा सकता।

(२) कानून प्रभुसत्ता (Sovereign body) द्वारा बनाये जाते है। विभिन्न राज्यो के सम्बन्ध मे यह स्थिति है कि उन पर प्रभुसत्ता रखने वाली और उनके लिए कानून बनाने वाली कोई सत्ता नही है।

(३) जिस प्रकार किसी राज्य मे व्यक्तियो मे विवाद या झगडा उत्पन्न होने पर उसके निर्णय के लिये न्यायालय बने हुए है, वे कानून की व्याख्या करते हैं और उसे लागू करते हैं, इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नियमो की व्याख्या करने तथा उसके विवादो के निर्णय के लिये कोई न्यायालय नही है।

किन्तु आस्टिन (Austin) द्वारा उपर्युक्त मत स्थापित किये हुए एक शताब्दी बीत चुकी है। इस बीच मे कानून के स्वरूप के सम्बन्ध मे हुए नवीन अनुसन्धानो और चिन्तन ने उसकी उपर्युक्त धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हुई तीव्र प्रगति के कारण उसका मत सर्वथा अमान्य हो गया है। सर हेनरी मेन, लार्ड रसेल आदि विद्वानो ने आस्टिन के मत का प्रबल तर्कों के आधार पर खण्डन किया है। यहाँ इनका सक्षेप से उल्लेख किया जायेगा।

(ख) उत्तर पक्ष, अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के कानून होने का समर्थन—इसके प्रमुख समर्थक (अ) सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने यह प्रदर्शित किया है कि किसी नियम के कानून होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसके पीछे उसके पालन को बाध्य बनाने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) हो। उसके शब्दो मे--"आस्टिन ने भाषा की काफी खींचा-तान करके प्रदर्शित किया है कि भावात्मक (Positive) कानून मे चाहे वह दीवानी हो या फौजदारी सर्वत्र अनुज्ञप्ति अवश्य पायी जाती है। वस्तुत उसने यह बहुत बडा कार्य (Feat) किया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कुछ शिष्य उसकी भाषा से यह परिणाम निकालते हैं कि मनुष्य सदैव दण्ड के भय से नियमो का पालन करते है। वस्तुत यह बिल्कुल असत्य है। मनुष्य अधिकतम नियमो का पालन मन के स्वभाव मात्र से अचेतन रूप मे (Unconsciously) करते हैं। मनुष्य कई बार नियमो का उल्लघन करने पर मिलने वाले दण्डो के भय से भी इनका पालन करते है, किन्तु प्रत्येक समुदाय मे अचेतन रूप से नियमों का पालन

करने वाले अधिकाश व्यक्तियो की तुलना मे ऐसे व्यक्तियो की सख्या बहुत कम होती है। यह वस्तुत अपराध करने वाले वर्गों तक सीमित होती है। यदि एक व्यक्ति दण्ड के भय से चोरी या हत्या नही करता तो लाखो व्यक्ति ऐसे है जो किसी प्रकार का विचार किए बिना स्वाभाविक रूप से ऐसे कार्य नहीं करते।"[१४]

विभिन्न देशो की प्राचीन तथा अर्वाचीन कानून पद्धतियो के गम्भीर अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि आस्टिन का यह सिद्धान्त सदैव सत्य नही होता कि कानून एक सर्वोच्च सत्ता रखने वाले प्रभु का आदेश होता है। प्राय सभी समाजो मे कानून का आदिम रूप चिरकाल से चले आने वाले रीति रिवाज, प्रथाय और रूढियाँ होती है। ये किसी सर्वोच्च सत्ता के आदेश नही होते, ये किसी कानून बनाने वाली सस्था द्वारा नही बनाये जाते किन्तु फिर भी कानून समझे जाते है और इनका पालन कानून की भांति होता है। इगलैण्ड का सारा कॉमन ला (Common Law) और व्यापारिक कानून (Merchant Law) इसी प्रकार विकसित हुआ है, इसे किसी प्रभु के आदेश से नही बनाया गया। ब्रिटिश पार्लियामेंट को कानून बनाने का पूरा अधिकार है, किन्तु यह इसे किसी सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा से नही मिला।

(आ) किलोवन के लार्ड रसेल ने इस विषय का विवेचन करते हुए साराटोगा (न्यूयार्क) म दिये गए अपने प्रसिद्ध भाषण मे कहा था "यदि ऐतिहासिक रूप से कानून के विकास पर विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि कानून से पहले समाज की आरम्भिक दशाओ मे प्रथागत (Customary) कानून था। जिन समाजो मे आस्टिन के मतानुसार कानून बनाने वाली सस्था नही है, वहा भी ऐसी प्रथाओ और नियमो का विकास होता है, जो वस्तुत कानून है। इसका उदाहरण व्यापारिक कानून (Merchant Law) है। निरकुश शक्ति के परवर्ती विकास मे कानूनो को आस्टिन के अर्थों मे एक ऊँची सत्ता की ऐसी आज्ञा समझा जाता है जिसे बाधित रूप से पालन कराने की शक्ति उसके पास है। किन्तु इसके बाद की अवस्थाओं मे जब सरकार स्पष्ट रूप से अधिक लोकतन्त्रीय बनती है, वह सार्वजनिक इच्छा पर आधारित होती है, तब कानून का, बाधित करने वाली शक्ति द्वारा थोपी जाने वाली आज्ञाओ का स्वरूप कम होता जाता है और उन्हे सहमति (Consent) पर आधारित परम्परागत कानून का स्वरूप अधिकाधिक मात्रा मे प्राप्त होने लगता है। मेरा यह दावा है कि राष्ट्रो ने एक-दूसरे के प्रति व्यवहार मे जिस नियम समूह के अनुकूल आचरण करने का निश्चय कर लिया है, उसे यथार्थ रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नाम दिया जाना चाहिए।"[१५]

(इ) ब्रियर्ली (Brierly) ने आस्टिन के 'आज्ञा सिद्धान्त" (Common Theory) की आलोचना करते हुए यह सत्य ही लिखा है—"आधुनिक राज्य के कानून का आस्टिन द्वारा किया गया विश्लेषण भ्रामक और अपूर्ण है। यदि इसे सत्य माना जाय तो जब तक हम लक्षण मे ठीक बिठाने के लिए तथ्यो की तोड मरोड नही करते, तब

१४. मेन—इण्टरनेशनल ला, पृ० ५०

१५. ला क्वार्टर्ली रिव्यू, १८९६, पृ० ३१२

तक हम इंगलैंड के कॉमन ला का अस्तित्व नही मान सकते । राज्यों के कानून को अन्तर्राष्ट्रीय कानून से पृथक् करने वाली तथा इसके कानूनी स्वरूप में सन्देह उत्पन्न करने वाली अधिकांश विशेषतायें ऐसी हैं जो विभिन्न कानूनी पद्धतियों के आरम्भिक रूपों में पायी जाती हैं। ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं—प्रथा पर आधारित होना, दोनों पक्षों को अपने मामले में न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानने में या उसे मामला सौंपने में स्वतन्त्र होना, कानून को बनाने और इसे लागू करने की नियमित प्रक्रियाओं का अभाव।' सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Fredrick Pollock) का मत है कि "कानून की सत्ता के लिए आवश्यक शर्तें केवल यही हैं कि यह एक राजनैतिक समुदाय की सत्ता हो तथा इसके सदस्य यह समझते हों कि उन्हें कुछ निश्चित नियमों का आवश्यक रूप से पालन करना होगा" ।[17] सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून इन दोनों शर्तों को पूरा करता है।

(इ) स्टार्क (Starke) ने निम्नलिखित कारणों के आधार पर आस्टिन के मत का खंडन किया है—(क) वर्तमान ऐतिहासिक विधिशास्त्र (Historical Jurisprudence) ने आस्टिन के कानून विषयक सामान्य सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है। यह भली भाँति सिद्ध किया जा चुका है कि अनेक समाजों में औपचारिक रूप से कानून बनाने की कोई संस्था नहीं थी, फिर भी उनमें कानून की एक पद्धति प्रचलित थी और इसका पालन होता था। (ख) आस्टिन के विचार उनके समय में भले ही सत्य हों, किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए सत्य नहीं हैं। पिछली आधी शताब्दी में सन्धियों और समझौतों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बहुत बड़ी मात्रा में निर्माण हुआ है।[18]

अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के कानून होने का समर्थन—ओपेनहाइम द्वारा आस्टिन के मत का खण्डन—प्रसिद्ध विधिशास्त्री ओपेनहाइम (Oppenheim) ने उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए कहा है कि हमें कानून का सही अर्थ समझने के लिये कानून (law) और नैतिकता (morality) की तुलना करनी चाहिये, क्योंकि ये दोनों मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार तथा आचरण के नियमों का निर्धारण करती हैं। नैतिकता के नियमों की यह विशेषता है कि वे केवल अन्तःकरण (conscience) पर ही प्रभाव डालते हैं, इनका पालन कराने का साधन अन्तःकरण है। मनुष्य के भीतर का अन्तरात्मा ही इन नियमों का उल्लंघन रोक सकता है। यदि कोई व्यक्ति सत्य बोलने, चोरी या हिंसा न करने के नैतिक नियमों को तोड़ना चाहता है तो उसे रोकने का सामर्थ्य केवल अन्तरात्मा में है, किन्तु बाह्य शक्ति में नहीं। इसके सर्वथा विपरीत कानून का पालन बाह्य शक्ति द्वारा बलपूर्वक कराया जाता है। यदि कोई व्यक्ति सरकार द्वारा बनाये किसी कानून का भंग करता है तो वह राज्य द्वारा पकड़ा जाता है और न्यायालय द्वारा दण्डित होता है। कानून का पालन राज्य की शक्ति तथा दण्ड के भय द्वारा किया जाता

१६. ब्रियर्ली—दी ला आफ नेशन्स, पंचम संस्करण, पृ० ७०-७१
१७. पोलक—आक्सफोर्ड लैक्चर्स (१८९०), पृ० १८
१८. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल ला, तृतीय संस्करण, पृ० १८

है। अत आपेनहाइम के शब्दो मे कोई नियम तब नैतिकता का नियम कहलाता है, जब किसी समुदाय की सामान्य सहमति से यह नियम केवल अन्त करण पर लागू होने वाला समझा जाता है। दूसरी ओर कोई नियम तब कानून कहलाता है, जब किसी समुदाय की सामान्य सहमति से यह अन्ततोगत्वा बाह्य शक्ति द्वारा लागू किया जाता है।

कानून की सत्ता के लिये यह आवश्यक नही है कि इसे बनाने वाली कोई राजशक्ति हो तथा इसका भग करने वाला को दण्ड देने के लिए कोई न्यायालय हो। किसी आदिम समाज (Primitive Community) म जब कानून का कोई प्रश्न उत्पन्न होता है तो इसका निर्णय कोई न्यायालय नही, किन्तु समूचा समाज करता है। सभ्यता के विकास के साथ नवीन परिस्थितियो मे पूरे समाज के लिये यह कार्य करना सम्भव न रहा। अत समाज मे कानून बनाने वाली विधानसभाओं का तथा कानून को लागू करने वाले न्यायालयो का आविर्भाव तथा विकास हुआ।

(ई) उपयुक्त तथ्यो के आधार पर आस्टिन द्वारा की गई **कानून की परिभाषा को अपूर्ण समझते हुए डा० आपेनहाइम ने इसकी एक व्यापक परिभाषा की है**[१६]—'कानून एक समुदाय म मानवीय व्यवहार के ऐसे नियमो का समूह है, जो इस समुदाय की सामान्य सहमति द्वारा बाह्य शक्ति द्वारा लागू किया जाता हो'; यदि इस लक्षण को मान लिया जाय तो कानून की सत्ता के लिए तीन शर्तें (Conditions) आवश्यक है —

(१) समुदाय (Community), (२) इस समुदाय मे मानवीय व्यवहार के लिये माने जाने वाले नियमो का समूह, (३) बाह्य शक्ति द्वारा इन कानूनो का पालन कराया जाना। आपेनहाइम ने यह सिद्ध किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे ये तीनो शर्तें पाई जाती है।

पहली शर्त समुदाय की है। इसमे कोई सन्देह नही कि इस समय सब राज्य सर्वोच्च प्रभुसत्ता रखते है एक दूसरे से स्वतन्त्र है इन राज्यो के ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय सरकार नही है। फिर भी इन राज्यो के आर्थिक, सास्कृतिक, वैज्ञानिक और मानवीय हित बहुत कुछ मिलते है। इन सामान्य हितो ने इनम एकता की भावना उत्पन्न करके अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय (International Community) का निर्माण किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए अनेक प्रकार की सस्थाय बनाई गई हैं। राष्ट्रसघ और सयुक्त राष्ट्र सघ तथा इनसे सम्बद्ध विभिन्न सस्थाय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की अथवा राष्ट्रो के एक कुटुम्ब (Family of Nations) की सत्ता प्रमाणित करते हैं।

दूसरी शर्त इस समुदाय के व्यवहार के लिये नियमो की सत्ता है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा पालन किये जाने वाले नियमो का एक विशाल सग्रह अब तक नन,नकुन,

---

१६. आपनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खड १, अष्टम सस्करण, पृ० १०

"A body of rul s for human conduct within a community which by the common consent of the community shall be enforced by an external power"

है। ये नियम दो प्रकार के है. (क) परम्परागत, रिवाजी (Customary) या अलिखित, जैसे राजदूतों के लिये विशेषाधिकार, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा सधियाँ जैसे १८५६ का पेरिस का घोषणा-पत्र, स्थलयुद्ध के सम्बन्ध मे १८६६ तथा १९०७ में हेग के अभिसमयों (Conventions) द्वारा तय किये नियम, १९२८ का पेरिस का कैलाग-ब्रीआं पेक्ट, १९४५ का सयुक्त राष्ट्र का चार्टर।

तीसरी शर्त इन कानूनों का पालन कराने वाली सत्ता या शक्ति है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इसका अभाव नहीं है। सबसे बडी बाध्य करने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) तो विश्व का प्रबल लोकमत है। इसके सम्मुख बडे शक्तिशाली राज्यों को नतमस्तक होना पडता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण अक्टूबर १९५६ में इंगलैंड और फ्रास द्वारा मिश्र पर किया गया आक्रमण है। इस समय विश्व के लोकमत ने इगलैण्ड और फ्रास के इस कार्य का इतना प्रबल विरोध किया कि उन्हें मिश्र से अपनी सेनायें वापिस बुलाने के लिये विवश होना पडा। समाचारपत्र, पुस्तक, राजनीतिज्ञों के वैयक्तिक पत्र-व्यवहार इस लोकमत के निर्माण में बडा भाग लेते है। श्रीरामचन्द्र ने कहा था—लोकापवादो बलवान्मतो मे। वर्तमान राज्य भी इसे इतना ही शक्तिशाली समझते है। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि वे भले ही किसी अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लघन करे, किन्तु अपने कार्य को सदैव अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। प्रत्येक राज्य को अपने देश के तथा दूसरे देशों के लोकमत का आदर करना पडता है। यदि वह अपने देश के लोकमत की उपेक्षा करे तो वर्तमान लोकतन्त्रों मे ऐसे मन्त्रिमण्डलों का अपने पदों पर बना रहना असम्भव हो जाता है। अक्टूबर १९५६ मे ब्रिटिश सरकार ने मिश्र पर हमला किया, किन्तु ब्रिटिश लोकमत ने इसका विरोध किया, इसके परिणामस्वरूप तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मत्री ईडन को अपना पद छोडने के लिये विवश होना पडा। इसी प्रकार प्रत्येक देश को दूसरे देशों के लोकमत का भी सम्मान करना पडता है। वर्तमान समय मे आर्थिक दृष्टि से सब देशो की एक-दूसरे पर निर्भरता इतनी अधिक बढ रही है कि कोई देश पूर्ण रूप से स्वावलम्बी नही है, उसे अपनी सैकडों आवश्यकताये दूसरे देशों से पूरी करनी पडती है। अपने विकास के लिये लाखों रुपये के ऋण, सैनिक सामग्री, कारखानों के लिये कच्चा माल अन्य देशों से लेना पडता है।। यदि वह दूसरे देशों के लोकमत का आदर नही करता तो अन्य देशों के आर्थिक बहिष्कार द्वारा उसे इसके लिये विवश किया जा सकता है। अमरीकन राष्ट्रपति विल्सन ने इसी दृष्टि से राष्ट्रसघ के सविधान मे आर्थिक प्रतिबन्धो या दण्डो (Economic Sanctions) की व्यवस्था करायी थी। इटली द्वारा एबीसीनिया पर आक्रमण करने के समय इनका प्रयोग हुआ था। आर्थिक आवश्यकता दूसरे देशो के लोकमत को मानने के लिये किस प्रकार बाधित करती है, इसका सुन्दर उदाहरण ऊपर बताया गया मिश्र पर ब्रिटिश आक्रमण है। कहा जाता है कि अमरीकन सरकार ब्रिटिश सरकार के इस कार्य को बुरा समझती थी, इसी समय ब्रिटिश सरकार को वाशिंगटन से अपनी आर्थिक आवश्यकता के लिये भारी कर्ज लेना था। इसे देने के लिये अमरीकन सरकार ने यह शर्त लगाई कि ब्रिटिश सरकार मिश्र से अपनी फौजे वापिस

बुला ले, इंगलैण्ड को दूसरे देश के लोकमत का सम्मान करने को बाधित होना पड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बलपूर्वक लागू कराने वाली दूसरी बड़ी शक्ति राष्ट्र-संघ और स० रा० संघ की है। अगले अध्यायों में इनके इस कार्य का विशेष रूप से वर्णन किया जायगा। यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि संघ की सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही करने का पूरा अधिकार है और उसने दो बार इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। दक्षिण कोरिया पर उत्तर कोरिया का आक्रमण होने पर सुरक्षा परिषद् के २७ जूनतथा ७ जुलाई १९५० के प्रस्तावों के अनुसार पहली बार दक्षिण कोरिया की रक्षा के लिये १६ देशों के सहयोग से स० राष्ट्र संघ ने सेनायें भेजी और सैनिक कार्यवाही की। दूसरी बार सुरक्षा परिषद् ने अक्टूबर १९५६ में मिस्र पर इज़राइल, फ्रांस और इंगलैण्ड का संयुक्त आक्रमण रोकने के लिये बड़ी प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही की तथा इन देशों को अपनी सेनायें वापिस बुलानी पड़ी। इसके अतिरिक्त स० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने १२ दिसम्बर १९५० को पास किये गये एक प्रस्ताव के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय स्थापित करने का निश्चय किया है। हेग का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय विभिन्न राष्ट्रों के कानूनी विवादों के निर्णय करने का कार्य कर रहा है। आपेनहाइम के मतानुसार कानून की तीनों शर्तें पूरी करने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून मानना सर्वथा उचित है।

आपेनहाइम ने कहा है कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि राज्यों के कानून (Municipal Law) जिस बाध्यता और शक्ति के साथ लागू किये जा सकते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस बाध्यता के साथ लागू नहीं किया जा सकते। ये राज्यों के कानून से कम स्पष्ट (Explicit) और निश्चित है। किन्तु फिर भी यह कानून है क्योंकि इसे दो कारणों से लागू (Enforce) किया जाता है। पहला कारण तो यह दृढ विश्वास है कि यह उत्तम है और दूसरा कारण वे सूक्ष्म प्रभाव (subtle influences) है, जिनके कारण मनुष्यों अथवा संस्थाओं के लिये अपने साथ रहने वाले व्यक्तियों तथा संस्थाओं के विचारों के प्रतिकूल आचरण करना कठिन हो जाता है। जिस प्रकार एक राज्य के व्यक्ति यहां के सामान्य कानून का पालन राजदण्ड के भय से करते है, उसी प्रकार राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन लोकापवाद के भय से करते है और सामान्यत इसका उल्लंघन इसलिये नहीं करते कि उन्हें इसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ेगा। सामान्य कानून की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस कानून की सत्ता ही नहीं है।

(उ) सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विधिशास्त्री हाल (Hall) ने इस विषय का विवेचन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून मानने के विषय में निम्न तर्क दिये हैं[२०]—

(१) विभिन्न राज्य और विधिशास्त्री इसे कानून समझते रहे है और इसी रूप में

---

२०. हाल—इण्टरनेशनल ला, प्रथम अध्याय

वर्णन करते रहे है ।

(२) कानूनी तर्क प्रणाली द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो का विकास होता रहा है ।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय विवादो मे पूर्वोदाहरण (Precedents) का कानूनी तौर पर प्रयोग होता रहा है ।

(४) जिस प्रकार राज्यो के देशीय कानूनो मे प्रामाणिक कानून विशारदो की सम्मतिया उद्धृत की जाती है, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इनका अवलम्बन किया जाता है ।

(५) विभिन्न राज्यो के आचरण की आलोचना या समर्थन अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे प्राय कानूनी दृष्टि से की जाती है ।

(६) यदि देशीय कानून (Municipal Law) राज्य की शक्ति द्वारा लागू किया जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लोकमत द्वारा लागू किया जाता है । देशीय कानून की प्रारम्भिक अवस्था मे ऐसा ही होता था उदाहरणार्थ आरम्भिक ट्यूतानिक (जर्मन) समाज म यह कानून था कि यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को किसी निश्चित प्रकार की कानूनी क्षति पहुचाता था तो पहले व्यक्ति को यह अधिकार था कि जब तक उसकी क्षति पूर्ति न हो जाय तब तक वह दूसरे व्यक्ति के पशुओं को पकडकर अपने पास रखे ।[२१] राष्ट्रीय कानूनो म दण्ड देने वाली निश्चित राजनीतिक सत्ता का विकास बहुत देर म हुआ है । अन्तर्राष्ट्रीय कानून अभी आरम्भिक दशा मे है । अत उसम दण्ड देने वाली तथा कानून को बलपूर्वक लागू करने वाली सत्ता का पूरी तरह विकास नहीं हुआ । किन्तु इसका पूर्ण विकास न होने के कारण उसे कानून न मानना ठीक नही है ।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय कानून नैतिकता (morality) से सर्वथा भिन्न है । कानून मे, इसे उल्लघन करने वाला निश्चित राजदण्ड का भागी होता है, नैतिकता म इसके किसी नियम को तोडने वाला इस प्रकार के दण्ड का भागी नही होता । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नैतिकता और कानून दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं । सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Fredrick Pollock) ने इनका अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल नैतिकता का ही एक प्रकार होता तो विदेश नीति सम्बन्धी राजकीय पत्रों को तैयार करने वाले अपने पक्ष को पुष्ट करने वाली नैतिक युक्ति पर ही अपना सारा बल लगाते । किन्तु वस्तुत वे ऐसा नही करते । वे नैतिक सचाई की भावना की अपील नही करते, किन्तु उदाहरणो, सन्धियो और विशेषज्ञो की सम्मतियो को प्रमाण रूप म उपस्थित करते है । वे यह बात स्वयंसिद्ध मानकर चलते है कि राष्ट्रो के मामले मे नैतिक बाध्यताओ के अतिरिक्त अनेक ऐसी कानूनी बाध्यतायें भी है, जिन्हें राजनीतिज्ञ और विधिशास्त्र के लेखक स्वीकार करते है ।"[२२]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर सबसे बडी आपत्ति यह की जाती है कि इसका उल्लघन

---

२१. वही, पृ० १५

२२. पोलक—आक्सफोर्ड लेक्चर्स, १८९०, पृ० १८

अधिक और पालन कम होता है। कानून की बडी विशेषता तो उसका पालन है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हमे बडी अराजकता दृष्टिगोचर होती है। शक्तिशाली राजा अपनी इच्छानुसार इन नियमो को तोडते रहते है। वर्तमान काल मे सधियो का तोडना एक सामान्य घटना हो गई है। उदाहरणार्थ, १८५६ मे रूस ने एक सन्धि मे यह स्वीकार किया कि कृष्णसागर मे रूस का जगी जहाजो का बेडा नही रखा जायगा, १८७० मे फ्रेको-जर्मन युद्ध छिडने पर उसने इसका उल्लघन करते हुए कृष्णसागर मे अपना बेडा भेज दिया। १८७८ की बर्लिन काग्रेस ने बोस्निया हर्जेगोविना नामक दो प्रान्तो पर तुर्क आधिपत्य स्वीकार करते हुए, इन्हे शासन की दृष्टि से आस्ट्रिया के अधीन रखने का निश्चय किया। १९०८ मे आस्ट्रिया ने इस समझौते की अवहेलना करते हुए इन दोनो प्रान्तो को अपने साम्राज्य का अग बना लिया। हिटलर ने वर्साय की सन्धि की अनेक व्यवस्थाओ का उल्लघन किया। मुसोलिनी ने निर्दोष एबीसीनिया पर चढाई करके उसे अपना दास बनाया। पिछले दोनो महायुद्धो मे अन्तर्राष्ट्रीय नियमो की खुल्लम-खुल्ला अवहेलना हुई। श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दो मे युद्ध छिडने पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल विधिवेत्ताओ के दिमाग मे ही रह जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पूरी अराजकता और मात्स्य न्याय है, किसी प्रकार का कोई नियम नही है। इसमे कानून की सत्ता मानना कानून शब्द का भारी उपहास और बडी विडम्बना है।

किन्तु यह युक्ति कई प्रकार से दोषपूर्ण है। इसमे पहला दोष तो यह है कि नियमो के उल्लघन मात्र से उनके अभाव की कल्पना नही की जा सकती। सभी सभ्य देशो मे चोरी, डकैती, जालसाजी आदि को रोकने के लिये अनेक कानून बने हुए है, फिर भी ये अवैध कार्य होते रहते हैं। कानूनो का बहुत अधिक भग होता है। किन्तु इसके आधार पर यह नही कहा जाता कि इन कानूनो की सत्ता नहीं है। यह सत्य है कि अनेक बार अन्तर्राष्ट्रीय विवादो मे कानूनो की घोर अवहेलना और उपेक्षा होती है, किन्तु इससे इनके अस्तित्व का अभाव किसी प्रकार सिद्ध नही किया जा सकता। प्रत्युत यह इनके अस्तित्व का प्रमाण है क्योकि प्राय ऐसे अवसरो पर राज्य यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी नियम का भग नही किया। श्री आपेनहाइम (Oppenheim) ने इस विषय मे यह सत्य ही लिखा है—"व्यवहार मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून माना जाता है। युद्ध के समय विशेष रूप से इसके अतिक्रमण (Violations) अधिक सख्या मे होते है। किन्तु इसे भग करने वाले सदैव यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि उनके कार्यो से ऐसा अतिक्रमण नही हुआ। उन्हे राष्ट्रो के कानून के अनुसार कार्य करने का अधिकार है तथा कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून उनके कार्यो का विरोध नही करता। तथ्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोडते हुए भी वे कभी इसकी सत्ता से इकार नहीं करते। उनका प्रबल मत यह होता है कि वे इस कानून से अपने आचरण का औचित्य सिद्ध करें, इस प्रकार वे इसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं।"[१]

---

२३. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खंड १, अष्टम सस्करण, पृ० १५

उपर्युक्त युक्ति में दूसरा दोष यह है कि इसमें पालन की अपेक्षा उल्लंघन की घटनाओं को अधिक महत्व दिया गया है। चार्ल्स ईगंचर ने यह ठीक ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्थाओं द्वारा हजारों विवाद निपटाये गये हैं और इनके निर्णयों की अवहेलना सम्भवत एक दर्जन से भी कम बार की गई है। किन्तु समाचार-पत्र इस प्रकार की अवहेलना, भंग और युद्ध के समाचारों को बड़े मोटे शीर्षक देकर छापते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में स्वाभाविक घटनायें नहीं, किन्तु अस्वाभाविक घटनायें ही समाचार होते हैं। कुत्ते द्वारा मनुष्य को काटना नहीं, किन्तु मनुष्य द्वारा कुत्ते को काटना समाचार होता है। अतएव सन्धि-भंग आदि की अस्वाभाविक घटनाओं को अधिक प्रकाशन प्राप्त होने से यह भ्रान्त धारणा उत्पन्न हो गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अधिक अवहेलना होती है। वस्तुत इसका पालन अधिक और उल्लंघन कम होता है। येल विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्था के संचालक श्री ब्रोडी ने लिखा है—"जो सन्धियों का उल्लंघन करते हैं वे इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि अधिकांश सन्धियों का निरन्तर, पूरी ईमानदारी और नियमित रूप से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पालन होता है। सन्धि करने वाले दोनों पक्ष बड़ी असुविधा उठाकर भी इनका पालन करते हैं"।[२४] जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न होता है तो दोनों पक्ष अपना दावा न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिये कानूनी युक्तियों का सहारा लेते हैं। यही इस बात का सूचक है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।[२५]

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून कपोल कल्पना है ? (Is International Law a myth ?)—अनेक लेखकों तथा विचारकों की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इतना अधिक भंग किया जाता रहा है कि इसे कानून मानना सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि के लिये राष्ट्रसंघ (League of Nations) तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) की स्थापना की गयी थी। ऐसा प्रतीत होता था कि अब राष्ट्रसंघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग के क्षेत्र में एक नवयुग का श्रीगणेश हो रहा है।

किन्तु राष्ट्रसंघ की विफलता एवं हिटलर द्वारा वर्साय की संधि के बारम्बार उल्लंघन से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता में सन्देह होने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९-४५) में इसे इतना अधिक भंग किया गया कि इसकी सत्ता में सन्देह होने लगा। इसमें युद्धसम्बन्धी किसी भी नियम का पालन नहीं किया गया। हवाई युद्ध के सभी नियमों को तिलांजलि देते हुए १९३९ में वारसा तथा पोलैण्ड के अन्य नगरों पर अन्धाधुन्ध बम बरसाये गये, सैनिक-असैनिक स्थानों में कोई भेद नहीं रखा गया। १९४० में हालैण्ड में राटरडम के तटस्थ (Neutral) नगर पर बमबारी की गयी। जर्मन वायुयानों ने

२४. ब्रोडी—दी एबसोल्यूट वैपन, एटोमिक पावर एण्ड वर्ल्ड आर्डर, पृ० ८

२५. जैस्सप—ए माडर्न ला ऑफ नेशन्स, पृ० ७

लन्दन पर तथा ब्रिटेन के अन्य नगरो पर प्रबल बम वर्षा की। इसके प्रत्युत्तर में ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरीका ने जर्मन नगरो को हवाई हमलो द्वारा विध्वस्त करने मे कोई कसर बाकी नही रखी। दोनो पक्षों की ओर से युद्ध मे कोई भाग न लेने वाली असैनिक जनता (Non combatatants) का क्रूरतापूर्ण सहार हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सर्वथा प्रतिकूल सावजनिक पूजा के स्थानो—चर्चों पर, कला सग्रहालयो, चिकित्सालयों तथा ऐतिहासिक स्मारको पर बमबारी की गयी। अगस्त १९४५ मे जापान के दो नगरो—हिरोशिमा तथा नागासाकी पर स० रा० अमरीका ने अणुबम गिराकर असैनिक जनता का प्रलयकर विध्वस किया। इस युद्ध मे तटस्थता (Neutrality) विषयक सभी कानून तोडे गये। स० रा० अमरीका ने जर्मनी द्वारा आक्रमण किये गये तटस्थ देशो की सम्पत्ति जब्त कर ली। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई सत्ता नहीं है, जगल के कानून तथा मात्स्य न्याय का साम्राज्य है।

किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद स० रा० सघ (U N O) का जन्म हुआ। अणुबम की विभीषिका से सत्रस्त तथा प्रलय के कगार पर खडे विश्व की इस सघ ने तथा इसके विभिन्न अगो ने अब तक शान्ति एव सुरक्षा प्रदान की है। इसने बर्लिन के प्रश्न, तेहरान की समस्या, यूनान, जेरुसलेम काश्मीर, कोरिया और कागो की जटिल समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल किया है यूनान, काश्मीर पेलेस्टाइन और इण्डोनीशिया मे युद्धो की ज्वाला को प्रज्वलित होने से रोका है। कोरिया, मिश्र और कागो मे शान्ति स्थापित की है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रतिष्ठा बढायी है।

अत यह कहना सत्य नही है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून कपोल कल्पना है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय नियमो की घोर अवहेलना तथा प्रचण्ड उल्लघन हुए किन्तु स० रा० सघ ने इसे पुन असाधारण गौरव और प्रतिष्ठा प्रदान की है अब कोई भी राष्ट्र इस कानून की अवहलना करने पर स० रा० सघ की जनरल असेम्बली की घोर निन्दा का पात्र होता है विश्व के लोकमत का कोपभाजन होता है। ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रास जैसे प्रबल राष्ट्रो ने जब मिश्र पर आक्रमण किया तो स० रा० सघ के हस्तक्षेप के कारण उन्हे वहा से अपनी फौज बुलाने को बाधित होना पडा। अत इस समय प्रबल राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने मे समर्थ नही है और इसे कपोल कल्पना (Myth) माननेवाले स्वयमेव कल्पना जगत् मे रहते हैं।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वस्तुत समझौतो से बने कानून का अग है ? (Is the Law of Nations essentially a species of conventional law ?)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सामान्य परिभाषा यह है कि ये ऐसे नियम हैं, जिन्हे प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यो ने एक दूसरे के साथ व्यवहार करने के लिये स्वीकार कर लिया है। लार्ड एशर (Esher) के मतानुसार किसी नियम को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अग बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उस विषय मे सब राष्ट्रों की सहमति हो। राष्ट्रो की सहमति वाले समझौतो (Conventions) या अभिसमयों से इसका निर्माण होने के कारण इसे Conventional law का एक भेद समझा जाता है।

सामण्ड (Salmond) के विधिशास्त्र (Jurisprudence) के ११वें संस्करण मे कानून के चार भेद माने गये है- स्वाभाविक कानून (Natural law), रिवाजी कानून (Customary law), आज्ञात्मक कानून (Imperative law) तथा अभिसमयात्मक कानून (Conventional law) । अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कुछ सम्बन्ध इन चारो प्रकारो से है। यह प्राकृतिक कानून है क्योंकि राज्यो के पारस्परिक व्यवहार मे प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) के सिद्धान्त लागू होते है। यह रिवाजी कानून है, क्योंकि इसमे राज्यो के आपसी व्यवहार के लिये रिवाज के रूप मे चले आनेवाले अनेक नियमो को स्वीकार किया जाता है। यह आज्ञात्मक कानून है क्योंकि इसमे ऐसे नियम है, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मति (International opinion), युद्ध की धमकी अथवा आशंका से राज्यो पर बलपूर्वक लागू किये जाते है। यह समझौतो का कानून है, क्योंकि इसके अनेक नियम विभिन्न राष्ट्रो द्वारा पारस्परिक समझौते करके बनाये जाते है। इन चारो प्रकारो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध चौथे प्रकार से है, किन्तु इसमे भी एक बडी आपत्ति यह की जाती है कि जब कोई नया राज्य बनता है (जैसे १९४७ मे पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के नवीन राज्य बने) तथा इसे अन्य देशो द्वारा मान्यता दी जाती है तो इस पर पुराने राज्यो के समझौतो द्वारा निश्चित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सब नियम लागू कर दिये जाते है, भले ही उस राज्य ने इन समझौतो को अपनी स्वीकृति न दी हो।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दोष तथा इन्हे दूर करने के उपाय (Shortcomings of International Law and steps to improve it)—किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व होते हुए भी वह अपनी आरम्भिक दशा मे है। उसके विकास, व्याख्या, निर्णय और पालन कराने के लिये उपयुक्त संस्थाओ का विकास नहीं हुआ। यहाँ इसके दोषो का तथा इन्हे दूर करने के उपायो का वर्णन होगा। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख दोष निम्नलिखित है—

(१) **कानून बनाने वाले का अभाव (No Lawgiver)**—राष्ट्रीय कानून (Municipal law) की भांति इसका निर्माण करने वाली विधानसभा या संसद् जैसी संस्था तथा इसके अतिक्रमण को दण्डित करने वाले न्यायालय नही है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निर्बलता का एक प्रधान कारण है कि इसका निर्माण करने वाली तथा इसे लागू करने वाली शक्तिशाली संस्थाओ का अभी तक विकास नही हो पाया।

(२) **उग्र राष्ट्रीयता**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निर्बलता का एक अन्य कारण विभिन्न राज्यो का उग्र राष्ट्रवाद (Excessive nationalism) है। कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अपनी प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial sovereignty) मे रत्तीमात्र न्यूनता नही आने देना चाहता।

(३) **अस्पष्टता (Obscurity)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप और अधिकांश नियम अभी तक सुस्पष्ट रूप से सुनिश्चित नहीं हो सके। ये अनेक सन्धियो, रीति-रिवाजो विदेश मन्त्रालयो के पत्रव्यवहार तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो द्वारा किये गये समझौतो मे बिखरे हुए है। इसीलिये लार्ड कोलरिज ने फ्रेंकोनिया के मामले मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून

को केवल ऐसे रिवाजो का सकलन कहा था, जिन पर अधिकाश राज्य सहमति रखते है।

(४) किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को यह कानून लागू करने के लिए राज्यो के आन्तरिक मामलो (Domestic affairs) मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपर्युक्त दोषो को अनेक विधिशास्त्रियो ने मुक्तकठ मे स्वीकार किया है। स्टार्क के मत मे 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून कमजोर कानून (Weak law) है। यह मुख्य-रूप से रिवाजी या प्रथामूलक (Customary) है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनानेवाली वर्तमान सस्था (Machinery) की क्षमता की तुलना राज्यों के कानून बनाने वाली सस्था से नही हो सकती। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकाश नियमो का निर्माण बडी कठिनाई से होता है और ये बडे अनिश्चित होते है।" श्री पेटन (Paton) ने इस विषय मे यह लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून सस्थाओं की दृष्टि से बडा कमजोर है, इसके नियमों का निर्माण करने वाली कोई व्यवस्थापिका परिषद् नही है। यद्यपि एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है, किन्तु यह दोनो दलो की सहमति से ही कार्य कर सकता है, इसके पास अपने निर्णयों को लागू करने के लिए कोई वास्तविक शक्ति नहीं है।

सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री ब्रियर्ली ने लिखा है कि "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति की दो बडी कमियाँ ये हैं कि इस कानून को बनाने और लागू करने वाली सस्थायें बडी आरम्भिक (Rudimentary) दशा मे है और इसका क्षेत्र बहुत सकुचित है। इस कानून का निर्माण करनेवाली कोई ऐसी सस्था नही है जो इस कानून को अन्तर्राष्ट्रीय समाज की नई आवश्यकताओं के अनुरूप बना सके। इसमें कोई ऐसी शासक (Executive) शक्ति नही है जो इस कानून को लागू कर सके।"

इन दोषो को दूर करने के तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को शक्तिशाली बनाने के मुख्य उपाय ये हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सुस्पष्ट एव सुनिश्चित बनाने के लिए इसका सहिताकरण (Codification) किया जाय। पाँचवे अध्याय मे इस दिशा मे अब तक किये गये प्रमुख प्रयत्नों का उल्लेख होगा।

(२) उग्र राष्ट्रीयता की भावना के स्थान पर विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास आवश्यक है, जब तक प्रत्येक देश अपनी राष्ट्रीयता के उन्माद मे अपनी प्रभुसत्ता के अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive jurisdiction) पर बल देता रहेगा, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राष्ट्रीय हितो के साथ सघर्ष मे आने पर उपेक्षित ही रहेगा।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित करने की विधियों और साधनों को प्रभावशाली बनाया जाना आवश्यक है। चार्ल्स फिलिप जेसप ने यह सुझाव दिया है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय कानून मे चोरी, डकैती, हत्या आदि के अपराध सार्वजनिक चिन्ता का विषय समझे जाते है, राज्य इस प्रकार के अपराधियों को दण्ड देने की जिम्मेवारी स्वय लेता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे इस सिद्धान्त को लागू किया जाना चाहिए। सब राज्यो को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के उल्लघन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। इसमें अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। इन्हें दूर करने के लिए स० रा० सघ को कानून पालन कराने का सामान्य अधिकार दिया जाना चाहिए। इस

समय वह केवल शान्ति-भग होने की दशा मे कोई कार्यवाही कर सकता है। स० रा० सघ को यह अधिकार तभी मिल सकता है, जब सब राज्य अपने अधिकारो का स्वेच्छापूर्वक त्याग करके एक सहयोगी अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करते हुए विश्वराज्य (World State) की कल्पना को मूर्त रूप प्रदान करें। वर्तमान परिस्थितियों मे भले ही विश्वराज्य की स्थापना की 'दिल्ली दूर है' किन्तु मानवीय मस्तिष्क ने इसकी अनिवार्यता को भली भाँति अनुभव कर लिया है। अब इस दिशा मे उसकी प्रगति अवश्यम्भावी है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य बनाना (Compulsory jurisdiction of International Courts) अत्यन्त आवश्यक है। अब तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो के सामने राज्य अपने जो मामले स्वेच्छापूर्वक लाते रहे है, इनमे न्यायालयों को बडी सफलता मिली है, उन्होंने अपने निर्णय बडी निष्पक्षता और योग्य रीति से किये है और सैकडो निर्णयो म से दर्जन से भी कम ऐसे निर्णय होंगे, जिनका राज्यो ने पालन नही किया। अन्य सभी निर्णय राज्यो द्वारा माने जाते रहे हैं। किन्तु यदि राज्यों द्वारा अपने विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को आवश्यक रूप मे देने का नियम बन जाय तो सब जटिल विवादो का निर्णय न्यायालयो द्वारा शान्तिपूर्ण रीति से सम्भव है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सफलता के लिए उसके क्षेत्र का विस्तार अवश्य होना चाहिए। यह दो प्रकार से हो सकता है—(क) इसे व्यक्तियों पर लागू किया जाय, (ख) इसे घरेलू मामलो म भी लागू किया जाय। अब तक यह कानून केवल राज्यो पर लगाया जाता है, व्यक्ति इसका विषय (Subject) नही माने जाते। आगे इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार होगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि वर्तमान व्यवस्था मे किसी अन्य राज्य के कानूनो से यदि किसी व्यक्ति को हानि पहुँचती है तो वह उस राज्य पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे दावा करने का अधिकार नही रखता, किन्तु उसके राज्य को ही ऐसा अधिकार है। १९५१ मे ईरान द्वारा एग्लो-ईरानियन तेल कम्पनी के राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप कम्पनी के आर्थिक हितो को गहरी क्षति पहुँची, किन्तु इस मामले को उसकी ओर से ग्रेट ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे उठाया। यह स्थिति बडी अवाछनीय है, इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून म व्यक्ति अपने अधिकारो की रक्षा नही कर सकता। न्यूरम्बर्ग और टोकियो मे युद्धापराधो के लिये धुरी-राष्ट्रो के प्रमुख अधिकारियों पर चलाये गये अभियोगो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लघन से वैयक्तिक जिम्मेदारी के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु अभी इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐसा सार्वभौम तथा सर्वसम्मत नियम बनाने की आवश्यकता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण करनेवाले राज्यों तथा व्यक्तियों को समान रूप मे दण्डित किया जा सके।[२६]

(ग) ब्रियर्ली ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वर्तमान मर्यादाओ (Limitations)

---

२६. चार्ल्स श्लीचर—इटरनेशनल रिलेशन्स, पृ० २०७

को दूर करते हुए इसका क्षेत्र विस्तृत करने पर बल दिया है। इस समय 'घरेलू क्षेत्राधिकार' (Domestic jurisdiction) के अनेक ऐसे मामले हैं, जो दूसरे देशों पर गहरा प्रभाव डालते हैं, किन्तु घरेलू विषय समझे जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि मे नही आते। उदाहरणार्थ, राज्यों द्वारा विदेशों से आकर अपने देश मे बसने वाले व्यक्तियो के सम्बन्ध का कानून (Immigration law), राष्ट्रीयता और देशीयकरण (Naturalization) के नियम, आर्थिक क्षेत्र में विदेशी माल पर चुगी लगाने, कच्चे माल की प्राप्ति, मडियो आदि के विषय विशुद्ध रूप से घरेलू समझे जाते हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव, सघर्ष और तनातनी उत्पन्न करने के कारण इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय समझा जाना चाहिए। ब्रियर्ली के शब्दो मे—"अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे कानून तब तक वास्तविक रूप से प्रभावशाली भाग नही ले सकता, जब तक कि यह अपने क्षेत्र मे ऐसे विषयो का समावेश नही कर लेता, जो इस समय अनेक राज्यो के 'घरेलू मामलो' के अन्तर्गत समझे जाते हैं। जब तक यह स्थिति है कि एक राज्य के युक्तियुक्त हितो को दूसरे राज्य के अयुक्तियुक्त कार्य से हानि पहुँचती है और उसके पास ऐसी शिकायत करने का कोई कानूनी आधार नही है तो सम्भव है कि हानि उठाने वाला राज्य शक्तिशाली होने पर, कानून द्वारा हानि के लिए उपयुक्त प्रतिकार न मिलने पर, अन्य उपायो से इसका प्रतिरोध करे। वर्तमान स्थिति सर्वोत्तम रूप मे शक्तिशाली राज्यो को कानून से बाहर की नीतियाँ अपनाने को विवश करती है, ये नीतियाँ अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिये स्वीकार की जाती हैं और इनमे दूसरे राज्यो के हितो का केवल उस हद तक ही विचार रखा जाता है, जहाँ तक दूरदर्शिता की दृष्टि से ऐसा आवश्यक समझा जाय। वर्तमान समय मे ऐसी नीतियो की निन्दा पूर्णरूप मे नही की जा सकती, क्योंकि वे ऐसे युक्तियुक्त (Reasonable) हितो की रक्षा करती हैं, जिन्हे कानून की वास्तविक रूप से पूर्ण पद्धति स्वीकार करेगी और जिन्हे वह सरक्षण प्रदान करेगी। दुर्भाग्यवश इस समय इस बात की कोई गारण्टी नही है कि ये नीतिया सम्बद्ध राज्यो के युक्तियुक्त हितो के सरक्षण तक ही सीमित रखी जाय।"[२७] उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका के यूनियन की पार्थक्य (Apartheid) की नीति को ही लीजिये, काले गोरो के जातीय भेदभाव के आधार पर इन्हे पृथक् रखने तथा अश्वेत जातियो के साथ भेदभावपूर्ण तथा अन्यायमूलक नीति का अनुसरण करने से यहाँ भारत तथा दूसरे देशों से आकर बसे व्यक्तियों पर गहरा प्रभाव पडा। अफ्रीका के अन्य राज्य इस नीति के घोर विरोधी है, मार्च १९६० मे शार्पविल्ले आदि स्थानो मे पास कानूनों (Pass laws) के विरुद्ध जबर्दस्त प्रदर्शन और हत्याकाण्ड हुए, सारे अफ्रीका मे इससे रोष की प्रबल लहर फैली, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को सकट म डालने वाले इस विषय को जब सुरक्षा परिषद् मे उठाया गया तो दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने इस मामले के 'घरेलू विषय' होने के कारण इसे सुरक्षा परिषद् के क्षेत्राधिकार से बाहर का बताते हुए इस पर होने वाले विचार को रोकना चाहा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सफल

२७. ब्रियर्ली—दी ला ऑफ नेशन्स, पृ० ७९-७२

बनाने के लिए उसका विस्तार दूसरे राज्यों को प्रभावित करने वाले घरेलू मामलों में भी होना चाहिए।

(६) ब्रियर्ली ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निर्बलता दूर करने का एक यह भी उपाय बताया है कि युद्ध के सम्बन्ध में राज्यों के वर्तमान दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर आना चाहिए। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शक्ति का प्रयोग एक साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है, इससे एक राज्य को अपनी इच्छानुसार दूसरे राज्य से युद्ध छेड़ने का अधिकार है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी है। पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि मध्यकाल में लेखकों ने अन्यायपूर्ण युद्धों (Bellum injustum) तथा न्यायपूर्ण युद्धों (Bellum justum) में सूक्ष्म अन्तर करते हुए युद्धों पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों ने इसे सर्वथा अव्यावहारिक बताया है। हाल (Hall) के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पास युद्ध को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है, भले ही इस युद्ध का उद्गम अन्यायपूर्ण हो।"[२८] यह सर्वथा यथार्थवादी दृष्टिकोण है। किन्तु जैसे राष्ट्रीय कानून में शक्ति का प्रयोग वैध और अवैध दो प्रकार का होता है, अवैध शक्ति का प्रयोग वर्जित है, इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अवैध युद्ध के प्रयोग पर पाबन्दी लगाना आवश्यक है। ब्रियर्ली ने यह सत्य ही लिखा है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्थिर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का स्तम्भ बनाना है तो राज्यों को इसके पीछे ऐसी शक्ति की स्थापना करनी होगी जो भौतिक शक्ति के वैध तथा अवैध प्रयोग में सूक्ष्म अन्तर कर सके और उसे बनाये रख सके।[२९]

(७) श्वार्त्सनबर्जर (Schwatzenberger) ने चार प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सुधारने का सुझाव दिया है। पहला प्रकार इस कानून का सुधार है, यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुरूप होना चाहिए। इसमें कोरे सुधार से काम नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ, सं० रा० संघ ने अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय बिल तैयार कर दिया है। किन्तु जब तक इसे लागू करने की व्यवस्था न की जाय तो इन नियमों का बनाना बिल्कुल निरर्थक है। दूसरा प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण (Codification) है। तीसरा प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सार्वभौम अथवा प्रादेशिक आधार पर पुनर्निर्माण और संशोधन है। १८९९ और १९०७ के हेग के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा किया गया अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का संशोधन सब देशों के लिए होने के कारण सार्वभौम कहलाता है। अमरीकी राज्यों द्वारा अमरीकी गोलार्द्ध के लिए तय किए गये अन्तर्राष्ट्रीय नियम प्रादेशिक कहलाते हैं। चौथा प्रकार इस अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बनाने और क्रियान्वित करने के लिये शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता का निर्माण है।

किन्तु जब तक इसका निर्माण नहीं हो जाता तब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के

---

२८. हाल—इण्टरनेशनल ला, पृ० ३३

२९. ब्रियर्ली—दी ला आफ नेशन्स, पृ० ८७

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी इसे सर्वथा निष्फल और निरर्थक समझना ठीक नहीं है। किसी संस्था की सफलता या विफलता का मूल्यांकन उसके उद्देश्यों की दृष्टि से किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य उद्देश्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को चलाना है। इसमें यह कानून पूरी तरह से सफल हुआ है, क्योंकि राज्यों का सारा व्यवहार इन्हीं नियमों के आधार पर चल रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार : (क) **मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त** (The basis of International Law—(A) Theory of Fundamental Rights)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना राज्य अपने लिए क्यों आवश्यक समझते हैं? इस विषय में विधिशास्त्रियों में दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं। पहला मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Fundamental Rights) है। इसके अनुसार राज्यों के कुछ मौलिक अधिकार हैं। राज्यों के मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त 'प्राकृतिक दशा' (State of nature) के सिद्धान्त से निकला है। इसके अनुसार यह समझा जाता है कि मनुष्य राजनीतिक संगठन बनाने से पहले 'प्राकृतिक दशा' में रहा करते थे। राज्यों ने अभी तक इन से ऊपर एक अधिराज्य (Super State) का संगठन नहीं बनाया, अतः वे इस समय तक प्राकृतिक दशा में हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का निर्माण उसके इस स्वरूप के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक राज्य के कुछ नैसर्गिक या स्वाभाविक अधिकार हैं। ये **पाँच अधिकार** आत्मसंरक्षण (Self preservation), स्वतन्त्रता (Independence), समानता (Equality), एक-दूसरे के प्रति सम्मान (Respect) और पारस्परिक सम्पर्क (Intercourse) हैं। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त ने इतिहास के निर्माण में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। लाक (Locke) ने इसके आधार पर १६८८ की इंगलिश क्रान्ति का समर्थन किया था। लाक से यह सिद्धान्त अमरीकी क्रान्तिकारियों ने ग्रहण किया और यह उनकी स्वतन्त्रता की घोषणा का तथा फ्रेंच राज्यक्रान्ति का दार्शनिक आधार बना।

किन्तु आजकल इसे कोई सत्य नहीं मानता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में इसे सत्य न मानने के तीन कारण **ब्रियर्ली** के शब्दों में इस प्रकार हैं[३०]—(१) इसमें यह मान लिया गया है कि मनुष्य तथा राज्य अपने प्राकृतिक अधिकार लेकर उत्पन्न होते हैं, उन्हें ये अधिकार राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य होने के नाते नहीं प्राप्त होते। ये उनके व्यक्तित्व में पहले से विद्यमान होते हैं **और** इनसे कानूनी पद्धति का निर्माण होता है। किन्तु सचाई यह है कि कोई भी कानूनी अधिकार उस समय तक निरर्थक शब्द मात्र है जब तक कि इसे वैधता प्रदान करने वाली कानूनी पद्धति नहीं है। कानूनी पद्धति के निर्माण से पहले वैध अधिकारों की कोई सत्ता नहीं होती, किन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त में किसी कानूनी पद्धति से पहले ही राज्यों के कुछ नैसर्गिक अधिकार मान लिए गये हैं। ऐसा कभी सम्भव नहीं है।

कानूनी अधिकार कानूनी पद्धति से प्रादुर्भूत-से होते हैं, न कि कानूनी पद्धति

---

३०. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, षष्ठ संस्करण, पृ० ५०-५१

कानूनी अधिकारों से जन्म ग्रहण करती है।

(२) उपर्युक्त सिद्धान्त का **दूसरा दोष** यह है कि यह व्यक्तियों और राज्यों के सामाजिक सम्बन्ध को गौण समझता है और उनके व्यक्तित्व (Individuality) को अधिक महत्व देता है। इसलिये इसमें समाज के सामूहिक रूप के स्थान पर वैयक्तिक रूप की प्रधानता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यह स्थिति वाञ्छनीय नहीं है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समाज में राज्यों के वैयक्तिक अधिकार बढ़ाने की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों को सुदृढ बनाने की है। इनके अधिकारों पर इतना ध्यान दिया जाना आवश्यक नहीं है, जितना इनका एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों की भावना समझने का है।

(३) इस सिद्धान्त का **तीसरा बड़ा दोष** यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास अवरुद्ध हो जायगा। यह स्वतन्त्रता और समानता को राज्यों का नैसर्गिक अधिकार मानता है किन्तु ऐसा मानते हुए यह भुला दिया जाता है कि ये अधिकार ऐतिहासिक विकास का परिणाम हैं और राज्यों को आधुनिक युग में ही प्राप्त हुए हैं। ऐसे अल्पकालोद्भव अधिकारों को भविष्य में सदा के लिए सत्य सनातन मान लेना एक अस्थायी वस्तु को स्थायी स्वीकार कर लेना तथा भावी विकास के मार्ग को बन्द कर देना है। वर्तमान परिस्थितियों में यह असम्भव प्रतीत नहीं होता और यह वाञ्छनीय भी है कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में घनिष्ठता को बढ़ाया जाय। उपर्युक्त सिद्धान्त इस वर्तमान आवश्यकता पर कुठाराघात करता हुआ सब राज्यों को एक दूसरे से पृथक् रखना चाहता है। यह स्थिति देर तक नहीं बनी रह सकती, इसे ऐसा बनाये रखने वाला सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकता।

(ख) **सहमति का सिद्धान्त** (Consent Theory)—राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बाधित रूप से पालन करने के मूल कारण के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त सहमति का है। इसके मुख्य समर्थक अस्तिवादी (Positivists, देखिये ऊपर पृष्ठ १) हैं। इनके मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे नियमों का समूह है, जिसके बाधित रूप से पालन की सहमति राज्यों ने प्रदान की है। यह सहमति दो प्रकार से दी जाती है, सन्धियों द्वारा राज्य स्पष्ट रूप से कुछ नियमों का पालन करना स्वीकार करते हैं। यह स्पष्ट सहमति (Express consent) है। इसके अतिरिक्त दूतों के विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में परम्परागत नियमों (customary rules) को राज्य स्वीकार करते हैं, यह अस्पष्ट या ध्वनित सहमति (Tacit or implied consent) है। ओपेनहाइम के शब्दों में राज्यों की सामान्य सहमति से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हुआ है। अस्तिवादियों ने इसकी दार्शनिक मीमांसा में हेगल का अनुसरण करते हुए कहा है कि आध्यात्मिक सत्ता (Metaphysical reality) रखने वाले राज्य की एक अपनी इच्छा (Will) होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम हैं जिन्हें विभिन्न राज्यों ने इच्छाओं द्वारा (State Wills) अपने पर स्वयमेव ऐच्छिक प्रतिबन्ध लगाकर स्वीकार किया है। यही उनका आत्मनियमन (Autolimitation) है। इस प्रकार की सहमति के बिना अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों पर बाधित रूप से लागू नहीं हो

सकता। उदाहरणार्थ, दूतो की अवध्यता का नियम लीजिये। प्रत्येक राज्य यद्यपि अपने प्रदेश मे आये अन्य देशो के दूतों को मारने का अधिकार रखता है, फिर भी उसने अपना आत्मनियमन करके इस विषय मे स्वय अपनी इच्छा से यह प्रतिबन्ध लगाया है कि वह अपने देश मे आये दूतो का वध नहीं करेगा। वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के जज इटालियन विधिशास्त्री आन्जिलोत्ती (Anzilotti) ने इसका प्रबल समर्थन करते हुए यह कहा है कि सब अन्तर्राष्ट्रीय नियमो का पालन बाधित रूप मे होने का मौलिक कारण pacta sunt servanda का सिद्धान्त है, इसका अर्थ है कि राज्यों के मध्य तय हुए समझौतो का सम्मान किया जाना चाहिये। सब राज्य इस सिद्धान्त को मानते हैं, अत वे राज्यों के मध्य किये गये सभी समझौतो का बाधित रूप से पालन करते है। इस सिद्धान्त पर सहमति देने के कारण वे राज्यों के सभी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के पालन के लिये अपनी सहमति प्रदान करते है, इसीलिये इन नियमो का पालन होता है।

यह सिद्धान्त कई दृष्टियो से दोषपूर्ण है। फेनविक (Fenwick), कैलसन (Kelsen), स्टार्क (Starke) तथा ब्रियर्ली (Brierly) ने इसकी कडी आलोचना निम्नलिखित कारणो के आधार पर की है—

(१) स्टार्क के कथनानुसार यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वास्तविक तथ्यो से मेल नही खाता।[११] रिवाजी नियमो (Customary rules) के सम्बन्ध मे अनेक उदाहरणों मे यह प्रदर्शित करना असम्भव है कि राज्यो ने इनके बाधित रूप से पालन की सहमति ली है। नय राज्यों के विषय मे तो यह सिद्धान्त सर्वथा खण्डित हो जाता है। उदाहरणार्थ, १९६० मे अफ्रीका मे कांगो, मालीसघ आदि नये राज्यो का जन्म हुआ, ये अपने जन्मकाल से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून से बधे हुए समझे जाते है। किन्तु ये स्पष्ट रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बाध्य रूप मे पालन करने की कोई घोषणा या अन्य कार्य नही करते। इनकी इसके लिये कोई ध्वनित (Implied) या अव्यक्त (Tacit) सहमति भी नही होती। फिर भी वस्तुस्थिति यह है कि ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका आदि पुराने राष्ट्र नये राज्यो से यह आशा रखते है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सभी नियमों का पालन करेंगे। प्रो० एच० ए० स्मिथ ने इस विषय मे ब्रिटिश दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए कहा है—"इस बात पर स्पष्ट रूप से बल दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने समग्र रूप में सभी सभ्य राज्यो पर बाध्य रूप से लागू होता है। भले ही उन्होंने नैगमिक रूप से इसके लिये सहमति न प्रदान की हो। कोई भी राज्य इसके सामान्य कानून की अथवा किसी सुप्रतिष्ठित नियम की बाध्यता से अपने को स्वयमेव मुक्त नहीं कर सकता।"[१२]

(२) जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध किसी अन्तर्राष्ट्रीय नियम को लागू कराना चाहता है तो उसके लिये यह प्रदर्शित करना आवश्यक नही होता कि

११. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २३-२४

१२. स्मिथ—ग्रेट ब्रिटेन एण्ड दी ला ऑफ नेशन्स, खण्ड १, पृ० ११-१३

जैसी एक राज्य मे रहने वाले व्यक्तियो मे पैदा होती है। राज्यों के सामान्य स्वार्थ राज्यो के समुदाय को जन्म देते है और कानून के नियम (Rule of Law) का पालन आवश्यक बनाते है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसी आवश्यकता पर आधारित है।''[१४] ब्रियर्ली ने इस तथ्य का दूसरे शब्दो मे प्रतिपादन करते हुए लिखा है—''सब कानूनो के आवश्यक रूप मे पालन की शक्ति की चरम व्याख्या यह है कि मनुष्य चाहे एकाकी व्यक्ति हो या अन्य व्यक्तियो के साथ राज्य मे सम्मिलित हो, बुद्धिमान् प्राणी होने के नाते वह यह विश्वास करने के लिए बाधित है कि उसने जिस विश्व मे रहना है, उसका नियामक सिद्धात व्यवस्था है, अराजकता नही।''[१५]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण मे नई प्रवृत्ति (New trend in the creation of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण के सम्बन्ध मे पुराना मत यह था कि यह मुख्य रूप से राज्यो द्वारा बनाया जाता है। शनै-शनै राज्य जब रिवाजो के रूप मे अथवा पारस्परिक समझौतो (Conventions) और सन्धियो द्वारा कुछ नियम स्वीकार कर लेते है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण होने लगता है। विधिशास्त्री (Jurists) भी इन नियमो के विकास म सहयोग देते है।

बीसवी शताब्दी मे पुरानी परिस्थितियों मे बडी द्रुतगति से परिवर्तन आ रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण राज्यो की एक दूसरे पर निर्भरता पहले की अपेक्षा बहुत बढ गई है, सामाजिक क्रान्तियों से जनता मे नवीन भावनाओ और आकाक्षाओ का आविर्भाव हो रहा है, इनको क्रियान्वित करने के लिए नवीन अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ और सगठनो का जन्म हो रहा है। इनमे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नये नियमों का विकास होने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश श्री अलवारेज (M Alvarez) ने Competence of the General Assembly for the Admission of a State to the United Nations के मामले के निर्णय मे इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—''पहले (अन्तर्राष्ट्रीय) कानून के नियमो का विकास बडी मन्दगति से सुप्रतिष्ठित अभिसमयो (well established conventions) तथा रिवाजो (customs) के अनुसार होता था अथवा विधिशास्त्रियो द्वारा ये नियम विकसित किये जाते थे, यह प्रक्रिया भी बडी मन्थर थी। आजकल अभी हाल मे होने वाली सामाजिक क्रान्ति के कारण, जनता के जीवन मे आने वाली विलक्षण गतिशीलता के परिणामस्वरूप, नये अन्तर्राष्ट्रीय सगठन एव इससे बनाई गई विभिन्न सस्थाओ के कारण तथा जनता की आकाक्षाओ तथा आधुनिक जीवन की आवश्यकताओ के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो का निर्माण बडी तेजी से हो रहा है। कई बार इसका विकास एकदम हो जाता है। अब इसके विकास के साधन पुराने जमाने के साधनो से भिन्न है और इस नियम निर्माण की प्रक्रिया मे ऊपर बताये गये तत्त्व अपना प्रभाव डाल रहे है। अत आजकल यह सामान्य धारणा वैध या सत्य नही प्रतीत होती कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण केवल राज्यो द्वारा किया जाता है। भविष्य मे हम

१४. फैनविक—इटरनेशनल ला, पृ० ३१

१५. ब्रियर्ली—दा लॉ आफ नेशन्स, पृ० ५६

नये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण के लिये किसी अन्य स्रोत की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली की ओर, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की ओर तथा विधिशास्त्रियों की ओर अधिक देखा करेंगे।"[३६]

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त (Principle of peaceful co-existence)—पिछली दशाब्दी में रूसी विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में इसका एक महत्वपूर्ण आधार शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त माना है। इसका यह अभिप्राय है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से कट्टर मतभेद और विरोध रखने वाली समाजवाद एवं साम्यवाद तथा पूंजीवाद की विचारधाराओं वाले देशों को एक-दूसरे का विध्वंस तथा उन्मूलन का प्रयत्न न करते हुए शान्तिपूर्ण सहयोग और स्पर्धा की नीति अपनानी चाहिए। एक रूसी लेखक कोरोविन (Korovin) ने यह बताया है कि लेनिन यह समझता था कि समाजवाद आरम्भ में कुछ देशों में सफल होगा और काफी समय तक समाजवाद और पूंजीवाद की पद्धति साथ-साथ चलती रहेगी, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से यह अनिवार्य है कि ये दोनों शान्तिपूर्ण रीति से बनी रहें तथा इन विरोधी विचारधाराओं को अपनाने वाले देश एक-दूसरे को सहयोग देते रहें[३७]।

यदि विभिन्न राष्ट्र शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को न मानकर एक दूसरे को आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सहयोग न प्रदान करें तो किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार और सम्बन्ध रखना सम्भव न होगा और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों तथा कानूनों का पालन नहीं हो सकेगा। इनका पालन तभी हो सकता है, जब सब राष्ट्र अपने से विरोधी विचारधाराओं वाले राष्ट्रों का अस्तित्व स्वीकार करें, उनके प्रदेशों की अखण्डता बनाये रखने की बात मान लें, उनकी प्रभुसत्ता मानें, उनके उन्नति के कार्यों में कोई हस्तक्षेप न करें, सब राज्यों की समानता का सिद्धान्त मानते हुए एक-दूसरे के अधिकारों का पूरा ध्यान रखें तथा सम्मान करें। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रधान नियम और सिद्धान्त इसलिये स्वीकार एवं पालन किये जाते हैं कि 'ये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रखने के लिये आवश्यक हैं'। ये सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर ही हो सकते हैं। यह सहयोग तभी सम्भव है कि जब शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को कट्टर सैद्धान्तिक मतभेद रखने वाले राष्ट्र स्वीकार कर लें। अतः अधिकांश देशों द्वारा स्वीकार किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा नियमों की मूल आधार-शिला शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना तथा प्रवृत्ति है।

इसे सं० रा० संघ के चार्टर की प्रस्तावना में स्वीकार करते हुए यह कहा गया है कि सं० रा० संघ के सदस्य इस बात का वचन देते हैं कि "वे एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की नीति बरतेंगे तथा एक-दूसरे के साथ उत्तम पड़ोसी के रूप में रहेंगे" और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने में अपनी सम्मिलित शक्ति का प्रयोग करेंगे। चार्टर की पहली धारा में संघ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और

---

३६. I C J Reports, 1950, pp. 4.34

३७. इंटरनेशनल ला (फारेन लैंग्वेजेस पब्लिशिंग हाउस, मास्को), पृ० १५-१६

सुरक्षा बनाये रखना बताया गया है। यह तभी सम्भव है, जब विभिन्न विरोधी विचारधाराओं वाले देश पारस्परिक संघर्ष और तनाव कम करने के लिए 'जिओ तथा जीने दो' (Live and let live) की नीति को अपनाये, एक-दूसरे के समूलोन्मूलन का प्रयत्न न करते हुए शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को व्यवहार मे लाये। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की विभिन्न धाराओं में दिये गये शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के प्रधान सिद्धान्तों—सब राज्यों की प्रभुसत्ता और समानता [धारा २ (१)] को, अहस्तक्षेप की नीति को [धारा २ (७)], जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार [धारा १ (२)] तथा प्रादेशिक अखण्डता [धारा २ (४)] आदि को स्वीकार करे। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व का सिद्धान्त असाधारण महत्व रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप में सं० रा० संघ की स्थापना से तथा अन्य कारणो से होने वाले परिवर्तन—पिछले पचास वर्षों मे, विशेषत द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न होने वाली नवीन परिस्थितियों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप और धारणा में कई कारणो से बड़े क्रान्तिकारी एव मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं। पहला कारण सं० रा० संघ की स्थापना है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कई प्रकार से प्रभावित किया है। पहला प्रकार राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में विलक्षण वृद्धि और इसके स्वरूप का बदल जाना है। सं० रा० संघ की स्थापना के समय इसके सदस्यों की संख्या पचास थी, १९६८ के आरम्भ मे यह १२३ हो गई। नये सदस्यों मे इस भू-मण्डल के प्रत्येक भाग—एशिया, अफ्रीका, निकटपूर्व और सुदूरपूर्व के लगभग सभी देश सम्मिलित हैं। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे योरोपीय राज्यो की पुरानी प्रभुता को तीव्र आघात पहुँचा है। पहले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे पश्चिमी देशों—ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका, फ्रांस आदि का प्राधान्य था, वे जिन व्यवस्थाओं को ठीक समझते थे, वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून समझी जाती थीं। अब एशिया और अफ्रीका मे स्वाधीनता पाने वाले नये देशों ने इस क्षेत्र मे कुछ नवीन सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। उन्हें पराधीनता के पाश मे जकड़ने वाली तथा उनकी अर्थव्यवस्था को हानि पहुँचाने वाली संधियों को इन देशों ने स्वीकार करने से इन्कार किया है। वे सन्धियों की पवित्रताविषयक तथा अन्य ऐसी बातों को मानने को तैयार नहीं हैं जो उन्हें पराधीन अथवा आर्थिक दृष्टि से परावलम्बी बनाने वाली है। इससे जहा एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को चुनौती मिली है, वहा दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र विस्तीर्ण हुआ है। जो देश पहले पश्चिमी देशों के साम्राज्यवाद का शिकार बने हुए थे और इनके आदेशों का पालन करते थे, उन्होंने अब स्वतन्त्र होकर सं० रा० संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर कर उसके उच्च आदर्शों को स्वयमेव स्वीकार किया है। वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के पालन पर अधिक बल देने लगे है। पहले अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय और कानून योरोप के मुट्ठी भर देशों तक सीमित था, अब इसका क्षेत्र विस्तीर्ण हो जाने से उसने वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण किया है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के मार्ग को प्रशस्त किया है।

दूसरा प्रकार स० रा० सघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले देशो द्वारा शान्ति की स्थापना तथा विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के उद्देश्यो को स्वीकार कर लेना है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा मे बडा परिवर्तन आ गया है। पुराने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक बडा भाग युद्ध एव तटस्थता के नियमो का प्रतिपादन करता था। अब ये नियम बेकार हो गये है क्योकि सब राज्यो ने यह स्वीकार कर लिया है कि वे अपने झगडो का हल शान्तिपूर्ण उपायो से करेंगे। स० रा० सघ का चार्टर युद्धो को अवैध बनाता है, अत १६०७ तथा १६०६ मे युद्ध के समय तटस्थ रहने वाले राज्यो के नियम बेकार हो गये है, क्योंकि जब युद्ध अवैध है तो उसमे तटस्थ रहने वाले देशो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम बनाने का प्रश्न ही नही उठता है। यही हाल १६०७ मे हेग मे युद्ध के तथा युद्धबन्दियो के सम्बन्ध मे बनाये गये नियमो का है फैनविक ने लिखा है कि युद्ध स० रा० सघ के चार्टर द्वारा अपना कानूनी स्वरूप खो चुका है, अत इन नियमो का कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्व नही है।'[२८] इसका यह अभिप्राय नही है कि अब युद्ध बन्द हो गये है। अक्टूबर १९६२ मे चीन ने तथा सितम्बर १९६५ मे पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया, जून १९६६ मे इजराइल और अरब राज्यो का भीषण सघर्ष हुआ, पिछले कई वर्ष से वियतनाम म लडाई चल रही है। किन्तु ये सभी अघोषित युद्ध थे, इन्हे दोनो पक्ष अपनी आत्मरक्षा के लिये किये जाने वाले प्रयास कहते है, क्योकि कोई भी देश युद्ध की घोषणा करके आक्रान्ता होने का तथा युद्ध छेडने के कलक का टीका अपने माथे पर नही लगवाना चाहता है। युद्ध के पुराने नियम सैनिक और असैनिक (Civil) जनता म भेद करते थे, सैनिक अड्डो का विध्वस करना वैध मानते थे, असैनिक जनता और स्थानो पर आक्रमण अवैध माना जाता था। अणुबमो की विभीषिका ने इन नियमो को बेकार बना दिया है क्योकि अणुबम अपने विध्वस मे सैनिक और असैनिक स्थानो म कोई भेदभाव नही करता है, वह कई मीलो तक विस्तीर्ण सम्पूर्ण प्रदेश को विध्वस्त कर देता है। अणुबमो की विभीषिका भी राज्यो को युद्ध का मार्ग छोडने की प्रेरणा कर रही है। इन्होने युद्धो का स्वरूप इतना विकराल और भीषण बना दिया है कि सब देशो की अधिकाश जनता युद्धो से घृणा करने लगी है। अत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे युद्ध के नियमो की महत्ता कम होने लगी है।

तीसरा प्रकार स० रा० सघ की विभिन्न सस्थाओ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के साधनो मे निरन्तर वृद्धि होना है। प्रथम विश्वयुद्ध का एक बडा कारण विभिन्न पश्चिमी राष्ट्रो की आर्थिक होड या प्रतिद्वन्द्विता थी। प्रत्येक देश अपने उद्योगो के विकास के लिये ऐसे प्रदेश अपने राजनीतिक प्रभुत्व मे लाना चाहता था, जहा से उसे सुरक्षित एव निर्बाध रूप से कच्चा माल मिलता रहे तथा जिन देशो की मण्डियो मे उसके कारखानो से तैयार माल की खपत होती रहे। उस समय देशो को अपने आर्थिक हितो की सुरक्षा के लिये शक्तिशाली जल एव स्थल सेनाये रखनी पडती थी और युद्ध छेडने पडते थे।

---

२८. फैनविक—इटरनेशनल ला, पृ० ७७३

इस प्रकार उस समय आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद (Economic and Political Imperialism) एक-दूसरे से मिले हुए थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स० रा० अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने सब देशों को व्यापार की समान स्वाधीनता देने के सिद्धान्त के आधार पर आर्थिक होड़ को समाप्त करने का निष्फल प्रयास किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तक इसके दुष्परिणाम अधिक तीव्रता से दृष्टिगोचर होने लगे तथा स० रा० संघ की स्थापना के साथ आर्थिक क्षेत्र मे विभिन्न देशो का सहयोग पाने तथा बढ़ाने के लिये स० रा० संघ की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council of United Nations) तथा इसकी अध्यक्षता में विश्व बैंक आदि विभिन्न विशिष्ट संस्थाओं (Specialised agencies) की स्थापना की गई, आगे इनका विस्तृत वर्णन किया जायगा। ये विभिन्न राज्यों में आर्थिक सहयोग बढ़ाने की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण नियम बनाती हैं, इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के मानवीय हितो के संवर्धन की दृष्टि से अनेक गैर-सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन हैं। ये सब अपने अपने क्षेत्रों के लिये सब देशों मे समान रूप से लागू होने वाले नियम बनाते हैं। इन सब संस्थाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विभिन्न सामान्य हितो की सुरक्षा के लिये प्रचुर मात्रा मे नियम बनाये जा रहे है। ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण भाग बन रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र मे भले ही विभिन्न राष्ट्रों मे प्रबल प्रतिद्वन्द्विता हो रही हो, आर्थिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे ये सहयोग को बढा रहे हैं। यह सम्भव है कि इन क्षेत्रो में शनैः-शनैः सहयोग से इतने सुदृढ अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन स्थापित हो जाय कि वे राजनीतिक क्षेत्र मे भी एकता और सहयोग के वातावरण को तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्वीकार करने की अधिक अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न करें।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाला दूसरा कारण विभिन्न क्षेत्रो मे होने वाली विलक्षण प्रगति है। अब मनुष्य न केवल चाद तक अपितु १९८० तक शुक्र ग्रह तक भी पहुंचने की कल्पना करने लगा है, अन्तरिक्ष मे यात्रा करने वाले कृत्रिम उपग्रहो तथा यानो का विकास हो रहा है। रूस और अमेरिका इस विषय मे अग्रणी हैं। उन्होंने इस क्षेत्र मे सहयोग बढाने तथा संघर्ष कम करने के लिये बाह्य अन्तरिक्ष संधि (Outer space Treaty) १९ दिसम्बर १९६६ को की है। अमरीकी प्रतिनिधि गोल्डबर्ग के शब्दों मे यह सन्धि शान्ति की दिशा मे एक महत्वपूर्ण पगो को तथा ऐतिहासिक प्रगति को सूचित करती है। इसने एक नये क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का श्रीगणेश किया है।

तृतीय अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत

(Sources of International Law)

स्रोत का अर्थ (Meaning of Source)–स्रोत का शब्दार्थ उद्गम स्थान है। कोई नदी जिस स्थान से प्रादुर्भूत होती है, वह उसका स्रोत कहलाता है, जैसे गंगा का मूल स्रोत गंगोत्री है। इसी प्रकार कानून का स्रोत किसी समाज के ऐतिहासिक विकास के वे मूल तथ्य है, जिनसे इसका प्रादुर्भाव होता है और इसे बाध्यकारी शक्ति प्राप्त होती है।[1] रास (Ross) ने लिखा है कि कानून के स्रोत विशुद्ध रूप से उन स्रोतों को द्योतित करते है, जिनसे निकली हुई व्यवस्थाये कानून की भांति वैध समझी जाती है।[2] उदाहरणार्थ, इंगलैंड में न्यायाधीश पार्लियामेंट द्वारा पास किये कानूनों को वैध समझते है और उनके पालन के लिये बाध्य है क्योंकि उसका मूल स्रोत वहां विधान निर्माण करने वाली सर्वोच्च संस्था है। इसी तरह इन्हें वैध बनाने के अन्य अनेक तत्त्व हो सकते है, न्यायाधीश अपना निर्णय देते समय इन सबका पूरा ध्यान रखते है। यही तत्त्व कानून का स्रोत (Source) कहलाते है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों के सम्बन्ध में श्री लारेन्स (Lawrence) का मत है कि यदि हम कानून के स्रोत का अर्थ यह समझते है कि यह इसे बाध्य बनाने की शक्ति (binding force) प्रदान करने वाली सत्ता के साथ जुड़ा हुआ इसका मूल रूप है तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कानून का केवल एक ही स्रोत हो सकता है और यह राष्ट्रों की सहमति (Consent of nations) है।[3] यह सहमति अव्यक्त (Tacit) और व्यक्त (Express) दोनों प्रकार की हो सकती है। रिवाज (Custom) पहले प्रकार का उदाहरण है, राज्य अपने पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट समझौता किये बिना प्राचीनकाल से चले आने वाले आचरण सम्बन्धी कुछ नियमों का रिवाज के तौर पर स्वाभाविक रूप से पालन करते हैं। व्यक्त रजामंदी (Express Consent) के उदाहरण सन्धियाँ या अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते है, इनमें दोनों पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कुछ नियमों का पालन करने के लिये स्पष्ट रूप से कुछ सन्धियाँ करते हैं। आपेनहाइम ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों के इस द्विविध विभाग को स्वीकार किया है।

---

१. आपेनहाइम–इण्टरनेशनल ला, ख० १, अष्टम संस्करण, पृ० २५

२. रास–ए टैक्स्ट बुक आफ इण्टरनेशनल ला, पृ० ७९-८०

३. लारेन्स–दी प्रिन्सिपल्स आफ इण्टरनेशनल ला, षष्ठ संस्करण, पृ० ६५

स्रोतों के प्रकार (Classification of Sources)—स्रोत दो प्रकार के होते हैं (क) स्वरूपात्मक (Formal), (ख) वस्तुविषयक (Material)। अभी तक स्रोत के पहले प्रकार का वर्णन किया गया है, इसमें स्रोत का आशय उस मूल तत्त्व से होता है, जो उसे वैधता प्रदान करके उसका पालन करना आवश्यक बनाता है, जैसे राष्ट्रों की सहमति। दूसरे वस्तुविषयक प्रकार का अभिप्राय ऐसे स्रोत से है, जहाँ से इसे अपनी विषयवस्तु (Content of matter) मिलती है।

स्टार्क (Starke) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा है

(१) रिवाज (Customs)
(२) सन्धियाँ (Treaties)
(३) पंचनिर्णय अथवा न्यायालयों के निर्णय (Decisions of arbitral or Judicial tribunals)
(४) विधिशास्त्रियों के ग्रन्थ (Jurist'c Works)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न प्रकार के स्रोतों का परिगणन सं० रा० संघ के चार्टर द्वारा स्थापित किये न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के परिनियम या संविधि (Statute) की धारा ३८ (१) में दिया गया है। इसमें इसके निम्नलिखित चार स्रोत बताये गये हैं —

(१) सामान्य या विशेष अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (International Conventions) जिनमें ऐसे नियमों की स्थापना होती हो, जिन्हें विवाद करने वाले राष्ट्र निश्चित रूप से मान चुके हों।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज (International Custom) जो इस बात का प्रमाण है कि किसी सामान्य व्यवहार (Practice) को कानूनी मान्यता मिल गई है।

(३) कानून के ऐसे सामान्य सिद्धान्त (General principles of law) जिनको सभ्य राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया हो।

(४) धारा ५९ की व्यवस्थाओं के अनुसार किये गये न्यायिक निर्णय (Judicial decisions) और विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के विद्वान के कथन; ये कानून के नियमों के निर्धारण में गौण (subsidiary) साधन हैं।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोत निम्नलिखित हैं—अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International Comity), सन्धियों के अतिरिक्त राजकीय पत्र (State papers), राज्यों द्वारा अपने अधिकारियों के पथप्रदर्शन के लिए जारी किये गये निर्देश, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के प्रस्ताव, विभिन्न देशों की पार्लियामेंटों के तथा विधानसभाओं के कानून, न्यायालयों के निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं की तथा इस विषय पर ग्रन्थ लेखकों की सम्मतियाँ। उपर्युक्त विभिन्न स्रोतों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है —

(१) सन्धियाँ (Treaties)—ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। राज्यों की विधान सभाओं की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसे कानूनों का निर्माण

करने वाली कोई संस्था नहीं है, जिनका पालन सब राज्यों के लिए आवश्यक और अनिवार्य हो। किन्तु विभिन्न राज्य एक सन्धि पर हस्ताक्षर करके इस प्रकार के कानून और प्रस्ताव बनाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण कर सकते हैं। कुछ अंशों में सं० रा० संघ इस प्रकार का संगठन है। इसके अधिकारपत्र (चार्टर) पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र इसके द्वारा बनाई जानेवाली व्यवस्थाओं का पालन करना स्वीकार करते हैं। सन्धियों के तीन मुख्य भेद निम्नलिखित हैं —

(क) विधि-सूचक या प्रज्ञापक सन्धियां (Treaties declaratory of law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से सन्धियों का पहला प्रकार विधि प्रज्ञापक (Declaratory of law) सन्धियों का है। हाल के मतानुसार इन सन्धियों का उद्देश्य कुछ ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय विधियों तथा नियमों का स्पष्टीकरण होता है, जो अभी तक अस्पष्ट और अनिश्चित थे। उदाहरणार्थ, १८७१ के लन्दन सम्मेलन में रूस, आस्ट्रिया, फ्रान्स, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और टर्की के प्रतिनिधियों ने एक प्रोटोकोल (*Protocol*) पर हस्ताक्षर किये, इसमें उन्होंने यह घोषणा की कि वे इसे राष्ट्रों के कानून का एक आवश्यक सिद्धान्त समझते हैं कि कोई भी शक्ति किसी सन्धि का करने वाले सब पक्षों की मैत्रीपूर्ण सहमति के बिना, इस सन्धि की शर्तों से अपने को मुक्त नहीं कर सकती और न ही इसकी शर्तों में स्वयमेव कोई संशोधन कर सकती है। यह स्पष्ट है कि इस सन्धि ने कोई नया नियम नहीं बनाया, किन्तु पहले से चले आने वाले नियम को स्पष्ट कर दिया। इस प्रकार की सन्धियों का एक अन्य उदाहरण स्वीडन और डेनमार्क की १७६४ की सन्धि है, इसमें सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) के नियमों का पहली बार सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया था।

(ख) विधायक सन्धि (Lawmaking treaty)—दूसरे प्रकार की सन्धि विधायक सन्धि (Lawmaking treaty) कहलाती है। ब्रियर्ली (Brierly) ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"यह ऐसी सन्धियां हैं जिन्हें राज्यों की एक बड़ी संख्या ने निम्नलिखित प्रयोजनों की पूर्ति के लिए किया है—किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में अपनी सहमति प्रकट करना, भविष्य में व्यवहार के लिए एक नए सामान्य नियम का निर्धारण करना या किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण।"[४] यह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कुछ नियमों का निर्माण करती है, इन नियमों को पहले सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने वाले स्वीकार करते हैं, बाद में अन्य देश भी इनका पालन करने लगते हैं। कुछ समय बाद ये व्यवस्थायें सर्वमान्य होने लगती हैं। १८५६ का पेरिस का घोषणापत्र (Declaration of Paris 1856) इसका एक सुन्दर उदाहरण है। उस समय तक समुद्री युद्ध के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम नहीं थे, युद्ध के समय युद्ध संलग्न देशों (Belligerents) के तथा तटस्थ देशों के समुद्र में पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाली व्यवस्थाओं का अभाव था। पेरिस में इन व्यवस्थाओं को एक सन्धि में लिखा गया, इस पर पहले ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, सार्डीनिया और तुर्की के हस्ताक्षर

४. ब्रियर्ली—दी ला ऑफ नेशन्स, पंचम संस्करण, पृ० ५६

हुए, बाद मे चालीस अन्य राज्यो ने भी हस्ताक्षर कर दिये। *यद्यपि स० रा० अमरीका ने इस पर हस्ताक्षर नही किये, किन्तु जब कभी आवश्यकता पडी तो उसने अपना व्यवहार इस घोषणा के अनुसार ही रखा है।* इससे यह स्पष्ट है कि पेरिस के घोषणा-पत्र द्वारा बनाये नियम उसे भी स्वीकार है।

वर्तमान समय मे विधायक सन्धियो का महत्व बढ रहा है। हडसन के कथनानुसार १८६४ से १९१४ तक इस प्रकार की सन्धियो की कुल सख्या २५७ थी[१], किन्तु १९१७ से १९२९ के बारह वर्षो मे इस प्रकार की २२९ सन्धियाँ हुई। आधुनिक युग मे ऐसी सन्धियो के महत्वपूर्ण उदाहरण निम्नलिखित है—वैस्टफेलिया की सन्धि (१६४८), पेरिस की सन्धि (१८१५), १८९९ तथा १९०७ के हेग अभिसमय (Hague Conventions), वर्साय की सन्धि (१९१९), पेरिस का घोषणापत्र (१८५६), जेनेवा के अभिसमय (Conventions) (१८६४, १९०६, १९२९, १९४९), केलाग-ब्रीआँ समझौता (१९२८), १९२९ का जेनेवा अभिसमय, टर्की के जलडमरुमध्यो के सम्बन्ध मे मोन्त्र समझौता (१९३६), स्वेज नहर समझौता (१८८८), राष्ट्र सघ का विधानपत्र (१९१९), स० रा० सघ का चार्टर (१९४५)।

उपर्युक्त सन्धियो की शर्तो का यदि निरीक्षण किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इनमे निम्न विषयो के बारे मे अनेक नियम बनाये गये है—रेड क्रास का कार्य, स्थल और जलयुद्धो के नियम, औद्योगिक सम्पत्ति की रक्षा, समुद्रवर्ती सदेशवाहक तारो का सरक्षण, दास व्यापार और अफीम के व्यापार का निरोध, अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग, अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को शान्तिपूर्ण रीति से हल करने के उपाय।

कुछ सन्धियाँ नये नियम न बनाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे गहरा प्रभाव डालती हैं, जैसे १८७८ की बर्लिन काग्रेस के निर्णय, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी, आस्ट्रिया, हगरी, टर्की के साथ होने वाली सन्धिया। इन्हे भी प्राय विधायक सन्धियो मे सम्मिलित किया जाता है।

विधायक सधियाँ दो विभिन्न प्रकार के कार्य करती है। पहला कार्य नियमो का निर्माण है तथा दूसरा सधिकर्ता राज्यो द्वारा इनके पालन की जिम्मेवारी लेना। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से दूसरा कार्य गौण है।

(ग) सविदा सधियाँ (Contract treaties)—सधियो का तीसरा प्रकार सविदा सधियाँ (Contract treaties) है। ये भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे सहायक होती हैं। विभिन्न राज्यो द्वारा एक ही विषय के सम्बन्ध मे की गई सधियाँ इसे अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजी कानून का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बना देती है। उदाहरणार्थ, १९वी शती मे अनेक देशो ने दूसरे देश के अपराधियो के प्रत्यर्पण (Extradition) के सम्बन्ध मे कई द्विपक्षीय (Bilateral) सधियाँ की। इनमे प्रत्यर्पण के नियम का विकास हुआ।

कानून बनाने वाली विधायक तथा सविदा सधियो की प्रामाणिकता अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजी कानून (Customary law) से अधिक प्रबल होती है। दोनो मे विरोध होने

---

१. हडसन—इन्टरनेशनल लेजिस्लेशन १९३१, खण्ड १, पृ० XIX

पर सधियों को प्रामाणिक समझा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने स्टीमशिप विम्बलडन (S S Wimbeldon) के मामले म स्पष्ट रूप से यह निर्णय दिया था कि सधियो के कानून को रिवाजी कानून की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली मानना चाहिये। इस मामले मे जर्मनी ने फ्रेंच सरकार द्वारा भाडे पर लिए गये एक ब्रिटिश जहाज विम्बलडन को कील नहर मे इस आधार पर नही गुजरने दिया कि यह उसका आन्तरिक राष्ट्रीय जलमार्ग है, पुराने रिवाज के आधार पर तटस्थ होने के कारण वह इस नहर मे से रूस के साथ लडाई करने वाले देश पोलैण्ड के लिये रणसामग्री ले जाने वाले इस जहाज को गुजरने की अनुमति नही दे सकता था। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने १९१९ की वर्साय की सधि की धारा ३८० मे इस नहर को सब देशो के साथ व्यापार और युद्ध के लिये खुला रखने की शर्त को अधिक प्रामाणिक समझते हुए जर्मनी का दावा नही स्वीकार किया।

(२) **रिवाज या आचार (Custom)**—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्तमान स्वरूप का विकास करने मे इनका बडा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह इसका प्राचीनतम स्रोत है। २०वीं शती के आरम्भ तक अन्य सभी स्रोतो से अधिक महत्ता रखता था। आजकल विधायक (Law making) सधियो की सख्या अधिक बढ जाने से इसका महत्व पहले की अपेक्षा कुछ कम हो गया है। फिर भी राज्य के प्रदेश, क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) और उत्तरदायित्व, दूतो के विशेषाधिकार तथा प्रदेश बाह्य (Extraterritorial) अधिकार रिवाज के आधार पर विकसित होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सुन्दर उदाहरण हैं।

रिवाज या आचार का अभिप्राय ऐसे नियमों से है, जो एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के बाद विकसित होते हैं और अन्ततोगत्वा विभिन्न राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा स्वीकृत होते है। जब इन नियमो का पालन करना राज्य अपने लिए अनिवार्य (*Obligatory*) समझने लगते हैं तो ये रिवाज (*Custom*) का रूप धारण करते हैं। अत जान वैस्टलेक (*John Westlake*) ने इसका लक्षण करते हुए कहा है—"रिवाज या आचार आचरण की वह पद्धति है, जिसका अनिवार्य रूप से पालन करना समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है।" उदाहरणार्थ, जब दूतो के विशेषाधिकारो को विभिन्न सभ्य राज्यो ने स्वीकार कर लिया तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज के रूप म मान लिया गया।

पिट काब्बेट (Pit Cobbet) ने रिवाज के विकास की तीन अवस्थायें बतायी हैं। पहली अवस्था मे कुछ राज्य सामान्य सुविधा या सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर किसी व्यवहार (Practice) या प्रणाली को अपनाना शुरू करते हैं, किन्तु इस समय इसका पालन करना पूर्णरूप से अपनी इच्छा (*Discretion*) पर होता है। उदाहरणार्थ, दूतो की अवध्यता को लीजिए। इस परिपाटी का श्रीगणेश सामान्य सुविधा और सुरक्षा की दृष्टि मे रखते हुए हुआ, यदि एक राज्य अपने यहां आये दूसरे राज्य के दूत को मारता है या विशेष सुविधायें नही प्रदान करता तो दूसरा राज्य भी उसके दूत के साथ ऐसा व्यवहार कर सकता है। दोनो की सुविधा और हित इसी मे था कि वे एक दूसरे के दूतो को

अपने यहा विशेष सुविधाये प्रदान करें। किन्तु इस अवस्था मे राज्य अपनी इच्छानुसार इनकी अवहेलना कर सकते हैं और इस सम्बन्ध मे सब राज्यों मे एक जैसी परिपाटी न होकर, अनेक प्रकार के व्यवहार और प्रणालिया प्रचलित होती है। दूसरी अवस्था मे इन विभिन्न प्रणालियो मे समय की आवश्यकता के अनुसार सबसे अच्छी और उपयोगी *प्रणाली अन्य प्रणालियो की अपेक्षा अधिक स्वीकरणीय और आदरणीय समझी जाने* लगती है। उदाहरणार्थ, योरोप मे १५-१६वी शती तक राजदूतो के विशेषाधिकारो के बारे मे अनेक प्रकार की परिपाटिया प्रचलित थी, यदि ये राजदूत दूसरे देश मे फौजदारी या दीवानी अपराध करे तो इन्हे पकडने या इनकी सम्पत्ति जब्त करने के बारे मे सब देशों मे एक जैसे नियम नहीं थे। पहले यह बताया जा चुका है कि १७वी शती के आरम्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओ ने फौजदारी अपराधों मे राजदूतो को स्वदेश वापिस भेजने और सामान्य रूप से इनको उस देश की कानूनी प्रक्रियाओ से मुक्त होने के प्रदेश-बाह्यता (Exterioriality) के सिद्धान्त का समर्थन किया। तीसरी अवस्था मे *जब किसी व्यवहार (Practice) को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाने लगता है तो* यह रिवाज का रूप धारण करता है, इस समय सब सभ्य राज्य इसका पालन करना अपना अनिवार्य कर्त्तव्य समझने लगते है। आजकल सभी देश राजदूतो के विशेषाधिकार (Privileges) स्वीकार करते है, अत यह अन्तर्राष्ट्रीय आचार या रिवाज (Custom) बन गया है।

आचार या रिवाज (Custom) तथा प्रथा (Usage) का भेद—इनका प्रयोग प्राय पर्यायवाची के रूप म किया जाता है, किन्तु इन दोनों मे स्पष्ट शास्त्रीय भेद है। **प्रथा रिवाज का पूर्व रूप है।** प्रत्येक रिवाज प्रथा के रूप मे प्रारम्भ होता है, अतएव प्रथा को रिवाज की आरम्भिक अथवा उपाकालीन दशा भी कहा जाता है। किन्तु जब यह प्रथा सर्वमान्य एव अनिवार्य रूप मे पालन की जाने वाली रूढि बनती है तो रिवाज का रूप ग्रहण करती है। आपेनहाइम (Oppenheim) ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—"*अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री* उस समय रिवाज या आचार (Custom) का प्रयोग करते है, जब किन्ही निश्चित कार्यों को सुस्पष्ट एव निरन्तर रूप मे करने की आदत का विकास इस विश्वास के साथ हुआ हो कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन कार्यों का किया जाना अनिवार्य अथवा ठीक है। अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री प्रथा (Usage) का प्रयोग तब करते है जब कुछ निश्चित कार्य करने की आदत बिना इस विश्वास के साथ विकसित हो कि ऐसे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अनिवार्य या ठीक है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र की भाषा मे रिवाज प्रथा की अपेक्षा सकुचित अर्थ द्योतित करता है, आचरण की कोई पद्धति प्रथा के रूप मे सामान्य होने पर भी रिवाजी या आचारिक (Customary) नही हो सकती।"[६]

इससे यह स्पष्ट है कि कोई प्रथा तभी रिवाज बनती है जब उसे विभिन्न राज्यो द्वारा पूरी कानूनी मान्यता मिल जाय। वस्तुत रिवाज ऐसी प्रथा है, जिसका पालन

६. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खंड १, पृ० २६

कानून की भांति अनिवार्य समझा जाने लगता है। स्टार्क ने किसी प्रथा के रिवाज रूप मे माने जाने की दो कसौटिया बताई है।[7] पहली भौतिक कसौटी (Material Test) उस प्रथा या कार्य की बारम्बार नियमित रूप से पुनरावृत्ति होना है। दूसरी मनोवैज्ञानिक कसौटी (Psychological Test) विभिन्न राज्यों का यह विश्वास है कि इसका पालन आवश्यक होने के कारण ही इसकी पुनरावृत्ति हो रही है। किसी प्रथा की पुनरावृत्ति से यह आशा बध जाती है कि भविष्य मे ऐसी सदृश परिस्थितियों मे इस प्रथा का पुन पालन किया जायगा। जब किसी प्रथा के सम्बन्ध मे ऐसी आशा अधिकाश राज्यो द्वारा स्वीकार कर ली जाती है तो यह प्रथा से कानूनी रिवाज के रूप म परिवर्तित हो जाती है। यह स्थिति शनै-शनै अनजाने रूप से स्वयमेव आ जाती है। प्राय यह नही पता लगता कि कोई प्रथा कब रिवाज या कानून बनी और कानून के रूप मे उसका पालन होने लगा। अतएव सर जान फिशर विलियम ने कहा है—"रिवाज को कानून से पृथक् करने वाली भेदक रेखा (Rubicon)[8] को मौन तथा अचेतन रूप मे, बिना किसी घोषणा के पार किया जाता है।"

कोई प्रथा निम्न विशेषताये होने पर ही रिवाज या आचार का रूप धारण करती है—(क) प्राचीन (ancient) होना, (ख) तर्कसगत होना (reasonableness), (ग) निरन्तर पालन किया जाना (continuity), (घ) एकरूपता (uniformity), (ङ) सुनिश्चितता (certainty), (च) अनिवार्यता (compulsion), (छ) अनैतिक (immoral) न होना।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे रिवाज के महत्व का मुख्य कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज सुसगठित नही है, इसमे राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का नियन्त्रण करनेवाली सुदृढ केन्द्रीय शासन की सत्ता का अभाव है और राज्यो की ससद् एव विधान सभाओ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली कोई सस्था नही है। इस कानून के अभाव की पूर्ति रिवाज से होती है, शनै-शनै राज्य अपनी सुविधा के लिये जिन परिपाटियो और नियमो का पालन अनिवार्य समझने लगते है, वे रिवाज बनने लगते है। ये राज्यो द्वारा मूकभाव से स्वीकृत किये हुए नियम होते है। अतएव श्वार्जनबर्गर ने इन्हे पिछले युगों की अन्तर्राष्ट्रीय सधि भी कहा है।[9]

राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो के विभिन्न मामलो मे रिवाज की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे पर्याप्त विचार हुआ है। इसके अनुसार किसी कार्यप्रणाली को रिवाज सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि इस बात की साक्षी उपस्थित की जाय कि ऐसा कार्य बार-बार और नियमित रूप से होता रहा है। ल्यूबेक बनाम मैक्लेनबर्ग (Lubeck *Vs.* Macklanburg schwerin) के मामले मे एक जर्मन न्यायालय ने यह कहा था कि

---

७ स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल ला, चतुर्थ सस्करण, पृ० ३३

८. रूबीकन रोम के पास एक नदी का नाम है, रोमन गणराज्य के समय कोई सेनापति इस नदी को पार करके अपनी सेनायें रोम मे नहीं ला सकता था।

९. श्वार्जनबर्गर—ए मैनुअल आफ इण्टरनेशनल ला, पृ० १२

'किसी राज्य या शासनसत्ता द्वारा एक बार किया गया कार्य इसे रिवाज नहीं बनाता, ऐसे आचरण को रिवाजी कानून बनाने के लिए उसका नियमित रूप से बार-बार होना चाहिए।" किसी कार्य को तभी रिवाज माना जाता है, जब उसे ऐसा सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हों। ये प्रमाण मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—अन्तर्राष्ट्रीय विधि-वेत्ताओं (Publicists) के ग्रन्थ, राज्यों के आचरण को प्रदर्शित करने वाले कूटनीतिक पत्र या नोट (Diplomatic notes) तथा अन्य राजकीय पत्र (State papers), राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने १९५० में Colambian Peruvian Asylum Case में रिवाज के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा था कि "कोलम्बिया की सरकार को यह सिद्ध करना चाहिए कि वह जिस नियम को प्रमाण रूप में पेश कर रही है, वह राज्यों द्वारा निरन्तर तथा एक ही रूप में व्यवहार में लाया जाने वाला नियम है, यह प्रथा आश्रय प्रदान करने वाले राज्य का अधिकार है और प्रादेशिक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इसका पालन करे।"[10] इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी बात ही रिवाज मानी जा सकती है, जिसका पालन सब राज्य अनिवार्य कर्त्तव्य समझते हों।

फ्रेंकोनिया या Re. v Keyn के मामले में रिवाज के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा गया था कि किसी रिवाज पर राज्यों की सहमति या असहमति के प्रश्न का निर्णय प्रमाणों के आधार पर करना चाहिए। सन्धियाँ तथा राज्य के कार्य इसकी साक्षी हो सकते हैं, किन्तु ऐसा होने मात्र से वे इस देश में न्यायालयों को बाधित नहीं कर सकते। इसी प्रकार विधिशास्त्रियों की सहमति (consensus of jurists) को भी न्यायालय मानने के लिए बाध्य नहीं है। किन्तु यह राष्ट्रों की सहमति का प्रमाण हो सकता है।

न्यायालयों द्वारा आचार या रिवाज को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानने के दो प्रसिद्ध उदाहरण **दी पाक्वेट हबाना (The Paquete Habana)** तथा **लोटस (Lotus)** के मामले हैं (देखिए प्रथम परिशिष्ट)। पहले मामले में स० रा० संघ के सुप्रीम कोर्ट ने राज्यों के कानून और व्यवहार, सन्धियों, विधिवेत्ताओं के लेखों तथा न्यायालयों के निर्णयों के निरीक्षण के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि इनमें इस अन्तर्राष्ट्रीय नियम या रिवाज को पुष्ट करने की पर्याप्त साक्षी है कि युद्ध के समय युध्यमान राष्ट्रों द्वारा मछली पकड़ने वाले छोटे जहाजों के विरुद्ध कोई कार्यवाही न की जाए। **लोटस** के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने उपर्युक्त पद्धति से यह निश्चय किया था कि 'महासमुद्रों में दो जहाजों में टक्कर हो जाने पर कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज नहीं है, जिसके आधार पर टक्कर के मामले पर विचार करने का अधिकार एकमात्र उस देश का हो जिसका झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा हो।'

किसी रिवाज का अनिवार्य रूप से पालन करने के लिए किसी राज्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसने इसके विकास में भाग लिया हो और इस प्रकार वह इसके पालन के लिए बाधित हो। जब कोई देश राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का

10. I C J Reports, 1950, p 276

सदस्य बनता है तो राष्ट्रो के रिवाजी कानून स्वत उस पर लागू हो जाते है। किन्तु किसी रिवाज के बनने के समय यदि एक राज्य ने उसके पालन न करने का सकल्प प्रकट किया हो तो अन्य राज्य उसे इसके पालन के लिए बाधित नही कर सकते। उदाहरणार्थ, राज्यो की समुद्री सीमा को तट से समुद्र के भीतर तीन मील तक मानने का अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज है। कुछ राज्यो ने इस रिवाज के बनने के समय चिरकाल तक इसका प्रतिवाद करते हुए अपनी समुद्री सीमा के लिए तीन मील से अधिक दूरी स्वीकार करने पर बल दिया। अब यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज म प्रादेशिक समुद्र की सीमा तीन मील तक मानने का रिवाज प्रचलित हो गया है किन्तु इसका पालन उन राज्यो के लिए अनिवार्य नही है, जिन्होंने इसका प्रतिवाद किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपर्युक्त दो स्रोतो के अतिरिक्त अन्य स्रोत निम्नलिखित है —

(३) कानून के सामान्य सिद्धान्त (General Principles of Law)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि (Statute) की धारा ३८ म (देखिये ऊपर पृ० ८८) इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो और रिवाज के बाद तीसरा स्थान दिया गया है। यह बड़ा व्यापक स्रोत है, इसम विभिन्न देशो म विकसित वैयक्तिक कानून के उन सिद्धान्तो का भी समावेश होता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विषय म लागू किए जा सकते हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक है। वैयक्तिक (Private) कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा अधिक विकसित है और जहां कहीं दूसरे कानून के निश्चित और सुस्पष्ट नियम नही है, वहाँ पहले कानून के सामान्य सिद्धान्तो का अवलम्बन किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास की आरम्भिक दशा मे रोमन कानून के सिद्धान्त ग्रहण किए गए थे, यह प्रक्रिया आज तक जारी है। इसके कुछ उदाहरण न्याय और निष्पक्षपात (Justice and Equity,) चिरकालिक भोग (Prescription), आवेशन (Occupation) तथा मुख बन्धन (Estoppel) के सिद्धान्त हैं।—इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे वैयक्तिक कानून से लिया गया है। सर राबर्ट फिलिमोर ने Re v Keyn के मामले मे निर्णय देते हुए लिखा था 'राष्ट्रो का कानून न्याय, निष्पक्षपात, सुविधा और बुद्धि पर आधारित है।' जर्मनी और पुर्तगाल के विवाद मे Mazina तथा Naulila के मामलो मे विशेष पचायती अदालत ने कानून के सामान्य सिद्धान्तो को लागू किया था। इसके निर्णय मे कहा गया था कि किसी विवादास्पद प्रश्न के विषय म अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम न होने की दशा मे न्यायाधीशो का यह कर्त्तव्य है कि वे इस अभाव को निष्पक्षपात (Equity) के नियम लगाकर पूरा करें और ऐसा करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी भावना का ध्यान रख।

U S v The Schooner la Jeune Uagenie के मामले मे न्यायाधीश स्टोरी (Story) ने यह लिखा था कि राष्ट्रो के कानून के (नियमो को) सर्वप्रथम सत्य और न्याय (Right and Justice) के सामान्य सिद्धान्तों से निकालना चाहिये।

ब्रियर्ली ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि (Statute) मे न्याय के सामान्य सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत माने जाने के लिये इस दृष्टि से महत्व दिया है

कि यह उस अस्तित्ववादी (Positivist) सिद्धान्त का प्रत्याख्यान है जो केवल राज्यों द्वारा सहमति-प्राप्त नियमों को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानता है। यह इस बात को प्रामाणिक रूप में स्वीकार करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रगतिशील (Dynamic) तत्व हैं तथा इसे लागू करने वाले न्यायालय इन सिद्धान्तों के आधार पर इसका नूतन निर्माण भी करते है। /

(४) **न्यायालय के निर्णय** (Judicial Decisions) : (क) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय** (International Court of Justice)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि में इन्हें कानून के नियमों को निर्धारित करने का गौण साधन" बनाया गया है। ये निर्णय प्रायः विवादास्पद प्रश्नों के विचार के समय दोनों पक्षों द्वारा पूर्वोदाहरण या नजीरों के रूप में उपस्थित किए जाते हैं, इस प्रकार ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायक बनते हैं। किन्तु ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बाधित रूप से पालन किए जाने वाले नियम नहीं हैं, न्यायालय स्वयमेव अपने पुराने निर्णयों को मानने के लिए बाधित नहीं है। इसका सुन्दर उदाहरण १६५१ का एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह (Anglo-Norwegeian Fisheries Case) का मामला है। फिर भी १६२१ में तथा १६४६ में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न पर सबसे प्रामाणिक सम्मति मानी जाती है। इनमें निर्णयों से पहले दोनों पक्षों के विद्वान वकील सभी दृष्टियों से विवादग्रस्त प्रश्न की मीमांसा करते हैं, इन्हें सुनने वाले न्यायाधीश विभिन्न देशों के विख्यात विद्वान् तथा अनुभवी विधिशास्त्री होते हैं। इनमें गम्भीर विचार के बाद दिए गए निर्णय बाध्य रूप से पालनीय न होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून में असाधारण महत्व रखते हैं। स्टार्क के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के तथा विविध पंचन्यायाधिकरणों (Arbitration tribunals) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निम्नलिखित शाखाओं के नियमों का विकास और स्पष्टीकरण हुआ है—प्रादेशिक प्रभुता, तटस्थता, राज्य का क्षेत्राधिकार, राज्य की परवत्ताय (State servitudes), राज्य का उत्तरदायित्व। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में निम्नलिखित पंचनिर्णय के मामले विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—**१८७२ का अलबामा दावा पंचनिर्णय, १८९३ का बेहरिंग समुद्र मछलीगाह पंचनिर्णय, १६०२ का पायसफण्ड मामला, १६१० का नार्थ अटलांटिक मछलीगाह मामला**[११]।

(ख) **राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय** (Decisions of Municipal Courts)—ये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों की भांति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सुप्रतिष्ठित स्रोत नहीं हैं। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून में पूरी तरह लागू करने में अनेक बन्धन और बाधाएं हैं। पहला बन्धन तो यह है कि ये अपने देश के संविधान का विरोधी कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं लागू कर सकते। दूसरा कारण अनेक देशों में राज्य द्वारा न्यायालयों की स्वतन्त्रता पर लगाए हुए कई प्रकार के प्रतिबन्ध हैं। तीसरा कारण युद्ध तथा शान्ति में और विभिन्न देशों की मान्यता (Recognition) के सम्बन्ध

---

११. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२

में न्यायालयों द्वारा अपने राज्य की सरकार द्वारा निश्चित की गई व्यवस्थाओं को पूरी तरह स्वीकार करना है, इस विषय में वे किसी प्रकार का स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकते, अतएव श्वार्जनवर्गरने इनकेनियमोको अन्तर्राष्ट्रीयकानून के प्रति राष्ट्रीय दृष्टिकोण का ही प्रमाण माना है। फिर भी स० रा० अमरीका के प्रधान न्यायाधीश मार्शल की Thiry Hogshead *v* Boyle के मामले में कही गई इस उक्ति में अधिक सत्य है —"प्रत्येक देश में सामान्य रूप से पाए जाने वाले कानून पर आधारित विभिन्न देशों की अदालतों के निर्णय यद्यपि प्रमाण के रूप में नहीं ग्रहण किये जाते, किन्तु इनका आदर किया जाता है।"

(ग) **अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णय** (Decisions of Prize Courts) —ये न्यायालय युद्धसलग्न देशों द्वारा इस उद्देश्य से स्थापित किए जाते हैं कि ये अपने युद्धपोतों द्वारा निगृहीत माल और जहाजों के स्वत्व के बारे में वैधता का निर्णय करें। ये न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करते हैं और उसे क्रियात्मक रूप देते हैं। इस कानून का निर्माण किसी एक देश द्वारा नहीं किया जाता। इसका निर्धारण अन्य राष्ट्रों द्वारा एक-दूसरे के साथ व्यवहार में चिरकाल से पालन की जाने वाली प्रथाओं और रिवाजों द्वारा तथा स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा होता है। यद्यपि ये अधिग्रहण न्यायालय अपने देश की संसद द्वारा बनाए कानूनों से बंधे होते हैं, फिर भी इनका काम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार निर्णय देना है। मेरिया (Maria) के प्रसिद्ध मामले के निर्णय में सर विलियम स्काट ने लिखा था—"ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह राष्ट्रीय हितों के वर्तमान प्रयोजनों को पूरा करने वाली परिवर्तनशील सम्मतियाँ प्रदान करे, किन्तु उसका कर्त्तव्य बिना किसी भेदभाव के राष्ट्रों के कानून की उस न्यायपद्धति को लागू करना है, जो तटस्थ और युध्यमान (Belligerents) सभी स्वतन्त्र राज्यों के लिए समान रूप से लागू होती है। रिकवरी (Recovery) के मामले में यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप से कही गई थी 'यह स्मरण रखना चाहिए कि भले ही इस न्यायालय की बैठक ग्रेट ब्रिटेन के राजा की शासन सत्ता में होती है, किन्तु यह राष्ट्रों के कानून का न्यायालय है। इसका सम्बन्ध जितना हमसे है, उतना ही दूसरे देशों से भी है। विदेशियों को उससे यह मांग करने का अधिकार है कि यह राष्ट्रों के कानून को लागू करे।"

अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णयों का सम्मान प्राय इन्हें प्रदान करने वाले न्यायाधीशों की योग्यता, विद्वत्ता और निष्पक्षता की ख्याति पर निर्भर होता है। अमरीका के **स्टोरी**, ग्रेट ब्रिटेन के **स्टोवेल** और फ्रांस के **पोर्तालिस** जैसे सुप्रसिद्ध न्यायाधीशों के निर्णय बड़ा महत्व रखते हैं। लारेन्स ने यह लिखा है कि राज्यों द्वारा इनके निर्णयों में बहुत कम हस्तक्षेप होता है। फिर भी इन न्यायाधीशों पर अपने देश की परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है और इनके फैसलों में इनकी हल्की छाप अवश्य होती है। यह बात फ्रांस, हालैंड और इंगलैंड के और गृहयुद्ध के समय अमरीका के न्यायालयों द्वारा किए गए निर्णयों के तुलनात्मक अध्ययन से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है।[१०]

---

१०. फेनविक—इण्टरनेशनल ला, पृ० ९५

(५) अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ (Works of Publicists)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान की धारा ३८ मे यह कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो के निर्धारण मे विभिन्न देशो के उच्चतम योग्यता रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओ के विचारो का उपयोग गौण साधन के रूप मे किया जाना चाहिये। विधिवेत्ता अपने ग्रन्थो मे अन्तर्राष्ट्रीय नियमो की सूक्ष्म मीमासा करते है, यह जितनी विशद, स्पष्ट, सुन्दर और प्रामाणिक होगी, अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर उतना अधिक प्रभाव डालेगी। ब्रियर्ली के मतानुसार ये ग्रन्थ राज्यो के आचरण को प्रभावित करने वाले जनमत के निर्माण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सशोधित करते है। अयाला जैण्टिलिस, वैटल, ग्रोशियस आदि के ग्रन्थो ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण मे बडा भाग लिया है। इन ग्रन्थो का प्रभाव ग्रापेनहाइम के मतानुसार इस पर निर्भर होता है कि इनमे वैज्ञानिक और निष्पक्ष दृष्टिकोण कहाँ तक अपनाया गया है और राज्यो के आचरण को कानूनी सिद्धान्तो की कसौटी पर किस हद तक आलोचनात्मक रीति से परखा गया है। जिस ग्रन्थ मे ये विशेषताये जितनी अधिक मात्रा मे होगी, वह उतना ही अधिक प्रामाणिक माना जायेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए इन ग्रन्थो की प्रामाणिकता के विषय मे ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरीका के न्यायाधीशो ने विभिन्न मत प्रकट किये है। इगलैंड मे बहुमत रखने वाला एक पक्ष इन्हे कानून का निर्माण करने वाला नही मानता। लार्ड चीफ जस्टिस काकबर्न ने फ्रैंकोनिया के मामले मे निर्णय देते हुए लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लेखक भले ही इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हो कि वे कानून के नियमो का स्पष्टीकरण और निर्धारण करते है, किन्तु वे कानून का निर्माण नही करते, क्योकि किसी भी कानून के बाधित रूप से पालन किए जाने के लिए यह आवश्यक है कि इसे पालन करने वाले देश इसके लिए अपनी सहमति प्रदान करें।" लेखको के ग्रन्थो को राज्य द्वारा इस प्रकार की कोई सहमति नही होती, अत वे लेखको के विचार मात्र हैं, इनके पीछे इन्हे बाध्य रूप से पालन कराने वाली शक्ति (Sanction) का अभाव है, अत इन्हें कानून नही माना जा सकता। किन्तु सर हेनरी मेन आदि विधिशास्त्रियो ने इससे प्रतिकूल मत स्थापित किया है। उनका यह विचार है कि लेखको के पास यद्यपि अपने विचारो को पालन कराने की शक्ति (Sanction) का अभाव है, किन्तु फिर भी वे कानून के पालन के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार करते हैं। वे राजाओ मे तथा विभिन्न समुदायो के शिक्षित वर्गो मे ऐसे भावो का प्रसार करते हैं, जिनके कारण उनमे राज्यो के सम्बन्ध को नियन्त्रित करने वाले कुछ निश्चित नियमो की उपेक्षा या भग करने के विरुद्ध प्रबल भावना उत्पन्न हो जाती है।"[१३] आजकल इगलैंड मे यही दृष्टिकोण सत्य माना जाता हैं।

स० रा० अमरीका मे इसका सर्वोत्तम प्रतिपादन न्यायाधीश ग्रे (Gray) ने पाक्वेट हबाना (The Pacquete Habana) के मामले (देखिये प्रथम परिशिष्ट) मे

१३. मेन—इण्टरनेशनल ला, पृ० ५१

निर्णय देते हुए किया था—"जहां कोई सन्धि न हो, नियन्त्रण करने वाली शासनसत्ता का आदेश, किसी विधानसभा का कानून या न्यायिक निर्णय न हो वहां सभ्य राष्ट्रों के रिवाजों और प्रथाओं का अवलम्बन लेना चाहिये, इनके प्रमाण के रूप में उन विधिशास्त्रियों और भाष्यकारों के ग्रन्थों का सहारा लिया जा सकता है, जिन्होंने वर्षों के परिश्रम, अनुसंधान और अनुभव द्वारा अपने को उन विषयों में निष्णात बना लिया है, जिनका वे प्रतिपादन करते हैं। न्यायाधिकरण (Judicial Tribunals) इन ग्रन्थों का अवलम्बन इसलिये नहीं लेते कि इनमें लेखकों ने यह विचार किया है कि कानून कैसा होना चाहिये, किन्तु वे इनका सहारा इसलिये लेते हैं कि ये ग्रन्थ वास्तविक कानून का स्वरूप प्रतिपादित करनेवाली विश्वसनीय साक्षी हैं।"

(६) अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International Comity)—राज्य एक-दूसरे के साथ पारस्परिक व्यवहार में न केवल कानूनी दृष्टि से अवश्य पालन करने योग्य कानूनों का तथा प्रथाओं का अनुसरण करते हैं, किन्तु सौजन्य सुविधा और सद्भावना प्रदर्शित करने वाले कुछ नियमों का भी पालन करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के ये नियम कानून नहीं, किन्तु सौजन्य के होते हैं। उदाहरणार्थ, सौजन्यवश सब देश अपने यहाँ आने वाले विदेशी राजदूतों को चुंगी के नियमों से मुक्त कर देते हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत नहीं है, फिर भी ओपेनहाइम के मतानुसार यह इसके विकास पर प्रभाव डालता है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कई वर्तमान नियम पहले अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य के नियम थे।[१४] इस सौजन्य का आधार 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का नियम है।

(७) तर्कशक्ति (Reason)—ब्रियर्ली ने इसे बहुत महत्व दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रायः ऐसी नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिन पर उस समय तक प्रतिपादित कानून का कोई सिद्धान्त लागू नहीं होता। इन दशाओं में तर्कशक्ति या बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है। तर्क का अभिप्राय यहां मानवीय बुद्धि द्वारा सोची जाने वाली सब प्रकार की बात नहीं, किन्तु न्यायिक तर्क (Judicial reasoning) है। इसका अभिप्राय यह है कि नवीन परिस्थिति के लिए कोई नियम न होने पर इसकी खोज विधिवेत्ताओं द्वारा सर्वत्र वैध स्वीकार की जाने वाली तर्क-प्रणाली द्वारा होनी चाहिए। १९१० में स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन के एक विवाद का निर्णय देते हुए एक न्यायालय ने लिखा था—'यदि यह मान लिया जाय कि इस मामले में कोई सन्धि या अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विशेष नियम नहीं लागू होता, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम नहीं है। यह सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानून में विशिष्ट मामलों का निर्णय करने वाले स्पष्ट नियम न हों, किन्तु विधिशास्त्र का यह कार्य है कि वह कानून की विशिष्ट व्यवस्था न होने पर भी परस्पर विरोधी अधिकारों और हितों के संघर्ष के समाधान के लिए सामान्य सिद्धान्तों की तर्कपद्धति को लागू करे और समस्या का हल करे। विधिशास्त्र

---

१४. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खं० १, पृ० ३४

की यही पद्धति है।"

(८) अन्तर्राष्ट्रीय राजपत्र (International State Papers)—वर्तमान समय मे विभिन्न राज्य दूसरे देशो के साथ सम्बन्ध रखने वाले सरकारी पत्रव्यवहार और महत्वपूर्ण दस्तावेजो को "श्वेत", "नील", "रक्त" आदि रगो के आवरण रखने वाली पुस्तको के रूप मे प्रकाशित करते है। उदाहरणार्थ, भारत चीन सीमाविवाद पर दोनो देशो के बीच हुए पत्रव्यवहार को भारत सरकार ने श्वेत पत्र के रूप मे प्रकाशित किया है। स युक्त राज्य अमरीका मे ऐसे पत्रव्यवहार, आज्ञाओ और विभिन्न विभागो को दिये गए निर्देशो को 'स० रा० अमरीका के वैदेशिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पत्र' (Papers relating to the Foreign Relations of the United States) के नाम से छापा जाता है। १९०६ मे प्रकाशित मूर के 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साराश' (Digest of International Law) मे अमरीका के निदेश विभाग के बहुमूल्य पत्रो का सग्रह हुआ है। इसी प्रकार एक आधुनिक सग्रह हैकवर्थ का Digest of International Law है। इनमे स युक्त राज्य अमरीका द्वारा माने जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण हुआ है। सरकारी कागजों मे प्राय सरकारी विधिशास्त्रियो द्वारा बडी विद्वत्ता और योग्यता के साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विवादास्पद जटिल प्रश्नो पर विचार होता है। लारेन्स ने यह ठीक ही लिखा है कि "कई बार इन विवादो मे बहुत से ऐसे सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण और प्रतिपादन होता है, जिन पर अब तक बहुत कम ध्यान दिया गया था।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जटिल, गूढ और गम्भीर प्रश्नो पर प्रकाश डालने के कारण ये राजपत्र अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र की समस्याओ के समझने मे बहुत सहायक होते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न राज्यो के राजनीतिज्ञो द्वारा की गई घोषणाओ से, अपने कानूनी परामर्शदाताओ द्वारा राज्यो को दी गई सलाहो से, राज्यो द्वारा विदेशो मे अपने प्रतिनिधियो को दिये गए निर्देशो से अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजो और नियमो पर बहुत प्रकाश पडता है।

विभिन्न स्रोतो की प्रामाणिकता का क्रम—ऊपर बताये गये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न प्रकार के स्रोतो के सम्बन्ध मे यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि इनमे प्रामाणिकता का क्रम क्या हो अर्थात् किन स्रोतो को सबसे अधिक प्रामाणिक समझा जाय और किन्हे कम प्रामाणिक माना जाय। इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि मे प्रदर्शित निम्नलिखित प्रमाण-क्रम ही उचित एव माननीय प्रतीत होता है। यह इस प्रकार है—(१) सधियाँ तथा अभिसमय (Conventions), (२) रिवाज या आचार, (३) सभ्य राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत कानून के सामान्य सिद्धान्त, (४) न्यायिक निर्णय तथा विधिशास्त्रियो के ग्रन्थो और लेखो मे प्रदर्शित की गई सम्मति। राज्यो के व्यवहार मे इसी पद्धति का अनुसरण किया जाता है। सधियों के नियम और व्यवस्थाये सबसे अधिक प्रामाणिक है, किन्तु इनके अभाव मे रिवाज को प्रामाणिकता दी जाती है। रिवाज के बाद कानून के सामान्य सिद्धान्त महत्वपूर्ण समझे जाते है। इनके अभाव मे न्यायालयो के निर्णय प्रामाणिक माने जाते हैं और इनके बाद विधिशास्त्रियो के ग्रन्थो और

सम्मतियो को प्रामाणिक समझा जाता है।

कई बार न्यायालयो के सम्मुख ऐसे प्रश्न आते है, जिनके सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सधियो वाले या परम्परागत आचार ने नियमो (Customary rules) का नितान्त अभाव होता है। इस अवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों की सम्मतियां और ग्रन्थों का महत्व बहुत बढ जाता है।[१५] प्रिवी कौन्सिल द्वारा समुद्री डकैती से सम्बन्ध रखने वाले एक मामले Re Piracy Jure Gentium मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई, इसमें यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार समुद्री डकैती (Piracy) के अपराध मे चोरी (Robbery) इसका आवश्यक तत्व है या नहीं। इस सम्बन्ध मे कोई सधि या रिवाज न होने की दशा मे प्रिवी कौन्सिल को विधिशास्त्रियो की सम्मतियो के आधार पर निर्णय करना पडा। इसमे प्रिवी कौन्सिल ने यह लिखा कि इस विषय मे विधिशास्त्रियो की सम्मतियों की सहमति (Consensus) ही देखना इसके लिये आवश्यक नहीं है, किन्तु यह इन सम्मतियो मे अधिक अच्छा दृष्टिकोण भी स्वीकार कर सकती है। इस आधार पर अन्त मे उसने यह फैसला दिया कि चोरी समुद्री डकैती का आवश्यक तत्व नहीं है, चोरी करने का विफल प्रयत्न (Frustrated attempt to piratical robbery) भी समुद्री डकैती है।

---

१५. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४६

चौथा अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध

(Relation between International Law and Municipal Law)

अन्तर्राष्ट्रीय एव राष्ट्रीय कानून— विभिन्न सभ्य राज्य पारस्परिक व्यवहार मे कुछ नियमो का बाधित रूप से पालन करना आवश्यक समझते हैं, यही अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। राष्ट्रीय (National) कानून का अभिप्राय किसी राष्ट्र द्वारा अपने देश के हित के लिये बनाये गये कानूनों से होता है। इन्हे राज्य का कानून (State law) या देशीय कानून (Municipal law) भी कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय राज्यों का पारस्परिक व्यवहार या सम्बन्ध होना है, राष्ट्रीय कानून एक देश के व्यक्तियों के व्यवहार से सम्बद्ध होता है। हैन्स केलसन के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य के बाह्य या वैदेशिक सम्बन्धों का नियमन करता है, राष्ट्रीय कानून राज्य के आन्तरिक या घरेलू सम्बन्धों का नियन्त्रण करने वाला है।" राष्ट्रीय कानून अपने राज्य मे सर्वोच्च सत्ता रखता है, नागरिक तथा राज्य के विभिन्न अग—न्यायालय, कार्यपालिका इसका पालन करने के लिए बाध्य है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय (subject) राज्य है, अत यह नागरिकों या राज्य के विभिन्न अगों को इसके पालन के लिए बाधित नही कर सकता। प्रत्येक नागरिक अपने देश के नियमो का पालन करने के लिए बाध्य है, यदि देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे विरोध होगा तो वह अपने देश के नियम का पालन करेगा। ऐसी अवस्था भी उत्पन्न हो सकती है, जब राज्य का कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपेक्षा या विरोध करे, राज्य पर कुछ अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व हों, फिर भी वह इनकी अवहेलना करने वाला कानून बनाये। इसका एक सुन्दर उदाहरण यह है कि कोई राज्य अपने देश मे विदेशियों की सम्पत्ति सुरक्षित रखने के लिए अन्य देशों के साथ सन्धि द्वारा आबद्ध हो सकता है, किन्तु इस देश की सरकार भूमिसम्बन्धी सुधारों की दृष्टि से अथवा औद्योगिक क्षमता बढाने की दृष्टि से इस सम्पत्ति को जब्त कराने का कानून देश की ससद् से पास करा सकती है। इस कानून से कार्यपालिका को एव सरकारी अधिकारियों को विदेशियों की सम्पत्ति जब्त करने का अधिकार मिल जाता है। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून मे स्पष्ट सघर्ष है। इसमें उस देश के कर्मचारियों और न्यायालयों के सामने यह प्रश्न होगा कि वह सन्धि वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करें या अपने देश की ससद् के कानून को लागू करें। इसमे कोई सन्देह नही कि वे दूसरे मार्ग का अवलम्बन श्रेयस्कर समझेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून की तुलना मे बहुत निर्बल

है और उसको लागू करने मे अनेक कठिनाइयाँ है।

ये कठिनाइयाँ इस कारण से और भी अधिक बढ जाती है कि जिस प्रकार राज्य के कानून को पालन कराने के लिये उसके विभिन्न अग—न्यायालय और कार्यपालिका—सरकारी अधिकारी, पुलिस, जेल आदि की व्यवस्था है और कानून बनाने के लिये ससद् या विधान सभायें है, उसतरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण करने और उन्हे लागू करने के लिये उपयुक्त सस्थायें नहीं है। अत अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सब व्यवस्थायें राज्यों पर उनके न्यायालयो और शासन द्वारा ही लागू की जा सकती है। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध का प्रश्न बडा महत्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने पालन के लिये राज्यो पर निर्भर है। इससे कई जटिल प्रश्न उत्पन्न होते है—राष्ट्र के न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन कहाँ तक करा सकते है? दोनो कानूनों मे सघर्ष होने की स्थिति मे उनका क्या कर्तव्य है? अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा उत्पन्न दायित्वों का पालन करने मे न्यायालय कहाँ तक सहायक हो सकते है? किसी राष्ट्र के अधिकारी राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्थाओ का पालन कहा तक करा सकते हैं? राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के सघर्ष का समाधान किस प्रकार हो सकता है?

इन जटिल प्रश्नो का उत्तर दो प्रकार से दिया जाता है (क) अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों द्वारा इन दोनो कानूनों के सम्बन्ध का प्रश्न हल करना चाहा है और (ख) राज्यों ने अपने क्रियात्मक व्यवहार द्वारा इसका समाधान किया है। यहाँ पहले सैद्धान्तिक पक्ष का तथा बाद मे व्यावहारिक पक्ष का प्रतिपादन किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानूनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे चार विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं —

(१) द्वैतवादी सिद्धान्त (Dualistic Theory) - द्वैतवादी विचारधारा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून की दो सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र पद्धतियाँ है, ये विभिन्न स्रोतो से उत्पन्न होती हैं, इनके विषय सर्वथा भिन्न है और इनके लागू होने के क्षेत्र भी अलग अलग है। (अ) स्रोतों की विभिन्नता—इसके सम्बन्ध मे आपेनहाइम ने लिखा है कि राष्ट्रीय कानून के मूल स्रोत दो प्रकार के है (क) राष्ट्र की सीमाओं के भीतर विकसित हुई प्रथायें, (ख) राष्ट्र की ससद् द्वारा बनाये गये कानून। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो सर्वथा भिन्न स्रोत—राष्ट्रों के परिवार मे विकसित हुई प्रथायें तथा विभिन्न राज्यो द्वारा एक-दूसरे के साथ की गयी सन्धियाँ हैं। (आ) सम्बन्धो की विभिन्नता—राष्ट्रीय कानून अपने राज्य मे रहने वाले नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धो का तथा राज्य और नागरिकों के सम्बन्धो का नियन्त्रण करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो का नियामक है। (इ) दोनो कानूनों की प्रकृति मे बड़ा अन्तर है। राष्ट्रीय कानून देश के नागरिकों पर सर्वोच्च सत्ता रखता है, यह प्रभुसत्तासम्पन्न राजा या पार्लियामेंट द्वारा बनाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण विभिन्न राज्यो के पारस्परिक समझौतों से होता है।

द्वैतवादी सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक जर्मन विधिवेत्ता ट्रीपेल (Triepel) तथा इटालियन विधिशास्त्री तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जज आजिलोत्ती (Anzilotti) हैं। ट्रीपेल ने दोनों पद्धतियों में दो मौलिक भेद माने हैं—(क) राष्ट्रीय कानून का विषय व्यक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय केवल मात्र राज्य है। (ख) राज्य के कानून का आधार राज्य की इच्छा तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार राज्यों की सामान्य इच्छा (Gemeinwille) है। आजिलोत्ती ने दोनों पद्धतियों को सर्वथा पृथक् मानते हुए इस बात पर बल दिया है कि राष्ट्रीय कानून का मौलिक सिद्धान्त इसका आवश्यक रूप से पालन किया जाना है अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार यह सिद्धान्त है कि राज्यों के आपसी समझौतों का सम्मान किया जाना चाहिये, यही Pacta sunt servanda का नियम कहलाता है। इस मौलिक अन्तर के कारण दोनों में संघर्ष की सम्भावना नहीं है।

किन्तु ट्रीपेल और आजिलोत्ती के कथन सर्वथा सत्य नहीं प्रतीत होते। ट्रीपेल का यह कहना ठीक नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय (subject) केवल राज्य हैं। अब व्यक्तियों को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय समझा जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मित्रराष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों के मन्त्रियों उच्च सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकारियों पर न्यूरेम्बर्ग और टोकियो में युद्धापराधों के लिये अभियोग चलाकर निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का केवल विषय राज्य ही नहीं, अपितु व्यक्ति भी हैं। राज्यों की सामान्य इच्छा (Geméinwille) को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार मानने वाली ट्रीपेल की दूसरी स्थापना भी दोषपूर्ण है। यह निश्चय करना बहुत कठिन है कि किन परिस्थितियों में यह इच्छा कानून बनती है। पहले (पृ० ८८) यह बताया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक आधार सन्धियाँ, प्रथायें, कानून के सामान्य सिद्धान्त, न्यायाधीशों के निर्णय, विधिशास्त्रियों के ग्रन्थ, अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (comity) तथा विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले पत्र और घोषणाएं हैं। आजिलोत्ती का मत भी इसी कारण यथार्थ नहीं प्रतीत होता, राज्यों के समझौते को सम्मानित करने (Pacta sunt servanda) की भावना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मौलिक सिद्धान्त नहीं है। इसके अतिरिक्त द्वित्ववादी सिद्धान्त में एकत्ववादी (monistic) सिद्धान्त मानने वाले केलसन (Kelsen) आदि विधिशास्त्रियों ने कुछ अन्य दोष भी दिखाये हैं।

इनके मतानुसार विधिशास्त्र में एक अखण्डता है अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। दोनों का उद्देश्य दो रीतियों से व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित करना है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक-दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र नहीं हैं। राष्ट्रीय कानून राज्य में व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित करता है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य हैं, किन्तु राज्य व्यक्तियों से मिलकर बने होते हैं, अतः अन्ततोगत्वा यह कानून भी व्यक्तियों के आचार का नियन्त्रण करता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संघर्ष दोनों की पृथक् सत्ता का साधक प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे संघर्ष राष्ट्रीय कानून में भी देखे जाते हैं, अनेक

कानूनो की अवैधानिकता (unconstitutionality) इसका सुन्दर उदाहरण है। न्यायालय राष्ट्रीय ससद् द्वारा पास किये गये अनेक कानूनो को या इनके कुछ अशों को राष्ट्र के मौलिक कानून-सविधान के प्रतिकूल होने से अवैधानिक घोषित करते हैं। इस सघर्ष से जब राष्ट्रीय कानून मे द्वित्व की कल्पना नही की जाती तो अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून को सघर्ष के आधार पर पृथक और स्वतन्त्र मानना ठीक नही है, अत इन दोनो का द्वित्ववादी सिद्धान्त यथार्थ नही प्रतीत होता।

(२) एकत्ववादी सिद्धान्त (Monistic Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार कानून एक अखण्ड सत्ता है वह चाहे व्यक्तियो को बाधित करने वाला हो या राष्ट्रो को नियन्त्रित करने वाला हो। विधिशास्त्र (Jurisprudence) ज्ञान का अखण्ड क्षेत्र है, जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक कानूनी पद्धति मान लिया जाय तो उसे विधिशास्त्र से पृथक् नही किया जा सकता। दोनो कानून एक ही विशाल कानूनी पद्धति के दो अग है। यदि दोनो को पृथक माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून कानूनी पद्धति का अग नही है। इस सिद्धान्त के अनुसार कानून वस्तुत एक ऐसी आज्ञा है जिसका पालन इनका विषय बने हुए व्यक्तियो (subjects) को अपनी इच्छा के विरुद्ध करना पड़ता है। उदाहरणार्थ राज्य द्वारा बनाये कानूनो का पालन उसके नागरिकों को बाधित होकर करना पड़ता है। कानून का यह स्वरूप दोनो प्रकार के कानूनो म समान रूप से पाया जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राज्यों के लिये तथा राष्ट्रीय कानून का पालन इसके नागरिको के लिये आवश्यक है। इस प्रकार कानून के स्वरूप की दृष्टि से दोनों मे किसी प्रकार का द्वित्व या भेद नही है। दोनो की पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता नही है। ये वस्तुत एक ही कानूनी पद्धति के परस्परसम्बद्ध दो पार्श्व है। दोनो का प्रादुर्भाव एक ही उच्चतर कानून (Higher law) मे होता है यह सत् और असत् के सिद्धान्तो पर आधारित होता है। इस प्रकार उच्चतर कानून के एक ही उद्गम से प्रादुर्भूत होने के कारण इनमे कोई भिन्नता नही हो सकती। इस सिद्धान्त का विकास प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ। इसके मुख्य समर्थक केलसन (Kelsen) दुगवित (Duguit) दुरखीम (Durkheim), क्राबे (Krabbé) कुज (Kunz) वेरद्रास (Verdross) तथा राइट (Wright) है।

(३) रूपान्तरवाद (Transformation Theory)—यह सिद्धान्त दोनो कानूनो के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे मे यह मानता है कि सन्धियो के अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तियो पर रूपान्तर के माध्यम से लागू किये जाते है। सन्धि के नियमो को जब किसी देश की ससद् या विधानसभा द्वारा अपने देश के कानून के रूप म परिवर्तित कर लिया जाता है तभी इनका पालन होता है। यदि ऐसा रूपान्तर न किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय नियमो का पालन नही हो सकता। किसी सन्धि को राष्ट्रीय कानून के रूप मे बदलना केवल औपचारिक (formal) कार्य नही है, किन्तु वास्तविक (substantive) आवश्यकता है। यह रूपान्तर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वैध बनाता है और व्यक्तियो को इसके पालन के लिये बाधित करता है। इसी सिद्धान्त

का दूसरा नाम विशेष अगीकार (Specific adoption) है, क्योकि किसी सधि को राज्य का विशेष कानून बनाकर ही अगीकार या स्वीकार किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो के मान्य होने के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें राष्ट्रीय कानून का अग बनाया जाय।

इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये ग्रेट ब्रिटेन की प्रत्यर्पण सधियो (Extradition Treaties) का उदाहरण दिया जाता है। पहले ब्रिटिश कानून मे अन्य देशों मे अपराध करके इगलैंड मे भाग कर आये व्यक्तियों को उन देशों को लौटाने की कोई व्यवस्था नही थी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से भगोडे अपराधियो का प्रत्यर्पण आवश्यक समझा जाता है। ग्रेट ब्रिटेन ने इस विषय मे दूसरे देशो के साथ प्रत्यर्पण सधियाँ की। किन्तु इन्हे तब तक लागू नही किया जा सकता, जब तक कि इनके लिये आवश्यक कानून नही बनता या सरकारी आदेश नही निकाले जाते। इसके लिये वहा आर्डर इन-कौंसिल प्रकाशित किये गये और आवश्यक कानून बनाये गये। इस प्रकार प्रत्यर्पण सधियाँ इन कानूनो द्वारा रूपान्तरित होने के बाद ग्रेट ब्रिटेन के राष्ट्रीय कानून का अग बनकर क्रियान्वित होती हैं।

इस सिद्धान्त के आलोचक इसमे निम्नलिखित दोष बताते हैं—(१) यह इस भ्रान्त सिद्धान्त पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानूनो की दो पृथक् और स्वतन्त्र पद्धतियाँ हैं। पहले इस स्थापना का खडन किया जा चुका है। (२) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी सधियो को क्रियान्वित होने के लिये उनका राष्ट्रीय कानून मे परिणत होना आवश्यक है। किन्तु ऐसा नही होता, सब देशों मे इस विषय मे एक जैसी प्रथा का पालन नही होता। अधिकाश सधियाँ स्वय लागू होने वाली (self operating) होती है। इनके लिये कोई राष्ट्रीय कानून नही बनाया जाता। (३) जिन सधियो के बारे मे कानून बनाया जाता है उनमे सधि की व्यवस्थाओं को ज्यो का त्यो रखा जाता है इनमे कोई परिवर्तन नही किया जाता। रूपान्तर का अर्थ तो स्वरूप का बदलना है इन कानूनो मे इनके स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता, अत इसे रूपान्तरवाद कहना सर्वथा भ्रान्त है। वस्तुत यह तो इसको लागू करने की उपयुक्त प्रक्रिया है, इसे क्रियान्वय (Implementation) कहना ही ठीक है। इसलिये उपर्युक्त कारणों से यह सिद्धान्त समीचीन नही प्रतीत होता।

(४) **समर्पणवाद (Delegation Theory)**—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राज्य को यह अधिकार सौंपा जाता है कि वह स्वयमेव यह निर्णय करे कि किसी सधि को कब से लागू किया जायगा और इसकी व्यवस्थाओं का किस प्रकार राष्ट्रीय कानून का अग बनाया जायगा, उनके द्वारा सधियो को क्रियान्वित किये जाने वाली प्रक्रिया और विधियाँ वस्तुत उसी समय मे प्रारम्भ हो जाती हैं, जब कोई राज्य सधि पर हस्ताक्षर करता है। अत सधियो को राज्य द्वारा लागू करने मे कोई रूपान्तर नही होता।

इस सिद्धान्त पर भी रूपान्तरवाद वाली वही आपत्तियाँ की जाती हैं। यह

सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानूनो के पारस्परिक सम्बन्ध को भली भाँति स्पष्ट करने मे असमर्थ है। वस्तुत इस सम्बन्ध को राष्ट्रो के इस विषय मे व्यवहार (Practice) से ही समझा जा सकता है। अत विभिन्न देशो मे इनके पारस्परिक सम्बध का संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय क्षेत्र मे लागू करने के सम्बन्ध मे विभिन्न देशो का व्यवहार (Practice of States with regard to application of International Law in Municipal Sphere)—(१) ग्रेट ब्रिटेन—यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय क्षेत्र म लागू करने की दृष्टि से दो भागो मे बाँटा जाता है—(क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियम (Customary rules), (ख) सन्धियो द्वारा निर्धारित नियम। पहले के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सर्वत्र स्वीकार की जाने वाली प्रथाय तथा नियम इगलैंड के कानून का अग है। इस प्रकार का कानून ब्रिटिश न्यायालय के लिये विदेशी कानून नहीं है, वह ब्रिटिश कानून मे सम्मिलित समझा जाने के कारण उसका अग है। यही सम्मिश्रणवाद (Incorporation theory) का प्रसिद्ध सिद्धान्त है इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून ब्रिटिश कानून मे मिला हुआ या मिश्रित है।

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम लार्ड चान्सलर टैलबोट (Talbot) ने १७३५ मे Barbeut's case मे प्रतिपादित करते हुए लिखा था—'राष्ट्रो का कानून अपने पूर्णतम विस्तार मे इगलैण्ड के कानून का अग है।' ब्रियर्ली ने यह बताया है कि इस विचार के उद्गम का यह कारण था कि उन दिनो राज्यो के पारस्परिक व्यवहार के नियमो के सम्बन्ध मे प्रकृति के कानून (Law of nature) के सिद्धान्त का प्रचलन था, ये बुद्धि एव तर्क द्वारा निश्चित किये जाते थे, कामन ला (Common Law) के नियम भी इसी प्रकार के थे। इस प्रकार दोनों मे सादृश्य होने से अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का, कामन ला की भाँति इगलैण्ड के कानून का अश माना जाना स्वाभाविक था। सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता ब्लैकस्टोन (Blackstone) ने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा था—"राष्ट्रो के कानून के सम्बन्ध म जब कोई प्रश्न इनके क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध मे उत्पन्न होता है तो यह कामन ला के अन्तर्गत समझा जाता है और यह माना जाता है कि यह इस देश के कानून का हिस्सा है।' १८वी शती मे इस सिद्धान्त का समर्थन लार्ड मैन्सफील्ड तथा अन्य जजो ने किया। १९वी शती म Dolder v Huntingfield (1805), Wolff v Oscholm (1817), Novello v Toogood (1823), Emperor of Austria v Day (1861) के मामलो मे उपर्युक्त सिद्धान्त का पोषण किया गया था।

किन्तु इस परम्परागत दृष्टिकोण को न्यायाधीश काकबर्न ने १८७६ म फ्रैंकोनिया (Franconia) के मामले मे अस्वीकार करते हुए कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इंगलिश तट से तीन मील की दूरी तक स्वीकार किये जाने वाले प्रादेशिक समुद्र मे विदेशियो द्वारा किये जाने वाले अपराधो के मामले सुनने का अधिकार ब्रिटिश न्यायालयो को नहीं है। इस निर्णय के प्रभाव को रद्द क

तथा ब्रिटिश न्यायालयों को यह क्षेत्राधिकार देने के लिये १८७८ में पार्लियामेंट ने Territorial Waters Jusrisdiction Act पास किया। किंतु इस निर्णय से इगलैण्ड में अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को ब्रिटिश कानून का अग मानने वाले सम्मिश्रणवाद की सत्यता मे सन्देह उत्पन्न हो गया।

इसका निराकरण करते हुए अनेक परवर्ती निर्णयो मे कुछ शर्तों के साथ उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि की गई। लार्ड एटकिन ने Chung Chi Cheng v R के मामले मे निर्णय देते हुए लिखा था—'(ब्रिटिश) न्यायालय ऐसे नियमो के समूह को सत्ता स्वीकार करते है, जिसे राष्ट्रो ने आपसी व्यवहार मे माना हुआ है। किसी कानूनी प्रश्न पर वे यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि इस विषय के सम्बन्ध मे क्या नियम है और इसे जान लेने के बाद वे इसे उस हद तक घरेलू कानून मे सम्मिश्रित (incorporated) हुआ समझते है, जहा तक यह पार्लियामेंट द्वारा पास किये गये अथवा न्यायालयो द्वारा अन्तिम रूप से घोषित किये नियमो से असगत न हो।" लार्ड एल्वरस्टोन ने West Rand Central Goldmining Company Ltd v The King के मामले मे लिखा था—'जिन पर हमारे देश की सामान्य सहमति है और सामान्य रूप से जिन पर अन्य देशो के साथ हमारे देश ने भी सहमति दी है इन्हे उचित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जा सकता है और जब हमारे राष्ट्रीय न्यायालयो के सम्मुख अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न आयगे तो वे इस कानून को स्वीकार एव लागू करेंगे।'

अधिग्रहण न्यायालयो (Prize Courts) की स्थिति कुछ भिन्न है। ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिये ही बनाये गये हैं। लार्ड पार्कर ने जमोरा (Zamora) के मामले मे लिखा था—'एक ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय निश्चित रूप से पार्लियामेंट के कानून द्वारा बधा होता है। तथापि यह सत्य है कि यदि यह ऐसा कानून पास करे, जिसकी व्यवस्थाये राष्ट्रो के कानून के अनुकूल न हो तो इन्हे नियन्त्रित करते हुए अधिग्रहण न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू नही करेगा।" इगलैण्ड के ये न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल किसी आर्डर-इन कौंसिल का पालन करने को बाध्य नहीं हैं किन्तु इन्हे पार्लियामेंट के द्वारा पास किये कानून का पालन करना पडता है।

सधियो के सम्बन्ध मे ब्रिटिश पद्धति यह है कि निम्नलिखित प्रकार की सधियो के बारे मे पार्लियामेंट की स्वीकृति या कानून अवश्य पास होना चाहिये—(क) ब्रिटिश प्रजाजनो के वैयक्तिक अधिकारो को प्रभावित करने वाली सधियाँ। (ख) कामन ला या पार्लियामेंट के कानून को प्रभावित करने वाली सधियाँ। (ग) ब्रिटिश ताज (Crown) को अतिरिक्त अधिकार देने वाली सधियाँ। (घ) ग्रेट ब्रिटेन की सरकार पर अतिरिक्त वित्तीय दायित्व (financial obligations) डालने वाली सधियाँ। (ङ) जो सधियाँ स्पष्ट रूप से इस शर्त के साथ की जाती है कि इन पर पार्लियामेंट की स्वीकृति ली जायेगी। (च) ब्रिटिश प्रदेश देने (cession) के सम्बन्ध मे की जाने वाली सधियाँ।

निम्नलिखित प्रकार की सन्धियों के लिये पार्लियामैंट की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती--(क) समुद्री युद्ध में ब्रिटिश ताज के युध्यमान (Belligerent) अधिकारों में परिवर्तन करने वाली सन्धियाँ। (ख) मामूली प्रशासकीय समझौते, बशर्ते कि इनमें राष्ट्रीय कानून में कोई परिवर्तन न आता हो और इन पर पार्लियामैंट के अनुसमर्थन (Ratification) की आवश्यकता न हो।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियम या सधि निम्नलिखित अवस्थाओं में ही ब्रिटेन के राष्ट्रीय कानून का अंग बनती है- (१) यह नियम विभिन्न राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त होना चाहिये। Compania Naviera Vascogando v. Christina के मामले में लार्ड मैकमिलन ने यह लिखा था—"सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी सिद्धान्त को हमारे राष्ट्रीय कानून में अंगीकार करने की सर्वसम्मत पहली शर्त यह है कि इसे सभ्य राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के रूप में सामान्य स्वीकृति दी जा चुकी हो तथा यह स्वीकृति अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों, प्रारम्भिक प्रामाणिक पाठ्यग्रन्थों, व्यवहार तथा न्यायालयों के निर्णयों से पुष्ट होती हो।" (२) ये नियम पार्लियामैंट द्वारा पास किये कानूनों और न्यायालयों के निर्णय से असंगत नहीं होने चाहिये। (३) कार्यपालिका (Executive) द्वारा किये गये अनेक कार्यों-जैसे युद्ध-घोषणा तथा नये प्रदेशों को अपने राज्य का अंग बनाने के सम्बन्ध में राष्ट्रीय न्यायालयों को कोई अधिकार नहीं है, भले ही इनसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन होता हो। (४) कुछ विषयों में ब्रिटिश न्यायालयों को कार्यपालिका के प्रमाण-पत्र अथवा प्रामाणिक कथन पर विश्वास करना पड़ता है, जैसे राज्यों की विध्यनुसार (de jure) तथा तथ्यानुसार (de facto) मान्यता, राज्यों की प्रभुसत्ता, राजनीतिक विशेषाधिकारों की माँग करनेवाले व्यक्तियों का दर्जा। (५) राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को अपनी व्याख्या के अनुसार लागू करता है। (६) सन्धियाँ ब्रिटिश पार्लियामैंट द्वारा आवश्यक कानून बन जाने पर ही न्यायालयों द्वारा क्रियान्वित की जाती हैं।

(२) संयुक्त राष्ट्र अमरीका—यहां ग्रेट ब्रिटेन की भांति अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का अंग माना जाता है। न्यायाधीश ग्रे ने Paquete Habana and Lola के मामले में लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का हिस्सा है और जब इस प्रकार के प्रश्न उत्पन्न हों तो उपयुक्त अधिकार क्षेत्र रखने वाले हमारे न्यायालयों द्वारा इस कानून का निर्धारण और प्रशासन होना चाहिये।" सुप्रीम कोर्ट ने Hilton v. Guyot के मामले में कहा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने सुविस्तृततम और व्यापकतम अर्थ में हमारे कानून का भाग है।"

स० रा० अमरीका द्वारा संपुष्ट किये गये सभी समझौतों को अमरीकन न्यायालय स्वीकार करने के लिये बाधित हैं, भले ही ये समझौते अमरीकी कांग्रेस द्वारा पास किये गये कानूनों के प्रतिकूल हों। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्धारण करते हुए इसके विविध स्रोतों—सन्धियों, न्यायालयों के निर्णयों, विधिशास्त्रियों के पाठ्यग्रन्थों और सभ्य राष्ट्रों में प्रचलित प्रथाओं को देखा जाता है, और इसे अपने देश की रीति-

अनुसार ग्रहण किया जाता है। Over the Top (१६२५) के मामले में कहा गया था—'अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार उसी हद तक कानून है, जहाँ तक हम इसे ग्रहण करते है।"

सधियो को स० रा० अमरीका के सविधान में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। सविधान की धारा ६ मे कहा गया है—'स० रा० अमरीका द्वारा की गई सब सधियाँ देश का सर्वोच्च कानून होगी।" अत वहाँ राष्ट्रपति जब किसी सधि को सीनेट द्वारा पास होने के बाद सपुष्ट करता है तो वह अमरीकन कानून का रूप धारण कर लेती है।

ग्रट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका के इस सम्मिश्रणवाद के सिद्धान्त (Incorporation doctrine) को फास, बेल्जियम और स्विट्जरलैंड के न्यायालयो ने भी स्वीकार किया है।

(३) फ्रास—यहा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम उस समय तक राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) का अग समझे जाते है, जब तक कि उनका व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा बनाये अथवा सविधान के नियमो से विरोध न हो। सधियो के विषय मे फ्रेंच न्यायालयो ने परस्पर विरोधी निर्णय किये हैं। कई बार यहाँ न्यायालयो ने सधियो को व्यवस्थापिका परिषदो द्वारा पास किये कानून (Statute Law) से प्रबल माना है, किन्तु कई बार इसके विरोधी दृष्टिकोण को अपनाया है। कुछ सधियो के लिये यह आवश्यक माना गया है कि कानूनो की भाँति उनकी उद्घोषणा (Proclamation) होनी चाहिए। अन्य सधियो का प्रकाशन ही पर्याप्त समझा जाता है।

(४) स्पेन के १६३१ के सविधान की धारा ६ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून देश के कानून का भाग है।

(५) नार्वे—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियम (Customary rules) इस देश के कानून का अग समझे जाते हैं, किन्तु सधियो के देशीय नियम से प्रबल होने के लिये इनका व्यवस्थापिका परिषद् से अनुसमर्थन (Ratification) होना आवश्यक है।

(६) जर्मनी—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बने यहा के वाइमार (Weimar) सविधान की धारा ४ मे यह व्यवस्था की गयी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सार्वभौम रूप मे स्वीकार किये जानेवाले नियम वैध हैं तथा वे जर्मनी के सघीय कानून का अग हैं। किन्तु १६२८ मे जर्मनी के न्यायालय (Reidsgericht) ने एक मामले Reparations Levy Case मे यह निर्णय दिया कि वह पिछले नियम को पहले नियम से प्रबल मानने के सिद्धान्त (posterior derogat priori पश्चिम पूर्वबाधक) को स्वीकार करने को बाधित है और इसने वर्साय की सन्धि (Versailles Treaty) के बारे मे बाद मे बने एक कानून को लागू किया। १६३३ म जर्मनी के सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि आन्तरिक प्रभुसत्ता होने के कारण जर्मनी को यह अधिकार है कि वह यह निर्णय करे कि धारा ४ के अनुसार कौन-सी बातें अन्तर्राष्ट्रीय नियम समझी जायेंगी, उसे यह अधिकार है कि वह किसी सधि की व्यवस्थाओ का विरोध करनेवाला कानून प्रचलित

करे।

(७) सोवियत रूस—रूसी न्यायाधीश क्रिलोव (Krylov) का यह मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तथा आन्तरिक कानून के सामान्य नियम (Norms) परस्पर संयुक्त न होते हुए सहअस्तित्व (Coexistence) रखते हैं। राज्य की सामान्य इच्छा आन्तरिक कानूनों मे तथा सामान्य सधियों मे प्रकट होती है। रिवाजी कानून के सम्बन्ध मे इसकी सहमति मूकभाव (Tacit) से दी जाती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे आने से इसे मूर्तरूप मिलता है।

(८) प्रथम एव द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनो विश्व न्यायालयो (World Courts) ने यह स्वीकार किया है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानूनका माना हुआ सिद्धान्त है कि सधि करने वाले देश सधि द्वारा जो व्यवस्थाये निश्चित करते हैं, उनका विरोध या खण्डन इनमे से किसी देश की व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा पास किये गये कानून द्वारा सभव नही है। सधियाँ राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा प्रबल एव शक्तिशाली होती है।

भारत मे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध—भारतीय सविधान मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बहुत महत्व दिया गया है। इसका उल्लेख राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो (Directive Principles of State) मे है। सविधान के चतुर्थ अध्याय की धारा ५१ मे अन्तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित प्राविधान (Provisions) है—

राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बढ़े।

(ii) राष्ट्रो के मध्य मे न्यायोचित एव सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बने रहे।

(iii) राष्ट्रो के पारस्परिक व्यवहार मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून एव सधियो से उत्पन्न दायित्वो के प्रति सम्मान मे वृद्धि हो।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के पचनिर्णय द्वारा समाधान को प्रोत्साहित किया जाय।

राज्य की नीति के निर्देशक उपर्युक्त तत्वो को लागू करने के सम्बन्ध मे धारा ३६ मे यह कहा गया है कि इन सिद्धान्तो को किसी न्यायालय द्वारा लागू नही किया जा सकता। किन्तु फिर भी यहा प्रतिपादित सिद्धान्त राज्य के शासन-सचालन म मौलिक समभे जायेंगे और राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह कानून बनाते समय इन सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप दे।

भारतीय सविधान की उपर्युक्त धारा ३६ तथा ५१ से यह स्पष्ट है कि यहा शासन-प्रबन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून एव नैतिकता को सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है। यह बात भारतीय न्यायालयो के अनेक निर्णयो से सपुष्ट होती है।

कलकत्ता हाईकोर्ट ने Indian and General Investment Trust Ltd. v Ramchandra Madaraja Deo (A I R 1952 Cal 508) के मामले मे यह निर्णय किया था कि अब तक भारतीय न्यायालय इगलैण्ड के वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो का सदैव अनुसरण करते रहे हैं। किन्तु अब परिस्थितियाँ बदल गई

है, इस समय उनके लिये इगलैण्ड के नियमो का अनुसरण करना आवश्यक नही रहा। सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद भारतीय न्यायालय वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बारे में किसी एक सम्प्रदाय (school) द्वारा प्रतिपादित नियमो को मानने के लिए बाधित नहीं है। भारत अब अपने ऐसे सिद्धान्तो का विकास करने मे स्वतन्त्र है, जो उसके न्याय, निष्पक्षपात तथा उत्तम अन्त करण (Justice, Equity and Good Conscience) के अपने विचारो के अनुकूल हो।"

कलकत्ता हाईकोर्ट ने एक अन्य मामले Shri Krishna Sharma v State of West Bengal के निर्णय मे लिखा था कि "राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करते हुए तथा इसे लागू करते हुए न्यायालय ऐसी व्याख्या (Interpretation) स्वीकार करेंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो से निकाले जानेवाले अधिकारो और दायित्वो के साथ विरोध न रखती हो।"

भारत के दीवानी और फौजदारी प्रक्रिया विधिसग्रहो (Civil Procedure and Criminal Procedure Codes) मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनुसरण करते हुए विदेशी राजाओ तथा दूतो को दीवानी और फौजदारी कार्यवाहियो से उन्मुक्ति (Immunity) प्रदान की गई है। अत यह स्पष्ट है कि भारत मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बडी प्रतिष्ठा प्राप्त है और भारतीय कानून के साथ अनुकूलता रखने वाले इसके नियमो का सदैव पालन किया जाता है।

पांचवां अध्याय

a- 3नम् ... ...

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण

(Codification of International Law)

संहिताकरण का अभिप्राय (The Meaning of Codification)—इसका सामान्य आशय किसी जटिल विषय के नियमों को सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और सुस्पष्ट रूप से संगृहीत करना है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक बड़ा जटिल जजाल है, वह अनेक स्रोतों में प्रादुर्भूत होने के कारण बड़ा अस्पष्ट और अनिश्चित है। इसके सुधार के लिए इसमें संहिताबद्ध करना आवश्यक समझा जाता है। ब्रियर्ली के शब्दों में एक ऐसी संहिता के चार लाभ होंगे,[1]—(क) कानून का विषयानुसार क्रमबद्ध प्रतिपादन होगा। (ख) इसकी व्यवस्थायें अधिक स्पष्टता तथा सरलता से निश्चित हो सकेंगी। (ग) संदेहों का निराकरण होगा। (घ) जिन विषयों में अभी तक नियमों का अभाव है, उसकी पूर्ति होगी। किन्तु किसी भी संहिता से इन चारों उद्देश्यों का पूरा होना संभव नहीं है, क्योंकि जब कोई संहिता बनाई जाती है, तो उस समय उन सारी परिस्थितियों को दूर दृष्टि से देखना संभव नहीं होता, जो भविष्य में इसे लागू करते हुए उत्पन्न होंगी और यह वांछनीय भी नहीं प्रतीत होता कि किसी विषय के इतने विस्तृत और सुनिश्चित नियम बना लिये जाय कि भविष्य में नवीन परिस्थितियों में न्यायाधीशों की व्याख्या द्वारा इनका उचित विकास न हो सके।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में संहिताकरण के मुख्य रूप फेनविक के मतानुसार तीन प्रकार के हैं—(१) राज्यों के मध्य में वास्तव में लागू हो रहे नियमों का क्रमबद्ध रूप में प्रतिपादन, (२) वर्तमान नियमों का ऐसे संशोधनों के साथ संग्रह, जिन से ये आधुनिक युग की आवश्यकताओं को तथा न्यायोचित मानवीय आचरण के लिये निर्धारित मानदण्डों को पूरा कर सकें, (३) वर्तमान कानून की समूची पद्धति का पूर्णरूप से ऐसा पुनर्निर्माण जो नवीन सिद्धान्तों पर आधारित हो। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक अंशों में इतना अधिक दोषपूर्ण है कि इस की संहिता बनाने वाला पहले प्रकार को निरर्थक समझता हुआ उसमें अपने सुझाव और सुधार अवश्य देना चाहता है। इसलिये प्रायः इसके ऐसे आदर्शवादी संग्रह और संहितायें बनती हैं, जिनका वास्तविक परिस्थितियों से कम सम्बन्ध होता है। इन संहिताओं के निर्माताओं को अनेक विरोधी दृष्टिकोणों का सामंजस्य तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संघर्ष का समन्वय करना पड़ता है। यह संहिताकरण इससे होने वाले लाभों को दृष्टि में रखकर किया

१. ब्रियर्ली— दी ला ऑफ नेशन्स, पृ० ७६

जाता है। इसके मुख्य लाभ निम्नलिखित है।

संहिताकरण के लाभ (Advantages of Codification)—इसका पहला बडा लाभ अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्पष्ट, सरल और सुनिश्चित बनाना तथा सदेहो का निराकरण करना है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजो का कार्य सुगम हो जायगा। दूसरा लाभ विरोधो का परिहार और एकरूपता की वृद्धि है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध मे विभिन्न देशो मे विविध प्रकार के नियम प्रचलित है, इनमे तथा अनेक देशो के राष्ट्रीय कानूनो मे अनेक प्रकार की असगतियाँ और विरोध है। नियमो के एक सहिता (code) मे सगृहीत होने से ये दोष दूर हो जायेंगे। तीसरा लाभ इस की अपूर्णताओ के दूर होने का है, इसकी सहिता बनाते हुए इनका ज्ञान होना स्वाभाविक है, इन न्यूनताओ को दूर करने से इसकी समुचित वृद्धि और विकास होगा। चौथा लाभ इसके विकास और प्रगति मे तीव्रता लाने का है, प्रथाओ द्वारा इसका विकास बडी मदगति से हुआ है, यह आधुनिक गतिशील युग के सर्वथा अनुपयुक्त है। इससे इसका विकास अवरुद्ध हो रहा है, सहिताकरण से इस दोष को दूर किया जा सकता है। पाचवा लाभ यह है कि यदि यह कानून अधिक स्पष्ट हो जाता है तो यह सम्भावना की जा सकती है कि इसका पालन करने वाले देशो की सख्या अधिक होगी। इस समय इसकी अस्पष्टता के कारण अधिकाश देश इसे अपने देश मे लागू करना वाछनीय नहीं समझते। सुस्पष्टता बढने पर अनेक देशो द्वारा इसका अगीकार होने से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रतिष्ठा और मर्यादा बढेगी। अत इसका सहिताकरण आवश्यक प्रतीत होता है।

किन्तु उपर्युक्त लाभो के साथ सहिताकरण के कुछ दोष और कठिनाइयाँ भी हैं, इनके कारण अभी तक इसका सन्तोषजनक सहिताकरण नही हो सका।

सहिताकरण के दोष (Demerits of Codification)—इसका पहला बडा दोष इसके स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध करना है। सहिता के सुनिश्चित नियमो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून पथरा कर जड हो जायगा। यह वस्तुत जीवित, वर्धमान और विकासशील प्राणी के तुल्य है, लिखित नियमो की शृखला अपने भारी बोझ से इसका गला घोट डालेगी। कार्डोजो के मतानुसार "रात भर के लिये यात्री को शरण देने वाली सराय उसकी यात्रा का अन्तिम लक्ष्य नही होती। यात्री की भाँति कानून को भी कल की यात्रा के लिये तैयार रहना चाहिये। इसमे विकास का सिद्धान्त बना रहना चाहिये।" सहिताकरण इस विकास पर कुठाराघात करता है। इसमे ऐसा लचकीलापन आवश्यक है, जिससे यह समाज की परिवर्तनशील तथा प्रगतिशील परिस्थितियो मे भी उपयोगी और लाभदायक बना रह सके। अतएव समय समय पर इसका सशोधन होते रहना चाहिये, सहिताकरण इसे सुनिश्चित नियमो का रूप प्रदान करके इसको समयानुकूल बनाने की आवश्यकता कम कर देता है। इसका दूसरा दुष्परिणाम यह है कि सहिताकरण के समय इसके निर्माता विभिन्न नियमो की ऐसी बाल की खाल निकालते हैं कि यह अन्तर्राष्ट्रीय नियमो की मौलिक भावना के प्रतिकूल होती है। तीसरा दुष्परिणाम इससे कानूनी विवादो की वृद्धि तथा समझौतो का न होना है। १९३० मे

राष्ट्रसंघ के कुछ विषयो पर सर्वसम्मत नियम बनाने वाली संहिताओ के निर्माण का प्रयत्न किया था, किन्तु यह सर्वथा विफल रहा। मार्च १९६० मे स० रा० सघ के तत्वावधान मे प्रादेशिक समुद्रो की सीमा के विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाने वाला सम्मेलन किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचे बिना भग हो गया। **चौथी** हानि यह है कि अधिकाश राज्य केवल सन्धियो म ही विश्वास रखते है, उन्ह सहिताकरण मे आस्था नही, वे इसके नियमो से इसलिये भी नहीं बधना चाहते है कि भविष्य मे नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर भी उन्ह इन नियमो का अनुसरण करना पडेगा, सहिता के नियमो को स्वीकार करना भविष्य मे सदा के लिये अपने हाथ पैर बाँध लेना होगा, अत अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये वे इन सहिताओ को प्राय स्वीकार नही करते। इस दशा मे इनके निर्माण का मौलिक उद्देश्य विफल हो जाता है और यह सारा प्रयास निरर्थक प्रतीत होता है। इन दोषो के अतिरिक्त इस कार्य म अनेक बडी कठिनाइयाँ भी है।

सहिताकरण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Codification)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ विषय इतने विवादग्रस्त है कि इनमे सब प्रकार के विरोधी विचारो का समन्वय करते हुए सर्वसम्मत व्यवस्था का नियम बनाना बडा दुस्साध्य कार्य है। सब राज्यों की समानता और प्रभुसत्ता (sovereignty) इनके निर्णय मे **दूसरी** बडी बाधा है। इससे विरोधी दृष्टिकोणो का सामजस्य नही हो सकता प्रत्येक राज्य अपने स्वार्थ की दृष्टि से अपने दृष्टिकोण को सत्य समझता हुआ उसे छोडने के लिए उद्यत नही होता। अब तक इसीलिये सहिताकरण के अधिकाश प्रयत्न विफल हुए है। **तीसरी** बडी बाधा इसके निर्माण सम्बन्धी प्रश्न है। यदि इसका निर्माण करने वाले राज्यो के प्रतिनिधि होते है तो वे अपनी सरकारो के वर्तमान हितो का दृष्टिकोण अपनाये जाने पर बल देते है। किन्तु इनके राजनीतिक स्वार्थ इतने विविध प्रकार के तथा परस्पर विरोधी होते है कि इनम समझौता होना असम्भव हो जाता है। यदि इस कठिनाई को दूर करने के लिए सहिताकरण के लिये राज्यो के प्रतिनिधियो के स्थान पर सुविज्ञ और विख्यात विधिशास्त्रियो (Jurists) का सम्मेलन बुलाया जाय तो इसके निर्णय को स्वीकार या अस्वीकार करना राज्यो की इच्छा पर निर्भर होगा, वे अपने हितो मे विरोध रखने वाले निर्णयो को स्वीकार नही करेंगे।

उपयुक्त दुष्परिणामो तथा दुस्तर बाधाओ के होते हुए भी यह समझा जाता है कि इसके लाभो का पलडा हानियो वाले पलडे से अधिक भारी है। सहिताकरण से अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे सरलता, सुगमता, समरूपता, सुबोधता, क्रमबद्धता और सुव्यवस्था आयेगी। अत विफलताओ के होते हुए भी इसके लिए अनेक प्रयत्न व्यक्तियो एव अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ तथा सगठनो की ओर से किये जाते रहे है। यहाँ इनका सक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

सहिताकरण का सक्षिप्त इतिहास (History of Codification)—(१) **प्रारम्भिक प्रयत्न** (Early Efforts)—ब्रिटिश विधिशास्त्री बेन्थम ने पिछली शताब्दी मे सर्वप्रथम इसके सहिताकरण का प्रयत्न किया और सब सभ्य राज्यो मे शान्ति बनाये

रखने के लिए एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय कानून तैयार किया। फ्रेंच राज्यक्रान्ति होने पर १७९२ मे राष्ट्रीय सम्मेलन (National Convention) ने राज्यो के अधिकारो का घोषणापत्र बनाने का निश्चय किया। यह कार्य एब्वे ग्रेगायर (Abbe Gregoire) को सौंपा गया। उसने १७९५ में इसका २१ धाराओ वाला एक प्रारूप (Draft) तैयार किया, किन्तु इसे राष्ट्रीय सम्मेलन ने स्वीकार नही किया। १८५६ मे पेरिस की घोषणा (Declaration of Paris) मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चार सिद्धान्तो को घोषित किया गया

(क) युद्ध करने वाले राष्ट्रों द्वारा वैयक्तिक स्वामित्व रखने वाले निजी युद्ध-पोतो द्वारा शत्रु पर आक्रमण करने की प्रथा (Privateering) का अन्त कर दिया जाय।

(ख) तटस्थ देशों के जहाज शत्रु के लिए विनिषिद्ध (Contraband) रण-सामग्री के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का वहन कर सकते हैं।

(ग) शत्रु का झण्डा फहराने वाले जहाज पर लदे हुए तटस्थ देशों के माल मे से केवल विनिषिद्ध रण-सामग्री को ही जब्त किया जा सकता है।

(घ) घेराबन्दी या परिवेष्टन (Blockade) के वास्तविक होने के लिए उसका प्रभावशाली होना आवश्यक है।

१९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे संहिताकरण के अनेक प्रयत्न हुए। इनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है—१८६१ मे आस्ट्रियन विधिशास्त्री Alfons Von Domin Petruscheveez का Code Precis d'un code de droit international, १८६२ मे न्यूयार्क के प्रोफेसर फ्रांसिस लीबर का युद्ध के नियम (Laws of War), १८६८ मे स्विट्जरलैण्ड के विधिशास्त्री ब्लशली (Bluntschli) की अनेक भाषाओ मे अनूदित होने वाली ८६२ धाराओ की विस्तृत संहिता (Code), १८६२ मे डेविड डडली का १००८ धाराओ वाला Draft Outlines of International Code नामक ग्रन्थ, १८७४ मे ब्रुसेल्स मे रूस के जार अलेक्जेण्डर द्वितीय की प्रेरणा से बुलाये सम्मेलन ने ६० धाराओ की एक संहिता तैयार की, यह **ब्रुसेल्स घोषणा** कहलाती है। १८८० मे ७ वर्ष पहले घेण्ट (बेल्जियम) मे स्थापित *अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्था* ने अपना ग्रंथ प्रकाशित किया। १८९० मे इटालियन विधिशास्त्री Pasquale Fiori के तथा १९१० मे ब्राजीलियन विधिवेत्ता Epitucio Pessou के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिता सम्बन्धी ग्रन्थो के प्रकाशन हुए। इसी समय इस प्रकार के अन्य ग्रन्थलेखक आपेनहाइम, हाल, फिलिमोर तथा हाइड थे।

(२) हेग सम्मेलन (Hague Conferences 1899 and 1907)—१८९९ मे रूस के सम्राट निकोलस द्वितीय की प्रेरणा से हेग का पहला सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्नो पर विचार के लिये बुलाया गया। इसमे २६ राष्ट्रो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसने संहिता के रूप मे दो महत्वपूर्ण विषयो पर अभिसमय (Conventions) तैयार किये—(१) अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के लिये अभिसमय। (२) स्थल युद्ध के कानूनो और रिवाजो का अभिसमय। पहले अभिसमय

२१- संहिताकरण

के परिणामस्वरूप हेग मे पचनिर्णय के स्थायी न्यायालय (Parmanent Court of Arbitration) की स्थापना हुई। यह सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहिताकरण के इतिहास मे बडा महत्व रखता है। इससे इस प्रवृत्ति को बडा बल और प्रोत्साहन मिला।

दूसरा हेग सम्मेलन १६०७ मे हुआ। इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के १३ महत्वपूर्ण विषयों पर अभिसमयो द्वारा नियम बनाये। ये विषय इस प्रकार है-—युद्ध छेडना, युद्ध छिडने के समय व्यापारी जहाजो का रणपोतो मे परिवर्तन, स्थलीय एव समुद्री युद्ध और तटस्थता के नियम, युद्ध छिडने के समय शत्रु के व्यापारी जहाजो का दर्जा, नौसेनाओ की गोलाबारी, पनडुब्बियो के सम्पर्क मे आने से स्वय विस्फोट करने वाली सुरगे। इसमे कुछ अभिसमय पिछले सम्मेलन के थे। ४४ राज्यो ने इस सम्मेलन मे भाग लिया था।

१६०६ मे लन्दन मे समुद्री युद्ध के नियम बनाने के सम्बन्ध मे महाशक्तियों का एक सम्मेलन हुआ, इसमे विनिषिद्ध वस्तुओ (Contraband) की सूची तैयार करने का प्रयास किया गया। इसके निर्णय लन्दन की घोषणा मे प्रकाशित किये गये।

(३) **राष्ट्रसघ के प्रयत्न** (*Efforts of League of Nations*)—१६२४ मे राष्ट्रसघ की कौंसिल ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहिता बनाने योग्य विषय चुनने के लिये विशेषज्ञों की एक समिति बनायी। इस समिति ने १६२७ मे अपनी रिपोर्ट मे निम्नलिखित सात विषय इसके लिये सर्वथा उपयुक्त और परिपक्व (Ripe) माने—(१) राष्ट्रीयता, (२) प्रादेशिक समुद्र (३) अपने प्रदेश मे हुई विदेशियो की शारीरिक क्षति व सम्पत्ति की हानि के लिये राज्य की जिम्मेवारी, (४) दूतो के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां (Immunities), (५) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तथा सन्धियाँ करने और इनका प्रारूप तैयार करने की विधियां (६) समुद्री डकैती (Piracy), (७) समुद्र की वस्तुओ का उपयोग (Exploitation of the products of sea)। राष्ट्रसघ ने इनमे से पहले तीन विषयो के सहिताकरण के लिए हेग म सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। यह १३ मार्च से १२ अप्रैल १६३० तक हेग मे हुआ। इसने तीन विषयों पर विचार के लिये तीन समितियां बनायी और पहली कमेटी द्वारा तैयार किये निम्नलिखित समझौते इस सम्मेलन ने स्वीकार किये—(क) राष्ट्रीयता कानूनो के सघर्ष के कुछ प्रश्नो के सम्बन्ध मे समझौता। (ख) दोहरी राष्ट्रीयता (Double Nationality) होने पर सैनिक दायित्वो के सम्बन्ध मे समझौता। (ग) राज्यहीनता (Statelessness) के बारे मे समझौता। इन समझौतो को कुछ राज्यों ने अनुसमर्थन (Ratification) द्वारा स्वीकृति प्रदान की। अन्य दो विषयो - प्रादेशिक समुद्रो (Territorial Waters) तथा विदेशियो की शारीरिक तथा साम्पत्तिक क्षति के सम्बन्ध में राज्य के उत्तरदायित्व के प्रश्न पर सम्मेलन मे इतना अधिक मतभेद था कि इन पर कोई समझौता न हो सका।

१६३० के हेग सम्मेलन से बडी आशाये की गयी थी, किन्तु इसमे राज्यों के विभिन्न विषयो पर मतभेद इतने उग्र रूप मे प्रकट हुए कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के

सहिताकरण का भविष्य विचारकों को बहुत उज्ज्वल नहीं प्रतीत हुआ। ओपेनहाइम ने इसकी आलोचना करते हुए यह लिखा कि इस सम्मेलन ने यह प्रदर्शित किया है कि नीतिविषयक मतभेद रखने वाले विषयों पर विधिशास्त्रियों में कभी सहमति या समझौता नहीं हो सकता। इन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सर्वसम्मति का नियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में प्रगति नहीं, किन्तु मन्दता लाने वाला है। सहिताकरण का एक दुष्परिणाम यह है कि अधिक विचार-विमर्श और मीमासा से ऐसे विषयों में भी मतभेद उत्पन्न हो जाता है जिन्हें अब तक सर्वसम्मत समझा जाता था। सहिताकरण का उद्देश्य कानून में एकरूप (uniform) व्यवस्था लाना है, किन्तु विभिन्न राज्यों के विभिन्न स्वार्थ विभिन्न परिस्थितियाँ और विभिन्न कानूनी पद्धतियाँ इस उद्देश्य की पूर्ति में बहुत बाधक है। मतभेद रहित विषयों के सहिताकरण के लिये भी दीर्घकालीन तैयारी और विचार विमर्श की आवश्यकता है।

इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ महत्वपूर्ण नियमों का निर्माण हुआ। १९१९ की वर्साय सन्धि की धारा १७१ के अनुसार विषैली, दम घोटने वाली गैसों के प्रयोग पर पाबन्दी लगायी गयी थी। १९२१-२२ के सम्मेलन में वाशिंगटन में शस्त्रास्त्रों को मर्यादित करने के विषय में एक समझौता किया गया, पनडुब्बियों की लडाई के तथा विषैली गैसों के प्रयोग को वर्जित करने के नियम बनाये गये। १९२३ में विधिशास्त्रियों के एक आयोग ने हवाई लडाई के नियम बनाये। १९२५ में राष्ट्रसघ द्वारा बुलाये एक सम्मेलन में विषैली गैसों के प्रयोग पर पाबन्दी लगायी गयी, १९२९ में रण-क्षेत्र में आहतों और रोगियों के विषय में तथा युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में किये गये पिछले समझौतों में समयानुकूल सशोधन किये गये। १९२४ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अमरीकी संस्था ने अनेक विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहिताकरण का कार्य एक अमरीकी सम्मेलन को सौंपा। १९२८ तक इसने निम्न विषयों पर सात अभिसमय स्वीकार किये—विदेशियों का दर्जा, गृहयुद्ध के समय तटस्थ देशों के कर्तव्य, दूत कार्य करने वाले अधिकारी, वाणिज्यदूत, समुद्री तटस्थता, शरण (Asylum) देने के नियम। १९३९ में अन्तर्अमरीकी तटस्थता समिति को तटस्थता के नियमों की व्यापक और विस्तृत सहिता बनाने का कार्य सौंपा गया।

(४) सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा सहिताकरण का कार्य (United Nations Organisation and Codification) स० रा० सघ के चार्टर की धारा १३ में यह कहा गया है—'जनरल असेम्बली नीचे लिखी बातों के अध्ययन की व्यवस्था करेगी और उनपर अपनी सिफारिशें देगी राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढाने और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रगतिशील विकास तथा उसके सहिताकरण का प्रोत्साहन देना।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९४७ में जनरल असेम्बली ने एक प्रस्ताव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) की स्थापना की। इसके २१ सदस्य होते है[१] ये अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त तथा राष्ट्रों के कानूनों का अगाध

१. आरम्भ में इनकी सख्या १५ थी।

ज्ञान वाले विधिवेत्ता होते है। एक राज्य का इसमे एक से अधिक सदस्य नही हो सकता। ये म० रा० सघ के सदस्य-राज्यो द्वारा दिये प्रतिनिधियो की सूची मे से जनरल असेम्बली द्वारा तीन वर्ष के लिये चुने जाते है। जब इस आयोग की सम्मति मे किसी विषय का संहिताकरण आवश्यक होता है तो यह इस विषय मे अपनी सिफारिश जनरल असेम्बली को धाराओ के या अनुच्छेदो के रूप मे भेजता है तथा इसके साथ टीका के रूप मे इनको पुष्ट करने वाले पूर्वोदाहरणो, सन्धियो, न्यायाधीशो के निर्णयो का तथा इस विषय म विद्यमान सभी मतभेदो और विभिन्नताओ का उल्लेख करना है। धारा २४ के अनुसार इस आयोग का एक कार्य यह भी है कि वह आचारिक (Customary) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिपादन करने वाली सामग्री का सकलन और प्रकाशन करे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के उद्देश्यो को प्रतिपादित करने वाले १९४८ के इस विशेष विधान (Special Statute) म आयोग के कार्यों को दो भागो म बाटा गया है—(१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास (Development of International Law)—इसका अभिप्राय यह है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उन विषयो पर नियमो की प्रारम्भिक रूपरेखा और अभिसमय (Draft Conventions) तैयार किये जाय, जिन विषयो का नियमन तथा नियन्त्रण अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा नही होता था जिनके सम्बन्ध मे अभी तक विभिन्न राज्यो के व्यवहार म आने वाला कानून अच्छी तरह विकसित नही हुआ।" (२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण (Codification)—इसका तात्पर्य 'ऐसे क्षेत्रो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो का अधिक शुद्धता के साथ निर्माण करना तथा व्यवस्थित करना (the more precise formulation and systematisation) है, जिन क्षेत्रो मे राज्यो का विस्तृत व्यवहार (Extensive State practice), पूर्वोदाहरण (Precedent) और सिद्धान्त पहले से ही विद्यमान है।" विधि आयोग का कार्य इन दोनो उद्देश्यो को पूरा करना है। इसका विधान बनाने वालो का यह विचार था कि दोनो उद्देश्यो को पृथक् करनेवाली कोई स्पष्ट भेदक रेखा नही है और संहिताकरण के कार्यों म इन दोनो की पूर्ति आवश्यक है।

जब विधि आयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून की किसी शाखा का प्रगतिशील विकास (Progressive development) का कार्य करता है तो इसका कार्य उसी दशा मे कानूनी महत्व रख सकता है, जब इस विषय म किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हो। इसके लिए विधि आयोग के विधान (Statute) म यह व्यवस्था की गयी है कि यह आयोग उस विषय मे एक प्रारूप अभिसमय (Draft Convention) तैयार करेगा तथा जनरल असेम्बली यह तय करेगी कि इस कानूनी रूप देने के लिए तथा इसके विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करने के लिए क्या उपाय किए जाय। किन्तु जब विधि आयोग किसी विषय का संहिताकरण करता है तो इसके विधान मे इसके सम्बन्ध मे दो व्यवस्थाए है—(क) इसकी रिपोर्ट का प्रकाशन मात्र करना, (ख) जनरल असेम्बली के एक प्रस्ताव द्वारा इस सारी रिपोर्ट को या इसके कुछ हिस्सो का स्वीकार करना। इस विषय मे यह विधान सेसिल हर्स्ट (Cecil Hurst) आदि विद्वानो द्वारा प्रतिपादित इस

मत का समर्थन करता है कि विभिन्न सरकारो द्वारा स्वीकृत किये जाने वाले समझौतो के मूलरूपो को छापने की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे प्रगति के लिये यह अधिक अच्छा है कि इस कानून के सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध और स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियो द्वारा तैयार किये गये नियमो के वैज्ञानिक विवरण (Scientific Statements) प्रकाशित किये जाय। ऐसे विवरण यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से कोई प्रामाणिकता नही रखते, किन्तु इस बात की सभावना है कि ये अपने आन्तरिक गुणो के कारण इस विषय के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो के रूप मे स्वीकार किये जाय और राज्य अपने व्यवहार मे इनका पालन करने लगें तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो के विधिशास्त्र मे इन्हे मान लिया जाय। यह स्पष्ट है कि यदि ऐसे विवरण को जनरल असेम्बली एक प्रस्ताव द्वारा सपुष्ट करती है तो इसका प्रभाव बहुत अधिक होगा, भले ही इसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की सहमति से कानूनी प्रामाणिकता न प्राप्त हुई हो।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का कार्य (Work of International Law Commission)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को कार्य करते हुए २६ वर्ष हो गये है। १९४९ मे इसने निम्नलिखित चौदह विषयो को सहिताकरण के लिये उपयोगी समझा था—(१) राज्यो की मान्यता (Recognition of States), (२) राज्यो तथा सरकार का उत्तराधिकार (Succesion of States and Government), (३) राज्यो की तथा इनकी सम्पत्ति की क्षेत्राधिकार विषयक उन्मुक्तियाँ (Jurisdictional Immunities of States and their property), (४) राष्ट्रीय प्रदेश से बाहर किये गये अपराधो का क्षेत्राधिकार, (५) महासमुद्रो का प्रदेश (Regime of High Seas), (६) प्रादेशिक समुद्रो का क्षेत्र (Regime of Territorial Waters), (७) राष्ट्रीयता (Nationality), (८) विदेशियो (aliens) से व्यवहार, (९) आश्रय का अधिकार (Right of Asylum), (१०) सधियो का कानून (Law of Treaties), (११) राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियाँ (Diplomatic Intercourse and Immunities), (१२) राज्य का उत्तरदायित्व (State responsibility), (१४) पच निर्णय की प्रक्रिया (Arbitral Procedure)। विधि आयोग ने उपर्युक्त १४ विषयो मे से सधियो के कानून, पच निर्णय की प्रक्रिया, महासमुद्रो के क्षेत्रो को प्राथमिकता देने और पहले इनके विषय मे नियम बनाने का निश्चय किया। जनरल असेम्बली ने प्राथमिकता देने वाले विषयो की सूची मे प्रादेशिक समुद्रो के क्षेत्र तथा राजनयिक सम्बन्ध एव उन्मुक्तियो को भी सम्मिलित करने को कहा। इसके अतिरिक्त जनरल असेम्बली ने इसे आश्रय के अधिकार के कानून एव ऐतिहासिक समुद्रो (Historic Waters) पर भी यथासभव शीघ्र ही नियम बनाने को कहा है। अब तक यह उपर्युक्त चौदह विषयो मे से नौ विषयो के नियम तैयार कर चुका है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के कार्य की गति आरम्भिक वर्षों मे बहुत मन्द रही। इसके कई कारण थे। पहला कारण इसके सदस्यो का वर्ष मे केवल थोडे समय

१. ब्रियर्ली—दी ला आफ नेशन्स, पृ० ८३

(Part time) के लिये काम करना था। दूसरा कारण यह था कि इसे एक ही समय मे बहुत अधिक विषयो पर विचार करना पडा। किन्तु बाद मे इसके कार्य की गति तीव्र हो गई और इस समय तक यह जनरल असेम्बली को कई विषयो के समझौतो के प्रारम्भिक रूप या प्रारूप अभिसमय (Draft Codes) तथा सहितायें (Codes) तैयार करके दे चुका है। इसकी पच निर्णय की प्रक्रियाविधि (Arbitral Procedure) इतनी अधिक प्रगतिशील थी कि वह जनरल असेम्बली को रुचिकर न प्रतीत हुई। इसके स्वीकार न होने पर भी यह इस विषय की आदर्श सहिता (Model Code) है। शीत-युद्ध के कारण होनेवाले राजनीतिक विवादो से विधि आयोग का 'शान्ति के विरुद्ध कार्यो तथा अन्तर्राष्ट्रीय अपराध कानून (International Criminal Law) का काम अधुरा पडा है। किन्तु विधि आयोग ने कई विषयो म अपना कार्य पूरा कर लिया है। महासमुद्रो (High Seas) तथा प्रादेशिक समुद्रो (Territorial Waters) के विषय मे तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf), सस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zones), मछलीगाहो (Fisheries) तथा समुद्र के सजीव स्रोतो के सरक्षण (Conservation of the Living Sources of Sea) विषयक समझौतो (Conventions) को १९५८ तथा १९६० के जेनेवा सम्मेलनो (Geneva Conferences) द्वारा तय कराने का मुख्य श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को है। इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सहिताबद्ध करना इस आयोग की महत्वपूर्ण देन है। १९६१ के वियना सम्मेलन (Vienna Conference) ने राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियो (Diplomatic Intercourse and Immunities) पर एक समझौते का प्रारम्भिक रूप (Draft Convention) स्वीकार किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के १९४९ से अब तक किये कार्य से कई परिणाम निकलते हैं। पहला तो यह है कि 'सहिताकरण' (Codification) तथा प्रगतिशील विकास (Progressive development) मे कोई सूक्ष्म अन्तर करना सभव नही है। यद्यपि इन दोनो मे यह महत्वपूर्ण भेद अब तक माना जाता है कि प्रगतिशील विकास की कोई योजना जनरल असेम्बली के प्रस्ताव पर ही आरम्भ की जा सकती है और सहिताकरण का कार्य विधि आयोग स्वयमेव आरम्भ कर सकता है तथापि विधि आयोग किसी विषय का प्रतिपादन करते हुए इन दोनो प्रक्रियाओ मे कोई भेद नही करता। दूसरा परिणाम यह है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रतिष्ठित और पुराने नियमो के सहिताकरण का प्रश्न उठता है तो शीतयुद्ध (Cold War) के राजनीतिक कटु विवाद का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पुराने नियमो को चुनौती दी जाने लगती है। इस समय उत्पन्न होने वाले तीव्र मतभेदो को देखते हुए कई बार सहिताकरण के प्रयत्न की सफलता म बडा सदेह उत्पन्न होने लगता है। इस समय प्राय यह होता है कि योरोपियन राज्यो तथा स० रा० अमरीका द्वारा विकसित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो का घोर विरोध रूस तथा साम्यवादी गुट के देशो द्वारा तथा पश्चिमी साम्राज्यवाद के चगुल मे देर तक फसे रहने के बाद हाल मे स्वतन्त्र हुए एशिया तथा अफ्रीका के राज्यो द्वारा बडी उग्रता के साथ किया जाता है। उदाहरणार्थ,

प्रादेशिक समुद्र की सीमा (Limit of Territorial Waters) १९५८ तथा १९६० के जेनेवा सम्मेलनो मे नही तय हो सकी, क्योकि इगलैड तथा उसके साथी अनेक पश्चिमी देश इसे तीन मील रखना चाहते थे, किन्तु सोवियत रूस ने इसे बारह मील बनाये रखने पर बल दिया। दोनो पक्षो मे इस प्रश्न पर मौलिक एव गहरा मतभेद होने के कारण इस विषय मे कोई समझौता नही हो सका।

इस प्रकार की घटनायें तथा परिस्थितियाँ यह सूचित करती हैं कि सहिताकरण का कार्य जल्दी पूर्ण होने की सभावना नही है। किन्तु इसमे विधि आयोग के कार्यों को असाधारण महत्ता मिल जाती है और यह अधिक आवश्यक प्रतीत होने लगता है कि इस आयोग को ऐसे तीव्र मतभेदो को दूर करने के लिए सर्वसम्मत अन्तर्राष्ट्रीय नियमो की सहिता के निर्माण का प्रयास करना चाहिये। ब्रियर्ली के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के कार्यों की भले ही कितनी आलोचना की जाय, किन्तु इसमे कोई सदेह नही है कि हम इस आयोग से ही यह आशा रख सकते है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरोधी नियमो मे सामजस्य स्थापित करेगा और अब तक विकसित हो रहे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिये आवश्यक कानून की सुदृढ नीव को तैयार करने का प्रयत्न करेगा।[४]

इस आयोग द्वारा किये गये कार्यों का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है —

(अ) राज्यो के अधिकारो तथा कर्त्तव्यों की प्रारूप घोषणा (Draft Declaration on Rights and Duties of States)—इसमे राज्यो के चार अधिकार माने गये हैं—(१) स्वतन्त्रता, (२) राज्य के प्रदेश पर क्षेत्राधिकार, (३) समानता का अधिकार, (४) सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध के लिये वैयक्तिक या सामूहिक आत्मरक्षा का अधिकार। राज्यो के कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं (१) महस्तक्षेप। (२) दूसरे राज्य मे गृहयुद्ध को प्रोत्साहित न करना। (३) अपने राज्य मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था को खतरा पहुँचाने वाली परिस्थितियो को न उत्पन्न होने देना। (४) युद्ध के मार्ग का अवलम्बन न करना। (५) किसी दूसरे राज्य की प्रादेशिक अखण्डता या राजनैतिक स्वतन्त्रता को खतरे मे न डालना। (६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियमो का पालन। (७) विवादो का शान्तिपूर्ण उपायो से समाधान। (८) अपने क्षेत्राधिकार मे विद्यमान सभी व्यक्तियो के साथ मानवीय अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रताय प्रदान करने वाला व्यवहार। इसमे जाति, धर्म, भाषा आदि का कोई भेदभाव न रखते हुए सबके साथ समान बर्ताव होना चाहिये।

(आ) न्यूरेम्बर्ग सिद्धान्तो का निर्माण (Formulation of Nuremberg Principles)—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मित्रराष्ट्रो ने द्वितीय विश्वयुद्ध छेड़ने तथा इसमे अनेक प्रकार के युद्धापराध करने वाले जर्मनी के प्रधान सेनापतियो तथा प्रमुख अधिकारियों पर न्यूरेम्बर्ग में मुकद्दमे चलाये थे। छत्तीसवें अध्याय मे इनका वर्णन होगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास मे यह सर्वथा नवीन पद्धति थी। अन्तर्राष्ट्रीय

४. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ८६

विधि आयोग ने जुलाई १९५० मे न्यूरेम्बर्ग मे चलाये अभियोगों मे तथा चार्टर मे स्वीकार किये युद्धापराधो के ७ सिद्धान्त निश्चित किये। ये इस प्रकार है—(१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लघन के कार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति इसके लिये उत्तरदायी और दण्डभागी होता है। (२) ऐसे व्यक्ति की रक्षा राष्ट्रीय कानून (Municipal law) द्वारा नहीं हो सकती। यदि राष्ट्रीय कानून किसी अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के लिये दण्ड-व्यवस्था नहीं करता तो अन्तर्राष्ट्रीय अपराध करने वाला व्यक्ति इस आधार पर अपनी रक्षा नही कर सकता कि उस व्यक्ति का राष्ट्रीय कानून उसे इस विषय मे निर्दोष समझता है। (३) राज्यों के तथा सरकारो के अध्यक्ष प्राय सरकारी कार्यों की जिम्मेवारी से मुक्त होते है, वे न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से मुक्त होते है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अपराध करने वाले व्यक्ति को, उसका राज्य या शासन का अध्यक्ष होना न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से तथा अपराध की जिम्मेवारी से मुक्त नही करा सकता। (४) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अपराध करने वाला कोई व्यक्ति इस आधार पर अपने को निर्दोष नही सिद्ध कर सकता कि उसने यह कार्य अपनी सरकार के आदेश पर किया है। (५) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से जिस व्यक्ति पर कोई अपराध या आरोप लगाया गया है, उसे यह अधिकार है कि वह कानून एव तथ्यो के आधार पर अपनी रक्षा कर सके। (६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से दण्डनीय अपराध निम्नलिखित हैं—(क) शान्ति के विरुद्ध किये गये अपराध, (ख) युद्धापराध, (ग) मानवता के विरुद्ध अपराध। (७) उपर्युक्त अपराधो मे सहयोग देना भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अपराध है।

(इ) मानव जाति की शान्ति और सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की प्रारूप संहिता (Draft Code of Offences against the Peace and Security of mankind)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अपनी तीसरी बैठक मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को सकट मे डालने वाले अपराधों का स्वरूप निर्धारित करने वाली संहिता (code) का प्रारम्भिक रूप बनाया है। इसमे निम्नलिखित अपराधो का समावेश किया गया है—(१) आक्रमण (Aggression) का कोई कार्य। आक्रमण की परिभाषा यह है कि राष्ट्रीय अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के उद्देश्य के अतिरिक्त या स० रा० सघ के किसी अग के आदेश के पालन के अभाव मे दूसरे राज्य के विरुद्ध सेनाओ का प्रयोग। (२) आक्रमण की धमकी देना। (३) किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध आत्मरक्षा के अलावा स० रा० सघ के आदेश के पालन के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यो से अपनी सशस्त्र सेनाओं को भेजने की तैयारी। (४) किसी अन्य राज्य मे गृहयुद्ध को प्रोत्साहित करना। (५) जातिवध (Genocide)। (६) अवैध उपायो द्वारा दूसरे राज्य के प्रदेश को अपने राज्य का अग बनाना।

(ई) अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय (International Criminal Court)—१९५० मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी अपराधो के विचार के लिये एक न्यायालय की स्थापना पर विचार किया। इसने इसे वाञ्छनीय बताते हुए इसको अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे स्वतन्त्र रखने के लिये कहा। १९५१ मे

जनरल असेम्बली द्वारा इसकी स्थापना के लिये बनाई गई कमेटी ने इसके सम्बन्ध मे निम्नलिखित सिफारिशे की—(१) इसे जनरल असेम्बली के प्रस्ताव द्वारा नही, किन्तु समझौते द्वारा बनाया जाय। (२) यह किसी विशेष उद्देश्य के लिये (Ad hoc) न होकर स्थायी रूप मे बनाया जाय। (३) फौजदारी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ नौ व्यक्ति जनरल असेम्बली द्वारा नौ वर्ष के लिए इसके न्यायाधीश चुने जाय। १९५३ के सशोधित नियमो के अनुसार यह न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी अपराध करने वाले व्यक्तियो का मुकद्दमा सुनने का अधिकार रखता है, भले ही वैधानिक दृष्टि से ऐसे "व्यक्ति उत्तरदायी शासक, सार्वजनिक अधिकारी या निजी वैयक्तिक हैसियत रखने वाले हो।" यह न्यायालय राज्यो द्वारा इस व्यवस्था की सपुष्टि के बाद ही स्थापित होगा।

(उ) अन्य कार्य—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने कई अन्य अन्तर्राष्ट्रीय विषयो मे भी नियम बनाये है। सन्धियो के कानून पर इसने बहुत विचार किया है, सन्धियो की तैयारी, स्वीकृति, सपुष्टि आदि के अनेक नियम बनाये हैं—जहाजो की राष्ट्रीयता, समुद्र मे जीवन की सुरक्षा, रणपोतो के तथा समुद्री डकैती या दास व्यापार करने वाले जहाजो को पकडने के अधिकार। समुद्र के गर्भ मे बिछायी जाने वाली तारो के विषय मे इसने अपने नियम बनाकर राज्यो को विचार के लिये भेजे हैं।

इन नियमो पर राज्यो की सम्मतियां आने पर अ० विधि आयोग ने अपनी पाचवी बैठक मे महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf), महासमुद्रो मे मछली पकडने एव इनके सरक्षण, सस्पर्शी क्षेत्रो (Contiguous Zones) पर नियमो का अन्तिम प्रारूप (Final draft) तैयार किया। जनरल असेम्बली ने इसे महासमुद्रो (High Seas) तथा प्रादेशिक समुद्रो (Territorial Watesr) तथा इनमे सम्बद्ध सभी विषयो पर नियम बनाने का कार्य १९५६ तक पूरा करने को कहा। १९५८ तथा १९६० मे जेनेवा सम्मेलनो द्वारा इन विषयो पर विधि आयोग द्वारा तैयार किये गये नियमो पर विचार हुआ तथा इस विषय के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते (Conventions) किये गये। १९६१ मे वियना सम्मेलन ने विधि आयोग द्वारा तैयार किये राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियो के समझौते को स्वीकार किया। इस आयोग ने स० रा० सघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपयोगी ग्रन्थो, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो की रिपोर्टो, स० रा० सघ की सन्धियो, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वार्षिक विवरणो के प्रकाशन पर बहुत बल दिया है।

विधि आयोग के अतिरिक्त सयुक्त राष्ट्र सघ ने भी कुछ विषयो मे नियम और समझौते बनाये हैं। १९४८ मे सघ ने मानवीय अधिकारो का सार्वभौम घोषणा पत्र (Universal Declaration of Human Rights) प्रकाशित किया था। ६ अप्रैल १९५० को अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित होने चाहियें तथा इनका समावेश एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते मे होना चाहिए। स० रा० सघ ने जातिवध (Genocide) पर भी एक अभिसमय (Convention) किया है। इसके अनुसार जातिवध अर्थात्

किसी राष्ट्रीय, जातीय या नस्ली समूह का समूलोन्मूलन दण्डनीय अपराध है, भले ही इसे करने वाले राज्यों के शासक या सार्वजनिक अधिकारी हों। जातिवध के समझौते को अनेक राज्यों ने सपुष्ट किया है। इसी प्रकार शरणार्थियों के सम्बन्ध में एक व्यापक समझौता किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के अतिरिक्त, विधिशास्त्रियों की अन्त अमेरिकन परिषद् (Inter-American Council of Jurists) ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का सराहनीय कार्य किया है। यह परिषद् वास्तविक सरकारों को मान्यता देने (Recognition of de facto Governments) के तथा राज्य के उत्तरदायित्व (Responsibility) के कानूनों का संहिताकरण करने में तो सफल नहीं हुई, किन्तु इसने क्षेत्रीय शरण (Territorial asylum), तथा राजनयिक (Diplomatic) शरण के कानूनों के बारे में समझौते (Conventions) तैयार किये हैं तथा प्रत्यर्पण और वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के बारे में रिपोर्टें तैयार की है।[1]

संहिताकरण का भविष्य (Future of Codification)—उपर्युक्त विवरण मे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण और भावी विकास इस बात पर निर्भर है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करने वाले राष्ट्र एक-दूसरे पर कितना विश्वास रखते हैं। यह विश्वास राजनीतिक क्षेत्र से भिन्न आर्थिक तथा सामाजिक विषयों के क्षेत्र मे अधिक पाया जाता है, यहा विवादग्रस्त विषयों की कमी है, अत इन क्षेत्रों में संहिताकरण के अधिक सफल होने की आशा है, किन्तु राजनीतिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के क्षेत्र में राज्य अपनी प्रभुसत्ता को विशेष महत्व देते हैं, वे किसी भी ऐसी सन्धि के बन्धन मे नही बधना चाहते, जिससे भविष्य मे उनकी कार्य करने की स्वतन्त्रता मर्यादित एव सीमित हो जाय, अत राजनीतिक क्षेत्र में संहिताकरण की प्रगति आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत मन्द रहेगी।

दूसरा भाग

शान्ति के कानून

(LAWS OF PEACE)

छठा अध्याय

राज्यों का स्वरूप और प्रकार

(The Nature and Classification of State)

राज्य का लक्षण (The Definition of a State)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्देश्य विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करना है, अत इसका प्रधान विषय राज्य ही समझे जाते हैं। इसके यथार्थ ज्ञान के लिए राज्य के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। राज्य की परिभाषा विभिन्न विधिवेत्ताओं ने विविध प्रकार से की है। ब्रिटिश विधिशास्त्री हालैण्ड (Holland) के मतानुसार "*राज्य मनुष्यों के उस समुदाय को कहते हैं, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ हो और जिसमें किसी एक वर्ग की या उल्लेखनीय बहुसख्यक दल की इच्छा इसका विरोध करने वालों के ऊपर चलती हो*"[1]। हाल(Hall) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र की दृष्टि से इसकी परिभाषा करते हुए कहा है—"*स्वतन्त्र राज्य का लक्षण यह है कि उसका निर्माण करने वाला समाज स्थायी रूप से राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए सगठित है। उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और वह बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होता है।*" श्री विल्सन (Wilson) के मत में "एक निश्चित प्रदेश के भीतर कानून के लिए सगठित जनता का नाम राज्य है।" श्री गार्नर (Garner) की परिभाषा के अनुसार "*राज्य बहुसख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है, जो किसी प्रदेश के निश्चित भाग में स्थायी रूप से रहता हो, बाहरी शक्ति के नियन्त्रण से पूर्ण रूप से या आशिक रूप से स्वतन्त्र हो और जिसमें ऐसी सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन नागरिकों के विशाल समुदाय द्वारा स्वभावत किया जाता हो।*"

आपेनहाइम (Oppenheim) के मतानुसार '*एक राज्य की सत्ता तब मानी जाती है, जब जनता अपनी सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign) सरकार की अधीनता में किसी देश में बसी होती है।* राज्य की सत्ता के लिए चार आवश्यक शर्तें हैं—**सर्व-प्रथम** इस में जनता होनी चाहिए। जनता का अभिप्राय समुदाय के रूप में एक साथ जीवन बिताने वाले नर-नारियों के समूह से है, भले ही ये विभिन्न नस्लों, धर्मों या रगों वाले हों। **दूसरी** शर्त—एक प्रदेश का होना आवश्यक है। खानाबदोश जाति राज्य नहीं कहला सकती। **तीसरी** शर्त—सरकार का होना है, अर्थात् इसमें जनता के प्रतिनिधियों के रूप में एक या अनेक व्यक्ति कानून के अनुसार देश का शासन करते हों। **चौथी और अन्तिम** शर्त यह है कि यह सरकार प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign) होनी

---

१. हालैंड—एलीमैंट्स आफ ज्यूरिसप्रूडेन्स, पृ० ४६

चाहिए, प्रभुसत्ता का अभिप्राय सर्वोच्च सत्ता से है, यह अन्य सभी सांसारिक सत्ताओं से स्वतन्त्र होती है।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को महत्त्व देते हुए फिलिमोर (Philimore) ने राज्य का यह लक्षण किया है—'राज्य ऐसी जनता है, जो एक निश्चित भूभाग पर स्थायी रूप से निवास करती हो, जो एक-से कानूनो, आदतो तथा रिवाजो द्वारा बधी हुई हो, जो एक सगठित सरकार के माध्यम के द्वारा अपनी सीमा के अन्तर्गत सब व्यक्तियो तथा वस्तुओ पर स्वतन्त्र प्रभुसत्ता का प्रयोग एव नियन्त्रण करती हो तथा जिसे भूमण्डल के राष्ट्रो के साथ युद्ध एव सधि करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो।'[3]

१९३३ मे सयुक्त राज्य अमेरिका तथा दक्षिण अमरीका के राज्यो के बीच मे हुए माटेविडियो (Montevideo) के समझौते की पहली धारा मे राज्य की चार विशेषतायें बताई गयी हैं—(१) स्थायी आबादी, (२) सुनिश्चित प्रदेश, (३) सरकार, (४) अन्य राज्यो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता। यह क्षमता किसी सघ राज्य (Federation) के सदस्य को नही होती, सरक्षित राज्य (Protectorate) भी वैदेशिक विषयो मे स्वतन्त्र नही होते, अत उन्हे राज्य नही माना जाता। उदाहरणार्थ, भारतीय सघ की विभिन्न इकाइयो–उत्तर प्रदेश, पजाब, बिहार, बगाल, मद्रास आदि को यह अधिकार नही है, अत 'राज्य' कहलाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय परिभाषा की दृष्टि से उन्हे राज्य नही माना जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री हाल (Hall) ने राज्य होने के लिए एक आवश्यक शर्त "योरोपियन सभ्यता का अनुयायी होना बताया है।"[4] उसका यह मत है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून आधुनिक योरोपियन सभ्यता की उपज है, इससे विभिन्न प्रकार की सभ्यता रखने वाले देश अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो और नियमो को नहीं समझ सकते, अत उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय कानून से नियन्त्रित होने वाला राज्य नही माना जा सकता। वे तभी राज्य बन सकते हैं, जबकि वे विधिवत् किसी सधि द्वारा इस कानून को स्वीकार करें। टर्की को योरोप के सभ्य राज्यो मे १८५६ की पेरिस की सधि द्वारा स्वीकार किया गया था। जापान १८८६ मे जेनेवा समझौता स्वीकार करने पर सभ्य राज्य माना गया। आजकल एशिया, अफ्रीका के सभी राज्यो ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धात स्वीकार कर लिए हैं, अत अब हाल की इस शर्त का कोई महत्त्व नही रहा। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से राज्य होने की एक अन्य आवश्यक शर्त इसे अन्य राज्यो द्वारा दी जाने वाली मान्यता (Recognition) है, जब तक इसे यह मान्यता नही मिलती, यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (International person) का रूप नहीं धारण कर सकता।

राज्य के उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि इससे मुख्य आवश्यक तत्व जनता

---

२. आपनहाइम—इण्टरनेशनल ला, ख० १, अष्टम सस्करण, पृ० ११६
३. फिलिमोर—इण्टरनेशनल ला, ख० १, पृ० ८१
४. हाल—इण्टरनेशनल ला, पृ० ४७-४९

(Population), प्रदेश (Territory), राजनैतिक सगठन या सरकार (Government), प्रभुत्व शक्ति (*Sovereignty*), *तथा अन्य राज्यों द्वारा इसे प्रदान की गई* मान्यता (Recognition) है। राज्य के ये तत्व अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अनेक विशेषताओ मे प्रकट होते हैं। इस दृष्टि से किसी भी राज्य मे निम्न पाँच गुण अवश्य होने चाहिए —(१) किसी प्रदेश मे रहने वाले व्यक्तियो को शासित करने का और उन पर कर लगाने का पूरा अधिकार, स्वतन्त्रता (Independence) और प्रभुसत्ता (Sovereignty)। (२) अपनी स्थल, जल और वायुसेनाओ का रखना। (३) अपना पृथक् झण्डा रखना और राजदूत भेजने का अधिकार। (४) युद्ध छेडने और शान्ति सन्धि करने का अधिकार। (५) अन्य राज्यों द्वारा इसकी सत्ता का स्वीकार किया जाना।

राज्यो के मौलिक अधिकार और कर्तव्य (Fundamental Rights and Duties of States)—*जिस प्रकार एक राज्य मे सब नागरिको के कुछ मौलिक अधिकार* और कर्तव्य माने जाते हैं, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कानूनी व्यक्तित्व (Juristic personality) रखने वाले राज्यो के कुछ मूलभूत अधिकार स्वीकार किए जाते है। स० रा० सघ द्वारा स्थापित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) ने राज्यो के अधिकारो और कर्तव्यों का एक प्रारम्भिक रूप (Draft) तय्यार किया है। इसमे निम्न चौदह अधिकारो तथा कर्तव्यो का परिगणन है—(१) स्वतन्त्रता का अधिकार। (२) अपने प्रदेश मे सभी व्यक्तियो और वस्तुओ पर क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) के प्रयोग का अधिकार। (३) अन्य किसी राज्य के आन्तरिक और बाह्य मामलो मे हस्तक्षेप न करने का कर्तव्य। (४) किसी अन्य राज्य के प्रदेश मे गृहयुद्ध की अग्नि न भडकाने का कर्तव्य। राज्य का यह भी फर्ज है कि वह अपने प्रदेश मे विद्यमान किसी सगठन को दूसरे राज्य के गृहयुद्ध मे सहायता न करने दे। (५) प्रत्येक राज्य का अन्य राज्यो के साथ समानता का अधिकार। (६) प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नस्ल, लिंग, भाषा, धर्म के किसी भी भेद भाव के बिना मानवीय अधिकारो तथा मौलिक स्वतन्त्रताओ के सम्बन्ध मे सबके साथ समान रूप से व्यवहार करे। (७) प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने देश म अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा व्यवस्था को सकट मे डालने वाली परिस्थितियां न उत्पन्न होने दे। (८) प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि वह दूसरे देशो के साथ अपने विवादो का निर्णय शान्ति-पूर्ण उपायो से करे। (९) प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि वह राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप मे युद्ध का परित्याग करे, दूसरे राज्यो की प्रादेशिक अखण्डता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता को शक्ति के प्रयोग से या इसकी धमकी द्वारा खतरे मे न डाले। (१०) प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि स० रा० सघ के अधिकार पत्र की नवी धारा का उल्लघन करने वाले को या जिसके विरुद्ध स० रा० सघ निरोधात्मक कार्यवाही कर रहा है, उसको कोई सहायता न दे। (११) प्रत्येक राज्य को यह चाहिये कि वह नवी धारा का उल्लघन करके प्राप्त किये गये किसी प्रदेश मे ऐसा करने वाले राज्य को मान्यता प्रदान न करे। (१२) प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह सशस्त्र हमले से वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करे। (१३) प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि वह

सधियो तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोतो से उत्पन्न होने वाले दायित्वो का पूरी ईमानदारी के साथ पालन करे। (१४) प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि अन्य राज्यो के साथ उसका आचरण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार हो तथा इस सिद्धान्त के अनुकूल हो कि प्रत्येक राज्य की प्रभुसत्ता अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सर्वोच्च सत्ता का अनुसरण करने वाली हो। राज्य के उपर्युक्त अधिकारो मे स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार विशेष महत्व रखते है।

राज्यों का स्वतन्त्रता का अधिकार, इसका स्वरूप तथा इसकी मर्यादा (The Right of Independence)—प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता (Independence) का पूरा अधिकार है, अपने क्षेत्र मे उसे पूरी प्रभुसत्ता (Sovereignty) प्राप्त है। हालैण्ड ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह दो प्रकार की होती है (१) बाह्य प्रभुसत्ता (*External sovereignty*) इसका अभिप्राय दूसरे देशो के बाहरी नियन्त्रण के आधीन न होना है (२) आन्तरिक प्रभुसत्ता (Internal sovereingnty) इसका अर्थ अपने क्षेत्र मे सब कार्यो पर पूरा अधिकार रखना है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य को अपने देश का सविधान बनाने की तथा किन्ही आवश्यक कानूनो का निर्माण करने की पूरी स्वतन्त्रता है, वह अपने देश का शासन प्रबन्ध करने मे सर्वथा स्वाधीन है, उसे अपने देश की विदेश नीति निर्धारित करने की पूरी आजादी है। वह चाहे तो भारत की भाँति विभिन्न शक्तिशाली गुटो से पृथक् रहने (Non alignment) की नीति अपना सकता है या पाकिस्तान की भाँति दूसरे देशो के साथ सैनिक सधियो की नीति वाछनीय समझते हुए उसे ग्रहण कर सकता है। उसे दूसरे देशो के साथ युद्ध छेडने और सधि करने के पूरे अधिकार हैं। वह अपने देश के नागरिकों तथा अपने क्षेत्र मे स्थित विदेशियों के साथ मनचाहा व्यवहार कर सकता है, उसे अपने नागरिको तथा विदेशियो की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है। उसे अपने नागरिको पर अपने क्षेत्र मे तथा विदेशो मे भी पूरा अधिकार है, वह अपने नागरिको का दूसरे देशो से बुला सकता है और उन पर मुकदमा चला सकता है।

राज्य द्वारा अपने प्रदेश मे असीम अधिकार और शक्ति रखने के कारण आस्टिन (Austin) ने प्रभुसत्ता को अपरिमेय (Illimitable) कहा है। उसका यह मत है कि राज्य की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता को किसी प्रकार भी मर्यादित, सीमित और परिच्छिन्न नही किया जा सकता।

किन्तु आस्टिन का यह मत सर्वथा सत्य नही है। राज्य की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता पूर्ण रूप से अमर्यादित और असीम हो, ऐसी बात नही है। इस पर अनेक पाबन्दियाँ और मर्यादायें होती हैं। पहली मर्यादा एक राज्य द्वारा दूसरे देशो के साथ की गई द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय सधियाँ (Multilateral treaties) होती हैं, इनसे राज्य अपने पर कई पाबन्दियाँ लागू करते हैं। दूसरी मर्यादा अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नियमों की है। कोई भी सभ्य राज्य सामान्य रूप से इन नियमों का उल्लघन नही करता। प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों या विदेशियो से मनमाना व्यवहार करने की स्वतन्त्रता होते हुए भी इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि उसका व्यवहार दूसरे देशो

मे क्षोभ या असन्तोष उत्पन्न करने वाला न हो। इसीलिए अपने राज्य मे आने वाले विदेशी राजाओ, शासनाध्यक्षो तथा राजनीतिक प्रतिनिधियो को विशेष अधिकार तथा राज्य के कानूनी बन्धनों से अनेक प्रकार की उन्मुक्तियाँ (Immunities) प्रदान की जाती हैं। प्रत्येक राज्य से यह आशा की जाती है कि वह अपने प्रादेशिक समुद्र (Territorial sea) की सीमा में विदेशो के व्यापारी जहाजो को सुरक्षित रूप से गुजरने का अधिकार देगा। प्रत्येक देश यद्यपि दूसरे राज्य के प्रदेश की सीमा का अतिक्रमण करने की स्वतन्त्रता रखता है, किन्तु वह सदैव ऐसा न करने का पूरा प्रयत्न करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों ने अन्य राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण नीति के व्यवहार की प्रतिज्ञा करते हुए दूसरे देशो के साथ युद्ध छेड़ने के अपने अधिकार पर बहुत बड़ी पाबन्दी लगा ली है।

आपेनहाइम ने यह सत्य ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने की आवश्यकता के कारण वर्तमान काल के स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों को कुछ अंशों मे अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करना पड़ा है।[5] स्टार्क ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए यह लिखा है—"वर्तमान समय मे शायद ही कोई ऐसा राष्ट्र हो, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के हितो की दृष्टि से अपनी स्वतन्त्रता पर कुछ पाबन्दियाँ लगाना स्वीकार न किया हो। अधिकांश राज्य संयुक्त रा० सं० तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सदस्य हैं, इससे इन्होने अन्तर्राष्ट्रीय नीति के इन मामलो मे अपने स्वतन्त्र विवेक पर अनेक प्रकार के बन्धन लगाना स्वीकार कर लिया है। अतः सम्भवतः आजकल यह कहना अधिक सत्य है कि राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) का अभिप्राय शक्ति के उस अवशिष्ट अंश (Residium of Power) से है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित बन्धनो का पालन करने के बाद उसके पास शेष बचा रहता है"[6]। वस्तुतः वर्तमान युग मे राज्यों की प्रभुसत्ता विश्व की महाशक्तियो के दो शक्तिशाली गुटो मे बंट जाने के कारण बहुत क्षीण हो गई है। रूस तथा अमरीका के साथ वारसा, सीटो, नाटो तथा सैण्टो सन्धि संगठनो मे सम्मिलित होने वाले देश इनके साथ सैनिक और आर्थिक समझौते करके अपनी प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता को काफी अंशो मे तिलांजलि दे चुके हैं।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार और कर्तव्य (Rights and Duties of States due to Independence)—स्टार्क के मतानुसार राज्यो की स्वतन्त्रता के कारण उन्हें निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं—

(क) अपने घरेलू मामलो को नियन्त्रित करने का अनन्य (Exclusive) अधिकार।

(ख) विदेशियो को अपने देश मे प्रवेश की अनुमति देने का तथा इन्हें निकालने का अधिकार।

---

५ आपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, ख० १, अष्टम संस्करण पृ०, २९३

६. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल ला, चतुर्थ सं०, पृ० ८३

(ग) अन्य देशो मे इसके दूतो के विशेषाधिकार।

(घ) इसके प्रदेश मे हुए अपराधो पर इसका एकमात्र क्षेत्राधिकार।

इन अधिकारो के साथ राज्य के निम्नलिखित तीन कर्तव्य भी हैं—

(अ) दूसरे राज्यो के प्रदेश पर प्रभुसत्ता के कार्य न करने का कर्तव्य।

(आ) दूसरे राज्य की स्वतन्त्रता तथा सर्वोच्च सत्ता को भग करने वाले कार्यों को स्वय न करने का कर्तव्य तथा अपने नागरिको को ऐसे कार्य करने से रोकने का कर्तव्य।

(इ) दूसरे राज्य के कार्यो मे बाधा न डालने का कर्तव्य।[७]

(अ) पहला कर्तव्य—दूसरे राज्य के प्रदेश मे प्रभुसत्ता के कार्य न करना— यदि कोई राज्य दूसरे राज्य मे अपने कार्यकर्ता इस उद्देश्य से भेजता है कि वे उस राज्य के कानून के विरुद्ध कार्यो को करने वाले व्यक्तियो को पकड कर ले आयें तो वह अपने ऊपर बताये गये कर्तव्य का तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन करता है। १६३५ मे *एक जर्मन शरणार्थी पत्रकार बर्थोल्ड जेकब* (Berthold Jacob) स्विट्ज़रलैण्ड मे निवास कर रहा था, उसे जर्मनी की नात्सी पार्टी के व्यक्ति यहाँ से अपहरण करके जर्मनी ले गये, वहाँ उसको जेल मे डाल दिया गया। स्विस सरकार ने इस आधार पर जर्मनी से जेकब को वापिस करने की माग की कि यह स्विट्ज़रलैण्ड की स्वतन्त्रता का घोर अतिक्रमण (Viola 100) था। स्विस सरकार के कडे रुख के कारण जर्मन सरकार को जेकब स्विट्ज़रलैण्ड को लौटाना पडा। जून १६६० मे नात्सी जर्मनी मे ६० लाख यहूदियो के वध के लिये उत्तरदायी समझे जाने वाले भूतपूर्व गेस्टापो अधिकारी कर्नल आइकमान (Eichmann) को कुछ इज़रायली अर्जेण्टायना से भगाकर इज़राइल ले आये, वहा की सरकार ने इज़राइलियो के इस कार्य को अपनी प्रभुसत्ता का हनन और घोर अतिक्रमण समझा। उसने इज़राइल से इसे लौटाने को कहा और इज़राइल द्वारा आइकमान न लौटाये जाने पर उसने पर यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् मे उठाया। सुरक्षा परिषद् ने २४ जून १६६० को इस विषय मे अर्जेण्टायना का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि इज़राइल नात्सी नेता आइकमान के अपहरण के लिए उसे पर्याप्त क्षतिपूर्ति (Adequate reparations) प्रदान करे, जो स० रा० सघ के तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मानदण्डो के अनुरूप हो। इसके साथ ही इस प्रस्ताव पर यह अमरीकन सशोधन भी स्वीकार कर लिया गया कि एक सदस्य राज्य की प्रभुसत्ता को हानि पहुँचाने वाले ऐसे कार्यों की पुनरावृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरे मे *डाल सकती है। प्रत्येक राज्य द्वारा दूसरे* राज्य की प्रादेशिक प्रभुसत्ता के आदर करने का सिद्धान्त कार्फू चैनल केस (Corfu Channel Case 1949) मे स्वीकार किया गया था। (देखिए प्रथम परिशिष्ट)। इस मामले म न्यायालय की सम्मति थी कि इस जलप्रणाली मे ब्रिटिश विध्वसको को हानि पहुँचने क तीन सप्ताह बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा अल्बानिया के प्रादेशिक

७. स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इन्टरनेशनल लॉ, पृ० ८४

समुद्र मे नवम्बर १९४६ मे सुरगे साफ करने का कार्य अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण था।

राज्य का ऊपर बताया दूसरा (आ) कर्त्तव्य यह भी है कि वह अपनी सीमाओ मे पड़ोसी राज्यो के विरुद्ध राजनीतिक आतकवादी (Terrorist) कार्य करने वाले व्यक्तियो को ऐसे कार्यो से रोके। १९३४ मे मार्सेल्ज के बन्दरगाह मे यूगोस्लाव राजा एलेक्जेण्डर की मेसीडोनियन आतकवादियो द्वारा हत्या पर यह प्रश्न उग्र रूप मे उठा। यूगोस्लाविया ने राष्ट्रसघ मे हगरी की सरकार पर यह आरोप लगाया कि उसके राज्य मे हत्या की तय्यारिया की गयी, किन्तु उसने इनकी जानबूझ कर उपेक्षा की। राष्ट्रसघ ने इस प्रश्न का निर्णय करते हुए कहा कि इस विषय मे प्रत्येक राज्य के दो कर्त्तव्य है—(१) इसे अपने प्रदेश मे राजनीतिक उद्देश्य से किसी आतकवादी कार्य को न तो प्रोत्साहित करना चाहिए और न बर्दाश्त करना चाहिए। (२) राजनीतिक ढग के स्वरूप वाले आतकवादी कार्यो के दमन का पूरा प्रयत्न करना चाहिए और विदेशी सरकार की प्रार्थना पर उसे इस विषय मे पूरी सहायता देनी चाहिए। चीन की साम्यवादी सरकार ने अपने १० जुलाई १९५८ के नोट मे भारत सरकार से यह कहा था कि भारत मे कलिम्पोग चीनविरोधी प्रचार, षडयन्त्र और विघटनकारी कार्यवाहियों का अड्डा बना हुआ है, इससे चीन की "प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता को बड़ा खतरा है"। भारत सरकार को ऐसी विध्वसात्मक कार्यवाहियो का दमन करना चाहिए। भारत सरकार ने अपने २ अगस्त १९५८ के पत्र मे चीन द्वारा दिए गए प्रमाणों का खण्डन करते हुए यह आश्वासन दिया था कि "भारत सरकार अपने प्रदेश मे चीन की गणराज्य सरकार के विरुद्ध कोई कार्य नही होने देगी"। चीनी प्रधान मत्री चौ एन-लाई ने नेपाल सरकार को जुलाई १९६० के आरम्भ मे लिखे अपने पत्र मे यह कहा था कि वह अपने देश मे तिब्बत के विद्रोहियो को अपनी चीन विरोधी कार्यवाहियो का अड्डा न बनने दे, विद्रोहियो को दिया गया कोई प्रोत्साहन चीन द्वारा शत्रुतापूर्ण कार्य समझा जायगा।

दूसरे राज्य के मामलो मे हस्तक्षेप[८] न करना प्रत्येक राज्य का तीसरा (इ) महत्वपूर्ण कर्तव्य है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे हस्तक्षेप (Intervention) की एक विशेष परिभाषा है। इसका लक्षण करते हुए ओपेनहाइम ने लिखा है—"यह एक राज्य द्वारा वास्तविक स्थिति को बनाये रखने या बदलने के उद्देश्य से दूसरे राज्य के कार्यो मे तानाशाही ढग से बाधा डालना (Dictatorial interference) है।"[९]

---

८ अग्रेजी के Intervention तथा Interference के लिए हिन्दी में प्राय हस्तक्षेप शब्द का प्रयोग होता है। वस्तुत दोनों शब्दों में सूक्ष्म अन्तर है। Interference ऐसा हस्तक्षेप है, जिसका मुख्य उद्देश्य किसी कार्य को रोकना या अड़गा डालना है, किन्तु Intervention ऐसा हस्तक्षेप है, जिसका उद्देश्य मतभेद दूर करना या परिस्थिति में सशोधन और सुधार करना है। यहा पहले के लिये दखल या विघ्न डालना और दूसरे के लिये हस्तक्षेप या अन्तरागमन शब्द का प्रयोग किया गया है।

९. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८६

जैक्सन के शब्दो मे 'हस्तक्षेप एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य की स्वतन्त्रता का तानाशाही ढग से अतिक्रमण करना (dictatorial or imperative violation) है। उपर्युक्त दोनो लक्षणो से स्पष्ट है कि हस्तक्षेप दूसरे राज्य द्वारा पहले राज्य की इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक उसके कार्यों मे बाधा डालना तथा उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध चलने के लिए विवश करना है। इसमे सदैव हस्तक्षेप करने वाले राज्य की यह धमकी छिपी रहती है कि उसकी इच्छा पूरी न होने पर इसका दूसरे राज्य की राजनैतिक स्वतन्त्रता पर प्रभाव पड सकता है। हाइड ने इस विशेषता पर बहुत बल दिया है और स्टार्क ने लिखा है कि इससे कम उग्रता वाला कार्य हस्तक्षेप नही कहला सकता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से वह निषिद्ध नही है। ऐसे तानाशाही हस्तक्षेप का सुन्दर ऐतिहासिक उदाहरण १८९५ मे रूस, फ्रास और जर्मनी द्वारा सयुक्त रूप से चीन को दी गयी वह धमकी थी कि वह जापान को शिमोनोसेकी की सन्धि द्वारा दिए गए लिआओटुग के प्रायद्वीप को उससे वापिस ले ले। जापान को अपनी इच्छा के विरुद्ध बाधित होकर यह प्रदेश चीन को वापिस करना पडा था। हस्तक्षेप के विभिन्न प्रकारो का आगे विस्तृत वर्णन किया जायगा।

राज्यों की समानता का अधिकार (Right to Equality)—यद्यपि क्षेत्रफल, जनसख्या, शक्ति, समृद्धि तथा सभ्यता की दशा को देखते हुए विश्व के राज्यो मे बहुत अधिक विभिन्नता और वैषम्य पाया जाता है, किन्तु फिर भी इन सब मे इस दृष्टि से साम्य है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में समान समझे जाते हैं। राज्यो की समानता का यह अभिप्राय है कि सब राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य तुल्य हैं। फेनविक (Fenwick) ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—' प्रत्येक राज्य को अपनी राष्ट्र की सुरक्षा करने का वैसा ही अधिकार है तथा दूसरे की सुरक्षा (security) को बनाये रखने का वैसा ही कर्तव्य है, जैसा अन्य राज्यो को अपनी सुरक्षा करने और दूसरे की सुरक्षा बनाये रखने का है। प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता का समान अधिकार है, इसके अनुसार वह बिना किसी हस्तक्षेप के अपनी घरेलु तथा वैदेशिक नीति का इच्छानुसार निर्धारण कर सकता है। अपनी सीमाओ मे उसे पूरा क्षेत्राधिकार प्राप्त है किन्तु इसके साथ ही उसका यह कर्तव्य है कि वह दूसरे देश के आन्तरिक मामलो मे कोई हस्तक्षेप न करे। प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश के क्रय विक्रय करने का, महासमुद्रो को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करने का, राजदूतों के आदान प्रदान का और सधियां तथा समझौते करने का समान अधिकार है।" स० रा० सघ के अधिकार पत्र मे यह कहा गया है कि इसके सगठन का आधार सब सदस्य राज्यो की सर्वोच्च समानता (sovereign equality) का सिद्धान्त है।

ओपेनहाइम के मतानुसार राज्यो की कानूनी समानता का सिद्धान्त मानने के चार परिणाम हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो और विवादो मे सब राज्यों के समान होने के कारण एक राज्य को एक ही वोट देने का अधिकार होता है। स० रा० सघ मे स० रा० अमरीका और रूस जैसे महाशक्तिशाली और विशाल राज्यो को घाना या ट्यूनिशिया के राज्य की भांति एक ही वोट प्राप्त है। (२) कानूनी तौर से छोटे और

निर्बल राज्यो का तथा बड़े और प्रबल राज्यो का वोट समान महत्व रखता है। (३) कोई राज्य किसी दूसरे राज्य पर अधिकार-क्षेत्र का दावा नही कर सकता। अत. किसी राज्य के राजा पर दूसरा राज्य अपने न्यायालय मे अभियोग नही चला सकता। किसी पूर्ण प्रभुता सम्पन्न राज्य के रणपोतो पर तथा अन्य पोतो पर किसी दूसरे राज्य मे मामला नही चल सकता। (देखिये प्रथम परिशिष्ट में मिघेल बनाम जोहोर के सुल्तान का मामला)। (४) एक राज्य के न्यायालय सामान्य रूप मे दूसरे राज्य के सरकारी कार्यों की वैधता के बारे मे कोई सदेह नही प्रकट करते।

यद्यपि कानूनी तौर से राज्यो के अधिकारो की समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। बड़े राज्यो को छोटे राज्यों की अपेक्षा अनेक विशेष अधिकार प्राप्त हैं। स० रा० सघ की सुरक्षा परिषद् मे पाच बडे राज्यो—स० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, रूस और चागकाई शेक के राष्ट्रवादी चीन को स्थायी रूप से पाच सीटें मिली हुई हैं, जबकि अन्य राज्यो को इसमे चुनाव द्वारा स्थान प्राप्त होता है। इसमे सब राज्यो को जनरल असेम्बली जैसा समान प्रतिनिधित्व नही दिया गया। इसके साथ ही इन पाच महाशक्तियो को वीटो (Veto) या निषेधाधिकार मिला हुआ है, अन्य राज्यो को ऐसा अधिकार नही है। ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका जैसे महादेशो के राजनीतिक प्रतिनिधियो को राजदूत (Ambassador) कहा जाता है, जबकि स्विट्जरलैंड जैसे छोटे राज्यों के प्रतिनिधि केवल मन्त्री (Minister) कहलाते हैं। अतएव सेसिल हर्स्ट (Cecil Hurst) ने यह ठीक ही लिखा है कि 'सब राज्यो की समानता का विचार सर्वथा असत्य है। उनके आकार-प्रकार, जनसख्या, प्रदेश, भौतिक साधनो और समृद्धि मे महान् वैषम्य होने के कारण वे बराबर नही है। वे केवल एक दृष्टि से बराबर हैं कि उन सबको अपने घरेलू मामलो मे इच्छानुसार व्यवस्था करने का पूरा अधिकार है।" ब्रियर्ली (Brierly) ने इस सिद्धान्त की निरर्थकता प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"यह कहना सत्य नही है कि सब राज्यों के अधिकार समान होते है · · राजनीतिक रूप से महाशक्तियों को चिरकाल से राज्यो मे प्रधानता मिली हुई है, राष्ट्र सघ तथा स० रा० सघ के विधानो मे इसे कानूनी प्रधानता मे परिणत किया गया है। कुछ राज्य महाशक्तियों के सरक्षित (Protectorate) राज्य हैं, कुछ राज्यो का अधिकार क्षेत्र समर्पण (Capitulations) की पद्धति के कारण सीमित हो गया है। कुछ राज्यो को अपनी प्रजा के अल्पसख्यक वर्गों के प्रति ऐसी अनेक कानूनी बाध्यताओ का पालन करना पडता है, जिनमे अन्य राज्य मुक्त हैं।"[१०] फेनविक के मतानुसार १९१४ मे ही यथार्थवादियो (Realists) ने कानूनी सिद्धान्तो और कठोर तथ्यो मे इतना विरोध पाया कि वे समानता के सिद्धान्त को कानूनी विरोधाभास (Paradox) समझने लगे।

राज्यों का वर्गीकरण (Classification of States) : (क) स्वतन्त्र राज्य (Independent States)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की दृष्टि से राज्यो को कई वर्गों

१०. ब्रियर्ली—दी ला आफ् नेशन्स, पृ० १२४

मे बांटा जाता है। पहला वर्ग स्वतन्त्र (Independent) राज्यो का है। ये सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न (sovereign) होने से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उपयुक्त विषय हैं। वेस्टलेक (Westlake) के मतानुसार राज्य की स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण से मुक्ति या स्वाधीनता है। स० रा० अमरीका या फ्रास स्वतन्त्र है, क्योंकि अपने आन्तरिक शासन मे या वैदेशिक सम्बन्धो मे वह सब प्रकार के नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त है। स्वतन्त्र राज्य न केवल अपने देश के आन्तरिक शासन प्रबन्ध मे इच्छानुसार व्यवस्था करने मे स्वतन्त्र होता है, किन्तु उसे दूसरे देशो के साथ सधि, विग्रह करने तथा वैदेशिक सम्बन्ध बनाये रखने की पूरी स्वाधीनता होती है, इसमें यह किसी विदेशी अथवा बाह्य सत्ता से नियन्त्रित नही होता।

(ख) परतन्त्र या पराधीन राज्य (Dependent States)—ओपेनहाइम ने सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न राज्यो को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना है। किन्तु लार्ड बर्कनहेड (Birkenhead), वेस्टलेक प्रभृति अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओ का मत इसके प्रतिकूल है। वेस्टलेक के मतानुसार किसी राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनने के लिए यह आवश्यक नही कि वह स्वतन्त्र हो। यदि किसी राज्य की आन्तरिक और वैदेशिक मामलो मे कार्य करने की स्वतन्त्रता अन्य किसी राज्य द्वारा मर्यादित या सीमित कर दी जाती है तो यह परतन्त्र या पराधीन राज्य होता है। इसे नियन्त्रित करने वाले राज्य के साथ इसका वश्यता (subordination) का सम्बन्ध होता है, जैसे ब्रिटिश युग मे १४ अगस्त १९४७ तक भारत ग्रेट ब्रिटेन का वशवर्ती था।

(ग) सयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (Composite International Person)—प्राय राज्य एक सरल अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति माना जाता है, इसमें एक ही राजनैतिक सत्ता और सरकार होती है। किन्तु कई बार दो या अधिक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य इस प्रकार सयुक्त होते हैं कि वे एक ही राज्य प्रतीत होते हैं। कई राज्यो से मिलकर बनने के कारण ऐसा राज्य सरल नही, किन्तु सयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति होता है। ऐसा राज्य मुख्य रूप से चार प्रकार का होता है :—

(अ) वास्तविक सगम (Real Union)—जब दो सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न (sovereign) राज्य एक सधि द्वारा एक सामान्य राजा के अधीन सयुक्त होते हैं और अन्य देशो के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं तो यह सयुक्त राज्य वास्तविक सगम कहलाता है। ये राज्य घरेलू विषयो मे अपनी विभिन्नता और स्वाधीनता बनाये रखते हैं, किन्तु वैदेशिक सम्बन्धो की दृष्टि से एक राज्य के समान कार्य करते हैं। इन्हे एक बनाने वाली सन्धि में यह व्यवस्था की जाती है कि वे एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध नही छेड़ सकते और न ही पृथक रूप से किसी विदेशी शक्ति से लड़ाई कर सकते हैं, अत. अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ये एक होते हैं। किन्तु इन्हे पृथक् रूप से दूसरे देशो के साथ सन्धि करने का अधिकार रहता है। वर्तमान समय मे इस प्रकार का कोई सगम नहीं हैं। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण आस्ट्रिया और हगरी का १८६७ के समझौते द्वारा एकीकरण था। इसके अनुसार आस्ट्रिया ने हगरी को अपना पृथक् राज्य और सरकार बनाने की अनुमति दी, किन्तु हगरी का राजा तथा आस्ट्रिया का सम्राट् एक ही व्यक्ति फ्रांसिस

जोसेफ माना गया। यह दोनो का सयुक्त शासक था। दोनो देशो के वैदेशिक मामलो का युद्ध तथा आर्थिक नीति का सचालन दोनो के सयुक्त मन्त्री करते थे और वे सयुक्त ससद् (Joint Parliament) के प्रति उत्तरदायी होते थे। यह सघ प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक चलता रहा। इसका दूसरा उदाहरण नार्वे और स्वीडन के राज्यो का १८१४ से १६०५ तक एक राजा के नीचे एकीकरण था। डेन्मार्क और आइसलैंड का इस प्रकार का एकीकरण १६४४ मे समाप्त हुआ।

(आ) व्यक्तिगत सगम (Personal Union)—जब दो सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य तथा पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखने वाले राज्य केवल इस आकस्मिक घटना के कारण सयुक्त हो जाते हैं कि एक ही व्यक्ति दोनो का राजा है तो यह व्यक्तिगत सगम होता है। ऐसे राज्य वैदेशिक मामलो की दृष्टि से अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखते हैं। यह इनका वास्तविक सगम से बडा महत्वपूर्ण भेद है। ग्रेटब्रिटेन और हनोवर मे इस प्रकार का व्यक्तिगत सगम १८१४ से १८३७ तक रहा, नीदरलेण्ड्स और लक्जमबर्ग मे १८१५ से १८६० तक और बेल्जियम तथा कागो फ्री स्टेट मे १८८५ से १६०६ तक।

(इ) प्रसधान (Confederation)—कुछ पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाले राज्य किसी सन्धि द्वारा किसी विशेष प्रयोजन के लिए आपस मे इस प्रकार सयुक्त होते हैं कि उनकी प्रभुसत्ता पूरे तौर से बनी रहती है, वे केवल कुछ कार्यों के लिए ही अपना विशिष्ट केन्द्रीय सगठन बनाते हैं, किन्तु इसके अधिकार विशेष प्रयोजनो तक ही सीमित होते हैं। राज्यो का ऐसा समुदाय प्रसधान कहलाता है, इसमे केन्द्रीय सयुक्त सरकार की शासन-सत्ता राज्यों पर निर्भर होती है, उन राज्यो मे रहने वाले नागरिको पर इसे कोई अधिकार नही होता। कुछ उदाहरणो से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जायगी। उत्तरी अमरीका के १३ राज्यो ने १७७६ मे इगलैण्ड की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह किया तथा इसमें सफलतापूर्वक सघर्ष करने और स्वतन्त्र होने के लिए एक प्रसधान (Confederation) बनाया। इगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध मे सफलता पाने के बाद इसे भग किया जा सकता था, किन्तु बाद मे इसने सघराज्य (Federation) का रूप धारण कर लिया। १८१५ मे वियना काग्रेस ने ३८ पूर्णप्रभुतासम्पन्न जर्मन राज्यो का जर्मन प्रसधान (German Federation) बनाया। इसका मुख्य अग डायट (Diet) नामक एक सभा थी, इसमे सब राज्य अपने प्रतिनिधि या दूत भेजते थे। डायट का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विषयो तक सीमित था, और यह केवल इतना ही था कि डायट की आज्ञाओ को न मानने वाले सदस्य राज्य के विरुद्ध अन्य राज्य युद्ध छेड सकते थे, अन्य अवस्थाओ मे सदस्य-राज्यो का परस्पर युद्ध करना सर्वथा वर्जित था। डायट (Diet) को अपने सदस्यों के आन्तरिक शासन प्रबन्ध मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था। इसमे सदस्य राज्यो को कुछ वैदेशिक विषयो मे विदेशी राज्यों से सीधा सम्बन्ध करने का भी अधिकार था। प्रसधान राज्यो के मुख्य उदाहरण हालैण्ड (१५८०–१७६५), जर्मनी (१८१५–६६), स्विट्ज़रलैण्ड (१२६१–१७६८, १८१५–१८४८) राइन (१८०६–१८१३) हैं। इसमे केन्द्रीय सरकार बडी निर्बल होती है, बहुत कम अधिकार रखती

है, उनके प्रयोजन अत्यन्त सीमित होते हैं, इनकी पूर्ति के बाद प्रसन्धानित राज्य (Confederated State) प्राय पृथक् होने की प्रवृत्ति रखते हैं। अतएव यह व्यवस्था अब लुप्त हो गई है, इस समय विश्व मे एक भी प्रसन्धान नही है।

(ई) संघ (Federation)—सघ अथवा सघीय राज्य (Federation state) कई पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्यो के स्थायी सम्मिलन से बनता है, इसे न केवल सदस्य-राज्यो पर अपितु राज्यो के नागरिका पर भी पूरा अधिकार होता है। इसका निर्माण प्राय राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि द्वारा तथा इनकी विधान निर्मात्री परिषद् (Constituent Assembly) द्वारा बनाये गए सविधान द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, १७८७ ई० मे ब्रिटिश प्रभुता से स्वतन्त्र हुए अमरीका के राज्यो ने अपना सविधान बना कर सयुक्त राज्य अमरीका का सघ राज्य बनाया। अन्य सघ राज्यो के उदाहरण स्विट्जरलैण्ड (१८४८ से), मैक्सिको (१८५७ से), अर्जेण्टाइना (१८६० से), कनाडा (१८६७ से), जर्मनी (१८७१–१९१८), ब्राजील (१८९१ से) तथा सोवियत सघ (१९१८ से) हैं। सघ अपने सदस्य-राज्यो के साथ एक नवीन राज्य का रूप धारण करता है, इसे सदस्य राज्यो पर तथा उनके नागरिको पर पूरा अधिकार होता है। इसमे प्रभुसत्ता सघ एव सदस्य राज्यो मे बँटी होती है, सदस्य-राज्य अपने आन्तरिक विषयो मे पूर्ण रूप से स्वाधीन होते हुए भी सघीय राज्य के नियन्त्रण मे रहते हैं।

प्रसधान (Confederation) और सघ (Federation)— दोनो के पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्यों का सम्मिलन होते हुए भी अनेक महत्वपूर्ण भेद है। पहला भेद तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से प्रसन्धान कोई राज्य नही है, क्योकि इसमे प्रभुसत्ता सदस्य राज्यो मे निहित होती है और वे अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बनाये रखते हैं। सघीय राज्य मे प्रभुसत्ता केन्द्र तथा राज्यो मे बँटी होती है, किन्तु वैदेशिक नीति का निर्धारण और सचालन सघीय सरकार द्वारा होता है, अत अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इसका ही विशेष महत्व होता है, न कि इसके सदस्य राज्यों का। प्राय सघ के सदस्य-राज्य कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार नही रखते। इसका एक महत्वपूर्ण अपवाद १९१४ से पहले का सघीय जर्मन राज्य था, क्योकि इसके सदस्य राज्यो को सन्धियाँ करने तथा राजदूत आदान प्रदान करने का अधिकार था। इन दोनों का दूसरा भेद यह है कि प्रसधान मे केन्द्रीय सरकार का अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction) राज्यो तक सीमित होता है, किन्तु सघीय सरकार राज्यो तथा इनके नागरिको पर अपना अधिकार रखती है। तीसरा भेद यह है कि प्रसन्धान राज्यो का एक शिथिल सम्मिलन होता है, किन्तु सघ इनका सुदृढ़ सगठन होता है। चौथा भेद यह है कि प्रसधान विशेष उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अल्पकालिक और अस्थायी सगठन होता है, किन्तु सघ स्थायी सम्मिलन होता है, इसमे सम्मिलित होने के बाद इससे पृथक् होना असम्भव है। पाँचवाँ भेद यह है कि प्रसन्धान मे प्रभुसत्ता केवल राज्यो मे निहित होती है, सघ मे यह सत्ता केन्द्रीय, सघीय सरकार और राज्यो मे बँटी होती है। छठा भेद यह है कि प्रसधान मे केन्द्रीय सरकार सदस्य राज्यों के नागरिको के साथ सम्पर्क मे नही आती, ये केवल अपने राज्य के ही नागरिक रहते हैं। किन्तु सघ मे सघीय सरकार को विभिन्न राज्यो मे रहने वाली

जनता के साथ सीधा सम्पर्क करने का अधिकार होता है। सातवाँ भेद यह है कि प्रसधान मे इसके सदस्य-राज्यों की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता अपने क्षेत्र मे बनी रहती है, किन्तु सघ मे सदस्य-राज्यों की प्रभुसत्ता का अन्त होकर एक नए राज्य का निर्माण होता है। आठवाँ भेद यह है कि प्रसधान मे एक नागरिक केवल अपने राज्य की नागरिकता प्राप्त कर सकता है, किन्तु सघ मे वह इसकी तथा राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेता है।

(घ) वशवर्ती राज्य (*Vassal States*)—स्टार्क के शब्दो मे "जब कोई राज्य किसी अधीश्वर या अधिपति (suzerain) के पूर्ण नियन्त्रण मे हो तो उसकी वश्यता मे रहने के कारण यह वशवर्ती राज्य कहलाता है। इसकी स्वतन्त्रता मर्यादित होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इसकी सत्ता बिल्कुल नगण्य है। फिर भी कुछ वशवर्ती राज्य विशिष्ट परिस्थितियो के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाये रखते हैं। मिश्र ने टर्की का वशवर्ती राज्य होने हुए भी उसकी सहमति लिये बिना विदेशी राज्यो के साथ व्यापारिक और डाकविषयक सधियाँ की थीं।" मिश्र की यह स्थिति १९१४ तक बनी रही। बल्गारिया की टर्की के साथ यही स्थिति १८७८ से १९०८ ई० तक रही। १८७८ तक सर्विया और रूमानिया भी टर्की के वशवर्ती राज्य थे। सामान्य रूप से वशवर्ती राज्य का विदेशी राज्यो से कोई सम्बन्ध नही होता क्योंकि इसका अधिपति इसकी स्वाधीनता को पूरी तरह से हड़प लेता है। अत अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वही इसका प्रतिनिधित्व करता है। आन्तरिक मामलों मे स्वाधीन होने के कारण इसमे प्रभुसत्ता आंशिक (*Partial sovereignty*) होती है, किन्तु वैदेशिक मामलो मे पराधीन होने के कारण इसे 'राष्ट्रों के परिवार' का सदस्य नही माना जाता। ब्रिटिश काल मे हैदराबाद, काश्मीर आदि की भारतीय रियासतें ग्रेट ब्रिटेन के अधीन होने के कारण स्वतन्त्र वैदेशिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नही रख सकती थी। भारत के सुप्रीम कोर्ट ने इस विषय का विवेचन ***कमिश्नर ऑफ इन्कमटैक्स आन्ध्र प्रदेश बनाम एच ई. एच. मीर उस्मान अली बहादुर*** के मामले मे किया (देखिये प्रथम परिशिष्ट)

(ङ) **सरक्षित राज्य** (Protectorate)—जब कोई निर्बल राज्य किसी शक्तिशाली राज्य के साथ सधि करके अपने आपको उसके सरक्षण मे ले आता है तो वह सरक्षित राज्य कहलाता है। इसके परिणामस्वरूप इस राज्य की नीति का निर्धारण तथा महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय एव वैदेशिक सम्बन्धो का सचालन इसका सरक्षण करने वाले राज्य के हाथ मे आ जाता है। सरक्षित राज्य मे तथा वैयक्तिक कानून की अभिभावकता (*Guardianship*) की सस्था मे काफी सादृश्य है।

सरक्षित राज्य अनेक प्रकार के होते हैं। इनका स्वरूप निर्बल और प्रबल राष्ट्र के बीच की गई सन्धि की शर्तों पर निर्भर होता है। किन्तु सरक्षित राज्य होने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि इन दो राज्यों के अतिरिक्त कोई तीसरा राज्य या महाशक्ति उसे मान्यता प्रदान करे। ऐसा होने पर ही सरक्षक राज्य सरक्षित राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रतिनिधित्व कर सकता है। किसी अधिपति के आधिपत्य मे रहने वाले वशवर्ती राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे कोई पृथक् स्थिति नही होती, किन्तु सरक्षित राज्य निर्बल और पराधीन होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनता

है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International personality) और स्थिति रखता है। यह सरक्षक राज्य का पुछल्ला मात्र नही होता। सरक्षक राज्य द्वारा किसी अन्य देश से युद्धरत होने पर यह आवश्यक नही कि सरक्षित राज्य भी उस देश से स्वयमेव लडाई छेड दे, सरक्षक राज्य द्वारा की गई सन्धियाँ सरक्षित राज्य पर बाधित रूप से लागू नही होती। आयोनियन जहाजों (Ionian Ships) के मामले से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

१८१५ की पेरिस की सन्धि के अनुसार आयोनियन द्वीपो को इगलैंड के एकमात्र सरक्षण मे स्वतन्त्र एव स्वाधीन घोषित किया गया था। १८५४ मे ग्रेट ब्रिटेन और रूस मे क्रीमिया का युद्ध छिड गया, इसमे कृष्ण सागर मे कुछ आयोनियन जहाजो को ब्रिटिश क्रूजरो ने इस आधार पर पकड लिया कि आयोनियन ब्रिटिश सरक्षण मे होने के कारण ब्रिटिश प्रजाजन हैं, उसके शत्रु के साथ उनका व्यापार करना अवैध है। किन्तु इस युद्ध मे ग्रेट ब्रिटेन ने आयोनियन द्वीपो की ओर से रूस के विरुद्ध युद्ध की कोई घोषणा नही की थी, अत यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि सरक्षित राज्य होते हुए भी आयोनियन द्वीपो की स्वतन्त्र सत्ता कहाँ तक है और क्या वे अपने सरक्षक राज्य के शत्रु के साथ व्यापार कर सकते हैं। इस विषय मे यह निर्णय किया गया कि इगलैंड और रूस का युद्ध छिड जाने मात्र से ही आयोनियन द्वीप इसमे सम्मिलित नही हो जाते, अतः रूस के साथ उनका व्यापार अवैध नही है। इससे यह स्पष्ट है कि सरक्षित राज्य अपने आन्तरिक अथवा बाह्य मामलो मे पूर्ण स्वतन्त्रता न रखते हुए भी एक पृथक् राजनीतिक सत्ता रखता है। अत. वह अपने युद्ध आदि की घोषणा अपने सरक्षक राष्ट्र से पृथक् और स्वतन्त्र रूप मे करता है। यही कारण है कि जब १६४० मे इटली ने जर्मनी की ओर से मित्र राष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध मे सम्मिलित होने की घोषणा की तो उसके सरक्षित राष्ट्र सैन मेरिनो (San Marino) ने पृथक् रूप से युद्ध घोषणा की।

सरक्षित राज्यो का विकास पिछली दो शताब्दियो मे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास आदि पश्चिमी देशो के साम्राज्यवाद के विकास के कारण हुआ। अब इसकी क्षीणता के साथ इनका ह्रास हो रहा है। जिन राज्यो या प्रदेशो को सीधे रूप मे अपना वशवर्ती बनाने मे दूसरे देशो का प्रबल विरोध होता या अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष उत्पन्न होता, उनको किसी राज्य के सरक्षण मे मान लिया जाता था। एशिया तथा अफ्रीका मे इस प्रकार के बहुत से सरक्षित राज्य थे। इन महाद्वीपो मे नवजागरण से तथा पश्चिमी साम्राज्यवाद का अन्त होने से अब ऐसे देशो की सख्या बहुत कम रह गई है। उदाहरणार्थ, पहले फ्रास का अफ्रीका मे ट्यूनिस और मोरक्को पर, हिन्द चीन मे टोकिन तथा कम्बोडिया पर, स्पेन का मोरक्को पर, अग्रेजो का १९१४ से १९२२ तक मिश्र पर तथा मलाया प्रायद्वीप के राज्यो पर सरक्षण था। किन्तु १९५७ मे ट्यूनिस पर १८८१ से चला आने वाला फ्रास का सरक्षण यहाँ स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना के साथ समाप्त हो गया, इसी प्रकार फ्रास और स्पेन दोनो ने १९५६ मे मोरक्को को सम्पूर्णप्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र राज्य मान लिया। कम्बोडिया ने २५ सित० १९५५ को अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। मलाया के नौ राज्यो का सघ ३१ अगस्त १९५७ को ब्रिटिश सरक्षण से मुक्त हो गया। योरोप मे इस समय दो छोटे देश सरक्षित राज्य हैं। पहला फ्रास

और स्पेन की सीमा पर पिरेनोज पर्वतमाला का छोटा सा राज्य एण्डोरा (Andorra, क्षेत्रफल १७५ वर्ग मी०, जनसंख्या ५,२००) फ्रांस और स्पेन के संयुक्त संरक्षण और आधिपत्य मे है तथा दूसरा सैन मेरिनो (San Marino, क्षेत्रफल ३८ वर्ग मी०, जनसंख्या १४०००) इटली के संरक्षण मे है। १८९० मे ग्रेट ब्रिटेन तथा चीन के साथ हुई संधि के अनुसार सिक्किम पर ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार किया गया था, भारत ने स्वतन्त्र होने के बाद सिक्किम के साथ एक सन्धि द्वारा उस पर अपना संरक्षण स्थापित किया है, इसके अनुसार उसे आन्तरिक विषयों म पूरी स्वतन्त्रता है किन्तु उसकी रक्षा, वैदेशिक नीति तथा संचार साधनों का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है।

(च) सहराज्य (Condominium)—जब किसी विशेष प्रदेश या क्षेत्र पर दो या दो से अधिक बाह्य शक्तियों का संयुक्त नियन्त्रण होता है तो इसे सहराज्य कहा जाता है। १८९८ मे ब्रिटिश फौजो द्वारा सूडान की विजय के बाद इस पर एक सन्धि द्वारा मिश्र और ग्रेट ब्रिटेन का संयुक्त आधिपत्य स्थापित किया गया। १९३६ में पुन एक सन्धि द्वारा इसकी पुष्टि की गयी। किन्तु १९५३ मे एक समझौते द्वारा इस सहराज्य की समाप्ति की व्यवस्था करते हुए यह निश्चय किया गया कि सूडानी स्वयमेव जनमत द्वारा इसका निर्णय करें कि वे मिश्र के साथ मिले रहना चाहते हैं या पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती है। १९ दिसम्बर १९५५ को इस प्रश्न पर हुई मतगणना के बाद १ जनवरी १९५६ से सूडान पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया है। सहराज्य का दूसरा उदाहरण प्रशान्त महासागरवर्ती न्यू हेब्रीडीज का टापू है, इस पर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का संयुक्त शासन है। सहराज्य में जनता पर यद्यपि दोनों देशों की संयुक्त प्रभुसत्ता (Joint sovereignty) होती है, किन्तु शासन करने वाले राज्यों के अधिकार क्षेत्र पृथक् होते है और इनमे निवास करने वालों पर ही उनकी प्रभुसत्ता होती है।

(छ) राष्ट्रमंडल (Commonwealth of Nations)—यह ब्रिटिश साम्राज्य का एक सुदीर्घकालीन विकास है। ब्रिटिश साम्राज्य मे से सर्वप्रथम शनै शनै ब्रिटिश जनसंख्या रखने वाले प्रदेशों मे कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करके स्वाधीन उपनिवेश या डोमिनियन (Dominion) का दर्जा प्राप्त किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य अंग भी स्वतन्त्र होकर डोमिनियन बनने लगे, १९४७ मे भारत और पाकिस्तान स्वाधीन होने के बाद इसका अंग बने, ग्रेट ब्रिटेन द्वारा एशिया और अफ्रीका के अधीनस्थ दूसरे राज्यों को स्वतन्त्रता देने की नीति से इसके सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। १९४८ से इसके सदस्यों के लिए डोमिनियन शब्द का प्रयोग कम होने लगा और इसमें अन्य जातियों की संख्या बढ़ने से राष्ट्रमण्डल के साथ ब्रिटिश शब्द के विशेषण का भी परित्याग कर दिया गया। इस समय राष्ट्रमण्डल के सदस्य प्रत्येक प्रकार से सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य है। वे किसी देश के साथ संधि कर सकते हैं, उन्हे आन्तरिक मामलों मे पूरी स्वाधीनता है। वे अपनी इच्छानुसार कोई भी कानून बना सकते है, ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बनाया कोई भी कानून उन पर लागू नही होता। वे स्वतन्त्र रूप मे संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा छेड़े गये किसी युद्ध म सम्मिलित होना या

न होना पूर्ण रूप से उनकी इच्छा पर निर्भर है। इसके सदस्य एक दूसरे के साथ युद्ध भी कर सकते हैं और तटस्थ भी रह सकते हैं। वैदेशिक और वाह्य विषयों में उनको स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उन्हें दूसरे देशों के साथ दूतों के आदान-प्रदान का पूरा अधिकार है, वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का विषय बनते हैं। भारत और पाकिस्तान राष्ट्रमंडल के सदस्य भी हैं, फिर भी पाकिस्तान ने काश्मीर पर अधिकार करने के लिए भारत पर आक्रमण किया और दोनों के इस विवाद का अब तक कोई अन्तिम हल नहीं हुआ है। ये राष्ट्रमंडल के सदस्य एक दूसरे के साथ स्वतन्त्र देशों की भांति सन्धियां करते हैं, १९४४ में आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड ने अनजक (Anzac) समझौता किया था। स्टार्क के कथनानुसार पिछले सात वर्षों में इसके सदस्य-राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में राष्ट्रमंडलीय नियमों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का प्रयोग बढ़ने लगा है। मंडल के विभिन्न देशों में हाई कमिश्नरों की स्थिति १९५२ के British Diplomatic Immunities Act द्वारा राजनीतिक प्रतिनिधियों और राजदूतों के समकक्ष हो गयी है।[११]

किन्तु पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हुए भी मण्डल के सदस्य अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि वे सब देशों की सामान्य समस्याओं पर एक दूसरे से विचार-विमर्श करते रहें और परस्पर सम्बन्ध बनाये रखें। भारत ने यद्यपि अपने को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य घोषित किया है, किन्तु फिर भी वह इंगलैण्ड के राजा को राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष तथा इसके स्वाधीन राष्ट्रों के 'स्वतन्त्रतापूर्वक सम्मिलन का प्रतीक' मानता है। पाकिस्तान की भी यही स्थिति है।

राष्ट्रमंडल की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिल्कुल निराली है। यह संघीय राज्य नहीं है क्योंकि इसका कोई ऐसा संगठन या अंग नहीं है, जिसे सदस्य-राज्यों तथा उनके नागरिकों पर कोई अधिकार हो। यह प्रसंघान (Confederation) भी नहीं है, क्योंकि इसके सदस्य राज्यों को संयुक्त बनाने वाली कोई सन्धि नहीं है और न ही इन पर अधिकार रखने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता या शक्ति है। यह वास्तविक संगम (Real union) भी नहीं है, क्योंकि इन राज्यों को संयुक्त करने वाली कोई संधि नहीं है। स्टार्क के शब्दों में "राष्ट्रमंडल न तो कोई अधिराज्य (Super state) है और न ही संघ। यह स्वतन्त्र और समान राज्यों का समूह है।"[१२] इसके सब कार्य राज्यों के माध्यम से होते हैं। यद्यपि लन्दन में राष्ट्रमण्डल के प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन होते हैं, इनका उद्देश्य सामान्य नीति का निर्धारण होता है, फिर भी इसके सदस्यों में तीव्र मतभेद होते हैं, १९५६ में स्वेज नहर के क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा हस्तक्षेप पर इसके सदस्यों में उग्र विवाद था, १९६० में दक्षिण अफ्रीका की जातिभेद (Apartheid) की नीति पर भी ऐसा ही विवाद था। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस पर प्रकाश डालते हुए यह ठीक ही कहा था—"सदस्यों में मतभेद होते हुए भी राष्ट्रमंडल का विकास हुआ है। कई बार सदस्यों के परस्पर विरोधी स्वार्थ होते हैं, वे प्रतिकूल

११ स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९४
१२ स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९५

दिशाओं मे इसे ले जाने का प्रयत्न करते हैं, फिर भी वे आपस मे मित्र की भांति मिलते है, एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं और जहा तक हो सके कार्य करने के एक सामान्य मार्ग को ढूढने का प्रयत्न करते है।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रमडल के सदस्य आन्तरिक एवं वैदेशिक मामलो मे पूरी स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता रखते है। उनकी प्रभुसत्ता केवल इसी बात से मर्यादित होती है कि १९३० की शाही परिषद् मे उन्होने शान्ति और युद्ध के महत्व-पूर्ण मामलो मे पारस्परिक विचार-विमर्श करने का निश्चय किया था। किन्तु इससे अन्तर्राष्ट्रीय विषयों मे स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने के बारे मे उन पर कोई प्रतिबंध लागू नही होता। वे पूरी प्रभुसत्ता वाले राज्य होने के कारण अपना पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखते हैं।

(ज) तटस्थीकृत राज्य (Neutralised States)—स्टार्क ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि "तटस्थीकृत राज्य उसे कहते है जिसकी स्वतन्त्रता तथा राज-नीतिक और प्रादेशिक अखण्डता को स्थायी रूप से बनाये रखने की गारण्टी महाशक्तियाँ एक सामूहिक समझौते द्वारा प्रदान करती है और इस प्रकार गारण्टी पाने वाला देश यह शर्त स्वीकार करता है कि वह आत्मरक्षा के अतिरिक्त दूसरे राज्य पर आक्रमण नही करेगा और न ही ऐसी मैत्रीसन्धियो मे सम्मिलित होगा, जिसमे उसकी निष्पक्षता को आंच आये तथा उसे युद्ध करने के लिए बाधित होना पडे।"[13]

शान्ति बनाये रखने के लिए तटस्थीकरण दो उद्देश्यों से किया जाता है (क) लघु राज्यों की शक्तिशाली पडोसी राज्यों से रक्षा की जाय ताकि कही ऐसा न हो कि शक्तिशाली राज्य छोटे राज्यो को हडप कर अधिक शक्तिशाली हो जाय और इस प्रकार विभिन्न बडे राज्यो का शक्ति सन्तुलन (Balance of Power) बिगड जाय, एक राज्य अन्य सभी राज्यों से अधिक शक्तिशाली हो जाय। (ख) महाशक्तियो के राज्यो की सीमाओं के बीच मे वर्तमान अन्तस्थ राज्यो (Buffer States) की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाय। ये दोनो उद्देश्य आगे दिये जाने वाले बेल्जियम और स्विट्ज़रलैंड के उदा-हरणों से स्पष्ट हो जायेंगे।

तटस्थीकरण के लिये यह अनिवार्य है कि यह सामूहिक संविदा (Collective contract) द्वारा सम्पन्न हो। जिस देश का तटस्थीकरण करना हो, उससे सम्बन्ध रखने वाली महाशक्तियां मिलकर एक सन्धि द्वारा उसे स्थायी रूप से यह दर्जा प्रदान करें, जैसे १५ नवम्बर १८३१ को सन्धि द्वारा ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, बेल्जियम, प्रशिया और रूस ने बेल्जियम की स्थायी तटस्थता स्वीकार की। कोई राज्य एकपक्षीय रूप से (Unilaterally) स्वयं अपने तटस्थीकरण की घोषणा नहीं कर सकता। अतएव जब १९३८ में स्विट्ज़रलैण्ड ने अपनी स्वतन्त्रता और तटस्थता की घोषणा स्वयं करने के बाद इसे राष्ट्रसंघ से स्वीकार कराना चाहा तो रूसी प्रतिनिधि श्री लिटविनोव ने इस पर यह आपत्ति उठायी कि वह सभी सम्बद्ध राज्यो से समझौता

१३. वही, पृ० १००

किये बिना ऐसा नही कर सकता ।

तटस्थीकृत (Neutralised) राज्य पर संधि द्वारा यह प्रतिबन्ध लगाया जाता है कि वह आत्मरक्षा के अतिरिक्त दूसरे देश के साथ युद्ध नही छेड सकता तथा वह उस राज्य को लडाई मे घसीटने वाली सैनिक सधिया और समझौते नही करेगा । इन प्रतिबन्धो से उसकी प्रभुसत्ता कुछ अशो मे मर्यादित हो जाती है, किन्तु इस कारण उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और व्यक्तित्व मे कोई अन्तर नही आता ।

तटस्थीकृत राज्यो के निम्न चार कर्तव्य समझे जाते हैं—(१) आत्मरक्षा के अतिरिक्त युद्ध मे सम्मिलित न होना । (२) दूसरे देशो के साथ सैनिक सधिया और समझौतो मे न शामिल होना । (३) आक्रमण होने की दशा म पूरी शक्ति के साथ अपनी रक्षा करना तथा तटस्थीकरण की गारण्टी देने वाले देशो से इसके लिये सहायता मागना । (४) अन्य राज्यो के बीच युद्ध छिडने की दशा मे तटस्थता के नियमो का पालन करना । तटस्थीकरण की गारण्टी करने वाली महाशक्तियो के निम्न कर्तव्य हैं—(१) तटस्थीकृत प्रदेश पर न तो किसी प्रकार का आक्रमण करना और न इसे करने की धमकी देना । (२) जब तटस्थीकृत राज्य पर दूसरा देश आक्रमण करे तो महाशक्तिया सेना द्वारा उसकी सहायता करे और अपनी गारण्टी की रक्षा करें ।

तटस्थीकरण (Neutralisation) **और तटस्थता** (Neutrality) **मे बडा मौलिक अन्तर है** । तटस्थीकरण स्थायी होता है, उसका अनुसरण युद्धकाल मे तथा शान्ति के समय समान रूप से किया जाता है । किन्तु तटस्थता का पालन अन्य राज्यो द्वारा युद्ध छेड दिये जाने पर किया जाता है, यह स्थायी नही होती, युद्ध छिडने के बाद कोई राष्ट्र जब तक चाहे तटस्थ रह सकता है और जब चाहे इसका परित्याग करके युद्ध मे सम्मिलित हो सकता है । किन्तु तटस्थीकृत राज्य ऐसा नही कर सकता, उसे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा सदैव युद्ध से पृथक् रहने का दर्जा प्रदान किया गया है । केवल आक्रमण होने की दशा मे ही वह युद्ध मे सम्मिलित होता है । तटस्थीकरण औदासीन्य (Neutralism) से भिन्न है, क्योकि इसका अर्थ रक्षापरक सैनिक सन्धियो से पृथक् या उदासीन रहना है ।

तटस्थीकृत राज्यो के महत्वपूर्ण उदाहरण स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम, लक्जमबर्ग और आस्ट्रिया हैं । वियना काग्रेस मे २० मार्च १८१५ को ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, फ्रास, पुर्तगाल, प्रशिया, स्पेन, स्वीडन और रूस ने स्विटजरलैण्ड को तटस्थ बनाने के एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये और स्विट्जरलैण्ड ने २७ मई १८१५ को इसे स्वीकार किया । उस समय से उसने अपनी तटस्थता की पूरी रक्षा की है, वह सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य भी इसलिये नही बना कि इसके चार्टर के अनुसार उसे सघ द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध की जाने वाली सैनिक कार्यवाही मे सहयोग देने के लिये बाध्य होना पडता । बेल्जियम का राज्य १८३१ मे बना, इगलिश चैनल पर ब्रिटिश प्रदेश के बिल्कुल सामने अवस्थित होने के कारण इगलैंड इसे किसी विदेशी शक्ति के हाथ मे नही पडने

देना चाहता था, अत इसके जन्म के साथ ही १५ नवम्बर १८३१ को इसे स्थायी रूप से तटस्थ बनाने की एक सन्धि पर ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, बेल्जियम, फ्रास, प्रशिया और रूस ने हस्ताक्षर किये। इसकी पुष्टि १९ अप्रैल १८३९ की लन्दन की सधि द्वारा की गयी। किन्तु १९१४ में जर्मनी ने फ्रास पर आक्रमण के लिये इसकी तटस्थता भग की, इस पर ग्रेट ब्रिटेन इसकी रक्षा के लिये प्रथम विश्वयुद्ध में सम्मिलित हुआ। युद्ध के बाद बेल्जियम के राजा ने एक घोषणा द्वारा बेल्जियम की तटस्थता के समाप्त होने की घोषणा की और वर्साय की सन्धि (धारा ३१) मे मित्र राष्ट्रों ने इसे स्वीकार कर लिया। हिटलर के सत्तारूढ होने पर जब उसने लोकार्नो समझौते को भग किया, राइन प्रदेश में अपनी सेनायें भेजी तो बेल्जियम ने पुन तटस्थता की घोषणा की। २४ अप्रैल १९३७ को ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने तथा १३ अक्टूबर १९३७ को जर्मनी ने इसकी तटस्थता को सुरक्षित रखने का वचन दिया। किन्तु हिटलर की सेनाओं ने इस वचन को भग करते हुए १० मई १९४० को बेल्जियम पर आक्रमण किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बेल्जियम आत्मरक्षा के लिये नाटो (Nato) सन्धि सगठन मे सम्मिलित हो गया (अप्रैल १९४९), अत अब वह तटस्थीकृत राज्य नहीं रहा। लक्जमबर्ग १८१५-१८९० तक हालैण्ड के साथ व्यक्तिगत सगम (Personal Union) मे रहा। हालैण्ड का राजा ही इसका ग्रैण्ड ड्यूक था। किन्तु यह जर्मन प्रसघान (Confederation) का सदस्य था। प्रशिया को १८१५ के बाद इसम सनायें रखने का अधिकार मिला। १८६६ में प्रशिया द्वारा आस्ट्रिया को परास्त करने के बाद जर्मन प्रसघान समाप्त हो गया तथा नैपोलियन तृतीय ने इसे हालैण्ड के राजा में खरीदने का प्रयत्न किया, प्रशिया को इस पर आपत्ति थी। दोनों का सघर्ष दूर करने के लिये १८६७ मे लन्दन की सन्धि द्वारा इसे तटस्थ राज्य माना गया, किन्तु १९१४ मे जर्मनी ने इसकी तटस्थता का अतिक्रमण किया। १५ मई १९५५ की सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया स्थायी रूप से तटस्थ राज्य घोषित किया गया है।

(ख) होली सी तथा वैटिकन नगर (Holy See and Vatican City)—रोम के पोप की स्थिति, पद और सत्ता के लिये होली सी (*Holy See*) शब्द का प्रयोग होता है, रोम के निकट सौ एकड मे फैला हुआ पोप का निवास स्थान वैटिकन नगर कहलाता है। मध्य युग में पोप इटली में विशाल भूप्रदेश का शासक था। १९वीं शती के मध्य मे जब इटली के देशभक्तों ने अनेक राज्यों मे विभक्त अपनी मातृभूमि को एक राजनीतिक सत्ता के नीचे लाने का निश्चय किया तो पोप ने इसका घोर विरोध किया। इसकी परवाह न करते हुए १८७० तक इटली के देशभक्तों ने न केवल विभिन्न छोटे राज्यों का एकीकरण पीडमाण्ट के राजा के नेतृत्व म किया, अपितु पोप के प्रदेशों को भी छीन लिया और उसकी राजधानी रोम पर अधिकार कर लिया। इस पर पोप अपने निवास स्थान वैटिकन मे चला गया और उसने यह घोषणा की कि वह वैटिकन का बन्दी है। फिर भी इटली की सरकार ने पोप के पद और प्रतिष्ठा को देखते हुए 'गारण्टियों के कानून' (Law of Guarantees) द्वारा पोप को सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्यों के शासनाध्यक्षों को भाति कुछ विशेषाधिकार प्रदान किये। किन्तु पाप ने इन्हे

लेना स्वीकार नही किया क्योकि इटली ससद् द्वारा पास किया गया यह कानून भविष्य मे किसी भी भगली ससद द्वारा बदला जा सकता था। पोप का यह कहना था कि यह कानून अन्य राज्यो द्वारा भी पास होना चाहिये ताकि इसमे कोई परिवर्तन न हो सके तथा उसकी स्थिति सुरक्षित रह सके। पोप और इटालियन सरकार मे इस प्रश्न पर बहुत समय तक बडा कटु विवाद चलता रहा।

मुसोलिनी के सत्तारूढ होने के बाद १६२६ मे पोप तथा इटालियन सरकार मे हुई एक सन्धि (Lateran Treaty) द्वारा इस समस्या का समाधान किया गया। इसमे इटली ने रोम के पोप (होली सी) को अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे पूर्ण सत्तासम्पन्न प्रभु (Sovereign) स्वीकार कर लिया। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वैटिकन नगर की सीमाओ मे उसे पूर्ण राजसत्ता दे दी गयी। इसके निवासियो को पृथक् नागरिकता के अधिकार दिये गये। पोप को अन्य देशो के साथ अपने दूतो तथा राजनीतिक प्रतिनिधियो के आदान-प्रदान का अधिकार मिला।

इस समय वैटिकन की स्थिति स्थायी रूप से तटस्थीकृत प्रदेश की है, कोई भी दूसरा राज्य इसकी सीमाओ का अतिक्रमण नही कर सकता। द्वितीय विश्वयुद्ध मे सभी योद्धा राज्यो ने इसकी तटस्थता को बनाये रखा। वैटिकन नगर एक सर्वोच्च प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य है और पोप को उसका अध्यक्ष होने के नाते राजाओ के सब अधिकार प्राप्त हैं। वैटिकन यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखता है, किन्तु उसका प्रदेश और जनसख्या बहुत कम होने से उसका अधिकार क्षेत्र बहुत ही सीमित है। उपर्युक्त सधि मे पोप ने "सासारिक प्रतिद्वन्द्विताओ से तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो" से पृथक् रहने की इच्छा व्यक्त की थी। अत पोप का राज्य अन्य सासारिक राज्यो से सर्वथा भिन्न है, उसकी इन राज्यो मे गणना नही हो सकती। वैटिकन स० रा० सघ का सदस्य नही है।

(अ) मैण्डेट पद्धति (*Mandate System*)—*प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति* पर मित्र राष्ट्रो द्वारा जर्मनी और टर्की से जीते हुए प्रदेशो की व्यवस्था के लिये राष्ट्रसघ के विधान की धारा २२ मे इस पद्धति का प्रतिपादन किया गया था। विजित प्रदेशो को विजेताओ के साम्राज्य का अग बनाने के स्थान पर सघ की सरक्षकता मे इन्हे लिखित समझौतो की कुछ शर्तों के साथ इनके शासन प्रबन्ध का दायित्व सौंपा गया। ये समझौते या सघ द्वारा शासन के लिए दी गई आज्ञाये शासनादेश (Mandate) कहलाते हैं। ये जिन महाशक्तियो को प्रदान किये गये, वे आदेश प्राप्त या आदेश प्रापक (*Mandatory*) कहलाते है। जिन भूभागो के लिये ये आदेश दिये गये थे, उन्हें आदिष्ट (Mandated) कहा जाता है। आदिष्ट प्रदेश सभ्यता की दृष्टि से पिछडे हुए थे, इनका उत्थान सभ्य राज्यो का पवित्र कर्त्तव्य और अमानत समझा गया। मैण्डेट वाले प्रदेशों को विजेता राष्ट्रसघ की अनुमति के बिना अपने साम्राज्य मे नहीं मिला सकते थे।

ये कई दृष्टियो से राज्य मे मिलाये, अगीकृत या अनुबद्ध (Annexed) किये जाने वाले प्रदेशो से अनेक भेद रखने थे—(१) अनुबद्ध प्रदेश पर इसे अपने राज्य मे मिलाने

वाला मनमाना शासन कर सकता है, आदिष्ट (Mandate) प्रदेश पर यह शासन सघ के निरीक्षण और तत्वावधान मे होता था। (२) अनुबद्ध प्रदेश पर विजेता का पूरा स्वामित्व होता है, आदिष्ट प्रदेश पर आदेशप्रापक का कोई ऐसा स्वत्व नहीं था, वह उसको पवित्र धरोहर के रूप मे दिया गया था। (३) अनुबद्ध प्रदेश के सम्बन्ध मे विजेता उसे अपने राज्य मे मिलाने, किसी दूसरे को देने आदि का पूरा अधिकार रखता है, किन्तु आदेशप्रापक राज्य सघ की स्वीकृति के बिना ऐसा कोई कार्य नही कर सकते थे। (४) विजेता को अपने अनुबद्ध प्रदेश के नागरिको को सेना मे भर्ती करने तथा प्रशिक्षित करने का पूरा अधिकार होता है, किन्तु 'बी' तथा 'सी' वर्ग (देखिए नीचे) के मैण्डेट प्राप्त करने वाली शक्तियां अपने आदिष्ट प्रदेश मे केवल आन्तरिक पुलिस या स्थानीय प्रतिरक्षा के लिये ही नागरिको को फौज मे भर्ती कर सकती थी। (५) आदिष्ट प्रदेश (Mandated territory) के निवासी स्वयमेव आदेशप्राप्त राज्य की राष्ट्रीयता नही प्राप्त कर सकते थे। (६) अनुबद्ध प्रदेश मे विजेता अपनी मनचाही आर्थिक व्यवस्था लागू कर सकता है, वह इस प्रदेश मे विदेशी शक्तियो को व्यापार करने से रोक सकता है। किन्तु 'ए' तथा 'बी' वर्ग के आदिष्ट प्रदेशो के लिए आदेशप्रापक (Mandatory) राज्यो पर यह दायित्व डाला गया था कि वे इनके सम्बन्ध मे मुक्त द्वार (Open door) की नीति का अनुसरण करेंगे तथा किसी देश को इनके साथ व्यापार करने से नही रोकेंगे। (७) अनुबद्ध प्रदेश म विजेता इच्छानुसार शासन कर सकता है। किन्तु आदिष्ट प्रदेश के शासन के लिये मैण्डेट प्राप्त करने वाली शक्ति के लिये यह आवश्यक था कि वह इस ढग से शासन करे कि इस प्रदेश का राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक विकास हो। इसे प्रतिवर्ष मैण्डेट के शासन पर राष्ट्रसघ को एक रिपोर्ट देनी पडती थी। राष्ट्रसघ इन प्रदेशो की प्रगति देखने के लिए अपने प्रतिनिधि भेज सकता था। सघ द्वारा मैण्डेटो के निरीक्षण के लिए दस सदस्यो का स्थायी शासनादेश आयोग (Permanent Mandate Commission) था। इसके अधिकाश सदस्य शासनादेशप्रापक देशो से भिन्न देशो के होते थे। यह आयोग आदिष्ट प्रदेश के प्रतिनिधि की उपस्थिति मे इसके शासन के बारे मे सघ को भेजी गई रिपोर्ट पर विचार करता था। आदिष्ट प्रदेश का कोई भी निवासी सघ को इसके शासन के सम्बन्ध में अपनी शिकायतो का आवेदनपत्र भेज सकता था। इन सब प्रतिबन्धों के कारण आदिष्ट प्रदेश अनुबद्ध प्रदेशो (Annexed territories) से सर्वथा भिन्न थे।

राष्ट्रसघ के प्रतिज्ञापत्र की धारा २२ के अनुसार मैण्डेट तीन वर्गों मे बाटे गये थे। प्रथम श्रेणी (Class A) मे तुर्क साम्राज्य के वे प्रदेश थे "जिनका विकास इस अवस्था तक हो चुका था कि वे अस्थायी रूप से स्वतन्त्र राष्ट्र माने जा सकते हैं पर वे जब तक अपने पावो पर खडे नही हो जाते तब तक उन्हे मैण्डेट प्राप्त करने वाले राज्यो का प्रशासनसम्बन्धी परामर्श और सहायता मिलती रहनी चाहिए।" इस श्रेणी मे इराक और पेलेस्टाइन का मैण्डेट ग्रेट ब्रिटेन को तथा सीरिया और लेबनान का शासनादेश फ्रास को प्रदान किया गया।

२ द्वितीय श्रेणी (Class B) मे मध्य अफ्रीका के वे जर्मन उपनिवेश थे,

"जिनके शासन-प्रबन्ध के लिये मैण्डेट पाने वाले देश पूरा उत्तरदायित्व रखते थे और उन्होंने इस दृष्टि से शासन करना था कि निवासियों को अन्त:करण और धर्म की स्वतन्त्रता हो, दासप्रथा, शस्त्र और शराब के व्यापार जैसी कुप्रथाओं का निरोध हो, इनमे सैनिक और नौसैनिक अड्डे न बनाये जाय, पुलिस के प्रयोजन के अतिरिक्त निवासियों को सैनिक शिक्षा न दी जाय।" 'बी' श्रेणी के मैण्डेटो मे ब्रिटिश कैमरून, ब्रिटिश टोगोलैण्ड तथा टागानिक्या ग्रेट ब्रिटेन को,, फ्रेंच कैमरून तथा फ्रेंच टोगोलैण्ड फ्रास को, तथा रुआण्डा उरण्डी बेल्जियम को प्राप्त हुए।

तृतीय श्रेणी (Class C) मे ऐसे मैण्डेट थे, जो अत्यन्त अल्पाकार, बहुत कम आबादी वाले, सभ्यता के केन्द्रो से दूर और मैण्डेट प्राप्त करने वाले राज्यो के प्रदेश के साथ भौगोलिक सान्निध्य रखते थे, इन कारणो से इनका सर्वोत्तम प्रशासन इन्हे मैण्डेट पाने वाले देशो का अग बनाकर ही किया जा सकता था। किन्तु इनके प्रशासन मे स्थानीय जनता के हितो का पूरा ध्यान रखा जाना आवश्यक था। इस प्रकार के मैण्डेटो मे दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका दक्षिण अफ्रीका के सघ को, समोआ न्यूजीलैण्ड को, नौरू ग्रेटब्रिटेन को, प्रशान्त महासागर मे भूमध्यरेखा से उत्तर के जर्मन टापू जापान को, तथा इसके दक्षिण के टापू आस्ट्रेलिया को दिये गये। मैण्डेट व्यवस्था १६१६ से १६४६ तक चलती रही, इसके बाद इसका स्थान न्यास पद्धति ने ले लिया है।

(ट) न्यास पद्धति (Trusteeship System)—स० रा० सघ के चार्टर की धारा ७५ मे वह व्यवस्था की गयी है कि वह न्यास प्रदेशो के प्रशासन और देखभाल के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति की स्थापना करेगा। यह पद्धति इन तीन प्रकार के प्रदेशो पर लागू होती है (धारा ७७)—(क) राष्ट्रसघ के प्रतिज्ञापत्र की धारा २२ के अनुसार आदिष्ट अथवा मैण्डेट वाले प्रदेश, (ख) द्वितीय विश्वयुद्ध मे पराजित राज्यो से छीने गये प्रदेश (ग) राज्यो द्वारा स्वेच्छापूर्वक न्यास पद्धति के लिये स० रा० सघ को प्रदान किये गये प्रदेश। मैण्डेट प्राप्त करने वाले अधिकाश राज्यो ने स्वेच्छापूर्वक अपने प्रदेशो को न्यास पद्धति मे रखना स्वीकार कर लिया है। इसका एकमात्र अपवाद दक्षिण अफ्रीका का यूनियन है, उसने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के मैण्डेट को न्यास प्रदेश नही होने दिया तथा स० रा० सघ द्वारा इसके निरीक्षण के अधिकार को स्वीकार नही किया। इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्शात्मक सम्मति मागी गयी थी। ११ जुलाई, १६५० को न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय किया कि "दक्षिण अफ्रीका इस प्रदेश को न्यास पद्धति मे देने के लिए बाध्य नही है, फिर भी राष्ट्रसघ का उत्तराधिकारी होने के नाते स० रा० सघ का राष्ट्रसघ के स्थान पर इसके निरीक्षण का पूरा अधिकार है। दक्षिण अफ्रीका के यूनियन को इसके शासन-प्रबन्ध की वार्षिक रिपोर्टें जनरल असेम्बली को देनी चाहियें।" किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने अभी तक इस पर सघ के निरीक्षण का अधिकार स्वीकार नही किया। द्वितीय विश्वयुद्ध मे पराजित राज्यो से छीने गये प्रदेशो मे इटली का सुमालीलैण्ड तथा जापान के प्रशान्त महासागर के टापू उल्लेखनीय हैं। सुमालीलैण्ड १३ अप्रैल

१९५० को न्यास प्रदेश के रूप में इटली को १० वर्ष के लिये सौंपा गया था, २ दिसम्बर, १९६० को यह प्रदेश स्वतन्त्र राज्य बन गया। जापान को मैण्डेट के रूप में मिले हुए टापू सामरिक क्षेत्र (Strategic area) वाले न्यास प्रदेश के रूप में स० रा० अमरीका ने प्राप्त किये हैं। चार्टर में इनकी व्यवस्था जानबूझकर इसलिये की गयी थी कि स० रा० अमरीका इन टापुओं को अपनी सुरक्षा के लिये आवश्यक समझता है और अटलाण्टिक चार्टर की घोषणा के कारण वह इन्हें सीधे रूप से अपने राज्य का अंग नहीं बना सकता था।[14] अभी तक किसी राज्य ने न्यास पद्धति के लिये स्वेच्छापूर्वक कोई प्रदेश नहीं प्रदान किये।

न्यास पद्धति के मौलिक उद्देश्य (Objects of Trusteeship System)—चार्टर की धारा ७६ के अनुसार ये निम्नलिखित हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ाना, (२) न्यास प्रदेशों के निवासियों की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षासम्बन्धी उन्नति, प्रत्येक प्रदेश को उसकी अवस्थाओं के अनुसार, उसकी जनता द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त की गयी इच्छा के अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर प्रगतिशील विकास करना (३) जाति, लिंग, भाषा, धर्म के भेदभाव के बिना मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति प्रतिष्ठा को बढ़ाना, (४) संसार की जातियों में एक दूसरे पर निर्भर रहने की भावना को उन्नत करना, (५) संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों के लिये सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक मामलों में समान व्यवहार को प्राप्त कराना, (६) स० रा० संघ के सभी सदस्य-राज्यों के नागरिकों के लिये न्याय के प्रशासन में समता का व्यवहार।

उपर्युक्त उद्देश्य बहुत उदार, व्यापक और विशाल हैं। इनमें से कुछ तो ब्रियर्ली के शब्दों में उदात्त संकल्प-मात्र हैं।[15] फिर भी इनमें पहले दो उद्देश्य विशेष महत्व रखते हैं। पहला अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की वृद्धि है, इसे न्यास प्रदेशों की स्वतन्त्रता की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। इसका कारण स्पष्ट है। कुछ न्यास प्रदेशों की व्यवस्था के सम्बन्ध में महाशक्तियों में प्रबल मतभेद था, यदि इन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता में न्यास न बनाया जाता तो तीव्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में विश्वशान्ति संकट में पड़ जाती। अत डंकन हाल ने यह लिखा है कि न्यास प्रदेश "अन्तर्राष्ट्रीय सीमांत के ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ प्रतिस्पर्धी महाशक्तियों के राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव की तथा उनकी प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं की सीमांत रेखायें एक दूसरे से टकराती हैं।"[16] इस संघर्ष को बचाना न्यास पद्धति का प्रथम उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य न्यास प्रदेशों को शनै-शनै स्वाधीन बनाना है। इसमें संघ को बड़ी सफलता मिली है। इस समय अधिकांश न्यास प्रदेश स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर हो चुके हैं और अनेक उसे प्राप्त भी कर चुके हैं।

---

१४. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० १६३—६४
१५. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६३
१६. डंकन हॉल—ब्रिटिश ईयर बुक ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, १९४७, पृ० ४०

संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से जिस देश को न्यास प्रदेश का शासन सौंपा जाता है उसे प्रशासक सत्ता (Administering authority) कहा जाता है। यह सत्ता एक या अनेक राज्य हो सकते है। प्रशासक सत्ता संघ के साथ एक समझौते द्वारा इस प्रदेश को कुछ शर्तों पर शासन के लिये प्राप्त करती है। यह इस प्रदेश मे शांति, सुशासन और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होती है; सुरक्षा की दृष्टि से यह अपने प्रदेश मे सैनिक, हवाई तथा नौसैनिक अड्डे स्थापित कर सकती है, किलेबंदियाँ बना सकती है, प्रदेश मे अपनी सेनाएँ रख सकती है और निवासियो को सैनिक प्रशिक्षण दे सकती है। प्रशासक सत्ता का मुख्य दायित्व इस प्रदेश को 'स्वशासन या स्वतन्त्रता' के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना है। वह इसमे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्य राज्यो के नागरिकों के साथ समान व्यवहार करने को बाध्य है, किंतु यह समान व्यवहार वह अन्य देशो के नागरिको को तभी प्रदान करेगी, जबकि वे अपने देश मे इस प्रदेश के निवासियो के साथ उत्तम व्यवहार करेंगे। इस प्रकार न्यास पद्धति मे मैण्डेट पद्धति की इन प्रदेशो के लिये हानिप्रद मुक्त द्वार (Open door) नीति का परित्याग कर दिया गया है।

न्यास प्रदेश की प्रशासक सत्ता का दर्जा ब्रियर्ली के शब्दो मे 'उत्तरदायी संरक्षित राज्य' (Responsible protectorate) के संरक्षक राज्य जैसा है। इसके कुछ दायित्व और कर्तव्य इस प्रदेश के नागरिको के प्रति होते हैं और कुछ संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति।

सामान्य रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली न्यास प्रदेश सम्बन्धी सब कार्य करती है। किन्तु न्यास प्रदेश के प्रशासन के लिये किये जाने वाले समझौते मे इसके किसी भाग को 'सामरिक क्षेत्र' माना जा सकता है। ऐसे प्रदेशो के सम्बन्ध मे सारे कार्य सुरक्षा परिषद् करती है। अन्य प्रदेशो के शासन की देखभाल करना जनरल असेम्बली का कार्य है और वह न्यास परिषद की सहायता से यह कार्य करती है।

न्यास परिषद् (Trusteeship council) संघ का महत्वपूर्ण अंग है। जनरल असेम्बली की अध्यक्षता मे उसके निम्नलिखित कार्य हैं—(१) प्रशासक सत्ता द्वारा भेजी गयी रिपोर्टों पर विचार, (२) जनरल असेम्बली के परामर्श से न्यास प्रदेशो के निवासियो के प्रार्थनापत्रो को लेना तथा इन पर विचार करना, (३) प्रशासक सत्ता की सहमति से न्यास प्रदेशो के निरीक्षण के लिये प्रतिनिधिमण्डल भेजना, (४) न्यास-प्रदेशवासियो की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक प्रगति के सम्बन्ध मे प्रश्नावलियाँ तैयार करना, (५) न्यास समझौतो के अनुसार अन्य आवश्यक कार्य करना। न्यास परिषद् का संगठन संघ के तीन प्रकार के सदस्य राज्यो से होता है—(क) न्यास प्रदेश का प्रशासन करने वाले राज्य, (ख) सुरक्षा परिषद् के ऐसे स्थायी सदस्य, जो न्यास प्रदेशो के प्रशासक न हो, (ग) तीन वर्ष के लिये जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित राज्य। इनकी संख्या इतनी होनी चाहिये कि न्यास परिषद् मे न्यास का प्रशासन करने तथा न करने वाले राज्यो के सदस्य समान संख्या मे हो।

न्यास प्रदेशो के प्रशासन का निरीक्षण-कार्य करते हुए न्यास परिषद् के पास

अपने निर्णयों को लागू कराने की शक्ति नहीं है। यह केवल प्रशासक सत्ताओं द्वारा भेजी वार्षिक रिपोर्टों का विचार और मूल्याङ्कन कर सकती है, न्यास प्रदेशों के निवासियों की शिकायतें और प्रार्थनापत्र सुन सकती है, इनमें अपने मिशन या निरीक्षक-मण्डल भेज सकती है। किन्तु ये सब कार्य विचारात्मक है, वह इन प्रदेशों के सम्बन्ध में सिफारिशें ही कर सकती है, उसके पास इन्हें क्रियान्वित कराने के लिए आवश्यक प्रशासकीय सत्ता नहीं है।

मैण्डेट पद्धति तथा न्यास पद्धति में कुछ मौलिक भेद हैं—(क) न्यास पद्धति के उद्देश्य मैण्डेट पद्धति की अपेक्षा अधिक विशाल, उदार तथा व्यापक हैं। इसमें मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं पर बहुत बल दिया गया है। (ख) न्यास पद्धति के उद्देश्यों मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है, मैण्डेट पद्धति में ऐसा नहीं था। अतः उसमें मैण्डेट पाने वाले राष्ट्रों पर यह पाबंदी लगाई गई थी कि वे अपने प्रदेश मे कोई सैनिक अड्डे नहीं स्थापित करेंगे, निवासियों को पुलिस के अतिरिक्त सैनिक प्रशिक्षण नहीं देंगे। किन्तु न्यास पद्धति में ये प्रतिबन्ध समाप्त हो गये हैं। आपेनहाइम के मतानुसार स० रा० संघ के उपर्युक्त उद्देश्य इस आशय के द्योतक है कि राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र ने मैण्डेट पाने वाले राष्ट्रों पर इन प्रदेशों में फौजी भर्ती और किलेबन्दी करने के जो प्रबल प्रतिबन्ध लगाये थे, उनका परित्याग कर दिया गया है। (ग) न्यास पद्धति में मैण्डेट पद्धति की 'मुक्त द्वार' (Open door) नीति का परित्याग किया गया है। (घ) न्यास परिषद् का संगठन स्थायी मैण्डेट कमीशन से सर्वथा भिन्न है। मैण्डेट कमीशन के सदस्य वैयक्तिक योग्यता के आधार पर चुने जाते थे। किन्तु न्यास परिषद् मे सदस्यों का चुनाव राज्यों के आधार पर होता है, इसके सदस्य व्यक्ति नहीं, राज्य होते है। यद्यपि राज्यों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपने प्रतिनिधित्व के लिये विशेष रूप से योग्य व्यक्ति चुनें। इसका परिणाम यह है कि न्यास परिषद् की कार्यक्षमता घट गई है। ब्रियर्ली के मतानुसार मैण्डेट कमीशन अधिक क्षमता से कार्य करने वाला था, वह औप-निवेशिक प्रशासकों की कठिनाइयों और दायित्वों को भली भांति समझता था। "यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि न्यास परिषद् अपना कार्य इतनी अच्छी तरह करने मे समर्थ होगी। मैण्डेट कमीशन की दूसरी विशेषता यह थी कि इसके सदस्यों की बहुसंख्या मैण्डेट न रखने वाले राज्यों की होती थी। किन्तु न्यास परिषद् मे न्यास प्रदेशों के प्रशासन से सम्बन्ध न रखने वाले सदस्यों की संख्या पचास प्रतिशत रह गई है।" (ङ) न्यास पद्धति के कार्य मैण्डेट पद्धति की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विशाल हैं।

पहले अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों में मैण्डेटों की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में उग्र विवाद था। किन्तु न्यास प्रदेशों के सम्बन्ध मे ऐसा कोई विवाद नहीं है। न्यास प्रदेशों पर प्रशासन करने वाले राज्य इनके प्रभु (Sovereign) नहीं हैं, क्योंकि ये संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण मे न्यास के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इनका प्रशासन कर रहे हैं। ब्रियर्ली के कथनानुसार "जैसे वैयक्तिक कानून में सम्पत्ति

रखने के दो प्रकार हैं—वैयक्तिक स्वामित्व और न्यास (Trust), उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे सरकार या शासन के दो ढग हैं—(१) प्रभुसत्ता और (२) मैण्डेट या न्यास।" जिस प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को विशेष उद्देश्य के लिये दी गई अमानत या धरोहर उसकी सम्पत्ति नही बन सकती और वह उसका मनमाना उपयोग नही कर सकता इसी प्रकार प्रशासक-राज्य को न्यास प्रदेश पर कोई स्वामित्व या प्रभुसत्ता नही होती।" किन्तु इसके न होने पर भी उसे न्यास प्रदेश के सम्बन्ध मे बहुत व्यापक अधिकार होते है। वह इन प्रदेशों मे हवाई, सैनिक तथा नौसैनिक अड्डे स्थापित कर सकता है, इन प्रदेशो को अन्य प्रदेशो के साथ मिलाकर चुगी और प्रशासन की दृष्टि से सघो का निर्माण कर सकता है।[१८]

सातवाँ अध्याय

राज्यों की मान्यता

(Recognition of States) 93

मान्यता का लक्षण (Definition of Recognition)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यवहार की दृष्टि से मान्यता (Recognition) असाधारण महत्त्व रखती है। अन्य राज्यों द्वारा किसी नए राज्य की मान्यता ही उसे राष्ट्रों के परिवार का सदस्य बनाती है, जब तक उसे यह स्वीकृति नहीं मिलती, तब तक शक्तिशाली राज्य होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के कानून और व्यवहार मे उसे कोई स्थान नही प्राप्त होता। नई राजनीतिक सत्तायें मान्यता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International Personality) धारण करती हैं। अत फेनविक (Fenwick) ने मान्यता का लक्षण करते हुए लिखा है कि "यह अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के एक वर्तमान सदस्य द्वारा ऐसे राज्य या राजनीतिक दल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को विधिपूर्वक स्वीकार करना है, जिसके साथ अब तक इस के सरकारी सम्बन्ध नही थे।" जेसप (Jessup) के मतानुसार "किसी राज्य की मान्यता द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि उसे मान्यता देने वाले राज्य की दृष्टि में मान्यता दी जाने वाली सत्ता राज्य की सब विशेषताओं से सम्पन्न है।[1] वह अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार और कर्त्तव्य रखती है। मान्यता द्वारा राजनीतिक दृष्टि से सगठित और एक निश्चित प्रदेश पर बसे मानव-समाज को अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अंग मान लिया जाता है। आपेनहाइम (Oppenheim) के मतानुसार "केवल मान्यता द्वारा ही कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनता है।" Raghitth werlin

प्राय जब किसी राज्य को अन्य राज्यो द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है तो उससे पहले उसके पास निश्चित भूप्रदेश, स्थायी जनसख्या, सरकार और अन्य राज्यो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता होनी चाहिए। किन्तु राजनीतिक विवादों और कूटनीतिक स्वार्थो के कारण विभिन्न राष्ट्र मान्यता प्रदान करने मे किन्ही सर्वमान्य सिद्धान्तो का अनुसरण नही करते। प्रथम विश्वयुद्ध मे मित्रराष्ट्रों ने पोलैंड और चैकोस्लोवाकिया को इन राज्यो के निर्माण से बहुत पहले ही मान्यता प्रदान की थी। किन्तु इन्हीं राष्ट्रों ने बाल्शेविक क्रान्ति के बाद १९१९ में स्थापित रूस की साम्यवादी सरकार को कई वर्षो तक मान्यता नही प्रदान की। स० रा० अमरीका ने इजराइल राज्य की स्थापना के कुछ घटो के भीतर ही उसे मान्यता दी, किन्तु चीन की

१. जेसप—ए माडर्न लॉ आफ नेशन्स, पृ० ४३

साम्यवादी सरकार को उसका शासन स्थापित होने के २० वर्ष बाद भी उसने अब तक स्वीकार नही किया। राजनीतिक उलझनो के कारण तथा मान्यताओ के विविध प्रकार होने से स्टार्क ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक बडा जटिल और क्लिष्ट अग बताया है।[१]

मान्यता विषयक सिद्धान्त (Theories of Recognition)—मान्यता के सम्बन्ध मे दो मुख्य सिद्धान्त हैं। पहला निर्माणात्मक (Constitutive) और दूसरा घोषणात्मक (Declaratory) या प्रमाणात्मक (Evidentiary) सिद्धान्त कहलाता है। पहले सिद्धात के अनुसार मान्यता द्वारा ही राज्य का निर्माण होता है, यही इसे जन्म देती है। जब तक किसी राज्य को मान्यता नही दी जाती, तब तक उसकी कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता नहीं होती। इस मत के जन्मदाता हेगल (Hegel) तथा मुख्य समर्थक ओपेनहाइम (Oppenheim), जेलिनिक (Jellinek) और हालण्ड (Holland) हैं। ओपेनहाइम के मतानुसार केवल मान्यता द्वारा ही राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व मिलता है। हालैण्ड के शब्दो मे राज्य उस समय तक परिपक्वावस्था (Maturity) को नही प्राप्त करता, जब तक वह मान्यता की मुहर से अकित न हो, ऐसा होने पर ही वह अपने सब अधिकारो का पूर्ण उपभोग कर सकता है।

दूसरे सिद्धान्त के मुख्य समर्थक पिट काब्वेट (Pitt Cobbett), हाल (Hall) वेगनर, फिशर और ब्रियर्ली (Brierly) हैं। इनके मतानुसार राज्य का निर्माण और जन्म मान्यता देने मे बहुत पहले हो चुका होता है। पहले से विद्यमान राज्य का मान्यता प्रदान करना केवल उसके राज्य होने की घोषणा (Declaration) मात्र करना है अथवा यह उस राज्य की सत्ता का प्रमाण या साक्षी होता है, अत इसे घोषणात्मक या प्रमाणात्मक सिद्धान्त कहते हैं। मान्यता किसी राज्य को जन्म नही देती, किन्तु पहले से विद्यमान राज्य को स्वीकृति प्रदान करती है। यह एक राजनीतिक कार्य है, इसका उद्देश्य नए राज्य के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित करना होता है। राज्य के अस्तित्व या सत्ता का मान्यता से कोई सम्बन्ध नही है, यह मान्यता से पहले ही विद्यमान होती है।

ये दोनो सिद्धान्त सर्वथा विरोधी हैं। स्टार्क (Starke) का यह मत है कि सचाई सम्भवत इन दोनो के बीच मे है। कुछ परिस्थितियो मे पहला सिद्धान्त सत्य होता है और इनसे विभिन्न परिस्थितियो मे दूसरा सिद्धान्त सच्चा जान पडता है। मान्यता प्राय राजनीतिक कारणो से दी जाती है, अत इसे राज्य का निर्माण करने वाला कहा जा सकता है। इस स्थिति मे पहला सिद्धान्त ठीक होगा। किन्तु कई बार मान्यता देने मे कानूनी कारणो के आधार पर पर्याप्त विलम्ब किया जाता है। उदाहरणार्थ, १९१७ मे स्थापित रूस की साम्यवादी सरकार को ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका, फ्रास आदि ने काफी समय तक इस आधार पर स्वीकार नही किया कि उसने जारशाही के शासनकाल मे लिए गये इन देशो के ऋणो को अदा करने से इन्कार किया था। इस परिस्थिति मे राज्य प्राय तभी मान्यता प्रदान करते हैं, जब उन्हे

१ स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल ला, पृ० १०८

इसके बदले मे नई सरकार से कुछ लाभ प्राप्त हों। उनका मान्यता मे विलम्ब करना हो यह सूचित करता है कि उसमे राज्य की विशेषतायें विद्यमान हैं, किन्तु किन्हीं राजनीतिक कारणों से वे उसे मान्यता नही दे रहे है। यदि कई राज्य किसी नए राज्य को मान्यता देते है तो किसी एक राज्य द्वारा इसे मान्यता न देना इस पर कोई प्रभाव नही डालता। मान्यता का अभाव किसी राज्य या सरकार की सत्ता के अभाव को नही प्रकट करता। उदाहरणार्थ, साम्यवादी चीन को यद्यपि स० रा० अमरीका ने मान्यता नही प्रदान की, किन्तु इसके न होने से यह नही कहा जा सकता कि साम्यवादी चीन की सत्ता नही है। अतः इस दृष्टि से दूसरा घोषणात्मक सिद्धान्त ही सत्य प्रतीत होता है।

इस सिद्धान्त के अधिक सत्य होने के कुछ अन्य भी प्रमाण है। (१) यदि नवीन राज्य के न्यायालयो मे यह प्रश्न उत्पन्न हो कि इस राज्य का जन्म कब हुआ था तो इसका निर्णय अन्य राज्यो के साथ इसकी सन्धियां करने के समय से आरम्भ नही किया जाता, अपितु इसका जन्मकाल वह समझा जाता है, जबकि इसने राज्य होने की सब आवश्यकताओं को पूरा किया था। (२) नये राज्य की स्वीकृति भूतप्रभावी (Retroactive) होती है अर्थात् न्यायालय नई सरकार को मान्यता देने के बाद किए गए इसके कार्यों को ही वैध नही मानते, अपितु मान्यता दिए जाने से पूर्व भूतकाल मे उस समय से उसके कार्यों को वैध मानते है, जब से नई सरकार ने कार्य करना आरम्भ किया था। इससे यह स्पष्ट है कि मान्यता से पहले भी नई सरकार की सत्ता थी। उपर्युक्त दोनों प्रमाणो मे दिए गए नियम मुख्य रूप से इस सिद्धात पर आधारित हैं कि कोई ऐसा काल नही होना चाहिये कि जब किसी प्रदेश मे किसी राज्य या सरकार का अभाव हो। राज्य की प्रभुसत्ता तथा शासन-सत्ता के लिए सातत्य (Continuity) का होना आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो मध्यवर्ती अराजककाल मे नागरिको द्वारा किए गए व्यवहार तथा सविदाये अवैध हो जायेंगी क्योकि उस समय कोई मान्यता-प्राप्त सरकार नही थी। अतएव दूसरे सिद्धात मे ही अधिक सचाई जान पड़ती है।

प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री लौटरपैक्ट (Lauterpacht) ने मान्यता पर लिखे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मे निर्माणात्मक सिद्धान्त को इसलिए अधिक ठीक बताया है कि यह राज्यो के आचरण तथा सुनिश्चित कानूनी सिद्धान्तो के अनुरूप है। उसका यह मत है कि जब कोई नया राज्य या सरकार, राज्य होने की आवश्यक शर्तों को पूरा कर लेता है तो प्रत्येक राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रति यह कर्त्तव्य है कि वह नये राज्य को मान्यता प्रदान करे। १९४८ मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी इसी प्रकार की सम्मति प्रकट की थी कि सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्यो को इसके नये सदस्य बनाते हुए चार्टर की धारा ४ मे उम्मीदवारों के लिए दी गयी शर्तों पर विचार करना चाहिये, राजनीतिक स्वार्थों की दृष्टि से इस प्रश्न पर सोचना उचित नही है।

किन्तु स्टार्क ने लौटरपैक्ट के उपर्युक्त मत को सही नही माना।[1] यदि

---

१. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०९।

वास्तव मे राज्य कानूनी दृष्टि से विचार करने के बाद मान्यता प्रदान करते तो यह प्रश्न इतना जटिल नही होता। वस्तुत राज्य इस पर राजनीतिक स्वार्थों की दृष्टि से विचार करते हैं। स० रा० अमरीका ने १९४८ मे इजराइल की सरकार को स्वीकार करने मे इतनी जल्दी की कि स० रा० सघ मे अमरीका के प्रतिनिधिमडल को इसका ज्ञान समाचारपत्रों से हुआ किन्तु, चीन की साम्यवादी सरकार को वह उसका शासन स्थापित होने के बीस वर्ष बाद भी मान्यता नही दे रही। लौटरपैक्ट के मतानुसार राज्य को आवश्यक शर्तें पूरी करने वाली सरकार को मान्यता दिया जाना कानूनी कर्त्तव्य है। किन्तु यदि कोई राज्य यह कर्त्तव्य पूरा नही कर रहा तो उससे यह कर्त्तव्य कैसे पूरा कराया जाय? यदि स० रा० अमरीका साम्यवादी चीन को स्वीकार नही करता तो उसे इसके लिए कैसे बाधित किया जा सकता है? फिर प्रत्येक कर्त्तव्य के साथ अधिकार होता है। मान्यता देना यदि कर्त्तव्य है तो अधिकार भी है। यह अधिकार मान्यता चाहने वाले राज्य का समझा जाय या अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का। इसका निश्चय राज्यो के व्यवहार से हो सकता है, किन्तु वे ऐसा कोई अधिकार नहीं स्वीकार करते। अत लौटरपैक्ट का मत ठीक नही प्रतीत होता।

वस्तुत मान्यता देने या न देने के सम्बन्ध म राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो का अनुसरण नही करते, इसका निर्धारण राजनीतिक हितो की दृष्टि से किया जाता है और मान्यता न होने पर भी राज्यो की सत्ता स्वीकार की जाती है। स० रा० अमरीका के अपील न्यायालय ने १९२३ मे Walfsohn V. Russian Socialist Federated Soviet Republic के मामले में यह निर्णय दिया था कि यद्यपि सोवियत सरकार को स० रा० अमरीका ने अभी तक मान्यता प्रदान नही की, फिर भी वह तथ्यानुसार (De facto) सरकार है और इसलिए अमरीकन न्यायालयों में उस पर कोई मामला नही चल सकता। इससे यह स्पष्ट है कि मान्यता का दूसरा घोषणात्मक सिद्धान्त ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की दृष्टि से अधिक सत्य है।

मान्यता देने की विधियाँ (Modes of According Recognition)—किसी नये राज्य को प्राय निम्नलिखित विधियों से मान्यता प्रदान की जाती है —

(क) **सधि करना**—मान्यता देने वाला राज्य नये राज्य के साथ सन्धि (Treaty) करके उसे मान्यता प्रदान करता है। ये सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं, कुछ सन्धियो मे मान्यता का स्पष्ट उल्लेख नही होता, जैसे स० रा० अमरीका ने स्वतन्त्र होने के बाद फ्रास से सधि की थी। इस सन्धि म यद्यपि स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया था कि फ्रास स० रा० अमरीका को स्वीकार करता है, किन्तु इसकी शर्तें ऐसी थी, जो केवल स्वतन्त्र राज्यो के बीच हो सकती थी। दूसरे प्रकार की सन्धियो मे राज्यो की स्वीकृति का स्पष्ट उल्लेख होता है जैसे जर्मनी ने १८८४ मे कागो फ्री स्टेट के साथ सन्धि करके उसे स्वीकार किया।

(ख) **स० रा० सघ की सदस्यता**—राष्ट्र सघ या सयुक्त राष्ट्र सघ में प्रवेश नये राज्यो को मान्यता प्रदान करता है। कनाडा जैसे ब्रिटिश डोमिनियनो को राष्ट्र सघ की सदस्यता से मान्यता प्राप्त हुई। स० रा० सघ ने लिबिया आदि अनेक नये राज्यो

को मान्यता प्रदान करी है। किसी राष्ट्र के सं० रा० संघ का सदस्य बन जाने पर उसे सब राज्यों से एक साथ सामूहिक मान्यता (Collective recognition) मिल जाती है। उसे विभिन्न राज्यों से पृथक्-पृथक् मान्यता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती (देखिए पूर्वोक्त (क) विधि)।

(ग) राजनीतिक प्रतिनिधियों तथा दूता के आदान प्रदान (Exchange of Diplomatic Envoys) से।

(घ) मान्यता देने वाले राज्य की एकपक्षीय घोषणा (Unilateral Declaration) द्वारा, इजराइल राज्य की स्थापना के दस मिनट के भीतर सं० रा० अमरीका की सरकार ने एक घोषणा द्वारा उसे स्वीकार कर लिया।

(ङ) मान्यता देने वाले कई राज्यों के सामूहिक नोट या घोषणा (Collective Declarations) द्वारा। ग्रेट ब्रिटेन आस्ट्रिया, फ्रांस, इटली, उत्तरी जर्मनी, रूस तथा टर्की के प्रतिनिधियों ने एक प्रोटोकाल पर २४ जनवरी, १८७१ को हस्ताक्षर करके जर्मन साम्राज्य को मान्यता प्रदान की थी।

(च) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रवेश द्वारा भी मान्यता प्राप्त होती है। १८३१ मे बेल्जियम की स्थापना के बाद उसे महाशक्तियों के लन्दन सम्मेलन में सम्मिलित होने से मान्यता मिली। पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया पेरिस सम्मेलन में भाग लेने तथा वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर करने से राज्य माने गये।

स्पष्ट और ध्वनित मान्यता (Express and Implied Recognition)—जब कोई राज्य किसी नई राजनीतिक सत्ता को किसी घोषणा या सन्धिपत्र द्वारा मान्यता प्रदान करता है तो यह स्पष्ट (Express) होती है अतः इसे स्पष्ट मान्यता कहते है। किन्तु कई बार अनेक राजनीतिक कारणों से कुछ राज्य नई सत्ता को स्पष्ट मान्यता तो नहीं प्रदान करते किन्तु उसके साथ इस प्रकार के कई व्यवहार करते हैं, जिनसे यह ध्वनि या परिणाम निकाला जा सकता है कि वे उस सत्ता को मान्य समझते हैं। इसे ध्वनित (Implied) मान्यता कहते हैं। किसी राज्य के निम्नलिखित व्यवहारों से यह ध्वनि निकाली जा सकती है कि उसने नई राजनैतिक सत्ता को स्वीकार कर लिया है :—

(१) द्विपक्षीय सन्धि (Bilateral Treaty)—यदि मान्यता देने वाला राज्य नई राजनीतिक सत्ता के साथ कोई सन्धि करता है तो इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उसने उसे स्वीकार कर लिया है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण १९२८ में सं० रा० अमरीका की च्यांग काई शेक के राष्ट्रवादी चीन के साथ की गयी व्यापारिक सन्धि है। आज सं० रा० अमरीका चीन की जिस सरकार को साम्यवादी सरकार की तुलना मे वास्तविक समझता है उसे उसने १९२८ मे इस प्रकार अस्पष्ट रूप से मान्यता दी थी।

(२) दौत्य सम्बन्धों की स्थापना—जब मान्यता देने वाला राष्ट्र किसी नई राजनीतिक सत्ता के साथ राजदूतों का आदान प्रदान करता है तो उसमें यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उसने उसे स्वीकार कर लिया है, क्योंकि दौत्य सम्बन्ध राज्यों

मे ही स्थापित होते है।

(३) किसी नये राज्य म अन्य राज्य द्वारा वाणिज्य दूत (Consul) को नियुक्ति करने वाले अधिकार पत्र (Exequatur) से भी यही परिणाम निकाला जाता है। नये राज्यो का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे भाग लेना, मान्यताप्राप्त राज्यो के साथ सन्धि-वार्ता करना तथा बहुपक्षीय सन्धियो मे हस्ताक्षर करना भी उनकी ध्वनित मान्यता का सूचक होता है। किन्तु कई बार बहुपक्षीय सन्धियों (Multilateral treaties) मे कुछ राज्य स्पष्ट रूप से यह उल्लेख कर देते है कि इस पर हस्ताक्षर करने का यह अर्थ नही समझा जाना चाहिये कि वे हस्ताक्षर करने वाले सभी राज्यो को मान्य समझते है। १६ अक्टूबर १९५३ को सम्पन्न हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय खाड समझौते पर हस्ताक्षर करते हुए ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि वह इस पर चीन की ओर से चीन की राष्ट्रवादी (Nationalist) सरकार के हस्ताक्षर वैध नही मानता।

एकाकी तथा सामूहिक मान्यता (Single and Collective Recognition)—प्राय नये राज्य को अन्य राज्य वैयक्तिक एव पृथक् रूप से मान्यता देते हैं। एक राज्य द्वारा दी जाने वाली यह मान्यता एकाकी (Single) कहलाती है। किन्तु कई बार अनेक राज्य मिलकर किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या समझौते द्वारा नये राज्यो को सामूहिक (Collective) मान्यता प्रदान करते हैं। १८७८ मे बर्लिन कांग्रेस ने रूमानिया बल्गारिया, सर्बिया, मोण्टीनीग्रो को मान्यता दी थी, १९२१ मे मित्रराष्ट्रो ने इस्टोनिया तथा अल्बानिया को स्वीकार किया था। सामूहिक मान्यता वैयक्तिक मान्यता की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होती है।

प्रतिक्षिप्र (Precipitate) मान्यता—किसी राज्य मे क्रान्ति होने पर जब इसका कोई अश पृथक् होकर अपनी स्वतत्र सरकार स्थापित करने की घोषणा करता है तो दूसरे देशो के सम्मुख इसे मान्यता देने का जटिल प्रश्न उपस्थित होता है। उस समय अन्य राज्य यह देखते हैं कि ऐसी घोषणा करने वाली नई सरकार की सत्ता अपने प्रदेश मे सुदृढ रूप से सुप्रतिष्ठित हो गई है या नही। यदि इस समय जल्दबाजी मे मान्यता दी जाय तो यह प्रतिक्षिप्र मान्यता होती है। कई बार ऐसी मान्यता क्रान्ति वाले देश मे पहले से ही विद्यमान सरकार के साथ अन्यायपूर्ण, उसकी प्रतिष्ठा को क्षति पहुचाने वाली तथा उसके घरेलू मामलो मे अनुचित हस्तक्षेप करने वाली होती है।

वास्तविक तथा कानूनी मान्यता (De facto and De jure Recognition)—स्टार्क के शब्दो मे "विधित (De jure) या कानूनी मान्यता का अर्थ यह है कि मान्यता देने वाले राज्य के मतानुसार विधिपूर्वक स्वीकार किया जाने वाला राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित आवश्यकताओ को पूरा करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे प्रभावशाली भाग ग्रहण करने की क्षमता रखता है। वास्तविक (De facto) मान्यता का यह आशय है कि मान्यता देने वाले राज्य की दृष्टि मे मान्यता दिया जाने वाला राज्य अस्थायी रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपर्युक्त आवश्यकताओ को पूरा करता है।"[४] प्राय यह मान्यता किसी देश मे क्रान्ति, विद्रोह या राज्य-परिवर्तन होने के बाद

४. De facto का शब्दार्थ है तथ्य की दृष्टि से और De jure का आशय कानूनी दृष्टि से।

ऐसी नई राजसत्ता को दी जाती है, जो अपने नियन्त्रण में विद्यमान प्रदेश पर पूरा अधिकार रखती है, स्वतन्त्र होती है, किन्तु पूर्ण रूप से सुस्थिर नहीं होती और अपनी अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियां पूरी तरह नहीं निभा सकती। सोवियत रूस के उदाहरण से यह भली भांति स्पष्ट हो जायगा। १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद नई साम्यवादी सरकार की सत्ता यद्यपि रूस में अच्छी तरह जम गई थी, किन्तु कई वर्षों तक ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका ने इसे वास्तविक (de facto) सरकार मानते हुए भी कानूनी (de jure) सरकार नहीं माना क्योंकि यह कई अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व पूरा करने के लिए तैयार नहीं थी, इसने जार की पुरानी रूसी सरकार द्वारा दूसरे राज्यों से लिए गए ऋणों को अदा करना अस्वीकार कर दिया था, यह रूस में विदेशी प्रजाजनों की जब्त की हुई सम्पत्ति को वापिस लौटाने को तैयार नहीं थी।

वर्तमान समय में किसी राज्य में क्रान्ति द्वारा सरकार का परिवर्तन होने पर उसे विहित या कानूनी (de jure) मान्यता देने से पहले वास्तविक या तथ्यतः (de facto) मान्यता दी जाती है। वास्तविक मान्यता कानूनी मान्यता का पूर्वरूप होती है, यह वस्तुतः मान्यता देने वाली सरकार को अनेक कठिनाइयों और झंझटों से बचा लेती है। एक ही प्रदेश में दो सरकार होने पर ऐसी मान्यता देने वाला राज्य दोनों को प्रसन्न रखता है। उसका यह मत होता है कि उस प्रदेश में एक विध्यनुसार कानूनी सरकार अवश्य है, "इसके पास प्रभुसत्ता होनी चाहिए थी किन्तु इस समय यह उससे वंचित है।" तथ्यानुसार वास्तविक सरकार को यह कहा जाता है कि 'वस्तुतः' इस प्रदेश पर इसका अधिकार है, भले ही यह अन्यायपूर्ण या अल्पकालीन हो।' तथ्यानुसार मान्यता इसलिए दी जाती है कि इससे मान्यता देने वाले राज्य को अनेक प्रकार के आर्थिक लाभ प्राप्त होते हैं। यह इस प्रकार इस राज्य में अपने नागरिकों की सम्पत्ति और स्वार्थों की रक्षा कर सकती है क्योंकि इस प्रदेश में कानूनी सरकार की प्रभुता का अन्त हो जाने से वह इस कार्य में असमर्थ होती है, अतएव वह यहाँ वास्तविक प्रभुता रखनेवाली सरकार को तथ्यानुसार मान्यता देकर इस लाभ को प्राप्त करती है और जब यह नया राज्य पूरी तरह सुदृढ़ हो जाता है तो इसे विध्यनुसार मान्यता दी जाती है।

किन्तु विध्यनुसार मान्यता देते हुए कुछ बातों का ध्यान रखा जाता है, एक निश्चित नीति का अनुसरण किया जाता है और कुछ शर्तें पूरी होने पर ही यह मान्यता दी जाती है। श्री स्मिथ ने इस सम्बन्ध में ब्रिटिश नीति का वर्णन करते हुए लिखा है—"सौ वर्ष से भी अधिक समय से इस देश (ग्रेट ब्रिटेन) की सामान्य नीति यह रही है कि यह किसी नये राज्य या सरकार को विध्यनुसार मान्यता प्रदान करने से पहले उससे कुछ शर्तों को पूरा करने पर बल दे। हमारी पहली शर्त (नये राज्य से) सुदृढ़ और स्थायी होने का आश्वासन है। दूसरी शर्त के अनुसार हम ऐसे प्रमाण मांगते रहे हैं

है। इनका सामान्य अनुवाद 'वास्तविक' और 'कानूनी' किया जाता है, किन्तु शब्दार्थ की दृष्टि से इनके लिए क्रमशः यथातथ्य, तथ्यानुसार और यथार्थ, विधित और विध्यनुसार शब्दों का प्रयोग होना चाहिए।

जिनसे यह प्रकट हो कि सरकार को जनता का सामान्य समर्थन प्राप्त है। तीसरी शर्त इस बात पर बल देना है कि नए राज्य में अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूर्ण करने की सामर्थ्य तथा इच्छा है।" इससे यह स्पष्ट है कि विध्यनुसार मान्यता पाने के लिए तीन आवश्यक तत्व हैं (१) नए राज्य तथा शासन की सुदृढता तथा स्थायित्व, (२) जनता का समर्थन, (३) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व पूरा करने की इच्छा और सामर्थ्य।

दोनों प्रकार की मान्यताओं के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं। ग्रेट ब्रिटेन ने सोवियत सरकार को तथ्यानुसार (de facto) मान्यता १६ मार्च, १९२१ को प्रदान की और १ फरवरी १९२४ को विध्यनुसार (de jure) मान्यता। १९३६ में इटली द्वारा एबीसीनिया की विजय को ब्रिटिश सरकार ने तथ्यानुसार तथा १९३८ में विध्यनुसार मान्यता दी। स्पेन के गृहयुद्ध (१९३६-३८) में इसने पहले जनरल फ्रांको की सरकार द्वारा जीते गये प्रदेशों में उसे तथ्यानुसार तथा बाद में समूचा स्पेन जीतने पर उसे विध्यनुसार मान्यता दी। इजरायल की सरकार को स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन ने तथ्यानुसार तथा विध्यनुसार मान्यता क्रमशः १५ मई, १९४८ तथा जनवरी, १९४९ को एवं २९ जनवरी, १९४९ और २७ अप्रैल, १९५० को दी। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि तथ्यानुसार मान्यता विध्यनुसार मान्यता का पूर्वरूप और इसे देने की भूमिका-मात्र होती है। इसे अस्थायी या रद्द किया जाने योग्य समझना ठीक नहीं है।

मान्यता के कानूनी पहलुओं की दृष्टि से ब्रिटिश कानून के अनुसार दोनों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा तथ्यानुसार (de facto) स्वीकार की गई सरकार विध्यनुसार (de jure) मान्यताप्राप्त सरकार की भाँति सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सरकार होती है। दोनों सरकारों की मान्यता भूतप्रभावी (Retroactive) होती है, अर्थात् यह मान्यता भले ही किसी समय दी जाय, किन्तु इसका प्रभाव भूतकाल में उस समय से समझा जाता है जब इस सरकार की स्थापना हुई थी। किन्तु दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि दौत्य सम्बन्ध केवल विध्यनुसार मान्यताप्राप्त सरकार के साथ ही स्थापित किए जाते हैं।

तथ्यानुसार (de facto) तथा विध्यनुसार (de jure) सरकारों के अधिकारों में संघर्ष होना स्वाभाविक है। इस अवस्था में ब्रिटिश न्यायालयों के निर्णयानुसार तथ्यानुसार सरकार के अधिकारों को न्यायोचित समझा जाता है। यह इस विषय के दो प्रसिद्ध मामलों Bank of Ethiopia v The National Bank of Egypt and Liguori (1937, ch 513) तथा S S Arantzazu Mendi v The Government of Republican Spain (1939), A C 266 से स्पष्ट है। इनका विस्तृत विवरण प्रथम परिशिष्ट में दिया गया है, यहां संक्षिप्त उल्लेख ही पर्याप्त होगा। पहले मामले में १९३६ में एबीसीनिया जीतने के बाद तथा इंगलैण्ड से तथ्यानुसार मान्यता पाने के बाद इटली की सरकार ने कुछ नियम बनाये, ये एबीसीनिया से भागे हुए तथा उसके विध्यनुसार शासक माने जाने वाले सम्राट् हेलसिलासी द्वारा बनाये गये नियमों से विरोध रखते थे। जब यह मामला ब्रिटिश न्यायालय में लाया

गया तो न्यायाधीश क्लौसन (Clauson) ने यह निर्णय दिया कि विध्यनुसार शासक का अधिकार और सत्ता सैद्धान्तिक है, वह अपने नियमों को लागू करने की शक्ति नहीं रखता। किन्तु इटली की सरकार का एबीसीनिया के प्रदेश पर पूरा प्रभुत्व है, वह तथ्यानुसार सरकार है, अतः उसके बनाये हुए नियम विध्यनुसार शासक की सरकार द्वारा बनाये नियमों से प्रबल है।

दूसरे मामले में स्पेन के गृहयुद्ध (१९३६–३९) के समय वैध (Legitimate) एवं अभिद्रोही (Insurgent) सरकार के अधिकारों में संघर्ष था। ग्रेट ब्रिटेन स्पेन की गणराज्यवादी सरकार को विध्यनुसार (de jure) मानता था, किन्तु इसके साथ ही वह जनरल फ्रांको की अभिद्रोही सरकार को उस प्रदेश में तथ्यानुसार या वास्तविक मानता था, जिसे इसने जीतकर अपने नियन्त्रण में कर लिया था। ब्रिटिश नौसैनिक न्यायालय में स्पेन की विध्यनुसार सरकार ने फ्रांको की सरकार द्वारा पकड़े गये एक जहाज को प्राप्त करने के लिये "तथ्यानुसार सरकार" पर दावा किया था। इस जहाज की रजिस्ट्री बिलबओ बन्दरगाह में हुई थी। इस पर फ्रांको की सरकार का अधिकार हो गया, अतः फ्रांको सरकार की प्रार्थना पर उक्त जहाज ग्रेट ब्रिटेन ने उसे दे दिया। इसकी पुनः प्राप्ति के लिये स्पेन की विध्यनुसार सरकार ने फ्रांको की सरकार पर ब्रिटिश न्यायालय में इस आधार पर मुकदमा चलाया कि यह विद्रोही सरकार है, स्पेन के समूचे प्रदेश पर इसका आधिपत्य नहीं अतः यह पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य नहीं है, इसे यह जहाज नहीं मिलना चाहिये। उसके विरुद्ध फ्रांको की अभिद्रोही सरकार का यह कहना था कि तथ्यानुसार मान्यता प्राप्त होने के कारण वह सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सरकार है, अतः वह दूसरे देश के न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से उन्मुक्त (Immune) है, ब्रिटिश न्यायालय को उसके विरुद्ध अभियोग सुनने का कोई अधिकार नहीं है। लार्ड सभा के प्रधान न्यायाधीश लार्ड एटकिन ने इस मामले में जनरल फ्रांको के पक्ष में निर्णय दिया।

तथ्यानुसार तथा विध्यनुसार सरकारों में उपर्युक्त निर्णयों के अनुसार जहाँ तक देशीय कानून (*Municipal law*) का सम्बन्ध है, **तथ्यानुसार तथा विध्यनुसार सरकारों में कोई बड़ा अन्तर** नहीं रहा। फिर भी न्यायाधीश लौटरपैक्ट ने इनका एक बड़ा कानूनी अन्तर यह बताया है कि तथ्यानुसार सरकार की मान्यता द्वारा इसे मान्यता देने वाली सरकार इसकी राजनीतिक शक्ति के बाह्य रूप को स्वीकार करते हुए इसके प्रदेश में अपने व्यापार की एवं अन्य स्वार्थों की सुरक्षा कर लेती है, किन्तु इस सरकार द्वारा किये जाने वाले अवैध कार्यों के दोषमार्जन (Condonuge) की जिम्मेदारी से बच जाती है। इसके अतिरिक्त इन देशों में निम्नलिखित तीन सूक्ष्म अन्तर है—(१) विध्यनुसार (de jure) मान्यताप्राप्त सरकार ही मान्यता देने वाले राज्य के प्रदेश में विद्यमान अपनी सम्पत्ति को प्राप्त करने का दावा कर सकती है। (२) विध्यनुसार (de jure) सरकार ही राज्य के उत्तराधिकारी के मामले में पुराने राज्य का प्रतिनिधित्व कर सकती है। (३) तथ्यानुसार (de facto) स्वीकार की गई सरकार को दूतों के आदान प्रदान का तथा इन्हें दिये जाने वाले विशेषाधिकारों . . .

अधिकार नही होता।

राजनीतिक परिस्थितियो का मान्यता पर प्रभाव (The Effect of Political Conditions on Recognition)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परम्परागत पुरानी विचार-धारा के अनुसार राज्य मान्यता के विषय में पूरी स्वतन्त्रता रखते हैं। यह उनकी इच्छा है कि वे किसी नये राज्य को स्वीकृति प्रदान करें या न करें, इस विषय मे उन पर कोई कानूनी बाध्यता नही है। मान्यता का प्रश्न कानूनी नही है, किन्तु राजनीतिक महत्व रखता है। राजनीतिक परिस्थितियों का मान्यता पर गहरा प्रभाव पडता है।

राजनीतिक उद्देश्यो से प्रेरित होकर राज्य बहुधा नये राज्यो को कई बार बहुत जल्दी और कई बार बहुत देर मे मान्यता प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास और स० रा० अमरीका ने पोलैण्ड तथा चैकोस्लोवाकिया (Czechoslovakea) को इनके निर्माण से बहुत पहले ही मान्यता प्रदान की थी क्योकि ये जर्मनी तथा आस्ट्रिया हगरी के विरुद्ध युद्ध म उसके साथ थे। दूसरी ओर बोल्शेविक क्रान्ति के बाद १६१७ म रूस मे स्थापित साम्यवादी सरकार को ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका ने बहुत वर्षों बाद मान्यता प्रदान की क्योकि वे राजनीतिक दृष्टि से रूस मे स्थापित कम्यूनिस्ट सरकार को बडी शका और भय की दृष्टि से देखते थे। साम्यवादी रूस ने जारशाही की पुरानी सरकार द्वारा स्वीकार की गयी सधियो तथा लिये गये कर्जों की अदायगी के दायित्वो को स्वीकार नही किया था। इस विषय मे अमरीकी परराष्ट्र मन्त्री हयूजेस ने कहा था—"रूस के मामले म इस विषय मे बडी आसान कसौटी है और यह बडा मौलिक महत्व रखती है। यह कसौटी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो को सद्भावना (Good faith) के साथ पूरा करने की है। मैं सद्भावना को अत्यधिक महत्वपूर्ण इसलिये मानता हूँ कि शब्दो का बोलना बडा आसान है किन्तु ऐसे आश्वासनो का क्या लाभ जब कि विधिसम्मत दायित्वो (Valid obligations) तथा अधिकारो को खण्डित किया जाय और सम्पत्ति जब्त कर ली जाय।" रूस ने ब्रिटिश तथा अमरीकन सरकारो के कर्जे देने मे मना किया था, इन देशो की कम्पनियो की रूस मे स्थित सम्पत्ति राष्ट्रीय करण कानून द्वारा जब्त कर ली थी, अत इन दोनो देशो ने इसे क्रमश १६२१ तथा १६३३ तक कोई मान्यता प्रदान नही की थी।

फ्रास सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६–१७६३) मे ग्रेट ब्रिटेन से पराजित होने के कारण उसका घोर शत्रु था। अत जब अमरीका ने अपनी स्वतन्त्रता की तथा इगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा का तो फ्रास ने न केवल उस नये राज्य को १७७८ मे स्वीकार किया, अपितु उसे युद्ध मे सहायता दी। पानामा नहर की भौगोलिक स्थिति के कारण स० रा० अमरीका पानामा राज्य मे अपने अनुकूल सरकार रखना चाहता था। जब यहाँ १६०३ मे कोलोम्बिया (Colombia), से पृथक् होकर ऐसी सरकार की स्थापना क्रान्ति द्वारा हुई तो स० रा० अमरीका ने क्रान्ति के तीन दिन बाद ही नई सरकार को मान्यता प्रदान की।

राजनीतिक परिस्थितियो के कारण मान्यता देने या न देने के दो सुन्दर उदाहरण इजराइल और साम्यवादी चीन है। १४ मई, १६४८ की मध्यरात्रि को पेलेस्टाइन

पर ग्रेट ब्रिटेन का मैण्डेट या शासनादेश (Mandate) समाप्त होना था। इससे पहले ही यहूदियों के सगठन (Zionist organisation) ने इजराइल के यहूदी राज्य की स्थापना करने का तथा इसकी अस्थायी सरकार बनाने का निश्चय किया और वाशिंगटन मे राष्ट्रपति को १४ मई को इस बात की सूचना दी गई कि वाशिंगटन के समय के अनुसार १४ मई १९४८ की शाम को छः बजे (इजराइल की राजधानी तेल अवीव के अनुसार १२ बजे मध्यरात्रि) के एक मिनट बाद इजराइल के स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना होगी। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने शाम को ६ बजकर ११ मिनट पर यहूदी राज्य की अस्थायी सरकार को इजराइल के नये राज्य की तथ्यानुसार सत्ता (De facto authority) मानने की स्वीकृति प्रदान की।[५] इससे स्पष्ट है कि अमरीकी सरकार इजराइल को मान्यता प्रदान करने का निश्चय पहले ही कर चुकी थी और उसने राज्य की स्थापना के १० मिनट के भीतर ही इसे मान्यता प्रदान कर दी।

दूसरी ओर भारत सरकार ने इस राज्य को इसके स्थापित होने के सवा दो वर्ष बाद १७ सितम्बर १९५० को मान्यता प्रदान की और मान्यता देने के बाद अब तक इसके साथ दौत्य सम्बन्ध (Diplomatic relations) स्थापित नहीं किये। इसके दो मुख्य कारण थे।[६] पहला तो यह कि इजराइल का राज्य अरब मुसलमानों का कट्टर विरोधी था, भारत के मुसलमान इस विषय में अरब के मुसलमानों से सहानुभूति रखते थे। १५ अगस्त १९४७ को धर्म के आधार पर भारत का बँटवारा होकर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बने थे, पाकिस्तान बन जाने पर भी भारत में मुसलमान पर्याप्त सख्या में थे, ये केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में एव अनेक उच्च राजकीय पदों पर आसीन थे। इस विषय में उनकी भावना बिल्कुल स्पष्ट थी, उसकी उपेक्षा करके सहसा मान्यता प्रदान करने के कुछ अनिष्ट परिणाम हो सकते थे। अत भारत सरकार ने इस प्रश्न पर तुरन्त कोई निर्णय नहीं किया। दूसरा कारण यह था कि मिश्र, सीरिया आदि अरब राज्य भारत के मित्र थे, वे निरन्तर इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि भारत उनके कट्टर शत्रु इजराइल को किसी प्रकार की मान्यता न प्रदान करे। अत भारत सरकार ने भारतीय मुसलमानों और मित्र अरब राज्यों को रुष्ट न करने के उद्देश्य से इस प्रश्न को उस समय टाल दिया और दो वर्ष बाद इजराइल राज्य के सुदृढ होने तथा उसका विरोध कम होने पर इसे मान्यता प्रदान की।

साम्यवादी चीन की मान्यता के सम्बन्ध में भी इस समय राजनीतिक कारणों से दो विरोधी दृष्टिकोण हैं। २१ अक्टूबर १९४९ को पेकिंग में चीनी जनता के गणराज्य की स्थापना की घोषणा की गयी थी। यह साम्यवादी सरकार च्यांग काई शेक की राष्ट्रीय सरकार को हटाकर, उससे समूचा चीनी महाद्वीप जीतकर स्थापित हुई थी और इसने च्यांग काई शेक को फारमोसा टापू में भागने के लिये बाध्य कर दिया। साम्यवादी सरकार को स्थापित हुए बीस वर्ष बीत चुके है, किन्तु स० रा० अमरीका ने इसे

---

५ अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल ला, खण्ड ४४, १९६१, पृ० ७१०

६. वही, पृ० ४०६

अभी तक मान्यता नहीं प्रदान की। इस विषय मे अपनी नीति स्पष्ट करते हुए अमरीका विदेश मत्री श्री डलेस ने २८ जून १९५७ के भाषण मे कहा था—"चीनी साम्यवादी दल ने हिंसा द्वारा सत्ता प्राप्त की है। वह हिंसा द्वारा ही जीवित है।……उसे चीनी जनता की इच्छा से नहीं, किन्तु व्यापक और भीषण दमन से ही सत्ता हस्तगत हुई है। उसने कोरिया में स० रा० सघ से युद्ध किया है, हिन्दचीन के युद्ध मे कम्यूनिस्टो की सहायता की है, तिब्बत को बलपूर्वक हस्तगत किया है।…मान्यता एक विशेष अधिकार है, वह उत्तम व्यवहार के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डो से ही उपार्जित की जानी चाहिये।…बोल्शेविको ने केरेन्सकी से १९१७ मे सत्ता छीनी थी, फिर भी हम १६ वर्ष तक इस सरकार के रूस से बाहर रहने वाले प्रतिनिधियो को वैध सरकार मानते रहे। १९३३ तक यह प्रतीत हुआ कि रूस के कम्यूनिस्ट शासन को समाज का शान्तिप्रिय सदस्य माना जा सकता है। उसने पिछले दस वर्ष मे सशस्त्र आक्रमण का कोई कार्य नहीं किया। स० रा० अमरीका मे तोड-फोड की कार्यवाहियाँ बन्द करने का वचन दिया। यदि हमे १९३३ मे पता होता कि रूस अपने वचन को भग करेगा, हम उसे मान्यता न देते। साम्यवादी चीन का पिछला इतिहास सशस्त्र आक्रमण का इतिहास है। हम उसे मान्यता नहीं दे सकते।" डलेस के इस कथन की पुष्टि २० अक्टूबर १९६२ को चीन द्वारा भारत पर विशाल पैमाने पर किये गये बर्बर एव विश्वासघाती आक्रमण से हुई है।

किन्तु सोवियत रूस तथा उसके साथी देशों ने साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान की। साम्यवादी गुट से बाहर के देशो मे बर्मा के बाद इसे मान्यता प्रदान करने वाला पहला देश भारत था। इसने इसके स्थापित होने के ३ महीने बाद इसे ३० दिसम्बर १९४९ को मान्यता प्रदान की। इसे मान्यता देने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए १७ मार्च १९५० को श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"जब यह स्पष्ट हो गया कि नई चीनी सरकार का चीन की लगभग समूची मुख्य भूमि पर अधिकार है, जब यह बिल्कुल स्पष्ट था कि यह सरकार सुदृढ है और कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो इसका स्थान ले सके या इसे हटा सके तो हमने नई सरकार को मान्यता दी और यह सुझाव दिया कि हम दूतमण्डलो का आदान प्रदान कर सकते है।"[७] भारत द्वारा चीन को मान्यता देने के एक सप्ताह बाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० हर्श लौटरपाख्त (Hersch Lauterpacht) ने लगभग इन्हीं आधारों पर साम्यवादी चीन को मान्यता देने का समर्थन किया और ब्रिटिश सरकार ने इसे मान्यता प्रदान की।

सरकारो की मान्यता (Recognition of Governments)—जब किसी राज्य में क्रान्ति, विद्रोह या षड्यन्त्र द्वारा सरकार मे परिवर्तन होता है तो इसकी मान्यता का प्रश्न उत्पन्न होता है। इस समय मान्यता देने के लिए दो कसौटियो का प्रयोग किया जाता है। पहली वस्तुगत कसौटी (Objective Test) है। इसके अनुसार यह देखा जाता है कि क्या नई सरकार का राज्य के अधिकाश प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण (Effective Control) है, दूसरी आत्मगत कसौटी (Subjective Test) है।

---

७. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४०२

इसका यह अभिप्राय है कि क्या नई सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा स० रा० संघ के चार्टर द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले दायित्वों को स्वीकार करती है और उनका पालन करती है। ऊपर चीन की साम्यवादी मान्यता के सम्बन्ध में जो दो विरोधी दृष्टिकोण दिये गये हैं, वे इन दो कसौटियों को पृथक्-पृथक् रूप से लगाने का परिणाम हैं। साम्यवादी चीन को मान्यता देने वाले रूस, भारत, इंगलैण्ड आदि देश वस्तुगत कसौटी (Objective Test) का प्रयोग करते हुए यह कहते हैं कि चीन को इसलिये मान्यता देनी चाहिए कि उसका चीन की मुख्यभूमि पर अधिकार है तथा उसे वहाँ की जनता का पूरा समर्थन प्राप्त है। भारत सरकार ने साम्यवादी सरकार को उस समय तक मान्यता नहीं प्रदान की, जब तक कि च्यांग काई शेक की सरकार चीन की मुख्य भूमि की राजधानी चुगकिंग से भागकर पहले जापान के अधिकार वाले फारमोसा टापू में नहीं चली गई। दूसरी ओर इलेस के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि अमरीका इस विषय में आत्मगत कसौटी (Subjective Test) को महत्वपूर्ण समझता है, उसे जब तक यह विश्वास नहीं हो जायगा कि साम्यवादी चीन अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करेगा, तब तक वह उसे मान्यता नहीं प्रदान करेगा। सोवियत रूस को उसने इसी अधिकार पर उसकी स्थापना के १६ वर्ष बाद मान्यता दी थी।

किन्तु यदि कोई सरकार अन्य राज्यों द्वारा मान्यता नहीं प्राप्त करती तो इसका यह आशय नहीं है कि उसकी सत्ता ही नहीं है। मान्यता न होने पर भी उसकी सत्ता स्वीकार की जाती है और ऐसी सरकार के कार्य इसलिये अवैध नहीं होते कि उसे मान्यता नहीं मिली हुई। **टिनोको के मामले** (Tinoco Case) में इसका भलीभाँति स्पष्ट किया गया था। यह मामला इस प्रकार था। जनवरी १९१७ में कोस्टा रिका (Costa Rica) की सरकार को टिनोको नामक व्यक्ति ने बदल दिया और अगले दो वर्ष तक कोस्टा रिका में इसी का शासन बना रहा। इस समय नया संविधान लागू किया गया। अगस्त १९१९ में यहां पुन क्रान्ति हुई और टिनोको को पदच्युत करके पुराना शासन विधान लागू कर दिया गया। १९२२ में एक कानून Law of Nullities द्वारा कोस्टा रिका की सरकार ने टिनोको के शासनकाल में सम्पन्न किये गये सभी ठेको (Contracts) को अवैध घोषित कर दिया। टिनोको सरकार ने अपने शासनकाल में एक ब्रिटिश कम्पनी को कुछ रियायतें प्रदान की थी और वह सरकार रायल बैंक आफ कनाडा नामक ब्रिटिश कम्पनी की बहुत ऋणी हो गई थी। १९२२ के उपर्युक्त कानून से ब्रिटिश कम्पनी की रियायतें तथा ऋण रद्द हो गये। इस पर ब्रिटिश सरकार ने यह दावा किया कि १९२२ का कानून इन रियायतों और ऋणों पर लागू नहीं होता। इस विवाद का निर्णय करने के लिए स० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश श्री टाफ्ट पंच बनाए गये।

इस मामले में ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि दो वर्ष नौ महीने तक टिनोको सरकार कोस्टा रिका की तथ्यानुसार (De facto) तथा विध्यनुसार (de jure) सरकार थी, वह समूचे प्रदेश पर जनता की इच्छा से शासन कर रही थी। बाद में आने वाली सरकारें अपने किसी कानून से पहली सरकार द्वारा किये गये ऐसे कार्यों

के दायित्व से मुक्त नही हो सकतीं, जो दायित्व ब्रिटिश प्रजाजनो पर प्रभाव डालते हो, वह किसी कानून से उनकी सम्पत्ति नही ज़ब्त कर सकती। ऐसा करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन है। टिनोको सरकार द्वारा बनाए गये कानून के अनुसार दिये गये ठेकों को वर्तमान सरकार को पूरा करना चाहिये।

इसके विरुद्ध कोस्टा रिका की सरकार का यह कहना था कि टिनोको की सरकार विध्यनुसार या तथ्यानुसार सरकार नही थी, उसके साथ किये गये ब्रिटिश कम्पनियो के ठेके वैध नही है क्योकि इस सरकार के कार्य १८७१ के पुराने संविधान के प्रतिकूल थे। ग्रेट ब्रिटेन ने इस सरकार को मान्यता नही प्रदान की थी, अत उसकी दृष्टि से यह सरकार थी ही नही, ऐसी सरकार के साथ ब्रिटिश प्रजाजनो के ठेको को किसी प्रकार वैध नही माना जा सकता।

किन्तु पच ने कोस्टा रिका का यह तर्क नही स्वीकार किया कि ग्रेट ब्रिटेन द्वारा मान्यता न दिये जाने के कारण टिनोको सरकार की सत्ता नही थी। इस विषय मे न्यायाधीश ने डा० जान बेसेट मूर (John Basset Moore) के निम्न वचन को प्रामाणिक माना—'सरकार मे अथवा राज्य की आन्तरिक नीति मे होने वाले परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इसकी स्थिति पर कोई प्रभाव नही डालते। एक राजतन्त्र गणराज्य मे और गणराज्य राजतन्त्र मे परिवर्तित हो जाता है, निरकुश शासन का स्थान वैधानिक शासन लेता है और इससे विपरीत परिवर्तन भी हो सकता है, यद्यपि सरकार बदलती है तथापि इसका राष्ट्र के अधिकारो तथा कर्तव्यो पर कोई प्रभाव नही पडता। राज्य अपनी पहली सभी सरकारों के उत्तरदायित्वो का पालन करने के लिए बधा हुआ है।' अत पच ने इस मामले मे कोस्टा रिका का तर्क नही स्वीकार किया।

यद्यपि उपर्युक्त मामले मे ग्रेट ब्रिटेन द्वारा टिनोको सरकार की मान्यता को महत्व नही दिया गया तथापि कई अवस्थाओ मे किसी सरकार को मान्यता न देने के कुछ प्रभावशाली परिणाम होते है। विदेशी राज्य या सरकार के प्रतिनिधि तथा इनकी सम्पत्ति प्रत्येक देश मे वहाँ की कानूनी प्रक्रिया से मुक्त होती है। दूसरे देश ने इस बारे मे जो कानून या नियम बनाये है, उनके बारे मे अपने देश मे न्यायालय कोई सदेह या विवाद नही कर सकते। किन्तु ये न्यायालय विदेशी सरकार की मान्यता के सबन्ध मे अपने देश की सरकार का निर्णय अन्तिम समझते है, यदि विदेशी सरकार को मान्यता नहीं दी गई तो उसकी सम्पत्ति को कानूनी प्रक्रिया से मुक्ति नही मिल सकती। यह Luther v Sagor के मामले से स्पष्ट हो जायगा।

इसमे १९१७ की क्रान्ति से पहले, रूस मे इमारती लकडी का काम करने वाली वादी (Plaintiff) ब्रिटिश कम्पनी का माल सोवियत सरकार के आदेश से जब्त कर लिया गया, इस माल को रूसी सरकार ने प्रतिवादी ब्रिटिश कम्पनी को बेच दिया। इस पर वादी ने इस माल पर दावा करते हुए इसकी वसूली के लिए ब्रिटिश न्यायालय मे उस पर मुकद्दमा चलाया। उस समय तक ब्रिटिश सरकार ने रूस की सरकार को मान्यता नही प्रदान की थी, अत निचले न्यायालय ने रूसी सरकार की सत्ता स्वीकार

न करते हुए उस माल पर वादी का अधिकार समझा और उसके पक्ष में फैसला किया।

किन्तु इस मामले की अपील उपरली अदालत में जाने के समय तक ब्रिटिश सरकार रूस की सोवियत सरकार को मान्यता प्रदान कर चुकी थी। इससे स्थिति बिल्कुल बदल गई। मान्यता प्राप्त होने के बाद इस माल पर रूसी सरकार का अधिकार माना गया। अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity of Nations) के नियमों के अनुसार विदेशी सरकार की सम्पत्ति के विषय में कोई मामला नहीं चल सकता, उसे इससे उन्मुक्ति (Immunity) प्राप्त होती है, अतः उपरली अदालत ने इस माल पर रूसी सरकार का स्वत्व मानने के कारण इस विषय में वादी की प्रार्थना स्वीकार करते हुए निचले न्यायालय के निर्णय को पलट दिया। यह सोवियत सरकार को मान्यता मिलने के कारण हुआ। इस विषय में न्यायाधीश स्क्रुटन (Scrutton) ने लिखा था "रूसी सरकार से माल खरीदने वाले का उस पर पूरा स्वत्व है, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उसे यह उन्मुक्ति इसलिए प्राप्त है कि उसे सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) राज्य मान लिया गया है। यदि कोई सरकार जनता की सम्पत्ति बिना मुआवजा दिये छीनती है तो उसके प्रतिकार का उपाय यह है कि उसे सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य (Sovereign State) स्वीकार ही न किया जाय।"

कई बार क्रान्तियों और सन्धियों द्वारा किसी राज्य या सरकार के **प्रदेश की सीमाओं में परिवर्तन** हो जाते हैं। इसका मान्यता पर प्रभाव पड़ता है। सामान्यत इस विषय में यही स्थिति है कि नये राज्य और सरकार को पुराने राज्य का उत्तराधिकारी मानते हुए उसे पूर्ववत् मान्यता दी जाय। किन्तु कई बार इस विषय में जटिल प्रश्न उत्पन्न होने के कारण मान्यता का निर्णय करना सुगम नहीं होता। जब दो राज्य मिलकर एक होते हैं तो यह निर्णय करना कठिन होता है कि क्या एक ने दूसरे को अपना अंग (Annex) बना लिया है या दोनों ने अपना पुराना पृथक व्यक्तित्व त्याग कर एक नये राज्य का निर्माण किया है। उदाहरणार्थ, पिछली शताब्दी में जब इटली प्रायद्वीप के विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों का एकीकरण (unification) हुआ तो इसके परिणामस्वरूप इटली को नया राज्य समझना सर्वथा स्वाभाविक था। किन्तु वस्तुत इटली अपने को पीडमाण्ट के पुराने राज्य में अन्य राज्यों के मिलने से बना बृहत् रूप समझता था। यूगोस्लाविया पहले सर्बिया का छोटा सा राज्य था, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पुराने आस्ट्रियन साम्राज्य के विभिन्न दक्षिणी स्लावों क्रोट स्लोवीन आदि जातियों वाले प्रदेशों को सर्बिया में जोड़कर यूगोस्लाविया का राज्य बनाया। इसे जर्मन यूगोस्लाव सम्मिलित पंच अधिकरण (German-Yugoslav Mixed Arbitral Tribunal) ने सर्बिया का पुराना राज्य माना, नया राज्य नहीं स्वीकार किया। किन्तु कैलिफोर्निया के एक न्यायालय ने Artukovic *v* Boyle के मामले में यह निर्णय किया[८] कि यूगोस्लाविया पुराने सर्बिया का बृहत् रूप नहीं है, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध की

---

८. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, १६५३, पृ० ३१६

समाप्ति पर जन्म लेने वाला नया राज्य है।

१९५८ मे मिश्र और सीरिया ने मिलकर जब सयुक्त अरब गणराज्य का रूप धारण किया तो इसे दोनो राज्यो से मिलकर बनने वाली ऐसी इकाई समझा गया जो दोनो का प्रतिनिधित्व करने वाली थी। जब कोई राज्य कई टुकडो मे विभक्त होता है तो यह कहना कठिन होता है कि क्या पुराना राज्य समाप्त हो गया है तथा इसका स्थान दो-तीन नये राज्यो ने ले लिया है अथवा पुराना राज्य अपना प्रदेश कम होने पर भी पुरानी सत्ता बनाये रखता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पुराने आस्ट्रिया-हगरी के साम्राज्य में बहुत अधिक प्रदेश छीन लिया गया, वहाँ राजतन्त्र के स्थान पर गणराज्य की स्थापना की गयी। इससे नवीन आस्ट्रिया के राज्य मे इतने मौलिक परिवर्तन हुए कि इसे पुराने राज्य के लघुरूप के स्थान पर नया राज्य माना गया। किन्तु टर्की के गणराज्य के विषय मे इससे विपरीत स्थिति स्वीकार की गयी। १९वी शताब्दी मे टर्की एशिया तथा दक्षिण पूर्वी योरोप मे फैला हुआ विशाल उस्मानिया (Ottoman) साम्राज्य था, बाद मे इसमें रहने वाली विभिन्न जातियो के द्वारा इसके अनेक प्रदेशो मे स्वतन्त्र राज्य बना लेने से इस साम्राज्य मे क्षीणता आने लगी और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यह बहुत क्षीण और छोटा रह गया, कमाल पाशा ने कई शताब्दियो से चले आने वाले खलीफाओं के निरकुश शासन को समाप्त करके यहाँ गणराज्य की स्थापना की। किन्तु आकार एव शासन पद्धति मे इतने मौलिक परिवर्तन आने पर भी Ottoman Debt Arbitration के मामले मे पच यूजीन बोरेल (Eugene Borel) ने इसे नया राज्य न मानकर उस्मानिया राज्य का वर्तमान रूप माना। अत इस विषय मे गूल्ड (Gould) का यह कथन सत्य है कि सामान्य रूप से किसी राज्य मे प्रादेशिक परिवर्तन और शासन पद्धति के परिवर्तन आने पर भी यह वही पुराना राज्य माना जाता हैं, किन्तु जब ये परिवर्तन बहुत मौलिक हो, इसकी जनसख्या और बनावट मे ऐसे परिवर्तन आ जाय कि नया राज्य पुराने राज्य से बिल्कुल न मिलता हो तो इसे नया राज्य समझना चाहिये।

निर्वासित सरकारो की मान्यता (Recognition of Governments in Exile) —निर्वासित सरकार ऐसे देश की सरकार होती है, जिसके प्रदेश पर दूसरे राज्य ने आक्रमण करके अधिकार कर लिया हो और वहाँ की सरकार दूसरे देश मे चली गई हो। द्वितीय विश्वयुद्ध मे जब हिटलर ने पोलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेन्मार्क, हालैण्ड, फ्रास आदि देशो पर आक्रमण कर सेनाओ द्वारा अधिकार कर लिया तो इन देशो की सरकारें लन्दन चली गई और वहाँ से अपनी मातृभूमि को शत्रु के पजे से मुक्त कराने का प्रयत्न करती रही। उस समय इन सरकारो से सारा प्रदेश छिन चुका था, किन्तु मित्र राष्ट्र इन्ही सरकारो को मान्यता प्रदान करते रहे क्योंकि ये स्वदेश को स्वतन्त्र कराने के प्रयास मे सलग्न थी। यदि युद्ध समाप्त होने तथा शान्ति सन्धि होने के बाद ऐसी निर्वासित सरकार स्वदेश की भूमि पर पुन नियन्त्रण न प्राप्त कर सके तो उसकी मान्यता समाप्त हो जाती है।

स्टिमसन का मान्यता-विषयक सिद्धान्त (Stimson's Doctrine of non-

recognition)—जून १६३२ में जब जापान ने मंचूरिया के चीनी प्रान्त पर आक्रमण किया तो स० रा० अमरीका के विदेशमन्त्री श्री स्टिमसन ने यह महत्वपूर्ण घोषणा की कि स० रा० अमरीका १६२८ की पेरिस की संधि (Pact of Paris) को तोड़कर किये जाने वाले किसी समझौते, संधि या स्थिति को मान्यता नहीं प्रदान करेगा क्योंकि पेरिस की संधि पर स० रा० अमरीका, जापान और चीन के हस्ताक्षर हैं। उसका यह कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़कर उत्पन्न की गई परिस्थिति को मान्यता द्वारा वैधता प्रदान करना ठीक नहीं है। यदि जापान बलपूर्वक चीन के मंचूरिया प्रदेश को हड़प लेता है तो दूसरे देशों को मंचूरिया पर जापान के अधिकार को मान्यता नहीं देनी चाहिये। राष्ट्र संघ ने ११ मार्च १६३२ को पास किये गए प्रस्ताव में स्टिमसन के उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह कहा कि संघ के सदस्यों का यह कर्तव्य है कि वे किसी ऐसी स्थिति, सन्धि या समझौते को स्वीकार न करें जो राष्ट्र संघ के विधान के अथवा पेरिस की संधि के प्रतिकूल हो। किन्तु राष्ट्र संघ ने १६३६ में एबीसीनिया पर इटली के अधिकार को स्वीकार करके स्वयं इस व्यवस्था का उल्लंघन किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद महाशक्तियों ने पुनः इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि स० रा० संघ के चार्टर को भंग करने वाली किसी व्यवस्था को मान्यता नहीं दी जानी चाहिये।

एस्ट्रेडा सिद्धान्त (The Estrada Doctrine)—इस सिद्धान्त का आशय यह है कि राज्यों को मान्यता देने की प्रथा बिलकुल समाप्त कर दी जाय। यह सिद्धान्त मेक्सिको के विदेशमन्त्री जेनारो एस्ट्रेडा (Genaro Estrada) ने १६३० में अपने विदेशी राजदूतों के निर्देशों में प्रतिपादित किया था, अतः यह उनके नाम से प्रसिद्ध है। इन निर्देशों (Instructions) में यह कहा गया था कि मेक्सिको भविष्य में षड्यन्त्रों या क्रान्तियों द्वारा किसी देश की सरकार में परिवर्तन आने पर इस विषय में कोई मान्यता प्रदान नहीं करेगा। इस समय यद्यपि मान्यता देने का सिद्धान्त प्रचलित है, किन्तु यह बहुत दुस्साहसपूर्ण (Presumptuous) है क्योंकि इसमें यह अधिकार मान लिया जाता है कि किसी विदेशी राज्य की कानूनी स्थिति का निर्णय दूसरा राज्य करे। इस प्रकार का निर्णय राज्यों की स्वतन्त्रता (State independence) और प्रभुसत्ता (sovereignty) के अधिकारों पर कुठाराघात करता है और दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में अनुचित रूप से हस्तक्षेप करता है। अतः मेक्सिको की सरकार किसी विदेशी राज्य की सरकार में परिवर्तन होने पर उसके साथ अपने दूतों का सम्बन्ध बनाये रखेगी, किन्तु नई सरकार की मान्यता के विषय में कोई सम्मति प्रकट नहीं करेगी। मान्यता देने का सिद्धान्त दूसरे देशों की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप करने का कारण बड़ा अपमानजनक (Insulting) प्रतीत होता है।

स्वर्लियन (Svarlien) के मतानुसार एस्ट्रेडा सिद्धान्त में यह स्पष्ट रूप से मान लिया गया है कि राजदूत राज्यों को भेजे जाते हैं, सरकारों को नहीं, राज्यों की सत्ता निरन्तर बनी रहती है, सरकारों की सत्ता इस प्रकार निरन्तर नहीं बनी रहती।[1]

---

[1] स्वर्लियन—दी इन्ट्रोडक्शन टू दी ला आफ नेशन्स, पृ० १०८

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा मान्यता (Recognition by International Organizations) — पहले (पृ० १५८) यह बताया जा चुका है कि कई बार नये राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य बनने से मान्यता प्राप्त हो जाती है। राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना के बाद राज्यों की मान्यता के विषय में दो प्रश्न उत्पन्न हुए—(१) क्या किसी राज्य को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने से पहले अन्य राज्यों से मान्यता पाना आवश्यक है ? (२) क्या राष्ट्रसंघ में प्रवेश से किसी राज्य को अन्य राज्यों से मान्यता प्राप्त हो जाती है ? यह स्मरण रखना चाहिये कि संघ में प्रवेश द्वारा किसी राज्य को जो सामूहिक (Collective) मान्यता प्राप्त होती है, वह विभिन्न राज्यों द्वारा दी जाने वाली वैयक्तिक (Individual) मान्यता से भिन्न है। कई बार किसी राज्य को मान्यता देने का प्रश्न संघ में उपस्थित होने पर कुछ सदस्य इसे मान्यता देने के पक्ष में वोट देते थे और कुछ विरोध में। यदि बहुमत से इसे मान्यता देने का प्रस्ताव पास हो जाता है तो विरोध में वोट देने वाले राज्यों को *क्या इसे मान्यता देनी* आवश्यक है ? इस जटिल एवं विवादास्पद प्रश्न का विवेचन **सोवियत यूनियन बनाम लक्जमबर्ग एण्ड सार कम्पनी** (Soviet Union v Luxembourg and Saar Co) के मामले में निर्णय करते हुए कहा गया था—"एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य की मान्यता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह स्पष्ट (Express) रूप से की जाय। १८ सितम्बर १९३४ को सोवियत यूनियन को राष्ट्रसंघ में प्रवेश की अनुमति दी गयी। लक्जमबर्ग भी इस संघ का सदस्य है। यह सत्य है कि लक्जमबर्ग के प्रतिनिधि ने संघ की असेम्बली में सोवियत यूनियन के संघ में प्रवेश के प्रश्न पर वोट नहीं दिया, किन्तु संघ के संविधान की धारा १, पैरा २ के अनुसार कोई भी राज्य असेम्बली के दो तिहाई मतों से संघ का सदस्य बन सकता है। यह स्पष्ट है कि बहुमत का निर्णय उन राज्यों पर भी लागू होता है, जो इसे सदस्य बनाने के पक्ष में न हों अथवा जिन्होंने इसके विरुद्ध वोट दिया हो। संघ के संविधान की धारा (Article) १० के अनुसार संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करें। इस कर्त्तव्य का पालन तभी हो सकता है, जब राज्य एक-दूसरे को मान्यता प्रदान करें। अत इससे यह परिणाम निकलता है कि राष्ट्रसंघ में सोवियत यूनियन का प्रवेश इस बात का सूचक है कि लक्जमबर्ग ने भी सोवियत सरकार को मान्यता प्रदान कर दी है।" किन्तु *अर्जेण्टायना, बेल्जियम तथा स्विट्जरलैंड ने राष्ट्रसंघ का सदस्य होते हुए भी सोवियत* रूस को संघ का सदस्य बन जाने के बाद भी मान्यता नहीं प्रदान की।[10] इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य हो जाने के बाद भी नये राज्य के लिये अन्य राज्यों से पृथक् एवं स्वतन्त्र रूप में मान्यता प्राप्त करना आवश्यक है।

सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ४ के अनुसार चार्टर के दायित्वों (Obligations) को स्वीकार करने वाले शान्तिप्रेमी राज्य इसके सदस्य हो सकते हैं। संघ में प्रवेश का निर्णय सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल असेम्बली करती है। इस

१०. स्वर्लियन—इण्ट्रोडक्शन टू दी ला आफ नेशन्स, पृ० १०२

विषय में यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ऐसा राज्य संघ का सदस्य बन सकता है जिसे अभी तक अन्य राज्यों से मान्यता न मिली हो। उसका स्पष्ट और सरल उत्तर यह है कि जो राज्य संघ का सदस्य बनता है, उसे अन्य राज्यों द्वारा स्वतः अस्पष्ट रूप से मान्यता प्राप्त हो जाती है। जनरल असेम्बली का निर्णय इस विषय में राज्यों की इच्छा का सूचक है और जब वह किसी राज्य को सदस्य बनाता है तो अस्पष्ट रूप से अन्य राज्य उसे मान्यता प्रदान करते हैं। यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) को एक स्पष्ट व्यवस्था बना देनी चाहिए ताकि भविष्य में इस विषय में कोई संदेह न रहे।

सामूहिक मान्यता (Collective Recognition)—उपर्युक्त संदेह को दूर करने के लिए अनेक विधिशास्त्रियों ने सामूहिक मान्यता की पद्धति का समर्थन किया है। ८ मार्च, १९५० को स० रा० संघ के महामन्त्री के निर्देश से तैयार किये गये एक स्मरणपत्र (Memorandum) में अनेक कानूनवेत्ताओं की सम्मति के आधार पर इस पर बल दिया गया था कि विभिन्न राज्यों द्वारा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किसी राज्य को मान्यता देने की प्रचलित पद्धति के स्थान पर स० रा० संघ द्वारा सब राज्यों की ओर से सामूहिक मान्यता देने की प्रणाली शुरू की जानी चाहिए। इसके प्रमुख समर्थक लौटरपाक्ट (Lauterpacht) ने कहा है कि यह पद्धति इस समय भी प्रचलित है और इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। १८३० में लन्दन की सन्धि (Treaty of London) द्वारा यूनान को तथा १८३१ की सन्धि द्वारा बेल्जियम को मान्यता दी गयी थी। १८७८ की बर्लिन की सन्धि करने वाले राज्यों ने बाल्कान प्रायद्वीप के कुछ राज्यों को स्वीकार किया था, १९१३ के लन्दन सम्मेलन द्वारा अल्बानिया के नये राज्य को मान्यता दी गयी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विभिन्न सन्धियों द्वारा पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया आदि नये राज्यों को मान्यता मिली थी।[11]

किन्तु सामूहिक मान्यता के विरुद्ध दो प्रकार की युक्तियाँ दी जाती हैं। पहली तो यह कि लौटरपाक्ट द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त उदाहरण ठीक नहीं हैं, ये सामूहिक मान्यता (Collective Recognition) के नहीं, किन्तु समकालीन मान्यता (Simultaneous Recognition) के उदाहरण हैं। किसी संधि के माध्यम से मान्यता देना राज्यों के समूह द्वारा मान्यता देना नहीं है, किन्तु समूह के विभिन्न राज्यों द्वारा **पृथक्-पृथक् रूप से एक साथ और एक ही समय** में मान्यता देना है। दूसरी युक्ति यह है कि ऐसी व्यवस्था से राज्यों की स्वतन्त्रता का क्षेत्र संकुचित हो जायगा, अतः इस समय इस व्यवस्था को कोई भी राज्य मानने को तय्यार नहीं है। यह सम्भव है कि प्राविधि (Technology) तथा व्यापार की जो शक्तियाँ अब तक राज्यों की स्वतन्त्रता के क्षेत्र को मर्यादित करती रही हैं, वे भविष्य में इतनी प्रबल हो जाएँ कि उस समय सामूहिक मान्यता न केवल वाञ्छनीय अपितु आवश्यक समझी जाय, स० रा० संघ ऐसी सामूहिक मान्यता प्रदान करने लगे।

---

११. स्वर्लियन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०१

मान्यता-विषयक सं० रा० अमरीका की नीति (The Recognition Policy of U. S A)– स० रा० अमरीका की परम्परागत पुरानी नीति यह है कि मान्यता किसी भी तथ्यानुसार (de facto) सरकार या शासन को देनी चाहिये, भले ही वह क्रान्तिकारी शासन हो, पिछली सरकार को बलपूर्वक हटाकर स्थापित हुई हो, वह वैध (Legitimate) शासक न हो, किन्तु यदि वह सरकार देश पर सुदृढ शासन करने का सामर्थ्य रखती है तो उसे स्वीकार किया जाना चाहिये। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के समय १७९२ में विदेशमंत्री थामस जेफरसन (Thomas Jefferson) ने इसका प्रतिपादन करते हुए कहा था—"यह हमारे इन सिद्धान्तों के अनुकूल है कि हम किसी भी ऐसी सरकार को ठीक (Rightful) समझें जो जनता की ठोस रूप से (Substantially) उद्घोषित इच्छा से बना दी गई हो।" "हम किसी भी राज्य को वह अधिकार देने का निषेध नहीं कर सकते, जिस पर हमारी अपनी सरकार की स्थापना हुई है, इस अधिकार के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र अपनी इच्छानुसार किसी भी पद्धति से शासन कर सकता है, इसे अपनी इच्छा से बदल सकता है, यह विदेशी राज्यों के साथ अपना कार्य अपनी इच्छानुसार उचित समझे जाने वाले किसी भी माध्यम से कर सकता है। यह माध्यम राजा, सम्मेलन (Convention), असेम्बली, कमेटी, राष्ट्रपति या इस सरकार में चुना जाने वाला कोई भी रूप हो सकता है।"

१८४८ में योरोप के विभिन्न देशों में क्रान्तियों की बाढ आने पर स० रा० अमरीका के विदेशमंत्री बुकानन (Buchanan) ने जेफरसन के उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि की। १८५१ में एक षड्यन्त्र द्वारा जब नैपोलियन तृतीय फ्रांस का सम्राट् बना तो अमरीकी विदेशमंत्री वैबस्टर ने फ्रांस में अपने राजदूत को लिखा—"राष्ट्रपति वाशिंगटन के समय से अब तक इस सिद्धान्त को स० रा० ने सदैव स्वीकार किया है कि प्रत्येक राज्य को अपनी इच्छा के अनुसार अपना शासन करने का अधिकार है, यह अपने विवेक से अपनी शासन संस्थाओं को बदल सकता है और अपना वैदेशिक कार्य जिन अभिकर्त्ताओं (Agents) से चलाना उचित समझे, उन एजेण्टों का प्रयोग कर सकता है।"

१९वीं शताब्दी में अमरीका की मान्यता-विषयक नीति इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। किन्तु १९१४ से इसमें मौलिक परिवर्तन आने लगे। इस वर्ष राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) ने मैक्सिको के हुएर्टा (Huerta) शासन को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया कि यह केवल सैनिक तानाशाही (Military despotism) है क्योंकि "कानून पर आधारित सरकार के साथ ही सहयोग संभव है, न कि स्वेच्छाचारी शक्ति पर आश्रित सरकार के साथ।" इसी समय से मान्यता के लिये एक दूसरी शर्त भी आवश्यक स्वीकार की जाने लगी, यह 'अमरीकन हितों' को सुरक्षित रखने की इच्छा तथा सामर्थ्य थी। राष्ट्रपति हार्डिंग ने इसी आधार पर १ जनवरी १९२० से ३१ अगस्त १९२३ तक मेक्सिको में शासन करने वाले ओब्रेगोन (Obregon) की सरकार को मान्यता नहीं प्रदान की।

१९१७ की रूसी क्रान्ति द्वारा स्थापित सोवियत सरकार को चौदह वर्ष तक

मान्यता न देने में स० रा० अमरीका की मान्यता सम्बन्धी नीति में मौलिक परिवर्तन आया। २१ मार्च १९२३ को इस नई नीति का समर्थन करते हुए विदेशमंत्री ह्यूजेस ने कहा कि "किसी सरकार की मान्यता के विषय में मौलिक प्रश्न यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों (International obligations) के पालन करने की योग्यता तथा इच्छा कहां तक रखती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शासन की स्थिरता (Stability) महत्वपूर्ण है, आवश्यक है। कुछ ऐसा कहते हैं कि मान्यता के लिये केवल यही आवश्यक है। किन्तु ऐसी स्थिरता का क्या लाभ जिसका उपयोग (अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के) परित्याग (Repudiation) और जब्ती (Confiscation) की नीति का अनुसरण करने में किया जाये। रूस के मामले में हमारे पास मौलिक महत्व रखने वाली एक कसौटी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने की सद्भावना की है।" पहले (पृ० १६५-६) यह बताया जा चुका है कि इसी आधार पर स० रा० अमरीका ने बीस वर्ष बीत जाने पर अब तक साम्यवादी चीन को मान्यता नहीं प्रदान की।

किन्तु चीन के अपवाद के अतिरिक्त स० रा० अमरीका ने एशिया तथा अफ्रीका के योरोपियन साम्राज्यवाद से मुक्त होने वाले सभी देशों को मान्यता प्रदान की है। यद्यपि मान्यता के लिये यह आवश्यक समझा जाता है कि वह देश स्वतन्त्र हो, किन्तु स० रा० अमरीका ने कुछ देशों में राजदूत भेजकर उनको स्वतन्त्र होने से पहले ही मान्यता प्रदान की थी। भारतवर्ष यद्यपि १५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्र हुआ, किन्तु अमरीकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत का असाधारण महत्व अनुभव करते हुए उसकी स्वतन्त्रता का कार्य अग्रसर करने के उद्देश्य से १८ दिसम्बर, १९४२ को भारत में राजदूत के पद वाले व्यक्ति को नियत कर भारत को मान्यता प्रदान की।[१२] इसी प्रकार साइप्रस यद्यपि १६ अगस्त, १९६० को स्वतन्त्र हुआ, किन्तु स० रा० अमरीका ने १ अगस्त को ही उसे मान्यता दे दी।

इस समय स० रा० अमरीका की यह नीति है[१३] कि ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम आदि की विदेशी प्रभुता से अथवा न्यास प्रदेश (Trust Territories) वाले देशों के स्वतन्त्र होते ही, अथवा उनके स० रा० संघ का सदस्य बनने पर उन्हें मान्यता प्रदान की जाय। स० रा० अमरीका ने निम्नलिखित राज्यों को उनके स्वतन्त्र होने के साथ ही मान्यता प्रदान की है। इन राज्यों के नामों के साथ कोष्ठक में उनकी स्वतन्त्रता तथा स० रा० अमरीका द्वारा मान्यता की तिथि दी गयी है—इजराइल (१५ मई, १९४८), बेल्जियन कांगो (३० जून, १९६०), फ्रेंच कांगो (१५ अगस्त, १९६०), केन्द्रीय अफ्रीका (१३ अगस्त, १९६०), घाना (६ मार्च, १९५७), आइवरी कोस्ट (७ अगस्त, १९६०), मलगासी गणराज्य (२६ जून, १९६०), मलाया संघ (३१ अगस्त, १९५७), मारीतानिया इस्लामी गणराज्य (२८ नवम्बर, १९६०),

---

१२. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५, १९६१, पृ० ७१२

१३. देखिये उपर्युक्त जर्नल, पृ० ७०२७-२०

पाकिस्तान (१५ अगस्त, १९४७), फिलिपाइन (४ जुलाई, १९४६), सेनेगाल (२० जून, १९६०), सियरा लिओन (२८ अप्रैल, १९६१), सोमालिया (१ जुलाई, १९६०), टोगो गणराज्य (२० अप्रैल, १९६०), अपर वोल्टा (५ अगस्त, १९६०)। इन सब राज्यों को स० रा० संघ की सदस्यता बाद में प्राप्त हुई। इसके साथ ही स० रा० अमरीका ने स० रा० संघ की सदस्यता पाने वाले प्रायः सभी राज्यों को मान्यता प्रदान की है। नये राज्य विदेशी प्रभुता से स्वतन्त्र होते ही संघ के सदस्य बनते हैं, संघ की सदस्यता के बाद उन्हें स० रा० अमरीका से मान्यता मिलती है।

भारत की मान्यता-विषयक नीति (India's Policy of Recognition of States and Governments)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पहले बीस वर्षों में भारत ने सामान्यतः अन्य देशों की भाँति सभी नये राज्यों को मान्यता प्रदान की है। ऐसी मान्यता देने में भारत ने सदैव इस बात का ध्यान रखा है कि ज्यों ही किसी नये राज्य में राज्य की सब मौलिक विशेषताएं (Conditions of Statehood)—स्वतन्त्रता, अपने प्रदेश पर पूरा नियन्त्रण आदि पूरा हो जाए तो इसे मान्यता प्रदान कर दी जाय। *भारत ने इसके लिये अपने प्रदेश पर सरकार के नियन्त्रण की प्रभावशालिता* (Effectiveness) को एक महत्वपूर्ण कसौटी माना है और वैधता (Legitimacy) के सिद्धान्त को कोई महत्व नहीं दिया। भारत ने क्रान्ति के बाद स्थापित होने वाली, सभी सरकारों को माना है, भले ही वे कम्यूनिस्ट हो या सैनिक। इस विषय में फ्राको का स्पेन ही एकमात्र अपवाद है। साम्यवाद के आतंक के कारण स० रा० अमरीका की, राष्ट्रपति वाशिंगटन के समय से चली आने वाली मान्यता-विषयक नीति में मौलिक परिवर्तन हुआ है और पश्चिमी देश साम्यवादी देशों को मान्यता देने में संकोच करते रहे हैं, किन्तु भारत ने कभी ऐसा नहीं किया। स० रा० अमरीका ने इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के पालन की कसौटी को अधिक महत्व दिया है, किन्तु भारत ने इसे महत्व न देते हुए प्रादेशिक नियन्त्रण की प्रभावशालिता (Effectiveness) को अधिक महत्व दिया है। उसके मत में मान्यता न तो दण्ड है और न पुरस्कार, न यह आपको पसन्द आने वाली बात है और न ही नापसन्द आने वाली।[१४] आप किसी सरकार को चाहे या न चाहे, किन्तु यदि उसका अपने प्रदेश पर सुदृढ शासन है तो आपको उसे मान्यता देनी ही चाहिये।

किन्तु इस विषय में एक महत्वपूर्ण अपवाद है। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करते समय भारत को विभाजन के कारण भीषण दुष्परिणाम भोगने पड़े है, अतः वह ऐसे विभाजन का घोर विरोधी है। इसके साथ ही उसकी वैदेशिक नीति शीतयुद्ध (Cold War) से तथा दोनों गुटों से अलग रहने (Non-alignment) की है, अतः उसने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों गुटों के द्वारा विभक्त देशों की सरकारों को मान्यता नहीं प्रदान की, यद्यपि इनका अपने प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण है। इसके प्रमुख उदाहरण उत्तरी वियतनाम (Vietnam) तथा दक्षिणी वियतनाम, उत्तरी

१४. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५, १९६१, पृ० ४२३

कोरिया और दक्षिणी कोरिया तथा पूर्वी जर्मनी के राज्य है।

भारत सरकार मान्यता देने का कार्य प्रत्यक्ष रूप से प्राय स्पष्ट घोषणा द्वारा नही करती, किन्तु राजनयिक सम्बन्ध (Diplomatic relations) स्थापित करके अप्रत्यक्ष रूप से करती है। श्री नेहरू ऐसी मान्यता को कागजी मान्यता (Paper recognition) समझते हैं, जिसमें दौत्य सम्बन्ध न स्थापित करके केवल मान्यता की घोषणा की जाती है। भारत मे श्री नेहरू तथा अन्य नेता मान्यता को राजनयिक मान्यता (Diplomatic recognition) कहते हैं। केवल इजराइल इसका महत्वपूर्ण अपवाद है। यहाँ कुछ उदाहरणों से भारत की मान्यता-विषयक नीति को स्पष्ट किया जायेगा।[१५]

(क) साम्यवादी चीन सबधी नीति – चीन में १ अक्तूबर, १९४९ को साम्यवादी सरकार स्थापित होते ही उसने अन्य सरकारों से अपनी मान्यता की प्रार्थना की। उस समय चीन मे भारत के राजदूत श्री पणिक्कर ने लिखा है कि साम्यवाद से कोई सहानुभूति न होने पर भी भारतीय नेता साम्यवादी चीन को मान्यता देने के पक्ष मे थे, तत्कालीन गवर्नर जनरल श्री राजगोपालाचारी तथा सरदार वल्लभभाई पटेल इस विषय मे मन्दगामी नीति का अनुसरण करना चाहते थे।[१६] श्री पणिक्कर का यह विचार था कि साम्यवादी चीन को उस समय स्वीकार किया जाय, जब राष्ट्रवादी चीन को चुगकिंग के प्रदेश से खदेड दिया जाय और चीन की मुख्यभूमि मे उसके पास किसी प्रदेश पर अधिकार न रहे। यह सम्मति मानी गई प्रतीत होती है। ज्यो ही च्याग काई शेक की सरकार ने चुगकिंग छोडकर फारमोसा मे शरण ग्रहण की तो सारे एशियाई चीन पर साम्यवादियों का निष्कण्टक एव प्रभावशाली प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस पर ३० दिसम्बर, १९४९ को भारत सरकार के विदेश विभाग की एक प्रेस विज्ञप्ति मे यह कहा गया है कि भारत ने चीन की नई सरकार के साथ दूत-सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया है।

साम्यवादी चीन को मान्यता मुख्य रूप से, श्री नेहरू के कथनानुसार, इस आधार पर दी गई थी कि "उसका चीन की सम्पूर्ण भूमि पर प्रभावशाली नियन्त्रण है, यह सुदृढ शासन है और इसके किसी अन्य शक्ति द्वारा हटाये जाने की सभावना नही है"। आपेनहाइम ने लिखा है कि किसी देश मे जो सरकार अधिकाश जनता मे स्वाभाविक रूप से अपनी आज्ञाओं का पालन (Habitual obedience) कराती हो, इसके स्थिर बने रहने की सभावना हो, इसी सरकार को इस राज्य का प्रतिनिधि समझना चाहिये, इसी कारण इसे मान्यता प्राप्त करने का अधिकार है।"[१७] सरकारों की मान्यता के सम्बन्ध मे अधिकाश राज्यों का व्यवहार प्रभावशालिता (Effectiveness) के इस सिद्धान्त पर आधारित है। स० रा० सघ मे भारत के प्रतिनिधि सर बी० एन० राव ने कहा

१५. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५, १९६१, (पृ० ३६८ से ४१४) में श्री के० पी० मिश्र ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

१६. पणिक्कर—इन टू चायनाज, पृ० ६७

१७. आ नहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० १, पृ० १२७

था कि भारत ने आपेनहाइम द्वारा प्रतिपादित इसी सिद्धान्त के आधार पर साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान की थी।

इस समय यद्यपि चीन ने भारत पर बर्बर आक्रमण करके उसका कई हजार वर्गमील का प्रदेश दबा रखा है, तथापि भारत उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर चीन को मान्यता देने तथा उसे स० रा० संघ का सदस्य बनाने का प्रबल समर्थक है। स० रा० संघ की जनरल असेम्बली के १८वें अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधिमंडल की नेता श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने १४ सितम्बर, १९६३ को न्यूयार्क में एक प्रेस सम्मेलन में कहा था कि भारत अब भी यह विश्वास रखता है कि साम्यवादी चीन को स० रा० संघ का सदस्य बनाया जाना चाहिये।

(ख) **इजराइल-विषयक नीति** —पहले (पृ० १६५) यह बतलाया जा चुका है कि १५ मई, १९४८ को इजराइल राष्ट्र का जन्म होते ही स० रा० अमरीका ने इसे मान्यता प्रदान की, १७ मई को सोवियत रूस ने इसे स्वीकार किया, किन्तु भारत ने इसे १७ दिसम्बर, १९५० को मान्यता दी। इससे पहले इस विषय में भारतीय पार्लियामेंट में निरन्तर प्रश्न उठाये जाते रहे, इजराइल की सरकार इस विषय में निरन्तर आग्रह करती रही, फिर भी इसे *मान्यता देने में विलम्ब हुआ। इसके दो कारण थे—भारतीय* मुसलमानों की भावना का इस विषय में आदर करना तथा अरब राज्यों द्वारा इजराइल की मान्यता का विरोध। पहले (पृ०१६५) इन्हें स्पष्ट किया जा चुका है।

किन्तु इसके साथ ही विलम्ब का एक कारण यह भी था कि इस समय भारत सरकार इजराइल तथा अरब राज्यों में समझौता कराने का प्रयत्न कर रही थी।[१८] भारत सरकार ने दिसम्बर, १९४९ में साम्यवादी चीन की सरकार की स्थापना के कुछ महीने बाद ही इसे मान्यता प्रदान की थी, इजराइल *का प्रश्न अनिश्चित काल* के लिये टाला नहीं जा सकता था, अतः १७ सितम्बर, १९५० को इसे भी मान्यता दी गई।

इसे मान्यता देने के कारण स्पष्ट करते हुए विदेश विभाग के एक प्रवक्ता ने कहा कि इजराइल की सरकार दो वर्ष से स्थापित है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह स्थिर बनी रहेगी। इसका तीसरा कारण यह बताया गया कि इजराइल स० रा० संघ में तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भारत का तथा अन्य देशों का सहयोग कर रहा है। चौथा कारण यह था कि इजराइल को अधिक देर तक मान्यता न देने से इसमें विलम्ब का मूल उद्देश्य—इजराइल तथा अरब राज्यों में समझौता कराने का प्रयास *व्यर्थ हो जाता।*[१९]

(ग) **स्पेन-विषयक नीति**—स्पेन में जनरल फ्रांको की सेनाओं ने २८ मार्च, १९३९ को राजधानी मैड्रिड पर अधिकार कर लिया था और ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इससे पहले २ फरवरी, १९३९ को फ्रांको की सरकार को *मान्यता प्रदान की थी।* फ्रांको हिटलर और मुसोलिनी की सहायता से प्रबल हिंसा, हत्या और विनाश के बाद लोकतन्त्र

---

१८. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल ला, १९६१, पृ० ४०७

१९. वही, पृ० ४०८

के समर्थक स्पेनिश साम्यवादियों को क्रूरतापूर्वक कुचलकर अपना निरंकुश शासन स्थापित कर सका था। धुरीराष्ट्रों का साथी होने से मित्रराष्ट्र स्पेन के विरोधी थे। भारत भी स्पेन के लोकतन्त्र का कट्टर विरोधी तथा निरंकुश शासन का समर्थक होने से उसका आलोचक था। १२ दिसम्बर, १९४६ को जनरल असेम्बली ने इसी कारण से स्पेन को सं० रा० संघ का सदस्य बनने से रोकने का प्रस्ताव पास किया तथा संघ के सदस्यों को स्पेन से राजदूत वापिस बुलाने तथा राजनयिक संबंध तोड़ने का निर्देश दिया।

किन्तु बाद में इस नीति में परिवर्तन आने लगा। ४ नवम्बर, १९५० को जनरल असेम्बली में स्पेन-विषयक उपर्युक्त प्रस्ताव को रद्द करने का प्रस्ताव आया, इस पर भारत, इंगलैंड और फ्रांस तटस्थ रहे। इसके बाद स्पेन के प्रति भारत की नीति में निरन्तर परिवर्तन आने लगा। अक्टूबर, १९५० में स्पेन से व्यापारिक समझौते की वार्ता आरम्भ हुई, १९५२ में भारत सरकार ने बार्सीलोना में एक भारतीय वाणिज्य दूतावास (Consulate) खोलने की चर्चा स्पेन से शुरू की। १९५५ में जब स्पेन सं० रा० संघ का सदस्य बना तो भारत ने उसके पक्ष में वोट दिए और इस पर प्रसन्नता प्रकट की। इसके बाद यह स्वाभाविक था कि भारत स्पेन को मान्यता प्रदान करे। २५ मई, १९५६ को विदेश मंत्रालय द्वारा यह घोषणा की गयी कि यह निश्चय किया गया है कि भारत सरकार और स्पेन की सरकार के मध्य में राजनयिक संबंध स्थापित किये जायं और राजदूतों का आदान-प्रदान हो।[२०] इस प्रकार फ्रांको सरकार की स्थापना के १५ वर्ष बाद तथा अपनी स्वतन्त्रता के ६ वर्ष बाद भारत ने इसे मान्यता प्रदान की।

स्पेन को मान्यता देने के कई कारण थे। पहला और सबसे बड़ा कारण इसका राष्ट्रसंघ का सदस्य बनना था। श्री नेहरू ने लोकसभा में इस सम्बन्ध में यह कहा था कि हमारी यह नीति है कि हम किसी भी ऐसे राज्य को मान्यता प्रदान करें, जो स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाला तथा सं० रा० संघ का सदस्य हो।" स्पेन का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि उसके साथ नीति के प्रश्नों पर हमारा मतभेद है फिर भी हमने उसे मान्यता दी है। स्पेन को मान्यता देने में विलम्ब का कारण भारत का उससे उग्र सैद्धान्तिक मतभेद था, उसे स्पेन की तानाशाही, उसका रक्तपात और हत्याकाण्ड का ढंग पसन्द नहीं था, इसलिये उसे स्पेन से घोर घृणा थी। किन्तु समय ने इसकी तीव्रता को मन्द बनाया और राजनीति की परिवर्तित परिस्थितियों में भारत ने स्पेन को स्वीकार किया और इस दृष्टिकोण को पुष्ट किया कि प्रबल सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी विरोधी सिद्धान्त रखनेवाले राज्यों की सत्ता को अस्वीकार करने का अधिकार किसी राज्य को नहीं है।

---

२०. भारत सरकार मान्यता और राजदूतों के आदान-प्रदान को एक ही समझती है और जब वह किसी देश के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करती है तो इसका यह आशय है कि वह उसे मान्यता प्रदान कर रही है। इसमें एकमात्र अपवाद इजराइल है। किन्तु अन्य कुछ देश मान्यता तथा दूतों के आदान-प्रदान को अभिन्न नहीं, किन्तु सर्वथा भिन्न समझते हैं। २१ मार्च १९५० को हाउस आफ कामन्स में ब्रिटिश परराष्ट्रमंत्री ने घोषणा की थी कि "किसी राज्य

स्पेन को मान्यता देने के कुछ अन्य कारण भी बताये जाते है।[21] पहला कारण पुर्तगाल द्वारा गोआ, दमन, दीव को स्वतन्त्र न करने तथा इन प्रदेशों मे भारतीयों का उग्र दमन करने के कारण पुर्तगाल के साथ भारत के सम्बन्धों का बिगडना था। इसके परिणामस्वरूप अगस्त, १९५५ मे दोनो देशो के राजनयिक सम्बन्ध पूर्णरूप से भग हो गये। इस पर पुर्तगाल ने यह प्रचार किया कि भारत की नीति ईसाइयत का तथा रोमन कैथोलिको का विरोध करने वाली है। स्पेन के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित होने से दो बडे लाभ कहे जाते थे। पहला तो यह कि स्पेन का भारतीय दूतावास पुर्तगाल-विषयक सब समाचार भारत को पहुँचाने मे सहायक होगा। दूसरा लाभ यह था कि इससे यह भ्राति दूर होगी कि भारत सरकार ईसाइयो तथा रोमन कैथोलिको की विरोधी है। इस कल्पना मे कुछ सत्यता सम्भव है।

युद्धावस्था की मान्यता (Recognition of Belligerency)—सामान्यत किसी राज्य में विद्रोह होना उसकी अपनी घरेलू घटना है, अन्य राज्य इस विषय मे सर्वथा उदासीन रहते है, किन्तु कई बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि वे उदासीन नही रह सकते। उन्हे इस विषय मे कार्यवाही करने के लिये बाधित होना पडता है और दोनो पक्षो को युद्धावस्था या युध्यमानता (Belligerency) की मान्यता देनी पडती है। ब्रियर्ली के मतानुसार ऐसी मान्यता देने से पहले दो शर्तों का होना आवश्यक है[22]—(१) विद्रोह का स्वरूप इतना विशाल और व्यापक बन गया हो कि इसने वास्तविक युद्ध का रूप धारण कर लिया हो। विद्रोहियो ने एक सगठित सरकार बना कर निश्चित प्रदेश पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया हो, इनकी सरकार युद्ध के नियमों के पालन पर ध्यान दे रही हो और युद्धकालीन स्वतन्त्र शासक की भाँति कार्य कर रही हो। (२) अन्य राज्यों का इस लडाई से पृथक् रहना सम्भव न हो। पडोसी राज्यों के प्रदेश मे से सेनायें गुजरने से अथवा समुद्र मे दोनो पक्षों द्वारा युद्ध छेड देने पर अन्य राज्य तटस्थ नही रह सकते। उन्हे यह निश्चय करना होगा कि जिस समुद्री प्रदेश मे सघर्ष हो रहा है, वहाँ क्या उनके जहाजों की शस्त्रादि विनिषिद्ध (Contraband) वस्तुओ को ले जाने के लिए तलाशी ली जाय, उनके जहाज नाकाबन्दी भग करने के लिये पकडे जाए या नही। दूसरा राज्य यदि इन कार्यों का विरोध करता है तो उसे जबर्दस्ती लडाई मे कूदने के लिये बाधित होना पडेगा। इससे बचने का यही मार्ग है कि दोनो पक्षो को युद्धावस्था की मान्यता देकर उन्हे युध्यमान अथवा लडाई करने वाला (Belligerent) मान लिया जाय। इस मान्यता के बाद ही दूसरा राज्य अपने को तटस्थ रखता हुआ उसके सब लाभ प्राप्त कर सकता है।

या सरकार की मान्यता के प्रश्न को उसके साथ दूत-सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न से बिल्कुल पृथक् रखना चाहिये, यह पूर्ण रूप से राज्य की इच्छा पर निर्भर है।" इसका यह आशय है कि यदि हम किसी नई सरकार या राज्य को उसके राजनीतिक सिद्धान्तों के कारण पसन्द नहीं करते तो भी हमें उसे मान्यता देनी पडेगी, किन्तु उसके साथ दूत-सम्बन्ध रखना आवश्यक नहीं है।

२१. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९६१, पृ० ४०८

२२. ब्रयर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० १३३

युद्धावस्था की मान्यता देने वाला राष्ट्र यह मान लेता है कि दोनो पक्षो में युद्ध की स्थिति है। यह दोनो के लिए समान रूप से लाभप्रद है। ऐसी मान्यता देने वाला राज्य इससे तटस्थ रहने वाले देश के सब अधिकार और सुविधाय प्राप्त कर लेता है तथा ऐसी मान्यता दिये जाने वाले राज्य को यह लाभ होता है कि वह अपने विद्रोहियो द्वारा अन्य राज्यो को हानि पहुँचाने वाले कार्यो के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। सर एन्थनी ईडन ने १९३७ मे इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा था—"युद्धावस्था की मान्यता इससे सर्वथा भिन्न है कि आप एक प्रदेश मे दो परस्पर विरोधी सरकारो मे से किसे वैध मानते है। इसमे इसका कोई सम्बन्ध नही है। इस विचार का केवल इतना ही तात्पर्य है कि यह युद्धावस्था के अधिकार प्रदान करती है, ये अधिकार मान्यता प्रदान करने वाले तथा इसे प्राप्त करने वाले दोनो राज्यो के लिये सुविधाजनक होते हैं।"

युद्धावस्था की मान्यता से लडने वाले दोनो पक्षो को तथ्यानुसार (de facto) अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा प्राप्त होता है, वे अन्य देशो मे ऋण ले सकते है विनिषिद्ध सामग्री के लिये जहाजो की तलाशी ले सकते है ऐसी सामग्री जब्त कर सकते हैं उनके जहाज मान्यता देने वाले देश के बन्दरगाहो मे जा सकते है। मान्यता देने वाले देशो को तटस्थता के नियमो का पालन करना पडता है।

युद्धावस्था की मान्यता से विद्रोहियो को बडा लाभ पहुँचता है और सुविधाये मिलती हैं, अत कोई भी राज्य अपने विद्रोहियो को ऐसा लाभ पहुँचाने वाली मान्यता देने के कार्य को अच्छा नही समझता। अत इस प्रकार की मान्यता देना बडा जटिल कार्य होता है। इस मान्यता को विद्रोह के दबाने मे लगी हुई सरकार असामयिक, अनुचित और शत्रुतापूर्ण समझती है। १८६१ मे स० रा० अमरीका मे गृहयुद्ध छिडने पर ब्रिटिश सरकार द्वारा दोनो पक्षो को युद्धावस्था की मान्यता प्रदान किये जाने पर वाशिंगटन ने इसका विरोध किया था। उसका कहना था कि दक्षिणी राज्यो के विद्रोह ने युद्ध का रूप नही धारण किया, यदि यह वास्तव मे युद्ध था तो ब्रिटिश सरकार को ऐसी मान्यता देने की कोई आवश्यकता नही थी; दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि ऐसी मान्यता न दिये जाने से उसके जहाजो को बडी क्षति पहुँच रही है। इसी प्रकार १९वी शती के पूर्वार्ध मे स्पेन की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह करने वाले दक्षिण अमरीका के राज्यो को स० रा० अमरीका द्वारा युद्धावस्था की मान्यता प्रदान करना स्पेन के लिए बडे सन्ताप का विषय था, वह इसे असामयिक समझता था। १९३६–३९ के स्पेन के गृहयुद्ध मे ग्रेट ब्रिटेन एव फ्रास की सहानुभूति स्पेन के गणराज्य के साथ थी, किन्तु फ्राको के विद्रोही पक्ष को नाराज करने मे कई खतरे थे। अत इस समय इन देशो ने दोनो पक्षो को युद्धावस्था की मान्यता नही दी, किन्तु अहस्तक्षेप (Non-intervention) की नई नीति को एक समझौते द्वारा अपनाया। इसके अनुसार समझौता करने वाले देशो ने यह निर्णय किया कि वे अपने देशवासियो द्वारा किसी पक्ष को हथियार नही भेजने देगे। यह व्यवस्था स्पष्ट रूप से गणराज्यवादी वैध सरकार के लिये अन्यायपूर्ण थी क्योकि उसके विरोधी जनरल फ्राको के पक्ष को इटली और जर्मनी मे

पर्याप्त सहायता मिल रही थी।

सह-युद्धावस्था (Co-belligerency)—प्रथम विश्वयुद्ध मे मित्रराष्ट्रों ने पोलिश राष्ट्रीय समिति की अध्यक्षता मे इनकी ओर से लडने वाली सेना को सह युद्धावस्था की मान्यता दी थी। इसी प्रकार दूसरे विश्वयुद्ध मे मित्रराष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध सघर्ष करने वाली इटालियन सेनाओं को तथा जनरल डिगाल की अध्यक्षता मे लडने वाली फ्रेंच सेनाओ को ऐसी मान्यता दी थी। इस मान्यता के परिणामस्वरूप इन्हें एक मान्यता प्राप्त राज्य की सशस्त्र सेनाओं के अधिकार प्राप्त हो गये। आगे यथा-स्थान इन अधिकारों का विस्तृत वर्णन होगा।

अभिद्रोह की मान्यता (Recognition of Insurgency)—युद्धावस्था की मान्यता यह सूचित करती है कि किसी राज्य मे विद्रोह या गृहयुद्ध की अवस्था मे विद्रोहियों के पास एक बडे निश्चित प्रदेश पर नियन्त्रण और अपनी सगठित सरकार है, किन्तु उनकी स्थिति अभी ऐसी नही है कि उसे नये राज्य की मान्यता दी जा सके। किन्तु यदि क्रांतिकारी अपने देश के बडे भाग पर अपना सुदृढ नियन्त्रण रखते हुए भी मातृभूमि की सरकार के प्रति शक्तिशाली विरोध और सघर्ष जारी रख सके तो इनकी स्थिति क्या होगी? यह अवस्था दक्षिणी अमरीका के राज्यो मे प्राय उत्पन्न होती रहती थी, अत वहाँ इसका समाधान करने के लिये अभिद्रोह की स्थिति (Status of Insurgency) की मान्यता का विकास किया गया। यह इसलिये करना पडा कि स रा० अमरीका के अनेक नागरिक इन विद्रोहों मे भाग लेते थे और सहायता पहुँचाते थे। यदि उन्हें केवल विद्रोही समझा जाय तो उन्हें सामान्य विद्रोहियों की भांति फासी की सजा दी जा सकती थी। किन्तु उन्हें अभिद्रोही मान लेने वाले राज्य यह समझते थे कि इस प्रकार इनमे भाग लेने वाले व्यक्ति विद्रोहियों का दण्ड पाने से बच जायगे तथा वे तटस्थ देशों मे मातृ-देशों को पहुचाई जाने वाली शस्त्रास्त्र सामग्री की सहायता को रोक सकेंगे। स० रा० अमरीका की सरकार यह नही चाहती थी कि उसके नागरिक विद्रोहियों को सहायता पहुँचाय तथा उसकी तटस्थता के नियमो का उल्लघन करें।[२२] यह इसी प्रकार हो सकता था कि विद्रोहियों द्वारा मातृभूमि के साथ सघर्ष को युद्ध की मान्यता दे दी जाय। ओपेन-हाइम के मतानुसार प्राय ऐसा होता है कि गृहयुद्ध को 'युद्धावस्था' की मान्यता नही दी जा सकती, ऐसा होने की अवस्थायें निम्नलिखित हैं—विद्रोहियो का एक सगठित सत्ता के नेतृत्व मे कार्य न करना, विस्तृत प्रदेश पर नियन्त्रण न होना, विद्रोहियो द्वारा युद्ध के नियमो के पालन की असमर्थता। इस दशा मे इन्हें अभिद्रोही का दर्जा देकर इनको तथ्यानुसार (de facto) शासन सत्ता मान लिया जाता है, परिणामस्वरूप इस प्रदेश मे अन्य राज्य अपने नागरिको की तथा व्यापार की सुरक्षा करने मे समर्थ हो जाते है।

मान्यता देने के आधार (Bases of Recognition) किसी नये राज्य को मान्यता प्रधान रूप से राजनीतिक कारणो से दी जाती है, फिर भी कुछ ऐसी अवस्थायें हैं जिनके पूरा होने पर ही मान्यता दी जाती है। प्राय राज्यो के विदेश विभाग

२२ फेनविक—इन्टरनेशनल ला, पृ० १४७-४८

मान्यता देने के लिए निम्नलिखित शर्तों का होना आवश्यक समझते है —(१) नये राज्य का बाह्य शक्ति के नियन्त्रण मे न होना, इसका स्वतन्त्र तथा सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign) होना। (२) इस राज्य की सरकार की सुदृढता और स्थायित्व। (३) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के दायित्वों को पालन कर सकने की इच्छा तथा सामर्थ्य। इन आवश्यक शर्तों के पूरा होने पर ही मान्यता दी जा सकती है।

किन्तु अधिकाश राज्य मान्यता पर राजनीतिक दृष्टि से विचार करते है। इसी कारण साम्यवादी चीन की सरकार को इसके स्थापित होने के तेरह वर्ष बाद, अब तक स० रा० अमरीका से मान्यता नहीं मिली और वह स० रा० सघ का सदस्य नहीं बन सका। स० रा० अमरीका अभी तक चीन की पुरानी राष्ट्रीय सरकार को ही चीन की कानूनी सरकार मानता है। इस समय सारे चीनी महाद्वीप मे साम्यवादी शासन है, राष्ट्रवादी सरकार को चीन की भूमि से भागकर फारमोसा टापू मे शरण लेनी पडी है। यहा च्याग काई शेक की सत्ता अमरीकी सहायता के आधार पर ही है। चीन की जनता का अधिकाश भाग साम्यवादी सरकार का पोषक है। ग्रेट ब्रिटेन ने चीन मे अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण साम्यवादी सरकार को स्वीकार कर लिया है। भारत, सोवियत रूस तथा अन्य अनेक देश इसे मान्यता प्रदान कर चुके है। भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि चीन की साम्यवादी सरकार को भारत ने अनेक कारणो से स्वीकार किया है समूचे चीनी महाद्वीप मे साम्यवादी शासन इतनी सुदृढता से सुप्रतिष्ठित हो चुका है कि इसे वहा से हटाया नही जा सकता राज्यो की मान्यता देने मे वैयक्तिक रुचि या इच्छा का प्रश्न नहीं होना चाहिए। दूसरी ओर स रा० अमरीका का यह कहना है कि चीन अपने अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यो के पालन की इच्छा नही रखता, वह पडोसी देशो पर आक्रमण करके इनकी अवहेलना करता है, अत उसे मान्यता नही दी जानी चाहिए और स० राष्ट्र सघ का सदस्य नही बनाना चाहिए।

मान्यता के परिणाम (**Consequences of Recognition**)—नये राज्य को मान्यता प्रदान करने के कई कानूनी परिणाम होते है, इसे अन्तर्राष्ट्रीय तथा देशीय कानून (Municipal Law) की दृष्टि से कई अधिकार और शक्तियाँ प्राप्त होती है। जब तक किसी राज्य को मान्यता नहीं मिलती तब तक उसे निम्नलिखित हानिया (Disabilities of Unrecognised State) सहन करनी पडती हैं—(क) ऐसा राज्य इसे स्वीकार न करने वाले राज्यो की अदालतो मे अभियोग नहीं चला सकता। Russian Socialist Federated Soviet Republic v Cibrario के मामले मे निर्णय मे इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया था —'एक विदेशी शक्ति हमारे न्यायालयों मे अपना मामला अपने किसी अधिकार के कारण नही लाती किन्तु इसका यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity) से उत्पन्न होता है। जब तक स० रा० अमरीका किसी राज्य को मान्यता नहीं देता, तब तक उसके साथ इस सौजन्य का अभाव होता है।"

(ख) उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार किसी मान्यता रहित सरकार के कार्यों

को क्रियान्वित करने का कार्य इसे स्वीकार न करने वाले राज्यों के न्यायालय कभी नहीं करेंगे।

(ग) अमान्य सरकार के प्रतिनिधि दूतों को दिये जाने वाले विशेषाधिकारों की तथा उन्मुक्तियों की मांग नहीं कर सकते।

(घ) जिस राज्य की सरकार को मान्यता नहीं प्राप्त हुई, उसे मिलने वाली सम्पत्ति उस सरकार के प्रतिनिधि प्राप्त कर लेते हैं, जो नई सरकार द्वारा हटा दी जाने पर भी दूसरे देशों की दृष्टि में कानूनी सरकार है।

नये राज्य के मान्यता प्राप्त कर लेने पर उसकी उपर्युक्त अयोग्यतायें और हानियाँ दूर हो जाती हैं। उसे निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं—

(१) मान्यता देने वाले राज्य के न्यायालयों में मान्यताप्राप्त राज्य मुकद्दमा चला सकता है।

(२) इसके कानूनों और कार्यों को अन्य राज्य स्वीकार करते हैं और क्रियान्वित करते हैं।

(३) अपनी सम्पत्ति तथा राजदूतों के सम्बन्ध में दूसरे देशों के न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से इसे उन्मुक्ति (Immunity) मिल जाती है।

(४) मान्यता देने वाले राज्य के अधिकार-क्षेत्र में विद्यमान सम्पत्ति का दावा करने और प्राप्त करने का अधिकार मान्यता पाने वाले राज्य को मिल जाता है।

(५) इसे अन्य राज्यों के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित करने का और संधियाँ करने का अधिकार मिल जाता है।

(६) मान्यता भूतप्रभावी (Retroactive) होती है। यद्यपि मान्यता क्रान्ति या विद्रोह से उत्पन्न होने वाली नई सरकार के स्थापित होने के काफी समय बाद दी जाती है, किन्तु एक बार दिये जाने के बाद इसका प्रभाव भूतकाल में इस सरकार की स्थापना के समय से होता है। इस समय में हुआ सम्पत्ति का विनिमय तथा अन्य बहुत से कानूनी व्यवहार मान्यता न होने पर अवैध समझे जाते, किन्तु मान्यता इन सब कार्यों को वैध बना देती है। मान्यता प्रदान करने वाले राज्य के न्यायालय इनकी वैधता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं कर सकते।

आठवाँ अध्याय

राज्य-उत्तराधिकार

(State Succession)

राज्य-उत्तराधिकार का स्वरूप (Nature of State Succession)—जब किसी राज्य का कोई प्रदेश उसकी प्रभुसत्ता और आधिपत्य से निकल कर दूसरे राज्य को प्राप्त होता है तब पहले राज्य को पूर्वाधिकारी (Predecessor) तथा दूसरे को उत्तराधिकारी (Successor) राज्य कहा जाता है तथा इस प्रक्रिया को उत्तराधिकार (Succession) कहते हैं। ओपेनहाइम ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों (राज्यों) का उत्तराधिकार उस समय होता है, जबकि एक या अनेक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति किसी दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति की स्थिति में कुछ परिवर्तन आने के कारण उसका स्थान ले लेते हैं।"[1] उदाहरणार्थ, १६४७ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा पास किये गए एक कानून द्वारा ब्रिटिश सत्ता में रहने वाला प्रदेश भारत और पाकिस्तान नामक दो पृथक् डोमिनियन राज्यों में विभक्त हो गया। ब्रिटिश भारत के पूर्वाधिकारी राज्य के स्थान पर भारत और पाकिस्तान के दो उत्तराधिकारी राज्य बन गये, एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का स्थान दो नये अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों ने ले लिया।

कुछ विधिशास्त्रियों (Jurists) ने उत्तराधिकार शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। वे वैयक्तिक कानून (Private Law) की शब्दावली से लिए गए इस शब्द का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में वाञ्छनीय नहीं समझते। स्टार्क का यह मत है कि जिस प्रकार वैयक्तिक कानून में एक व्यक्ति के मृत होने पर उत्तराधिकारी उसका स्थान पूर्ण रूप से ग्रहण कर लेता है, ऐसा राज्यों में नहीं होता।[2] ब्रियर्ली के शब्दों में "उत्तराधिकार प्रधान रूप से वैयक्तिक कानून का सिद्धान्त है। इसमें यह सूचित होता है कि कुछ अंशों में राज्य की समाप्ति की तुलना व्यक्ति की मृत्यु से की जा सकती है। किन्तु शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से राज्यों की कभी मृत्यु नहीं होती, उनकी जनसंख्या और प्रदेश लुप्त नहीं होते, इनका केवल राजनीतिक परिवर्तन होता है।"[3] यहाँ मुख्य रूप से किसी प्रदेश की प्रभुसत्ता में परिवर्तन होता है, इसमें पूर्वाधिकारी के अधिकार और दायित्व नवीन राज्य को मिल जाते हैं। ओपेनहाइम ने लिखा

---

१. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खं० १, ८वां संस्करण, पृ० १५७
२. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टु इण्टरनेशनल ला, ४र्था संस्करण, पृ० २४६
३. ब्रियर्ली—दी ला आफ नेशन्स, पृ० १४३

है "राज्यों का व्यवहार यह प्रदर्शित करता है कि राष्ट्रों के कानून के अनुसार सामान्य उत्तराधिकार नहीं होता। एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति की समाप्ति के साथ व्यक्ति के रूप में इसके सब अधिकार और कर्तव्य समाप्त हो जाते है।" फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि उत्तराधिकारी राज्य को पूर्वाधिकारी राज्य से कुछ अधिकार और दायित्व प्राप्त होते है।

वैयक्तिक उत्तराधिकार जिस प्रकार मृत्यु और दिवालियापन आदि अनेक कारणों में होता है, उसी प्रकार राज्य का उत्तराधिकार किसी राज्य के युद्ध में पराजय विजय, विघटन आदि कई कारणों में उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध में आस्ट्रिया हंगरी के पराजित होने पर उसका विशाल साम्राज्य पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी रूमानिया व यूगोस्लाविया में बँट गया। जर्मनी द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के दो राज्यों में विभक्त है। विजय के अन्य उदाहरण जापान द्वारा १९१० में कोरिया पर तथा १९३६ में इटली द्वारा एबीसीनिया पर प्रभुत्व प्राप्त करना था।

राज्यों के उत्तराधिकार में इनके व्यक्तित्व का प्रश्न बड़ा जटिल और मनोरंजक है। नया किसी राज्य के दूसरे प्रदेशों के साथ मिलने पर उसका व्यक्तित्व पुराना ही बना रहता है या उसे नया व्यक्ति समझना चाहिए? कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि इस विषय में कोई एक नियम नहीं है। १८७० में इटली के विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों के एकीकरण से प्रादुर्भूत राज्य को नया राज्य समझना सर्वथा स्वाभाविक है, किन्तु वह स्वयं अपने को अन्य राज्यों के सम्मिलन से वृद्धि को प्राप्त हुआ पीडमाण्ट का पुराना राज्य समझता था। किन्तु इसके विपरीत कैलिफोर्निया के एक न्यायालय ने Artukovic *v.* Bayle के मामले में यह निर्णय दिया था कि यूगोस्लाविया पुराने सर्बिया के राज्य का बृहत् रूप नहीं, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बना हुआ नया राज्य है। इसी प्रकार जब एक राज्य का विघटन होकर उसके दो या अधिक राज्य बनते हैं तो यह कहना कठिन है कि क्या पुराना राज्य समाप्त हो गया है अथवा वह अभी तक विद्यमान है और केवल उसका प्रदेश नये राज्यों के बन जाने से घट गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बनने वाला आस्ट्रिया का गणराज्य संभवतः एक नया राज्य था, न कि आस्ट्रिया-हंगरी के पुराने साम्राज्य की परम्परा अविच्छिन्न रखने वाला संकुचित प्रदेश और नई शासन-प्रणाली वाला राज्य। इसके विपरीत टर्की के गणराज्य को खलीफा के तुर्क साम्राज्य का ही उत्तराधिकारी समझा जाता था, यद्यपि उसके भूतपूर्व प्रदेशों से अनेक राज्यों का निर्माण हो चुका था।

उत्तराधिकार के दो प्रकार (Two kinds of Succession)—(१) **सार्वभौम उत्तराधिकार (Universal Succession)**—जब एक राज्य का समूचा प्रदेश दूसरे राज्य द्वारा पूर्ण रूप से अपने में मिला लिया जाता है तो पहले राज्य की सारी भूमि पर उत्तराधिकारी राज्य का प्रभुत्व हो जाने के कारण यह सार्वभौम उत्तराधिकार कहलाता है। यह प्रधानतः निम्न रूपों द्वारा सम्पन्न होता है—(क) **विजय द्वारा**—

विजेता राज्य विजित राज्य का सारा प्रदेश जीतकर उसे अपने राज्य में मिला लेता है, जैसा १६०१ में ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिण अफ्रीका के गणराज्य को जीतकर उसे अपने साम्राज्य में मिलाया। एबीसीनिया और कोरिया के उदाहरणों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। (२) कई राज्यों द्वारा मिलकर एक संघ या संघीय राज्य बनाना १८७१ में अनेक जर्मन राज्यों ने मिलकर जर्मन साम्राज्य का निर्माण किया। १ फरवरी १६५८ को मिश्र और सीरिया ने मिलकर संयुक्त अरब गणराज्य को जन्म दिया। (३) **विभाजन**—जब एक राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के स्थान पर उसकी प्रभुता दो राज्यों या अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों को मिलती है, जैसे १६४७ में ब्रिटिश भारत से भारत और पाकिस्तान के दो नये राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

(ख) आंशिक उत्तराधिकार (Partial Succession)—जब उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य के समूचे प्रदेश या भूमि की प्रभुसत्ता न ग्रहण करके उसके कुछ अंश या हिस्से का स्वामी बनता है तो इसे आंशिक उत्तराधिकार कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—(१) जब एक राज्य का कुछ प्रदेश मातृभूमि से विद्रोह करके स्वतन्त्र राज्य बनता है जैसे संयुक्त राज्य अमरीका ग्रेट ब्रिटेन से स्वतन्त्रता की घोषणा करके तथा युद्ध करके १७७६ में स्वतन्त्र राज्य बना। (२) जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के कुछ हिस्से को विजय द्वारा या हस्तान्तर (Cession) द्वारा प्राप्त करता है, जैसे सं० रा० अमरीका को १८४७ में कैलिफोर्निया का प्रदेश प्राप्त हुआ। (३) विघटन द्वारा – जब एक पूर्ण प्रभुता सम्पन्न (Sovereign) राज्य अपनी स्वतन्त्रता खोकर किसी दूसरे राज्य के आधिपत्य या संरक्षण में चला जाता है, १६३८ में म्यूनिख में चैकोस्लोवाकिया का इसी प्रकार का विघटन हुआ था।

राज्य-उत्तराधिकार के परिणाम (Consequences of Succession)—जब उत्तराधिकार द्वारा एक राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का स्थान दूसरा राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति ग्रहण करता है तो प्रभुसत्ता के परिवर्तन के साथ दोनों के अधिकारों और दायित्वों में बड़ा परिवर्तन आ जाता है। कई बार इसे सन्धियों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। किन्तु इस विषय में कोई सर्वसम्मत नियम या व्यवस्थायें नहीं हैं, प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के हितों की दृष्टि से उचित एवं न्यायपूर्ण व्यवहार का प्रयत्न किया जाता है। इसमें अत्यधिक वैविध्य और जटिलताएं पायी जाती हैं। यहां उत्तराधिकार द्वारा प्रभावित होने वाले कुछ प्रमुख अधिकारों और दायित्वों का वर्णन किया जायगा।

(अ) सन्धि-विषयक अधिकार और दायित्व (Treaty rights and Obligations) —इस विषय में उत्तराधिकारी राज्य के अधिकार इस बात पर निर्भर है कि उसका उत्तराधिकार किस प्रकार का है। यदि यह सार्वभौम है, स्वेच्छापूर्वक अथवा विजय द्वारा पूर्वाधिकारी राज्य उत्तराधिकारी में पूर्णरूप से विलीन हो चुका है तो उसकी सब सन्धियां समाप्त हो जाती हैं। राजनीतिक अथवा दूसरे देशों के साथ मैत्री के लिए की गई सन्धियों के विषय में यह बात पूर्ण रूप से लागू होती है और व्यापारिक सन्धियों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। उदाहरणार्थ, १८६६ में जब फ्रांस ने मैडा-

गास्कर टापू को अपने साम्राज्य मे मिलाया तो उसने ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका द्वारा मैडागास्कर की रानी के साथ की गई व्यापारिक संधियो की कोई परवाह न करते हुए वहाँ फ्रेंच सरकार के नियम लागू कर दिये। जापान ने कोरिया मे ऐसा किया था। अतः कीथ ने यह सत्य ही लिखा है कि—विजेता राज्य उत्तराधिकार मे कोई सधियाँ नही प्राप्त करते। इसे कोरी स्लेट का सिद्धान्त (Clean Slate Theory) भी कहते है, क्योकि नया राज्य पिछली सब संधियों को धो-पोछ कर कोरी स्लेट पर सर्वथा नई संधियाँ लिखता है। मैक्नेयर (Mcnair) के शब्दो मे "पूर्वाधिकारी राज्य से अविच्छिन्न सम्बन्ध न रखने वाले राज्य सधियो के दायित्वो को कोरी स्लेट से शुरू करते है।" ब्रिटिश विधिशास्त्रियो मे हाल, हालैण्ड और आपेनहाइम 'कोरी स्लेट का सिद्धान्त' के अनुयायी है, किन्तु वैस्टलेक इसे नही मानता। अमरीकी विधिवेत्ताओ मे ह्वीटन, हर्शबी तथा फेनविक इसके पक्षपाती और कैण्ट, फील्ड तथा ब्लुन्श्ली इसके विरोधी है। व्यापार और प्रत्यर्पण (Extradition) की सधियाँ भी पुराने राज्य के साथ समाप्त हो जाती है।

किन्तु पुराने राज्य द्वारा की गई निम्नलिखित प्रकार की सधियाँ नये राज्यो को स्वीकार करनी पड़ती है - (क) सामान्य उपयोगिता की सधियाँ तथा समझौते—डाक, तार, टेलीफोन, दास-व्यापार निषेध, स्वास्थ्य, मादक द्रव्य निषेध आदि के समझौते इसी प्रकार के हैं। १९४७ मे पाकिस्तान भारत से पृथक् हो गया किन्तु १९२१ मे भारत ने स्त्रियो के अनैतिक व्यापार की रोकथाम के लिए जिस अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर किये, वह पाकिस्तान पर भी लागू समझा गया। इसी प्रकार भारत द्वारा स्वीकार किये गए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन समझौते भी पाकिस्तान के लिए मान्य समझे गये। (ख) स्थानीय अधिकारो तथा प्रादेशिक अधिकारो की सधियाँ— कई बार समाप्त होने वाले राज्य की सधियाँ तथा परम्पराये उसकी भूमि, नदियो, सडको, रेलो, सीमान्त रेखाओ, नदियो के नौचालन, अपने प्रदेश मे होकर रास्ते का अधिकार तथा अन्य सुविधाओ (Easements) के बारे मे होती हैं। नये राज्य को इनका पालन करना पडता है।

ब्रियर्ली[४] के मतानुसार कुछ सधियाँ प्रदेश-व्यवस्थापक (Dispositive) होती है, ये किसी प्रदेश को कुछ ऐसी विशेषताए प्रदान करती हैं जो वैयक्तिक कानून की परवत्ता (Servitudes) तथा सुविधाओं (Easements) से सादृश्य रखती है "जब कोई राज्य इस प्रकार की सधि से प्रभावित प्रदेश को ग्रहण करता है तो यह केवल इस प्रदेश को ही नही लेता, किन्तु इसमे सम्बद्ध सधियो और दायित्वो को भी ग्रहण करता है। तटस्थीकरण की अथवा सीमावर्ती नदी के प्रयोग को नियन्त्रित करने वाली सधियाँ ऐसी सधियो के उदाहरण हैं।"

किन्तु जब एक राज्य का थोडा-सा ही प्रदेश दूसरे राज्य को मिलता है तो इसके सधि-विषयक अधिकारो तथा दायित्वो मे कोई परिवर्तन नही आता। इसी प्रकार

---

४. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४५

जब किसी राज्य का कोई अंश पृथक् होकर नया राज्य बनता है तो पुराने राज्य को सब सन्धियों का पालन करना पड़ता है।

(आ) साम्पत्तिक अधिकार (Public Property Rights)—राज्य की प्रभुसत्ता में परिवर्तन के समय इस प्रदेश में विद्यमान पूर्वाधिकारी राज्य की सब सार्वजनिक सम्पत्ति (Public property), बैंक, सरकारी इमारत, सरकारी रुपया, सरकारी रेलें उत्तराधिकारी राज्य को मिलती हैं। उत्तराधिकारी राज्य विदेशों में इसकी चल, अचल सम्पत्ति का अधिकारी होता है। इसे पिछली सरकार की सड़कों, नदियों, रेलों आदि के तथा अन्य प्रकार के टैक्स वसूल करने का अधिकार होता है।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने Polish Upper Silesia (merits) के मामले में यह कहा था कि सन्धि न होने पर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का परम्परागत (Customary) नियम है कि राज्य-उत्तराधिकार के परिणामस्वरूप मिलाये जाने वाले प्रदेश की सम्पत्ति नये राज्य को प्राप्त होती है। वर्साय सन्धि की धारा सं० २५६ इस धारणा की पुष्टि करती है। ब्रिटिश न्यायालयों ने Hail Selasie *v* Cable S. Wireless Co Ltd के मामले में इस नियम का समर्थन किया था (देखिये परिशिष्ट प्रथम)। इसमें कम्पनी द्वारा ईथियोपिया की सरकार को दी जाने वाली राशि के सम्बन्ध में चासरी डिवीजन के न्यायालय ने यह निर्णय किया था कि यह हेलसिलासी को दी जानी चाहिये। उस समय ब्रिटिश सरकार उसे ईथियोपिया का विध्यनुसार (De jure) शासक मानती थी। किन्तु जब इस मामले की अपील ऊपर के न्यायालय में ले जायी गई, तब तक ब्रिटिश सरकार इटली के राजा को ईथियोपिया का विध्यनुसार सम्राट् स्वीकार कर चुकी थी, अतः निचले न्यायालय का निर्णय बदलते हुए उपर्युक्त धनराशि पर इटली के राजा का अधिकार माना गया क्योंकि उत्तराधिकार द्वारा वह हेलसिलासी का स्थान ग्रहण कर चुका था। सं० रा० अमरीका के गृहयुद्ध में इंगलैंड में विद्यमान दक्षिणी राज्यों की सरकार (Confederate government) की सम्पत्ति के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त लागू करते हुए ब्रिटिश सरकार ने लिवरपूल में शरण ग्रहण करने वाले दक्षिणी राज्यों का एक युद्धपोत Shenandoah सं० रा० अमरीका की सरकार को प्रदान किया था।

किसी प्रदेश में विजय द्वारा प्रभुसत्ता का परिवर्तन होने पर भी वैयक्तिक सम्पत्ति (Private property) के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं आता, ये यथापूर्व बने रहते हैं। United States *v* Sercheman के मामले में प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने लिखा था—"जनता की राजभक्ति में परिवर्तन होता है, पुरानी प्रभुसत्ता (Sovereign) से उनका सम्बन्ध विच्छिन्न होता, किन्तु एक दूसरे के साथ सम्बन्ध और साम्पत्तिक अधिकार अपरिवर्तित ही बने रहते हैं।"

(इ) संविदात्मक दायित्व (Contractual Liability)—नया पूर्वाधिकारी पुराने राज्य द्वारा किये गये ठेकों व संविदाओं द्वारा उत्पन्न जिम्मेवारी और दायित्वों का पालन करना उत्तराधिकारी राज्य के लिये आवश्यक है? आपेनहाइम की इस

विषय में यह सम्मति है कि—"राज्यों के आधुनिक व्यवहार की प्रवृति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐसे नियम स्थापित करने की ओर है जिनके अनुसार उत्तराधिकारी राज्यो का यह कर्तव्य है कि उसे यह उत्तराधिकार भले ही किसी रीति हस्तान्तर (Cession), अग्रीकरण (*Annexation*) या विघटन (*Dismemberment*) से मिला हो, किन्तु वह निजी व्यक्तियो के द्वारा प्राप्त साम्पत्तिक, साविदिक (Contractual) तथा रियायत प्रदान करने वाले (Concessionary) अधिकारों का सम्मान करेगा।" इस विषय में निम्न मामलों मे दिया गया निर्णय ओपेनहाइम के उपर्युक्त मत का विरोधी है।

पहले मामले West Rand Central Gold Mining Co. v The King मे ब्रिटिश न्यायालय ने यह घोषणा की थी कि 'विजय करने वाली प्रभुसत्ता सम्पन्न शक्ति विजित प्रदेश के आर्थिक दायित्वो के सम्बन्ध मे कोई भी ऐसी शर्तें बना सकती है, जिन्हे वह ठीक समझती है। इन्हे स्वीकार करना पूर्ण रूप से उसकी इच्छा पर है।" इससे यह स्पष्ट है कि उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी के आर्थिक दायित्वों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नही है, वह इच्छानुसार इन दायित्वो को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। ब्रियर्ली ने इस पर टिप्पणी करते हुए यह सत्य ही लिखा है कि ओपेनहाइम का मत इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यथार्थ स्थिति से आगे की अवस्था को सूचित करता है और ब्रिटिश न्यायालय का निर्णय इस स्थिति से पिछडा हुआ है।[५]

स्थायी न्यायालय ने इस विषय का कई बार सकेत करते हुए भी इस सम्बन्ध मे कोई नियम नही बनाया। किन्तु वैयक्तिक अधिकारो के सम्बन्ध मे उसने German settelers in Poland के मामले मे यह निर्णय दिया था "विद्यमान कानून के अनुसार प्राप्त वैयक्तिक अधिकार की समाप्ति प्रभुसत्ता के परिवर्तन के साथ नहीं होती।" प्रथम विश्वयुद्ध से पहले प्रशिया के राज्य ने एक विशेष प्रकार की सविदा के साथ कुछ जर्मन व्यक्तियो को नई भूमियो पर बसाया था, इसके अनुसार कुछ शर्तें पूरी हो जाने पर भूमि पर बसने वालो को इसका पूरा स्वामित्व मिल जाता था। युद्ध के बाद यह प्रदेश पोलैंड को दे दिया गया। पोलिश सरकार ने जर्मनो को इन जमीनो से बेदखल करना चाहा, उसका यह कहना था कि प्रशिया ने इस प्रदेश मे जर्मन जनसख्या बढाने के लिये ही इस प्रकार की सुविधाये प्रदान करने वाली सविदायें की थीं। अत वह इन्हे मानने के लिये बाध्य नही की जा सकती। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस उद्देश्य को सत्य स्वीकार करते हुए भी पोलिश सरकार के दावे को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि उक्त सविदाओं द्वारा प्राप्त हुए वैयक्तिक अधिकार उत्तराधिकारी राज्य मे यथापूर्व बने रहते हैं और वह इन्हे देने से इनकार नहीं कर सकता। उत्तराधिकारी राज्य द्वारा पूर्वाधिकारी राज्य के उन्ही दायित्वो को अस्वीकार करना न्यायपूर्ण ठहराया जा

५. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १३७

सकता है, जो उनके विरुद्ध युद्ध करने के उद्देश्य से उठाये गये हों।

रियायती (Concessionary) अधिकारों के सम्बन्ध में यह स्थिति है कि किसी राज्य द्वारा अपनी समाप्ति से पूर्व व्यक्तियों या कम्पनियों को प्रदान किए गए रियायती अधिकार उत्तराधिकारी राज्य को स्वीकार करने पड़ते हैं। Mavrommatis Palestine Concessions वाले मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह स्थिति स्वीकार करते हुए कहा था कि टर्की राज्य का उत्तराधिकारी फिलिस्तीन प्रशासन इस बात के लिए बाध्य है कि टर्की द्वारा जेरूसलेम में कुछ काम करने के लिए एक यूनानी प्रजाजन को दी गयी रियायतों को स्वीकार करे और क्रियात्मक रूप दे। Sopran v Koszeg Local Railway Co —Arbitral Award के मामले मे यह निर्णय दिया गया था कि रियायतों के कानूनी अधिकारपत्र (Deed) द्वारा जो सुविधाएं किसी वैयक्तिक कम्पनी को प्राप्त होती है, राष्ट्रीय सत्ता के परिवर्तन के साथ उनका अन्त नहीं किया जा सकता।

(ई) सार्वजनिक ऋण (Public Debts)—इस विषय में राज्यों के व्यवहार और आचरण मे पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है। फिर भी सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि उत्तराधिकारी राज्य अपने पूर्वाधिकारी राज्य द्वारा लिए गए समस्त सार्वजनिक ऋणों के लिए उत्तरदायी होता है, बशर्ते कि ये ऋण पूर्वाधिकारी राज्य ने उत्तराधिकारी राज्य के निवासियों को हानि पहुँचाने के या उनके विरुद्ध युद्ध चलाने आदि के उद्देश्य से न लिए हों। कई बार किसी प्रदेश को अपना अंग बनाने वाले राज्य उसके सार्वजनिक ऋण चुकाने की कानूनी जिम्मेवारी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। १८६० में इटली ने आस्ट्रिया से लोम्बार्डी का प्रदेश लेते हुए उसके स्थानीय ऋण का उत्तरदायित्व लिया था। कई बार किसी राज्य का अंश प्रदेश लेते हुए उसके सामान्य ऋण के कुछ अंश अदा करने की जिम्मेवारी ली जाती है, जैसी १८६६ में प्रशिया ने डेन्मार्क से स्लेसविग-होलस्टाइन का प्रदेश ग्रहण करते हुए ली थी। कई बार आर्थिक उत्तरदायित्व कानूनी जिम्मेवारी स्वीकार किए बिना ही ले लिया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध में ऐसा ही किया था। बहुधा सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में सन्धियों में भी व्यवस्था की जाती है। वर्साय की संधि के अनुसार जिन राज्यों को जर्मन प्रदेश दिया गया, उन्हें १ अगस्त १९१४ तक के जर्मन राष्ट्रीय ऋण के कुछ अंश उतारने के लिए जिम्मेवार बनाया गया। इसी प्रकार १० सितम्बर १९१९ को आस्ट्रिया के साथ हुई सा जर्मे की सन्धि की धारा २०३ के अनुसार आस्ट्रिया को आस्ट्रिया हंगरी के पुराने साम्राज्य के राष्ट्रीय ऋण के केवल उतने अंश के लिए उत्तरदायी बनाया गया, जो २८ जुलाई १९१४ तक उसकी रेलों, खानों आदि की सम्पत्ति की जमानत पर लिया गया था। इसी प्रकार इस साम्राज्य के विघटन से बनने वाले राज्यों को उनके राष्ट्रीय ऋण का कुछ अंश उतारने की जिम्मेवारी दी गयी थी।

१९४७ में भारत का विभाजन होने के बाद भारत और पाकिस्तान दोनों अविभक्त भारत के उत्तराधिकारी राज्य थे। इन दोनों में अविभक्त भारत की

केन्द्रीय सरकार की जमापूंजी और देनदारियों का बँटवारा किया गया। विशेषज्ञों की विभागीय उपसमितियों ने रेल, डाक तार, डाकखाने, टकसाल आदि की सम्पत्ति का विभाजन किया। इगलैण्ड से अविभक्त भारत को पौण्ड पावने (Sterling balances) का जो ऋण लेना था, वह समानुपात से दोनों में बाँटा गया। किन्तु शरणार्थियों द्वारा दोनों देशों में छोड़ी गई निष्क्रान्त सम्पत्ति (Evacuee Property) के बारे में दोनों राज्यों में कोई सतोषजनक समझौता अब तक नहीं हो सका।

(उ) जिह्म (Tort)—पूर्वाधिकारी राज्य के गलत कार्य से किसी व्यक्ति को पहुँची हुई हानि या जिह्म (tort) के लिये नया राज्य बिल्कुल उत्तरदायी नहीं समझा जाता। १९१० में एक समझौते द्वारा एक ऐंग्लो-अमेरिकन आर्थिक दावा न्यायाधिकरण (Anglo-American Pecuniary Claims Tribunal) ने इस विषय में अपना स्पष्ट निर्णय दिया था। यह मामला इस प्रकार था—दक्षिण अफ्रीका के गणराज्य को ग्रेट ब्रिटेन द्वारा जीता जाने से पहले इसके राष्ट्रपति क्रूगर तथा न्यायालयों में एक सघर्ष छिड़ गया, इसमें क्रूगर ने प्रधान न्यायाधीश को पदच्युत कर दिया, न्यायालयों को कार्यपालिका का वशवर्ती बना दिया। न्यायाधिकरण की सम्मति में इस स्थिति में उत्पन्न 'कानूनी अराजकता' में एक अमरीकी नागरिक रावर्ट ई० ब्राउन को अपने सोने की खानों के कुछ दावों के सम्बन्ध में न्यायालयों में न्याय नहीं प्राप्त हो सका, इससे उसको बड़ी हानि उठानी पड़ी। स० रा० अमरीका ने दक्षिण अफ्रीका के गणराज्य का उत्तराधिकारी होने से ग्रेट ब्रिटेन द्वारा ब्राउन को हुई हानि के लिये उसके हर्जाने के दावे का समर्थन किया। इस मामले की बहस में अमरीकी प्रतिनिधि को यह स्वीकार करना पड़ा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नष्ट हुए (defunct) राज्य के गलत कार्यों से हुई हानि के उत्तरदायित्व को सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किया जाता। न्यायाधिकरण ने इस मामले को खारिज करते हुए यह कहा कि विजय द्वारा प्रदेश प्राप्त करने वाले राज्य पर ऐसा कोई दायित्व नहीं है, जिससे वह अपने पूर्वाधिकारी राज्य द्वारा किये गये गलत कार्य को ठीक करने के कोई निश्चित उपाय करे। सर सेसिल हर्स्ट ने इस स्थिति का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है—"विजेता जिसे अपने राज्य में मिलाता है, वह पूर्वाधिकारी राज्य का प्रदेश है। वह न तो उस राज्य का और न ही उसकी सरकार का अपने राज्य में समावेश करता है। जब एक बार यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह ज्ञात होगा कि सही सिद्धान्त के आधार पर विजेता को पहली सरकार के जिह्म कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराना असम्भव है, क्योंकि ये जिह्म तो सरकार के थे, प्रदेश के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

(ऊ) सदस्यता (Membership)—अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की सदस्यता के सम्बन्ध में यह निश्चित हो चुका है कि यह उत्तराधिकारी राज्य को नहीं प्राप्त होती। आयरिश फ्री स्टेट ग्रेट ब्रिटेन से पृथक् होकर स्वतन्त्र राज्य बनने पर, राष्ट्रसघ में नये सदस्य के रूप में प्रविष्ट हुई थी। डेन्मार्क से पृथक् होने वाले आइसलैण्ड ने १९४४ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन की सदस्यता स्वतन्त्र रूप में प्राप्त की थी।

१६४७ मे भारत का विभाजन होने पर इसी नियम के अनुसार भारत स० रा० सघ का सदस्य बना रहा, किन्तु पाकिस्तान को ३० सित० १६४७ को इसका नया सदस्य बनना पडा। उस समय स० रा० सघ के सहायक मन्त्री ने इस विषय मे अपनी सम्मति देते हुए कहा था—'ऐसी अवस्थाओं म पृथक् होन वाला हिस्सा नया राज्य समझा जाता है, शेष बचा हुआ अश सब अधिकारो और कर्त्तव्यो के साथ वर्तमान राज्य के रूप मे बना रहता है।'

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो का उत्तराधिकार (Succession in International Organization)—जब एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को समाप्त करके उसी उद्देश्य तथा प्रयोजन के लिये नया सगठन स्थापित किया जाता है तो इनके उत्तराधिकार का प्रश्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार के प्रश्न द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर उठे, क्योकि इस समय पुराने राष्ट्रसघ, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय, हवाई यातायात, अन्तर्राष्ट्रीय आयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय सैनिटरी ब्यूरो के स्थान पर क्रमश स० रा० सघ न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक हवाई सगठन और विश्व स्वास्थ्य सगठन बनाये गये। आपनहाइम के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के सातत्य को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि उन सब अवस्थाओं म उत्तराधिकार को स्वीकार किया जाय, जहा दोनो सगठनो के उद्देश्यो मे एकता हो।[६]

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने International Status of South Africa के मामले म अपनी परामर्शात्मक सम्मति देत हुए उपर्युक्त मत का समर्थन किया था। इसके कथनानुसार स० रा० सघ की जनरल असेम्बली को इस प्रदेश की देखभाल के कार्य करने की वही कानूनी सत्ता प्राप्त थी जो दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के मैण्डेट प्राप्त प्रदेश के प्रशासन के सम्बन्ध मे राष्ट्र सघ को प्राप्त थी, दक्षिण अफ्रीका का यूनियन इस बात के लिये बाध्य है कि वह इस पर जनरल असेम्बली का निरीक्षण और नियन्त्रण स्वीकार करे और इसे प्रशासन के सम्बन्ध मे वार्षिक रिपोर्ट दे। न्यायालय की सम्मति मे दक्षिण अफ्रीका अब तक दिसम्बर १६२० के मैण्डेट वाला प्रदेश है। किन्तु जनरल असेम्बली द्वारा किया जाने वाला निरीक्षण मैण्डेट पद्धति के निरीक्षण काय से अधिक नहीं होना चाहिए।

सयुक्त अरब गणराज्य के निर्माण के कानूनी पहलू (Legal Aspects of the formation of U A R)—राज्य उत्तराधिकार के प्रसग मे स० अरब गणराज्य के निर्माण और विघटन से उत्पन्न कानूनी परिणामो का निर्देश उचित प्रतीत होता है। ईजिप्ट और सीरिया के राज्यो ने सर्वसम्मत मतदान द्वारा २२ फरवरी १६५८ को दोनो देशो को मिलाकर स० अरब गणराज्य (United Arab Republic) नामक राज्य बनाया। २ मार्च को इसमे यमन का राज्य भी सम्मिलित हुआ तथा तीनो राज्य मिलकर United Arab States बने। १ फरवरी १६५८ को की गई एक घोषणा के अनुसार ईजिप्ट तथा सीरिया के राज्यो की एक विधानसभा, एक झण्डा तथा

६. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, ख० १, पृ० १६८

एक सेना बनाने का निश्चय हुआ। स० अरब गणराज्य न तो वैयक्तिक सगम (Personal Union) था और न ही प्रसधान (Confederation), क्योकि इसमे ईजिप्ट और सीरिया न तो राज्य थे और न अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (International Person)। यह वास्तविक सगम (Real Union) भी नही था क्योकि ऐसा सगम नये राज्य का निर्माण नही करता। यह एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य का अन्तर्लय (absorption) नही था क्योकि इसमे ईजिप्ट और सीरिया दोनो का पृथक् व्यक्तित्व समाप्त हो गया था। यूजीन कोटरैन (Eugen Cotran) ने इसे सर्वथा नये प्रकार का विलय (merger) बताया है, यह सगम (Union) न होकर एकता (Unity) थी।[७]

किन्तु इन दानों के साथ मिलने वाले यमन राज्य के मेल से बने स० अरब राज्यो (United Arab States) की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। स० अरब गणराज्य और यमन दोनो की प्रभुसत्ता (Sovereignty) तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International personality) थे, अत यह दो पूर्ण रूप से प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign) राज्यो का प्रसधान (Confederation) था।

स० रा० अरब गणराज्य के अस्थायी सविधान की धारा ६ के अनुसार इन दोनो राज्यो के साथ जो सधियाँ पहले की गई थी वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो का अनुसरण करते हुए "अपने उन पुराने क्षेत्रो के लिये वँध बनी रहेगी, जिनके लिये ये की गई थी।" धारा ५६ के अनुसार भविष्य मे सब सधियाँ स० अरब गणराज्य के राष्ट्रपति द्वारा की जाएँगी। स० अरब राज्यो मे सयुक्त अरब गणराज्य (United Arab Republic) तथा यमन राज्य—दोनो को पृथक् सधियाँ करने का अधिकार था।

स० रा० सघ (U N O) मे पहले ईजिप्ट और सीरिया पृथक् रूप से सदस्य थे और इनके दो प्रतिनिधि हुआ करते थे। स० अरब गणराज्य बन जाने पर इसने १ मार्च १९५८ को स० रा० सघ के महामन्त्री को सूचित किया कि अब स० रा० सघ मे इसका एक ही प्रतिनिधि होगा और स० रा० सघ मे सम्बद्ध सभी सगठनो मे यही स्थिति होगी। इस राज्य के निर्माण के समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) मे ईजिप्ट और सीरिया के दो प्रतिनिधि थे। किन्तु इसमे सविधान की धारा २ के पैरा २ के अनुसार इसमे एक समय मे एक देश के दो सदस्य नहीं हो सकते, अत विधि आयोग ने इन दोनो सदस्यो मे से एक का त्याग पत्र स्वीकार किया। ईजिप्ट और सीरिया दोनो पहले स० रा० सघ के सदस्य थे, अत इनके सयुक्त होने पर नये स० अरब गणराज्य को भी सघ का सदस्य मान लिया गया और इसमे सदस्यता के लिए पृथक् रूप से आवेदन पत्र नही देना पडा। ब्रियर्ली ने लिखा है कि यदि इन दोनो मे से कोई पहले सघ का सदस्य न होता तो उस समय क्या स्थिति होती ? यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बडा

७ यूजीन कोटरैन—सम लीगल एस्पैक्टस् आफ दी फारमेशन आफ् दी यूनाइटिड अरब रिपब्लिक एण्ड युनाइटिड अरब स्टेट्स, इण्टरनेशनल एण्ड कम्पैरेटिव ला, क्वार्टरली, पृ० ६५६, पृ० ३४८

रोचक प्रश्न है।[८]

किन्तु यह स० अरब गणराज्य देर तक नही चला। सितम्बर १६६१ मे सीरिया मे एक राजनीतिक षड्यन्त्र के बाद यह घोषणा की गई कि सीरिया इस गणराज्य से पृथक् हो गया है, सीरिया के बाद २६ दिसम्बर १६६१ को यमन भी स० अरब गणराज्यो से पृथक् हो गया। सीरिया स० रा० सघ का प्रारम्भिक सदस्य था, स० अरब गणराज्य मे पृथक् होने के बाद उसने पुन इसकी सदस्यता के लिये आवेदन पत्र दिया और वह इसका सदस्य बना लिया गया।

राज्य उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे भारतीय परिपाटी और व्यवहार (Indian Practice with reference to State Succession)—१६४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून (Indian Independence Act) के अनुसार विभाजन के बाद हमारे देश मे राज्य उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से कई जटिल समस्यायें उत्पन्न हुई और भारतीय न्यायालयो के सामने इस विषय के अनेक विवाद उपस्थित हुए। यहाँ इस सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण समस्याओ और मामलो का निर्देश दिया जायगा।

पहली समस्या भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की थी—विभाजन से भारत और पाकिस्तान के दो राष्ट्र उत्पन्न हुए थे। क्या इन दोना को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की मान्यता दूसरे देशो से नये सिरे से प्राप्त करनी थी? इस विषय मे हाल द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व के सिद्धान्त (Personality Theory) को माना गया।[९] उसके मतानुसार 'राज्य-उत्तराधिकार की समस्या की कुंजी व्यक्तित्व है'। जिस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति अपना अगभग होने के बाद जीवित रहने पर अपना पुराना व्यक्तित्व बनाये रखता है, उसी प्रकार विभाजन के बाद भी यदि पुराना राज्य जीवित रहता है तो उसे पहले राज्य के सब पुराने अधिकार और दायित्व प्राप्त रहते हैं तथा विभाजन के परिणामस्वरूप बनने वाले अन्य राज्यो को नवीन कानूनी सत्तायें (Legal Entities) समझा जाता है। ब्रिटिश भारत ने १६१६ की वर्साई की सन्धि (Treaty of Versailles) पर हस्ताक्षर किये थे, इस प्रकार उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त हुआ था, वह राष्ट्रसघ तथा स० रा० सघ का सदस्य था। १६४७ मे इसका विभाजन होने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या भारत के साथ पाकिस्तान भी स्वतः इस कारण के आधार पर स० रा० सघ का सदस्य बन गया है कि दोनों विभाजन के बाद ब्रिटिश भारत के उत्तराधिकारी थे। इस विषय मे भारतीय सरकार का यह दृष्टिकोण था कि व्यावहारिक और कानूनी दृष्टि से पुराने भारत की सत्ता बनी हुई है, केवल इसमे से कुछ प्रान्त अलग हुए है, अत. उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे कोई अन्तर नही आया है। स० रा० सघ के सचिवालय (Secretariat of U.N.O.) ने इस प्रश्न पर विचार करके भारत के दृष्टिकोण से सहमति प्रकट करते

८. ब्रियर्ली—दी ला आफ नेशन्स, छठा सस्करण, पृ० १५६
९. हाल—इण्टरनेशनल लॉ (अष्टम सस्करण, १६२६) पृ० ११४

हुए लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यह ऐसी स्थिति है, जिसमे एक विद्यमान राज्य का एक भाग इससे पृथक् होकर एक नया राज्य बन जाता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भारत की स्थिति मे कोई परिवर्तन नही हुआ है, यह अपने सभी सन्धि-अधिकारो एव दायित्वो के साथ बना हुआ है। अत इसे स० रा० सघ की सदस्यता के सभी अधिकार और दायित्व प्राप्त हैं। इससे पृथक् होकर बनने वाला पाकिस्तान नवीन राज्य है। इसे पुराने राज्य की सधियो से प्राप्त होने वाले अधिकार तथा दायित्व नहीं मिलेंगे, अत यह स० रा० सघ का सदस्य नही रहेगा। इससे यह स्पष्ट था कि भारत का विभाजन आशिक उत्तराधिकार (Partial Succession) का उदाहरण था। इसमे भारत को पुराने सभी अधिकार प्राप्त रहे, उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व और सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता पूर्ववत् बनी रही, किन्तु पाकिस्तान को नवीन राज्य होने के कारण इसे नये सिरे से प्राप्त करना पडा।

भारत और पाकिस्तान का विभाजन यद्यपि आशिक उत्तराधिकार का उदाहरण था, किन्तु भारत मे मिलने वाली देशी राज्यो का इसमे मिलना पूर्ण उत्तराधिकार (Total Succession) का उदाहरण है क्योंकि इन्हे भारत में विलीन होने के बाद कोई स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति नहीं प्राप्त हुई।

दूसरी समस्या निजी व्यक्तियो के कानूनी हितों (Legal Interests of Private Individuals) की थी। इस विषय मे पहला प्रश्न प्राप्त अधिकारो के तथा राज्य-कृत्य के सिद्धान्तो (Doctrine of Acquired Rights and Act of State) का था। कोई नया राज्य स्थापित होने पर विभिन्न व्यक्तियो के सम्पत्ति विषयक अथवा अन्य अधिकारो में राजा या शासन बदलने से कोई परिवर्तन नही आता, उन्हें इस क्षेत्र में वही अधिकार प्राप्त होते हैं, जो उन्हें पिछले राज्य मे प्राप्त थे। इसी को **प्राप्त अधिकारो का सिद्धान्त** कहा जाता है। उदाहरणार्थ, १९४७ मे भारत और पाकिस्तान के नये राज्य बने, किन्तु इन दोनो देशो मे रहने वाले व्यक्तियो को अपनी जमीन जायदाद पर, एक दूसरे के साथ व्यवहार मे, अनुबन्ध (Contracts) आदि मे जो अधिकार प्राप्त थे, वे नया राज्य बनने पर भी प्राप्त रहे। यदि ऐसा न हो तो समाज मे बडी अव्यवस्था, आपाधापी और कुहराम मच जाय"। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन स० रा० अमरीका के प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने **U. S. *V.* Percheman** के मामले मे करते हुए कहा था—"इस विषय मे यह टिप्पणी करना उचित है कि विजय द्वारा किसी प्रदेश को जीतने के बाद विजेता के लिये प्राय इससे अधिक कुछ करना अस्वाभाविक होता है कि वह पिछले राजा को हटा दे तथा देश का शासन अपने हाथ मे ले ले। यदि (प्रत्येक विजय के बाद) सामान्य रूप से सम्पत्ति को जब्त कर लिया जाय, वैयक्तिक अधिकारो को समाप्त कर दिया जाय तो कानून का रूप धारण करने वाली राष्ट्रो की आधुनिक परिपाटी (usage) का अतिक्रमण होगा, कानून तथा अधिकार की उस भावना का हनन

१०. एम० के० अग्रवाल—इन्टरनेशनल लॉ, पृ०

होगा जिसे समूचा सभ्य जगत् स्वीकार करता है। किसी प्रदेश की विजय होने पर वहाँ की जनता राजा के प्रति अपनी निष्ठा बदलती है, पुराने राजा से उनका सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, किन्तु उनके एक दूसरे के साथ सम्बन्ध तथा उनके सम्पत्ति विषयक अधिकार पूर्ववत् बने रहते हैं"[११]। आपेनहाइम ने इस मत का समर्थन करते हुए कहा है कि राज्यो के आधुनिक व्यवहार ने इस बात को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम बना दिया है कि उत्तराधिकारी राज्य का यह कर्तव्य है कि वह निजी व्यक्तियों के सम्पत्तिविषयक, अनुबन्धात्मक (Contractual), रियायती सम्बन्धी (Concessionary) सभी प्रकार के प्राप्त कानूनी अधिकारो का सम्मान करे, भले ही यह नया राज्य किसी दूसरे राज्य द्वारा प्रदेश दिये जाने से (Cession), नया प्रदेश अपने राज्य मे मिलाने से या किसी प्रदेश के विघटन से उत्पन्न हुआ हो"।

किन्तु इन 'प्राप्त अधिकारो (Acquired Rights) को नये राज्य मे पाने मे कई बार बड़ी कठिनाई होती है और इनका विरोध **राज्य-कृत्य** (Doctrine of Act of State) **के सिद्धान्तों** के आधार पर किया जाता है। राज्य-कृत्य का अभिप्राय किसी प्रदेश पर विजय सन्धि आदि किसी भी प्रकार से प्रभुसत्ता (*Sovereignty*) पाना है, प्रभुसत्ता राज्य का विशेष गुण है, अत इसे ग्रहण करने को राज्य का विशेष कार्य या राज्य-कृत्य (Act of State) कहते है। इस प्रकार राज्य-कृत्य से उत्पन्न होने *वाले विवादो पर किसी भी देश के न्यायालय मे विचार नही किया जा सकता।* इस का सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हुए प्रिवीकौन्सिल ने अपने एक निर्णय मे कहा था[१२]—"प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य जब पहली बार किसी प्रदेश को प्राप्त करता है तो इसे राज्य-कृत्य कहा जाता है। इसमे इस बात का महत्व नही है कि उसे यह प्रभुसत्ता किस प्रकार प्राप्त हुई है। *सब दशाओ मे एक ही परिणाम उत्पन्न होता है।* इस प्रदेश का कोई भी निवासी नवीन शासक द्वारा स्थापित यहाँ के न्यायालय मे अपने ऐसे अधिकारो को ही प्राप्त कर सकता है, जिनको नये शासक ने अपने अफसरो के माध्यम से स्वीकार किया है। उसके ऐसे अधिकार उसे कोई लाभ नही पहुँचा सकते, *जो अधिकार उसे पहले के शासको के समय मे प्राप्त थे। इस मे भी अधिक महत्वपूर्ण* बात यह है कि यदि किसी प्रदेश को प्रदान करने वाली सन्धि (Treaty of Cession) मे यह शर्त लिखी गयी है कि वहाँ के कुछ निवासी कुछ विशेष अधिकारो का उपयोग करते रहेंगे तो इससे भी उन्हे यह अधिकार नही प्राप्त होता है कि वे इन अधिकारो को राष्ट्रीय *न्यायालयों (Municipal Courts)* द्वारा लागू (Enforce) करवा सकें। इन्हे लागू करवाने का अधिकार केवल सन्धि करने वाले पक्षों (High Contracting Parties) को ही होता है"।

ग्रेट ब्रिटेन की प्रिवी कौन्सिल द्वारा प्रतिपादित 'राज्य-कृत्य' का यह सिद्धान्त पहले बताये गये मार्शल द्वारा प्रतिपादित 'प्राप्त अधिकारो के सिद्धान्त' के सर्वथा प्रतिकूल

---

११. यू० एस० सुप्रीम कोर्ट ७ पीटर्स ५१, पृ० ८६-७

१२. सेक्रेटरी आफ् स्टेट वि० सरदार रुस्तम खां ए आई आर (१९४१) पी० सी० ६४

है। अमेरिकन सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने १६२३ मे German Settlers Case मे स्वीकार करते हुए जर्मन प्रदेश के पोलैण्ड में चले जाने पर, वहाँ के व्यक्तियों के पोल नागरिक बन जाने पर भी उनके पुराने जर्मन अधिकारो को उन्हें प्रदान किया था। किन्तु भारत मे विभाजन के बाद भारतीय न्यायालयो ने प्रिवी कौन्सिल के उपयुक्त निर्णयो का अनुसरण करते हुए यह माना है कि देशी राज्यो के साथ हुए समझौते राज्य कृत्य है और इनके सबन्ध मे उत्पन्न होने वाले विवाद भारतीय न्यायालयो के अधिकार क्षेत्र से बाहर है। सुप्रीमकोर्ट ने १६५१ मे State of Seraikella V Union of India (A I R, 1951 58 253) मे इसी दृष्टिकोण को स्वीकार किया था। किन्तु अन्य मामलो मे यह स्थिति स्वीकार की थी कि यदि नया राजा इन अधिकारो को देता या स्वीकार करता है तो इन्हे लागू (Enforce) किया जा सकता है। निम्न उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

सरदार सिहनसिह ब० एस० डी० ओ० (नहर)[1] के मामले मे नाभा राज्य ने प्रार्थी के पिता को बिना कोई कर दिये, सदा के लिये एक निश्चित मात्रा मे सिंचाई के लिये पानी लेने का अधिकार दिया था। १६४८ मे नाभा पेप्सू (PEPSU—Patiala East Panjab States Union) के राज्य मे मिल गया। १६५२ में प्रार्थी मे आबियाना या सिचाई कर (Waterrates) मांगा गया, किन्तु पहले चार वर्ष तक उससे कोई कर नही मांगा गया था। चूंकि पेप्सू के प्रशासन की सामान्य व्यवस्थाओ के अध्यादेश [General Provisions (Administration) ordinance 2000 5–B K] ने उपर्युक्त वैयक्तिक कानून (रोजनामचा आदेश) को रद्द नही किया था, अत पेप्सू हाईकोर्ट ने यह परिणाम निकाला कि प्रार्थी के अधिकार को नये शासन ने स्वीकार कर लिया है। न्यायालय की दृष्टि मे ऐसी स्वीकृति कानून द्वारा स्पष्ट अथवा ध्वनित (Implied) समझौते से दी जा सकती है। D D Cement Company V I T Commissioner के मामले मे भी सुप्रीमकोर्ट ने इस प्रश्न पर विचार किया था। इसमे जीन्द के राजा ने अप्रैल १६३८ को एक व्यक्ति के साथ अपने राज्य मे सीमेण्ट का कारखाना बनाने के लिये एक समझौता किया, इसमे उसे कुछ रियायतें तथा आयकर मे छूट प्रदान की। २७ मई १६३९ को इस समझौते के अनुसार एक कम्पनी बनी तथा उसे सब रियायतें दी गई। ५ मई १६४८ को जीन्द पेप्सू के राज्य मे सम्मिलित हुआ। २४ नव० १६४९ को पेप्सू के राजप्रमुख ने भारत के संविधान को स्वीकार करने की घोषणा की, १३ अप्रैल १६५० को पेप्सू ने भारत की केन्द्रीय सरकार के साथ वित्तीय एकता की योजना स्वीकार की तथा यहाँ भारत सरकार के कर के नियम लागू हुए। इस मामले मे यह विचारणीय प्रश्न था कि प्रार्थियो पर १६४६–५० के वर्ष का आयकर पटियाला के कानून के अनुसार लगाया जाय अथवा १६३८ मे जीन्द के राजा द्वारा किये गये समझौते की शर्तो के अनुसार लगाया जाय। प्रार्थियो की यह युक्ति थी कि १६३८ का समझौता एक विशेष समझौता था, जीन्द के पेप्सू मे सम्मिलित होने पर उसे पेप्सू ने भी स्वीकार कर लिया, अत पेप्सू का राजप्रमुख इसे रद्द करने वाला कोई आदेश नही निकाल सकता था। किन्तु

सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीश का यह कहना था कि यह समझौता राज्य-कृत्य (Covenant of State) है, यह स्वतन्त्र राज्यों के राजाओं द्वारा की गई एक ऐसी सन्धि थी, जिसके अनुसार उन्होंने अपने प्रदेशों की प्रभुसत्ता एक नवीन राज्य के राजा को प्रदान की थी"। "यह स्वतन्त्र राजाओं के बीच में तय होने वाला मामला था, इस विषय में उत्पन्न होने वाला कोई भी विवाद भारत के राष्ट्रीय (municipal) न्यायालयों द्वारा नहीं, अपितु राजनयिक कार्यवाही (Diplomatic action) द्वारा तय होना चाहिये, इससे यदि तय न हो तो इसका समाधान शक्ति द्वारा किया जाना चाहिये।

१९६३ में सुप्रीमकोर्ट ने Promod Chandra Dev V The State of Orissa में इस विषय में पिछले सभी मामलों के निर्णयों पर विचार करते हुए निम्नलिखित परिणाम निकाले—

(१) राज्य कृत्य (Act of State) का अभिप्राय यह है कि एक ऐसे प्रदेश पर प्रभुसत्ता के अधिकार ग्रहण किये जाएं, जो अब तक इसका अंग नहीं था। ये अधिकार विजय, सन्धि अथवा किसी अन्य प्रकार से प्राप्त हो सकते हैं। यह कार्य किसी विशेष तिथि को सार्वजनिक घोषणा द्वारा किया जाता है। (२) प्रभुसत्ता के पूर्ण अधिकार ग्रहण करने की ऐतिहासिक प्रक्रिया में कई वर्ष का भी समय लग सकता है। (३) राज्य कृत्य के अधिकार का मूल कोई राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) नहीं होता, अपितु यह कानून से ऊपर उठे हुए साधनों (Ultra legal and supra-legal means) से सम्पन्न किया जाता है, अतः राष्ट्रीय न्यायालयों को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वे राज्य कृत्य के क्षेत्र में आने वाले किसी कार्य की वैधता या औचित्य की जाँच करें। यह बात निजी (Private) अधिकारों तथा सार्वजनिक अधिकारों (Public rights) के दोनों क्षेत्रों में लागू होती है, इन में राष्ट्रीय न्यायालयों को जाँच करने, इन पर निर्णय देने तथा अपने निर्णयों को लागू करने का अधिकार नहीं है। (४) नई प्रभुशक्ति द्वारा स्वीकार किये जाने वाले राष्ट्रीय न्यायालयों को केवल ऐसे अधिकारों के बारे में जाँच निर्णय करने का अधिकार है, जिन्हें नई प्रभुशक्ति ने कानून द्वारा, समझौते द्वारा अथवा किसी अन्य विधि से स्वीकार करना मान लिया हो। (५) नई प्रभुशक्ति ने किसी अधिकार को स्वीकार किया है या नहीं, इसे सिद्ध करने का दायित्व उस व्यक्ति पर है, जो इस अधिकार की माँग कर रहा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रिवी कौन्सिल ने तथा भारत के सुप्रीमकोर्ट ने राज्य उत्तराधिकार के बाद निजी व्यक्तियों के अधिकारों के स्वतः बने रहने (automatic continuance) के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, वे उन्हीं अधिकारों को स्वीकार करते हैं जिन्हें स्पष्ट या अस्पष्ट (Implied) रूप से नये शासक ने स्वीकार किया हो। इसे सिद्ध करने का दायित्व भी इस अधिकार की माँग करनेवाले व्यक्ति पर है

तीसरी समस्या भारत के विभाजन तथा रियासतों के भारत में विलय होने पर अनुबन्धीय उत्तरदायित्व (Contractual liability) की थी। इसके भी कई रोचक

मामले भारतीय न्यायालयों के सामने आये हैं[13] उनमे एक मामला Gwalior R. S W. Co *V* Union of India का था। ग्वालियर के महाराजा ने १९४७ मे ग्वालियर राज्य मे बिड़ला बन्धुओ द्वारा स्थापित किये जाने वाले कुछ कारखानो तथा उद्योगो के लिये १२ वर्ष तक आयकर से छूट दी थी। १९४८ मे ग्वालियर का मध्यभारत मे विलय हुआ। १९५०-५१ मे पहले मध्यभारत की तथा बाद मे केन्द्र की सरकार द्वारा बिड़ला कम्पनी से आयकर की माँग की गई। कम्पनी ने महाराजा के १९४९ के आदेश के आधार पर इस कर से मुक्ति की माँग की। हाईकोर्ट का यह कहना था कि धारा २९५ (1) (b) के अनुसार मध्यभारत के सब दायित्व केन्द्रीय सरकार को प्राप्त हुए, भारतीय आयकर कानून ने प्रार्थी को महाराजा द्वारा दी गई विशेष रियायतो को किसी कानून से रद्द नही किया, अत कम्पनी को कर से छूट पाने का दावा ठीक और सुप्रतिष्ठित है।

चौथी समस्या सधियो की है। भारत का विभाजन होने पर स० रा० सघ के सचिवालय ने भारत को पुराने ब्रिटिश भारत का उत्तराधिकारी माना था। अत यह ब्रिटिश भारत की और ब्रिटिश सम्राट (Crown) द्वारा विदेशी राज्यो के साथ की गई सधियो से बँधा हुआ था। पाकिस्तान नया राज्य होने से कानूनी दृष्टि मे इन सधियो के पालन के दायित्व से बच सकता था। किन्तु इसका प्रतिकार १९४८ में भारतीय स्वतत्रता कानून (अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था) आदेश (Indian Independence [International Agreements] Order) द्वारा किया गया। इससे सधियो के अधिकारो तथा दायित्वो के बारे मे समुचित व्यवस्था की गई। इस विषय मे न्यायालयो के सामने कोई मामला नही आया। देशी राजाओ के साथ की गई तथा ब्रिटेन द्वारा की गई सधियो के बारे म भारतीय स्वतन्त्रता कानन मे यह कहा गया था कि इस कानून के लागू होते ही वे समाप्त हो जायेंगी। ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यो के मध्य अपराधियो को सौंपने के लिये की गई प्रत्यर्पण सधियाँ (Extradition Treateis भी इन राज्यो के भारतीय सघ मे तथा आस पास के राज्यो मे विलय होते ही समाप्त हो गईं। इस विषय मे सुप्रीम कोर्ट ने Ram Babu Saxena *V* State के मामले मे विस्तृत विचार किया था (देखिये, परिशिष्ट)। इसमे सयुक्त प्रान्त मे गिरफ्तार होने वाले एक व्यक्ति राम बाबू ने १८६९ मे राजस्थान की टोंक रियासत द्वारा तत्कालीन भारत सरकार के साथ की गई सधि (Anglo Tonk Estradition Treaty) के आधार पर अपनी उन्मुक्ति (Immunity) का दावा करते हुए यह कहा था कि यह सधि भारत द्वारा देशी राज्यो के साथ किये गये यथापूर्व समझौतो (Standstill Agreements) के कारण अभी तक जीवित है। किन्तु सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीश श्री आर के मुकर्जी ने बड़े स्पष्ट शब्दो मे यह कहा कि जब कोई राज्य दूसरे राज्य का अग बनकर या उसमे विलीन होकर अपना जीवन समाप्त कर देता

---

13 Union of India *V* Champa Lal Looma & Co, AIR (1957) S C 652, Panna Lal Mukerji *V* Union of India AIR (1957) Col 156

है तो विलीन होने वाले राज्य के साथ की गई सब संधियां समाप्त हो जाती हैं, जैसे हनोवर के प्रशिया राज्य में बलपूर्वक मिलाये जाने के बाद उसके साथ की गई सब संधियों का अन्त हो गया, टेक्सास के स० रा० अमेरिका में सम्मिलित होने पर उसकी पिछली संधियां समाप्त हो गई। टोंक के राजस्थान में मिलने की परिस्थितियों में कुछ भेद होते हुए भी १८६९ की प्रत्यर्पण संधि परिवर्तित परिस्थितियों में बिल्कुल लागू नहीं की जा सकती है।

पाँचवीं समस्या पुराने कानूनों तथा कानूनी पद्धति की मान्यता थी। इस विषय में भारतीय विधान परिषदों और न्यायालयों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस सुप्रसिद्ध नियम का पालन किया है कि पुराने राज्य के कानून नये उत्तराधिकारी राज्य में उस समय तक चलते रहते हैं, जब तक इनमें कोई परिवर्तन न किया जाय। जब कई राज्य आपस में मिलकर एक संघ बनाते हैं, उस समय भी नये राज्य के विभिन्न प्रदेशों में इनके पुराने राज्यों के कानून नया परिवर्तन किये जाने तक पूर्ववत् चलते रहते हैं।[१४]

छठी समस्या— सिविल सर्विस तथा अन्य सार्वजनिक सेवाओं (Public Services) की थी। भारतीय सिविल सर्विस ब्रिटिश शासन में एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग था और इसकी विशेषता यह थी कि यह ग्रेट ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य भारतमन्त्री के सीधे संरक्षण में थी। इस विषय में सुप्रीम कोर्ट ने State of Madras *V* Rajgopalan के मामले में यह निर्णय दिया था कि भारतीय स्वतन्त्रता कानून द्वारा एक पूर्ण रूप से स्वाधीन और प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का जन्म हुआ है, इस विषय के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रसिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर इस नये राज्य के उत्पन्न होने में पिछली सरकार के तथा इसके सेवकों के बीच में हुए सेवासम्बन्धी अनुबन्ध स्वतः समाप्त हो गये हैं। इस मामले में मद्रास सरकार ने इंडियन सिविल सर्विस के एक पुराने कर्मचारी राजगोपालन को १५ अगस्त १९४७ के बाद अपनी सेवा में रखने से इन्कार किया था (देखिये परिशिष्ट)। किन्तु *भारतीय स्वतन्त्रता कानून (१९४७) में यह व्यवस्था की गई थी कि यदि नई सरकार* भारतमन्त्री द्वारा नियुक्त किये गये सिविल सर्विस के कर्मचारियों को अपनी सेवा में रखती है तो वे अपनी सेवा की पुरानी शर्तों तथा सुविधाओं का उपभोग करेंगे। एम बख्शी व. ए जी. बिहार (N. Bakshi *V* A. G Bihar) के मामले में इस नियम का पालन किया गया। श्री बख्शी सिविल सर्विस के पुराने कर्मचारी थे, नई सरकार में उन्हें कार्य करने की अनुमति दी गई। सिविल सर्विस के कर्मचारियों के बीवी-बच्चों को १९२४ के पुराने नियमों के अनुसार इंगलैण्ड जाने का मार्गव्यय और भत्ता मिलता था। १९४७ के बाद जब बख्शी ने इसकी माँग की तो बिहार सरकार के महालेखा परीक्षक (Accountant General) ने पुराने नियमों के आधार पर मार्ग व्यय को देने से इन्कार किया। पटना हाईकोर्ट ने इस पर विचार करते हुए

१४. इस विषय के भारतीय मामलों के लिये देखिये एम. के. अग्रवाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ७३-८५।

यह निर्णय दिया कि भारतीय स्वतन्त्रता कानून मे इस विषय मे पुराने नियमो और भत्तो को सुरक्षित बनाये रखने की गारण्टी दी गई है, अतः प्रार्थी अपनी पत्नी और बच्चो के इगलैण्ड ले जाने का मार्गव्यय पाने का अधिकारी है। इसी प्रकार आसाम हाईकोर्ट ने एक अन्य मामले मे (Hiranmaya V. State of Assam A.I. R. 1954 Assam 224) यह निर्णय दिया था कि सेवाओ के बारे मे दी गई गारण्टी किसी विशेष स्थान के बारे मे नही, अपितु पद के विषय मे लागू होती है। इस मामले मे विभाजन से पहले हिरण्मय नामक व्यक्ति आसाम की शिक्षा सेवा (Assam Education Service) मे सिलहट मे एक कालिज मे लेक्चरर के पद पर कार्य कर रहा था। विभाजन के बाद सिलहट पाकिस्तान में चला गया और आसाम सरकार ने भारत मे सेवा करने के बारे मे उसकी सहमति प्राप्त करने के बाद भी उसे सेनामुक्त कर दिया। हिरण्मय ने India (Provisional Constitution) Order 1947 के आधार पर अदालत से इस विषय मे अपनी नौकरी को बनाये रखने के अधिकार की माँग की। आसाम सरकार का यह कहना था कि सिलहट के पाकिस्तान मे चले जाने के कारण सरकार के पास वादी को नौकरी पर रखने का कोई पद नहीं रहा है। आसाम हाईकोर्ट ने इस प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए कहा कि वादी की नियुक्ति सिलहट स्थान पर नही, किन्तु आसाम की शिक्षा-सेवा मे लेक्चरर के पद पर हुई थी। यह पद उसे आसाम के वर्तमान प्रदेश के किसी कालिज मे दिया जाना चाहिये, सिलहट के आसाम मे चले जाने से वहाँ कार्य करने वाले व्यक्ति को आसाम सरकार अपने पद से वचित नहीं कर सकती है। आसाम हाई कोर्ट ने प्रार्थी के इस दावे को स्वीकार किया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून नये शासक को इस बात के लिये बाधित नही करता है कि नया शासक सेवा करने वाले पुराने व्यक्तियो को सेवा की पुरानी शर्तें और अधिकार प्रदान करे। नया शासक जिन पुराने सेवकों की सेवायें समाप्त कर देता है, उनको मुआवजा देने की कोई व्यवस्था नही है। सुप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ता लौटरपाख्ट (Lauterpacht) का यह मत है कि यद्यपि नये राज्य को पुराने सेवको की सेवायें समाप्त करने का अधिकार है, फिर भी प्राप्त अधिकारो के सिद्धान्त (Doctrine of acquired rights) के आधार पर ऐसे व्यक्तियो को मुआवजा पाने का अधिकार है। भारत, बर्मा और सीलोन मे राज्य परिवर्तन होने पर पदच्युत किये जाने वाले राजकीय सेवको को मुआवजा दिया गया था। राजगोपालन वाले उपर्युक्त मामले मे सुप्रीम कोर्ट ने नियमो (Statues) की दृष्टि से ही विचार किया था, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से नही। इस विषय मे लौटरपाख्ट का उपर्युक्त मत सही प्रतीत होता है। किन्तु भारतीय न्यायालयों ने इस विषय मे सुनिश्चित सम्मति नही दी थी।

---

१५ एम. के. अग्रवाल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८६।

नवाँ अध्याय

राज्य का प्रदेश

(Territory of the State)

प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial Sovereignty)—राज्य की एक मुख्य विशेषता उसके पास प्रदेश का होना है, उसमें उसका कानून लागू होता है तथा उसे सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है। यही प्रादेशिक प्रभुसत्ता है। इसका यह अर्थ है कि राज्य के प्रदेश में विद्यमान व्यक्तियों पर तथा सम्पत्ति पर केवल मात्र उसी राज्य की प्रभुसत्ता है, किसी अन्य राज्य को इस प्रदेश में कोई अधिकार नहीं है। यह विचार दीवानी कानून के वैयक्तिक सम्पत्ति पर स्वामित्व की कल्पना ने ग्रहण किया गया है। मैक्स ह्यूवर ने Island of Palmas Arbitration के मामले में प्रादेशिक प्रभुसत्ता का लक्षण करते हुए कहा था—"राज्यों के सम्बन्ध में प्रभुसत्ता का अर्थ स्वतन्त्रता है। भूमण्डल के एक भाग में स्वतन्त्रता का आशय यह है कि यहाँ केवल मात्र एक राज्य को राज्य सम्बन्धी कार्य करने का अधिकार है।" 'एक जंगल में एक शेर' की लोकोक्ति के अनुसार 'एक प्रदेश में एक राज्य की प्रभुसत्ता' होती है।

प्रायः यह कहा जाता है कि प्रादेशिक प्रभुसत्ता अविभाज्य (Indivisible) होती है, किन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता। सहराज्यों (Condominium) में यह सत्ता दो राज्यों में बटी होती है। पट्टे पर दिये प्रदेशों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। चीन ने रूस, फ्रास, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटन को अपने कई प्रदेश पिछली शताब्दी के अन्त में पट्टे पर दिये थे। १९४० में पचास पुराने विध्वंसक पोतों के बदले ग्रेट ब्रिटेन ने स० रा० अमरीका को अपने अनेक सैनिक और नौसैनिक अड्डे ९९ वर्ष के पट्टे पर प्रदान किये थे। ऐसे प्रदेशों में दोनों राज्यों की प्रभुसत्ता होती है। कई बार यह सत्ता अनेक राष्ट्रों से बने संगठन के पास न्यास (Trust) या अमानत के रूप में होती है, जैसे १९३५ तक सार का प्रशासन राष्ट्रसंघ के पास था। फिर भी स्थूल रूप में सब राज्यों की अपने प्रदेशों में पूर्ण प्रभुसत्ता होती है।

राज्य की सीमा (Boundaries of a State)—राज्य द्वारा उपभोग की जाने वाली प्रादेशिक प्रभुसत्ता राज्य की सीमाओं से मर्यादित होती है, राज्य उन्हीं के भीतर अपनी प्रभुसत्ता का प्रयोग कर सकता है। राज्य की ये सीमायें दो प्रकार की होती हैं—

(क) **प्राकृतिक सीमायें (Natural Boundaries)**—इनका निर्माण नदियों, पर्वतों, झीलों, मरुस्थलों, समुद्रतटों से होता है। भारत तथा पाकिस्तान की पंजाब की

सीमा का कुछ भाग रावी नदी है, भारत और चीन की सीमा हिमालय की उच्च पर्वत-माला है। प्राकृतिक सीमा का एक दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि यह प्रकृति द्वारा निर्धारित वह सीमा है, जहाँ तक राज्य सुरक्षा की दृष्टि से अपने प्रदेश का विस्तार करना आवश्यक समझता हो। मार्शल फोश का कहना था कि फ्रास का प्राकृतिक सीमान्त राइन नदी है, उसकी सीमा इस नदी तक होनी चाहिये। श्री विन्सेण्ट स्मिथ ने हिन्दूकुश पर्वत को भारत का उत्तर-पश्चिमी वैज्ञानिक सीमान्त कहा है।

(ख) कृत्रिम (Artificial) सीमाये दो देशो को विभक्त करने वाली काल्पनिक रेखायें होती हैं। प्राय दीवारो, स्तम्भो, डण्डो आदि से इनका सीमाकन (Demarcation) किया जाता है, कई बार अक्षाश रेखाओ (Latitudes) से इनका निर्धारण होता है, जैसे उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की सीमा ३८वी उत्तरी अक्षाश रेखा है। सयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा की सीमा १९वी उत्तरी अक्षाश रेखा है।

देशो की सीमा निर्धारण का प्रश्न बडा जटिल है। इससे प्राय अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं। सयुक्त राज्य अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन मे अलास्का की सीमा के सम्बन्ध मे १९०३ मे विवाद हुआ था। अगस्त, १९५९ से भारत-चीन सीमा-विवाद ने गम्भीर रूप धारण किया, २० अक्टूबर, १९६२ को इसी कारण चीन ने भारत पर आक्रमण किया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सीमा-विवाद का निर्णय करने के लिये अनेक सीमा आयोग बनाये गये। भारत पाकिस्तान की सीमा का निर्धारण यद्यपि १९४७ मे रैडक्लिफ निर्णय द्वारा किया गया, फिर भी १२ वर्ष तक कुछ प्रदेशो के सम्बन्ध मे विवाद चलते रहे और इनका निर्णय अक्टूबर, १९५९ मे हुआ।

इन विवादो का एक बडा कारण प्राकृतिक सीमाओ के निर्धारण मे उत्पन्न होने वाली अनेक कठिनाइयाँ हैं। जलीय सीमाओ में नदियो का सीमा-निर्धारण बडा पेचीदा प्रश्न है। सीमावर्ती नदियो के सम्बन्ध मे यह समस्या है कि इनमे किस रेखा को सीमा माना जाय और इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन किस प्रकार किया जाय। नौचालन की योग्यता न रखने वाली नदियो के सम्बन्ध मे विशेष सधियो के अभाव मे सामान्य सिद्धान्त यह है कि सीमान्त रेखा नदी की मुख्य धारा के बीच मे से होकर गुजरती है, नदी के दोनो किनारो के सब मोडो और घुमावो के साथ यह घूमती जाती है। यह मध्यरेखा (Median line) कहलाती है और इसे १९१९-२० की शान्ति-सधियो द्वारा स्वीकार किया गया था। नौचालन योग्य (Navigable) नदियो के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त है कि इनमे सीमान्त रेखा सबसे गहरी नौचालन योग्य प्रणाली (Channel) की मध्यरेखा (Median line) मे से होकर गुजरती है, इसे Thalweg कहा जाता है। १९१९-२० की शान्ति-सधियो मे इसे स्वीकार किया गया था। कई वार सधियो द्वारा नदी के किनारे को ही सीमान्त बना दिया जाता है। इसमे नदी की समूची धारा (Bed) दूसरे राज्य का भाग माना जाता है।

पर्वतों के सम्बन्ध मे प्राय जलविभाजक पहाडों की शिखर-श्रेणी को सीमान्त रेखा माना जाता है। १९१४ के शिमला सम्मेलन मे भारत और तिब्बत की सीमा

निर्धारित करते हुए मैकमेहोन रेखा (McMahon Line) में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया था। झीलों तथा देश की भूमि से घिरे समुद्रों की सीमान्त रेखा का निर्धारण करते हुए इनकी गहराई, नौचालन के लिए उपयोग, इसकी बनावट और कल्पणा (Configuration) का ध्यान रखा जाता है। सामान्यत यहा भी सीमात रेखा मध्यरेखा (Median line) का अनुसरण करती है। सीमा सम्बन्धी इन सामान्य सिद्धान्तों के संक्षिप्त परिचय के बाद अब अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं से सम्बन्ध रखने वाले विविध प्रकार के प्रदेशो पर विचार किया जाएगा।

नदियाँ (Rivers)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इनके दो भेद किये जाते हैं। (क) **राष्ट्रीय नदियाँ** (National rivers)—ये अपने मूल उद्गमस्रोत से मुहाने तक एक ही राष्ट्र के प्रदेश मे से होकर गुजरती हैं। हिमालय मे गगोत्री से निकल कर कलकत्ता के पास समुद्र मे गिरने वाली गगा भारत की राष्ट्रीय नदी है। राष्ट्रीय नदियों पर उस राष्ट्र की पूरी प्रादेशिक प्रभुसत्ता होती है, जिस प्रदेश मे से होकर ये नदियाँ गुजरती हैं। इन नदियो मे किसी अन्य राज्य को नौचालन आदि के कोई अधिकार नही प्राप्त होते।

(ख) **अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ** (International Rivers)—जब कोई नदी कई राज्यों के प्रदेश में से होकर गुजरती है तो यह अन्तर्राष्ट्रीय नदी कहलाती है। पजाब की सतलुज, व्यास, रावी, चनाब, जेहलम इस प्रकार की नदिया है। इनका उद्गम हिमालय की पर्वतमाला मे है। ये कुछ दूर तक भारतीय प्रदेश मे बहने के बाद पाकिस्तान मे चली जाती हैं। इनसे निकली नहरो के पानी के सम्बन्ध मे दोनो देशो के निर्माण के बाद से १९६० तक निरन्तर विवाद चलता रहा। योरोप में कई राज्यो में से होकर गुजरने वाली राइन, डेन्यूब आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय नदियां है।

प्रत्येक राष्ट्र अपने प्रदेश मे से होकर गुजरने वाले भाग पर पूरा अधिकार रखता है, किन्तु इनमे अन्य राज्यो द्वारा नौचालन (Navigation) के अधिकार के सम्बन्ध मे बड़ा विवाद रहा है। क्या यह सब राज्यो को समान रूप मे है या केवल नदीतटवर्ती (Riparian) राज्यों को है? ग्रोशियस का यह मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय नदियो मे गुजरने का अधिकार (Right of passage) सब राज्यो को है। किन्तु यह विचार व्यवहार मे सामान्य रूप से स्वीकार नही किया गया और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत (Customary) सिद्धान्त के रूप मे भी मान्य नहीं हुआ। नौचालन की स्वतन्त्रता स्वीकार करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री इस अधिकार की व्याख्या कई प्रकार से करते हैं। इनमे तीन पक्ष हैं—(क) कुछ लेखक नदी मे गुजरने का अधिकार केवल शान्तिकाल में ही मानते हैं। (ख) अन्य लेखको का यह मत है कि यह अधिकार केवल उन्ही राज्यो को है, जिन राज्यो के प्रदेश में होकर नदी गुजरती है। (ग) तीसरे पक्ष का यह मत है कि गुजरने के अधिकार पर किसी प्रकार की पाबन्दी नही होनी चाहिये, किन्तु प्रत्येक राज्य को अपनी सीमाओ मे नदी के उपयोग के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार है। स्टार्क के मतानुसार इनमें दूसरा पक्ष अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योंकि नदी के उपरले भाग वाले राज्यो को समुद्र तक पहुँचने की

सुविधा दिया जाना सर्वथा उचित प्रतीत होता है ।[1]

योरोप में अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में नौचालन की स्वतन्त्रता अनेक संधियों का परिणाम है । इनका आरम्भ १८१४ की पेरिस की संधि से तथा १८१५ की वियना कांग्रेस से हुआ । १९१९-२० की संधियों में तथा राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में किये गये समझौतों में इन्हें संपुष्ट किया गया । इनके अनुसार द्वितीय विश्व विश्वयुद्ध छिड़ने से पहले तक योरोप की बड़ी नदी-पद्धतियों के सम्बन्धों में कुछ प्रतिबन्धों के साथ नौचालन की स्वतन्त्रता सब राज्यों को प्राप्त हो गई थी । अन्य महाद्वीपों की बड़ी नदियों में नौचालन के बारे में इसी प्रकार के प्रादेशिक समझौते हुए ।

अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में किसी बड़ी नदी में नौचालन के अधिकार का एक सुन्दर उदाहरण डैन्यूब नदी है । १७२५ मील लम्बी यह नदी जर्मनी से निकलकर आस्ट्रिया, हंगरी होते हुए यूगोस्लाविया में प्रवेश से पहले रूमानिया-बल्गारिया की सीमा बनाती है और फिर रूमानिया होते हुए कृष्णसागर में प्रवेश करती है । १८५६ में पेरिस की घोषणा द्वारा इसमें सब देशों के लिये स्वतन्त्र नौचालन (Free Navigation) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया और इसे एक योरोपियन कमीशन के निरीक्षण में रखा गया । इस कमीशन के सदस्य दोनों प्रकार के राज्य थे—नदीतटवर्ती (Riparian) तथा नदीतट से न लगने वाले राज्य (Non-Riparian) । इस कमीशन को डैन्यूब के निचले हिस्से में नौचालन-प्रशासन के व्यापक अधिकार थे । १९१९ की वर्साइ सन्धि ने इस नदी का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया । १९२१ के एक डैन्यूब समझौते द्वारा उपर्युक्त कमीशन के अधिकारों को संपुष्ट किया गया तथा डैन्यूब के उपरले और निचले भागों में नौचालन की व्यवस्था के लिये दो कमीशन बनाये गए । यह स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक बनी रही । द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद १९४७ में पेरिस की शान्ति परिषद् में बल्गारिया, हंगरी और रूमानिया के साथ की गई संधियों में एक धारा यह भी जोड़ी गई कि डैन्यूब नदी पर सब देशों को समान रूप से नौचालन की स्वतन्त्रता होगी । १९४८ में इस विषय में एक नया समझौता तैयार करने के लिये बेलग्रेड में एक सम्मेलन हुआ । इस सम्मेलन ने फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका के प्रतिनिधियों की इच्छा के विरुद्ध बहुमत से यह निर्णय किया कि डैन्यूब नदी के कमीशन के सदस्य केवल इसके नदीतट से सम्बन्ध रखने वाले राज्य हों । उपर्युक्त तीनों देशों ने इसे इस आधार पर अवैध कहा कि इससे अनदीतटवर्ती राज्यों (Non-Riparian States) के पहली संधियों से प्राप्त अधिकार उनसे छिन जाते हैं । इस सम्मेलन द्वारा तय किये गए समझौते की पहली धारा के अनुसार डैन्यूब नदी में नौचालन की स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गई है, किंतु इसमें १९२१ के समझौते की पहली धारा का यह अंश निकाल दिया गया कि नदीतटवर्ती तथा अनदीतटवर्ती राज्यों के साथ व्यवहार में कोई अन्तर न हो ।[2]

---

१. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० १७४

२. ब्रिटिश ईयर बुक आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९४८, पृ० ३९८-४०४ । १५ मई,

१९१९-२० की शान्ति-सन्धियों में योरोप की अन्य नदियों का भी अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया गया, राष्ट्रसंघ के पारगमन तथा संचार संगठन (Transit and Communications Organisation) ने सब नदियों में नौचालन की स्वतन्त्रता के सबंध में अभिसमय (Conventions) कराने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के दो समझौते १९२१ में बार्सीलोना में स्वीकार किये गये। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में नौचालन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया और विभिन्न राज्यों में से होकर माल की ढुलाई की स्वतन्त्रता प्रदान करने के सम्बन्ध में नियम बनाये गये। १९२० में राष्ट्रसंघ ने इस विषय में हुए समझौतों के आधार पर नदियों के कानून के एकीकरण का प्रयास किया। २२ जुलाई, १९५६ को एशियाई नदियों के नौचालन में सुविधायें प्रदान करने वाले बैंकाक अभिसमय को स्वीकार किया गया है।

किन्तु इन सब सन्धियों और समझौतों के होते हुए भी स्टार्क की सम्मति में अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में गुजरने के सामान्य अधिकार का नियम स्थापित नहीं हुआ, यह अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिये कल्पनालोक का आदर्श (Too utopian an ideal for international law) बना हुआ है।[1] फिर भी इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि नदीतटवर्ती राज्यों को नौचालन के सबंध में मनमाने और अत्यधिक चुंगी लगाने वाले कानून नहीं बनाने चाहियें, अनदीतटवर्ती राज्यों के साथ भेदभाव का बर्ताव नहीं होना चाहिये।

नदी-जल के स्वतन्त्र प्रवाह में रुकावट डालने और इसके हानिप्रद उपयोग के सबंध में अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई निश्चित नियम नहीं बने। इस विषय में सामान्य सिद्धान्त केवल यही कहा जा सकता है कि किसी नदीतटवर्ती राज्य को नदी के पानी का ऐसा प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे अन्य राज्यों के नौचालन को क्षति या कोई अन्य हानि पहुँचे। इस विषय में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ने १९३७ में Diversion of Water from the Meuse case में 'समान बटवारे' (Equitable apportionment) का सिद्धान्त लागू किया था। पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) ने भारत और पाकिस्तान के १९४८ से चले आने वाले नहरी पानी विवाद में इसी सिद्धान्त को १९५२ तथा १९५४ में लागू करके इस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया। पाकिस्तान का यह कहना है कि सिन्ध तथा पंजाब की पांचों नदियों के ऊपरी हिस्से भारत में हैं, वह अपने हिस्से में सतलुज पर भाखड़ा-नांगल जैसे बांध बनाकर पाकिस्तान की बाढ़-नियन्त्रण की, सिंचाई तथा पनबिजली के विकास की योजनाओं में बड़ी बाधा डाल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का इस विषय में यह सुझाव है कि दोनों देशों में नदियों का बंटवारा कर दिया जाय, पश्चिम की तीन नदियों—सिन्ध, जेहलम और चनाब का

१९५५ को आस्ट्रिया पर युद्धकालीन सैनिक अधिकार समाप्त करने के लिये ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका, फ्रांस, रूस तथा आस्ट्रिया में जो सन्धि हुई है, उसकी धारा ३१ में डैन्यूब में नौचालन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

1. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२६

पूरा पानी पाकिस्तान ले तथा पूर्व की तीन नदियो— रावी, व्यास और सतलुज का पानी भारत को मिले। इस योजना को क्रियान्वित करने के लिये पाकिस्तान को नई योजक नहरें (Link Canals) बनानी पडेगी, वह इस व्यय की बहुत बडी राशि भारत से लेना चाहता है। इस प्रश्न का समाधान सिन्धु जल-सन्धि (Indus Waters Treaty) द्वारा किया गया है। इस पर १६ सितम्बर, १९६० को हस्ताक्षर हुए तथा १२ जनवरी, १९६१ को दोनो देशो ने इसका अनुसमर्थन (Ratification) किया। इसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है।[४]

सिन्धु-जलसंधि (Indus Waters Treaty)—सिंधु नदी पंजाब की पाँच सहायक नदियो—जेहलम, चनाव, रावी, व्यास, सतलुज के साथ मिलकर संसार की एक महान् नदी-पद्धति का तथा सिन्धु के मैदान का निर्माण करती है। इनमे प्रतिवर्ष नील नदी से दुगना, दजला और फरात के सम्मिलित जल से तीन गुना पानी बहता है। ये सभी नदियाँ हिमालय की उच्च पर्वतमालाओ से निकलती हैं और इन नदियो मे निकाली गई नहरो से ३ करोड वर्गमील भूमि की सिंचाई होती है। यह विश्व मे सिंचाई की सबसे बडी व्यवस्था है। १९४७ से पहले ब्रिटिश युग मे इन नदियो के पानी के बँटवारे के प्रश्न पर सिन्ध और पंजाब के प्रान्तो मे काफी विवाद था। १९४७ मे भारत का विभाजन होने पर सिन्ध का मैदान तथा यह नहर पद्धति दो हिस्सो मे बँट गई और इन नदियो के पानी के बारे मे दोनो देशो मे जटिल एव उग्र विवाद उत्पन्न हो गये। पाकिस्तान इन नदियो के निचले हिस्से मे था और भारत उपरले हिस्से मे। पाकिस्तान के प्रदेश की सिंचाई करने वाली नहरो के उद्गम-स्थान (Headworks) भारत मे थे। इन नदियो के पानी के बँटवारे ने उग्र अन्तर्राष्ट्रीय विवाद का रूप धारण कर लिया।

१९५१ मे निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) के अध्यक्ष यूजीन ब्लैक ने पाकिस्तान और भारत को इस समस्या के समाधान मे बैंक की सहायता का सुझाव दिया। जब दोनो ने इसे स्वीकार कर लिया तो बैंक की ओर से जनरल व्हीलर को इस विवाद के मुख्य प्रश्न नदियो के पानी के बँटवारे का प्रश्न सौंपा गया। व्हीलर ने इस विषय में निम्न प्रस्ताव रखे —(१) तीन पूर्वी नदियो—रावी, व्यास और सतलुज का पानी भारत के उपयोग के लिये रहना चाहिये। (२) सिन्धु, जेहलम, चनाब का पानी पाकिस्तान के उपयोग मे आना चाहिये। (३) एक ऐसा संक्रमण-काल (Transition period) होना चाहिये, जिसमें पाकिस्तान पूर्वी नदियो से लिये जाने वाले पानी से होने वाली सिंचाई के बदले पश्चिमी नदियो से नई योजक नहरे (Link Canals) बनाये। (४) भारत इन नई योजक नहरो के निर्माण का व्यय पाकिस्तान को दे। पाकिस्तान इन प्रस्तावो को मानने को तैयार नही था, भारत नई योजक नहरो के निर्माण का पूरा

---

४. इस संधि के मूल रूप के लिए देखिये अमेरिकन जर्नल आफ् इण्टरनेशनल लॉ, खंड ५५, १९६१, पृ० ७९७-८२२, कीसिंग्स आर्काइव्स १९६०, पृ० १७५५५.

व्यय देने का सामर्थ्य नहीं रखता था। चार वर्ष तक दोनो देशो में विश्वबैंक समझौता कराने का प्रयत्न करता रहा और आस्ट्रेलिया, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, न्यूज़ीलैंड, ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका तथा विश्वबैंक इस कार्य मे आर्थिक सहायता एव सहयोग देने को तैयार हो गये। इसके लिये Indus Basin Development Fund Agreement किया गया। अगस्त, १९५८ तक सिन्धु-जलसन्धि की सब शर्तों पर दोनो पक्षो की सहमति हो गई। ये शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) पूर्वी नदियों—रावी, व्यास और सतलुज का पानी कुछ अपवादो के साथ भारत को मिले। सबसे बड़ा अपवाद यह है कि संक्रमण-काल में जब तक पाकिस्तान पश्चिमी नदियों से पानी लेने के लिये अपनी नई योजक नहरें नहीं बना लेता तब तक भारत उसे इस के एक परिशिष्ट मे निर्धारित की गई मात्रा मे पानी देता रहेगा। संक्रमण-काल (Transition period) दस वर्ष का होगा, किन्तु इसे अधिक-से-अधिक तीन वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है।

(२) (क) तीन पश्चिमी नदियो—सिन्ध, जेहलम तथा चनाव के पानी का उपयोग पाकिस्तान करेगा। भारत इन नदियो के जल के पाकिस्तान द्वारा उपयोग मे बाधा नही डालेगा। किन्तु इस सन्धि की शर्तों के अनुसार उसे पाकिस्तान की सीमा से ऊपर नदियो के पानी से बिजली बनाने तथा सिंचाई करने का पूरा अधिकार होगा। वह इन नदियों से जम्मू, काश्मीर, पंजाब, हिमाचलप्रदेश मे बाढ़-नियन्त्रण के ऐसे उपाय कर सकेगा, जिनका पाकिस्तान पर बुरा प्रभाव न पड़े। (ख) इन नदियो के जल का उपयोग विद्युत् के उत्पादन-कार्य मे कर सकेगा। (ग) २८,५०,००० एकड़ फुट का पानी का संग्रह विभिन्न कार्यों के लिये कर सकेगा।

(३) पाकिस्तान दस वर्ष के भीतर पश्चिमी नदियों से पानी लेने वाली नई योजक नहरो का निर्माण करेगा, ताकि उसे पूर्वी नदियो से पानी लेने की आवश्यकता न रहे और भारत इसका पूरा प्रयोग करे। इसके लिये पाकिस्तान को ४०० मील लबी ८ नहरें तथा दो बड़े बाँध बनवाने पड़ेंगे। भारत इसके लिये दस समान किस्तों मे ६ करोड़ २० लाख पौण्ड (१७ करोड़ ४० लाख डालर) देगा। यदि पाकिस्तान यह कार्य दस वर्ष मे पूरा न कर सका तो ११वें वर्ष उसकी किस्त मे ५ प्रतिशत की, १२वें वर्ष १० प्रतिशत की तथा १३वें वर्ष १६ प्रतिशत की कमी हो जायगी।

(४) सिंचाई की नई नहरो के तथा अन्य आवश्यक कार्यों के निर्माण के लिये ६० करोड डालर की सिन्धु घाटी विकास निधि (Indus Basin Development Fund) होगी। इसमे (क) ६८ करोड डालर सं० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी और न्यूज़ीलैंड देंगे। (ख) भारत १७ करोड ४० लाख डालर देगा। (ग) ८ करोड पाकिस्तान विश्वबैंक से ऋण लेकर देगा।

(५) इस सन्धि की व्यवस्थाओं को क्रियान्वित करने के लिये दोनो सरकारो द्वारा नियुक्त किये गये दो सदस्यो का आयोग होगा।

(६) इस सन्धि के विषय मे उत्पन्न विवाद यदि आयोग के सदस्यो द्वारा हल न हो सकें तो इसके लिये एक तटस्थ विशेषज्ञ (Neutral Expert) नियुक्त करने

तथा पंच न्यायालय (Court of Arbitration) नियत करने का भी इसमे निर्देश है।

इस सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय श्री नेहरू ने कराची मे कहा था कि "यह दो पड़ोसी देशो के बीच मे एकता और सहयोग का प्रतीक है।" अन्तर्राष्ट्रीय नदियो के पानी के बँटवारे के विवाद के बारे मे यह बड़ी महत्वपूर्ण सन्धि है।[5]

प्रादेशिक समुद्र[6] (Territorial Sea)—समुद्री सीमा वाले राज्यो के बारे मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह नियम है कि समुद्र मे कुछ मील की दूरी तक का प्रदेश राज्य की सीमा म माना जाय। यहाँ उस राज्य की प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial sovereignty) होती है। यही प्रदेश प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) या समुद्री मेखला (Marine belt) कहलाता है।

अनेक ऐतिहासिक तथा युक्तियुक्त विचारो के आधार पर समुद्री मेखला पर राज्य का प्रभुत्व माना जाता है। पहले अनेक समुद्री राज्यो ने यह दावा किया था कि उनके स्थलीय प्रदेश के साथ लगने वाले समूचे महासमुद्र (High sea) पर उनका अधिकार है, किन्तु इस विशाल सागर पर प्रभुता स्थापित करना उनके लिए सम्भव नहीं था। शनै-शनै यह अनुभव किया जाने लगा कि समुद्र पर उतनी ही दूर तक तटवर्ती राज्य की प्रभुता मानी जाय जहाँ तक उस राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक समझा जाय अथवा जितनी दूर तक के प्रदेश में यह राज्य अपना अधिकार पूर्ण रूप से जमाने का सामर्थ्य रखता हो। समुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के साथ इस विचार का विकास हुआ और १८वीं शताब्दी तक यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका था। बिनकरशोयेक (Bynkershoek) ने सर्वप्रथम इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हुए 'समुद्र पर प्रभुसत्ता के निबन्ध' (De dominio maris dissertatio) मे यह नियम बनाया कि तटवर्ती राज्य की सत्ता समुद्र मे उतनी चौड़ाई तक विस्तीर्ण होनी चाहिए जहाँ तक उसकी तटवर्ती तोपो के गोले मार कर सकें। यही उसका सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है—Terrae potestas finitur ubi finitur armorum vis, (प्रादेशिक प्रभुता का विस्तार शस्त्रो की शक्ति के क्षेत्र तक होता है)।

प्रादेशिक समुद्र के सम्बन्ध मे दो प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय हैं—(१) समुद्री तट के किस हिस्से से प्रादेशिक समुद्र की नाप आरम्भ की जाय। (२) प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई कितने मील मानी जाय। पहले प्रश्न के सम्बन्ध मे सामान्य सिद्धान्त

---

५. चिली और बोलिविया के मध्य लौका (Louca) नदी के पानी के सम्बन्ध में विवाद के लिये देखिये—दी इण्डियन जर्नल आफ् इण्टरनेशनल लॉ, अप्रैल, १९६३ के अंक में लेकारोस का लेख—इण्टरनेशनल रिवर्स—दी लौका केस, पृ० १३३–१५०। ६६ राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के सम्बन्ध में विभिन्न समझौते किये है। इनके संक्षिप्त परिचय के लिये देखिये अमरीकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५ (१९६१), पृ० ६४५–६६१ में क्लैगट (Clagett) का लेख।

६ इसके लिये अंग्रेजी में Territorial Waters शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इसके स्थान पर 'प्रादेशिक समुद्र' का ही प्रयोग वाञ्छनीय समझा है। इसके लिये Marine belt (समुद्री मेखला) तथा Marginal Sea (सीमावर्ती समुद्र) शब्द का भी प्रयोग होता है।

यह है कि इस नाप की आधार रेखा (Base line) समुद्र के भाटे में पानी हटने की सबसे पिछली रेखा होनी चाहिए, इसे निम्न जलचिह्न (Low watermark) कहा जाता है। प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई के सम्बन्ध में पहले सामान्य सिद्धान्त तीन मील का था, किन्तु अब इसमें बहुत संशोधन प्रस्तावित किये जा रहे हैं।

बिनकरशोयक ने उपर्युक्त सिद्धान्त के विषय में तोप के गोले की मार की दूरी के नियम पर बल दिया था। वास्तव में यह उससे पहले ऐसे तटस्थ (Neutral) समुद्री प्रदेश की सीमा थी, जिसके भीतर नौयुद्ध नहीं हो सकते थे। तोप के गोले की मार को निश्चित मीलों में निर्धारित करने का श्रेय किस दिया जाय, यह अभी तक अनिश्चित है। ब्रियर्ली का मत है कि उन दिनों तोप के गोले की मार तीन मील नहीं थी, अतः इस नियम का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है।[७] कुछ स्कण्डेनेवियन देशों में तटस्थ समुद्र की सीमा समुद्री मीलों में निश्चित की जाती थी। फ्रांस न १८वीं शती की कुछ सन्धि-चर्चाओं में तीन मील की सीमा का सुझाव दिया था। कानूनी साहित्य में १८वीं शती के अन्त में इसका सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले दो इटालियन गेलियानी (Galiani) तथा आजुनी (Azuni) थे। १९वीं शताब्दी में विधिशास्त्रियों तथा न्यायालयों ने तीन मील की सीमा को व्यापक रूप से स्वीकार किया। एन्ना (Anna) के मामले में १८०५ में लार्ड स्टोवेल ने इसका समर्थन किया। १८१८ की एंग्लो अमेरिकन मत्स्यग्रहण सन्धि में तीन मील के नियम को अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज के रूप में स्वीकार किया गया और इसी समय से ग्रेट ब्रिटेन इसका प्रबल समर्थक है और इस सीमा को बढ़ाने का विरोध करता रहा है। स० रा० अमरीका तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्य देश इसी सीमा के पोषक है।

दूसरी ओर नार्वे, स्वीडन, स्पेन, पुर्तगाल प्रादेशिक समुद्र की सीमा को बढ़ाने के पक्ष में हैं। कुछ राज्य यह दावा करते हैं कि मछली पकड़ने आदि विभिन्न प्रयोजनों के लिए प्रादेशिक समुद्र की विभिन्न सीमायें होनी चाहियें। सीमा के मीलों में विभिन्नता का एक कारण यह भी है कि समुद्री प्रलोग (Marine League) की नाप सब देशों में एक जैसी नहीं है, ग्रेट ब्रिटेन में यह तीन मील है, अतः वहाँ प्रादेशिक समुद्र की सीमा ३ मील है। स्कैण्डेनेवियन देशों में यह चार मील है, इसलिये वहाँ की समुद्री मेखला ४ मील होती है। इस विषय में स्टार्क का कथन सर्वथा सत्य है कि "तीन मील की सीमा को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सामान्य नियम नहीं कहा जा सकता।" इस विषय में केवल इतना ही कहना सम्भव है कि प्रादेशिक समुद्र की न्यूनतम सीमा तीन मील है, अधिकतम सीमा के बारे में कुछ सत्य नहीं माना जा सकता। १९३० में हेग के संहिताकरण सम्मेलन (Codification Conference) में इस समुद्री मेखला की चौड़ाई के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सका, क्योंकि नार्वे स्वीडन आदि देशों ने तीन मील की सीमा का विरोध किया। १९५८ तथा १९६० का समुद्री कानून सम्मेलन भी इस प्रश्न को हल नहीं कर सका।

१९५८ का समुद्री कानून सम्मेलन—प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई पर विवाद

७. ब्रियर्ली—दी ला आफ नेशन्स, पृ० १६७

(Conference on the Law of Sea—Dispute over limit of Territorial Waters)—२४ फरवरी से २८ अप्रैल, १९५८ तक जेनेवा मे सयुक्त राष्ट्रसघ का ८७ राज्यो का सम्मेलन समुद्री कानून से सम्बद्ध विभिन्न विषयो पर विचार करने के लिये बुलाया गया था। इसमे मुख्य रूप से प्रादेशिक समुद्र की सीमा एव चौडाई के सम्बन्ध मे विस्तृत विचार हुआ, किन्तु इस विषय मे विभिन्न देशो के दृष्टिकोण मे इतना प्रबल तथा गम्भीर मतभेद था कि इस प्रश्न पर कोई निर्णय या समझौता नही हो सका। अन्तर्राष्ट्रीय कानून आयोग (International Law Commission) ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट मे इस प्रादेशिक समुद्र की किसी मर्यादा या सीमा का निर्देश न करते हुए केवल इतना ही कहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसकी सीमा आधाररेखाओ से १२ मील से आगे बढाने की अनुमति नही देता। कुछ देशो ने इससे यह परिणाम निकाला कि आयोग ने १२ मील की मर्यादा सीमा स्वीकार कर ली है, किन्तु अन्य देशो ने इसे पुरानी परम्परा के आधार पर तीन मील तक ही रखने पर बल दिया। इस सम्मेलन मे विभिन्न देशो ने प्रादेशिक समुद्र की निम्नलिखित सीमायें निश्चित करवे पर बल दिया—

(१) तीन मील[8] की सीमा—इसके मुख्य समर्थक ग्रेट ब्रिटेन, ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अधिकाश देश, फास, यूनान, जापान, हालैण्ड तथा स० रा० अमरीका थे।

(२) चार मील की सीमा का समर्थन डेन्मार्क, नार्वे तथा स्वीडन ने किया।

(३) छ मील की सीमा का प्रतिपादन भारत, इटली तथा स्याम ने किया।

(४) बारह मील की सीमा के समर्थक घाना, ग्वाटीमाला, इडोनेशिया, मैक्सिको, सऊदी अरब, वेनेजुएला तथा सोवियत रूस थे। सोवियत रूस के प्रतिनिधि प्रोफेसर तुनकिन का यह मत था कि प्रत्येक देश को स्थानीय परिस्थितियो को तथा 'वैध राष्ट्रीय हितो की सुरक्षा की दृष्टि से १२ मील तक के क्षेत्र म अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा निर्धारित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। भारतीय प्रतिनिधि श्री अशोककुमार सेन ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि भारत ने पहले ही अपने प्रादेशिक समुद्र के लिये छ मील की सीमा निश्चित की है[9]। पेरू के प्रतिनिधि ने कहा कि दक्षिण अमरीका के प्रशान्त महासागर तटवर्ती राज्यो ने १९५४ के सैण्टियागो सम्मेलन मे समुद्र के २०० मील तक के प्रदेश पर अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा की है। विभिन्न देशो ने प्रादेशिक समुद्र की सीमा के सम्बन्ध मे अपने पक्ष का समर्थन विभिन्न युक्तियो के आधार पर किया।[10] किन्तु इस सम्मेलन मे इस प्रश्न पर सर्वसम्मत निर्णय नही हो सका।

८. इस प्रकरण में मील का अभिप्राय समुद्री मील (Nautical mile) से है। यह ६,०७६ फुट होता है, जबकि सामान्य मील ५,२८० फुट होता है। तीन समुद्री मील स्थल के ३½ मील के बराबर होता है।

९. भारत ने १९६७ में अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा १२ मील तक बढाने की घोषणा है, पाकिस्तान १९६५ में ही इस प्रकार अपनी समुद्री सीमा का विस्तार कर चुका है।

१०. कीसिंग्स कण्टेम्परेरी आर्काइव्ज, २७ सितम्बर से ४ अक्टूबर, १९५८, पृ० १६४११-४१३।

दूसरा समुद्री सम्मेलन—समुद्र के कानून पर विचार करने के लिये बुलाये गये दूसरे जेनेवा सम्मेलन (Second U. N Conference on the Law of Sea) ने १७ मार्च से २६ अप्रैल, १९६० तक प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई तथा ऐसे सस्पर्शी क्षेत्र की चौड़ाई पर पुन विचार किया, जिसमे तटवर्ती राज्यों को मछली पकड़ने के अनन्य अधिकार हों। इन दोनों प्रश्नों पर १९५८ के सम्मेलन मे कोई सहमति नहीं हो सकी थी। किन्तु यह सम्मेलन भी इस समस्या का समाधान नहीं कर सका।

प्रादेशिक समुद्र का समझौता (Convention on the Territorial Sea and the Contiguous Zone)—१९५८ का समुद्री कानून सम्मेलन यद्यपि प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई के बारे मे कोई निर्णय नहीं कर सका, किन्तु उसने इसके अन्य प्रश्नों पर एक समझौता स्वीकार किया है।[11] इसकी प्रमुख व्यवस्थायें इस प्रकार हैं—

(क) **प्रादेशिक समुद्र का स्वरूप और लक्षण**—इस समझौते की धारा १ व २ के अनुसार एक राज्य की प्रभुसत्ता उसके स्थलीय प्रदेश से परे उसके समुद्रतट के साथ लगी हुई समुद्र मेखला (या प्रादेशिक समुद्र), प्रादेशिक समुद्र के ऊपर के आकाश पर तथा इसके तल पर तथा अधोभूमि पर भी विस्तीर्ण होती है। प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई समुद्रतट के साथ निम्नतम जलरेखा से नापी जाती है (धारा ३)। बहुत कटे फटे तटों के सम्बन्ध में सीधी आधाररेखाओं का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। इसकी धारा ७ मे खाड़ियों के सम्बन्ध मे यह नियम बनाया गया है कि वही खाड़ियाँ किसी देश का आन्तरिक समुद्र (Internal waters) समझी जायगी, जिनका मुहाना २४ मील से अधिक चौड़ा न हो। इससे अधिक चौड़े मुंह वाली खाड़ियों मे राज्य का अधिकार केवल २४ मील की चौड़ाई तक माना जायगा।

(ख) **निर्दोष गमन का अधिकार** (Right of innocent passage)—इस समझौते की धारा १४ मे सभी राज्यों को प्रादेशिक समुद्र मे गुजरने का निर्दोष अधिकार दिया गया है। वे सामान्य रूप से यात्रा करते हुए इसमे रुक सकते है, लगर डाल सकते हैं। यात्रा तभी तक निर्दोष (Innocent) रहती है, जब तक यह तटवर्ती राज्य की "शान्ति, सुव्यवस्था और सुरक्षा को हानि नहीं पहुँचाती।" किन्तु विदेशी जहाजों की यात्रा उस समय 'निर्दोष' नहीं समझी जा सकती, जब वे तटवर्ती राज्य द्वारा बनाये गये नियमों का पालन न करें। इस प्रदेश मे पनडुब्बियों को पानी के ऊपर, अपने देश का झण्डा प्रदर्शित करते हुए यात्रा करनी चाहिये।

तटवर्ती राज्य को विदेशी जहाजों की निर्दोष यात्रा म कोई बाधा नहीं डालनी चाहिये। वह अपनी सुरक्षा की दृष्टि से इनकी यात्रा अस्थायी रूप स बन्द कर सकता है किन्तु ऐसा करते हुए उसे सभी विदेशी जहाजों के लिये एक जैसी व्यवस्था करनी चाहिये, इसमे कोई भेदभाव या पक्षपात नहीं करना चाहिये (धारा १५)। महासमुद्रों के विभिन्न भागों को जोड़ने वाले तथा अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन (Navigation) के लिये प्रयोग मे आने वाले जलडमरूमध्यों का मार्ग कोई देश अस्थायी रूप से बन्द नहीं कर

११. कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९५८, पृ० १६४१३-१४

सकता (धारा १६)। सऊदी अरब ने यह व्यवस्था स्वीकार नही की। प्रादेशिक समुद्र मे निर्दोष यात्रा करने वाले जहाजो को तटवर्ती राज्य द्वारा बनाये सभी कानूनो और नियमो का पालन करना चाहिये (धारा १७)।

इस अभिसमय की धारा १८ मे २३ द्वारा यह व्यवस्था की गयी है—(१) तटवर्ती राज्य विदेशी जहाजों के अपने प्रादेशिक समुद्र मे से गुजरने पर कोई विशेष चुंगी या कर तब तक नही लगा सकते जब तक कि वे इसके बदले मे कोई विशेष सुविधा या लाभ न पहुचाए। ऐसी चुगी सब विदेशी जहाजो पर सामान्य रूप से लगनी चाहिये, इसमे कोई भेदभाव या पक्षपात उचित नही है। (२) प्रादेशिक समुद्र मे विदेशी जहाजों मे किये गये अपराधो के बारे मे तटवर्ती राज्य का क्षेत्राधिकार नही है। (३) तटवर्ती राज्यों को यह अधिकार नही कि वे विदेशी जहाज पर सवार किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे दीवानी कार्यवाही करने के लिये जहाज को रोकें या किसी दीवानी कार्यवाही के लिये किसी जहाज को बन्दी बनायें। वे तभी ऐसा कर सकते है, जब विदेशी जहाज ने उनके प्रादेशिक समुद्र मे कोई दीवानी कार्यवाही के लिये उपयुक्त अपराध किया हो। (४) ये नियम उन सब विदेशी जहाजों पर लागू होते हैं, जो किसी विदेशी सरकार की सम्पत्ति हैं और जिनका उपयोग व्यापारिक कार्यो के लिये हो रहा है।

(ग) संस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zones)—इस समझौते की धारा २४ मे तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) के साथ लगे हुए महासमुद्रो के संस्पर्शी क्षेत्र के स्वरूप और नियमो का वर्णन है। इसमे संस्पर्शी क्षेत्र की सीमा तट की आधाररेखा से १२ मील तक निश्चित की गयी है। इस क्षेत्र मे तटवर्ती राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने प्रदेश तथा प्रादेशिक समुद्र मे होने वाले चुगी, वित्त, आव्रजन (Immigration) एव स्वास्थ्य-विषयक (Sanitary) नियमो के उल्लघनो को रोक सके तथा ऐसा उल्लघन करने वालो को दण्ड दे सके।

अन्तिम प्राविधान (Concluding Provision)—इस अभिसमय की अन्तिम धाराओ (२५–३२) मे ये व्यवस्थायें हैं—(१) इससे पहले किये गये इस विषय के अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो तथा अभिसमयो पर इसका कोई प्रभाव नही पडेगा। (२) इस अभिसमय पर स० रा० सघ के सदस्य-राज्यो द्वारा हस्ताक्षर करने की अवधि ३१ अक्टूबर, १९५८ तक है। (३) इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशो को अपने राज्यो की विधान-सभाओ से इसका अनुसमर्थन (Ratification) कराना पडेगा। इसकी कोई अवधि नही है। (४) बाईस राज्यो द्वारा इसका अनुसमर्थन हो जाने के ३० दिन बाद यह अभिसमय लागू समझा जायगा। (५) इसके लागू होने के पाँच वर्ष तक इस पर हस्ताक्षर करने वाला कोई देश इसकी किसी व्यवस्था के संशोधन की माँग कर सकता है। इस पर कोई कार्यवाही करने या निर्णय करने का अधिकार स० रा० सघ की असेम्बली को होगा।

प्रादेशिक समुद्र मे तटवर्ती राज्य की पूर्ण प्रभुसत्ता होते हुए भी परम्परागत (Customary) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह सिद्धान्त है कि शान्तिकाल मे व्यापारी

जहाजो को इसमे निर्दोष (Innocent) अथवा अनाक्रमणात्मक (Inoffensive) रूप से गुजरने का अधिकार है। किन्तु ऐसे जहाज प्रादेशिक समुद्र मे से गुजरने का अधिकार नही रखते, जिनमे तटवर्ती राज्य की सुरक्षा, सुव्यवस्था, आमदनी तथा अन्य हितो को हानि पहुँचाने वाली वस्तुयें या व्यक्ति लदे हों। इस समुद्र मे आने वाले जहाजो के लिए स्थानीय नियमों का पालन आवश्यक है। किन्तु विदेशी राज्यों के रणपोतों को, सामान्य नियम के रूप मे प्रादेशिक समुद्र मे होकर गुजरने का अधिकार नही है। यद्यपि शान्ति-काल मे प्रथा के अनुसार इन्हे अपने समुद्री प्रदेश मे से गुजरने की अनुमति दे दी जाती है।[12] Corfu Channel Case (देखिये प्रथम परिशिष्ट) मे यह निर्णय दिया गया था कि शान्तिकाल मे विदेशी रणपोतों को अन्तर्राष्ट्रीय महामार्ग (Highway) समझे जाने वाले प्रादेशिक समुद्र मे 'निर्दोष प्रयाण' (Inoffensive passage) का पूरा अधिकार है और इन्हे इस अधिकार के प्रयोग से रोका नही जा सकता।

सस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zones)—कुछ राज्य सस्पर्शी क्षेत्रो (Contiguous Zones) के सिद्धान्त का अनुसरण करते है। इसका आशय यह है--(क) सब प्रयोजनो के लिए प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई एक जैसी नही हो सकती। (ख) समुद्र-तट से विभिन्न प्रकार की दूरियाँ रखने वाले अनेक क्षेत्र होते हैं, प्रादेशिक प्रभुता के पूर्ण अधिकारो से सर्वथा भिन्नता रखने वाले अनेक प्रकार के विशेषाधिकार और क्षेत्राधिकार यहाँ तटवर्ती राज्यो को प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, फ्रास इस प्रकार के कई क्षेत्र स्वीकार करता है—तट से तीन मील तक का मत्स्यक्षेत्र केवल फ्रास के प्रजाजनो के लिए सुरक्षित समझा जाता है। तटस्थता (Neutrality) का क्षेत्र छ मील तक माना जाता है। इसमे विदेशी रणपोत लगर नही डाल सकते। इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने भी स्वीकार किया है।

प्रादेशिक समुद्र मे तटवर्ती राज्य की पूर्ण प्रभुसत्ता स्वीकार करने से इन राज्यों को दो महत्त्वपूर्ण अधिकार मिलते हैं--(१) इस क्षेत्र मे मछली पकड़ने का अधिकार ये अपने प्रजाजनों के लिए सुरक्षित रखते हैं। विदेशी राज्य तटवर्ती राज्य के साथ सन्धि द्वारा ही यहाँ मत्स्यग्रहण का अधिकार रखते हैं। (२) अनुतटयात्रा (Cabotage) का अधिकार तटवर्ती राज्य केवल अपने प्रजाजनो और जहाजो के लिए सुरक्षित रख सकता है। इसका अभिप्राय एक ही देश के दो बन्दरगाहो के बीच समुद्री यात्रा की व्यवस्था है। अपने देश के बन्दरगाहो मे व्यापारिक ढुलाई तथा सवारियो के ले जाने के सम्बन्ध मे कोई भी तटवर्ती राज्य विदेशी जहाजो पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसमे जेनेवा के समुद्री कानून सम्मेलन के नियम ऊपर दिये जा चुके हैं।

एग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला—प्रादेशिक समुद्र के कानून पर अभी हाल मे दो घटनाओ का प्रभाव पड़ा है। पहली घटना Anglo-Norwegian Fisheries Case मे १९५१ मे किया गया अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय है और दूसरी

१२ स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५६

घटना इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का कार्य है। मत्स्यक्षेत्र वाले मामले में न्यायालय के सम्मुख विचारणीय प्रश्न यह था कि नार्वे की सरकार द्वारा १९३५ मे प्रकाशित एक सरकारी आदेश द्वारा बनाये गए मत्स्यग्रहण क्षेत्र (Fisheries) ठीक हैं या नही। ग्रेट ब्रिटेन का यह कहना था कि यह आज्ञा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल है। इस आज्ञा मे नार्वे के तट पर मुख्य भूमि की तथा इससे दूरवर्ती ४८ बिन्दुओं की आधाररेखाओ से ४ मील तक के समुद्री प्रदेश की सीमायें निश्चित करके एक क्षेत्र बनाया गया था। इसमे नार्ववासियों का मछली पकडने का एक मात्र अधिकार माना गया था। नार्वे का तट बहुत कटा-फटा है, इसमे निम्न जलचिन्ह (Low water mark) को आधाररेखा न स्वीकार कर, इसे समुद्र में काफी आगे से शुरू किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि इसमें समुद्र के काफी बड़े भाग प्रादेशिक समुद्र मे आ गये और अन्य देश इसमें मछली पकड़ने के अधिकार से वंचित हो गये। न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय दिया कि नार्वे सरकार की इस आज्ञा से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी नियम का खण्डन नहीं होता। ये समुद्र सदियो से केवल नार्वेजियन मछियारों का मत्स्यक्षेत्र रहे है। नार्वे का तट विशेष रूप से कटा-फटा होने से उसके लिए ऐसी आधाररेखा बड़े युक्तियुक्त ढग से निश्चित की गई है। यह आवश्यक नहीं कि आधाररेखा (Base line) निम्न जलचिह्न का अनुसरण करे, इतना ही पर्याप्त है कि यह 'तट की सामान्य दिशा' का अनुगमन करे और नार्वे ने ऐसा ही किया है।[13]

ब्रियर्ली ने इस निर्णय को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे नवीन तत्व समाविष्ट करने वाला माना है। इसमे अब तक आधाररेखा (Base line) के लिए माना जाने वाला निम्न जलचिह्न (Low water mark) का नियम छोड़ते हुए केवल यही कहा गया है कि आधाररेखा "एक युक्तियुक्त ढग से" खीची जानी चाहिए। स्टार्क ने इस निर्णय से तीन परिणाम निकाले हैं[14]—(१) यदि कोई तटवर्ती राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र को निर्धारित करने वाली आधाररेखाओ की तर्कानुकूलता के सम्बन्ध में किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सन्तोष करा सकता है और इसे यह विश्वास दिला सकता है कि ये रेखायें मनमाने ढग से नही खीची गई तो वह इस रीति का अनुसरण कर सकता है। (२) ऐसी आधाररेखाओ के लिए यह आवश्यक नही कि वे तट पर निम्न जलचिह्न के समानान्तर खीची जाय। इनके लिए समुद्रतट की सामान्य दिशा का अनुसरण आवश्यक है। (३) खाडियों का जल भी कुछ अवस्थाओ मे प्रादेशिक समुद्र का अग समझा जा सकता है, भले ही इनका मुँह इसके दो स्थानीय सिरो से नापे जाने पर १० मील से अधिक हो। सामान्यत खाडियो के सम्बन्ध मे यह नियम है कि इनकी १० मील तक की चौडाई देश की आन्तरिक सीमा मे समझी जाती है, इसके बाद ३ मील का प्रादेशिक समुद्र माना जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने १९५६ मे अपनी आठवी बैठक मे इस विषय मे

१३. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० १७८
१४. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६२

निम्नलिखित सुझाव दिए हैं—(क) राज्यों के व्यवहार को देखते हुए ससपर्शी क्षेत्रों (Contiguous Zones) के सिद्धान्तों को कुछ शर्तों के साथ स्वीकार कर लेना चाहिए। सस्पर्शी क्षेत्रो की दूरी १२ मील से अधिक नही होनी चाहिए, इनमे राज्यों को प्रभुसत्ता के नही, किन्तु निरीक्षण और नियन्त्रण के सामान्य अधिकार होने चाहियें। ताकि इनमे चुंगी, वित्त और स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमो का पालन हो सके। इन क्षेत्रो को सुरक्षा की दृष्टि मे मान्यता नही देनी चाहिए। (ख) प्रादेशिक समुद्र की चौडाई किसी भी दशा मे १२ मील से अधिक नही होनी चाहिए। एंग्लो-नार्वेजियन फिशरीज केस के अनुसार प्रादेशिक समुद्र को नापने की सीधी आधाररेखाओं को मान्यता दी जानी चाहिए, बशर्ते कि इस देश का तट बहुत कटा फटा हो और इसमे छोटे टापुओ की बडी सख्या हो, फिर भी इस आधाररेखा को तट की सामान्य दिशा का अनुसरण करना चाहिए।

प्रादेशिक समुद्र के सम्बन्ध मे दक्षिण अमरीका के चिली, इक्वेडोर और पेरू राज्यो ने १९५२ मे सैण्टियागो मे तथा १९५४ मे लीमा मे प्रादेशिक समझौते किए। इनके अनुसार सस्पर्शी समुद्र की चौडाई २०० मील मानी गई है। किन्तु इस क्षेत्र को इतना विशाल बनाने वाले समझौते अभी तक के वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल नही हैं।

जलडमरूमध्य (Straits)—छ मील से कम चौडे जलडमरूमध्य प्रादेशिक समुद्र का अग होते हैं। इससे अधिक चौडाई के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में विधिशास्त्रियों मे मतभेद है। कुछ इसे खाडी मानकर प्रादेशिक समुद्र का भाग बना देते हैं। १८७३ मे ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका ने जुआन डि फ्रूका के १० से २० मील तक चौडे जलडमरूमध्य को ऐसा मानकर इसके मध्यभाग को दोनो देशो की सीमान्त रेखा तय किया था। जो जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री महामार्ग बनाते हैं, उनके प्रादेशिक समुद्र में से होकर गुजरने का अधिकार विदेशों के व्यापारी और लडाकू—दोनों प्रकार के जहाजों को होता है। Corfu Channel Case मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय महामार्ग (Highway) का लक्षण करते हुए लिखा है कि इसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि यह दो खुले समुद्रो को मिलाने वाला मार्ग हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन के लिए इसका प्रयोग होता हो। खुले समुद्र का एक प्रादेशिक खाडी या भूमि से घिरे समुद्र मे मिलाने वाले जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय महामार्ग नही हैं जैसे उपर्युक्त जुआन डि फ्रूका का जलडमरूमध्य प्रशान्त महासागर को प्यूजेट खाडी के साथ मिलाने के कारण यह स्थिति नही रखता।

कुछ जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध मे विशेष नियम और सधियाँ होती हैं। भूमध्यसागर को कृष्णसागर के साथ जोडने वाले बास्फोरस और डार्डेनल्ज जलडमरूमध्य इसी प्रकार के हैं। ये पहले टर्की के पूर्ण अधिकार मे थे। १८४१ के एक समझौते के द्वारा यह तय किया गया कि विदेशी रणपोत इसमे नही आ सकेंगे। इनका यह तटस्थीकरण १९१४ तक बना रहा। इसके बाद मित्रराज्यो ने इसे जीत लिया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इनका विसैन्यीकरण (Demilitarisation) करके इन्हे सब देशो

के जहाजो के लिए खोल दिया गया तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन को इसका प्रबन्ध सौंप दिया गया। कमालपाशा की विजय के बाद लोजान की सधि द्वारा १६२३ मे इसे शान्तिकाल एव युद्धकाल मे व्यापारी और लडाकू जहाजों के लिए समान रूप से खुला रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण को घटा दिया गया, इस पर टर्की की प्रभुसत्ता मानी गई। १६३६ के मोण्ट्रू अभिसमय (Montreaux Convention) के अनुसार टर्की को इसमे पुन किलेबन्दी करने तथा इसे सैनिक दृष्टि से सन्नद्ध करने का अधिकार दिया गया। इसके नियत्रण का अन्तर्राष्ट्रीय आयोग हटाकर इस पर टर्की को पूरी सर्वोच्च सत्ता कुछ शर्तों के साथ प्रदान की गई।

खाडियां और आखात (Bays and gulfs)—इनके सम्बन्ध मे एग्लो-नार्वेजियन फिशरीज वाले मामले ने बडा प्रभाव डाला है (पृ० २१५)। इससे पहले ग्रेट ब्रिटेन मे यह परिपाटी थी कि छ मील की चौडाई तक खाडियो को आन्तरिक जल समझा जाता था, प्रादेशिक समुद्र की आधाररेखा छ मील चौडाई को दोनो स्थलीय सिरो से मिलाने वाली रेखा मानी जाती थी, इसमे आगे तीन मील तक का समुद्र प्रादेशिक समझा जाता था। अन्य देशो मे छ मील की चौडाई के स्थान पर १० मील की चौडाई तक की खाडी आन्तरिक जल का भाग मानी जाती थी। अब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के उपर्युक्त निर्णय से इस विषय मे ये नियम बन गये हैं—(१) जब कुछ खाडियो या आखातो के जल को चिरकाल से तटवर्ती राज्य अपना आन्तरिक जल समझता है, तथा अन्य राज्य भी उसके इस व्यवहार का लम्बी और युक्तियुक्त प्रथा द्वारा पूर्ण समर्थन करते रहे हो, तो यह व्यवहार अन्य राज्यो द्वारा मान्य स्वीकार किया जाना चाहिये। (२) यदि ऐसा व्यवहार या प्रथा न हो, तो भी तटवर्ती राज्य को यह अधिकार है कि वह आर्थिक आवश्यकता अथवा खाडी के साथ प्राचीन सम्बन्ध के आधार पर खाडी के जलो को प्रादेशिक समुद्र मे सम्मिलित करने की घोषणा करे। (३) तट की बनावट और कटाव को देखते हुए प्रादेशिक समुद्र को निर्धारित करने वाली आधाररेखायें तट की सामान्य दिशा का अनुसरण करते हुए खीची जानी चाहियें। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने यह सुझाव दिया है कि खाडी के उतने भाग का ही पानी आन्तरिक या प्रादेशिक समझा जाना चाहिये, जिसका मुहाना १५ मील से अधिक चौडा न हो। १६५० के समुद्री कानून सम्मेलन ने यह सीमा २४ मील बढा दी है।

महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf)—यह एक भूगर्भशास्त्रीय परिभाषा है। महाद्वीपों के साथ लगा हुआ समुद्रतट इस प्रकार बना हुआ है कि वह महाद्वीपो के स्थलीय अश का ही अग है, वह काफी दूर तक शनै शनै गहरा होते हुए अन्त मे सहसा २०० मीटर (६०० फुट) या इससे अधिक गहरा हो जाता है। समुद्र के निम्नतम तल पर खडे व्यक्ति को यह एक ऊँचा ताक (Shelf) जैसा दिखाई देता है। ६०० फुट तक से कम गहरा ढालू प्रदेश महाद्वीपीय समुद्रतल कहलाता है। पहले इस प्रदेश का कोई महत्त्व नहीं था, किन्तु अब वैज्ञानिकसाधनो की उन्नति से यन्त्र लगाकर इस प्रदेश की खुदाई द्वारा यहा से अनेक प्रकार के खनिज

—कोयला, तेल तथा अन्य सामग्री प्राप्त की जाने लगी है।

२८ सितम्बर, १९४५ को अमरीकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह घोषणा की कि स० रा० अमरीका के महाद्वीप के साथ लगे हुए महाद्वीपीय तल का सम्बन्ध स० रा० अमरीका से है और वह इसकी प्राकृतिक सामग्री पर क्षेत्राधिकार और नियन्त्रण (Jurisdiction and control) का दावा रखता है। इस घोषणा से आठ हजार वर्ग मील का समुद्रतल उसके अधिकार में आ गया, यह उसके १३ मूल राज्यों के क्षेत्रफल से दुगना है। अलास्का में यह रेखा कई सौ मील तक चली गयी है। पूर्वी तट पर इस तल की चौड़ाई २० से २५० मील तक तथा पश्चिमी तट पर १ से ५० मील तक है। स० रा० अमरीका के बाद मेक्सिको (अक्टूबर, १९४५), अर्जण्टायना (११ अक्टूबर १९४६), चिली (जून, १९४७), पेरू (अगस्त, १९४७), तथा कोस्टा रिका (नवम्बर, १९४८) ने अपने देशों के साथ लगे समुद्री तल के सम्बन्ध में सर्वोच्च प्रभुसत्ता के इस प्रकार के दावे किये।[१५]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिये यह सर्वथा नवीन समस्या है। इसमें जहाँ एक ओर तटवर्ती राज्यों को उनके प्रदेश के साथ लगे समुद्रों में विद्यमान प्राकृतिक साधनों के उपयोग का अधिकार देना, उनकी सुरक्षा और साधनों की वृद्धि की दृष्टि

---

१५. अमरीका की घोषणा में यह भी कहा गया था कि महाद्वीपीय समुद्रतल के ऊपर के महासमुद्रों पर तथा इनमें स्वतन्त्र तथा निर्बाध नौचालन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि यह महासमुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of High Seas) में कोई बाधा नहीं डालता। स्वार्क तथा रैनट आदि लेखकों ने ट्रूमैन के इस सिद्धान्त की खोज की कोलम्बस की अमरीका की खोज से तुलना की है और यह कहा है कि यह इतिहास की बड़ी महत्वपूर्ण घटना है (इंडियन जर्नल आफ इन्टरनेशनल ला, अप्रैल, १९६३, पृ० १६०-६३)।

वस्तुतः इस विषय में सबसे पहले नियम बनाने वाला पुर्तगाल था। उसने १८३० में १०० फैदम (६०० फीट) गहराई वाले अपने समुद्रतल में विदेशी जहाजों को जाल डालकर मछलियाँ पकड़ने Trawling से रोक दिया। १९१६ में रूस ने दुनिया के दूसरे देशों को यह सूचित किया कि वह अपने तट से कुछ दूरी पर विद्यमान कई टापुओं को इस आधार पर अपना समझता है कि वे साइबेरिया महाद्वीप का ही भाग हैं। २६ फरवरी, १९४२ को ग्रेट ब्रिटेन तथा वेनेजुएला ने पेरिया की खाड़ी (Gulf of Paria) के समुद्रान्तरीय क्षेत्रों के बारे में सन्धि की। यह इसलिये महत्वपूर्ण थी कि वेनेजुएला को ब्रिटिश ट्रिनीडाड से पृथक करने वाला २५ मील चौड़ा समुद्र बहुत उथला है और इस समुद्रतल के नीचे पेट्रोल मिलने की सम्भावना थी, अतः इस सन्धि द्वारा एक कृत्रिम रेखा द्वारा दोनों देशों के अधिकार क्षेत्र की सीमा निश्चित की गयी।

दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों—चिली और पेरू ने अपने समुद्रतट के साथ २०० मील तक की दूरी के सागर को अपना प्रदेश घोषित किया। अल साल्वेडोर (El Salvador) राज्य के १९५० के संविधान में कहा गया है कि इस राज्य के प्रदेश में निम्न जलचिह्न से २०० समुद्री मील तक के समीपवर्ती समुद्र इनके ऊपर का आकाश, भूमि के नीचे का भाग तथा महाद्वीपीय समुद्रतल सम्मिलित है। लौटरपैक्ट ने यह सत्य ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से ये दावे निराधार हैं (ओपेनहाइम ११६३०) और स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन ने इनके विरुद्ध प्रतिवाद किया है।

से वाञ्छनीय प्रतीत होता है, वहाँ दूसरी ओर इससे महासमुद्रों में नौचालन की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप होने तथा जटिल और कटु अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के उत्पन्न होने की आशंका है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश लौटरपैक्ट (Lauterpacht) का मत है कि महाद्वीपीय समुद्रतल के सम्बन्ध में किये जाने वाले दावे युक्तियुक्त हैं, इन्हें तल तक सीमित न करके सभी अध समुद्रीय (Submarine) क्षेत्रों में लागू करना चाहिये। महाद्वीपीय समुद्रतल पर तटवर्ती राज्य के कानूनी अधिकार का आधार सस्पर्शिता (Contiguity) का सिद्धान्त तथा अन्य राज्यों द्वारा तटवर्ती राज्य के दावों का स्वीकार किया जाना है।

ब्रियर्ली (Brierly) ने महाद्वीपीय तल पर तटवर्ती राज्य के अधिकार को स्वीकार करने का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि ऐसा न करके समुद्रतल को अस्वामिक (Res nullius) घोषित किया जाय तो कोई भी विदेशी राज्य यहाँ समुद्र के गर्भ की प्राकृतिक सम्पत्ति निकालने के लिये आवेशन (Occupation) द्वारा इस पर अधिकार कर सकता है और इससे तटवर्ती राज्य के लिये खतरा उत्पन्न हो सकता है। अतः महाद्वीपीय तल की प्राकृतिक सम्पदा निकालने का एकमात्र अधिकार कानून द्वारा (Ipso jure) तटवर्ती राज्य को मिलना चाहिये, आवेशन अथवा अंगीकरण (Annexation) द्वारा इसकी पुष्टि करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। ये अधिकार समुद्रतल की अधोभूमि तक ही सीमित रहने चाहियें, इसके ऊपर के महासमुद्रों में होने वाले नौचालन या मछली पकड़ने पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये।[1]

१६५६ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने महाद्वीपीय समुद्रतल के बारे में अपने नियमों का जो प्रारम्भिक रूप तैयार किया, उसमें निम्न बातों पर बल दिया गया है —(१) तटवर्ती राज्यों को महाद्वीपीय समुद्रतल के प्राकृतिक साधनों को प्राप्त करने के पूरे 'प्रभुसत्तासम्पन्न' अधिकार होने चाहियें। (२) किन्तु इस तल के उपरिशायी (Superjacent) जलों और महासमुद्रों और आकाश पर इनको कोई अधिकार नहीं होंगे। (३) इनके कार्यों से समुद्र के अन्दर डाली गई तारों की व्यवस्था को कोई हानि नहीं पहुँचनी चाहिये। (४) नौचालन में और मछलीगाहों में इन कार्यों से कोई बाधा या हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। (५) समुद्र के तल में से प्राकृतिक पदार्थ निकालने के लिए लगाये जाने वाले यन्त्रों तथा अन्य साधनों के निर्माण की सूचना अन्य राज्यों को दी जानी चाहिये। (६) जब एक ही महाद्वीपीय समुद्रतल के साथ दो राज्य स्पर्श करते हों तो दोनों में कोई समझौता या सन्धि न होने की दशा में इनकी सीमान्त रेखा इनके प्रादेशिक समुद्र की आधाररेखाओं से समदूरी (Equidistance) के सिद्धान्त पर निर्धारित की जानी चाहिये।

महाद्वीपीय समुद्रतल का १६५८ का अभिसमय (Convention of 1958 on Continental Shelf)—सं० रा० संघ की अध्यक्षता में २४ फरवरी से २८ अप्रैल,

---

१६- ब्रियर्ली—दि लॉ आफ नेशन्स, पृ० १८३

१६५८ तक जेनेवा मे होने वाले ८७ राष्ट्रों के समुद्र के कानून (Law of Sea) पर विचार के लिए बुलाए गये सम्मेलन ने इस जटिल प्रश्न पर विचार करके एक अभिसमय या समझौता किया। इसके पक्ष में ५७ मत तथा विपक्ष मे ३ मत थे। आठ देश मतदान में तटस्थ रहे। इस समझौते की महत्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नलिखित है।

इसकी पहली धारा (Article 1) मे महाद्वीपीय समुद्रतल का लक्षण किया गया है। यह विचार अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे बिल्कुल नया है और इससे पहले इस विषय में विभिन्न राष्ट्रों की कोई सधि नही हुई। इसमे महाद्वीपीय समुद्रतल की परिभाषा मे दो बातें कही गई हैं"—(१) यह समुद्रतट का समीपवर्ती (adjacent) वह समुद्रतल (Seabed) तथा अध समुद्री (Submarine) प्रदेशो का वह निम्न धरातल (Subsoil) है, जो प्रादेशिक समुद्र की सीमा से बाहर उस स्थान तक है, जहाँ तक समुद्र २०० मीटर गहरा हो। यह उससे भी आगे तक भी हो सकता है, बशर्ते कि इस गहराई में समुद्रतल के प्राकृतिक साधनो का दोहन (Exploitation) हो सके।

(२) द्वीपों के समीपवर्ती समुद्रतटो के अध समुद्री प्रदेशो के सम्बन्ध मे महाद्वीपो की उपर्युक्त व्यवस्था लागू करनी चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि महाद्वीपो का प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) से २०० मीटर की गहराई तक का समुद्र महाद्वीपीय समुद्रतल है।

इसके समुद्रतल मे प्राकृतिक साधनों के दोहन (Exploitation of Natural Resources) का एकमात्र अधिकार इस अभिसमय की धारा २ के अनुसार तटवर्ती राज्य को दिया गया है। वह यहाँ के खनिज तथा अन्य जीवन न रखने वाले (Non-living) एव जीवित (Living) प्राणियो मे अचल, गतिहीन या स्थावर जीव-जन्तुओ (Sedentary species) का दोहन या उपयोग कर सकता है। निश्चल जीव-जन्तुओं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि "ये सीप (Oyster) जैसे ऐसे प्राणी हैं, जो इनकी फसल के समय या तो समुद्रतल मे निश्चल (Immobile) पड़े रहते हैं अथवा तब तक गतिशील नही हो सकते, जब तक कि वे समुद्रतल के निरन्तर भौतिक सम्पर्क मे न आयें।"[१८] इससे यह स्पष्ट है कि (१) तटवर्ती राज्य को समुद्री

---

१७ कौसिंग्स आर्काइव्ज १९५८, पृ० १६४१५-६

१८. Organisms (such as oysters) which at the harvestable stage are either immobile under the seabed or cannot move except in constant physical contact with the seabed or the subsoil.

अचल मछलीगाहों (Sedentary fisheries) के सम्बन्ध में यह लक्षण बड़ा महत्त्वपूर्ण है तथा लगभग दस वर्ष के विचार-विमर्श के बाद स्वीकार किया गया है। वस्तुत समुद्र में चल और अचल प्राणियों के सम्बन्ध में विशुद्ध वर्गीकरण बड़ा जटिल प्रश्न है। इसके मुख्य वर्ग ये है—(१) कुछ समुद्री जन्तु बिल्कुल निश्चल (Immobile) होते हैं, (२) कुछ केवल कुछ फुट तक गति करते हैं और (३) कुछ प्राणी काफी दूर तक गति करने और तैरने का सामर्थ्य रखते है। अचल (Sedentary) वर्ग में प्राय समुद्रतल मे भौतिक रूप से सबद्ध स्पन्ज, मूगा (Coral edible mussels) को सम्मिलित किया जाता है। कुछ प्राणी आरम्भिक जीवन में तैरने वाले तथा बाद में निश्चल हो जाते हैं, कुछ शुरू में निश्चल तथा बाद में गतिशील होते हैं। अत

तल मे पाई जाने वाली केवल उन्ही वस्तुओ के उपयोग का अधिकार है, जो इसमे निश्चल एव निष्क्रिय रूप से स्थिर पड़ी रहती हैं। अतः यह व्यवस्था समुद्र के गतिशील प्राणियो पर नही लागू होती। (२) समुद्री तल की वस्तुओ के उपयोग का अधिकार होने पर भी इससे ऊपर के महासमुद्री (High Seas) पर इसके ऊपर के आकाश (Air-space) पर तटवर्ती राज्य को कोई अधिकार प्राप्त नही होता (धारा ३)।

तटवर्ती राज्य को यद्यपि महाद्वीपीय समुद्री तट के प्राकृतिक साधनो के उपयोग तथा दोहन के लिए आवश्यक सभी तर्कसगत उपायों (Reasonable measures) के प्रयोग का अधिकार है, किन्तु ऐसा करते हुए तटवर्ती राज्य को समुद्री तल मे बिछाई गई तारो, पाइप लाइनो को बनाये रखने या नई तारो के डालने मे कोई बाधा नहीं डालनी चाहिये। समुद्री तल का उपयोग करते हुए तटवर्ती राज्यो को निम्नलिखित कार्यों मे कोई अनुचित बाधा (Unjustifiable interference) नही डालनी चाहिये—(क) जहाजो का आना जाना (Navigation), मछली पकड़ना, समुद्र मे रहने वाले जीवित प्राणियो का सरक्षण (Conservation), (ख) समुद्र विषयक (Oceanographic) प्रकाशित होने वाली खोजे। इन विषयो का पालन करते हुए तटवर्ती राज्य अपने समुद्री तल के प्राकृतिक साधनो को प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक यन्त्र लगाने (Installations) का अधिकार रखता है। इस कार्य के लिए उपयुक्त सूचना देने के बाद उसे इन क्षेत्रो मे ५०० मीटर चौडाई के सुरक्षित क्षेत्र (Safety Zone) स्थापित करने चाहिये। इनकी सीमा को प्रदर्शित करने के लिए प्रकाश की बत्तियाँ तथा तैराक पीपे (Buoys) लगाने चाहिये किन्तु ऐसे क्षेत्रो को द्वीप का दर्जा नही मिलेगा। वे तटवर्ती राज्य की भूमि नही समझे जायेंगे, इससे तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र की सीमा मे कोई अन्तर नही आयगा। तटवर्ती राज्य इस बात का पूरा प्रयत्न करेगा कि समुद्र मे रहने वाले जीव-जन्तुओ को उसके कार्यों से किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। महाद्वीपीय समुद्रतल की वैज्ञानिक खोज के लिए तटवर्ती राज्य की अनुमति आवश्यक होगी, किन्तु यदि इसकी प्रार्थना इस कार्य की योग्यता रखने वाली सस्थाओ (Qualified institutions) द्वारा की जायगी तो तटवर्ती राज्य सामान्य रूप से इस प्रार्थना को अस्वीकार नही करेगा। यह विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक अनुसधान होगा तथा तटवर्ती राज्य को इसमे भाग लेने तथा इसके परिणामो को प्रकाशित करने का अधिकार होगा।

यदि कोई समुद्री तल दो या अधिक राज्यो के निकट पडता है तो इसमे प्रत्येक

उपर्युक्त समझौते में दिये गये लक्षण में यह स्पष्ट किया गया है कि ये फसल के समय (Harvestable Stage) निश्चल होने चाहिएँ। इसके साथ ही ये 'समुद्रतल पर या उसके नीचे निश्चल रहने वाले' हों। यद्यपि इस लक्षण से कठिन आवरण वाले (Crustaceans) केंकड़े, झींगामछली (Lobster) के सम्बन्ध में स्थिति अनिश्चित है, फिर भी उपर्युक्त लक्षण ने अचल मछलीगाहों के स्वरूप को पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित कर दिया है। इस विषय के विवेचन के लिये देखिये—अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५, १९६१, पृ० ३५६—३७३।

राज्य की सीमा आपसी समझौते से तय होगी। ऐसा समझौता न होने तथा सीमा निर्धारित करने की अन्य विशेष परिस्थितियाँ न होने की दशा में यह ऐसी मध्यरेखा (Median line) होगी, जिसका प्रत्येक बिंदु उन आधाररेखाओं (Base lines) से समान दूरी पर होगा, जिनसे प्रत्येक देश के प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई नापी जाती है।

ब्राजील-फ्रांस झींगामछली विवाद (Brazil France Lobster Dispute)—इस प्रसंग में ब्राजील और फ्रांस के **झींगामछली विवाद** (The Lobster Dispute) का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। इस विवाद ने ३० जनवरी, १९६३ को बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया, जब ब्राजील के उत्तर पूर्वी समुद्रतट से ६७ मील की दूरी पर झींगामछलियों को पकड़ने वाली फ्रांस की तीन नौकाओं को यह कहा गया कि यहाँ फ्रांस को मछली पकड़ने का कोई अधिकार नहीं है। ब्राजील के जंगी जहाज अवैध रूप से मछलियाँ पकड़ने के अपराध में इन फ्रेंच नौकाओं को पकड़कर नैटाल (Natal) के बन्दरगाह में ले गए। इस पर दोनों देशों में बड़ी उत्तेजना और तनाव बढ़ा तथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। दोनों देशों के राष्ट्रपतियों ने पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करके इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया और इसके परिणामस्वरूप तीनों फ्रेंच नौकाओं को झींगामछली पकड़ने की अनुमति दे दी गई, किन्तु १९ फरवरी, १९६३ को इस अनुमति को रद्द करते हुए ब्राजील की सरकार ने फ्रेंच नौकाओं को इस क्षेत्र में पुनः हट जाने का कहा।

इस विवाद का मूल कारण यह है कि दक्षिण अमरीका के अन्य राज्यों की भाँति ब्राजील ६० मील तक के महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf) को अपना राष्ट्रीय प्रदेश मानता है और यह कहता है कि झींगामछलियाँ इस समुद्री तल पर चलकर आने वाले प्राणी हैं, वे मछलियों (Fish) से भिन्न हैं, अतः इन पर उसका स्वामित्व है, फ्रांस इनको यहाँ से नहीं पकड़ सकता। दूसरी ओर फ्रांस का यह कहना है कि ब्राजील को समुद्री तल के साथ संलग्न सभी वस्तुओं—घोंघे (Oysters), स्पंज, मूंगे (Corals) आदि निश्चल वस्तुओं पर पूर्ण अधिकार है, किन्तु झींगामछलियाँ गतिशील प्राणी हैं, वे समुद्र में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करती हैं, उन्हें मछली समझना चाहिए। उनको समुद्री तल से संबद्ध नहीं समझना चाहिए, अतः मछलियों की भाँति इनके शिकार का पूरा अधिकार फ्रांस को है। ब्राजील तट के पास झींगामछलियाँ फ्रांस के लिए विशेष महत्त्व रखती हैं क्योंकि फ्रांस के पास इसकी प्राप्ति के पुराने प्रधान स्रोत—अफ्रीका के निकट मारीतानिया (Mauritania) के समुद्रतट पर ये मछलियाँ लगभग समाप्तप्राय हैं। अतः फ्रांस ने १९ फरवरी को ब्राजील की माँग का प्रतिरोध करने के लिए अपने एक रणपोत Tartu को विवादास्पद समुद्री प्रदेश में जाने का आदेश दिया (२२ फरवरी)। इस पर ब्राजील ने इसी दिन अपने दो विध्वंसक पोतों (Destroyers) को यहाँ जाने का आदेश भेजा। ब्राजील की नौसेना को युद्ध के लिए सावधान कर दिया गया। इस संघर्ष की स्थिति में विवाद के शांतिपूर्ण समाधान के लिए दोनों देशों में वार्ता आरम्भ हुई और अन्त में फ्रांस ने २ अप्रैल, १९६३ को यह घोषणा की कि वह ब्राजील के साथ हो रहे इस विवाद को निर्णय के लिए हेग के पंचनिर्णय के स्थायी

पर स्वत्व है। आपेनहाइम[20] के मतानुसार निम्नलिखित कारणों के आधार पर तटवर्ती राज्य को अपने महाद्वीपीय समुद्रतल के साधनों और स्रोतों के एकमात्र उपयोग और उपभोग का अधिकार होना चाहिये—तटवर्ती राज्य का इस समुद्रतल के साथ प्रत्यक्ष लगा होना (Direct proximity), महाद्वीपीय समुद्रतल का समीपवर्ती भूप्रदेश का स्वाभाविक बढ़ा हुआ भाग (Natural prolongation) होना, महाद्वीपीय समुद्रतल तथा इसके पास की मुख्यभूमि के खनिज पदार्थों का मिलकर एक संग्रह (Common pool) बनाना, महाद्वीपीय समुद्रतल के साधनों के उपयोग में तटवर्ती राज्य के विशेष हित होना, भौगोलिक दृष्टि से तटवर्ती राज्य का इन साधनों के उपयोग करने मे सर्वोत्तम स्थिति मे होना, तटवर्ती राज्य द्वारा अपने साथ लगे समुद्री तल के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के लिए अन्य राज्यों को अनुमति देने की विधिसम्मत अनिच्छा। ये सब कारण महाद्वीपीय समुद्रतल पर तटवर्ती राज्य की प्रभुसत्ता के दावे को न्यायोचित एवं तर्कसंगत ठहराते हैं।[21]

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने भी दूसरे दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा है कि समुद्रतल और इसके नीचे की भूमि अस्वामिक नही समझी जा सकती, यह इस पर सर्वप्रथम आवेशन करने वाले की नही मानी जा सकती। "यह सम्भव नही है कि इस विषय में भौगोलिक तत्व की उपेक्षा की जाय, भले ही इस तत्व को तथा समुद्रतल तथा उसके पास के भू-प्रदेश का सम्बन्ध प्रकट करने के लिये हम सामीप्य (Propinquity), सस्पर्शिता (Contiguity), भौगोलिक अविच्छिन्नता (Geographical Continuity), परिशिष्टता या तादात्म्य (Appurtenance or identity) आदि शब्दों का प्रयोग करें। समुद्री कानून के सम्मेलन (Conference on the Law of Sea) में भारतीय प्रतिनिधि ने इसी मत का समर्थन किया था और कहा था कि यदि आवेशन (Occupation) द्वारा समुद्री तल पर अधिकार का सिद्धान्त मान लिया गया तो यह राज्यों के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को गम्भीर क्षति पहुँचायेगा।[22]

महाद्वीपीय समुद्रतल के विचार का विकास यह सूचित करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं के कारण किस प्रकार इस विषय मे नियमों का विकास हो रहा है। प्रारम्भ मे इसका इस दृष्टि से बहुत विरोध किया गया था कि यह महासमुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of High Seas) के सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त मे बाधा डालने वाला है। किन्तु बाद मे यह अनुभव किया गया कि विभिन्न राज्यों की भोजन-सामग्री तथा अन्य साधनों की आवश्यकताओं को दृष्टि मे रखते हुए उन्हें समुद्रतलवर्ती प्राकृतिक सम्पदा के उपयोग का अधिकार इस रीति से देना चाहिए कि इसमे महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर कोई आंच न आये। इसी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने लिखा है

२० आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ,—प्रथम खण्ड, (अष्टम संस्करण), पृ० ६३४। इस विषय में ३१ जून, १९६० को सं० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये गये महत्वपूर्ण निर्णय के लिये देखिये कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६०, पृ० १७४८८

२१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड १, पृ० ६६२-३३

२२. इण्डियन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९६२, पृ० १९४

कि यह (महासमुद्रों की स्वतन्त्रता) एक ऐसे विकास को नही रोक सकती, जो प्रायोग की सम्मति मे सारी मानव जाति को लाभ पहुँचा सकता है। किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इसका महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर कोई प्रभाव न पड़े।'[23]

गहरे समुद्रतल (Deep seabed) पर प्रभुत्व की नवीन समस्या—इस समय जहाँ मनुष्य एक ओर अन्तरिक्ष मे चन्द्र, शुक्र, मगल आदि ग्रह-उपग्रहों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर वैज्ञानिक उन्नति से उसने न केवल महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental shelf) मे विद्यमान प्राकृतिक सम्पत्ति—पेट्रोल, लोहा, कोयला प्राप्त करना शुरू कर दिया है, अपितु महाद्वीपीय समुद्रतल से आगे के अत्यन्त गहरे समुद्रतलो से भी प्राकृतिक सम्पत्ति निकालने के साधनो का आविष्कार करने मे बड़ी सफलता प्राप्त की है। समुद्र के गर्भ मे विद्यमान अनन्त सम्पत्ति का अनुमान इन थोड़े से तथ्यो से भली भाँति किया जा सकता है।'[24] केवल प्रशान्त महासागर मे एल्यूमीनियम की इतनी मात्रा है कि १९६० मे ससार मे इसकी खपत के हिसाब से यह बीस हजार वर्ष तक चल सकती है, जब कि पृथ्वी पर विद्यमान खानो का एल्यूमीनियम केवल १०० वर्ष तक ही काम दे सकता है, इसी प्रकार मैंगनीज तथा ताम्बे के समुद्री भडार क्रमश ४ लाख और ६००० वर्ष तक चल सकते हैं, जब कि पृथ्वी के भण्डार क्रमश १०० वर्ष तथा ४० वर्ष के लिये ही है। समुद्र के खारे जल को मीठा बनाने के तथा उस मे खेती करने के परीक्षण इतनी तेजी से हो रहे है कि १९८० तक समुद्रो मे अनाज की पैदावार बड़े पैमाने पर होने लगेगी, भूमि पर खेती समुद्री खेती की तुलना मे नगण्य रह जायगी। एक वर्गमील समुद्री जल से लाखो टन नमक तथा अन्य खनिजो के अतिरिक्त ६५ टन (१ टन=२७ मन) चाँदी तथा २५ टन सोना पाने की सभावना की जा रही है। इस विषय मे कितनी तेजी से प्रगति हो रही है, यह इससे स्पष्ट है कि थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया और मलायशिया इस समय समुद्र से रागा (Tin), दक्षिण अफ्रीका हीरे, फिनलैण्ड तथा न्यूजीलैण्ड लोहा तथा इगलैण्ड और कनाडा कोयला प्राप्त कर रहे हैं। सबसे अधिक विलक्षण प्रगति पेट्रोल, गन्धक और गैस के क्षेत्र मे हुई है। १९४७ मे सं० रा० अमेरिका के महाद्वीपीय समुद्रतल मे विद्यमान तेल भडार का अनुमान ३३ अरब (Billion) पीपे था (१ पीपा=३१½ गैलन) तथा २½ करोड पीपे तेल समुद्र से निकाला जाता था। १९६४ मे समुद्री तेल भण्डार का अनुमान बढ कर १०० अरब हो गया है और समुद्र से पहले की अपेक्षा लगभग दस गुना या २४ करोड पीपे तेल निकाला जा रहा है। समुद्र के इस अनन्त वैभव का महत्व उस समय और भी अधिक बढ जाता है, जब हम यह देखते हैं कि भूमण्डल का तीन-चौथाई भाग समुद्रो से घिरा हुआ है। इस अनन्त प्राकृतिक सम्पत्ति के अतिरिक्त समुद्रतल का दूसरा नवीनतम उपयोग प्रतिरक्षात्मक कार्यों के लिए है। समुद्र की गहराइयों मे शत्रु-देशो को हानि पहुँचाने के लिये फेंके जाने वाले प्रक्षेपणास्त्रो के अड्डे स्थापित किये जा सकते है, इन

२३. वही, पृ० १९२

२४. टाइम्स आफ इंडिया, दिल्ली, २ दिसम्बर १९६७, पृ० ६

का बडा लाभ यह है कि समुद्र के भीतर छिपे होने के कारण पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले अन्तरिक्षयान इनका पता नही लगा सकते हैं।

उपर्युक्त दोनो कारणो मे गहरे समुद्रो का महत्व भविष्य मे बढने की तथा इसके प्रभुत्व के सबन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न होने की आशका है। इस समय सब देशो ने सागर के महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental shelf) पर निकटवर्ती देशो का स्वामित्व माना है। अब इससे आगे के बहुत गहरे समुद्रो के तल पर स्वामित्व की जटिल समस्या उत्पन्न होगी। इसका कारण इन समुद्रो के तल पर पाई जाने वाली अनन्त प्राकृतिक सम्पत्ति और इनका सामयिक दृष्टि से उपयोग करना है। जिस प्रकार भूमण्डल पर उपनिवेश और सैनिक अड्डे पाने के लिये विभिन्न राष्ट्रो मे होड हुआ करती थी, वैसी ही होड भविष्य मे समुद्रतल के अड्डो तथा सम्पत्ति के लिये होने की सम्भावना है। १९६७ मे माल्टा ने इस महत्वपूर्ण नवीन समस्या की ओर स० रा० सघ का ध्यान खीचा है।

नहरें (Canals)—किसी एक राज्य के प्रदेशो मे से होकर गुजरनेवाली नहरो पर उस राज्य की प्रादेशिक प्रभुता होती है। इनका कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्व नही है। किन्तु अनेक राष्ट्रो के यातायात के लिए महत्व रखने वाली नहरें किसी एक राज्य के प्रदेश मे से गुजरने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय समझी जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध विभिन्न महासमुद्रो को जोडने वाली ऐसी नहरो से है, जिनका लाभ अनेक राज्य उठाते हैं। इस प्रकार की तीन नहरें हैं—पानामा, कील और स्वेज।

(क) पानामा नहर (Panama Canal)—यह मध्य अमरीका के पानामा राज्य मे से होते हुए अन्ध महासागर को प्रशान्त महासागर से जोडती है। इस नहर के यातायात के नियमो की व्यवस्था १९०१ की ग्रेट ब्रिटेन तथा स० रा० अमरीका की हे-पौन्सेफोटे (Hay-Pauncefote) सन्धि तथा १९०३ और १९०६ के समझौतो के अनुसार होती है। १९०१ की सन्धि की एक धारा मे यह व्यवस्था है कि "यह नहर निश्चित नियमो का पालन करने वाले सब राष्ट्रो के व्यापारिक और सामरिक जहाजो के लिये समानता की शर्तों पर खुली रहेगी।" इस सन्धि मे यह भी कहा गया था कि इसका परिवेष्टन (Blockade) कभी नही किया जायगा और इसमे शत्रुता का कोई कार्य नही होगा। प्रथम विश्वयुद्ध मे स० रा० अमरीका ने सब राष्ट्रो के व्यापारिक जहाजो को इसमे से गुजरने दिया, किन्तु युद्धकारी देशो के रणपोतो के गुजरने पर पाबन्दी लगाई। जब स० रा० अमरीका स्वय युद्ध मे सम्मिलित हुआ तो उसने नहर मे शत्रु के सभी जहाजो का गुजरना बन्द कर दिया। इस सन्धि द्वारा इस प्रदेश के तटस्थीकरण की व्यवस्था होने पर भी स० रा० अमरीका पानामा नहर की सुरक्षा के लिये आवश्यक रक्षात्मक कार्यवाही कर सकता है। उसे पानामा नहर के क्षेत्र मे स्थायी रूप मे नियन्त्रण का तथा सेना रखने का अधिकार है। पानामा गणराज्य की इस प्रदेश मे प्रभुसत्ता केवल कानूनी और नाममात्र की है, वास्तविक तथ्यानुसार (De facto) सत्ता वाशिंगटन के पास है। २५ जनवरी, १९५५ की स० रा० अमरीका-पानामा की पारस्परिक सहयोग की सन्धि से भी यही ध्वनि निकलती है।

कील नहर (Kiel Canal)—यह उत्तरी सागर को बाल्टिक सागर से जोड़ती है। यह पूर्णरूप से जर्मन प्रदेश में है और प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व इस पर जर्मनी की पूरी सर्वोच्च सत्ता और पूर्ण अधिकार था। १९१९ की वर्साय की सन्धि में यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी के साथ लड़ाई न रखने वाले सभी राज्यों के व्यापारिक और रण-पोतों के लिये यह समानता के आधार पर खुली रहेगी। १९२३ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने Wimbledon के मामले में इस नहर की स्थिति पर प्रकाश डाला। विम्बलडन एक ब्रिटिश जहाज था। एक फ्रेंच कम्पनी ने इसे किराये पर लिया था। २१ मार्च, १९२१ को जर्मन अधिकारियों ने इस जहाज को कील नहर से इस आधार पर नहीं गुजरने दिया कि यह रूस के साथ युद्ध करने वाले पोलैण्ड के लिये रण-सामग्री ले जा रहा है। न्यायालय ने अपना निर्णय देते हुए कहा कि जर्मन सरकार का यह कर्त्तव्य था कि वह इस जहाज को नहर से में गुजरने देती क्योंकि वर्साय की सन्धि द्वारा कील नहर ऐसे सब राष्ट्रों के जहाजों के लिये खुली रखी गई है, जो जर्मनी के साथ शान्ति-पूर्वक रहते हों, वे आपस में किसी दूसरे युद्ध में संलग्न हो सकते हैं, किन्तु इसमें तटस्थ रहने वाला जर्मनी इन राज्यों को जाने वाले जहाज नहीं रोक सकता। ४ नवम्बर, १९३६ को जर्मनी ने कील नहर सम्बन्धी वर्साय सन्धि की धारा अस्वीकार करने की घोषणा की तथा १९ जनवरी, १९३७ को जर्मन नौसेना की उच्च सत्ता द्वारा प्रकाशित एक आदेश से प्रत्येक राष्ट्र के जहाजों के लिये नहर में प्रवेश करने से पूर्व अनुमति लेने का नियम बना दिया गया।

स्वेज नहर (Suez Canal)—यह रक्तसागर को भूमध्य सागर से जोड़ती है। इसे एक फ्रेंच कम्पनी ने बनाया था। बाद में ग्रेट ब्रिटेन ने इसके काफी बड़े हिस्से खरीद लिये। इस नहर के सम्बन्ध में २९ अक्टूबर, १८८८ को कुस्तुनतुनिया का समझौता हुआ। इसमें ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, स्पेन, हंगरी, फ्रांस, जर्मनी, हालैंड, इटली, टर्की ने भाग लिया। इस सन्धि की महत्वपूर्ण व्यवस्थायें इस प्रकार थीं—(१) यह युद्ध एवं शान्तिकाल में खुली रहेगी, इसका परिवेष्टन (Blockade) कभी नहीं होगा। (२) नहर के क्षेत्र में शत्रुता का कोई कार्य नहीं होगा। प्रत्येक जंगी जहाज को प्रवेश के २४ घण्टे के भीतर नहर छोड़ देनी होगी। नहर में या इसके बन्दरगाहों में युद्ध-सामग्री को कभी लादा या उतारा नहीं जा सकता। (३) सन्धि पर हस्ताक्षरकर्ताओं में से प्रत्येक राज्य नहर में अपने दो जंगी जहाज रख सकता है, किन्तु युद्धकारी देशों को इसमें अपने रणपोत रखने का अधिकार नहीं है। स्वेज नहर मिश्र के प्रदेश में से होकर गुजरती थी। १९१४ तक यह टर्की के अधीन था। प्रथम विश्वयुद्ध में टर्की के सम्मिलित होने पर ग्रेट ब्रिटेन ने इसे अपने संरक्षण में ले लिया। १९२२ में इसने मिश्र की स्वतन्त्रता स्वीकार करते हुए भी स्वेज नहर के सुरक्षा विषयक अधिकार अपने पास सुरक्षित रखे। २६ अगस्त, १९३६ को मिश्र तथा ग्रेट ब्रिटेन में हुई एक सन्धि के अनुसार स्वेज नहर को मिश्र का अविभाज्य अंग माना गया, किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के विविध भागों में सम्पर्क का महत्वपूर्ण साधन होने से ब्रिटेन को इस बात की अनुमति दी गई कि वह इस प्रदेश में उस समय तक नहर की रक्षा के लिये अपनी सेनायें रख सकता है, जब तक मिश्री

सेना इसकी रक्षा करने में समर्थ न हो। द्वितीय विश्वयुद्ध में इस सन्धि का पूरा पालन हुआ, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही मिश्र ने ब्रिटिश फौजों के हटाने की माग की। लम्बी सन्धि चर्चा के बाद २७ जुलाई, १९५४ को दोनों देशों के बीच काहिरा में हुए समझौते के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने २० महीने में अपनी सेनायें हटाना स्वीकार कर लिया तथा साथ ही नहर के सम्बन्ध में १८८८ के समझौते का पालन करते हुए इस अन्तर्राष्ट्रीय महत्व रखने वाली नहर में नौचालन की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर बल दिया गया। इस समय मिश्र को आस्वान बांध के निर्माण के लिये बहुत बडी धनराशि की आवश्यकता थी, जब स० रा० अमरीका, इगलैण्ड और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने मिश्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर को इस कार्य के लिये धन देना अस्वीकार किया तो उसने जुलाई, १९५६ में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की विश्व को स्तब्ध करने वाली घोषणा की। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने पहले तो मिश्र के इस कार्य की घोर निन्दा की तथा बाद मे इजराइल के साथ मिलकर उस पर आक्रमण कर दिया (अक्टूबर, १९५६)। बाद मे इन्हे वहा से अपनी फौजे वापिस बुलानी पडी। २५ अप्रैल, १९५७ को मिश्री सरकार ने यह घोषणा की कि वह १८८८ के समझौते के सभी दायित्वों का पालन करेगी और नहर के प्रशासन के सम्बन्ध में होने वाली शिकायतों को निर्णय के लिये पचायती कमेटी को देना तथा उसका निर्णय मानना दोनों पक्षों के लिये आवश्यक होगा। १८८८ की सन्धि करने वाले राज्यों में इस सन्धि की धाराओं की व्याख्या के सम्बन्ध में कानूनी प्रश्नों पर मतभेद होने पर मिश्र ने इनमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अनिवार्य क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लिया। मिश्र इस नहर को सब देशों के लिये खुला रखते हुए भी पेलेस्टाइन के प्रश्न पर शत्रुता रखने वाले इजराइल के लिये माल ले जाने वाले जहाजों को इस नहर में से नहीं गुजरने देता। डेन्मार्क का इजराइल माल ले जाने वाला एक जहाज इंग टाफ्ट (Inge Toft) ८ महीने तक मिश्री अधिकारियों ने पोर्ट सईद में रोके रखा। अन्त में ५ फरवरी, १९६० को सारा माल बन्दरगाह में उतार देने पर ही मिश्र ने इस जहाज को मुक्त किया।

आकाश पर प्रादेशिक प्रभुता (Sovereignty over Air)—वायुयानों के आविष्कार और विकास से पहले किसी राज्य के प्रदेश के ऊपर विद्यमान आकाश की कोई महत्ता नहीं थी, किन्तु वर्तमान समय में हवाई यातायात के विकास में आश्चर्यजनक उन्नति से तथा यू-२ जैसे ७० हजार फुट की ऊँचाई पर उडने वाले वायुयानो, स्पूतनिकों तथा राकेटों के आविष्कार से इसे असाधारण महत्व प्राप्त हो गया है। गार्नर के मतानुसार किसी प्रदेश के आकाश को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) उच्चतम भाग—यह वायु की कमी और तापमान की अधिकता के कारण मनुष्य के आवास के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। आजकल विभिन्न स्पूतनिकों और राकेटों द्वारा इस प्रदेश के अन्वेषण हो रहे हैं और जब मनुष्य यहा की प्राकृतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके यहाँ अपने अन्तरिक्ष यान (Space ships) ले जाने लगेगा तो इस प्रदेश की महत्ता बढ जायगी। (२) निम्नतम भाग भूमि से ऊपर का ३३० मीटर तक का प्रदेश—इसमें ऊँचे मकान, डाक तार, रेडियो विभाग की तारें, ऊँचे खम्भे आदि होते हैं।

(३) मध्यवर्ती भाग—यह हवाई यातायात और रेडियो के संदेश-प्रेषण के लिये उपयोगी होता है।

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले आकाश की प्रभुता के सम्बन्ध में प्रमुख सिद्धान्त स्टार्क के मतानुसार निम्नलिखित थे[२५]—(१) खुले समुद्रों तथा अनधिकृत प्रदेश (Unoccupied territory) के ऊपर का आकाश सबके लिये पूर्ण रूप से खुला हुआ है। (२) राज्य की प्रादेशिक प्रभुता में विद्यमान भूमि और समुद्र के ऊपर वाले आकाश के बारे में ये मत प्रचलित थे—(क) राज्य को अपने प्रदेश के ऊपर के आकाश पर असीम ऊँचाई तक पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त है, उसे विदेशी वायुयानों को अपने प्रदेशों में आने से रोकने का अधिकार है। (ख) आकाश का उच्चतम उपरिशायी (Superjacent) भाग महासमुद्रों की भाँति सब देशों के लिये समान रूप से खुला हुआ है। (ग) समुद्री मेखला (Maritime belt) और खुले समुद्र की भाँति राज्य की आकाश में प्रादेशिक प्रभुता कुछ निश्चित ऊँचाई तक होती है, उसके ऊपर का अन्तरिक्ष स्वामीहीन और सबके लिये समान रूप से खुला होता है। (घ) एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि आकाश के उच्च भाग में किसी राज्य का स्वामित्व नहीं होता, फिर भी वह इसमें विदेशी वायुयानों के यातायात को नियन्त्रित कर सकता है। (ङ) यद्यपि राज्य को अपने प्रदेश के उपरिशायी आकाश पर पूरी प्रादेशिक प्रभुता होती है, फिर भी उसे इसमें विदेशों के असैनिक विमानों को यातायात के लिये मार्ग देना पड़ता है, विदेशों के सैनिक वायुयानों को इस आकाश से जाने से रोकने का उसे पूरा अधिकार है।

प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर यह अनुभव किया गया कि इस विषय में राज्यों द्वारा क्रियात्मक रूप में एक ही सिद्धान्त माना जा सकता है कि उन्हें अपने आकाश पर असीम ऊँचाई तक (Usque ad Coleum) पूरी प्रादेशिक प्रभुसत्ता है। १९१९ में पेरिस में हवाई यातायात के नियन्त्रण की समस्याओं पर विचार करने के लिये विभिन्न राज्यों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से शान्तिकाल में हवाई यातायात के उपयुक्त नियम बनाये गये। इसकी मुख्य व्यवस्थाएँ निम्नलिखित थीं—(क) प्रथम धारा में राज्यों की अपने प्रदेश के आकाश में पूरी प्रभुसत्ता स्वीकार करते हुए कहा गया था—"इस समझौते को करने वाले राज्य यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश और प्रादेशिक समुद्र के ऊपर वाले आकाश पर पूर्ण तथा अनन्य (Complete and exclusive) प्रभुसत्ता प्राप्त है। (ख) शान्तिकाल में इस समझौते में सम्मिलित देशों के विमानों को अन्य राज्यों के आकाश में निर्धारित नियमों का पालन करते हुए निर्दोष उड़ान (Innocent passage) की पूरी स्वतन्त्रता होगी। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय हवाई कम्पनियों को ऐसी उड़ानों के लिये सबद्ध राज्यों से अनुमति प्राप्त करनी होगी। (ग) किसी देश में एक विमान की रजिस्ट्री तभी होगी, जबकि उस पर पूरा स्वामित्व उस देश के नागरिकों का हो। एक वायुयान की रजिस्ट्री एक से अधिक देशों में नहीं हो सकती। (घ) वायुयान पर अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के समय इसकी

---

२५. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४१

राष्ट्रीयता और रजिस्ट्री के चिह्न अंकित होने चाहिये। (ड) निजी वायुयानो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यात्रा करते समय इनकी रजिस्ट्री का प्रमाणपत्र, जहाज के यात्रा योग्य होने का प्रमाणपत्र, चालको के पास चालन-योग्यता के प्रमाणपत्र, सवारियो की सूची आदि निर्धारित सामग्री होनी चाहिये। (च) किसी राज्य के अधिकारियो को अपनी सीमा मे आनेवाले वायुयान के आवश्यक कागजात जाँचने का अधिकार होगा। (छ) राज्यो के सैनिक वायुयान दूसरे राज्यो के आकाश पर विशेष आज्ञा के बिना नही उड सकते, पुलिस, चुगी आदि से सम्बन्ध रखने वाले वायुयान पारस्परिक समझौते से दूसरे राज्य मे जा सकते हैं। (ज) हवाई यातायात के लिये राष्ट्रसघ की अध्यक्षता मे एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग (International Commission for Air Navigation) बनाया गया। इसका कार्य सम्मेलन द्वारा निश्चित किये कर्तव्यो का पालन, हवाई यातायात की आवश्यक सूचनाओ का सग्रह तथा हवाई नक्शो का प्रकाशन था।

पेरिस सम्मेलन मे स० रा० अमरीका तथा कई अन्य अमरीकन राज्य सम्मिलित नही हुए थे। इनका सम्मेलन १९२८ मे हवाना मे हुआ। इसने पेरिस सम्मेलन जैसी व्यवस्थायें की। अन्तर केवल इतना ही था कि हवाना मे मुख्य रूप से व्यापारिक समझौता हुआ और इसने कोई अन्तर्राष्ट्रीय सगठन नही स्थापित किया।

१२ अक्टूबर, १९२९ के वारसा समझौते (Warsaw Convention) मे विमानो द्वारा की जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय ढुलाई, यात्रियो और माल-विषयक नियम, विमानवाहक की जिम्मेदारी आदि के अनेक नियम बनाये गये। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले इस प्रकार के कई अन्य समझौते भी हुए, किन्तु इन सबमे दो बातें उल्लेखनीय थीं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय हवाई कम्पनियो को इन समझौतो द्वारा निर्दोष यात्रा की अधिकाश सुविधायें नही दी गयी थी। (ख) विदेशी वायुयानो के भूमि पर उतरने के अधिकार सबद्ध राज्यो की इच्छा पर निर्भर थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध मे वायुयानो की विलक्षण उन्नति से समुद्रो और महाद्वीपो के आरपार हजारो मील लम्बी वैमानिक उडाने आरम्भ हुई। इनमे अन्तर्राष्ट्रीय हवाई कम्पनियो के विभिन्न राज्यो मे वैमानिक यातायात की और इनके लिये उपयुक्त अड्डो की प्राप्ति की नई समस्यायें उत्पन्न हुई। इन पर विचार करने के लिए **नवम्बर, १९४४ मे शिकागो सम्मेलन** (Chicago Convention) बुलाया गया। इसमे ४० राज्यो ने अन्तर्राष्ट्रीय वैमानिक यातायात के प्रश्नो पर विचार किया। इस सम्मेलन का मुख्य विचारणीय विषय प्रत्येक राज्य की हवाई कम्पनियो को प्रदान की जाने वाली **'आकाश की पांच स्वतन्त्रतायें'** (Five Freedoms of the Air) थी—(क) बिना भूमि पर उतरे विदेशी राज्य मे उडान करने की स्वतन्त्रता, (ख) दूसरे राज्यो मे यातायात से भिन्न उद्देश्यो के लिए भूमि पर उतरने की स्वतन्त्रता, (ग) वायुयानो से सम्बन्ध रखने वाले देश का माल दूसरे देशो मे उतारने की स्वतन्त्रता, (घ) वायुयान द्वारा स्वदेश लौटते हुए मार्ग मे स्वदेश के लिये यात्री तथा माल लादने की स्वतन्त्रता, (ड) दो विदेशी राज्यो मे माल की ढुलाई की स्वतन्त्रता। इन पाँच स्वतन्त्रताओ को सम्मेलन मे स० रा० अमरीका ने बडी प्रसन्नता के साथ रखा, किन्तु अन्य देशो ने इनके समर्थन मे विशेष

उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। केवल पहली दो स्वतन्त्रताओं के पक्ष मे ही बहुमत प्राप्त हो सका। अत इस सम्मेलन को बाधित होकर दो प्रकार के समझौते करने पड़े—(क) **अन्तर्राष्ट्रीय हवाई सेवा पारगमन समझौता** (The International Air Services Transit Agreement)--इसमें पहली दो स्वतन्त्रतायें स्वीकार की गयी थी। (ख) **अन्तर्राष्ट्रीय हवाई परिवहन समझौता** (International Air Transport Agreement)—इसमे पाँचो स्वतन्त्रतायें स्वीकार की गयी थी और यह समझौता करने वाले राज्य अन्य राज्यो के विमानों को अपने राज्य के आन्तरिक यातायात के लिए रोक सकते थे। अधिकाश राज्यो ने पहले समझौतो पर हस्ताक्षर किये, दूसरे पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यो की संख्या सम्मेलन में सम्मिलित राज्यो के आधे से भी कम थी। इन दो समझौतो के अतिरिक्त इस सम्मेलन ने **अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक उडान पर एक समझौता** (Convention on International Civil Aviation) किया। इसमे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन था, विमानो के सचालन, इनके चालको तथा यात्रियो की सुरक्षा, स्वास्थ्य, चुगी आदि के नियमो का उल्लेख था। इसने एक **अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक हवाई यात्रा सगठन** (International Civil Aviation Organization) की स्थापना की। इस सगठन ने १९४७ के बाद अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात के सम्बन्ध मे अनेक उपयोगी समझौते सम्पन्न कराये हैं। जैसे १९४८ का Convention of the International Recognition of Rights in Aircraft, १९५२ का Convention on damage caused by third Foreign Aircraft to third Parties on the Surface

बाह्य अन्तरिक्ष की प्रभुता की नवीन समस्या—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से आकाश के ऊँचे हिस्सो तथा बाह्य अन्तरिक्ष (Outer Space) मे प्रादेशिक प्रभुता का प्रश्न वी-२ तथा अन्य महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के आविष्कार मे और पृथिवी के चारों ओर घूमनेवाले कृत्रिम उपग्रहो तथा स्पूतनिको के कारण बहुत जटिल हो गया है। स्टार्क ने यह ठीक ही लिखा है कि इस क्षेत्र मे हुए वैज्ञानिक विकास के कारण आकाश की प्रभुता के सिद्धान्तो का पुनर्निर्माण आवश्यक होगा।[26] १ मई, १९६० को अमरीका के एक यू-२ विमान ने रूसी आकाश पर उडान करके उसकी प्रादेशिक प्रभुता का अतिक्रमण करते हुए इस प्रश्न को बड़े उग्र रूप मे उपस्थित किया है। स० रा० अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने नई परिस्थितियों मे सब देशों के लिए 'खुले आकाश' (Open Skies) का प्रस्ताव रखा है, किन्तु रूस के तीव्र विरोध के कारण इसके अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप में स्वीकृत होने की कोई आशा नहीं है। रूस ने १ मई, १९६० को अमरीका के यू-२ विमान को तथा १ जुलाई, १९६० को आर० बी०-४७ नामक निरीक्षण-विमान को अपने प्रदेश म मार गिराया है।

उपर्युक्त घटनाओं के कारण यह तो निश्चित है कि अपने राज्य के प्रदेश पर विद्यमान आकाश मे असीम ऊँचाई तक (Usque ad Coleum) पूर्ण प्रभुसत्ता का

२६. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १४८

पुराना अन्तर्राष्ट्रीय नियम खण्डित हो गया है। ५० से २३० मील तक ऊँचे तापक्षेत्र (Thermosphere) वाले आकाश मे विभिन्न राज्यों ने वी–२ प्रक्षेपणास्त्र तथा रेडियो लहर भेजकर अन्य राज्यों की पूर्ण प्रभुता की सीमाओ का अतिक्रमण किया है। इससे ऊपर के आकाश मे विभिन्न देशो के कृत्रिम उपग्रहो के भ्रमण के सम्बन्ध मे १९५७-५८ मे महाशक्तियो द्वारा कोई आपत्ति नही उठायी गई। रूस के स्पूतनिक इस समय अमरीका के प्रादेशिक आकाश मे घूम रहे हैं और अमरीका के उपग्रह रूसी आकाश का परिभ्रमण कर रहे है। १९५७ की नि शस्त्रीकरण वार्ता मे महाशक्तियो ने यह स्वीकार किया था कि बाह्य अन्तरिक्ष मे उपग्रह छोडने मे उन्हे कोई आपत्ति नही है, बशर्ते कि इनके छोडने का उद्देश्य शान्तिपूर्ण और वैज्ञानिक अनुसधान हो। किन्तु उपग्रहो का दुरुपयोग भी सभव है, इनसे शान्ति भग की सभावना हो सकती है। उस समय इनके सम्बन्ध मे बनाये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय नियम अधिकारो के दुरुपयोग के बारे मे बनाये जाने वाले दीवानी सिद्धान्तो के आधार पर होंगे।

आजकल अन्तरिक्ष मे मनुष्य-सचालित राकेट और विमान भेजने के तथा चांद आदि तक पहुँचने के प्रयत्न हो रहे है। पहले सोवियत रूस ने राकेट मे लाइका कुतिया तथा स० रा० अमरीका ने बन्दर भेजे, इनके बाद पुरुष और स्त्रियाँ भेजी जा रही हैं। क्या ये राकेट दूसरे देश के आकाश पर विद्यमान अन्तरिक्ष का आवेशन (Occupation) कर सकते है? अन्तरिक्षगामी राकेटो के मार्गों का नियन्त्रण क्या हवाई मार्गो के नियन्त्रण की भाँति सम्भव है?

स० रा० सघ तथा बाह्य अन्तरिक्ष (U. N O and Outer Space)—१९५७ मे बाह्य अन्तरिक्ष की समस्याओ पर स० रा० सघ तथा इसकी विभिन्न कमेटियां विचार कर रही है। इस विचार विमर्श मे बाह्य अन्तरिक्ष के कानूनी दर्जे (Legal status) के सम्बन्ध मे चार प्रकार के दृष्टिकोण रखे गये हैं—(१) पहले दृष्टिकोण के अनुसार बाह्य अन्तरिक्ष, चन्द्र तथा अन्य ग्रह अस्वामिक (Res nullius) प्रदेश हैं, राज्य इन पर आवेशन (Occupation) आदि उन्ही साधनो से अधिकार कर सकते हैं, जिनसे वे भूमण्डल पर बिना स्वामी के प्रदेशो पर अधिकार करते है।[२७] (२) दूसरा दृष्टिकोण यह है कि अन्तरिक्ष पर तथा आकाश के ग्रह-नक्षत्रों पर अधिकार करना असम्भव तथा अनुचित है। (३) तीसरा दृष्टिकोण यह है कि बाह्य अन्तरिक्ष तथा ग्रह नक्षत्र सब व्यक्तियों के शाश्वत उपयोग के लिये खुले रहने चाहियें। (४) चौथा दृष्टिकोण यह है कि बाह्य अन्तरिक्ष तथा आकाशीय पिण्डो पर कोई राज्य अपना वैयक्तिक स्वामित्व या नियन्त्रण नही स्थापित कर सकता। यह हवा और पानी की तरह सबके सामान्य उपभोग की वस्तु (Res omnium communis or res extra commercium) है। इस पर ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाना चाहिये कि इन क्षेत्रों का दुरुपयोग न हो तथा इससे अन्य राज्यो को खतरा या

---

२७ इस सम्बन्ध मे विस्तृत वर्णन के लिये देखिए—इंडियन जनरल आफ इण्टरनेशनल लॉ, जनवरी, १९६२, पृ० १ से ४२ तथा इसमें निर्दिष्ट साहित्य।

नुकसान न पहुँच सके। मार्च, १९५८ में स० रा० संघ की जनरल असेम्बली की पहली कमेटी में इस विषय पर विचार करते समय पेरू के प्रतिनिधि ने कहा था कि इसे सार्वजनिक उपभोग की वस्तु समझते हुए भी इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने चाहिये और इस विषय में सबसे बड़ा प्रतिबन्ध लैटिन की इस कहावत में है कि दूसरों के अधिकारों को हानि न पहुँचाओ (alterum non ledere)। दस वर्षों के सतत प्रयत्न से अब बाह्य अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण संधि हो गई है।

बाह्य अन्तरिक्ष संधि (Outer Space Treaty)—स० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने १९ दिसम्बर १९६६ को बाह्य अन्तरिक्ष में चन्द्र एवं अन्य खगोलीय पिण्डों में अनुसंधान के सम्बन्ध में विभिन्न कार्य करने के सिद्धान्तों के बारे में एक संधि (Treaty on the Principles governing the Activities of States in the Exploration and Use of Outer Space including the moon and other celestial bodies) का प्रस्ताव पास किया। २७ जनवरी, १९६७ को सोवियत संघ, स० रा० अमरीका तथा इंग्लैण्ड ने तथा ३ मार्च, १९६७ को भारत ने हस्ताक्षर किये। राष्ट्रपति जानसन ने इसे १९६३ की अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि के बाद शस्त्रों के नियन्त्रण के विकास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण संधि कहा है। यह संधि ब्रिटिश विदेशमंत्री ब्राउन के शब्दों में कानून के शासन (Rule of law) के क्षेत्र को विस्तीर्ण करती है। स० रा० संघ में स० रा० अमरीका के प्रतिनिधि श्री गोल्डबर्ग ने इस संधि पर हस्ताक्षर करते समय कहा था "कि इस पर सब सदस्य-राज्य गर्व कर सकते है। यह शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण पग है। यह संधि एक महान् ऐतिहासिक प्रगति को सूचित करती है, १९५९ में **दक्षिण ध्रुवविषयक संधि** (Antarctic Treaty) हुई, १९६३ में **अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध संधि** (Test Ban Treaty) हुई और अब यह संधि हो रही है। हमें आशा है कि शान्ति का निर्माण करने वाले ऐसे समझौते बढ़ते चले जायगे।" यह संधि पिछले दस वर्षों में स० रा० संघ में बाह्य अन्तरिक्ष के शान्तिपूर्ण उपयोग के सम्बन्ध में पास किये गये अनेक प्रस्तावों तथा प्रयत्नों का परिणाम थी। इसकी महत्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नलिखित है[३८]—

इसकी **पहली** व्यवस्था यह है कि चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों एवं उपग्रहों सहित बाह्य अन्तरिक्ष में खोज करने का तथा इसके उपयोग करने का अधिकार सब देशों को समान रूप से प्राप्त होगा। इसमें विभिन्न राष्ट्रों में कोई भेदभाव नहीं किया जायगा। बाह्य अन्तरिक्ष में वैज्ञानिक अनुसंधान की स्वतन्त्रता सभी देशों को होनी चाहिये तथा सब राज्यों द्वारा ऐसे अनुसंधान में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की पद्धति को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये (धारा १)। **दूसरी** व्यवस्था यह है कि कोई भी देश बाह्य अन्तरिक्ष के किसी स्थान पर चन्द्रमा पर अथवा किसी अन्य ग्रह पर अपने राष्ट्र के स्वामित्व अथवा प्रभुत्व का दावा इसके उपयोग करने के या इस पर

---

३८. इण्डियन जर्नल आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ६१ तथा संधि के लिये देखिये पृ० ८४-९३

अधिकार (Occupation) करने के कारण के आधार पर नही कर सकता है (धारा २)। इसका यह अभिप्राय है कि यदि स० रा० अमरीका या रूस मे से कोई देश चांद या शुक्र ग्रह पर पहले पहुँच कर उस पर अपना झडा गाडता है, उस पर अपना अधिकार स्थापित करता है और उसका उपयोग करता है, तो भी इसमे उसे यह अधिकार न होगा कि वह इसे अमरीका या रूस के राज्य का अग बना सके, चांद आदि पर कोई भी देश अपना प्रभुत्व स्थापित नही कर सकता, ये देश सभी देशो को अनुसन्धान और उपयोग के लिए समान रूप से सुलभ और उपलब्ध रहगे। **तीसरी** व्यवस्था यह है कि सभी देश बाह्य अन्तरिक्ष में अपने अनुसधान कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो के अनुसार—विशेषत रा० रा० सघ के चार्टर के अनुसार करेंगे तथा इन कार्यो का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द और सहयोग को बढाना होगा (धारा ३)। इसका यह अभिप्राय है कि अन्तरिक्ष मे अनुसन्धान का उद्देश्य सैनिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये, युद्ध एव आक्रमण के लिये नही होना चाहिये। इसकी **चौथी** व्यवस्था बाह्य अन्तरिक्ष तथा ग्रहों का उपयोग शान्तिपूर्ण कार्यो के लिये ही करना है। इसकी चौथी धारा म कहा गया है कि इस सधि पर हस्ताक्षर करने वाले देश यह वचन देते हैं कि वे पृथिवी के चारो ओर की कक्षा (Orbit) मे कोई ऐसा पदार्थ नही स्थापित करेंगे, जिसमे आणविक आयुध अथवा बहुत बडी जनता का विध्वस करने वाले कोई हथियार लदे हुए हो, तथा वे चन्द्रमा या अन्य ग्रहो पर भी ऐसे कोई अस्त्र शस्त्र नही रखेंगे। सभी देश चन्द्रमा का तथा अन्य ग्रहो का उपयोग केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिये ही करेंगे। वे इन पर कोई सैनिक अड्डे या किलेबन्दियाँ नही स्थापित करेंगे, इन पर शस्त्रो के बारे मे कोई परीक्षण नही करेंगे तथा किसी प्रकार की सैनिक गतिविधियाँ या कार्य नही करेंगे (धारा ४)। **पांचवीं** व्यवस्था यह है कि बाह्य अन्तरिक्ष मे किसी देश के किसी कार्य से यदि किसी दूसरे देश को कोई हानि पहुँचेगी तो क्षति पहुँचाने वाला देश इस क्षति को पूरा करने के बारे मे अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूर्ण करेगा। (धारा ७)। अन्तरिक्ष मे अनुसन्धान के लिये अपने राकेट या यान भेजते समय सब देश इस बात का पूरा ध्यान रखेंगे कि इन से दूसरे देशो को कोई हानि न पहुँचे, बाह्य अन्तरिक्ष का वातावरण विषाक्त या दूषित न हो। **छठी** व्यवस्था यह है कि बाह्य अन्तरिक्ष के अनुसन्धान मे सब देश एक-दूसरे को समान रूप से सहायता देंगे, एक-दूसरे के हितो का ख्याल रखेंगे। वे अपने अनुसन्धान के परिणामो की स० रा० सघ के महासचिव को सब सूचनाय देते रहेंगे और वे इनका प्रकाशन तत्काल एव प्रभावशाली ढग से करेंगे (धारा ११)।

अनेक आलोचको ने इस सधि के कई बडे दोषो का निर्देश किया है। पहला दोष यह है कि इसम बाह्य अन्तरिक्षविषयक अनुसन्धानो के शान्तिपूर्ण उपयोग पर बल देते हुए भी इसकी चौथी धारा मे जिन स्थानो पर सैनिक अड्डे स्थापित करने का निषेध किया गया है, वहाँ केवल 'चन्द्रमा तथा अन्य खगोलीय पिण्डो' (Moon and celestial bodies) का उल्लेख किया गया है। इसमे बाह्य अन्तरिक्ष (Outer

Space) को जानबूझ कर छोड दिया गया । इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यहाँ ऐसे अड्डे स्थापित किये जा सकते है। दूसरा दोष यह है कि इसमे कोई धारा ऐसी नही है, जो स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था करती हो कि **बाह्य अन्तरिक्ष में सभी कार्य** शान्तिपूर्ण उद्देश्यो की पूर्ति के लिये किये जायेगे, ऐसी व्यवस्था के अभाव मे अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले राकेटो द्वारा जासूसी के तथा सैनिक गतिविधियो के कार्य किये जा सकते हैं। भारत एव अन्य देशो के प्रतिनिधियो ने इस सधि मे ऐसी धारा जोडने पर बहुत बल दिया था। किन्तु सोवियत सघ और स० रा० अमरीका का यह कहना था कि बाह्य अन्तरिक्ष मे सैनिक कार्यो को रोकने की इस सधि मे व्यवस्था की जाए तो अन्तरिक्ष मे विचरण करने वाले यानो के निरीक्षण और नियन्त्रण का प्रश्न उत्पन्न होगा, इसकी व्यवस्था किये बिना यह धारा बेकार होगी। इस समस्या पर १८ राष्ट्रों का नि शस्त्रीकरण सम्मेलन विचार कर रहा है। भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्णराव ने उस सभा मे यह भी कहा था कि जब इस सधि मे निरीक्षण की कोई व्यवस्था किये बिना बाह्य अन्तरिक्ष मे घूमने वाले यानो पर आणविक अस्त्र रखने की पाबन्दी लगाई गई है तो उपर्युक्त धारा को भी निरीक्षण की व्यवस्था के बिना जोडा जा सकता है।[29] तीसरा दोष यह है कि इसमे कोई ऐसी धारा नही रखी गई जिससे यह व्यवस्था की जाती कि बाह्य अन्तरिक्ष से कोई ऐसा प्रचार नही किया जाना चाहिये, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को एव राज्यो के उत्तम पडोसी बने रहने के प्रीतिपूर्ण सम्बन्धो को कोई खतरा उत्पन्न हो। भविष्य मे कृत्रिम उपग्रहो द्वारा टेलीविजन का कार्यक्रम प्रसारित होने के कारण इस प्रकार की सम्भावनायें बढ रही हैं। स० रा० सघ के महामन्त्री यू थाण्ट ने इस सधि के दोषो को स्वीकार करते हुए कहा था—"मुझे यह देखकर खेद होता है कि अभी तक बाह्य अन्तरिक्ष से सैनिक कार्यवाहियाँ करने का द्वार बन्द नही हुआ है।" किन्तु इन दोषो के होते हुए भी यह सधि बाह्य अन्तरिक्ष मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रभुता का क्षेत्र विस्तीर्ण करके एक नवयुग का श्रीगणेश करने वाली तथा निश्शस्त्रीकरण की दिशा मे एक महत्वपूर्ण पग उठानेवाली है।

परवत्ता (Servitudes)– -जब किसी राज्य को अपने प्रदेश मे पूर्ण प्रभुसत्ता रखते हुए भी इस प्रदेश मे किसी अन्य राज्य के कुछ अधिकार स्वीकार करने पडते हैं तो इसे परवत्ता (Servitude) कहते है। आपेनहाइम ने इसका लक्षण करते हुए लिखा है—"राज्य की परवत्ता (State servitude) किसी राज्य की सर्वोच्च सत्ता पर सन्धि द्वारा लगाये गये वे अपवादात्मक (Exceptional) प्रतिबन्ध है, जिनसे एक राज्य के समूचे या आंशिक प्रदेश को किसी दूसरे राज्य के विशेष उद्देश्य या स्वार्थ की पूर्ति या सेवा करने के लिये बाधित होना पडता है।[30] स्टार्क के मतानुसार ये सन्धि द्वारा

---

२९. इण्डियन जर्नल ऑफ् इण्टरनेशनल ला, पृ०

३०. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड १, पृ० ५३६

राज्य की प्रादेशिक प्रभुसत्ता पर लगाए ऐसे असाधारण प्रतिबन्ध हैं, जिनसे इस राज्य के प्रदेश पर ऐसी शर्तें या पाबन्दियाँ लगाई जाती हैं, जो दूसरे राज्यों के हितों को पूरा करें।[३१] इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण आल्सेस का हुनिन्जन (Huningen) नगर है, १८१५ की शान्ति की सन्धि द्वारा इस पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया था कि समीपवर्ती स्विस कैण्टन बेसल (Basle) के हितों को दृष्टि में रखते हुए इस नगर की कभी किलेबन्दी न की जाय। १८७१ में यह नगर जर्मनी के तथा १९१९ में पुनः फ्रांस के अधिकार में आया, किन्तु इसकी यह परवत्ता बनी रही। इसी प्रकार कोई राज्य अपने प्रदेश में दूसरे राज्य की सेनायें रखने के लिए बाधित हो सकता है।

परवत्ता का विषय (Object) सदैव किसी राज्य के प्रदेश का अंश, भूमि या प्रादेशिक समूह होता है। राज्य किसी प्रदेश के सम्बन्ध में परवत्ता द्वारा इस प्रकार बँध जाता है कि वह किसी अन्य राज्य को उस प्रदेश में किन्हीं कार्यों के करने—जैसे मछली पकड़ने, रेल बनाने, समुद्री तार बिछाने से रोक नहीं सकता। ये अधिकार वस्तुगत (In rem) होते हैं, चाहे किसी देश में कोई राज्य-परिवर्तन हो, वह किसी दूसरे देश का अंग बने, तो भी परवत्ता प्रदेश के साथ सम्बद्ध होने के कारण यथापूर्व बनी रहती है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में हुनिन्जन नगर की किलेबन्दी न करने की परवत्ता जर्मन एवं फ्रेंच दोनों शासनों में समान रूप से बनी रही।

परवत्ता के चार प्रकार हैं—(१) निश्चयात्मक (Affirmative)—जब किसी राज्य को दूसरे राज्य के प्रदेश में सन्धि द्वारा बहुत कार्य करने जैसे रेल बनाने, चुंगीघर स्थापित करने, सेनायें गुजारने, कुछ किलों में फौजें रखने, बन्दरगाह का उपयोग करने के अधिकार मिलते हैं तो यह निश्चयात्मक परवत्ता होती है। (२) निषेधात्मक (Negative)—जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य को सन्धि द्वारा अपने प्रदेश में किलेबन्दी न करने, सेना न रखने आदि के निषेधात्मक कार्यों के लिये बाधित करता है तो यह निषेधात्मक परवत्ता होती है। (३) सैनिक (Military)—परवत्ता में एक राज्य दूसरे राज्य पर उसके प्रदेश में सेनायें रखने या न रखने, किलेबन्दी करने आदि पर सैनिक प्रतिबन्ध लगाता है। (४) आर्थिक (Economic)—परवत्ता का उद्देश्य एक राज्य के प्रदेश में दूसरे राज्य को व्यापारिक तथा अन्य इसी प्रकार के लाभ पहुँचाने के लिए दी गई सुविधायें है, जैसे विदेशी समुद्रों में मछली पकड़ने का, नदियों में स्वतन्त्र नौचालन का, रेल बनाने का या टेलीग्राफ या समुद्री तार बिछाने का अधिकार। परवत्ता दो देशों के समझौतों से उत्पन्न होती है और इसी प्रकार समझौतों द्वारा इसका अन्त भी किया जा सकता है।

दीवानी कानून की परवत्ता के सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रवेश अत्यन्त आधुनिक है। इसे अब तक केवल दो मामलों में प्रमाणरूप में उपस्थित किया गया है— North Atlantic Coast Fisheries Arbitration (1910) तथा The Wimbledon (1924)। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों ने इन दोनों मामलों में इस सिद्धान्त को

३१. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७२

स्वीकार नहीं किया। पहले मामले मे स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन मे उत्तरी अटलांटिक सागर के कुछ प्रदेशों मे मछली पकडने के अधिकार के सम्बन्ध मे विवाद था। दोनों पक्षों की सहमति से यह मामला २७ जनवरी, १९०६ को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पंचों को सौंपा गया। रा० रा० अमरीका का यह दावा था कि न्यूफाउण्डलैण्ड के कुछ भागों मे उसे मछली पकडने का अधिकार है, इस मछलीगाह के सब नियम उसकी, कनाडा की तथा ग्रेट ब्रिटेन की सहमति से बनने चाहियें, न कि केवल पिछले दोनों देशों की सहमति से। उसने अपने दावे का समर्थन परवत्ता के आधार पर किया। पंचों का निर्णय था कि १८१८ तक ब्रिटिश अथवा अमरीकी राजनीतिज्ञों को परवत्ता के सिद्धान्त का कोई ज्ञान नहीं था, इसके आधार पर स० रा० अमरीका को मछली पकडने के अधिकारों की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती थी। दूसरे मामले की घटनाओं का कील नहर के प्रकरण मे पहले (पृ० २२१) उल्लेख किया जा चुका है। इसमें भी परवत्ता के आधार पर कील नहर मे विम्बलडन के प्रवेश को वैध सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु न्यायाधीश शूकिंग (Schucking) के अतिरिक्त अन्य जजों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

न्यायाधीश लौटरपैक्ट ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे परवत्ता के सिद्धान्त के प्रवेश से बडी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। स्टार्क ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए निरर्थक समझा है—"इस प्रकार का सुझाव देने के अनेक कारण हैं कि यह सिद्धान्त वस्तुतः आवश्यक नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून से इसे अच्छी तरह निकाला जा सकता है। इस दृष्टिकोण की पुष्टि इस बात से होती है कि उपर्युक्त दोनों मामलों मे परवत्ता के आधार पर किये गये दावों को (न्यायालयों द्वारा) अस्वीकार किया गया है।"[३२]

३२. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७४

दसवाँ अध्याय

प्रदेश प्राप्त करने और खोने के प्रकार

(Modes of Acquiring and Losing Territories)

किसी राज्य द्वारा नया प्रदेश प्राप्त करने और उस पर प्रभुसत्ता स्थापित करने के पाँच प्रकार है—(१) आवेशन (Occupation), (२) चिरकालिक भुक्ति या भोग (Prescription), (३) उपचय (Accretion), (४) हस्तान्तर (Cession), (५) विजय (Conquest)। ये वैयक्तिक सम्पत्ति प्राप्त करने के प्रकारो से गहरा सादृश्य रखते है। इसके अतिरिक्त एक छठा प्रकार पचनिर्णय (Arbitration) और सातवाँ प्रकार महाशक्तियो के शान्ति-सम्मेलन भी है। यहाँ क्रमश इन सब का सक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

(१) आवेशन (Occupation)—जब कोई राज्य किसी स्वामीहीन प्रदेश मे आकर तथा प्रवेश करके उसपर अपना स्वामित्व स्थापित करता है तो इसे आवेशन कहा जाता है। ब्रियर्ली के शब्दो मे इसका अभिप्राय ऐसा प्रदेश प्राप्त करना है, जो किसी अन्य राज्य का भाग न हो।[१] यह प्रदेश पाने का सबसे महत्वपूर्ण प्रकार है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जनक ग्रोशियस के शब्दों मे यह प्रदेश प्राप्त करने का "एकमात्र स्वाभाविक और मौलिक प्रकार है।" इसका लक्षण स्टार्क के शब्दो मे ऐसे प्रदेश पर प्रभुसत्ता (Sovereignty) स्थापित करना है, जिस पर किसी अन्य राज्य का अधिकार न हो, चाहे ऐसे प्रदेश का नवीन अन्वेषण हो या इस पर किसी राज्य ने अपना अधिकार छोड दिया हो।[२] इस समय अत्यन्त शीतल ध्रुवीय प्रदेशो को छोडकर भूमण्डल के शेष सभी भूभागो और द्वीपो पर किसी न किसी राज्य की सत्ता स्थापित हो चुकी है, अत भविष्य मे आवेशन का कोई महत्व नही होगा। किन्तु १५वी-१६वी शताब्दियो मे योरोपीयन जातियो द्वारा भूमण्डल के नये प्रदेशो के अन्वेषण के समय तथा १६वी शताब्दी मे अफ्रीका के बटवारे के समय इसका बहुत महत्व रहा है, और अब भी विभिन्न राज्यो मे किसी प्रदेश के सम्बन्ध मे विवाद होने पर अपने दावे के समर्थन मे इस प्रकार को मुख्य आधार बनाया जाता है। इसकी बहुत-सी कानूनी बातें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने Legal Status of Eastern Greenland के मामले मे तय की थी।

---

१. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १५१

२. स्टार्क—इण्टरनेशनल ट्र इट्रोडक्शन लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० १३५

इस विवाद का आरम्भ १९३१ मे नार्वे द्वारा पूर्वी ग्रीनलैण्ड के कुछ हिस्सो मे अपने आवेशन की घोषणा से हुआ। इस घोषणा के बाद डेन्मार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से यह प्रार्थना की कि नार्वे की इस घोषणा को अवैध घोषित किया जाय क्योकि इस प्रदेश पर तथा इस सारे टापू पर डेन्मार्क की प्रभुसत्ता है। न्यायालय ने अपने निर्णय मे यह बताया कि आवेशन द्वारा अधिकार पाने के दो प्रधान तत्व है—(१) सर्वोच्च प्रभु के रूप मे इस प्रदेश मे शासन कार्य करने का इरादा या इच्छा, (२) सत्ता का वास्तविक प्रयोग। दूसरे शब्दो मे किसी प्रदेश पर अपनी प्रभुसत्ता का अधिकार स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि उसका आवेशन प्रभावशाली (Effective) हो। यह बस्ती बसाने मे और किला बनाने से हो सकता है। इनसे यह ज्ञात होता है कि वह इस प्रदेश पर न केवल अधिकार जमाने की इच्छा रखता है अपितु वह इसका नियन्त्रण भी कर सकता है। न्यायालय उसके सम्मुख उपस्थित किये गये प्रमाणो से इस निश्चय पर पहुँचा कि १७२१ के बाद से डेन्मार्क के कार्यों से यह स्पष्ट था कि वह सारे ग्रीनलैण्ड को अपने अधिकार मे रखना चाहता है। किन्तु नार्वे ने इस टापू के जिन हिस्सों पर दावा किया, वहा डेन्मार्क की बस्तियाँ नही थी। अत डेन्मार्क को आवेदन के दूसरे महत्वपूर्ण तत्व—सत्ता के वास्तविक प्रयोग के प्रमाण देने पडे। उसका एक महत्वपूर्ण प्रमाण यह था कि १९३१ तक किसी अन्य राज्य ने उस प्रदेश पर प्रभुत्व का दावा नही किया था। इसके साथ ही उत्तरध्रुवीय और अत्यन्त दुर्गम प्रदेश होने से यहा निरन्तर सत्ता-प्रयोग के उदाहरण दिखाना सम्भव नही था। फिर भी डेन्मार्क ने समूचे ग्रीनलैण्ड पर लागू होने वाले अनेक कानूनो और प्रशासनात्मक कार्यो के उदाहरण दिये, अन्य देशो के साथ उसकी सन्धियो मे ग्रीनलैण्ड का उल्लेख तथा आधुनिक काल मे अनेक राज्यो द्वारा इस टापू पर उसके अधिकार की स्पष्ट मान्यता उसके प्रबल प्रमाण थे, अत न्यायालय ने उसके पक्ष मे निर्णय देते हुए कहा कि जब नार्वे ने इस प्रदेश पर अपना दावा किया तब यह स्वामीहीन भूमि (Terra nullius) नही था, अत इस पर आवेशन द्वारा उसका स्वत्व स्थापित नही हो सकता।

आवेशन के प्रभावशाली होने की शर्त से यह स्पष्ट है कि किसी नये शासकहीन प्रदेश के अन्वेषण-मात्र से किसी देश को उस पर प्रभुत्व नही मिल जाता। १५वी-१६वी शताब्दियो मे इस सिद्धान्त का बोलबाला था। स्पेन वाले यह दावा करते थे कि १५५५ मे एक स्पेनवासी अमेरिगो वेस्पुच्ची (Amerigo Vespucci) उत्तरी अमरीका के तट पर सबसे पहले उतरा था, अत सारा उत्तरी अमरीका उनका है, इगलैण्ड वालो का दावा यह था कि एक ब्रिटिश नाविक जान केबट १५५४ मे वहा पहुँचा था, अत यह प्रदेश उनका है। पुर्तगाल, फ्रास तथा अन्य योरोपियन देश भी अन्वेषण के आधार पर भूमण्डल के विभिन्न भागो और द्वीपो पर अपना अधिकार करने की घोषणा करते थे। अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे किसी देश द्वारा किसी नये प्रदेश की खोज से उस पर उसका केवल असम्पूर्ण आगम या अधिकार (Inchoate Title) समझा जाता है, इसकी पूर्णता प्रभावशाली आवेशन (Effective occupation) से होती है। असम्पूर्ण

अधिकार का आशय यह है कि उसे इस प्रदेश से अन्य राज्यों को हटाने का अस्थायी अधिकार मिल जाता है। यह अधिकार उतने तर्कसगत समय के लिये होता है, जो इस स्थान के आवेशन के लिये उपयुक्त हो। इस अवधि मे वह अपनी इच्छानुसार उसका आवेशन कर सकता है, अन्य राज्य इस बीच मे वहाँ उसके अधिकार का सम्मान करेंगे, किन्तु यदि वह इस अवधि मे प्रभावशाली आवेशन नही करता तो उसका यह असम्पूर्ण अधिकार समाप्त हो जाता है। १६०६ ई० मे Island of Palmas के मामले मे हेग के पचायती न्यायालय के पच मो० ह्यूवर (Huber) ने इस प्रश्न की विस्तृत मीमासा की थी।

पालमास का टापू फिलिप्पाइन द्वीपसमूह तथा पूर्वी द्वीपसमूह के मध्य मे अवस्थित है। उस समय पूर्वी द्वीपसमूह पर डचों का अधिकार था। वे इस टापू पर भी अपना स्वत्व समझते थे। दूसरी ओर स० रा० अमरीका ने फिलिप्पाइन द्वीपसमूह को स्पेन से १८६८ की सन्धि द्वारा प्राप्त किया था। यह टापू स्पेन द्वारा खोजा गया था। स्पेन का उत्तराधिकारी होने के नाते इस पर स० रा० अमरीका अपना अधिकार मानता था। मो० ह्यूवर ने इस विषय मे अपना निर्णय देते हुए कहा कि स्पेन ने इस टापू का पता लगाया है, किन्तु स्पेनवासी यहाँ आकर नही बसे, उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों के साथ कोई सम्पर्क नही स्थापित किये और टापू पर उन्होंने अपना प्रभुत्व नही जमाया। यदि यह मान लिया जाय कि १६वी शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार किसी प्रदेश की खोज से उस पर स्वामित्व मिल जाता था तो यह असम्पूर्ण अधिकार (Inchoate Title) था, इस अधिकार को स्पेन ने तर्कसगत (Reasonable) अवधि के भीतर इस टापू पर वास्तविक स्वामित्व स्थापित करके सम्पूर्ण या सुनिश्चित अधिकार (Definitive Title) नही बनाया। अत स्पेन का इस पर कोई अधिकार नही है और स० रा० अमरीका द्वारा स्पेन का उत्तराधिकारी होने के नाते इस टापू पर किया गया दावा स्वीकार नही किया जा सकता। १६७७ से इस टापू मे हालैण्ड ने "निरन्तर और शान्तिपूर्ण रीति से अपनी सत्ता का प्रदर्शन" (Continuous and peaceful display of authority) किया है, अत इस पर डच प्रभुत्व स्वीकार किया जाना चाहिये।

१६५३ मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इगलिश चैनल के कुछ बहुत छोटे टापुओं के स्वामित्व के सम्बन्ध मे ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास के विवाद का निर्णय करते हुए Minquiers and Ecrehos के मामले म उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन किया तथा राजकीय कार्यों के वास्तविक प्रयोग (Actual exercise of State functions) पर बल दिया था। इन कार्यों का अभिप्राय स्थानीय प्रशासन, स्थानीय क्षेत्राधिकार, इस पर लागू होने वाले कानूनों और नियमा का निर्माण है। किसी राज्य के द्वारा एक प्रदेश मे इन कार्यों का निरन्तर किया जाना वहाँ उस राज्य की प्रभुसत्ता का प्रबल प्रमाण है। इस आधार पर इन टापुओ म ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा उपर्युक्त राजकीय कार्यों के निरन्तर किये जाने से न्यायालय ने इन पर ग्रेट ब्रिटेन का दावा स्वीकार किया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि किसी प्रदेश पर आवेशन द्वारा अधिकार स्थापित करने के लिये निम्नलिखित शर्तों का होना आवश्यक है :--

(१) अस्वामित्व (Res nullius) —यह प्रदेश अधिकार किये जाने के समय किसी अन्य राज्य के स्वामित्व में नहीं होना चाहिये, वस्तुत इस सिद्धान्त का विकास हीं दीवानी कानून के लावारिसी माल पर अधिकार के विचार से हुआ है। पहले यह बताया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने ग्रीनलैण्ड पर नार्वे के अधिकार के दावे को इस आधार पर खारिज कर दिया कि इस पर डेन्मार्क की प्रभुता पहले से ही विद्यमान है। आवेशन (Occupation) हड़पने या अनधिग्रहण (Usurpation) से भिन्न है। हड़पने में ऐसा कार्य करने वाला किसी प्रदेश में पहले से विद्यमान राजसत्ता को बल के प्रयोग द्वारा हटाकर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है, किन्तु आवेशन के लिये उस प्रदेश में राजसत्ता का सर्वथा अभाव आवश्यक है। अत आवेशन केवल ऐसे प्रदेश का हो सकता है, जिसकी खोज अभी हुई हो या जहाँ किसी राजसत्ता या शासन का अभाव हो।

(२) प्रभुता स्थापित करने की इच्छा और इरादा – किसी प्रदेश के आवेशन के लिये यह आवश्यक है कि उस पर अधिकार करने की इच्छा और इरादा भी हो। यह यहाँ निरन्तर शान्तिपूर्ण रीति से वास्तविक सत्ता के प्रदर्शन द्वारा व्यक्त होता है। इसकी ऊपर पालमास तथा ग्रीनलैंड वाले मामलों में व्याख्या की जा चुकी है। कई बार सत्ता का प्रदर्शन प्रदेश की परिस्थितियों को देखते हुए नहीं हो सकता। इस दशा में इस पर स्वामित्व का इरादा व्यक्त करना ही पर्याप्त समझा जाता है। फ्रांस और मेक्सिको के Clipperton Island विवाद में पंच ने १९३१ में फैसला देते हुए यही सिद्धान्त स्वीकार किया था। यह मैक्सिको के पश्चिमी तट से ६७० मील दूर एक उजाड टापू है। १८५८ में फ्रांस ने इसको अपने राज्य का अंग बनाते हुए हवाई द्वीप की सरकार को इसकी सूचना दी। उसने यह एक स्थानीय पत्र में प्रकाशित की। फ्रांस ने इस पर आधिपत्य स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, इस बीच में मैक्सिको ने इसका प्रभावशाली आवेशन (Effective occupation) किया, किन्तु १९३१ में इसे पंच ने इस आधार पर नहीं स्वीकार किया कि फ्रांस ने जब इस पर अधिकार किया था, उस समय यह अस्वामिक भूमि (Territorium nullius) थी, उसके बाद फ्रांस निरन्तर इस पर अपने स्वत्व की घोषणा करता रहा और इसे अपने अधिकार में करने का इरादा प्रकट करता रहा। (३) किसी नये प्रदेश का केवल अन्वेषण या खोज ऐसा करने वाले देश को इस पर अपूर्ण अधिकार (Inchoate Title) ही प्रदान करता है। इसे पूर्ण बनाने के लिये इस पर सत्ता स्थापित करने के कार्य किये जाने चाहियें। झण्डा गाड़कर अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा करना, बस्ती बसाना और प्रशासन के प्रबन्ध की व्यवस्था करना इस प्रकार के कार्य हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों में इस प्रश्न पर कुछ मतभेद है कि किसी प्रदेश के आवेशन को वैध बनाने के लिये इसे आवेशित करने वाले राज्य द्वारा अन्य राज्यों को इसकी सूचना देना आवश्यक है या नहीं। हालैण्ड और पिट काब्बेट इसे आवश्यक

समझते हैं, किन्तु ओपेनहाइम के मतानुसार यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आवश्यक नियम नहीं है।

आवेशन के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इससे कितना बडा भूभाग इसे आवेशित करने वाले राज्य के प्रभुत्व मे आता है। इस सम्बन्ध मे दो प्रमुख सिद्धान्त हैं—(१) सातत्य (Continuity) का सिद्धान्त—इसके अनुसार किसी प्रदेश को आवेशित करने वाला राज्य अपनी प्रभुता का विस्तार इस प्रदेश के साथ लगे हुए भूभाग मे उतने बडे क्षेत्र तक करता है, जहाँ तक का प्रदेश उसकी सुरक्षा तथा निवास की भूमि के स्वाभाविक विकास के लिये आवश्यक हो। (२) सस्पर्शिता (Contiguity) का सिद्धान्त इसके अनुसार आवेशन करने वाला राज्य अपनी प्रभुता का विस्तार इस प्रदेश के साथ भौगोलिक दृष्टि से सस्पर्श करने वाले पडोसी प्रदेशों पर भी करता है। ये दोनो सिद्धान्त बडे अस्पष्ट और व्यापक है, अभी तक इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निश्चित नियम निर्धारित नही हुए।

किन्तु इन दोनो सिद्धान्तो ने उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवो के जनशून्य हिमाच्छादित प्रदेशों के सम्बन्ध मे खण्ड सिद्धान्त (Sector Principle) का महान् विवाद उत्पन्न किया है। हवाई यातायात, अणु-शक्ति द्वारा सचालित समुद्र के गर्भ मे बर्फ को काटते हुए ध्रुवीय प्रदेश के आर पार जाने वाली नाटिलस जैसी पनडुब्बियो तथा अत -महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रो के कारण इन प्रदेशों की सामरिक महत्ता बढ गयी है और अनेक देश ध्रुवीय प्रदेशों के विभिन्न भागों पर खण्ड सिद्धान्त द्वारा अपनी प्रभुता का दावा कर रहे है। इसके अनुसार ध्रुवीय प्रदेशों के सीमावर्ती राज्य अपने देश की स्थानीय सीमा और तटीय रेखाओ से भूमण्डल पर उत्तरी या दक्षिणी ध्रुवो तक खींची गई रेखाओ के भीतर आने वाले खण्डो पर चाहे वह समुद्र हो या भूमि, अपनी प्रभुता का दावा करने लगे हैं। सोवियत यूनियन, नार्वे डेन्मार्क, कनाडा और स० रा० अमरीका ने उत्तरी ध्रुव के विभिन्न खण्डो पर अपने अधिकार का दावा किया है और दक्षिणी ध्रुव मे ऐसा दावा करने वाले चिली, अर्जेण्टायना और ग्रेट ब्रिटेन हैं। इन प्रदेशों की दुर्गमता और आवासशून्यता के कारण यहाँ आवेशन की उपर्युक्त शर्तें—बस्ती बसाना तथा प्रशासन की व्यवस्था करना पूरी नही हो सकतीं अत अपने दावो का औचित्य सिद्ध करने के लिये इस सिद्धान्त का आविष्कार किया गया है। वस्तुत ये दावे इन खण्डो मे भविष्य म पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने के इरादो की सूचनायें मात्र हैं। यदि यहाँ खोज का सिद्धान्त माना जाता तो दक्षिणी ध्रुव पर पहले पहुँचने तथा अपना झण्डा गाढने वाले एमण्डसेन के देश नार्वे का प्रभुत्व मानना चाहिये था। नार्वे ने १९२४ मे ऐसा दावा भी किया था, किन्तु स० रा० अमरीका ने इसे स्वीकार नही किया। खण्ड सिद्धान्त को अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे कोई मान्यता नही प्राप्त हुई।

दक्षिणी ध्रुव प्रदेश (Antarctica) के सम्बन्ध मे १ दिसम्बर, १९५९ को बारह राज्यो—अर्जेण्टाइना, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, चिली, फ्रास, जापान, न्यूज़ीलैण्ड, नार्वे, दक्षिण अफ्रीका के सघ, सोवियत सघ, ग्रेट ब्रिटेन तथा स० रा० अमरीका ने ३० वर्ष तक चलने वाली सन्धि (Antarctica Treaty) पर हस्ताक्षर किये थे। इसके

अनुसार इन देशों ने यह निश्चय किया है कि (१) सब देशो को शान्तिपूर्ण प्रयोजनो के लिये दक्षिणी ध्रुव के महाद्वीप का उपयोग करने का अधिकार होगा। (२) इस प्रदेश मे सब देश अपने प्रादेशिक दावो और झगडो को स्थगित (Freeze) कर देंगे। (३) दक्षिणी ध्रुव के प्रदेश मे सब सैनिक कार्यवाहियाँ निषिद्ध होगी। (४) ऐसी कार्यवाहियाँ रोकने के लिए एक पारस्परिक निरीक्षण पद्धति (Mutual Inspection System) को स्थापित किया जायगा। ५० लाख वर्गमील मे लागू होने वाली यह पहली अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण पद्धति है। इसमे कोई सदेह नही कि दक्षिणी ध्रुव की यह सधि (Antarctic Treaty) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे असाधारण महत्व रखती है और इसने इस क्षेत्र मे विभिन्न राज्यों के दावो को तथा झगडो को कुछ समय के लिये शान्त कर दिया है।

चाँद पर अधिकार (Occupation of Moon)—क्या कोई राष्ट्र चाँद पर, मगल पर तथा अन्य ग्रहो पर अपना अधिकार स्थापित कर सकता है? १९६१ से राकेटो द्वारा मनुष्य को बाह्य अन्तरिक्ष मे भेजे जाने के सफल प्रयत्नो से[१] इस प्रश्न को असाधारण महत्व प्राप्त हो गया है। राकेटो की वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति को देखते हुए यह असम्भव नही प्रतीत होता कि अगले कुछ वर्षों मे रूस या अमरीका का कोई अन्तरिक्ष-यात्री चाँद पर पहुँचकर वहाँ अपना झण्डा गाड दे। क्या इससे आवेशन द्वारा रूस या अमरीका का स्वामित्व चाँद पर स्थापित हो जायगा।

पहले यह बताया जा चुका है कि आवेशन (Occupation) द्वारा किसी प्रदेश पर आधिपत्य के लिये दो शर्तें आवश्यक हैं। पहली शर्त इसका अस्वामिक (Res nullius) अथवा कोई मालिक न होना है, तथा दूसरी शर्त इस पर किसी प्रकार का वास्तविक शासन स्थापित करना है। ओपेनहाइम के शब्दो मे प्रभावशाली आवेशन (Effective Occupation) के लिये स्वामित्व (Possession) और प्रशासन (Administration) आवश्यक है। स्वामित्व का यह अर्थ है कि किसी राज्य द्वारा अब किसी के स्वामित्व में न विद्यमान प्रदेश पर प्रभुसत्ता पाने के उद्देश्य से इसे अपने अधिकार मे लाना। प्रशासन का तात्पर्य वहाँ अपना किसी प्रकार का शासन-प्रबन्ध स्थापित करना है। आवेशन के लिये दोनो शर्तों का पूरा होना आवश्यक है।

चाँद के आवेशन के सम्बन्ध मे पहली शर्त कुछ अशो मे पूरी हो सकती है।

---

१. अन्तरिक्ष में राकेट द्वारा मनुष्यों को भेजकर वहाँ के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथ्य और सूचनायें एकत्र करने में इस समय रूस और अमरीका में होड लगी हुई है। रूस को इस बात का श्रेय है कि उसने बाह्य अन्तरिक्ष में पहला पुरुष और पहली स्त्री भेजी है। उसके अन्तरिक्ष-यात्री कालक्रम से ये हैं—मेजर गागारिन (१२ अप्रैल, १९६१), मेजर तीतोव (७ अगस्त, १९६१), मेजर निकोलेयेव (११ अगस्त, १९६२), श्री पोपोविच (१२ अगस्त, १९६२), वेलारी बायकोवस्की तथा वेलेन्तीना तेरिश्कोवा (१४ जून तथा १६ जून, १९६३), रूस के पाँचवे-छठे युगल अन्तरिक्ष-यात्री थे। बायकोवस्की ने ८२ बार तथा २६ वर्षीय युवती तेरिश्कोवा ने ४९ बार पृथ्वी की परिक्रमा की। सं० रा० अमरीका के पहले चार अन्तरिक्ष-यात्री ये हैं—श्री शेपर्ड (५ मई, १९६१), कैप्टेन ग्रिसोम (२१ जुलाई, १९६१), श्री ग्लैन (२ फरवरी, १९६२), मेजर कूपर (१५ तथा १६ मई, १९६३)।

रूस या अमरीका का कोई अन्तरिक्ष-यात्री यहाँ सबसे पहले पहुँचकर अपना झण्डा गाड सकता है। किन्तु पहले पालमास टापू के मामले मे यह बताया जा चुका है कि किसी प्रदेश की खोज मात्र से उसपर केवल असम्पूर्ण अधिकार (Inchoate Title) मिलता है। यह वास्तविक नियन्त्रण या शासन स्थापित करने की दूसरी शर्त पूरी होने पर ही पूर्ण स्वामित्व तथा सुनिश्चित अधिकार (Definitive Title) बन सकता है। पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी तथा वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति को देखते हुए यह सभव नही प्रतीत होता कि निकट भविष्य मे चाँद पर पृथ्वी से वास्तविक प्रशासन और नियन्त्रण स्थापित किया जा सकेगा। इसके अभाव मे चाँद पर किसी राज्य का अधिकार माना जाना सभव नही है।

(२) चिरकालिक भुक्ति (Prescription)—जब कोई राज्य चिरकाल तक ऐसे प्रदेश मे अपनी वास्तविक प्रभुसत्ता बनाये रखता है, जहाँ वस्तुत कानूनी तौर से किसी दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता है, तो यहाँ पहले राज्य की सत्ता मानी जाने लगती है। यही चिरकालिक भुक्ति है। ओपनहाइम ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"यह किसी प्रदेश पर इतने अधिक समय तक निरन्तर तथा अनिर्बाध (Undisturbed) रूप मे प्रभुसत्ता के प्रयोग द्वारा उस प्रदेश पर प्रभुसत्ता पाना है, जो इस ऐतिहासिक विकास के परिणामस्वरूप यह विश्वास उत्पन्न कर सके कि वर्तमान स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुकूल है।"[४] स्टार्क ने इसकी बहुत सरल परिभाषा करते हुए लिखा है—"चिरकालिक भुक्ति से उत्पन्न होने वाला अधिकार किसी अन्य राज्य की प्रभुसत्ता वाले प्रदेश पर बहुत लम्बे समय तक तथ्यानुसार (De facto) प्रभुता बनाये रखने का परिणाम होता है।"[५] इसका आवेशन से महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि वह अस्वामिक प्रदेश (Res nullius) पर होता है और भुक्ति वाले प्रदेश पर दूसरे का स्वामित्व होता है।

यह वस्तुत दीवानी कानून की विपरीत भुक्ति (Adverse possession) का अन्तर्राष्ट्रीय रूपान्तर है और बहुत लम्बे समय के भोग के बाद प्राप्त होता है। दीवानी कानून मे इस काल की अवधि निश्चित है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसे सुस्पष्ट रूप मे निर्धारित नही किया गया। ग्रोशियस (Grotius) के मतानुसार ऐसा अनिर्बाध अधिकार स्मरणातीतकाल से होना चाहिये। वैटल ने इसे 'वर्षों की काफी बडी सख्या' (Considerable number of years) बताया था। १८७१ की वाशिंगटन की सधि मे यह अवधि ५० वर्ष तय की गई थी। ब्रिटिश गायना के पचनिर्णय (१८९९) मे यह अवधि २० वर्ष मानी गई थी।

पुराने अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री ग्रोशियस और वैटल इसे बहुत अधिक महत्व देते थे, किन्तु रिवियर (Rivier) तथा डमोर्टेन्स (Damortens) जैसे विधिवेत्ता अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इसकी कोई सत्ता स्वीकार नहीं करते। ब्रियर्ली ने इस परस्पर-विरोधी परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है—"एक अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून

४. ओपेनहाइम—इटरनेशनल लॉ, खड १, पृ० ५७३

५. स्टार्क—एन इट्रोडक्शन टू इटरनेशनल लॉ, चतुर्थ सस्करण, पृ० १४०

चिरकालिक मुक्ति को स्वीकार नहीं करना, यह मुक्ति के पीछे विद्यमान सिद्धान्त को तो मानना है किन्तु इस सिद्धान्त के अभी वैसे विशद नियम नहीं बने, जैसे अन्य कानूनी पद्धतियों में पाये जाते है । इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसकी महत्ता नगण्य-सी प्रतीत होती है।

(३) उपचय या अभिवृद्धि (Accretion)—स्टार्क के शब्दों में उपचय का अधिकार तब उत्पन्न होता है, जब किसी राज्य की प्रभुसत्ता में विद्यमान प्रदेश में प्राकृतिक कारणों से नये प्रदेश की वृद्धि होती है और वह नया प्रदेश इसमें सम्मिलित होता है। इसमें किसी औपचारिक (Formal) कार्यवाही या घोषणा की आवश्यकता नहीं होती। वह वृद्धि शनै -शनै अथवा सहसा दोनों प्रकार से हो सकती है। ग्रोशियस ने इस विषय में नदियों की भूसम्पत्ति वाले रोमन कानून के सिद्धान्त ही लागू किये थे। इसका मुख्य सिद्धान्त है—accesio cedat principali अर्थात् बढ़ी हुई वस्तु प्रधान वस्तु का अनुसरण करती है।

यह वृद्धि निम्न रूपों में होती है—नदियों द्वारा लाई मिट्टी से शनै शनै बनी हुई भूमि या आवृद्धि (Alluvion), समुद्र द्वारा इस प्रकार बढ़ाई हुई भूमि, डेल्टा, नदी के मध्य में बनने वाले टापू। इन सब अवस्थाओं में वृद्धि मुख्य भूमि के स्वामी की समझी जाती है। यदि किसी राज्य के प्रादेशिक समुद्र में नये टापू बन जाये तो इसका परिणाम यह होता है कि प्रादेशिक समुद्र की सीमा को इन टापुओं के अन्तिम छोर से नापा जाना है राज्य का समुद्री क्षेत्राधिकार पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो जाता है। Anna नामक स्पेनिश जहाज के मामले में ब्रिटिश नौतैनिक न्यायालय ने इसी सिद्धान्त को लागू किया था। १८०५ में ग्रेट ब्रिटेन और स्पेन के युद्ध में एक ब्रिटिश जहाज ने उक्त स्पेनिश जहाज को मिसिसिपी नदी के मुहाने के पास पकड़ा। इसमें यह प्रश्न उठाया गया कि यह कार्य स० रा० अमरीका के प्रादेशिक समुद्र में हुआ था या नहीं। यदि समुद्र के तट पर बने बालिसे (Balise) के किले से नापा जाता तो यह घटना तीन मील के प्रादेशिक समुद्र की सीमा के भीतर हुई थी, किन्तु यदि "मुख्य भूमि की ड्योढ़ी का काम देने वाले, मिट्टी के बने टापुओं से नापा जाना तो यह घटना तीन मील की प्रादेशिक सीमा से बाहर हुई थी।" न्यायालय ने उपचय से बने इन टापुओं को मुख्य भूमि का भाग मानते हुए इस कार्य को स० रा० अमरीका की प्रादेशिक सीमा से बाहर माना।

(४) हस्तान्तर (Cession)—फिर्नो के शब्दों में यह एक राज्य द्वारा किसी प्रदेश पर विद्यमान अपना अधिकार दूसरे राज्य को प्रदान करना है।[६] इसमें प्रादेशिक प्रभुता एक राज्य के हाथ से निकलकर दूसरे राज्य के हाथ में चली जाती है। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी राज्य की प्रभुसत्ता की यह मौलिक विशेषता है कि राज्य को अपने प्रदेश के हस्तान्तर का पूरा अधिकार है।

किसी प्रदेश का हस्तान्तर ऐच्छिक (Voluntary) और अनैच्छिक दोनों प्रकार

६. फिर्नो—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १५५

का हो सकता है। ऐच्छिक हस्तान्तर बिक्री, विनिमय और दान द्वारा होता है। इसके उदाहरण १८६७ मे रूस द्वारा अलास्का का प्रदेश स० रा० अमरीका को बेचना था, १८९० में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी द्वारा हेलिगोलैंड और जञ्जीबार का विनिमय हुआ था। विक्रय द्वारा स० रा० अमरीका ने १८०० मे लुइसियाना, १८१९ मे फ्लोरिडा और १८५३ मे गैडसडन प्राप्त किए। १९१६ में डेन्मार्क ने अमरीका को डेनिश वैस्टइंडीज बेचा था। विनिमय का एक प्रसिद्ध उदाहरण १८७८ मे रूमानिया द्वारा डेन्यूब के उत्तर मे बेसारबिया का प्रदेश रूस को दे कर इसके बदले मे रूस से डेन्यूब के दक्षिण मे डोब्रुजा का प्रदेश लेना था। एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को स्वतन्त्र उपहार के रूप मे प्रदेश भेंट करने के भी कुछ उदाहरण हैं। १८५० मे ग्रेट ब्रिटेन ने ईरी (Erie) झील की हार्स शो रीफ (Horse shoe Reef) को इसलिये स० रा० अमरीका को भेंट किया कि वह इस पर दोनों देशों के नौसचालन को सुविधाजनक बनाने के लिये प्रकाश-स्तम्भ का निर्माण करे। आस्ट्रिया ने १८५९ मे लम्बार्डी का तथा १८६६ मे वेनिस का प्रदेश फ्रास को इसलिये दे दिया कि उसे यह सार्डीनिया को न देना पडे। १८७८ की बर्लिन की सधि द्वारा बोस्निया तथा हर्जेगोविना प्रशासन के लिये आस्ट्रिया को प्रदान किये गये थे। अनैच्छिक (Involuntary) हस्तान्तर युद्ध मे हारने वाले राज्य को विजेता के प्रति करना पडता है। १८७० के फ्रास-जर्मन युद्ध मे फ्रास को हारने पर अपने आल्सेस-लोरेन के प्रदेश जर्मनी को देने पडे थे।

हस्तान्तर मे यह आवश्यक है कि हस्तान्तरित प्रदेश पर पूर्ण स्वामित्व स्थापित किया जाय। किन्तु वास्तविक स्वामित्व की स्थापना से पहले हस्तान्तर की सन्धि द्वारा इसकी सपुष्टि अवश्य होनी चाहिये। आपेनहाइम के मतानुसार इस सन्धि के बाद ही वास्तविक हस्तान्तर होना चाहिये। किन्तु युद्ध द्वारा जीते प्रदेशों के हस्तान्तर के सम्बन्ध मे यह बात लागू नही हो सकती, वे पहले ही विजेता राष्ट्र के अधिकार में होते हैं।

प्रदेशों के हस्तान्तर से कई बार इनमे रहने वालों को नये राज्य की प्रभुता मे जाना बडा कष्टदायक प्रतीत होता है, अत १९वी शती की अनेक हस्तान्तर सन्धियो मे व्यक्तियों को अपनी पुरानी नागरिकता बनाये रखने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाती थी। १० मई, १८७१ की फ्रेंकफोर्ट की सन्धि मे फ्रास के आल्सेस-लोरेन प्रदेश जर्मनी को देते हुए यह शर्त रखी गई थी कि उन प्रदेशो मे रहने वाले जो व्यक्ति अपनी फ्रेंच नागरिकता बनाये रखना चाहते हो, वे १ अक्टूबर, १८७२ तक फ्रास मे जाकर बस सकते हैं, और इस बीच मे उन्हे इन प्रदेशो मे विद्यमान अपनी स्थावर सम्पत्ति बेच देनी चाहिये। ४ अगस्त, १९१६ को डेनिश वैस्टइंडीज की हस्तान्तर की सन्धि मे इस प्रदेश के निवासियो के लिये डेन्मार्क की नागरिकता बनाये रखने के सम्बन्ध मे बडी उदार व्यवस्थायें की गई थी।

कई बार हस्तान्तर के समय निवासियों का जनमत सग्रह (Plebiscite) भी किया जाता है। १९वी शती मे यह विधि बडी लोकप्रिय थी। १८५८ में सार्डीनिया ने लम्बार्डी, वेनेशिया तथा इटालियन डचियों को अपने राज्य मे मिलाने से पूर्व इनमे

जनमत-संग्रह लिये थे। १८६० में फ्रांस ने सेवाय और नीस को अपने राज्य में सम्मिलित करने से पूर्व जनमत लिया था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अपर साइलेशिया में सीमा सम्बन्धी विवाद का समाधान जनमत-संग्रह द्वारा किया गया, सार का प्रदेश भी जर्मनी को इसी आधार पर लीग में १९३५ में प्राप्त हुआ था। भारत ने पहले काश्मीर के लिये जनमत-संग्रह का प्रस्ताव रखा था, किन्तु बाद में परिस्थितियों के बदल जाने के कारण वह अब इसे मान्य नहीं समझता, यद्यपि पाकिस्तान अब भी जनमत-संग्रह द्वारा ही काश्मीर का भाग्य-निर्णय करना चाहता है।

(६) विजय (Conquest)—युद्ध में सैनिक शक्ति द्वारा शत्रु को पराजित कर उसका प्रदेश अपनी प्रभुता में ले लेना विजय कहलाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने पूर्वी ग्रीनलैण्ड के मामले में इसके सम्बन्ध में कहा था—"विजय तभी प्रभुसत्ता की हानि का कारण बनती है, जब दो राज्यों में युद्ध हो और इनमें से एक के पराजित होने पर उसके पास विद्यमान प्रदेश की प्रभुसत्ता विजेता राज्य को प्राप्त हो जाय।" ओपेनहाइम के मतानुसार विजय द्वारा किसी प्रदेश पर अधिकार करने के लिये उसके स्वामी को सैनिक दृष्टि से हराना ही पर्याप्त नहीं है, हराने के बाद विजेता द्वारा इस प्रदेश को अपने राज्य का अंग बनाने अथवा अंगीकरण (Annexation) की घोषणा होनी चाहिये। प्रायः सम्बद्ध राज्यों को एक नोट भेजकर अंगीकरण की इच्छा या इरादा अभिव्यक्त किया जाता है। यदि ऐसा इरादा न व्यक्त किया जाय तो विजेता को विजित प्रदेश पर प्रभुता प्राप्त नहीं होती। प्रदेश के अंगीकरण के बाद शत्रु-राज्य का अन्त और युद्ध की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार से होने वाली युद्ध की समाप्ति वशीकरण (Subjugation) कहलाता है। अतः विजय द्वारा नहीं, किन्तु वशीकरण द्वारा शत्रु का प्रदेश विजेता को प्राप्त होता है। शत्रु के जीते हुए प्रदेश पर भले ही विजेता की वास्तविक सत्ता हो, किन्तु इसके अंगीकरण से पहले तक इस पर शत्रु की प्रभुसत्ता (Sovereignty) बनी रहती है, अंगीकरण के बाद विजेता को यह प्रभुता मिलती है। इस प्रकार अंगीकरण (Annexation) विजय को वशीकरण (Subjugation) में परिवर्तित करता है।

स्टार्क ने अंगीकरण (Annexation) के दो प्रकार बताये हैं—(क) युद्ध में शत्रु को पराभूत करके उसका प्रदेश अपने राज्य में मिलाना, जैसे १९३६ में इटली ने एबीसीनिया को जीतकर उसे अपने राज्य का अंग बनाया। (ख) कई बार यह अंगीकरण ऐसे देशों का भी होता है, जो अंगीकृत (Annexed) किये जाने के समय अंगीकर्ता (Annexing) राज्य की पूरी अधीनता (Subordination) में थे। उदाहरणार्थ, जापान ने १९१० में कोरिया का अंगीकरण किया, किन्तु यह इससे पहले ही इसकी अधीनता में था।

यदि विजेता राज्य शत्रु के विजित प्रदेश को अपने राज्य में न मिलाने की इच्छा की घोषणा करे तो विजेता को विजित पर कोई प्रभुसत्ता नहीं मिलती। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी यद्यपि मित्रराष्ट्रों द्वारा पूरी तरह जीत लिया गया था, किन्तु फिर भी इस पर उनकी प्रभुता स्थापित नहीं हुई क्योंकि वे यह घोषणा कर चुके थे कि जर्मन

सरकार द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण करने पर वे उसका कोई प्रदेश अपने राज्यों में सम्मिलित नहीं करेंगे।

विजय और हस्तान्तर (Cession) में सूक्ष्म अन्तर है। जब किसी शत्रु-राज्य को जीतकर उसका प्रदेश अंगीकरण (Annexation) द्वारा प्राप्त किया जाता है तो यह विजय होती है। हस्तान्तर में शत्रु को परास्त करने के बाद शान्ति संधि द्वारा उसका प्रदेश हस्तगत किया जाता है। विजय आवेशन (Occupation) से इस अंश में भिन्न है कि आवेशन में अस्वामिक (Res nullius) प्रदेश पर प्रभुता स्थापित की जाती है और विजय में एक प्रदेश पर शत्रु की विद्यमान प्रभुता को सैनिक बल द्वारा हटाकर अपनी प्रभुता स्थापित की जाती है।

विजय द्वारा प्रदेशप्राप्ति की वैधता के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ विशेषज्ञों ने इस दृष्टिकोण का भी प्रतिपादन किया है कि राष्ट्रसंघ के निर्माण ने १९२८ के केलाग-ब्रीआं पैक्ट में स० रा० संघ के चार्टर ने युद्ध को अवैध घोषित किया है, इनके समझौतों तथा चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने यह घोषणा की है कि वे युद्ध एवं बलप्रयोग के उपाय को निन्दनीय समझते हैं। ऐसी घोषणा करने के बाद इन राज्यों को यह अधिकार नहीं रह जाता है कि वे विजय को प्रदेशप्राप्ति का वैध उपाय [illegible] लौटरपैक्ट (Lauterpacht) ने इस विषय में सत्य ही लिखा है—"उपर्युक्त समझौते जिस हद तक युद्ध का निषेध करने वाले है, उस हद तक वे उस राज्य की विजय को अवैध बना देते हैं, जिस राज्य ने स्वयमेव स्वीकार किये गये अपने दायित्वों के सर्वथा प्रतिकूल युद्ध का सहारा लिया है। कोई भी अवैध कार्य सामान्यतः कानून तोड़ने वाले राज्य के लिये हितकर परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकता है।"[7] इस विषय में न्यायशास्त्र के एक सुप्रसिद्ध नियम Ex injuria jus non oritus को लागू किया जाता है, इसका यह अभिप्राय है कि कोई अवैध कार्य ऐसा करने वाले व्यक्ति के किसी कानूनी अधिकार का स्रोत या मूल नहीं बन सकता है। युद्ध यदि अवैध कार्य है तो वह किसी राज्य को इस साधन के द्वारा किसी प्रदेश पर अपना कानूनी अधिकार स्थापित करने में सहायक नहीं हो सकता है। जेनिंग्स (Jennings) ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि इस विषय में यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या (युद्ध के) एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय अपराध को किसी प्रदेश पर अधिकार प्राप्त करने के लिये इस कारण के आधार पर न्यायोचित समझा जा सकता है कि इस अपराध को करने में सफलता मिली है।[8] यदि युद्ध एवं विजय को प्रदेशप्राप्ति का न्यायोचित आधार माना जाय तो मुसोलिनी द्वारा एबीसीनिया की विजय को न्यायपूर्ण मानना पड़ेगा। किन्तु इस विषय में केलसन (Kelsen) ने परम्परागत पुराने पक्ष का समर्थन करते हुए कहा है[9] एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने वाले व्यवहार द्वारा न केवल किसी

७ आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ प्रथम खण्ड, षष्ठ संस्करण, पृ० ५२४

८. जेनिंग्स—दी एक्विजिशन आफ टेरिटरी इन इण्टरनेशनल लॉ, १९६३, पृ० ५४

९. केलसन—प्रिन्सिपल्स आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९५६, पृ० २१४

प्रदेश को प्राप्त कर सकता है अपितु इसे अपने अधिकार मे बनाये रख सकता है। ऐसा प्रदेश कानूनी तौर से उसी राज्य का समझा जाता है जो अवैध कार्य से भी इस पर प्रभावशाली स्वामित्व स्थापित करता है। यह वस्तुत: प्रभावशालिता (Effectiveness) के सिद्धान्त का प्रयोग कर के ही किया जाता है।

(६) **सम्मेलन का निर्णय** (Award)—स्टार्क उपर्युक्त पांच प्रकारो के अतिरिक्त एक नया प्रकार विभिन्न राज्यों के सम्मेलन का निर्णय भी बताता है। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद पेरिस से मित्रराष्ट्रो का शान्ति-सम्मेलन हुआ था, इसने वर्साय की सधि (Treaty of Versailles), सातर्मे की सधि (Treaty of St Germain) *तथा नयी की सधि (Treaty of Neuilly) द्वारा विभिन्न प्रदेशों की* प्रभुसत्ता अन्य देशों को प्रदान की थी।[१०]

(७) **पट्टा** (Lease)—यह भी प्रदेश पाने का एक प्रकार है। चीन ने १८९८ मे किआग्रो चौ जर्मनी को, वेई-हाई-वेई ग्रेट ब्रिटेन को, क्वाग चौवान फ्रास को तथा २५ वर्ष के लिये पोर्ट आर्थर रूस को पट्टे पर प्रदान किया। १९०३ मे पानामा के गण-राज्य ने पानामा नहर-क्षेत्र स० रा० अमरीका को स्थायी पट्टे पर दिया। द्वितीय विश्व-*युद्ध मे २७ मार्च, १९४१ को ग्रेट ब्रिटेन ने ९९ वर्ष के पट्टे पर कैरिबियन समुद्र के तथा* समीपवर्ती अन्य समुद्रों के अनेक नौसैनिक और हवाई अड्डे स० रा० अमरीका को प्रदान किये।

प्रदेश खोने के प्रकार (Modes of loosing territory)—ये प्रदेश प्राप्त करने की विधियों से सादृश्य रखते है। इनके मुख्य प्रकार त्याग (Dereliction), चिरकालिक मुक्ति (Prescription), प्राकृतिक कार्य (Operations of Nature) हस्तान्तर, विजय और विद्रोह (Revolt) है। *त्याग आवेशन मे तथा प्राकृतिक कार्य* उपचय से मिलते है। त्याग का अभिप्राय यह है कि किसी प्रदेश के स्वामी ने उसमे अपनी प्रभुता या सत्ता का प्रयोग करना छोड दिया है। यदि पुराना राज्य इसमे शासन करने की इच्छा रखता है तो यह त्याग (Dereliction) नही समझा जायगा। अत इसके लिए प्रदेश छोडने के साथ इस पर प्रभुता रखने की इच्छा छोडना भी आवश्यक है। सैण्ट लूशिया टापू तथा डेलागोआ खाडी इसके उदाहरण है।

प्राकृतिक कार्य (Operations of Nature) का अभिप्राय ज्वालामुखी पर्वतो के उत्क्षेप मे प्रदेश की हानि, समुद्र मे टापुओ का नष्ट होना सीमावर्ती नदी की धारा मे सहसा परिवर्तन होना है। यदि समुद्री तट के टापू लुप्त हो जाते हैं तो टापुओ के सिरे से नापी जाने वाली प्रादेशिक समुद्र की सीमा समुद्री तट से नापी जाती है और इस प्रकार इसमे ह्रास आ जाता है। सीमावर्ती नदी के बहाव मे परिवर्तन आने से किसी राज्य का बहुत-सा प्रदेश कटाव के कारण घट जाता है। मातृभूमि के विरुद्ध सफल *विद्रोह (Revolt) द्वारा कोई प्रदेश स्वतन्त्र हो सकता है और इस प्रकार मातृभूमि*

---

१०. इनके विस्तृत विवरण के लिये देखिये—हरिदत्त वेदालकार द्वारा लिखित 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध', पहला अध्याय।

का प्रदेश घट जाता है। इस प्रकार के विद्रोहो के कुछ उदाहरण ये हैं—१६वी शताब्दी मे १५७६ ई० मे हालैंड द्वारा स्पेन के विरुद्ध तथा १८वी शताब्दी मे १७७५ ई० मे अमरीका के १३ उपनिवेशो का इगलैंड के विरुद्ध विद्रोह ; १६वी शताब्दी मे १८२२ मे ब्राजील ने पुर्तगाल के विरुद्ध, १८३० मे बेल्जियम ने हालैंड के विरुद्ध तथा यूनान, रुमानिया और बल्गारिया ने टर्की के खलीफा के विरुद्ध कामयाब बगावत की। २०वी शती मे इसका प्रसिद्ध उदाहरण चीन मे कम्यूनिस्टो द्वारा च्याग-काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार के विरुद्ध किया गया सफल विद्रोह है। इसमे चीन की मुख्य भूमि मे राष्ट्रवादी सरकार की प्रभुसत्ता पूर्ण रूप से नष्ट हो गई है।

ग्यारहवाँ अध्याय

हस्तक्षेप

(Intervention)

प्रत्येक राज्य का अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार अपने राज्य का प्रबन्ध करे, सविधान का निर्माण करे तथा दूसरे देशो के साथ संधियाँ करे। किन्तु कई बार ऐसा होता है कि कोई अन्य राज्य या अनेक राज्य इसके मामलो मे दखल देते है, इसे कोई ऐसा काम करने के लिए बाधित करते है, जो इसकी इच्छा के विरुद्ध होता है। लारेन्स ने इस प्रकार के दखल को हस्तक्षेप (Intervention) कहा है।[1] ब्रियर्ली ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है[2]—"यह दूसरे राज्य के घरेलू या वैदेशिक मामलो मे दखल देने के ऐसे कार्यों तक सीमित है, जिनसे राज्य को स्वतन्त्रता भग होती है। एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को उससे स्वय किये जाने वाले कार्य के सम्बन्ध मे केवल परामर्श देना इस अर्थ मे हस्तक्षेप नही कहला सकता, हस्तक्षेप का स्वरूप आज्ञात्मक (Imperative) होना चाहिए। यह या तो शक्ति के प्रयोग द्वारा बलपूर्वक किया गया होना चाहिए या इसके पीछे बल-प्रयोग की धमकी होनी चाहिए। इसके तानाशाही और आदेशात्मक (Dictatorial) स्वरूप को पहले स्पष्ट किया जा चुका है।"

हस्तक्षेप के प्रकार (Kinds of Intervention)—स्टार्क ने हस्तक्षेप के चार प्रकार बताये है[3]—(१) **कूटनीतिक या राजनयिक (Diplomatic) हस्तक्षेप**—१८९५ मे रूस, फ्रास और जर्मनी ने जापान पर अपना कूटनीतिक दबाव डालकर उसे इस बात के लिये विवश किया कि वह शिमोनोसेकी की सधि द्वारा दिया गया लिआओटुग का प्रायद्वीप चीन को वापिस कर दे। (२) **आन्तरिक (Internal) हस्तक्षेप**—यह एक राज्य द्वारा किसी दूसरे राज्य मे सघर्ष, विद्रोह या गृहयुद्ध करने वाले दो पक्षो मे से किसी एक को सहायता प्रदान करना है, जैसे कोरिया मे चीनी गणराज्य वालो ने दक्षिण कोरिया के शासन के साथ सघर्ष करने वाले उत्तरी कोरिया को सहायता प्रदान की थी। (३) **बाह्य (External) हस्तक्षेप**—जब कोई राज्य दूसरे राज्य के साथ लड़ने वाले देश के विरुद्ध युद्ध मे कूदता है तो यह बाह्य हस्तक्षेप होता है, जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध मे ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी की लड़ाई मे ११ जून, १९४० को इटली ने जर्मनी की ओर से इस युद्ध म हस्तक्षेप किया। (४) **दण्डात्मक (Punitive) हस्तक्षेप**—

१. लारेन्स—प्रिंसिपिल्स आफ इटरनेशनल लॉ, पृ० ११९
२. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० ३०८
३. स्टार्क—एन इट्रोडक्शन टू इटरनेशनल लॉ, पृ ८६

इसमे एक राज्य किसी अन्य राज्य द्वारा हानि पहुँचाये जाने या सधिभग का बदला लेने के लिए इसके विरुद्ध युद्ध के अतिरिक्त अन्य दण्डात्मक कार्यवाही करता है, जैसे कोई राज्य किसी अन्य राज्य को सधिपालन के लिये बाध्य करने के लिए उसका शातिपूर्ण परिवेष्टन (Peaceful Blockade) करता है, उस देश का अन्य देशो के साथ समुद्री सम्बन्ध बिल्कुल विच्छिन्न कर देता है (देखिये बीसवाँ अध्याय)।

हस्तक्षेप करने के कारण (Grounds of Intervention)—हस्तक्षेप करने के उचित कारणों के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियो मे पर्याप्त मतभेद है। स्टार्क ने निम्न पाँच अवस्थाओ मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से हस्तक्षेप को वैध माना है[४]—(क) सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर की व्यवस्था के अनुसार कई राज्यो द्वारा सामूहिक (Collective) हस्तक्षेप, जैसे १९५० मे कोरिया के मामले मे हस्तक्षेप। (ख) विदेश-स्थित अपने नागरिकों के अधिकारो की तथा सम्पत्ति की सुरक्षा की दृष्टि से किया गया हस्तक्षेप। (ग) आत्मरक्षा के लिये तथा सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध के लिये किया गया हस्तक्षेप। (घ) अपने सरक्षित राज्य के मामलो मे हस्तक्षेप। (ङ) यदि कोई राज्य सर्वसम्मत अन्तर्राष्ट्रीय कानून का घोर उल्लघन करता है तो अन्य राज्यो को इस मामले मे हस्तक्षेप का अधिकार है। आपेनहाइम ने इसके अतिरिक्त हस्तक्षेप के दो अन्य कारण भी माने हैं (च) यदि किसी राज्य पर अन्तर्राष्ट्रीय सधि द्वारा कुछ पाबन्दियाँ लगाई जाये और वह इनका पालन नही करे तो सधि से सम्बद्ध अन्य राज्यो को इसमे हस्तक्षेप का अधिकार होता है। जैसे १९१४ मे बेल्जियम की तटस्थता की सधि का भग होने पर ग्रेट ब्रिटेन ने इसमे हस्तक्षेप किया। (छ) जब किसी सधि द्वारा कोई राज्य किसी अन्य राज्य मे एक निश्चित राजवश का शासन या शासन-पद्धति निश्चित कर देता है तो इसमे परिवर्तन होने की दशा मे दूसरे राज्य को हस्तक्षेप का अधिकार होता है। ब्रियर्ली ने हस्तक्षेप को कानूनी तौर से केवल तीन अवस्थाओ मे उचित माना है—आत्मरक्षा, प्रत्यपहार, (Reprisals), सधि द्वारा प्राप्त अधिकार का प्रयोग।[५] वस्तुत राज्य अन्य अनेक कारणो से दूसरे राज्यो मे हस्तक्षेप करते रहे है। यहाँ हस्तक्षेप के कुछ प्रमुख कारणो पर सक्षिप्त विचार किया जायगा।

(१) आत्मरक्षा (Self-defence)—व्यक्ति की भाति एक राज्य को वास्तविक अथवा सम्भावित आक्रमण से रक्षा करने का पूरा अधिकार है। सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर की धारा ५१ मे "सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा के उपायो को अवलम्बन करने से पहले तक" दूसरे राज्य के सशस्त्र आक्रमण से रक्षा करने का अधिकार राज्यो को दिया गया है।[६] आत्मरक्षा के लिए दूसरे राज्य मे हस्तक्षेप का

---

४. स्टार्क—दी इंट्रोडक्शन टु इंटरनेशनल लॉ, पृ० ८७

५. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० ३१२

६. इसकी विशद व्याख्या के लिए देखिये—ब्रिटिश योअर बुक आफ् इंटरनेशनल ला, १९३१, वाउनली—दी यूज आफ फोर्स इन सैल्फ-डिफेन्स, पृ० १८३ से २६८

सुन्दर उदाहरण १८३७ में कैरोलाइन (Caroline) स्टीमर की घटना है। इस समय कनाडा मे विद्रोह हुआ। इसमे कैरोलाइन नामक अमरीकन जहाज नियाग्रा नदी में से होकर अमरीकन प्रदेश मे विद्रोहियो के लिये सैनिक तथा रणसामग्री को लाकर उनकी सहायता करता था। अमरीकन सरकार अपने प्रदेश मे होने वाले इस अवैध कार्य को या तो बन्द नही करना चाहती थी या बन्द कर सकने मे असमर्थ थी। इस पर कनाडियन सैनिको ने नियाग्रा नदी की सीमा पार की, अमरीकन नागरिको मे सघर्ष किया और विद्रोहियों को मदद पहुँचाने वाले कैरोलाइन जहाज को नियाग्रा के जलप्रपात मे बहाकर नष्ट कर दिया। इसके बाद दोनो राज्यो म हुए वाद-विवाद मे सयुक्त राज्य अमरीका ने इस बात से इन्कार नही किया कि उपर्युक्त परिस्थितियो मे यह हस्तक्षेप उचित था। ग्रेट ब्रिटेन का कहना था कि अत्यावश्यक गम्भीर परिस्थितियो के कारण उनका कार्य समुचित था। दोनो म मतभेद केवल इस घटना के तथ्यो के बारे मे था। इस विषय मे अमरीकन विधिशास्त्री हाइड (Hyde) ने ठीक ही लिखा है—'ब्रिटिश सेना ने वही कार्य किया, जो सयुक्त राज्य स्वय करता, बशर्ते कि इसके पास अपना कर्त्तव्य पूरा करने के साधन और इच्छा होती।"

इस मामले मे आत्मरक्षा के सिद्धान्त का निर्धारण करते हुए अमरीकन विदेश-मत्री डेनियल वैबस्टर (Daniel Webster) ने कहा था, "आत्मरक्षा की आवश्यकता के लिए यह सिद्ध करना अनिवार्य है कि यह 'तात्कालिक और प्रचुर' (Instant and overwhelming) है तथा किसी अन्य साधन का विकल्प छोडने वाली या विचार के लिए समय देने वाली नही है। दूसरी शर्त यह है कि इसमे की गई कार्यवाही बहुत अधिक या अयुक्तियुक्त नही होनी चाहिये। आत्मरक्षा की आवश्यकता द्वारा उचित ठहराया गया कार्य इस आवश्यकता के अनुरूप सीमित होना चाहिये।" उदाहरणार्थ, उपर्युक्त घटना मे ब्रिटिश सेनाये कैरोलाइन का नष्ट करके अपनी सीमा मे लौट आई, उनका यह कार्य सर्वथा समुचित था, किन्तु यदि वे इससे आगे बढकर अमरीकन प्रदेश पर अधिकार करने का कार्य करती तो यह हस्तक्षेप अनुचित होता। प्राय आत्मरक्षा मे सफलता पाने के बाद शत्रु के प्रदेश को अधिकाधिक हथियाने की इच्छा स्वाभाविक होती है। अत इस विषय मे इस प्रतिबन्ध का बहुत महत्त्व है। १९३१ मे जापान द्वारा मचूरिया मे हस्तक्षेप करने का पहला अवसर भले ही आत्मरक्षा की दृष्टि से समुचित हो, किन्तु इसके बाद चीन म उसके अपने साम्राज्य के विस्तार के कार्य आत्मरक्षा की दृष्टि से उचित नही माने जा सकते।

अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री हस्तक्षेप के लिये आवश्यक आत्मरक्षा (Self-defence) को उपर्युक्त अर्थ मे सीमित नही समझते, वे इस आत्मसरक्षण (Self-preservation) के रूप मे विशद करना चाहते हैं। उनके मतानुसार आत्मसरक्षण प्रत्येक राज्य का मौलिक अधिकार है। हाल के शब्दो में "सुव्यवस्थित समाजो मे रहने वाले व्यक्तियो तक को आत्मसरक्षण का पूर्ण अधिकार होता है। स्वतन्त्र राज्यो के साथ भी ऐसा ही है, उन्हे सब अवस्थाओं म अपनी रक्षा का अधिकार है। अन्ततोगत्वा

राज्यो के सब कर्त्तव्य आत्मसरक्षण मे समा जाते है।"[७]

ब्रियर्ली ने हस्तक्षेप के लिए आत्मसरक्षण की उपर्युक्त व्यापक परिभाषा की आलोचना करते हुए यह सत्य ही लिखा है कि यदि इस प्रकार की व्याख्या सही मानी जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के प्रत्येक कार्य को न्यायोचित सिद्ध किया जा सकता है। २ अगस्त १९१४ को जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता का भग करते हुए उस पर आक्रमण का जघन्य कार्य किया, किन्तु आत्मसरक्षण की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार इसे कानूनी दृष्टि मे उचित सिद्ध किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे अनैतिक सिद्धान्त को स्वीकार नही कर सकता। इस विषय मे हाल द्वारा प्रतिपादित व्यक्तियो के आत्मसरक्षण के अधिकार को राष्ट्रीय कानून का उदाहरण बनाना ठीक नही है, क्योकि व्यक्तियों को भी इस अधिकार के कारण दूसरे व्यक्तियो की हत्या करने का अधिकार नही। ब्रियर्ली द्वारा दिए गए कुछ उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जायगी। लार्ड बेकन ने एक बार ऐसे उदाहरण की कल्पना की थी कि समुद्र मे एक जहाज का विध्वस हो जाने पर उसके दो यात्री एक तख्ते को पकड लेते है। किन्तु वह तख्ता दो व्यक्तियो का बोझ नही उठा सकता, अत एक व्यक्ति दूसरे को उससे हटाकर समुद्र मे ढकेल देता है, इङ्गलिश कानून की दृष्टि से उसका यह कार्य हत्या समझा जायगा, आत्मसरक्षण की युक्ति के आधार पर इसे न्यायोचित नही ठहराया जा सकता। एक अन्य मामले R. v Dudley and Stephens 1884 मे समुद्र मे तूफान से बही जाने वाली किश्ती मे दो व्यक्ति तथा एक लडका सवार थे, कई दिन बाद जब उनकी भोजन सामग्री और जल समाप्त हो गया तो उन दोनो व्यक्तियो ने बच्चे को मारकर खा लिया। बाद मे इन्हे हत्या का दण्ड दिया गया, यद्यपि जूरी ने यह स्वीकार किया कि यदि यह बच्चा न खाया जाता तो तीनो व्यक्ति मर जाते। 'विलियम ब्राउन' (William Brown) जहाज मे भी इससे सादृश्य रखने वाली घटना हुई। इस जहाज के आइसबर्ग से टकराने पर इसकी सवारियाँ किश्तियो मे उतारी गईं, एक किश्ती चू रही थी, उसमे ज्यादा सवारियाँ लद गईं, इन सब के डूबने का डर था, एक व्यक्ति ने किश्ती का बोझ हलका करने के लिए कुछ यात्रियों को समुद्र मे ढकेल दिया, इस व्यक्ति को न्यायालय ने हत्या का अपराधी माना। उपर्युक्त दोनो उदाहरण आत्मसरक्षण के है, यदि राष्ट्रीय कानून मे वास्तव मे कोई ऐसा अधिकार होता तो उपर्युक्त व्यक्ति हत्या के दोषी न ठहराये जाते। उपर्युक्त दोनो अवस्थाओ मे ये कार्य रक्षात्मक (Defensive) नही थे क्योकि वे ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध किए गए थे, जिनसे किसी प्रकार का कोई खतरा नही था। अत राष्ट्रीय कानून प्रत्येक दशा मे व्यक्ति को आत्मसरक्षण का अधिकार नही देता, बल्कि यह कुछ अवस्थाओ मे मर जाना उसका कानूनी कर्त्तव्य समझता है। इस अवस्था मे हाल द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय कानून के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे आत्मसरक्षण के सिद्धान्त को मानना भ्रान्तिपूर्ण है।[८]

---

७. हाल—इण्टरनेशनल ला, अष्टम सस्करण, पृ० ६५ तथा ३२७

८. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१७–८

यह सत्य है कि १९३२ मे जापान ने आत्मसरक्षण के नाम पर चीन पर आक्रमण किया था, रूस ने १९३९ मे फिनलैंड पर हमला किया, १९५० मे चीन ने इसी आधार पर कोरिया और तिब्बत के मामलो मे हस्तक्षेप किया और १९५६ मे रूस ने हगरी के मामले मे दखल दिया। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन कार्यों को न्याय्य नही ठहराया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आत्मरक्षा के लिए हस्तक्षेप तभी न्यायोचित है, जब खतरा बिलकुल सामने तथा तात्कालिक हो, इसे हटाने का अन्य कोई उपाय न हो, तथा स० रा० सघ ने इस विषय मे कोई कार्यवाही न की हो।

(२) सन्धि के अधिकारो को लागू करना (Enforcement of Treaty Rights)—ब्रियर्ली ने इसका उदाहरण १९०३ की हवाना की सन्धि दी है। इसके अनुसार क्यूबा ने यह स्वीकार किया था कि स० रा० अमरीका उसकी स्वतन्त्रता के सरक्षण के लिए तथा कुछ अन्य अवस्थाओ मे हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता है। स० रा० अमरीका ने कई बार इस अधिकार का प्रयोग किया, किन्तु १९३४ की सन्धि द्वारा उपर्युक्त सन्धि को रद्द कर दिया गया। १८६३ की सन्धि के अनुसार फ्रास, रूस और ग्रेट ब्रिटेन ने यूनान की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी थी, १९१६ मे उन्होने यहाँ वैधानिक सरकार पुन स्थापित करने के लिए हस्तक्षेप किया।

(३) मानवीयता (Humanity)—लारेन्स ने मानवीयता को हस्तक्षेप का न्यायोचित कारण माना है। इसके कुछ प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित है—१८७८ ई० मे रूस ने टर्की के खलीफा की सरकार द्वारा बल्गारिया मे ईसाइयो पर होने वाले भीषण अत्याचारो के प्रतिरोध के लिए उसके विरुद्ध युद्ध छेडा था। हिटलर द्वारा यहूदियो पर किये गए अत्याचारो के कारण अन्य देशो ने जर्मनी की बहुत भर्त्सना की थी और न्यूरेम्बर्ग मे अनेक युद्धापराधियो पर यहूदियो पर अत्याचार करने का आरोप लगाया गया था। दक्षिणी अफ्रीका की जातीय भेदभाव (Appartheid) की नीति के विषय मे स० रा० सघ ने १९५२ मे तीन व्यक्तियो का आयोग बनाया था, २१ मार्च १९६० को शार्पविल्ले मे रगभेद के पास कानूनो (Pass Laws) के विरुद्ध प्रदर्शनकारियो के अफ्रीकी सरकार द्वारा उग्र दमन पर समूचे सभ्य जगत् ने भीषण रोष प्रकट किया और सुरक्षा परिषद् ने इस विषय म दक्षिण अफ्रीका की निन्दा का प्रस्ताव पास किया। स० रा० सघ द्वारा जातिवध और शरणार्थियो के दर्जे के सम्बन्ध मे किये गए समझौते इस दृष्टि से किये गए है कि बिना किसी जातीय भेदभाव के सब मनुष्यो को समान अधिकार प्राप्त हो।

(४) शक्ति-सतुलन (Balance of Power)—१६४८ मे वैस्टफोलिया की सन्धि के बाद से यूरोप की राजनीति का यह मुख्य सिद्धान्त रहा है कि कोई भी राज्य अन्य राज्यो की अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति-सम्पन्न न हो, सब राज्यो मे शक्ति-सतुलन बना रहे। १६४८ की यूट्रैक्ट की सन्धि के, १८१६ की वियना काग्रेस के, १८५६ की पेरिस काग्रेस के, १८७८ की बर्लिन काग्रेस के अधिकाश निर्णय इसी सिद्धान्त के आधार पर किये गए। १८५६ का क्रीमिया युद्ध ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास द्वारा टर्की के साम्राज्य को सुरक्षित रखने की दृष्टि से किया गया था, ताकि इसे दबाकर रूस दक्षिण-पूर्वी

योरोप मे अधिक शक्तिशाली न हो जाय। बाल्कान प्रदेश मे प्रभुता के लिए १६वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे आस्ट्रिया तथा रूस मे प्रबल होड थी, इस प्रदेश के राज्यो मे अधिकाश हस्तक्षेप इन दोनो के तथा ग्रेट ब्रिटेन के शक्तिसतुलन को बनाये रखने के लिए किये गए। १८८६ मे तथा १८९७ मे ग्रीस और टर्की के मामलो मे महाशक्तियो ने इस उद्देश्य से हस्तक्षेप किया। १९१३ मे अल्बानिया का स्वतन्त्र राज्य बनाने के लिए टर्की मे दखल दिया गया। इन सभी हस्तक्षेपो मे योरोपियन राज्यों के उद्देश्य बडे स्वार्थपूर्ण थे और उन्होंने छोटे राज्यों के हितो को अपने हितो की पूर्ति के लिए बलिदान करने मे सकोच नही किया। अत यह ठीक ही कहा गया है कि "लुटेरे राज्य यदि लूट के बँटवारे पर पहले ही सहमत हो जाय तथा इन मामलो मे कम दिलचस्पी लेने वाले पडोसी राज्यों को चुप करा सके तो उनकी लूट का शिकार बनने वाले देश अपनी रक्षा नही कर सकते थे।"

(५) **वित्तीय कारणों से हस्तक्षेप** (Intervention due to financial reasons)—कई बार किसी देश के दिवालिया होने या उसकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब होने पर उसे कर्ज देने वाले देश उसके मामलो मे हस्तक्षेप करते है। पिछली शताब्दी मे यह योरोपियन शक्तियां द्वारा अफ्रीका तथा एशिया मे साम्राज्य विस्तार करने का एक प्रभावशाली उपाय था। मिश्र इसी कारण पराधीनता के पाश मे जकडा गया, वह इङ्गलैंड और फ्रास का कर्जदार था, इन दोनो देशो ने कर्ज की अदायगी के लिए इस पर द्वैध (Dual) नियन्त्रण स्थापित किया। १८८२ मे फ्रास इस मामले से पीछे हट गया और इङ्गलैंड ने मिश्र पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली।

(६) **गृहयुद्धों मे हस्तक्षेप** (Intervention in Civil Wars)—किसी राज्य मे विद्रोह होने की दशा मे पडोसी राज्यो पर उसका प्रभाव पडना स्वाभाविक ही है। क्या इस अवस्था मे पडोसी राज्यो को दूसरे राज्य के आतरिक मामला मे हस्तक्षेप करना उचित है? १८१५ की वियना काग्रेस ने योरोप मे फ्रेंच क्राति की विरोधी भावनाओं को पुष्ट करने वाले, लोकतत्र और राष्ट्रीयता की अवहेलना करने वाले राज्यो की स्थापना की थी, इन भावनाओ के दमन के लिए आस्ट्रिया, रूस और प्रशिया के राजाओं ने पवित्र सघ (Holy Alliance) बनाया। आस्ट्रिया का प्रधानमत्री मैटरनिख लोकतत्र और राष्ट्रीयता के प्रसार को छूत की बीमारी की तरह योरोप के राज्यो मे फैलने से रोकना चाहता था। उसके नेतृत्व मे १८२० मे ट्रोप्पो के प्रोतोकोल (Protocol of Troppau) मे किसी देश मे क्राति होने पर इसमे दूसरे राज्यों द्वारा हस्तक्षेप का अधिकार माना गया। इसके अनुसार १८२१ मे नेपल्ज और लम्बार्डी के राज्यो मे क्राति होने पर आस्ट्रिया ने, तथा स्पेन मे क्राति होने पर फ्रास ने अपनी सेनाए भेज कर क्रातिकारियों का दमन किया और निरकुश स्वेच्छाचारी शासको का समर्थन किया। १८२७ मे ग्रेट ब्रिटेन, रूस और फ्रास ने यूनान को स्वतत्र कराने के लिए हस्तक्षेप किया। १८४९ में रूस ने आस्ट्रिया को हगरी का विद्रोह दबाने मे सैनिक सहायता प्रदान की। १९३४ ३८ के स्पेन के गृहयुद्ध मे जर्मनी तथा इटली की सरकारो ने स्पेन की गणराज्यवादी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले जनरल फ्राको को

बहुमूल्य मदद पहुँचाई। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर ग्रेट ब्रिटेन, यूगोस्लाविया, अल्बानिया और बल्गारिया ने यूनान के गृहयुद्ध में विभिन्न पक्षों को सहायता दी।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से महाशक्तियाँ उपर्युक्त सभी कारणों से दूसरे राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करती रही हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि मे केवल बियर्ली और स्टार्क द्वारा बताई गई उपर्युक्त परिस्थितियों मे ही हस्तक्षेप किया जा सकता है।

मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine)—कुछ राज्य हस्तक्षेप सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अपर्याप्त समझते हुए अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किसी विशेष क्षेत्र में अन्य राज्यों को हस्तक्षेप न करने की घोषणा और चेतावनी देते हैं। इस प्रकार की सबसे प्रसिद्ध घोषणा स० रा० अमरीका के राष्ट्रपति मनरो ने १८२३ मे कांग्रेस को भेजे अपने संदेश मे की थी। उस समय अमरीका को दो ओर से योरोपियन राज्यों द्वारा नई दुनिया के मामलों में हस्तक्षेप का खतरा था। अलास्का रूस के अधिकार मे था और वह अमरीका के उत्तर पश्चिमी तट मे अपने अतिरिक्त अन्य सभी देशों के जहाजों को हटाने का प्रयत्न कर रहा था। दूसरा कारण योरोप मे रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया के सम्राटों द्वारा उदार, लोकतन्त्रीय तथा राष्ट्रीयता के विचारों वाली क्रांतियों का विविध राज्यों में दमन करने के लिये 'पवित्र सघ' (Holy Alliance) का संगठन था। यह फ्रांस द्वारा स्पेन मे क्रांति की आग बुझा चुका था, अब दक्षिण अमरीका के स्पेनिश प्रदेशों मे स्पेन की प्रभुता के विरुद्ध क्रांति की चिंगारियाँ भड़कने लगी थीं। 'पवित्र सघ' के राज्य इनका भी दमन करना चाहते थे। इन्हें इस कार्य से पृथक् रहने पर बल देते हुए राष्ट्रपति मनरो के उपर्युक्त संदेश में यह कहा गया था—(१) अमरीकन महाद्वीप के प्रदेश स्वतन्त्र और स्वाधीन स्थिति प्राप्त कर चुके हैं। अब भविष्य मे ये प्रदेश किसी योरोपियन शक्ति द्वारा भावी उपनिवेशन का विषय नहीं बनाये जायगे। (२) हमने योरोपियन शक्तियों की लड़ाइयों में तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले विषयों में कभी कोई भाग नहीं लिया और न ही ऐसा भाग लेने की हमारी इच्छा है। (३) स० राज्य अमरीका ने, योरोप के युद्धों मे कभी हस्तक्षेप नहीं किया और न ही कभी वह ऐसा हस्तक्षेप करेगा। किन्तु वह अपनी शान्ति और सुख के हितों की दृष्टि से योरोपियन शक्तियों को इस बात की अनुमति नहीं दे सकता कि "वे अमरीका के किसी भाग मे अपनी राजनीतिक पद्धति का विस्तार करें तथा दक्षिण अमरीकी गणराज्यों की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करें। यदि वे इस गोलार्द्ध के किसी हिस्से मे अपनी राजनीतिक पद्धति के प्रसार का कोई प्रयास करेंगे तो हम इसे अपनी शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरनाक समझेंगे।" इसमे से पहली बात रूस के अलास्का मे आगे बढ़ने के विरुद्ध चेतावनी थी और तीसरी बात का उद्देश्य 'पवित्र संघ' के राज्यों को यह बताना था कि वे स्पेन की प्रभुता से मुक्त हुए दक्षिण अमरीकी राज्यों को दुबारा स्पेन का गुलाम बनाने की कोई चेष्टा न करें। राष्ट्रपति मनरो द्वारा इस नीति की घोषणा होने के कारण यह 'मनरो सिद्धान्त' कहलाता है।

मनरो सिद्धान्त अमरीकन विदेश नीति का प्रमुख आधार रहा है और

आवश्यकता पड़ने पर इससे अनेक नये अनुमान और परिणाम निकाले गये है। १८४८ में राष्ट्रपति पोक (Polk) ने इसकी यह व्याख्या की थी कि यह एक गैर-अमरीकन राज्य को अमरीकन भूमि के स्वेच्छापूर्वक हस्तान्तर करने से रोकता है। १८९५ मे राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड ने यह घोषणा की कि इस सिद्धान्त के अनुसार उसे ब्रिटिश गायना तथा वेनेजुएला के मध्य वास्तविक सीमान्त रेखा निर्धारित करने का अधिकार है। इस अवसर पर अमरीकी विदेशमन्त्री श्री ओलनी (Olney) ने यहां तक घोषणा की कि इस गोलार्द्ध मे स० रा० अमरीका लगभग 'प्रभु' (Sovereign) है और उसका 'आदेश ही कानून' है। १९०४ मे राष्ट्रपति थियोडोर रूजवैल्ट ने यह दावा किया कि इस सिद्धान्त से स० रा० अमरीका को 'अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की शक्ति' के अधिकार मिले है। ब्रियर्ली ने लिखा है कि कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होने लगा कि जो सिद्धान्त दक्षिण अमरीका के राज्यो मे योरोपियन हस्तक्षेप को रोकने के उद्देश्य से बनाया गया था, अब उसका एकमात्र प्रयोजन इन देशों मे हस्तक्षेप का अनन्य अधिकार स० राज्य को प्रदान करता है। कई बार स० राज्य अमरीका ने इसके आर्थिक पहलू पर बहुत बल दिया है और इस गोलार्द्ध मे अन्य शक्तियों के आर्थिक प्रभाव की वृद्धि पर रोष प्रकट किया है। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से **उत्तम पड़ोसी की नीति** (Good Neighbour Policy) **अंगीकार करने पर** स० रा० अमरीका ने इस सिद्धान्त को अपने मूल रूप मे लागू करने का यत्न किया है।[९]

मनरो सिद्धान्त का अनुसरण स० रा० अमरीका ने अपने हितो की पूर्ति के उद्देश्य से किया है। ब्रियर्ली के शब्दो मे "यह अपने आप मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल नही है, किन्तु यह निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम नही है।" स० रा० संघ के चार्टर मे प्रादेशिक समझौता के रूप मे इस सिद्धान्त को कुछ अंशो मे स्वीकार किया गया है।

जापान ने अपने प्रभाव-क्षेत्रो मे मनरो सिद्धान्त जैसी नीति अपनाई थी। १९३४ से १९४१ तक जापान चीन मे तथा सुदूर-पूर्व मे अपने लिये वैसी विशेष स्थिति का दावा करता था, जैसा मनरो सिद्धान्त मे स० राज्य अमरीका के लिए किया गया था।

ड्रेगो तथा नेहरू सिद्धान्त (Drago and Nehru Doctrines)—१९०२ मे अर्जेण्टायना का विदेशमन्त्री श्री लुइस ड्रेगो था। उस समय ग्रेट ब्रिटेन तथा जर्मनी ने अपने नागरिको के ऋणो को वेनेजुएला से वसूल करने के लिए उसका शान्तिपूर्वक परिवेष्टन (Blockade) किया हुआ था। यह उस राज्य के मामलो मे प्रबल हस्तक्षेप था। ड्रेगो ने इसका प्रतिवाद करते हुए यह घोषणा की कि किसी राज्य को अपने नागरिको का ऋण दूसरे राज्य से वसूल करने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिये, यदि कोई राज्य किसी अन्य राज्य के सार्वजनिक ऋण अदा नही करता तो यह उसे उस राज्य मे हस्तक्षेप का अधिकार नही प्रदान करता। उसके मतानुसार ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्वीकार करने का परिणाम शक्तिशाली राज्यो

९. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८८

द्वारा निर्बल राष्ट्रों का विनाश होगा। ड्रेगो केवल सार्वजनिक ऋण वसूल करने के लिये सैनिक शक्ति के प्रयोग का घोर विरोधी था। यह सिद्धान्त उसी के नाम पर **ड्रेगो सिद्धान्त** कहलाता है। १९०७ के हेग समझौते में इसे स्वीकार कर लिया गया किन्तु इसमें यह संशोधन किया गया कि सशस्त्र हस्तक्षेप तभी किया जा सकता है जब कर्जदार या अधमर्ण देश इस मामले में मध्यस्थ या पंच का प्रस्ताव तथा निर्णय मानना अस्वीकार कर दे।

नेहरू सिद्धान्त मनरो सिद्धान्त की भाँति भारत की पुर्तगाली बस्तियों में लिस्बन का शासन बनाये रखने वाली शक्तियों को यह चेतावनी थी कि इस विषय में उनका कोई भी हस्तक्षेप भारत को सहन न होगा। २६ जुलाई १९५५ को श्री नेहरू ने भारतीय संसद् में यह घोषणा की—"पुर्तगालियों द्वारा गोआ को अपनी प्रभुता में बनाये रखना भारतीय मामलों में निरन्तर दखल देना है। मैं एक कदम आगे बढ़कर कहता हूँ कि किसी अन्य शक्ति द्वारा इस प्रकार का हस्तक्षेप भारत की राजनीतिक पद्धति में हस्तक्षेप करना होगा।"

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में पिछली दशाब्दी में हंगरी में रूस के तथा तिब्बत में चीन के हस्तक्षेप ने कई जटिल प्रश्न उत्पन्न किये हैं। अतः यहाँ संक्षेप में इन दोनों की चर्चा की जायगी।

<u>हंगरी में रूस का हस्तक्षेप</u> (Russian Intervention in Hungary)—१९५६ में सोवियत रूस ने हंगरी में हस्तक्षेप किया। इसके सम्बन्ध की प्रमुख घटनायें इस प्रकार हैं १९४९ में हंगरी में जनता का गणराज्य (Peoples' Republic) स्थापित हुआ तथा इसका नया संविधान बना। इस समय की सरकार के शासन को अत्याचार-पूर्ण समझते हुए तथा इसके कुशासन से असन्तुष्ट होकर जनता ने अक्टूबर १९५६ में विद्रोह किया एवं गृहयुद्ध छिड़ गया। विद्रोहियों की माँग थी कि इमरे नेगी (Imre Nagy) को प्रधानमन्त्री बनाया जाय। यह प्रधानमन्त्री बना, इसने जनता की माँगें पूरी करते हुए शासन में अनेक सुधार किये तथा स्वतन्त्र चुनाव (Free elections) कराने की आज्ञा दी। सोवियत यूनियन को यह सहन न हुआ तथा शूमैन के शब्दों में रूस ने इसमें हस्तक्षेप किया—"४ नवम्बर १९५६ को रविवार को उषाकाल में हजारों सोवियत टैंक बुडापैस्ट (हंगरी की राजधानी) में तथा अन्य बड़े नगरों में आ गये। सारे विरोध का क्रूरता-पूर्वक दमन किया गया।" इमरे नेगी के मन्त्रिमण्डल को कुचला गया। प्रधानमन्त्री को जान बचाने के लिये यूगोस्लाव दूतावास में शरण लेनी पड़ी। काडार (Kadar) के प्रधानमन्त्रित्व में सोवियत रूस की सहायता से क्रान्तिकारी मजदूरों तथा किसानों की नई सरकार बनी। इस समय के भीषण सरकारी दमन से बचने के लिये १,७५,००० हंगेरियन आस्ट्रिया तथा अन्य देशों में भाग गये और वहाँ शरणार्थी बने।

अमरीकी सरकार ने रूस के हंगरी में हस्तक्षेप का प्रश्न स० रा० संघ की सुरक्षा परिषद् में पेश किया, किन्तु यहाँ रूस ने वीटो का प्रयोग करते हुए इस मामले में आये अमरीकी प्रस्ताव को रद्द कर दिया। इस पर ९ नवम्बर १९५६ को इस विषय पर विचार करने के लिये अमरीका ने जनरल असेम्बली का विशेष अधिवेशन बुलवाया।

इसमें यह प्रस्ताव रखा गया कि रूस हंगरी से अपनी सेनायें हटा ले, ताकि वहाँ सं० रा० संघ की अध्यक्षता में स्वतन्त्र चुनाव हो सके। सोवियत रूस के प्रबल विरोध के बावजूद यह प्रस्ताव दो तिहाई बहुमत से पास हो गया। १६ नवम्बर १६५६ को रूस के विदेश-मन्त्री ने यह आश्वासन दिया कि हंगरी में स्थिति सामान्य होते ही रूसी फौजें वापिस बुला ली जाएंगी। १२ दिसम्बर १६५६ को एक प्रस्ताव में जनरल असेम्बली ने रूस की निन्दा इसलिये की कि उसने 'हंगरी की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का अपहरण करके, हंगेरियन जनता के मौलिक अधिकारों में बाधा डालकर चार्टर का उल्लंघन किया है।' १० जून १६५६ को असेम्बली ने हंगरी की स्थिति के अन्वेषण के लिये पाँच सदस्यों की विशेष समिति बनाई। इस समिति ने हंगरी से भाग कर आये सौ व्यक्तियों से भेंट की और अपनी जाँच के आधार पर सोवियत रूस को हंगरी में हस्तक्षेप का दोषी ठहराया (२० जून १६५७)।

इस विषय में यह विचारणीय है कि इस मामले में सोवियत रूस का हस्तक्षेप क्या वैध एवं न्यायोचित था। सोवियत रूस के प्रतिनिधि शेपिलोव ने १६ नवम्बर १६५६ को अपनी सरकार का दृष्टिकोण रखते हुए कहा था—"हमें इस बात का ध्यान रखना है कि हंगरी की सीमा सोवियत यूनियन के साथ लगी हुई है, हंगरी ने रूस के साथ पारस्परिक सहायता और सहयोग की वारसा संधि (Warsaw Pact) की हुई है। हंगरी में यदि प्रतिगामी शक्तियों की विजय होती है तो वे इसे न केवल सोवियत यूनियन के विरुद्ध अपितु पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के विरुद्ध भी हमला करने का अड्डा बना लेंगे।" सोवियत रूस की ओर से इस हस्तक्षेप को न्यायोचित सिद्ध करने के लिये कई युक्तियाँ दी जाती हैं। पहली युक्ति यह है कि सोवियत यूनियन ने हंगरी के प्रधानमंत्री इमरे नेगी तथा कादार द्वारा सहायता की प्रार्थना करने पर ही अपनी फौजी मदद भेजी है। दूसरी युक्ति यह है कि वारसा संधि के कारण सोवियत रूस किसी भी आक्रमण के विरुद्ध हंगरी की सहायता करने के लिये वचनबद्ध है। इस संधि का पालन करने के लिये वहाँ सेना भेजना आवश्यक था। तीसरी युक्ति आत्मरक्षा की है। यह कहा जाता है कि हंगरी में गृहयुद्ध से सोवियत संघ की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया था, यदि यहाँ प्रतिगामी शक्तियों की विजय हो तो इसे रूस पर आक्रमण का अड्डा बनाया जा सकता था। चौथी युक्ति यह है कि हंगरी का गृहयुद्ध हंगरी की न्याय-पूर्ण, वैध सरकार के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण (Armed attack) था। इससे सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ५१ में वर्णित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया था। इसे दूर करने के लिये किया गया रूसी हस्तक्षेप चार्टर के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है।

किन्तु इसके विपरीत रूसी हस्तक्षेप को अवैध मानने वालों की युक्तियाँ इस प्रकार हैं: (१) सं० राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा ५१ में वर्णित सशस्त्र आक्रमण एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर होना चाहिए। हंगरी में ऐसी स्थिति नहीं थी। यह उस राज्य के दो दलों में झगड़ा था, अतः यहाँ किसी विदेशी शक्ति द्वारा ऐसा कोई आक्रमण या हस्तक्षेप नहीं था, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा हो और जिसे रोकने के

लिगे रूस द्वारा फौजें भेजना जरूरी हो। (२) हगरी के गृहयुद्ध से रूस की शान्ति और सुरक्षा को कोई खतरा नही था। (३) सोवियत सघ ने वारसा सधि की शर्तों के सर्वथा प्रतिकूल हगरी मे हस्तक्षेप किया क्योकि इस सधि मे कहा गया था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले सब देश एक-दूसरे की प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता का आदर करेंगे, एक-दूसरे के घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप नही करेंगे। (४) सोवियत सघ का हस्तक्षेप अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के प्रतिकूल है। यह कानून आत्मरक्षा के लिये ऐसे हस्तक्षेप की अनुमति नही देता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रसिद्ध विद्वान् हाइड ने लिखा है कि दूसरे राज्य में कोई हस्तक्षेप इसलिए वैध नही हो सकता कि यह किसी सधि की शर्त को पूरा करने के लिये अथवा सघर्ष करने वाले किसी दल की प्रार्थना पर किया गया है। ऐसा हस्तक्षेप सदैव अवैध रहता है। अत इन कारणों से सोवियत सघ का हगरी मे हस्तक्षेप अनावश्यक और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो के प्रतिकूल था।

तिब्बत मे चीन का हस्तक्षेप—पहले तिब्बत चीन मे सर्वथा स्वतन्त्र राज्य था। १७२० ई० में छठे दलाई लामा के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे मगोलों और तिब्बतियो मे झगडा होने पर चीन के माचू सम्राट् काग हसी (Kang Hsi) ने तिब्बत में सेना भेजकर इसकी राजधानी ल्हासा पर अधिकार कर लिया तथा तिब्बत पर चीन का आधिपत्य (Suzerainty) माना जाने लगा। किन्तु माचू वश निर्बल होने पर यह आधिपत्य नाममात्र का ही रह गया। सितम्बर १९०४ में भारत की ब्रिटिश सरकार तथा तिब्बत मे एक सधि हुई। इससे तिब्बत ने ब्रिटिश सरकार को तिब्बत मे प्रभुसत्ता के कुछ अधिकार दिये। इसकी धारा ९ के अनुसार तिब्बत ग्रेट ब्रिटेन की अनुमति के बिना अपना प्रदेश किसी दूसरी शक्ति को नही दे सकता था, विदेशी शक्तियाँ इसमें कोई हस्तक्षेप नही कर सकती थी, वह विदेशी राज्यो अथवा उनके प्रजाजनो को अपने देश में प्रवेश की अनुमति नही दे सकता था, उन्हे किसी प्रकार की आर्थिक सुविधायें भी नही दे सकता था। इस सधि मे चीन का कोई उल्लेख नही था। किन्तु १९०६ मे तिब्बत को चीन तथा ग्रेट ब्रिटेन के आधिपत्य मे माना गया। १९११ मे चीन ने तिब्बत पर हमला किया और दलाई लामा ने भारत में शरण ली। १९१२ म तिब्बत ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। परन्तु ३ जुलाई १९१४ को ग्रेट ब्रिटेन, चीन तथा तिब्बत की सधि की धारा २ के अनुसार यह स्वीकार किया गया कि तिब्बत चीन के आधिपत्य म है। १९२६ मे भारत ने तिब्बत से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया तथा इस पर चीनी आधिपत्य नाममात्र ही रह गया। उन्होंने खम प्रान्त से चीनियो का खदेड दिया।

*द्वितीय विश्वयुद्ध मे तिब्बत के दर्जे के सम्बन्ध मे महाशक्तियो मे पर्याप्त मत-*भेद था। ग्रेट ब्रिटेन का यह दावा था कि तिब्बत स्वतन्त्र एव प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य है, उन्होंने युद्ध करके चीन से स्वाधीनता प्राप्त की है। अमरीकी सरकार का मत था कि तिब्बत चीनी साम्राज्य का भाग है, ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस दोनो इस पर चीन का आधिपत्य स्वीकार कर चुके हैं। इस युद्ध मे चीन को सहायता पहुँचाने का महत्वपूर्ण मार्ग तिब्बत मे से होकर था। तिब्बत नही चाहता था कि चीन को उस प्रदेश मे से

ग्नरने वाले मार्ग से सहायता मिले। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन के दबाव के कारण उसने ऐसा स्वीकार कर लिया, पर यह घोषणा की कि वह स्वतन्त्र प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य है। १९४६ मे चीन के सविधान मे तिब्बत को भी प्रतिनिधित्व दिया गया, किन्तु तिब्बत अपने को स्वतन्त्र समझता था, अत उसका कोई प्रतिनिधि चीन की राष्ट्रीय परिषद् मे नही बैठा।

१९४९ मे चीन मे साम्यवादी शासन स्थापित होने पर पुन तिब्बत-चीन सघर्ष आरम्भ हो गया। चीन ने इसे वशवर्त्ती बनाने के लिये १९५० मे तिब्बत पर आक्रमण किया। चीन का यह दावा था कि उसने यह आक्रमण "३० लाख तिब्बतियो को साम्राज्यवादी अत्याचार मे मुक्त करने तथा चीन के पश्चिमी सीमान्त को सुदृढ करने के लिये किया है।' तिब्बत की सरकार ने इस प्रश्न को स० रा० सघ मे उठाया और यह कहा कि 'तिब्बती जाति सस्कृति और भूगोल की दृष्टि से चीनियो से भिन्न है।" स० रा० सघ ने इस प्रश्न पर विचार उस समय तक स्थगित रखा, जब तक दोनो देशो के मध्य चल रही सधि वार्त्ता का परिणाम न निकले। २५ मई १९५१ को चीन और तिब्बत मे हुए समझौते के अनुसार चीन को तिब्बत के वैदेशिक मामलो के लिये उत्तरदायी माना गया तथा तिब्बत पर चीन का आधिपत्य मान लिया गया। १९५४ मे दलाई लामा तथा पचन लामा ने पेकिंग म चीन की राज्य परिषद् की बैठक मे भाग लिया और यह तय हुआ कि तिब्बत के स्वायत्त प्रदेश (Auto- nomous Region) के लिये एक कमेटी स्थापित की जाय और दलाई लामा इसके सभापति हो। किन्तु कमेटी के हाथ म कोई अधिकार न था, सभी निर्णय चीनियो द्वारा किये जाते थे। इससे तिब्बत मे असन्तोष बढा कई स्थानो पर चीन के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। १९५६ म ये विद्रोह बहुत बढ गए। इस समय चीनियो ने दलाई लामा को बिना मन्त्रियो तथा अगरक्षको के एक सास्कृतिक कार्यक्रम मे सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। इस पर तिब्बत की जनता ने दलाई लामा का महल घेर लिया और यह माँग की कि वह चीनियो का निमन्त्रण अस्वीकार कर दे और तिब्बत की स्वतन्त्रता की घोषणा करे। इस पर चीनी सेनायें ल्हासा मे प्रविष्ट होकर गोली चलाने लगी। दलाई लामा ने तिब्बत से भाग कर भारत म शरण ली (३१ मार्च १९५९)। २० जून को मसूरी से एक वक्तव्य देते हुए दलाई लामा ने बताया कि १९५६ से चीनियो ने तिब्बत मे ६५,००० असैनिक तिब्बतियो की हत्या की है एक बडी सख्या मे इन्हे चीन मे निर्वासित किया है, १००० मठ नष्ट किये है, बौद्धधर्म के उन्मूलन का पूरा प्रयास किया है और ५ लाख चीनी तिब्बत मे बसाये हैं। ९ सितम्बर १९५९ को एक तार द्वारा दलाई लामा ने स० रा० सघ के महामन्त्री को सघ की बैठक मे तिब्बत पर चीन के आक्रमण के १९५० मे स्थगित विषय पर पुनर्विचार करने को कहा। २५ सितम्बर को मलाया तथा आयर्लैण्ड ने इस विषय म एक प्रस्ताव उपस्थित किया, इसमे यह कहा गया था कि तिब्बत मे वहाँ की जनता के मौलिक मानवीय अधिकारो तथा स्वतन्त्रताओ का हनन हो रहा है, यह स० रा० के चार्टर तथा १० दिसम्बर १९४८ को असेम्बली द्वारा पास किये मानवीय अधिकारो की सार्वभौम घोषणा के प्रतिकूल है।

तिब्बतियो के "मौलिक मानवीय अधिकारो का, विशिष्ट सास्कृतिक तथा धार्मिक जीवन बिताने के अधिकार का सम्मान किया जाना चाहिये।" इस प्रस्ताव मे असेम्बली से यह कहा गया था कि वह अपनी समूची नैतिक शक्ति से तिब्बत मे शान्ति स्थापित करे और तिब्बती जनता को उनके मौलिक अधिकार प्राप्त कराये। सोवियत सघ के प्रबल विरोध के बावजूद दो दिन की बहस के बाद २१ अक्टूबर को यह प्रस्ताव पास हो गया।

२३ अक्टूबर को पेकिंग रेडियो मे इस प्रस्ताव को 'अवैध, गैरकानूनी तथा चीन को बदनाम करने वाला तथा उसके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने वाला' बताया गया था। किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि चीन का कार्य तिब्बत मे सर्वथा न्यायोचित नही था। उसने १९५१ की सधि का पूरा पालन नही किया, इसके बाद तिब्बत का गला घोटने का प्रयत्न किया। 'तिब्बतियो ने जब हताश और निराश होकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये विद्रोह किया तो उनका भीषण दमन किया गया और उन्हे मानवीय अधिकारो से वचित कर दिया गया।

बारहवाँ अध्याय

क्षेत्राधिकार[1]

(Jurisdiction)

सामान्य रूप से प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश मे निवास करने वाले व्यक्तियो और विद्यमान सम्पत्ति के सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाले सभी कानूनी विवादो को सुनने और निर्णय करने का अधिकार होता है। इस प्रदेश के समूचे क्षेत्र में उसकी प्रभुसत्ता विस्तीर्ण होने से उसे स्वत्व प्राप्त होना स्वाभाविक है। अपने प्रादेशिक क्षेत्र मे इस अधिकार के होने के कारण इसे क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) कहा जाता है। लार्ड मैकमिलन ने इसकी व्याख्या करते हुए इगलैंड के सम्बन्ध मे यह लिखा है—"अन्य सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्यो की भाति इस राज्य की प्रभुसत्ता की यह एक वास्तविक विशेषता है कि इसे अपनी प्रादेशिक सीमाओ के भीतर विद्यमान सभी व्यक्तियो और वस्तुओ पर क्षेत्राधिकार हो तथा इन सीमाओं मे उत्पन्न होने वाले सभी दीवानी और फौजदारी मामलो पर विचार करने का अधिकार हो।" इगलैंड और अमरीका मे किसी व्यक्ति या वस्तु के इनके प्रदेश म विद्यमान होने से ही उन्हे इन पर यह क्षेत्राधिकार प्राप्त हो जाता है। स्टार्क के मतानुसार इन दोनो देशो के चारो ओर समुद्र से घिरे रहने के कारण इस सिद्धान्त का विकास हुआ है। दूसरी ओर योरोपियन महाद्वीप मे राज्यो की स्थलीय या नदियो की सीमाये होने के कारण विभिन्न राज्यो मे अधिक आवागमन और यातायात सम्बन्ध है, अत वहाँ राज्य के अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction) के सिद्धान्त मे कुछ उदारता पायी जाती है।

राज्यो द्वारा अपने प्रदेश मे उपभोग किये जाने वाले क्षेत्राधिकार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून कुछ प्रतिबन्ध लगाता है। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन मे निवास करने वाले दूसरे देशो के राजदूत और उसके प्रादेशिक समुद्र (Territorial sea) मे आने वाले विदेशी जहाज यद्यपि पूर्णरूप से उसकी प्रादेशिक प्रभुसत्ता के क्षेत्र म हैं तथापि वे उस देश के अन्य व्यक्तियो या जहाजो की भाति पूर्ण रूप स उसके क्षेत्राधिकार मे नही हैं, कुछ अशो मे उसके क्षेत्राधिकार की सीमा से बाहर समझे जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यो के

---

१. यह अंग्रेजी के Jurisdiction शब्द का भारतीय सविधान में स्वीकृत किया गया हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी में इस शब्द के दो प्रधान अर्थ होते हैं—(क) किसी विशेष मामले को सुनने और उस पर विचार करने का कानूनी अधिकार या सत्ता। इसे विचाराधिकार कह सकते हैं। (ख) वह क्षेत्र जहाँ तक किसी राज्य या न्यायालय का अधिकार माना जाता है। इसके लिये हिन्दी में पुराना शब्द अधिकारक्षेत्र है।

क्षेत्राधिकार की कुछ मर्यादायें और सीमायें मानता है। इनको न समझने से अनेक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न और विवाद उत्पन्न होते हैं। विभिन्न क्षेत्रों मे राज्य के क्षेत्राधिकार की सीमाओ का सक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है।

प्रादेशिक समुद्र मे क्षेत्राधिकार (Jurisdiction in Territorial Waters)—पहले (पृ० २१०) यह बताया जा चुका है कि राज्य की भूमि के साथ लगा तीन मील तक की चौडाई का समुद्र उसके प्रदेश का अग समझा जाता है। यहाँ तटवर्ती राज्य को पूरी प्रभुसत्ता प्राप्त है, इस पर केवल एक ही मर्यादा या प्रतिबन्ध है, यह इस प्रादेशिक समुद्र मे से दूसरे देशो के जहाजो के निर्दोष गमन का अधिकार (Right of Innocent Passage) है। सब देश शान्तिकाल मे अपने प्रादेशिक समुद्र मे दूसरे देशों के व्यापारिक तथा सामरिक पोतो को गुजरने देते हैं। कोरफू चैनल (Corfu Channel) वाले मामले मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह फैसला किया था कि शान्तिकाल मे दो महासमुद्रों को जोडने वाले अन्तर्राष्ट्रीय महामार्ग बने हुए जलडमरूमध्य के प्रादेशिक समुद्र मे रणपोतो को गुजरने का अधिकार है (देखिये ऊपर पृ० २१७)।

'निर्दोष गमन' का शब्द अपने अधिकारो तथा मर्यादाओ को भलीभाँति सूचित करता है। पहली बात यह है कि यह 'गमन' या गुजरने का अधिकार है, प्रादेशिक समुद्र का प्रयोग दूसरे देशा के जहाज मार्ग के रूप मे कर सकते है। दूसरी शर्त यह है कि यह गमन निर्दोष होना चाहिये, इसका यह अभिप्राय है कि इस तरह गुजरने वाला जहाज नौचालन और बन्दरगाह की व्यवस्था आदि के सम्बन्ध म बनाये गये स्थानीय नियमो का पालन करेगा और ऐसा कार्य नही करेगा, जिससे तटवर्ती राज्य मे शाति-भग का भय हो। इससे यह स्पष्ट है कि तटवर्ती राज्यो को इन जहाजो पर कुछ क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं, किन्तु इसकी मात्रा स्पष्ट और निश्चित नहीं है, इस जहाज पर सवार व्यक्तियो पर तटवर्ती राज्य द्वारा अपने दीवानी और फौजदारी कानून लगाने के बारे मे कुछ सदेह है। इस विषय के कुछ मामलो से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

१८७६ मे एक ब्रिटिश न्यायालय के सम्मुख फ्राकोनिया जहाज का R v Keyn का मामला आया। यह एक जर्मन जहाज था, अपनी उपेक्षा मे यह एक ब्रिटिश जहाज से टकराया, परिणामस्वरूप ब्रिटिश जहाज डोवर से दो मील की दूरी पर समुद्र मे डूब गया, इसमे प्राण हानि भी हुई। फ्राकोनिया के कप्तान पर मानवहत्या के लिये मुकदमा चलाया गया। उस समय तक यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि स प्रादेशिक समुद्र की सीमा तीन मील की चौडाई तक मानी जाती थी, किन्तु पार्लियामेंट ने इस प्रदेश मे विदेशियो द्वारा फौजदारी अपराध करने पर ब्रिटिश न्यायालयों द्वारा उसके सुने जाने का कोई कानून नही बनाया था। इसके अभाव म न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि विदेशी जहाज पर एक विदेशी व्यक्ति द्वारा प्रादेशिक समुद्र मे किये गये फौजदारी अपराध सुनने का क्षेत्राधिकार ब्रिटिश न्यायालयो को नही है। इस निर्णय से अनेक ब्रिटिश विधिशास्त्री स्तब्ध रह गये, इसके दुष्परिणामो को दूर करने के लिये १८७८ का प्रादेशिक समुद्र क्षेत्राधिकार कानून (Territorial Waters Jurisdiction Act) बनाया गया, इसके अनुसार ब्रिटिश न्यायालयो को तीन मील की समुद्री सीमा के भीतर

हुए अपराधों की सुनने का क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया। यदि ये अपराध विदेशी नागरिक द्वारा किये गये हों तो विदेशमन्त्री की अनुमति से ही उसके विरुद्ध मामला चलाया जा सकता है।

दीवानी मामलों के सम्बन्ध में विदेशी जहाजों की तटवर्ती राज्य के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति का सिद्धान्त Chief capitano के मामले में स्वीकार किया गया था। यह एक ब्रिटिश जहाज था। जब यह स० रा० अमरीका के प्रादेशिक समुद्र में से गुजर रहा था तो एक अमरीकन कारपोरेशन ने इसके मालिकों से कुछ राशि वसूल करने के लिए इसे पकड़वा दिया। अमेरिकन न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि इस जहाज को अवैध रूप से पकड़ा गया है।

१६३० में हेग के सहिताकरण सम्मेलन (Hague Codification Conference) ने इस विषय में निम्नलिखित नियम बनाये थे —(१) तटवर्ती राज्य को अपने प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने वाले किसी जहाज पर घटित हुए अपराध के विषय में उस समय तक कोई गिरफ्तारी या जाँच नहीं करनी चाहिये, जब तक कि इस अपराध के प्रभाव जहाज की सीमा से बाहर न पड़े या अपराध से तटवर्ती देश की शांति के भंग का भय या प्रादेशिक समुद्र की सुव्यवस्था की हानि न हो या जब तक जहाज के कप्तान द्वारा स्थानीय अधिकारों की सहायता लेने की प्रार्थना न की गई हो (धारा ८)। (२) धारा ६ के अनुसार कोई तटवर्ती राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने वाले जहाज की गिरफ्तारी या मार्ग परिवर्तन इसलिए नहीं कर सकता कि उस पर सवार किसी व्यक्ति के विरुद्ध दीवानी कार्यवाही की जा सके। (३) तटवर्ती राज्य किन्हीं दीवानी कार्यवाहियों को पूरा कराने के उद्देश्य से जहाज को उस समय तक नहीं पकड़ सकता, जब तक कि ये कार्यवाहियाँ ऐसे दायित्वों के सम्बन्ध में हों, जिन्हें जहाज ने इस राज्य के प्रादेशिक समुद्र की यात्रा में या इस यात्रा के उद्देश्य में ग्रहण किया हो।

"तैरते टापू" का सिद्धान्त (The Principle of Floating Island)—कुछ विधिशास्त्रियों का यह मत है कि किसी राष्ट्र की ध्वजा फहराने वाला जहाज क्षेत्राधिकार की दृष्टि से उस राष्ट्र के प्रदेश का अंग समझा जाना चाहिए। यह जहाज चाहें महासमुद्र में हो या प्रादेशिक समुद्र में, इसे ध्वजा वाले देश का तैरता हुआ टापू समझना चाहिए और इसमें ध्वजा वाले देश का कानून लागू होता है और इस पर होने वाले अपराधों की सुनवाई का अधिकार उसी देश को है।

किन्तु इस सिद्धान्त को न्यायालयों तथा प्रमुख विधिशास्त्रियों ने स्वीकार नहीं किया। १६४१ में R v Gordon-Finlayson के मामले में ब्रिटिश न्यायालय ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा था—"जहाज अपनी ध्वजा वाले राज्य का अंग नहीं हो सकता, यद्यपि इस जहाज पर उस राज्य का क्षेत्राधिकार अपने प्रदेश की भाँति होता है।" ब्रियर्ली ने इस पर यह आक्षेप किया है[२] कि इसे मान लेने के बड़े बेहूदा परिणाम होंगे। यदि यह जहाज अपने ध्वजराज्य का प्रदेश है तो इस जहाज के चारों

२. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० २३८-९

ओर तीन मील तक का सागर क्या प्रादेशिक समुद्र माना जायगा ? यह प्रदेश जहाज की यात्रा के साथ बदलता रहेगा, दो विभिन्न देशों के जहाजो की टक्कर होने पर बडी कठिनाई उत्पन्न होगी।" हाल ने भी इस सिद्धान्त की कडी आलोचना की है।[३] अत इस सिद्धान्त को सत्य नही माना जाता।

बन्दरगाहो मे क्षेत्राधिकार (Jurisdiction in Ports)—बन्दरगाह राज्य के प्रदेश का अग है, यहाँ राज्य की प्रादेशिक प्रभुता होने हुए भी, इसमे प्रविष्ट होने वाले विदेशी जहाजो के बारे मे विशेष नियम है।[४] व्यापारी जहाजो पर बन्दरगाह मे प्रवेश करते ही स्थानीय कानून लागू हो जाते है। किन्तु यदि कोई जहाज समुद्री तूफान से प्रताड़ित होकर विवशता की दशा मे बन्दरगाह मे शरण लेता है तो उसे स्थानीय क्षेत्राधिकार से मुक्त समझा जाता है, किन्तु इसे किसी स्थानीय नियम या कानून का उल्लंघन नही करना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन की परम्परा के अनुसार ब्रिटिश बन्दरगाहों मे आने वाले व्यापारी जहाजो पर उसका पूरा क्षेत्राधिकार माना जाता है। फौजदारी मामलों मे ब्रिटिश अधिकारी सामान्य रूप से तब तक हस्तक्षेप नही करते, जब तक उनसे सम्बद्ध देशो के वाणिज्य दूत (Consuls) या अन्य प्रतिनिधि इसके लिए प्रार्थना नही करते। स० रा० अमेरिका मे जहाज सम्बन्धी विषयो को दो भागो मे बाँटा जाता है (क) जहाज की आन्तरिक व्यवस्था और अनुशासन, (ख) बन्दरगाह मे शाति और सुव्यवस्था का बना रहना। पहले प्रकार के मामलो मे तटवर्ती राज्य कोई हस्तक्षेप नही करता। किन्तु दूसरी दशा मे Wildenhus के मामले मे स० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि यदि अपराध भयकर हो, तटवर्ती जनता मे इससे क्षोभ हो तो प्रादेशिक राज्य को इस मामले पर विचार का अधिकार होता है। इस कारण एक अमरीकन बन्दरगाह मे आये हुए बेल्जियन जहाज पर एक बेल्जियन द्वारा दूसरे बेल्जियन की हत्या करने पर यह मामला तटवर्ती राज्य का विषय माना गया। फ्रास की व्यवस्था भी स० रा० अमरीका मे मानी जाने वाली स्थिति से मिलती है।

प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का विस्तार (Extension of Territorial Jurisdiction) वर्तमान समय मे यातायात के साधनो की उन्नति के कारण यह सम्भव हो गया है कि एक देश मे अपराध की तय्यारी की जाय, आवश्यक सामग्री एकत्र की जाय तथा दूसरे देश मे अपराध किया जाय। अत प्रादेशिक क्षेत्राधिकार को विस्तृत करने की आवश्यकता अनुभव की गई है।[५] यह विस्तार दो प्रकार के सिद्धान्तों के आधार पर है—

(१) **कर्तृगत प्रादेशिक सिद्धान्त (Subjective territorial principle)**—इसके अनुसार किसी राज्य को ऐसे अपराधियो को दण्ड देने का अधिकार है, जिन्होने अपने अपराधो का कार्यारम्भ तो उस राज्य मे किया है किन्तु उसकी पूर्ति दूसरे राज्य मे की।

---

३. हाल—इटरनेशनल लॉ, ८वाँ सस्करण, पृ० ३०१ ४

४. इस विषय में १९५८ के जेनेवा के समुद्री कानून सम्मेलन द्वारा बनाये गये नियमों (धारा १९ तथा २०) की आलोचना के लिये देखिये दी अमेरिकन जर्नल आफ इटरनेशनल लॉ, खं० ५५, १९६१, पृ० ७७—९६।

५ स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८३

उदाहरणार्थ, भारत के जाली सिक्के पाकिस्तान मे बनाकर यहाँ उनका प्रसार किया जा सकता है, इसमे कार्यारम्भ पाकिस्तान मे तथा उसकी परिणति भारत मे हुई है। पाकिस्तान को ऐसे व्यक्तियो को दण्ड देने का अधिकार है। मादक द्रव्यो के व्यापार मे भी ऐसा होता है। १६२० के British Dangerous Drugs Act के अनुसार दूसरे देश के कानून द्वारा किसी दवाई सम्बन्धी अपराध मे ग्रेट ब्रिटेन मे अपराध मे सहायता देने वाले व्यक्ति को दण्ड देने की व्यवस्था की गई है।

१६२६ तथा १६२६ के जेनेवा के Convention for the Suppression of Counterfeiting Currency तथा Convention for the Suppression of the Illicit Drug Traffic मे यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

(२) कर्मगत प्रादेशिक सिद्धान्त (Subjective territorial principle)—जब कोई अपराध करने वाला (कर्त्ता) एक राज्य मे हो और उससे प्रभावित होने वाला कर्म (object) दूसरे राज्य मे और यह दूसरे राज्य की सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव डालता हो तो दूसरे राज्य को पहले राज्य के अपराध करने वाले व्यक्ति को दण्डित करने का अधिकार है। स्टार्क द्वारा दिये गये दो उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जाएगी दो राज्यो के सीमान्त प्रदेश मे एक व्यक्ति एक राज्य की सीमा के भीतर से उस सीमा के दूसरी ओर खडे व्यक्ति को अपनी गोली का निशाना बनाता है। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन का एक व्यक्ति झूठ बहानो और वायदो से जर्मन के एक व्यक्ति से रुपया मागता है। इन दोनो मे अपराध करने वालो के अपराध का फल दूसरे देश मे रहने वालो को भोगना पडता है। इन मामलो मे दण्ड देने के लिये प्रादेशिक सिद्धान्त का विस्तार कर दिया गया है। इसके अनुसार अपराधी अपराध करने के समय भले ही उस राज्य की सीमा से बाहर हो, जहा इस अपराध का प्रभाव पडा है, तो भी उसे इसका दण्ड भोगना पडता है और अपराध से प्रभावित राज्य को ऐसे मामले मे विदेशियो को दण्डित करने का अधिकार है।

इसका सबसे सुन्दर उदाहरण लोटस जहाज (S S Lotus) का मामला है। (देखिये प्रथम परिशिष्ट)। इसमे फ्रेंच जहाज लोटस की गलती से उसकी टक्कर टर्की के जहाज बोजकोर्ट से हुई। इस टक्कर से तुर्क जहाज को क्षति पहुँची और आठ तुर्क कालकवलित हुए। यह घटना महासमुद्र मे हुई। जब लोटस कुस्तुन्तुनिया के बन्दरगाह मे पहुँचा तो उस पर तुर्की की सरकार ने मुकद्दमा चलाया। फ्रेंच जहाज के कप्तान ने विदेशी होने तथा टक्कर के महासमुद्र मे घटित होने के कारण इस विषय मे तुर्क न्यायालय का क्षेत्राधिकार न होने का तर्क उपस्थित किया। किन्तु १६२७ मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इसे अस्वीकार करते हुए यह निर्णय दिया कि (१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नही है, जो एक विदेशी राज्य द्वारा उसकी सीमाओ से बाहर किये गये अपराध के विषय मे क्षेत्राधिकार से उस राज्य को वचित करता हो। (२) "अनेक देशो के न्यायालय, यहाँ तक कि फौजदारी कानून को विशद प्रादेशिक स्वरूप देने वाले न्यायालय—फौजदारी कानून की यह व्याख्या करते हैं कि अपराध किये जाने के समय अपराधी भले ही दूसरे राज्य के प्रदेश मे हो, किन्तु मे

अपराध उसी राज्य मे किये समझे जायेगे, बशर्ते कि अपराध का एक तत्व—विशेष रूप से इसके प्रभाव उस राज्य मे पडे हो।"

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के इस निर्णय से राज्यो को विदेशी जहाजो पर फौजदारी मामले चलाने का अधिकार प्राप्त हो गया। योरोप के सामुद्री व्यापारियों को इससे बडी चिन्ता हुई। विदेशो के फौजदारी कानून की अज्ञानता के कारण विदेशी न्यायालयो मे अपनी सफाई की समुचित कार्यवाही मे उन्हे बडी कठिनाई होने की सम्भावना थी और इस निर्णय के कारण उन पर अपने राज्य मे तथा घटना से प्रभावित राज्य मे दोहरा मुकद्मा चलाया जा सकता था। विदेशी न्यायालयो मे कार्यवाही करके जहाजो को रोका जा सकता था। अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सामुद्रिक परामर्शदाता एसोसियेशन की ओर से राष्ट्रसघ की इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली समिति Advisory and Technical Committee for Communications and Transport को दिये एक आवेदनपत्र मे इस स्थिति पर चिन्ता प्रकट करते हुए इसे सुधारने की प्रार्थना की गई। मई १६५२ मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (I. L. O) तथा अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्रिक समिति की सयुक्त सामुद्रिक समिति ने इस विषय पर विचार किया और ब्रुसेल्ज के Penal Jurisdiction in Matters of Collisions or Accidents of Navigation मे लोटस के मामले मे दिये गये उपर्युक्त निर्णय से प्रतिकूल नियम स्वीकार किया गया। १६५८ के Geneva Convention on the Regime of High Seas मे भी यही सिद्धान्त माना गया है।

विदेशियो पर क्षेत्राधिकार (Jurisdiction over Aliens)—सामान्य रूप से किसी राज्य को अपने राज्य मे रहने वालो पर वैसा ही क्षेत्राधिकार है, जैसा अपने नागरिको पर। कोई भी विदेशी जिस देश मे रहता है, वह वहाँ के राष्ट्रीय नियमो का उल्लघन नही कर सकता। विदेशियो द्वारा दूसरे देशो मे किये हुए अपराधो के सम्बन्ध मे दो पक्ष है पहला पक्ष ऐसे अपराधो पर राज्य का क्षेत्राधिकार मानता है और दूसरा इसे अस्वीकार करता है। कटिंग (Cutting) के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक अमरीकन नागरिक कटिंग को १८८६ मे मेक्सिको जाने पर वहाँ की सरकार ने इसलिए गिरफ्तार कर लिया कि उसने एक मेक्सिकन नागरिक मेडीना की मानहानि करते हुए स० रा० अमरीका के टेक्सास राज्य के एक समाचारपत्र मे लेख लिखा था। मेक्सिकन सरकार उपर्युक्त दूसरे पक्ष के अनुसार यह मानती थी कि उसे कटिंग को दण्ड देने का अधिकार है, क्योकि मेक्सिको के कानून के अनुसार विदेशियो को विदेशो मे किये गये अपराधो के लिये मेक्सिको मे दण्ड दिया जा सकता है। किन्तु अमरीकन सरकार पहले पक्ष के अनुसार यह कहती थी कि किसी राज्य को उसकी सीमा से बाहर किये गये अपराध पर विदेशी व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार नही है। वाशिंगटन ने कटिंग की रिहाई की माँग करते हुए कहा कि कटिंग ने मेक्सिको मे कोई अपराध नही किया क्योकि मानहानि वाले लेख का प्रसार मेक्सिको मे नही किया गया अत मेक्सिको की सरकार को इस विषय मे कोई क्षेत्राधिकार नही है। मेक्सिको की सरकार ने स० रा० अमरीका का कथन स्वीकार नही किया, यद्यपि अपील होने

पर वादी द्वारा अपना केस वापिस ले लेने पर कटिंग स्वयमेव मुक्त हो गया। १८८६ मे मेक्सिको ने स० रा० अमरीका के पक्ष को युक्तियुक्त समझते हुए भविष्य मे ऐसी घटनाओं के रोकने के लिए सधि कर ली।

प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ (Immunities from Territorial Jurisdiction)— सामान्य रूप से राज्य के प्रदेश मे रहने वाले सभी व्यक्तियों पर राज्य का क्षेत्राधिकार होता है, किन्तु इस सामान्य नियम के निम्नलिखित अपवाद है—(क) विदेशी राज्य और उनके अध्यक्ष, (ख) विदेशो के राजनयिक प्रतिनिधि, (ग) विदेशो के सार्वजनिक जहाज, (घ) विदेशो की सेनाये, (ङ) अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाये।

(क) विदेशी राज्य और उनके अध्यक्ष (Foreign States and Heads of States)—इन पर न्यायालयो मे कोई मुकद्मा उस समय तक नही चलाया जा सकता, जब तक कि ये स्वयमेव इन न्यायालयों का क्षेत्राधिकार स्वेच्छापूर्वक न स्वीकार कर लें। इनको राज्य के क्षेत्राधिकार से मुक्त करने के मूल कारण के सम्बन्ध मे स्टार्क ने अनेक सिद्धान्तो का उल्लेख किया है[१]—

पहला सिद्धान्त Par in parem non habet imperium का है। इसका अर्थ यह है कि एक प्रभुसत्ता का क्षेत्राधिकार केवल अपने वशवर्ती अधीनस्थ व्यक्तियों पर हो सकता है, दूसरी प्रभुसत्ता पर कभी नही हो सकता। दूसरा सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय शील या सौजन्य (Comity) का है, इसके कारण सब राज्य एक-दूसरे के शासनाध्यक्षो को अपने प्रदेश मे क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान करते है। तीसरा सिद्धान्त यह वास्तविक तथ्य है कि किसी विदेशी राज्य के विरुद्ध दिया गया राष्ट्रीय न्यायालय का कोई निर्णय क्रियान्वित नही किया जा सकता। इसे लागू करने का प्रयत्न शत्रुतापूर्ण कार्य समझा जायगा। चौथा सिद्धान्त यह है कि किसी राज्य द्वारा विदेशी राजा या उसके प्रतिनिधि को अपनी भूमि मे आने देना ही यह सूचित करता है कि वह दूसरे राज्य को कुछ मुक्तियाँ या छूटें प्रदान करता है।

विदेशी राज्यो तथा राजाओ को ब्रिटिश कानून की दृष्टि से दो प्रकार की मुक्तियाँ मिली हुई हैं—(१) किसी विदेशी राजा पर कानूनी कार्यवाही द्वारा कोई मुकद्मा नही चलाया जा सकता। (२) विदेशी राजा के स्वामित्व मे या नियन्त्रण में विद्यमान सम्पत्ति को किसी कानूनी प्रक्रिया द्वारा जब्त नही किया जा सकता। १६३६ मे हाउस आफ लार्डस ने क्रिस्टिना (Crestina) के मामले मे इन नियमों को बडी स्पष्टता से प्रतिपादित किया। यह एक स्पेनिश जहाज था, स्पेनिश गृहयुद्ध के दिनो मे यह कार्डिफ के ब्रिटिश बन्दरगाह मे आ गया। स्पेन की गणराज्य की सरकार की ओर से स्पेन के वाणिज्य दूत ने इस पर स्वामित्व ले लिया। इस जहाज के मालिको ने इसके स्वामित्व का दावा किया, किन्तु स्पेनिश सरकार की प्रार्थना पर उसकी सम्पत्ति होने से यह दावा खारिज कर दिया गया। अरन्तजाजू मेन्दी (Arantzazu

१. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८६

Mendi) के मामले में फ्राको की सरकार को तथ्यानुसार मान्यता प्रदान करने के कारण इस जहाज पर उसका स्वत्व माना गया और विदेशी सरकार होने के नाते उस न्यायालय की प्रक्रिया से मुक्त समझा गया (देखिये प्रथम परिशिष्ट तथा ऊपर पृ० १६२-३)।

इस विषय मे भारत के सुप्रीम कोर्ट द्वारा निर्णय किया गया एक **नेपाली हवाई कम्पनी का मामला** (Royal Nepal Airlines v Manorama Meharsing Legar) उल्लेखनीय है (देखिये प्रथम परिशिष्ट)। इस म सुप्रीम कोर्ट ने नैपाली राजदूत की यह प्रार्थना स्वीकार की थी कि राजकीय हवाई कम्पनी नैपाल राज्य का एक अग है, इस कारण इस पर भारतीय न्यायालयो मे कोई अभियोग नही चलाया जा सकता, यह उनके क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त है।

विदेशी राज्य न केवल अन्य राज्यो के न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से तथा कानूनी कार्यवाही से मुक्त है, अपितु उन्हे यह विशेषाधिकार भी प्राप्त है कि वे अन्य राज्यो के न्यायालयो म अपने कुछ अधिकारो की प्राप्ति के लिये कानूनी कार्यवाही कर सकते है। ऐसा मामला चलाने पर वे इस विषय मे दूसरे पक्ष द्वारा किये जाने वाले दावो पर विचार के लिये स्थानीय न्यायालयो का क्षेत्राधिकार मौन रूप से स्वीकार कर लेते है। किन्तु इस विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए विदेशी राज्यो को यह अधिकार नही है कि वे दूसरे देशो मे अपना दण्डविधान या करविषयक कानून (Revenue laws) अभियोग चलाकर लागू करवा सके। इस विषय का सुप्रसिद्ध मामला Queen of Holland (Married Woman) v Drukker है। इस मे १९२८ मे हालैड की रानी ने एक ब्रिटिश न्यायालय (Court of Chancery) मे एक डच प्रजाजन ड्रूकर के विरुद्ध इगलैण्ड मे उसकी जायदाद को पाने के लिये मामला चलाया था। रानी के दावे का आधार डच कानून के अनुसार डच प्रजाजनो की जागीरो पर लगाया जाने वाला एक उत्तराधिकार कर (Succession Tax) था। रानी ड्रूकर की मृत्यु होने पर इगलैण्ड म विद्यमान उसकी जागीर पर डच कानून के अनुसार लगाये जाने वाले कर को प्राप्त करना चाहती थी। इस मामले मे ब्रिटिश न्यायालय ने निर्णय देते हुए कहा था— 'इस विषय म यह नियम अच्छी तरह से निश्चित हो चुका है और लगभग पिछले २०० वर्ष से लागू भी किया जा रहा है कि ब्रिटिश अदालते विदेशी राजाओ को लाभ पहुँचाने के लिये विदेशी राज्यो के करो की वसूली का कार्य नही करेगी, इस विषय म किये गये वे किसी भी दावे पर विचार नही करेगी। अत इस दावे को तथा मामले को खारिज किया जाता है। चूकि एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य ने इस न्यायालय मे आकर इसका क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लिया है, अत मैं यह आदेश देने की स्थिति मे हूँ कि प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य इस मामले मे हुए व्यय को प्रदान करे।'[७]

(ख) विदेशो के राजनयिक प्रतिनिधि (Diplomatic Representatives of

७. हडसन—केसेज, पृ० ५०१

Foreign States)—विदेशी राजदूत राज्य के क्षेत्राधिकार से फौजदारी मामलों में पूर्ण रूप से तथा दीवानी मामलों में आंशिक रूप से उन्मुक्त होते है। कई देशों में इस सम्बन्ध में कानून बने हुए हैं। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन में राजदूतो को इस प्रकार के विशेषाधिकार तथा मुक्तियाँ प्रदान करने वाले निम्न कानून हैं—१७०८ का Diplomatic Privileges Act, १९५० का International Organizations (Immunities and Privileges Act) तथा १९५२ का Diplomatic Immunities (Commonwealth Countries and Republic of Ireland Act)। राजदूतों के मुख्य विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां निम्नलिखित है .—

(क) जिस देश मे किसी व्यक्ति को राजदूत बनाकर भेजा जाता है वहाँ की फौजदारी कार्यवाहियो से तथा पुलिस के क्षेत्राधिकार से उसे पूरी स्वतन्त्रता होती है। इसका यह अर्थ नही कि उस देश के फौजदारी कानून का अथवा पुलिस के नियमो का पालन करना उसका कर्तव्य नही है। किन्तु यदि वह इनका पालन नहीं करता तो उसके विरुद्ध राज्य केवल यही कार्यवाही कर सकता है कि उसकी सरकार को इसकी राजनयिक रूप मे शिकायत की जाय और यदि स्थिति बहुत गम्भीर हो जाय तो वह उसे अपने देश से निकाल दे।

(ख) वह राज्य की दीवानी कार्यवाहियो से भी मुक्त होता है, उसे अदालत मे गवाही देने के लिए भी नही बुलाया जा सकता। एक पक्ष के अनुसार उसकी कानूनी प्रक्रिया से छूट वहीं तक होती है, जहां तक वह उसके सरकारी कर्तव्य पूरा करने मे बाधा न डाले। किन्तु यदि राजदूत कोई वैयक्तिक व्यापार करता है, तो इस विषय मे वह देश के दीवानी कानून की प्रक्रिया से मुक्त नही है।

किन्तु ब्रियर्ली की सम्मति मे आजकल राज्यों का सामान्य व्यवहार इस छूट को पूर्ण रूप से लागू करता है।[८] ग्रेट ब्रिटेन के १७०८ के कानून के शब्द इसका बड़े प्रबल शब्दों मे प्रतिपादन करते है। इनके अनुसार राजदूत को गिरफ्तार करने वाले, उसकी सम्पत्ति को जब्त करने वाले सब आदेश निरर्थक एव शून्य (Null and void) है। ऐसे आदेशों को जारी करने वाले तथा इन्हें क्रियान्वित करने वाले 'राष्ट्रों के कानून के उल्लघनकर्त्ता' समझे जाते हैं। किन्तु यदि कोई राजदूत स्वेच्छापूर्वक देश के दीवानी कानून का क्षेत्राधिकार स्वीकार कर ले तो यह उस पर लागू होगा।

(ग) राजनयिक व्यक्ति कुछ अशो मे राज्य के करो से भी मुक्त होते हैं। इस विषय मे विभिन्न देशो मे अलग-अलग नियम है। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन मे किसी ब्रिटिश कम्पनी मे लगाई पूँजी के राजदूत को प्राप्त होने वाले लाभ में से कर काट लिया जाता है। किन्तु राजदूत के वेतन पर राज्य आयकर नही लगा सकता। उसके वैयक्तिक उपयोग के लिये मँगाये गये पदार्थों पर प्राय तटकर नही लगाया जाता। राजनयिक व्यक्ति से राज्य कर की वसूली नही कर सकता।

(घ) राजदूत का निवासस्थान अनतिक्रम्य (Inviolable) समझा जाता

८. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २१३

है, राज्याधिकारी उसकी सीमा मे राजदूत की अनुमति के बिना नही प्रविष्ट हो सकते। यदि दूतावास मे किसी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार करना हो, जिसे क्षेत्राधिकार से इस प्रकार की उन्मुक्ति या छूट प्राप्त नही है तो उसके लिए उचित मार्ग यह है कि राजदूत से यह प्रार्थना की जाय कि वह उसका समर्पण कर दे। इस प्रार्थना को स्वीकार या अस्वीकार करना दूत का कार्य है। किन्तु राजदूत अपने दूतावास को स्थानीय न्याय की प्रक्रिया से बचकर भागने वाले व्यक्तियो का शरण-स्थल नही बना सकता और न ही इसमे अपना क्षेत्राधिकार बनाने का कोई अधिकार रखता है। १८९६ मे प्रसिद्ध चीनी क्रान्तिकारी नेता सनयातसेन चीन से राजनीतिक कारणों से भाग कर लन्दन आये, उन्हे फुसलाकर चीनी दूतावास मे लाया गया और यहाँ चीन भेजने के लिए उन्हे कैद कर लिया गया। इस पर ब्रिटिश सरकार ने लन्दन के चीनी दूतावास को चीनी प्रदेश बनाने का प्रतिवाद किया और अन्त मे बाधित होकर चीनी दूतावास को सनयातसेन को मुक्त करना पड़ा।

(ङ) राजनयिक प्रतिनिधि की उन्मुक्तियाँ (Immunities) और छूटे उसके परिवार तथा अनुचर वर्ग पर भी लागू होती हैं, प्राय राजदूत अपने दूतावास के जिन व्यक्तियो के लिये ये उन्मुक्तियाँ चाहते है, उनकी एक सूची विदेश मन्त्रालय को दे देते है। राजदूत के सरकारी स्टाफ के सदस्यो के अतिरिक्त अन्य नौकरो के लिये इन विशेषाधिकारो को स्वीकार करने के विषय मे सब देशो मे एक जैसी व्यवस्था नही है। इगलैंड मे १७०८ के कानून के अनुसार राजदूतो के घरेलू नौकरों को दीवानी कार्यवाहियो से उस अवस्था मे मुक्त किया गया है, जबकि वे किसी व्यापार-कार्य मे न लगे हो। ये नौकर सम्भवत फौजदारी कानून के क्षेत्राधिकार से मुक्त नही है।

राजदूतो के उपर्युक्त विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ उनके कार्यकाल का अन्त होते ही समाप्त नही हो जाती। ये उस समय तक दी जाती है, जब तक कि वे अपना कार्य समेट कर सम्मान सहित देश से लौटकर नही चले जाते। किन्तु यह सुविधा राजदूत-पद से हटाये व्यक्तियो को नही मिलती और न ही दूतावास के ऐसे व्यक्तियो को, जिनको राजदूत ने इनसे वचित कर दिया है। यदि कोई राजदूत राज्य के विरुद्ध जासूसी का काम करता है तो प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से मुक्ति का उसका विशेषाधिकार समाप्त हो जाता है।

राजदूतो को उपर्युक्त विशेषाधिकार इस सिद्धान्त के आधार पर दिये गये है कि उन्हे अपने देश का सरकारी कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये,[१] इसमे किसी प्रकार की बाधा या हस्तक्षेप डालना उचित नही है। राजदूतो के उपर्युक्त अधिकार और उन्मुक्तियाँ उनके सरकारी और निजी (Private)—दोनो प्रकार के कार्यो के लिये है। ग्रेट ब्रिटेन ने १९५५ मे इन अधिकारो के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय कानून Diplomatic Immunities Restrictions Act बनाया है। इसके अनुसार जो देश अपने यहाँ ब्रिटिश राजदूतो को वैयक्तिक कार्यों के लिये अपने क्षेत्राधिकार से

१. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १९३

उन्मुक्तियाँ नही प्रदान करते, ग्रेट ब्रिटेन में उन देशो के राजदूतो से यह सुविधा आर्डर-इन-कौंसिलो द्वारा छीनी जा सकती है ।

वाणिज्य-दूतो (Consuls) को राजनयिक प्रतिनिधि नही समझा जाता, वे अपने वैयक्तिक कार्यों के लिए प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से मुक्त नही होते, किन्तु सरकारी कार्यों के लिये उन्हें यह उन्मुक्ति प्राप्त है ।

(ग) सार्वजनिक जहाज (Public Ships of Foreign States)—सार्वजनिक जहाज एक बडी व्यापक परिभाषा है, इसमें सरकारी तथा सरकार द्वारा काम मे लाये जाने वाले जलपोत, रणपोत, सामान लादने वाले तथा सवारियों का परिवहन करने वाले विभिन्न प्रकार के जलपोत सम्मिलित हैं । विदेशी बन्दरगाहो मे ऐसे जहाज प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से मुक्त समझे जाते हैं । इसके तीन सुप्रसिद्ध ये उदाहरण हैं—**स्कूनर एक्सचेन्ज** (Schooner Exchange) एक अमरीकन जलपोत था । इसे १८१० मे नैपोलियन ने पकड लिया और फ्रास का सरकारी जहाज बना लिया । जब यह पोत अमरीका पहुँचा तो इसके पुराने मालिक ने इसे पुन प्राप्त करने के लिये कानूनी कार्यवाही की । १८१२ मे सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश जॉन मार्शल ने Schooner Exchange v McFaddon के मामले मे यह निर्णय किया कि यह पोत सार्वजनिक है, अत यह अमरीकन न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से मुक्त है । दूसरा मामला **पार्लेमेण्ट बेल्जे** (Parlement Belge) का है, यह बेल्जियम का डाक ले जाने वाला सरकारी जहाज था । डोवर के बन्दरगाह मे यह एक इगलिश जहाज से टक्करा गया । ब्रिटिश जलपोत के मालिको ने इस टक्कर से हुई क्षतिपूर्ति के लिये इस पर १८८० मे ब्रिटिश न्यायालय मे दावा किया, किन्तु न्यायालय ने इस जहाज को बेल्जियम के राजा की सम्पत्ति होने के कारण सार्वजनिक माना और इसलिए अपने क्षेत्राधिकार से मुक्त स्वीकार किया ।

तीसरा उदाहरण पेसारो (Pesaro) नामक इटालियन जहाज का Berizzi Brothers Co v Steamship Pesaro नामक मामला है । अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने इसमे इटली की सरकार के स्वामित्व मे विद्यमान तथा इसके द्वारा सामान्य व्यापारिक कार्यों मे प्रयुक्त किये जाने वाले पेसारो नामक जहाज के विरुद्ध लाये गये मामले पर विचार करने से इन्कार करते हुए कहा था—"जब कोई राज्य अपने देश की जनता का व्यापार बढाने के लिये अथवा राज्यकोश की आय मे वृद्धि करने के लिये किसी जलयान पर स्वामित्व स्थापित करता है, उसका उपयोग माल की ढुलाई के लिये करता है तो यह उसी अर्थ मे सार्वजनिक जहाज (Public Ship) हो जाता है, जिस अर्थ मे युद्धपोत (Ships of War) सार्वजनिक जहाज है, क्योकि हमें किसी ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय परिपाटी (Usage) का पता नही है, जिस के अनुसार शान्तिकाल मे अपने देश की जनता का आर्थिक कल्याण नौसेना रखे जाने की अपेक्षा किसी भी प्रकार से कम महत्व रखने वाला सार्वजनिक प्रयोजन समझा जाता हो ।" अत. राज्य के व्यापारिक जहाज उसके जगी जहाजो की भाँति विदेशी राज्यों के न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से मुक्त हैं ।

पार्लमैण्ट वेल्जे के उदाहरण से स्पष्ट है कि सार्वजनिक जहाज के विदेशी बन्दरगाह मे प्रविष्ट होने पर इसके साथ टक्कर होने पर भी हर्जाना वसूल करने की कोई कानूनी कार्यवाही नही की जा सकती। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि सार्वजनिक जहाजो को मनचाहा कार्य करने की स्वतन्त्रता है। उन्हे स्थानीय राज्य के स्वास्थ्य तथा क्वारण्टीन (quaranteen) सम्बन्धी नियमो का पालन करना पड़ता है और यह राज्य के अपराधियो तथा तटकर कानून तोडने वाले व्यक्तियो को कोई सहायता नही दे सकता। यदि इसके कर्मचारी तट पर जाकर राज्य को कोई कानून तोडते है तो वे इसके कानूनी परिणामो मे नही बच सकते। यद्यपि ऐसे अवसरो पर बन्दरगाहो के अधिकारी ऐसे अपराधियो को पकडकर जहाज के अधिकारियो को सौप देते है, राज्य के प्रादेशिक समुद्र मे होने पर भी इस पर किये गये किसी अपराध के सम्बन्ध मे स्थानीय सरकार कोई कार्यवाही नही कर सकती। फेनविक आदि कुछ विधिशास्त्रियो का यह मत है कि यदि कोई व्यक्ति तट पर अपराध करने के बाद भागकर ऐसे जहाज पर शरण लेता है तो तटवर्ती राज्य उसके समर्पण की माँग नही कर सकता, उसे इसके लिये ध्रुटनीतिक कार्यवाही करनी चाहिये। किन्तु इसके विपरीत बियर्ली आदि कुछ अन्य लेखको का यह मत है कि ऐसे अपराधी स्थानीय पुलिस को सौप दिये जाने चाहिये। अपराधियो को ऐसे जहाजो पर असाधारण अवस्था मे मानवीय कारणो के आधार पर ही शरण दी जानी चाहिये।

(घ) **विदेशी सेनाओ पर क्षेत्राधिकार** (Jurisdiction over Foreign Armed Forces)—यदि एक देश की सेनाये दूसरे देश मे जाती हैं तो उन्हे प्रादेशिक क्षेत्राधिकार (Territorial Jurisdiction) से कुछ अशो मे ही उन्मुक्ति मिलती है। इसका स्वरूप और मात्रा परिस्थितियो के अनुसार बदलती रहती है। सेनापति को तथा सैनिक न्यायालयो को सैनिको द्वारा किये गये अपराधो पर विचार का अनन्य अधिकार होता है। ये अपना कार्य क्षमतापूर्वक करते रहे, इस दृष्टि से स्थानीय न्यायालयो को इनके क्षेत्राधिकार से वचित समझा जाता है। यदि स्थानीय न्यायालय सैनिको के मामले मे दखल देने लगे तो सैनिक अनुशासन को बडा धक्का पहुँचेगा। इस विषय मे अमरीकन दृष्टिकोण यह है कि किसी देश मे आने वाली सेनाओ को स्थानीय क्षेत्राधिकार से पूर्ण रूप से उन्मुक्ति मिलनी चाहिये, किन्तु आस्ट्रेलिया और ग्रेट ब्रिटेन इसे स्वीकार नही करते। Wright v Cantrell के मामले मे आस्ट्रेलिया के न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि यदि स्थानीय नागरिक को हानि पहुँचाने वाले किसी विदेशी सैनिक का स्थानीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार मे लाया जाय तो इससे सेना की कार्यक्षमता को कोई खतरा नही पहुँचेगा।

(ङ) **अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों को क्षेत्राधिकार से मुक्ति** (Immunity of International Institutions from Jurisdiction)—स० रा० सघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसगठन (I L O) जैसी सस्थाओ को अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो तथा राष्ट्रीय कानूनो के द्वारा स्थानीय क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान की गई है। इस विषय मे स० रा० सघ की जनरल असेम्बली ने १९४६ तथा १९४७ मे Conventions on the

Privileges and Immunities of the United Nations and of the Specialised Agencies स्वीकार किया था। ग्रेट ब्रिटेन ने १६५० में British International Organisations Immunities and Privileges Act तथा सं० रा० अमरीका ने १६५४ में United States Federal International Organisations Immunities Act पास किया था।

महासमुद्रों में क्षेत्राधिकार (Jurisdiction on High Seas)—एग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामले (देखिये ऊपर पृ० २१५) के निर्णय के अनुसार महासमुद्र (High Sea) या खुला समुद्र (Open Sea) समुद्र के उन भागों को कहते हैं—(१) जो प्रादेशिक समुद्र (Territorial Waters) न हो, (२) जो आन्तरिक समुद्र (Inland Waters) न हों अर्थात् प्रादेशिक समुद्र की आधाररेखाओं के भीतर न आते हों। मोटे तौर से खुले समुद्र की परिभाषा यह है कि यह तीन मील की चौड़ाई वाले प्रादेशिक समुद्र से आगे की विस्तीर्ण जलराशि होती है। वर्तमान समय में इस पर किसी देश का स्वामित्व या प्रादेशिक प्रभुता नहीं मानी जाती। यह सब देशों के लिये समान रूप से खुली हुई है इसमें सब देशों के जहाज स्वतन्त्रतापूर्वक नौसंचालन कर सकते हैं और यहां की समुद्रतलवर्ती प्राकृतिक सम्पत्ति का दोहन कर सकते हैं। **'महासमुद्रों की स्वतन्त्रता'** (Freedom of High Seas) के सिद्धान्त का यही अर्थ है कि ये समुद्र किसी विशेष देश की प्रभुसत्ता में नहीं माने जाते, किन्तु सब राज्यों के उपयोग के लिए समान रूप से खुले हुए है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस **सिद्धान्त का विकास** शनैः शनैः हुआ है। १५वीं १६वीं शताब्दियों में योरोपियन जातियों ने भूमण्डल के विभिन्न महाद्वीपों—अमरीका आदि की खोज के लिये समुद्रमन्थन आरम्भ किया। इससे पहले तक समुद्रों पर प्रभुता स्थापित करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। इस समय विभिन्न शक्तियों ने अनेक महासमुद्रों पर प्रभुसत्ता का दावा किया। वेनिस ने एड्रियाटिक सागर पर, इंगलैंड ने उत्तरी समुद्र तथा इंगलिश चैनल पर तथा अटलांटिक सागर के बड़े भाग पर तथा डेन्मार्क और स्वीडन ने बाल्टिक सागर पर इस प्रकार के दावे किये। उस समय इन दावों के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद था किन्तु इस सिद्धान्त पर कोई मतभेद नहीं था कि राज्यों को समुद्र पर इस प्रकार की प्रभुसत्ता स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। प्रायः राज्य जिन महासमुद्रों पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा करते थे, उनमें पुलिस की भांति पूरी देखभाल और समुद्री डाकुओं का निराकरण किया करते थे तथा इस सेवा के बदले वे इस पर साम्पत्तिक अधिकार का दावा करते थे। इसके अनुसार इस प्रदेश की मछलीगाहों को ठेके पर उठाने यहां से गुजरने वाले जहाजों से कर वसूल करने तथा अपने देश के झण्डे की सलामी लेने का वे अपना विशेष अधिकार समझते थे। कई बार ये समुद्र दूसरे देशों के जहाजों के लिये बिल्कुल बन्द कर दिये जाते थे।'

१६वीं शताब्दी में स्पेन और पुर्तगाल द्वारा अपने समुद्रों में उपयुक्त अधिकारों के दुरुपयोग के कारण समुद्र की प्रादेशिक प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई। इसके परिणामस्वरूप महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का जन्म हुआ। पोप

अलेक्जेण्डर षष्ठ (Alexander VI) ने १४९३ की अपनी एक आज्ञा द्वारा नई दुनिया को स्पेन और पुर्तगाल मे बाँट दिया। इसके अनुसार स्पेन समूचे प्रशान्त महासागर तथा मेक्सिको की खाडी पर अपनी प्रभुता का दावा करने लगा, पुर्तगाल ने हिन्द महासागर और अन्धमहासागर के बडे हिस्सो पर अपने स्वामित्व की घोषणा की। दोनो देश अन्य योरोपियन राज्यो को इन विशाल क्षेत्रो से निकालने का प्रयत्न करने लगे।

१६०९ मे पुर्तगाल के इन दावो का खण्डन करने के लिये ग्रोशियस ने **स्वतन्त्र समुद्र** (Mare Liberum) नामक निबन्ध लिखा, इसमे सर्वप्रथम सुस्पष्ट रीति से समुद्रो की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था। उसने इन पर प्रादेशिक प्रभुसत्ता का खण्डन दो प्रकार के तर्कों से किया था—

(१) महासमुद्र किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति इसलिये नही माना जा सकता कि कोई देश प्रभावशाली रूप मे इसका आवेशन (occupation) नही कर सकता तथा इस पर अपना स्वामित्व नही रख सकता।

(२) सब व्यक्तियो द्वारा उपभोग मे आने वाली तथा कभी समाप्त न हो सकने वाली वस्तुओं पर स्वामित्व स्थापित करने का अधिकार प्रकृति किसी को प्रदान नही करती। जिस तरह खुली हवा पर कोई मिलकियत नही जमा सकता, वही स्थिति खुले समुद्र की है। यह सब **राष्ट्रो की सम्पत्ति** (Res gentium) है।

आरम्भ मे ग्रोशियस के समुद्री स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का बडा विरोध हुआ। इगलैड म जॉन सेल्डन ने १६३५ मे **'बन्द समुद्र'** (Marc clausum) नामक ग्रन्थ मे ग्रोशियस के तर्कों का खण्डन किया। किन्तु शनै -शनै सब राज्यो को यह अनुभव हुआ कि यह सिद्धान्त उनके स्वार्थो की दृष्टि से बडा लाभप्रद है। हॉल ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए बताया है[10] कि कई बार एक ही समुद्र के सम्बन्ध मे अनेक राष्ट्रो द्वारा प्रादेशिक प्रभुता का दावा किये जाने पर सब राज्यो को बडी असुविधा उठानी पडती थी। इन राज्यो को शीघ्र हो यह ज्ञान हुआ कि समुद्रो पर प्रादेशिक प्रभुता के स्थापित करने का कोई व्यावहारिक लाभ नही है, इसकी उपयोगिता केवल युद्ध म है, उस समय शक्तिशाली नौसेना के अभाव मे इन प्रदेशो पर दावा करना निरर्थक है। समुद्रो की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त सब राष्ट्रो मे सम्पर्क की स्वाधीनता बनाये रखने की दृष्टि से लाभप्रद था, अत. १९वी शताब्दी तक यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया।

स्टार्क के कथनानुसार **'खुले समुद्र की स्वतन्त्रता'** मे निम्नलिखित तत्वो का समावेश होता है[11] (१) महासमुद्रो पर कभी किसी विशेष महाशक्ति की प्रभुसत्ता स्थापित नही हो सकती। (२) महासमुद्रो मे सब देशो के व्यापारिक जहाजो एव युद्धपोतो को नौचालन की पूर्ण स्वतन्त्रता है। (३) सामान्य रूप से किसी राज्य को इसमे अपने राष्ट्र का भण्डा फहराने वाले जहाजो के अतिरिक्त अन्य देशो के जहाजो पर अपना क्षेत्राधिकार प्रयोग करने का कोई अधिकार नही है। (४) सामान्यत एक राज्य

---

१०. हॉल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १८९

११. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २०८-९

इसका झण्डा फहराने वाले जहाज पर ही अपने क्षेत्राधिकार के प्रयोग का अधिकार रखता है। (५) प्रत्येक राज्य और उसके नागरिकों को इस बात का अधिकार है कि वे महासमुद्रों में अध समुद्रीय तारें तथा तेल के पाइप बिछा सकें, मछलीगाहों का उपयोग कर सकें और वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए समुद्र का उपयोग कर सकें। (६) महासमुद्रों के ऊपर के आकाश मे सब देशों के हवाई जहाजों को उड़ान करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है।

महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध (Limits on the Freedom of High Seas)—महासमुद्रों की स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता तथा अराजकता मे न परिणत हो जाय, इसलिये इसमें चलने वाले जहाजों के सम्बन्ध में निम्नलिखित मर्यादायें और प्रतिबन्ध लगाये गये है—

(१) महासमुद्रों में यात्रा करने वाले सार्वजनिक और वैयक्तिक जलपोत उस देश के क्षेत्राधिकार म समझे जाते हैं जिस देश की ध्वजा उन पर फहरा रही हो। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन की ध्वजा फहराने वाले जहाज पर महासमुद्र मे किये गये अपराधों पर विचार का अधिकार ब्रिटिश न्यायालयों को होगा।

(२) कोई भी जलपोत किसी देश की ध्वजा उससे पूरा अधिकार और स्वीकृति पाने के बाद ही अपने पोत पर लगा सकता है। उसे जिस राज्य द्वारा ध्वजा (Flag) लगाने का अधिकार दिया गया हो, उसके अतिरिक्त अन्य किसी देश की ध्वजा वह अपने जहाज पर नहीं लगा सकता।

(३) प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह किसी को अपने देश की ध्वजा का दुरुपयोग न करने दे। यदि कोई जहाज इस प्रकार का दुरुपयोग करता है तो वह राज्य उस जहाज को पकड़ कर जब्त कर सकता है।

(४) किसी भी राज्य के युद्धपोत सदेहास्पद पोतों को उनका झण्डा दिखाने के लिए कह सकते हैं। जो जहाज किसी सामुद्रिक राज्य का समुचित झण्डा नहीं दिखा सकता, उसे रक्षा पाने का कोई अधिकार नहीं, उसकी जब्ती की जा सकती है।

(५) महासमुद्रों में यात्रा करने वाले जहाजों के निरीक्षण और तलाशी का अधिकार (Right of Visit and Search) होता है।

(६) महासमुद्रों में दो पोतों की टक्कर होने पर लोटस के मामले मे दिये गए निर्णय के अनुसार इस टक्कर से प्रभावित जहाज जिस देश का होता है, उसके न्यायालयों को विदेशी जहाजों के विरुद्ध मामले सुनने का अधिकार होता है। किन्तु १९५२ के ब्रुसेल्ज सम्मेलन ने तथा १९५६ मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अपनी आठवीं बैठक मे टक्कर की दशा मे टकराने वाले जहाजों पर उनके झण्डे वाले देश का क्षेत्राधिकार स्वीकार किया है।

(७) युद्ध के समय महासमुद्रों पर युद्धकारी सामुद्रिक देशों के अधिकारों में बहुत वृद्धि हो जाती है। युद्धकारी देश तटस्थ देशों के जहाजों का निरीक्षण और तलाशी इस दृष्टि से ले सकते है कि वे कहीं विनिषिद्ध (Contraband) युद्ध-सामग्री का वहन तो नहीं कर रहे। किसी देश के गृहयुद्ध मे दोनों पक्ष युद्धावस्था की मान्यता (Recognition of Belligerency) पा लेने पर (देखिये पृ० १८०) महासमुद्रों में इस प्रकार

विदेशी जहाजो की तलाशी का अधिकार प्राप्त कर लेते है।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो द्वारा विभिन्न राज्य एक-दूसरे को महासमुद्रो के कुछ भागों पर शान्तिकाल मे विशेष उद्देश्यो की पूर्ति की दृष्टि से विदेशी जहाजो के निरीक्षण और तलाशी का अधिकार प्रदान करते है। इनका स्वरूप ऐसे समझौतो के नामो से ही स्पष्ट है--जैसे Convention for the Protection of Submarine Cables, 1884 Convention for regulating the Police of the North Sea Fisheries, 1882. The Convention respecting the Liquor Traffic in the North Sea, 1887 The General Act of Brussels of 1890, for the Repression of the African Slave Trade Interim Convention of February 1957, for the conservation of North Pacific Fur Seal Herds

(९) महासमुद्रो मे अणु बम सम्बन्धी परीक्षण करते हुए इनके कुछ विशाल प्रदेशो को नौचालन के लिये बन्द करने के अधिकार पर आजकल अन्तर्राष्ट्रीय विधि शास्त्रियों मे पर्याप्त मतभेद है। इन परीक्षणो मे उत्पन्न रेडियमधर्मी धूलि विकरण (Radio-active fall out) से समुद्र मे चलने वाले जहाजों पर सवार व्यक्तियों को स्थायी रूप से हानि पहुँच सकती है। अत अमरीका आदि कुछ देश ऐसे परीक्षण करने से पहले इस परीक्षण से प्रभावित होने वाले महासमुद्र मे सब देशो को अपने जहाज न भेजने की चेतावनी और सूचना देते है। क्या उनका इस प्रकार का कार्य इस प्रदेश को नौचालन के लिए बन्द करके महासमुद्रो की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचाता ? कुछ देश वस्तुत ऐसा समझते हैं। किन्तु ऐसे परीक्षण करने वाले देशो का तर्क यह है कि इस प्रकार समुद्र बन्द करना सर्वथा युक्तियुक्त है, इससे महासमुद्रो की स्वतन्त्रता को कोई बडी आंच नहीं आती, क्योकि यह कार्य अल्पकालिक और अस्थायी होता है, आत्मरक्षा के लिये यह उसी प्रकार वैध है, जैसे महासमुद्रो मे युद्धपोतो द्वारा नकली लडाई और तोपखाने के परीक्षण जायज होते हैं।

(१०) तटवर्ती राज्य को विदेशी जहाजो से अपनी सुरक्षा तथा प्रभुसत्ता के सम्बन्ध मे भीषण सकट उत्पन्न होने की दशा मे यह अधिकार है कि वह अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा से बाहर महासमुद्र मे भी आत्मरक्षा के आधार पर ऐसे विदेशी जहाजो के विरुद्ध कार्यवाही करे।

(११) तटवर्ती राज्यो को महासमुद्रो मे तेजी से पीछा करने (Hot pursuit) का अधिकार प्राप्त होता है।

(१२) महासमुद्रो मे प्रत्येक देश को समुद्री डाकुओ (*pirates*) को नष्ट करने का अधिकार है।

महासमुद्रों के सजीव साधनो के सरक्षण तथा मछली पकडने का समझौता (Convention on Fishing and Conservation of the Living Resources of the High Seas, 1960)—महासमुद्रो की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त ने सब देशो को यह अधिकार प्रदान किया है कि वे इन समुद्रो मे पाये जाने वाले प्राकृतिक साधनो को प्राप्त करने तथा मछलियां आदि पकडने का पूरा अधिकार रखते है और ऐसा कार्य

करने वाले जहाजों को महासमुद्रो मे पूरी स्वतन्त्रता है, कोई देश किसी दूसरे को ऐसे कार्य से नही रोक सकता। किन्तु कई बार कुछ देश यह कार्य ऐसे ढग से कर सकते हैं कि इस से प्राकृतिक सम्पत्ति और प्राणियो के विनाश की सभावना उत्पन्न हो सकती है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि विभिन्न देश महासमुद्रो मे प्राकृतिक सम्पत्ति के दोहन के सम्बन्ध मे ऐसी सधियाँ और समझौते करे जिनसे इस सम्पत्ति की सुरक्षा और सरक्षण (Preservation) हो सके और सब देश इससे देर तक लाभ उठाते रहे। यह १८६२ तथा १६०२ के Behring Sea Fur Seal Arbitrations के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

वेहरिंग समुद्र साइबेरिया और अलास्का के मध्य मे प्रशान्त एव उत्तरी ध्रुवीय (Arctic Sea) सागरो को मिलाने वाला है। यहाँ बडे मुलायम बालो की खाल या समूर (Fur) वाली सील (Fur Seal) मछलियाँ बडी सख्या मे मिलती हैं। समूर के लिये इनका शिकार किया जाता है। पहले मामले मे स० रा० अमरीका ने सील मछलियो के कुछ कनाडा वासी शिकारी पकड लिये, इसका यह कारण था कि ये महासमुद्रो मे सीलो का अन्धाधुन्ध शिकार करते हुए गर्भवती सील मछलियो को भी पकड रहे थे, इससे यह आशका थी कि स० रा० अमरीका के अधीन अलास्का मे सील मछलियो का वश खत्म हो जायगा। दूसरे मामले मे रूस ने स० रा० अमरीका के इस प्रकार सील का शिकार करने वाले व्यक्तियो को पकडा। इनके शिकार से रूसी सील मछलियो का वश लुप्त होने की सभावना थी। इन दोनो मामलो मे न्यायाधिकरण (Tribunal) ने यह युक्ति नही स्वीकार की कि तटवर्ती राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने तट के निकटवर्ती महासमुद्रो मे बहुमूल्य प्राकृतिक साधनो के सरक्षण के लिये विदेशी जहाजो पर कोई पाबन्दी या रोक लगा सकता है। न्यायालय का मत था कि सधि न होने की दशा मे तटवर्ती राज्य सरक्षण सबन्धी नियम केवल अपने जहाजो पर ही लागू कर सकता है। इस निर्णय के बाद समुद्र म ह्वेल तथा सील मछलियो के अधाधुन्ध एव विनाशकारी रूप से पकडने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये अनेक देशो मे सधियाँ की गयी है। किन्तु ये सधिया केवल सधि करने वाले राज्यो पर ही लागू होती हैं, अन्य राज्यो को महासमुद्रो मे ऐसा विध्वसपूर्ण शिकार करने से नही रोका जा सकता।

इस विषय का महत्व अनुभव करते हुए १६५८ के समुद्री कानून के जेनेवा सम्मेलन (२४ फरवरी से २८ अप्रैल) ने इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा बनाया हुआ एक समझौता Convention on Fishing and Conservation of the Living Resources of High Seas स्वीकार किया है।[२] इसकी धारा १ से ३ तक सामान्य अधिकारो तथा कर्त्तव्यो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सब राज्यो को अपने नागरिकों के लिये यह अधिकार प्राप्त है कि वे महासमुद्रो मे मछली पकड सकते है, बशर्ते कि वे निम्नलिखित शर्तों का पालन करें (१)—सधियो मे उत्पन्न होने वाले दायित्व, (२) तटवर्ती राज्यो के हित एव अधिकार, (३) इस समझौते मे आगे दी

२. कीसिंग्स कांटेम्परेरी आर्काइव्ज, २७ सितम्बर से ४ अक्टूबर १९५८, पृ० १६४१५

जाने वाली व्यवस्थायें। सब राज्यो का यह कर्त्तव्य है कि वे भोजन प्राप्ति की मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये महासमुद्रो मे जीवित प्राणियों के सरक्षण के लिये किये जाने वाले उपायो मे एक-दूसरे का सहयोग करें। यदि महासमुद्रो के किसी भाग मे दो या अधिक राज्यो के नागरिक शिकार करते हैं तो प्रत्येक राज्य को अन्य राज्यों के साथ यहां प्राकृतिक सम्पत्ति के सरक्षण का समझौता कर लेना चाहिये। यदि यह *समझौता न हो सके तो इस कार्य के लिये पांच सदस्यो का एक आयोग बनाना चाहिये।*

तटवर्त्ती राज्यों को यह अधिकार है कि वे अपने प्रादेशिक समुद्र के साथ लगे हुए महासमुद्रो मे जीवित प्राणियों के सरक्षण के लिये किये जाने वाले उपायों मे भाग ले, भले ही उसके नागरिक यहां मछलियां न पकडते हों। यहां शिकार करने वाले अन्य देशों को तटवर्त्ती राज्य के साथ इस विषय मे समझौता कर लेना चाहिये ताकि प्राकृतिक साधनो का सरक्षण भली भांति हो सके। दूसरे राज्यो को यहा ऐसे उपायो का प्रयोग नही करना चाहिये, जो तटवर्त्ती राज्य द्वारा ग्रहण किये गये उपायो के प्रतिकूल हो। यदि इन उपायो के बारे मे तटवर्त्ती राज्यों से छः महीने तक समझौता नहीं हो पाता तो तटवर्त्ती राज्य एक-पक्षीय (Unilaterally) रूप मे सरक्षण के उपायो को ग्रहण कर सकता है, किन्तु ये अन्य राज्यो पर निम्न दशाओं मे लागू हो सकते हैं—(१) मछलीगाहों की वर्तमान स्थिति के ज्ञान की दृष्टि मे आवश्यक रूप से बरते जाने वाले उपाय। (२) ये उपाय उपयुक्त वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर होने चाहियें। (३) ये विदेशी मछली पकडने वालो पर भेदभावपूर्ण (Discriminatory) नियम लागू करने वाले नहीं होने चाहियें। इस विषय मे होने वाले सभी विवादो का पचनिर्णय पांच सदस्यों के पहले बनाये गये आयोग द्वारा किया जायगा।

महासमुद्रो का अभिसमय (Convention on High Seas)—१९५८ के जेनेवा के समुद्री सम्मेलन ने महासमुद्रों के विषय मे भी एक महत्वपूर्ण समझौता स्वीकार किया है। इसकी धारा १—२ में महासमुद्र का यह लक्षण किया गया है कि ये "समुद्र के वे सब भाग हैं, जो राज्य के प्रादेशिक समुद्र तथा आन्तरिक जलो (Inland Waters) मे नही आते। ये सब देशों के लिए समान रूप से खुले हुए हैं, इनके किसी भाग पर कोई देश वैध रूप से अपनी प्रभुसत्ता नहीं स्थापित कर सकता"। महासमुद्रो की स्वतन्त्रता पर इस समझौते मे तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। महासमुद्रो की स्वतन्त्रता मे निम्न बातों का समावेश है—नौचालन की स्वतन्त्रता, मछली पकडने की स्वतन्त्रता, समुद्र की अधोभूमि मे तार तथा पाइप लाइनें बिछाने की स्वतन्त्रता, महासमुद्रो पर उड़ने की स्वतन्त्रता। किन्तु इन सब स्वतन्त्रताओं का उपयोग सब राज्यों द्वारा इस प्रकार किया जाना चाहिये कि उससे दूसरे राज्यो द्वारा समुद्र की स्वतन्त्रता का प्रयोग करते हुए उनके हितो को कोई हानि न पहुँचे। इससे यह स्पष्ट है कि महासमुद्रों का प्रयोग करते हुए यदि दूसरे राज्यो के हितों का ध्यान नहीं रखा जायगा तो यह अधिकारों का दुरुपयोग समझा जायगा।

इसकी धारा ३ मे चारो ओर स्थल से घिरे हुए (Landlocked Countries)

राज्यो के बारे मे यह कहा गया है कि जिन राज्यो का कोई समुद्र तट नही होगा उनके लिए समुद्र तक पहुँचने का मार्ग खुला (free access) होना चाहिये। स्थल से घिरे राज्यो को समुद्रतट रखने वाले उनके पडोसी देशों द्वारा पारस्परिक समझौते से यह अधिकार दिया जाना चाहिये। यह व्यवस्था इसलिये महत्वपूर्ण है कि इसमे पहली बार यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि इसमे बहुत कुछ पारस्परिक समझौते पर छोडा गया है, फिर भी इसकी यह व्यवस्था बड़ा महत्व रखती है।

जहाजो की राष्ट्रीयता (Nationality of Ships) के बारे मे धारा ५ मे विस्तृत नियम दिये गये है। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि उसके झण्डे को फहराते हुए जहाज समुद्र मे यात्रा करें और वह जहाजो को अपनी राष्ट्रीयता देने की शर्तों का तथा जहाजो को अपने प्रदेश मे रजिस्ट्री करने तथा अपना झण्डा फहराने की शर्तो का निश्चय करे। जहाजो पर जिस देश की ध्वजा फहरा रही होगी, वह जहाज उस देश का समझा जायगा, किन्तु राज्य मे तथा जहाज मे **वास्तविक सबन्ध** (Genuine Link) होना चाहिये और राज्य का "अपने झण्डे वाले जहाज के शासन प्रबन्ध, प्राविधिक (Technical) तथा सामाजिक विषयो मे प्रभावशाली क्षेत्राधिकार और नियन्त्रण होना" चाहिये। यह व्यवस्था इस उद्देश्य से की गयी है कि जहाजो पर **'सुविधा के झण्डे'** (Flags of Convenience) लगाने की दूषित प्रथा समाप्त की जा सके। 'सुविधा के झण्डो' का अभिप्राय यह है कि जहाजो पर पानामा, होण्डुरास, लाइबीरिया आदि ऐसे देशो के झण्डे लगाये जाये और इन्हे उन देशो का जहाज माना जाय, जो अपना झण्डा लगाने के लिये कम से कम शर्तो तथा कम से कम नियन्त्रण की माँग करते हैं। जहाजो को एक देश का ही झण्डा लगाकर यात्रा करनी चाहिये, अपनी एक यात्रा मे या किसी बन्दरगाह पर राष्ट्र के झण्डे को तब तक नही बदलना चाहिये, जब तक कि जहाज के स्वामित्व मे या रजिस्ट्री मे वास्तविक परिवर्तन न हो। यदि कोई जहाज दो या अधिक राज्यो का झण्डा लगाता है, इनका प्रयोग अपनी सुविधा के अनुसार करता है तो इसे किसी देश का भी जहाज नही समझा जायगा, यह राष्ट्रीयताहीन (without nationality) माना जायगा।

महासमुद्रों मे जहाजो पर क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) के विषय मे यह मौलिक सिद्धान्त माना गया है कि संधि की अथवा असाधारण दशा को छोडकर सामान्य रूप से महासमुद्रो मे जहाजो पर केवल उसी राज्य का क्षेत्राधिकार होगा, जिसका झण्डा उस पर फहरा रहा होगा। महासमुद्रो मे होने वाली जहाजो की टक्करो के सम्बन्ध मे **लोटस** (Lotus) के मामले मे दिये गये निर्णय से प्रतिकूल नियम बनाते हुए इसमे स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि महासमुद्रो मे हुई दुर्घटना के सम्बन्ध मे कोई दण्डात्मक या अनुशासनात्मक कार्यवाही केवल दो राज्यों के उपयुक्त अधिकारियो द्वारा की जा सकती है—(क) उस जहाज पर लगे झण्डे वाला देश या ध्वजराज्य (Flag State), (ख) वह राज्य जिसके नागरिक ने दुर्घटना आदि का अपराध किया है (धारा ११)। ध्वजराज्य को महासमुद्रो मे अपने जहाज पर पूर्ण

तथा अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction) है, दूसरे राज्य केवल तीन दशाओं मे इस पर क्षेत्राधिकार रखते है—(क) समुद्री डकैती (Piracy), (ख) दास-व्यापार, (ग) तीव्र अनुसरण (Hot pursuit)। आगे यथा स्थान इनका वर्णन किया जायगा।

कारखानो, यन्त्रो आदि की मलिनताओ तथा गन्दे तेल को समुद्र मे डालकर उसके पानी को गदला बनाने से रोकने के लिये इसमे कलुषीकरण विरोधी उपायो (Anti-pollution measures) का निर्देश करते हुए इसमे कहा गया है कि सब देश अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो को ऐसे उपाय अपनाने मे सहयोग देंगे, जो समुद्र को तथा उसके ऊपर के आकाश को रेडियो एक्टिव तत्वो से या अन्य साधनो से कलुषित एव मलिन होने से बचाने के उद्देश्य से किये गये हो (धारा २४-२५)।

इस समझौते पर विचार करने वाली कमेटी ने आणविक आयुधो और इनके परीक्षणो से समुद्रजल के गन्दा होने के प्रश्न पर विशेष रूप से विचार किया। जापान के प्रतिनिधि आकिरा ओहा (Akira Oha) ने ११ मार्च १९५८ को इस बात पर बल दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा तय्यार किये गये प्रारूप मे कहा गया है कि "राज्यो का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे ऐसे सभी कार्य न करे, जिनमे अन्य राज्यो के नागरिको द्वारा महासमुद्रो के जल का प्रयोग अहितकर (Adverse) हो जाता हो।" जापानी प्रतिनिधि की दृष्टि मे इसका यह अभिप्राय था कि महासमुद्रो के जलो को आणविक परीक्षणो द्वारा दूषित नही किया जाना चाहिये। अत इस विषय मे स्पष्ट रूप से नियम बनाने चाहिये। किन्तु ब्रिटिश और अमरीकन प्रतिनिधियो का यह मत था कि यह प्रश्न नि शस्त्रीकरण पर तथा आणविक आयुधो के परीक्षणो तथा उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सधिवार्ता से सम्बद्ध है अत इस पर यहाँ पृथक् रूप से विचार सम्भव नही है।

इस प्रश्न पर विचार के समय तीन प्रस्ताव रखे गये। पहला प्रस्ताव सोवियत सघ, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड और यूगोस्लाविया की ओर से सयुक्त रूप मे पेश किया गया, इसमे महासमुद्रो की स्वतन्त्रता वाली धारा मे यह वाक्य जोडने को कहा गया था कि "राज्य इस बात के लिये बाध्य है कि वे महासमुद्रो मे आणविक आयुधो के परीक्षण न करें।" ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका, पाकिस्तान तथा टर्की ने उपर्युक्त कारणो के आधार पर इसका विरोध किया। दूसरा प्रस्ताव ग्रेट ब्रिटेन ने आणविक आयुधो के प्रश्न को जनरल असेम्बली को सौंपने का किया। इसका विरोध अल्बानिया, चैकोस्लोवाकिया, भारत, जापान, रूमानिया, सोवियत सघ, स० अरब गणराज्य तथा यूगोस्लाविया ने इस आधार पर किया कि इससे आणविक आयुधो के परीक्षणो से उत्पन्न होने वाली प्रबल आशका और भीति पूरे रूप मे प्रकट नही होती। यह प्रस्ताव भी पास नही हो सका। अन्त मे भारत द्वारा समझौते के रूप मे उपस्थित किया गया तीसरा प्रस्ताव पास हो गया। इसमे अनेक राज्यो की यह "गम्भीर तथा वास्तविक आशका स्वीकार की गयी थी कि आणविक विस्फोट महासमुद्रो की स्वतन्त्रता का उल्लघन है तथा यह सिफारिश की जाती है कि यह मामला इस बात को ध्यान मे रखते हुए जनरल असेम्बली

को सौंपा जाय कि आणविक परीक्षणों का प्रश्न अभी असेम्बली में विचारणीय है।"[13] इस प्रकार इस प्रस्ताव में पहले दो प्रस्तावों का समन्वय था, अत यह ५० वोटों के बहुमत से पास हो गया, दूसरे के विरोध में जापान, चिली, इक्वेडोर और पीरू के चार वोट थे, सोवियत संघ और उसके समर्थकों तथा युगोस्लाविया ने इस प्रस्ताव पर वोट नहीं दिया।

महासमुद्र में तीव्र अनुसरण (Hot pursuit in High Seas)—तटवर्ती राज्य के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उसे यह अधिकार प्रदान किया गया है। इसका आशय यह है कि यदि कोई तटवर्ती राज्य किसी प्रमाण के आधार पर यह समझता है कि किसी विदेशी जहाज ने उसके कानूनों और नियमों का उसके प्रादेशिक समुद्र की सीमा के भीतर उल्लंघन किया है तो महासमुद्रों में इस जहाज का पीछा करके उसे पकड़ा जा सकता है। तेजी से पीछा करने या तीव्र अनुसरण की शर्त निम्नलिखित है—

(क) यह अनुसरण तत्काल उसी समय से शुरू हो जाना चाहिये जब विदेशी पोत तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र में हो। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इसके संस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zone—देखिये ऊपर, पृ० २१५) में होने पर इसका अनुसरण वैध माना है।

(ख) अनुसरण निरन्तर तथा निर्बाध (Continuous and uninterrupted) होना चाहिये।

(ग) इस अनुसरण से पहले किसी दृश्य या श्रव्य सकेत द्वारा उसे रुकने के लिये चेतावनी इतनी दूरी से दी गयी हो कि वह उसे दिखाई या सुनाई दे।

(घ) पीछा करने वाले जहाज युद्धपोत या सैनिक विमान हो सकते हैं, अधिकार-सम्पन्न गश्ती जहाज हो सकते हैं। तीव्र अनुसरण का सिद्धान्त मुख्य रूप से तटकर के तथा मछलीगाहों के नियम तोड़ने वालों पर लागू किया जाता है। यह अनुसरण राज्य के हितों को मार्मिक हानि पहुँचाने वाले मामलों में ही किया जाता है, कानूनों के क्षुद्र उल्लंघनों पर ऐसा अनुसरण वैध नहीं समझा जाता।"[14]

१९५८ के महासमुद्रों के अभिसमय में तीव्र अनुसरण-विषयक व्यवस्था—१९५८ में ८७ राज्यों के समुद्री कानून सम्मेलन ने महासमुद्रों के अभिसमय (Convention on High Seas) में तीव्र अनुसरण (Hot pursuit) के सम्बन्ध में धारा २३ में निम्न व्यवस्था की है जब तटवर्ती राज्य के पास यह विश्वास करने का उत्तम प्रमाण हो कि किसी जलपोत ने उस राज्य के कानूनों और नियमों का उल्लंघन किया है तो उस विदेशी पोत का तीव्र अनुसरण किया जा सकता है। यह अनुसरण तटवर्ती राज्य के आन्तरिक समुद्र (Internal Waters) अथवा प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) में आरम्भ होना चाहिये। यदि विदेशी जहाज संस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zone)

---

१३. कीसिंग्स आर्काइव्ज, २७ सितम्बर से ४ अक्टूबर, १९५८, पृ० १६४१५

१४. इस सिद्धान्त के विशद विवेचन के लिये देखिये—ब्रिटिश यीअर बुक ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, १९३९, पृ० ८३।

मे हो तो इसका अनुसरण तभी किया जा सकता है, जबइसने ऐसे नियमो का उल्लघन किया हो, जिनके पालन के लिये यह क्षेत्र स्थापित किया गया था। तीव्र अनुसरण का अधिकार पीछा किये जाने वाले विदेशी जहाज के देश के अथवा किसी अन्य देश के प्रादेशिक समुद्र की सीमा के भीतर पहुँचते ही समाप्त हो जाता है। तीव्र अनुसरण का अधिकार केवल इन्ही जहाजो को है—(क) युद्धपोत, (ख) सैनिक विमान, (ग) राज्य की ओर से विशेष रूप से अधिकार दिये गये जलीय अथवा हवाई जहाज। यदि यह तीव्र अनुसरण किसी विमान द्वारा किया जाय तो इसे उस समय तक पीछा करना चाहिये जब तक तटवर्ती देश का कोई अन्य जहाज उसका पीछा न करने लगे अथवा विमान स्वयमेव नियम उल्लघन करने वाले जहाज को बन्दी न बना ले। महासमुद्रो म किसी जहाज को बन्दी बनाने के लिये यह पर्याप्त नही है कि तटवर्ती राज्य के विमान ने नियम उल्लघन करने वाले जहाज को केवल देख लिया है, इसके लिये यह आवश्यक है कि इसका पीछा निरन्तर तथा निर्बाध (Uninterrupted) रूप से किया गया हो। यदि किसी जहाज को महासमुद्रो मे ऐसी परिस्थितियो म रोका जाय, जिनमे तीव्र अनुसरण न्यायोचित न हो तो इस प्रकार जहाज को ठहराने या रोकने से होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति की जानी चाहिये।

महासमुद्रो मे समुद्री डकैती का दमन (Piracy in High Seas)—सब राज्यो को यह अधिकार है कि वे खुले समुद्र म समुद्री डाकुओ (Pirates) या जलदस्युओ का दमन करें। सब देशो के हित की दृष्टि से इनका दमन वाछनीय है अत यह अधिकार सार्वभौम रूप से सब राज्यों को प्रदान किया गया है कि जलदस्यु जिस किसी राज्य की पकड मे आये, वह उसे दण्ड दे। इस प्रकार का नियम बनाने का मूल यह विचार है कि समुद्री डाकू मानव जाति का शत्रु (Hostis humani genesis–**सर्वेषा मानवाना शत्रु**) है। अपने जघन्य आचरण के कारण समुद्री डाकू अपनी मातृभूमि स नागरिकता के आधार पर मिलने वाले सरक्षण से वचित समझा जाता है।

पहले समुद्री डकैती का लक्षण यह किया जाता था कि यह कानून की रक्षा से विवचित या आततायी (Outlaw) व्यक्तियो द्वारा महासमुद्रा म की जाने वाली हत्या या डकैती है। ओपेनहाइम के मतानुसार 'यह व्यक्तियो या सम्पत्ति के सम्बन्ध मे हिंसा का प्रत्येक ऐसा अनधिकृत कार्य है, जो खुले समुद्र मे एक निजी जहाज द्वारा दूसरे जहाज के विरुद्ध किया जाता है, या एक जहाज के विद्रोही नाविक या सवारियाँ इस जहाज के विरुद्ध करती है'[१५] मूर (Moore) का लक्षण बडा स्पष्ट है- "समुद्री डाकू वह व्यक्ति है जो किसी राज्य से कानूनी अधिकार पाये विना एक जहाज पर इस इरादे से हमला करता है कि वह इसकी सम्पत्ति लूट लगा।' किन्तु अब इसकी परिभाषा काफी व्यापक कर दी गयी है। १९५६ मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इसका लक्षण करते हुए कहा था कि यह वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से किया गया हिंसा, निरोध या लूटपाट का कोई भी अवैध कार्य है, इसे किसी वैयक्तिक जलपोत या विमान पर सवार व्यक्तियो

१५. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० १, पृ० ६१०

द्वारा महासमुद्रो पर या स्वामीहीन समुद्रो या प्रदेश पर किसी दूसरे जलपोत, व्यक्तियों या जलपोत की सम्पत्ति के विरुद्ध किया जाता है।

उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि समुद्री डकैती के निम्नलिखित प्रमुख तत्व हैं—

(क) यह किसी व्यक्ति या सम्पत्ति के विरुद्ध अनधिकृत हिंसा (Unauthorised violence) का कार्य होना चाहिये।

(ख) यह कार्य खुले समुद्र में होना चाहिये।

(ग) यह एक वैयक्तिक जहाज द्वारा दूसरे वैयक्तिक जहाज के विरुद्ध अथवा विद्रोही नाविकों या सवारियों का अपने जहाज के विरुद्ध होना चाहिये।

(घ) इसके लिये लूटपाट में सफल होना आवश्यक नहीं, इसके लिये किया गया विफल प्रयत्न भी समुद्री डकैती है।

(ङ) इसका लक्ष्य सार्वजनिक नहीं, किन्तु वैयक्तिक है। Ambrose light के मामले में यह फैसला दिया गया था कि महासमुद्र में सन्देहपूर्ण परिस्थितियों में यात्रा करने वाला सशस्त्रपोत जलदस्यु (Pirate) समझा जाना चाहिये। कोई सार्वजनिक पोत जलदस्यु का काम नहीं कर सकता, यह कार्य केवल निजी जहाज द्वारा ही हो सकता है। एक युद्धकारी देश द्वारा किसी सशस्त्र वैयक्तिक जलपोत को यह काम सौंपा जा सकता है कि वह उसके शत्रु के जहाजों को लूटे, इसे निजीयोधक (Privateer) कहते हैं। जब तक यह शत्रु के जहाजों की लूटपाट करता है, तब तक इसका कार्य समुद्री डकैती में नहीं गिना जाता है, किन्तु यदि अन्य राज्यों को लूटने लगे तो यह जलदस्युता होगी। किसी देश में गृहयुद्ध होने की स्थिति में यदि विद्रोहियों को युद्धावस्था की मान्यता न मिली हो तो उनका निजीयोधक जलदस्यु समझा जायगा।

१६२२ में वाशिंगटन के नौ-सम्मेलन में यह प्रस्ताव रक्खा गया था कि *पनडुब्बियों तथा जलपोतों के जो व्यक्ति समुद्री युद्ध के मानवीय नियमों* को तोड़ें, उन्हें भी जलदस्युता का दण्ड दिया जाय। १६३७ के स्पेन के गृहयुद्ध में भूमध्यसागर में अनेक व्यापारी जहाज पनडुब्बियों द्वारा नष्ट कर दिये गये। यह समझा जाता था कि ये कार्य इटली की सरकार की आज्ञा से किये गये थे। इनसे युद्ध का संकट उत्पन्न हो गया, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत यूनियन, टर्की, रूमानिया, बल्गारिया, ईजिप्ट और यूगोस्लाविया ने यह समझौता किया कि पनडुब्बियों के ऐसे कार्य जलदस्युता समझे जायें और सब राज्यों की सेनायें इन पनडुब्बियों के नष्ट करने का प्रयत्न करें।

१६५८ के महासमुद्रों के अभिसमय (Convention on High Seas) में समुद्री डकैती के दमन पर बल देते हुए कहा गया है कि सब राज्यों को इसमें अधिकतम सहयोग देना चाहिये (धारा १४-१६)। महासमुद्रों में प्रत्येक राज्य समुद्री डाकुओं के अथवा इनसे नियंत्रित जहाज पकड़ सकता है, ऐसा कार्य करने वालों को बन्दी बना सकता है और समुद्री डाकुओं की सम्पत्ति जब्त कर सकता है (धारा १६)। इस प्रकार की जब्ती तथा डकैती के दमन का कार्य केवल सरकार द्वारा अधिकार प्राप्त युद्धपोत (Warships) या सैनिक विमान अथवा अन्य जहाज कर सकते हैं।

तेरहवाँ अध्याय

राष्ट्रीयता

(Nationality)

राष्ट्रीयता का स्वरूप तथा लक्षण (Nature and definition of Nationality)— राष्ट्रीयता व्यक्ति और राज्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली महत्वपूर्ण कड़ी है क्योंकि राष्ट्रीयता के माध्यम से ही सामान्य रूप से व्यक्ति राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लाभों का उपभोग करते हैं। राष्ट्रीयता और नागरिकता से हीन व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सरक्षण का कोई उपयोग नहीं उठा सकते। यदि उन्हे किसी राज्य से कोई हानि उठानी पड़ती है तो कोई भी राज्य उनका मामला उठाकर उन्हें न्याय दिलाने की क्षमता नहीं रखता। किन्तु राष्ट्रीयता रखने वाले व्यक्ति के साथ विदेश मे ऐसा होने पर उसका राष्ट्र उसे उचित न्याय दिलाने का यत्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून म राष्ट्रीयताहीन व्यक्ति की स्थिति अनाथ जैसी है। अतएव राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे असाधारण गरिमा प्राप्त है।

ओपेनहाइम ने राष्ट्रीयता का सबसे सुन्दर और सरल लक्षण करते हुए लिखा है— "एक व्यक्ति की राष्ट्रीयता उसका किसी राज्य की प्रजा होना और इसलिये इसका नागरिक होना है।"[1] हाइड के मतानुसार "राष्ट्रीयता राज्य और व्यक्ति का एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसके कारण राज्य उस व्यक्ति को अपने प्रति निष्ठा (Allegiance) रखने वाला समझता है।" फेनविक के शब्दों मे राष्ट्रीयता "ऐसा बन्धन है जो एक व्यक्ति को एक राज्य के साथ संयुक्त करता है, उसे एक विशेष राज्य का सदस्य बनाता है, इससे उसे राज्य से सरक्षण पाने का अधिकार मिलता है तथा उसका मुख्य कर्तव्य होता है कि वह उस राज्य के बनाये गये कानूनों का पालन करे।" स० रा० अमरीका मेक्सिको सामान्य दावा आयोग (U.S Mexico General Claims Commission) ने Re Lynch Claim के मामले में इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा था—"एक मनुष्य की राष्ट्रीयता का मौलिक आधार उसका एक स्वतन्त्र राजनीतिक समुदाय का सदस्य होना है। इस कानूनी सम्बन्ध से नागरिक और राज्य दोनो के कुछ अधिकार और कर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं।"

राष्ट्रीयता का आशय केवल किसी देश की प्रजा होना नहीं किन्तु इसके साथ कुछ अधिकार और कर्तव्यों का भी उपभोग करना है। हिटलर के समय मे १९३५ के जर्मन कानून मे प्रजा (Subject) और नागरिक (Citizen) मे अन्तर किया गया था। जर्मन प्रजा तभी जर्मन नागरिक बन सकती थी, जबकि उसमे ट्यूटानिक रक्त हो और

1. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खड १, अष्टम संस्करण, पृ० ६४२-३

वह जर्मन राष्ट्र की सेवा के लिये उद्यत हो। यहूदियों में यह रक्त नहीं था, अत उन्हें जर्मन नागरिकता और राष्ट्रीयता के अधिकार नहीं प्राप्त थे। रूमानिया में यहूदियों को नागरिक मानते हुए भी अनेक अधिकारों से वचित किया गया था। राष्ट्रीयता को नस्ल का पर्याय समझना भी भ्रान्ति है, भारत के राष्ट्रजनों (Nationals) के लिये यहाँ की किसी नस्ल का होना आवश्यक नहीं, कोई अंग्रेज या किसी जाति का व्यक्ति यहाँ आकर नागरिकता के लिये निर्धारित शर्तें पूरी करने के बाद भारत की राष्ट्रीयता प्राप्त कर सकता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण विश्वविख्यात वैज्ञानिक श्री जे० बी० हाल्डेन द्वारा भारत की राष्ट्रीयता प्राप्त करना है।

राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व (International Importance of Nationality)—स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रीयता के निम्नलिखित परिणाम बताये हैं[1]—

(क) इससे विदेशों में व्यक्ति को राजनयिक साधनों द्वारा रक्षा पाने (Diplomatic protection) का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(ख) यदि कोई राज्य किसी व्यक्ति के गलत कार्यों से हानि उठाता है, तो उस व्यक्ति का राष्ट्र इस राज्य के प्रति इस हानि के लिये उत्तरदायी होता है।

(ग) राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरे देशों से अपने नागरिकों के वापिस किये जाने पर उन्हें ग्रहण करे।

(घ) राष्ट्रीयता के कारण नागरिकों को अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा और राजभक्ति रखनी पड़ती है और इस कारण उन्हें अपने राष्ट्र में सैनिक सेवा करनी पड़ती है।

(ङ) एक राज्य को यह सामान्य अधिकार प्राप्त है कि वह दूसरे राज्यों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी अपने नागरिकों का प्रत्यर्पण (Extradition) न करे।

(च) युद्ध के समय किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता द्वारा ही उसकी शत्रुता या मित्रता का निश्चय होता है।

(छ) राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर अपने क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) का प्रयोग कर सकता है। उदाहरणार्थ वैयक्तिक क्षेत्राधिकार (Personal Jurisdiction) के मामले में कोई राज्य विदेश में अपराध कर आने पर भी अपने नागरिक को उस देश को सौंपने से इन्कार कर सकता है। इसी प्रकार कोई देश किसी अन्य देश के नागरिक द्वारा विदेश में इस राज्य के किसी नागरिक के विरुद्ध किये अपराध के सम्बन्ध में उसके अपने देश में आने पर उस पर मुकद्दमा चला सकता है। इस विषय में कटिंग के सुप्रसिद्ध उदाहरण का पहले उल्लेख किया जा चुका है (देखिये ऊपर, पृ० २७१)।

राष्ट्रीयता की प्राप्ति के प्रकार (Modes of Acquisition of Nationality) किसी देश की राष्ट्रीयता पाने के पाँच मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं—

(क) जन्म (Birth)—यह राष्ट्रीयता की प्राप्ति का सबसे स्वाभाविक और

---

१. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० २५१-२

महत्वपूर्ण प्रकार है। सब देशो मे अधिकाश व्यक्ति इसी प्रकार नागरिक बनते है, किन्तु सर्वत्र इसके नियम एक जैसे नही है, इनमे बडी विभिन्नता है।

(अ) जर्मनी जैसे कुछ देशो मे यह केवल रक्त नियम (Jus sanguinis) के आधार पर होती है। इसके अनुसार सन्तान उसी राष्ट्र का नागरिक समझी जाती है, जिसका नागरिक उसके माता पिता होते है। इसमे माता-पिता के रक्त की राष्ट्रीयता के आधार पर सन्तान की राष्ट्रीयता निर्धारित होती है। इसे **पितृमूलक या वशमूलक राष्ट्रीयता** कह सकते है। उदाहरणार्थ, भारत या ग्रेट ब्रिटेन मे उत्पन्न होने पर भी जर्मन माँ-बाप की सन्तान जर्मन होगी, न कि भारतीय या ब्रिटिश।

(आ) भूमि का नियम (Jus soli)—इसके अनुसार राष्ट्रीयता माता-पिता के रक्त सम्बन्ध पर नही, किन्तु केवल मात्र उस भूमि या प्रदेश पर निर्भर होती है, जहाँ कोई बच्चा जन्म लेता है। अर्जण्टायना मे ऐसा ही नियम है। अत उस देश की भूमि मे जन्म लेने वाला शिशु भारतीय या ब्रिटिश मा बाप की सन्तान होने पर भी अर्जण्टायना का नागरिक माना जायगा। यह **जन्ममूलक नागरिकता** है।

(इ) स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन मे नागरिकता के उपर्युक्त दोनो नियम समान रूप से स्वीकार किये जाते है। वे अपने देश मे उत्पन्न सभी व्यक्तियो की सन्तान को अपने देश की नागरिकता प्रदान करते है, भले ही उनके माता पिता अन्य देशो के नागरिक हो। इसके साथ ही, वे अपने नागरिको की अन्य देशो मे उत्पन्न हुई सन्तान को भी अपनी राष्ट्रीयता प्रदान करते है। १९४८ के ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून (British Nationalities Act) तथा १९५२ के United States Nationality Act मे इसी व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। प्राय वायुयान और जलयान मे जन्म लेने वाले बच्चे जहाज पर झडा फहराने वाले देश के नागरिक माने जाते है। किन्तु स० रा० अमरीका के कानून के अनुसार उसके जहाजो मे जन्म लेने वाले बच्चे यदि विदेशी माता-पिता की सन्तान है तो उन्हे अमरीकी राष्ट्रीयता नही प्राप्त होती है।

१९५५ के भारतीय नागरिकता कानून (Indian Citizenship Act) मे उपर्युक्त दोनो नियम माने गये है। **भूमि नियम** के अनुसार इसके सैक्शन ३ मे यह व्यवस्था की गयी है कि २६ जनवरी १९५० के बाद भारतभूमि मे जन्म लेने वाला ऐसा प्रत्येक व्यक्ति भारतीय नागरिक है, जिसके माता-पिता विदेशी राजदूतो की उन्मुक्तियाँ (Immunities) न रखते हो। ऐसे व्यक्तियो की सन्तान भारत मे पैदा होने पर भी भारत का नागरिक नहीं बनेगी। सैक्शन ४ मे **पितृमूलक** सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह कहा गया है कि २६ जनवरी १९५० के बाद विदेशो मे उत्पन्न हुए ऐसे सभी बच्चे भारतीय नागरिक समझे जायगे, जिनके पिता सन्तान के जन्म के समय भारतीय नागरिक हो।

(ख) राष्ट्रीयता प्राप्त करने का दूसरा प्रकार—देशीयकरण (Naturalisation) है। जब कोई विदेशी व्यक्ति विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओ द्वारा किसी देश की नागरिकता प्राप्त करता है तो इसे देशीयकरण कहा जाता है। ये प्रक्रियाये विवाह मे पत्नी द्वारा पति की राष्ट्रीयता पाना, अवैध सन्तान का वैधता से पिता की नागरिकता

पाना (Legitimation), दो नागरिकताओं में विकल्प द्वारा एक का चुनाव करना, किसी देश मे अधिवास ग्रहण करने से इसे पाना (Acquisition by domicile), सरकारी अधिकारी के रूप में नियुक्ति तथा आवेदनपत्र द्वारा पाना है। प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री केलसन ने लिखा है "देशीयकरण में राज्य अपनी प्रशासनात्मक कार्यवाही द्वारा किसी विदेशी व्यक्ति को अपनी नागरिकता प्रदान करता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक सामान्य नियम विदेशी को उसकी सहमति के बिना अपनी नागरिकता प्राप्त करने का निषेध करता है। अत देशीयकरण केवल उसी दशा में सम्भव है, जब विदेशी नागरिकता पाने के लिये प्रार्थनापत्र देता है।" यह विशुद्ध रूप से सरकार की इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी विदेशी का प्रार्थनापत्र बिना कोई कारण बताये अस्वीकार कर दे। पाबन्दियां

देशीयकरण से प्राप्त होने वाली नागरिकता पर कई पाबन्दियां लगाई जा सकती हैं और इसमें प्राप्त होने वाले अधिकार स्वाभाविक नागरिकता के अधिकारों से कम होते है। उदाहरणार्थ, स० रा० अमरीका मे कोई देशीयकृत (Naturalised) नागरिक राष्ट्रपति निर्वाचित नही हो सकता। १६४८ के ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून के अनुसार देशीयकरण के लिये कुछ शर्तों का पूरा करना आवश्यक है, इसका आवेदनपत्र देने की तिथि से पहले १२ मास तक उस व्यक्ति का निरन्तर ग्रेट ब्रिटेन में आवास अथवा राजकीय सेवा करना आवश्यक है, इससे पहले ७ वर्षों मे कम से कम चार वर्ष के लिये उसका ग्रेट ब्रिटेन या इसके उपनिवेशो, संरक्षित अथवा न्यास प्रदेशो मे रहना, उत्तम चरित्र तथा अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त ज्ञान होना और भविष्य मे इगलैंड मे ही रहने का इरादा होना जरूरी है। देशीयकरण का प्रमाण-पत्र गृहमत्री द्वारा निम्नलिखित कारणों के आधार पर भी रद्द किया जा सकता है—प्रमाण-पत्र की प्राप्ति के लिये धोखे का प्रयोग, महारानी के प्रति राजभक्ति का अभाव, युद्ध मे शत्रुओं के साथ सम्पर्क, ७ वर्ष तक निरन्तर विदेशो मे निवास। भारत मे १६५५ के राष्ट्रीयता कानून के अनुसार देशीयकरण का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने वाले व्यक्ति मे निम्न विशेषतायें होनी चाहियें—वह ऐसे देश का नागरिक न हो, जहाँ भारतीयो को नागरिकता प्राप्त करने मे कानूनी बाधा है, दूसरे देश की नागरिकता का परित्याग कर देना, प्रार्थनापत्र देने मे पहले १२ महीने तक भारत मे निवास या भारत सरकार की नौकरी, उत्तम चरित्र, भारतीय भाषा का पर्याप्त ज्ञान, भविष्य मे भारत में रहने या नौकरी करने का इरादा। केन्द्रीय सरकार विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, विश्वशान्ति अथवा मानवीय उन्नति के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य और सेवायें करने वाले व्यक्ति को उपर्युक्त विशेषतायें न होने पर भी भारतीय नागरिक बना सकती है, ऐसे व्यक्ति को भारतीय सविधान के प्रति निष्ठा की शपथ ग्रहण करनी पड़ती है। १६५६ में स्वेज नहर पर ब्रिटिश आक्रमण के बाद ब्रिटिश नागरिकता का परित्याग कर भारत आने वाले सुप्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक हाल्डेन को इसी प्रकार भारतीय नागरिक बनाया गया है।

(७) (ग) पुनःप्राप्ति (Resumption)—यह तब होता है जब कोई व्यक्ति देशीयकरण तथा विदेशों में निवास से अपनी स्वाभाविक राष्ट्रीयता को एक बार खोने के

बाद उसे पुन प्राप्त करता है।

(५) (घ) वशीकरण (Subjugation)—विजय के बाद किसी प्रदेश के शत्रु द्वारा अपने राज्य में मिलाये जाने पर उस प्रदेश के नागरिक विजेता देश की नागरिकता प्राप्त कर लेते है, जैसे ग्रालसेस-लारेन के फ्रेंच प्रदेश के १८७० मे जर्मन साम्राज्य का अग बनने पर उसके निवासियो ने फ्रेंच नागरिकता के स्थान पर जर्मन राष्ट्रीयता प्राप्त की।

(६) (ङ) प्रदेश के हस्तान्तर (Cession—देखिये ऊपर पृ० २४७) के समय हस्तान्तरित किये जाने वाले प्रदेश के नागरिक उस देश की राष्ट्रीयता प्राप्त करते हैं, जिसे यह प्रदेश हस्तान्तरित किया जाता है।

राष्ट्रीयता की हानि के पाँच प्रकार (Loss of Nationality, Five Modes)—ओपेनहाइम के मतानुसार कोई नागरिक निम्नलिखित ढगों से अपने देश की राष्ट्रीयता से वचित भी हो सकता है—

(१) (क) मुक्ति (Release or Renunciation)—जर्मनी जैसे कुछ राज्य अपने नागरिको को यह अधिकार प्रदान करते हैं कि वे अपने राज्य से नागरिकता के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना कर सकते है। यह नागरिको द्वारा अपनी राष्ट्रीयता का स्वेच्छापूर्वक किया गया परित्याग है।

(२) (ख) वचन (Deprivation)—कुछ राज्य अपने राष्ट्रीयता कानूनो मे स्पष्ट रूप से उन अवस्थाओ का उल्लेख करते हैं, जिनमे किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता छीनी जाती है। उदाहरणार्थ, १९५५ के भारतीय नागरिकता कानून के दसवे सेक्शन मे इनका विस्तृत विवरण है। इनमें मुख्य दशायें इस प्रकार है—देशीयकरण का प्रमाणपत्र धोखे से प्राप्त करना, किसी नागरिक द्वारा भारतीय सविधान के प्रति निष्ठा के प्रतिकूल किया गया कोई अपना कार्य छिपाना, किसी देश के साथ भारत का युद्ध होने की दशा मे शत्रु को सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से उसके साथ व्यापार करना, देशीयकरण प्राप्त करने के पाँच वर्ष के अन्दर किसी न्यायालय द्वारा कम से कम २ वर्ष के लिए दण्डित होना, सात वर्ष तक निरन्तर देश से बाहर रहना—विद्याध्ययन या भारत सरकार की या अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की नौकरी के कारण विदेश मे रहने वाले पर यह शर्त लागू नही होती। केन्द्रीय सरकार किसी व्यक्ति को राष्ट्रीयता से वचित करने मे पूर्व उसे इसके कारणों की सूचना देनी है, इस विषय मे विशेष मामलो का विचार सरकार द्वारा नियुक्त जाँच समिति भी कर सकती है। ग्रेट ब्रिटेन के कानून के अनुसार वहाँ की नागरिकता से वचित किये जाने के कारणो का पहले उल्लेख हो चुका है।

स० रा० अमरीका के १९५२ के कानून के अनुसार दूसरे देश की सशस्त्र सेनाओ मे सेवा करने वाला, विदेश के चुनाव मे वोट देने तथा भाग लेने वाला व्यक्ति अपनी नागरिकता खो बैठता है। इसी प्रकार युद्ध मे स० रा० अमरीका की सेना की नौकरी छोडने वाला, देशद्रोह करने वाला तथा युद्ध के समय सैनिक सेवा से बचने के इरादे से स० रा० अमरीका के क्षेत्राधिकार से बाहर रहने वाला व्यक्ति भी राष्ट्रीयता से वचित कर दिया जाता है।

(ग) दीर्घकालीन विदेश निवास (Long residence abroad)—अनेक देशों के राष्ट्रीय कानूनों मे कुछ निश्चित अवधि तक निरन्तर विदेश में रहने के कारण व्यक्ति की नागरिकता समाप्त हो जाती है। स० रा० अमरीका मे यह अवधि सामान्य रूप से ५ वर्ष है, ग्रेट ब्रिटेन और भारत में सात वर्ष है। सरकारी सेवा या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नौकरी मे बाहर रहने की दशा मे यह नियम लागू नही होता।

(घ) कुछ देशो म बालिग होने पर सन्तान को यह अधिकार दिया जाता है कि वह अपनी राष्ट्रीयता का चुनाव कर सके। जिन देशो मे माता-पिता के विदेशी होने पर भी जन्ममूलक या भूमि नियम (Jus soli) की नागरिकता का नियम प्रचलित है, वहाँ यह उचित समझा जाता है कि बच्चे को बडा होने पर अपनी जन्मभूमि या पिता के देश मे से किसी एक की नागरिकता चयन करने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। भारतीय पिता-माता की स० रा० अमरीका मे पैदा होने वाली सन्तान को बालिग होने की अवस्था मे यह निर्णय करना होगा कि वह स० रा० अमरीका की या भारत की नागरिकता मे से किसे ग्रहण करे और किसका परित्याग करे। १९४८ के ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून के अनुसार इस प्रकार की सतान को किसी एक राष्ट्रीयता के परित्याग की विधिवत् घोषणा करनी पडती है।

(ड) प्रत्यास्थापन (Substitution)—कुछ राज्यो के कानून के अनुसार दूसरे देश म देशीयकरण (Naturalisation) द्वारा नागरिकता प्राप्त करने पर यह पहले देश की नागरिकता के स्थान पर स्थापित हो जाती है, यह प्रत्यास्थापन है। इससे पहले देश की राष्ट्रीयता समाप्त हो जाती है। १९४८ के ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून के अनुसार दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण करने से ब्रिटिश राष्ट्रीयता स्वयमेव समाप्त नही हो जाती, किन्तु स० रा० अमरीका के कानून मे इस अवस्था मे पहली नागरिकता के स्वयमेव समाप्त होने की व्यवस्था है।

किसी प्रदेश या राज्य के अन्य राज्य मे विलय या हस्तान्तर के बाद पहले देश की नागरिकता स्वयमेव समाप्त हो जाती है, जैसे आल्सेस-लोरेन के पूर्वोक्त उदाहरण (पृ० २६३) मे फ्रेंच नागरिकता की समाप्ति।

दोहरी राष्ट्रीयता (Double Nationality)—विभिन्न देशो के राष्ट्रीयता कानूनो की तथा नागरिकता प्राप्ति की विविध व्यवस्थाओं के कारण कई बार एक व्यक्ति एक राज्य का नागरिक रहते हुए भी दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उसे दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, यह ज्ञानवश और अज्ञानवश, जानबूझ कर या बगैर किसी इरादे के दोनो प्रकार से प्राप्त होती है। ग्रेट ब्रिटेन मे जर्मन माँ बाप की सन्तान वहाँ के कानून के अनुसार जन्ममूलक तथा जर्मनी मे जर्मन कानून के अनुसार पितृमूलक दोहरी राष्ट्रीयता पा लेती है। अवैध सन्तान की वैधता (Legitimation) की अवस्था मे भी ऐसा होता है। इगलैण्ड मे एक जर्मन पिता तथा इगलिश माता की अवैध सन्तान ब्रिटिश है, किन्तु यदि सन्तान के बाद दोनो के विवाह द्वारा बच्चा वैध हो जाता है तो इसे जर्मन कानून के अनुसार जर्मन नागरिकता भी मिल जायगी। देशीयकरण (Naturalisation) से भी पहली नागरिकता समाप्त

न होने पर दोहरी नागरिकता उत्पन्न होती है। इस प्रकार की दोहरी नागरिकता वाले व्यक्तियों को कूटनीतिक भाषा में Subjects mixtes या मिश्रित प्रजाजन कहा जाता है।

दोहरी राष्ट्रीयता वाले व्यक्तियों को युद्ध के समय बड़ी मुसीबत उठानी पड़ती है। दोनों देश उसे अपना नागरिक समझते हुए उससे उनके प्रति निष्ठा रखने की आशा रखते है, ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी के युद्ध छिड़ने की दशा में दोनों की नागरिकता रखने वाले व्यक्ति को दोनों देश सैनिक सेवा के लिये बाध्य कर सकते है, ब्रिटिश सरकार उसे जर्मनी नागरिक समझते हुए बन्दी बना सकती है। १९१९-२० की शान्ति सन्धियों ने दोहरी राष्ट्रीयता की समस्याओं को बडा जटिल बना दिया था। १९३० में हेग के संहिताकरण सम्मेलन (Codification Conference) ने दोहरी राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में यह तय किया था कि दोनों राज्य इसे अपना प्रजाजन समझ सकते है, किन्तु ऐसे व्यक्ति को एक राज्य की नागरिकता उस राज्य की अनुमति से छोड देनी चाहिए। तीसरा राज्य इन दोनों में से उसकी प्रभावशाली राष्ट्रीयता (Effective Nationality) को ही स्वीकार करेगा। प्रभावशाली राष्ट्रीयता का अर्थ उस राज्य की नागरिकता है, जिसमें वह स्वाभाविक और मुख्य रूप से रहता है और जिसके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दोहरी राष्ट्रीयता का स्पष्टीकरण केनेवारो मामले (Canevaro Case) से हो जायगा। केनेवारो के पास इटली और पेरु दोनों देशों की दोहरी राष्ट्रीयता थी। वह पेरु राज्य की भूमि में जन्मग्रहण करने के कारण पेरु का राष्ट्रजन (Peruvian) था और इटालियन पिता की सन्तान होने के कारण इटली के कानून के अनुसार इटली का नागरिक था। पंचनिर्णय (Arbitration) के स्थायी न्यायालय ने इस मामले में निर्णय देते हुए कहा कि उसे पेरु का राष्ट्रजन समझना चाहिये क्योंकि उसने कई अवसरों पर पेरु के नागरिक जैसा व्यवहार किया है। वह कई बार पेरु की सीनेट की सदस्यता के लिये उम्मीदवार खडा हुआ, इसके लिये पेरु के नागरिकों के अतिरिक्त कोई खडा नहीं हो सकता। उसने हालैण्ड के महावाणिज्य-दूत (Consul General) का पद पेरु की सरकार और कांग्रेस में स्वीकृति पाने के बाद ग्रहण किया। "इन अवस्थाओं में पेरु की सरकार का उसे अपना नागरिक समझने तथा इटालियन नागरिक न मानने का पूरा अधिकार है।"

भारत में दोहरी राष्ट्रीयता सम्भव नहीं है। एक भारतीय नागरिक किसी दूसरे देश का नागरिक नहीं हो सकता है। सुप्रीम कोर्ट ने १९६३ में State Trading Corporation of India Ltd v Commercial Tax Officer (A I R, 1963, Sc 1811) में तथा Mohammad Raza Debstani v State of Bombay (A I R, 1966, Sc. 1436) में इस विषय में बड़ा स्पष्ट निर्णय दिया है। दूसरे मामले में अपील करने वाला मुहम्मद रजा देबस्तानी एक ईरानी नागरिक था, वह १९३८ में नाबालिग दशा में भारत चला आया था और यहाँ रहने लग गया था, १९४५ में वह ईरानी पासपोर्ट के आधार पर इराक गया, १९४६ में यहाँ वापिस लौटने पर १९३६

के Registration of Foreigners Rules के अनुसार ईरान के नागरिक के रूप में उसकी रजिस्ट्री हुई। इसके बाद वह भारत में निवास की अनुमति (Residential Permit) लेकर यहाँ रहता रहा। १९५७ मे इस अनुमति की अवधि समाप्त होने पर उसे भारत छोड़ने का आदेश दिया गया। इस पर उसने बम्बई के सिविल कोर्ट मे यह आवेदनपत्र दिया कि वह भारतीय नागरिक होने से विदेशी नही है, अतः बम्बई सरकार को उसे इस आधार पर उसे यहाँ से निकालने की कार्यवाही करने से रोका जाय कि वह विदेशी है। सिविल कोर्ट तथा बम्बई हाईकोर्ट ने उसकी यह प्रार्थना रद्द कर दी। इसके विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट मे अपील करते हुए उसने यह कहा कि वह भारतीय संविधान की धारा ५ के अनुसार भारत का नागरिक है क्योंकि संविधान लागू होने से पहले पांच वर्ष से वह भारत मे निवास (Domicile) कर रहा था। किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने इस युक्ति को स्वीकार न करते हुए कहा कि प्रार्थी जब १९३९ मे भारत आया था, उस समय वह नाबालिग था, उस समय अपने पिता के कारण उसका निवास स्थान ईरान था। उसका यह दावा है कि २१ नवम्बर १९४९ से पहले ईरानी निवास स्थान को छोड़कर भारतीय निवास स्थान ग्रहण कर चुका था। निवास स्थान के इस परिवर्तन को सिद्ध करने का उत्तरदायित्व (Omus of proof) उस पर है। ऐसा परिवर्तन तभी सिद्ध हो सकता है, जब उसने भारत को अपना घर बनाने का अथवा यहाँ स्थायी रूप से रहने का निश्चय कर लिया हो। उसने यह सिद्ध किया है कि १९३८ से एक वर्ष के अपवाद को छोड़ कर वह भारत मे निवास करता रहा है। किन्तु उसके इस निवास के प्रमाण के अतिरिक्त उसे इस बात का भी प्रमाण देना चाहिये था कि उसने भारत मे ही रहने का इरादा किया था। इस विषय मे कोई साक्षी न होने से वह ईरान का ही नागरिक है, भारत का नागरिक नही है। अपीलकर्ता ने निवास के लिए अनुमति माँगने वाले अपने पत्रों मे अपने को ईरानी नागरिक कहा है, अतः वह भारतीय नागरिक नहीं हो सकता है।

राज्यहीनता (Statelessness)—इसका अर्थ किसी राज्य का नागरिक न होने की दशा है। यह विभिन्न देशों के राष्ट्रीयता कानूनों के परस्पर संघर्ष का परिणाम है। आपेनहाइम ने अनेक अवस्थाओं मे इस दशा की उत्पत्ति बतायी है।[३] पहली अवस्था में जन्म से मनुष्य को कोई नागरिकता प्राप्त नहीं होती, जैसे जर्मनी मे ब्रिटिश माता की अवैध सन्तान, क्योंकि ब्रिटिश तथा जर्मन कानून ऐसी सन्तान को कोई राष्ट्रीयता नही प्रदान करते। इस प्रकार नागरिकताहीन व्यक्तियों की अगली सब सन्तानें राष्ट्रीयता से वंचित होगी। दूसरी अवस्था में ऊपर बताये गये कारणों से एक नागरिकता खोने के बाद दूसरी नागरिकता को न पाना है। क्रान्तियों मे नई सरकारों के बनने पर प्रायः ऐसा होता है। रूसी क्रान्ति के बाद रूस मे दूसरे देशों मे गये हुए रूसी स्वदेश वापिस लौटने के अनिच्छुक थे, इनकी रूसी नागरिकता नई सरकार द्वारा समाप्त कर दिये जाने पर ये राज्यहीन हो गये। भारत में इस समय कई हजार राज्यहीन चीनी हैं, ये

३. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड १, अष्टम संस्करण, पृ० ६६८

च्याग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार की राष्ट्रीयता रखते थे, उसके पारपत्रों पर यहाँ आये थे, अब इसका स्थान साम्यवादी सरकार ने ले लिया है, इस सरकार से नई नागरिकता प्राप्त न करने के कारण भारत के ऐसे सभी चीनी राज्यहीन हो गये हैं। श्रीलंका में इस समय दस लाख भारत से गये ऐसे व्यक्ति हैं, जो भारत की नागरिकता खो चुके हैं और लंका की सरकार ने उन्हें नागरिकता प्रदान नहीं की।

राज्यहीन व्यक्ति की दशा अनाथ जैसी दयनीय होती है। कोई राज्य कहीं भी उसके अधिकारों की रक्षा नहीं करता। यह वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की जटिल और ज्वलन्त समस्या है। इसकी उग्रता और तीव्रता के कारण दिसम्बर १९४८ के **मानवीय अधिकारों के सार्वभौम घोषणापत्र** के १५वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार है।" इस समस्या को हल करने के लिये १९३० के हेग सहिताकरण सम्मेलन ने यह व्यवस्था की थी कि जिन बच्चों के माता-पिता अज्ञात हों या जिनकी राष्ट्रीयता अज्ञात हो या न हो तो ऐसे बच्चों को उनके जन्म वाले देश की राष्ट्रीयता प्रदान करनी चाहिये।

ओपेनहाइम ने राज्यहीनता की दशा दूर करने के लिये दो सुझाव दिये हैं—(क) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जन्मभूमि के देश की राष्ट्रीयता पाने का अधिकार हो, बशर्ते कि बालिग होने पर वह घोषणा द्वारा अपने माता-पिता की राष्ट्रीयता न ग्रहण करे। (ख) किसी व्यक्ति को दण्डस्वरूप राष्ट्रीयता से वंचित नहीं करना चाहिये और विवाह द्वारा किसी स्त्री या पुरुष की राष्ट्रीयता की समाप्ति तब तक नहीं होनी चाहिये, जब तक कि वे नई राष्ट्रीयता न ग्रहण कर लें।

स्टार्क ने इस परिस्थिति में सुधार के लिये निम्न सुझाव दिये हैं[४]—(क) राज्य किसी व्यक्ति का *विराष्ट्रीयकरण* (*Denationalisation*) तब तक न करे जब तक कि इसके लिये न्यायोचित कारण न हो। (ख) उदार प्रकृति वाले राज्यों को राज्यहीन पुरुषों को अपनी नागरिता प्रदान करनी चाहिये। (ग) अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा इस अरक्षित स्थिति के दुष्परिणामों को दूर किया जाना चाहिये। इस प्रकार का एक समझौता शरणार्थियों के सम्बन्ध में २५ जुलाई १९५१ को सम्पन्न हुआ है। २८ सितम्बर १९५४ के न्यूयार्क में सम्पन्न "राज्यहीन व्यक्तियों की स्थिति सम्बन्धी अभिसमय" (Convention Relating to the Status of Stateless Persons) ने राज्यहीन व्यक्तियों को अनेक लाभ और सुविधायें प्रदान की हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने १९५३ में इस स्थिति का अध्ययन करके इसे दूर करने के सम्बन्ध में दो अभिसमयों के प्रारूप (Draft Conventions) स्वीकार किये हैं।

भारत में राष्ट्रीयताविषयक कानूनों का विकास हमारे देश में १९४७ में विभाजन के बाद राष्ट्रीयता के अनेक जटिल मामले भारतीय न्यायालयों के सम्मुख आये हैं तथा इस विषय में कुछ नियम तथा कानून बने हैं। १९४७ से पहले भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था, अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रसिद्ध नियम के

४. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण पृ० २५५

अनुसार सभी भारतीय ब्रिटिश प्रजाजन (British Nationals) समझे जाते थे क्योंकि जीते गये प्रदेश के सब निवासी विजय के बाद स्वत विजेता देश की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेते हैं।[५] १६१४ के The British Nationality and Status of Aliens Act ने इस उपर्युक्त व्यवस्था को कानूनी रूप प्रदान किया। इस कानून मे देशीयकरण (Naturalisation) द्वारा राष्ट्रीयता प्राप्त करने के लिये एक आवश्यक शर्त इगलिश भाषा का अथवा (कनाडा आदि मे) इसके समान दर्जा रखने वाली (फ्रेंच आदि) किसी भाषा का ज्ञान आवश्यक था। भारत मे अग्रेजी के समान दर्जा रखने वाली कोई स्थानीय लोकभाषा नही थी, अत हमारे देश के लिए ब्रिटिश कानून मे कुछ सशोधन आवश्यक था। १६२६ मे Indian Naturalisalition Act द्वारा यह व्यवस्था की गई कि जिन्हे अग्रेजी का ज्ञान न हो उन्हे उस प्रदेश मे प्रचलित प्रमुख लोकभाषा का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि १६१४ के कानून के अनुसार भारतीय भारत मे ही ब्रिटिश पजाजन थे, ग्रेट ब्रिटेन मे तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागो मे विदेशी (Alien) समझे जाते थे, केवल आवश्यकता पडने पर सौजन्यवश उन्हें ब्रिटिश राजदूतों और वाणिज्यदूतों द्वारा समुचित सरक्षण प्रदान किया जाता था।

१६४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून मे नागरिकता के सम्बन्ध मे कोई व्यवस्था नही की गई थी। अत १५ अगस्त १६४७ से २६ नवम्बर १६४६ को भारतीय सविधान के लागू होने तक इस विषय मे कानूनी शून्यता (Legal vaccum) की स्थिति बनी रही। भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भारतवासियो को 'स्वतन्त्र भारत के नागरिकों' का दर्जा अवश्य प्राप्त हुआ, किन्तु वे अभी तक ब्रिटिश प्रजाजन बने हुए थे। भारत की नागरिकता की शर्ते बिल्कुल अस्पष्ट थी। इन्हे नवीन भारतीय सविधान मे स्पष्ट करते हुए तीन प्रकार के व्यक्तियो को भारत का नागरिक माना गया (भाग २, धारा ५)। पहले प्रकार मे इस सविधान के लागू होने के समय भारत मे निवास स्थान रखने या अधिवास (Domicile) रखने वाले ऐसे सभी व्यक्ति भारत के नागरिक माने गये, (क) जिनका जन्म भारत मे हुआ था। (ख) जिसके माता-पिता मे से कोई एक भारत की सीमाओ मे उत्पन्न हुआ हो। (ग) जो सविधान लागू होने से कम से कम पाँच वर्ष पहले से भारत मे सामान्य रूप से निवास करता है। दूसरे प्रकार मे पाकिस्तान से भारत आने वाले ऐसे सभी व्यक्तियो को भारतीय नागरिक माना गया, जो व्यक्ति अथवा उनके माता या पिता १६३५ के भारत सरकार कानून द्वारा निर्धारित भारतवर्ष की सीमाओ मे रहते थे तथा १६ जुलाई १६४८ से पहले पाकिस्तान से भारत आये थे अथवा इसके बाद आवेदनपत्र देकर रजिस्ट्री द्वारा भारतीय नागरिक बने थे। तीसरे प्रकार के भारतीय नागरिक विदेशो मे रहने वाले भारतीय थे। सविधान मे भारतीय नागरिकता के सम्बन्ध इसमे अधिक कोई व्यवस्था नही की गई थी।

५. आपेनहाइम खण्ड १, पृ० ५७१, ६५७; हाल पृ० ६८६

१९५५ में इस विषय में विस्तृत व्यवस्थाएँ करनेवाला भारतीय नागरिकता कानून (The Indian Citizenship Act) बनाया गया। इसके अनुसार भारतीय नागरिकता की प्राप्ति पाँच प्रकार से हो सकती है—(क) जन्म से, (ख) वंशपरम्परा से, (ग) रजिस्ट्री द्वारा, (घ) देशीयकरण से, (ङ) किसी नये प्रदेश के भारत में सम्मिलित होने से, (च) पुन प्राप्ति (Resumption) से। इसका यह अभिप्राय है कि यदि किसी नाबालिग लड़के का पिता भारत की नागरिकता का परित्याग करता है तो इससे लड़का भी भारतीय नागरिकता खो देता है, किन्तु बालिग होने पर लड़का यदि अपने भारतीय नागरिक होने की घोषणामात्र करता है तो इससे उसे भारतीय नागरिकता पुन प्राप्त हो जाती है। ऐसी घोषणा करते समय इस कानून के अनुसार उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह भारत की नागरिकता ग्रहण करने से पहले अपनी दूसरी नागरिकता का परित्याग कर। इस विषय में इस कानून की एक कमी यह है कि अपने पति द्वारा भारतीय नागरिकता का परित्याग करने से अपनी भारतीय नागरिकता स्वत खोने वाली स्त्री को विधवा होने की या पति का तलाक देने की दशा में घोषणा द्वारा भारतीय नागरिकता को पुन पाने का अधिकार होना चाहिये था। भारतीय नागरिकता को तीन प्रकार से खोया जा सकता है—(क) परित्याग (Renunciation), (ख) समाप्ति (Termination), (ग) वंचित किया जाना (Deprivation)। परित्याग उस दशा में होता है जब कि दोहरी नागरिकता रखने वाला कोई बालिग व्यक्ति अपनी इच्छा से एक घोषणा के द्वारा अपनी भारतीय नागरिकता को छोड़ देता है, किन्तु ऐसा व्यक्ति इस प्रकार से भारतीय नागरिकता का परित्याग करने पर भी भारत के प्रति अपने नैतिक कर्त्तव्यों और दायित्वों से मुक्त नहीं हो सकता है। यदि युद्ध के बीच में कोई भारतीय नागरिक ऐसी घोषणा करता है तो उसे इसके लिये केन्द्रीय सरकार की पूर्वस्वीकृति लेना आवश्यक है। दूसरी विधि नागरिकता की समाप्ति या अवसान (Termination) है। जब कोई भारतीय नागरिक स्वेच्छापूर्वक किसी दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण करता है तो उसकी भारतीय नागरिकता स्वत स्वयमेव समाप्त हो जाती है। इस व्यवस्था का यह प्रयोजन है कि व्यक्ति को दोहरी नागरिकता तथा दो देशों में विभक्त निष्ठाओं (divided loyalties) के दुष्परिणामों से बचाया जाय। विवाहित स्त्री को बालिग मानते हुए इस विषय में छूट दी गई है कि दोहरी नागरिकता की दशा में पति द्वारा भारतीय नागरिकता की समाप्ति हो जाने की दशा में वह दूसरी नागरिकता को छोड़कर भारतीय नागरिकता को बनाए रख सकती है। तीसरी विधि भारतीय नागरिकता से वंचित किया जाना (Deprivation) है। केन्द्रीय सरकार निम्नलिखित दशायें उत्पन्न होने पर किसी को भारतीय नागरिकता के अधिकार से वंचित कर सकती है—(क) यदि किसी व्यक्ति ने भारतीय नागरिकता के लिए अपनी रजिस्ट्री या देशीयकरण धोखाधड़ी से, झूठे बयान से या तथ्यों को छिपा कर प्राप्त की हो। (ख) वह संविधान के प्रति अनिष्ठावान या असंतुष्ट रहा हो। (ग)

उसने शत्रु के साथ व्यापार करने का अपराध किया हो। (घ) भारतीय नागरिकता पाने के पाँच वर्ष के भीतर यदि उसे किसी दूसरे देश मे दो वर्ष के कारावास का दण्ड मिला हो। (ङ) यदि वह सामान्य रूप से सात वर्ष तक देश से बाहर रहा हो तथा उस का यह विदेश निवास विद्यार्थी सरकारी कर्मचारी, अन्तर्राष्ट्रीय सेना के करने वाले व्यक्ति (Civil Servant) के रूप मे न हो।

१९५५ के कानून की एक विशेषता यह है कि इसमे **राष्ट्रमडल की नागरिकता** (Commonwealth Citizenship) की व्यवस्था भी की गई है। यह १९४७ मे ब्रिटिश राष्ट्रमडल के देशो के एक सम्मेलन मे किये गये समझौते को क्रियान्वित रूप देने के लिए की गई है। इसके अनुसार राष्ट्रमडल के किसी अन्य देश के नागरिक को केन्द्रीय सरकार गजट या राजपत्र म सूचना प्रकाशित करके भारतीय नागरिक के अधिकार पारस्परिकता (Reciprocity) के आधार पर प्रदान कर सकती है। इस व्यवस्था को बनाते समय इसके पक्ष मे तीन युक्तिया दी गई थी — (क) राष्ट्रमडल की नागरिकता विश्व की नागरिकता (World Citizenship) के लक्ष्य तक पहुँचने मे एक महत्वपूर्ण पग है। (ख) लाखो भारतीय ब्रिटिश उपनिवेशो मे रहते हैं। यदि इस नागरिकता की व्यवस्था की जाय तो वे या तो अपने निवास वाले देश म पराये हो जायेंगे अथवा भारत से उनका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जायगा। (ग) राष्ट्रमडल के एक देश का नागरिक इसके दूसरे देश मे इससे परदेसी नही रहता है।

किन्तु राष्ट्रमडल की नागरिकता का यह समर्थन उपर्युक्त कारणो के आधार पर समीचीन नही प्रतीत होता है क्योकि यह विश्व की नागरिकता के विचार को प्रोत्साहित करने वाला नही है यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता था जब सब देशो के लिए पारस्परिकता के आधार पर भारतीय नागरिकता के द्वार खुले रखे जाते। इसमे केवल ब्रिटिश राष्ट्रमडल के देशो के लिए ही ऐसा किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इस व्यवस्था का विशेष महत्व नही है। इस व्यवस्था की क्रियात्मक उपयोगिता कुछ भी नही प्रतीत होती है। केन्द्रीय सरकार ने अभी तक राष्ट्रमडलीय देशो के किसी व्यक्ति को राष्ट्रमडल की नागरिकता प्रदान करने की घोषणा नही की है।

राष्ट्रीयताविषयक भारतीय मामले (Indian cases on Nationality)

१५ अगस्त १९४७ को देश का विभाजन होने पर लाखो आदमियो के पाकिस्तान से हिन्दुस्तान तथा हिन्दुस्तान से पाकिस्तान जाने पर राष्ट्रीयताविषयक अनेक जटिल मामले भारतीय न्यायालयो के सम्मुख आये है। भारतीय सविधान की धारा ५ के अनुसार सविधान लागू होने के समय अधिकाश भारतीयो को भारत मे निवासस्थान या अधिवास (Domicile) होने से भारतीय नागरिकता प्राप्त हुई थी। किन्तु सविधान मे इस शब्द की कही स्पष्ट व्याख्या नही की गई थी। अत इसके लक्षण और स्वरूप के बारे मे बहुत विवाद रहा है।

वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Private International Law) के अनेक लेखको ने यह स्वीकार किया है कि अधिवास (Domicile) का लक्षण करना बडा

कठिन है।[६] ब्रिटिश न्यायाधीश चिही ने इसका लक्षण करते हुए Craignish v. Hewitt में लिखा था कि किसी व्यक्ति का अधिवास उस स्थान को कहना चाहिये, जहाँ उसका निवास स्थान निश्चित हो तथा फिलहाल उसका कोई इरादा इस स्थान को छोड़ने का न हो। एक अन्य ब्रिटिश न्यायाधीश किंडरस्ली ने इसकी अधिक विस्तृत व्याख्या करते हुए एक मामले Lord v Calvin में लिखा था—"किसी व्यक्ति का अधिवास समुचित रीति से वह स्थान है जहाँ उसने स्वेच्छापूर्वक अपने लिये तथा अपने परिवार के निवास के लिये स्थान निश्चित किया है, यह निवास स्थान किसी अस्थायी अथवा विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिये नहीं है, अपितु उसका वर्तमान इरादा इस स्थान को उस समय तक अपना स्थायी घर बनाने का है, जब तक कोई अप्रत्याशित घटना उसे किसी अन्य स्थान पर अपना स्थायी निवास बनाने के लिये विवश न करे।" इस प्रकार अधिवास के लिये दो शर्तों का होना आवश्यक है पहली शर्त किसी स्थान में एक विशेष प्रकार के निवास की घटना या तथ्य (Factum) है तथा दूसरी शर्त वहाँ रहने का इरादा (Animus) है। इन दोनों के होने पर ही किसी व्यक्ति का अधिवास निश्चित होता है। Rosetta Evelyn v Justin Ataullah के मामले में कलकत्ता हाईकोर्ट ने अधिवास की उपर्युक्त व्याख्या का समर्थन करते हुए लिखा था—यदि किसी स्थान में स्थायी रूप से रहने का इरादा पाया जाता है और इस इरादे के अनुसार इस प्रकार किसी स्थान में निवास किया जाता है तो यह निवास अल्पकालीन होने पर भी अधिवास को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

सुप्रीम कोर्ट ने Central Bank of India Ltd v Ram Narain के मामले में इस विषय में यह सिद्धान्त माना था कि निवास के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह निरन्तर बना रहे। रामनारायण नामक व्यक्ति (देखिए परिशिष्ट) पाकिस्तान में चले जाने वाले मुल्तान नामक नगर में सैण्ट्रल बैंक आफ इण्डिया की शाखा में एक कर्मचारी था, वह अपने बाप-दादों के समय से वहाँ रह रहा था, उसका कुछ कारोबार भारत में होडल नामक स्थान में था, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं था कि भारत में उसका कोई घर या निवास स्थान था। पाकिस्तान बनने के बाद भी वह भारत नहीं आया और मुल्तान में ही रहा। यहाँ बैंक में तीन लाख का गोलमाल करके वह भारत आ गया, भारत में उस पर भारत का नागरिक होने के आधार पर इस गबन के लिए मुकद्दमा चलाया गया। किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले में रामनारायण का पाकिस्तान बन जाने के बाद भी मुल्तान में स्थायी रूप से वंशपरम्परा से रहने के कारण उसे पाकिस्तान का निवासी माना, भले ही वह भारत चला आया था, किन्तु उसका निवास स्थान निश्चित रूप से पाकिस्तान में था।

अधिवास के लिये इरादे (Intention) के तत्व को महत्वपूर्ण मानते हुए अनेक मामलों का निर्णय किया गया है। Nisar Ahmed v Union of India (A I R, 1958, Raj 65) के मामले में राजस्थान हाई कोर्ट ने यह माना था कि कट्टर मुस्लिम

६. एस० के० अग्रवाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १२२

लीगी व्यक्तियो (मुस्लिम लीग के स्थानीय सभापतियों) के सम्बन्ध मे यह परिणाम भली भाँति निकाला जा सकता है कि उनका इरादा भारत से पाकिस्तान जाने का है, क्योकि वे उसे अपना राष्ट्रीय गृह मानते है। पजाब हाई कोर्ट ने Mangal Sain v Shannodevi (A I R., 1959, Punjab 175) के मामले मे इरादे के आधार पर राष्ट्रीयता निश्चित की थी। इस मामले मे मगलसैन नामक व्यक्ति १६२७ मे बाद मे पाकिस्तान चले जाने वाले प्रदेश मे उत्पन्न हुआ, उसके माता-पिता दो वर्ष की आयु मे उसे बर्मा ले गये, १६४२ मे समूचा परिवार भारत मे लौट आया, कुछ समय जालन्धर रहने के बाद मगलसैन २½ वर्ष तक पाकिस्तान मे चले जाने वाले अपने पैतृक स्थान पर रहा। दिसम्बर १६४४ से अगस्त १६४६ तक उसने जालन्धर मे नौकरी की, यहाँ वह राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ मे सम्मिलित होकर उसका सक्रिय कार्यकर्त्ता बना और इसकी शाखाओं का विभिन्न जिलों मे सगठन करता रहा। जनवरी १६५० मे वह पुन अपने भाइयो के पास बर्मा चला गया। किन्तु उसे वहाँ स्थायी रूप से रहने की अनुमति नही मिली और वह भारत लौट आया। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हाई कोर्ट ने यह परिणाम निकाला कि मगलसैन ने पाकिस्तान मे अपने पैतृक गृह को छोडकर जालन्धर मे अपना निवास स्थान बना लिया था। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ का सदस्य होने से मगलसैन का भारत का नागरिक होना भली भाँति प्रमाणित होता है।

भारतीय सविधान की धारा ६-७ मे पाकिस्तान से भारत आने वाले भारतीय को भारतीय नागरिकता प्रदान की गई है। इस विषय मे यहाँ प्रव्रजन (Migration) शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द की व्याख्या पर पर्याप्त मतभेद रहा है और भारतीय न्यायालयों मे इस विषय मे कई मामले आये है। Badruzzaman v. State (A I R., 1951, All 16) मे इलाहाबाद हाईकोर्ट ने यह लिखा था कि प्रव्रजन मे दो विचार हैं—(१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, (२) जाने वाले स्थान को भविष्य मे अपना निवास स्थान बनाने का इरादा। सविधान मे इसका अभिप्राय अपनी राजभक्ति और निष्ठा (Allegiance) को जाने वाले देश से हटाकर निवास के लिये ग्रहण करने वाले नये देश को प्रदान करना है। इलाहाबाद हाई कोर्ट के जज श्री धवन ने Abida Khatoon v State of U P (A. I. R., 1963, Allahabad 260) के मामले मे लिखा था कि जब एक भारतीय नागरिक पाकिस्तान मे प्रव्रजन करता है तो उसका इरादा अपने मूल निवास स्थान वाले देश को छोडने का होता है।

विधवा को अपने पति की नागरिकता प्राप्त होती है। किन्तु इस विषय मे कई बार बडी जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है। Karimun Nisa v State of M. P. (A. I. R., 1955 Nagpur 6) के मामले मे ऐसी ही समस्या पैदा हुई थी। इसमे करीमुन्निसा नामक मुस्लिम प्रार्थी नागपुर मे पैदा हुई, यही उसका पालन-पोषण हुआ, विवाह होने के बाद वह अपने पति के साथ १६४७ मे पाकिस्तान चली गई। वहाँ अपने पति की मृत्यु होने पर अनाश्रित और असहाय होने के कारण पाकिस्तान के पासपोर्ट पर १६५२ मे वह भारत लौट आई। उसका यह कहना था कि उसका इरादा भारत को स्थायी रूप से छोडने का नही था, उसने भारत की नागरिकता को

कभी नही खोया है, यदि खोया भी है तो वह उसे भारत लौटने पर पुन. प्राप्त हो गई है। इस विषय मे नागपुर हाई कोर्ट ने ब्रिटिश विधानशास्त्री डायसी के इस सिद्धान्त का अनुसरण किया कि विधवा का अधिवास (Domicile) उस समय तक उसके मृत पति वाला ही होता है, जब तक वह इसे स्वयमेव बदल नही लेती है। प्रार्थी जब अपने पति के साथ पाकिस्तान गई तो उसने भारत की नागरिकता खो दी। पति की मृत्यु पर वह अपनी नागरिकता बदल सकती थी, किन्तु उसने इसे बदला नही था। जब *यह मामला १९५५ मे नागपुर हाई कोर्ट मे आया, उस समय तक भारतीय नागरिकता* के विषय में भारतीय संविधान की धारायें ही लागू होती थी। किन्तु इसमे से किसी भी धारा के अनुसार वह भारतीय नागरिक नही थी, उस पर धारा ५ लागू नही होती थी क्योंकि संविधान लागू होने के समय (२६ नवम्बर १९४९) उसका निवास स्थान भारत मे नही था, धारा ६ के अनुसार भी वह भारतीय नागरिक नही हो सकती थी क्योंकि उसने भारत मे अपनी नागरिकता की रजिस्ट्री नही कराई थी, धारा ७ भी उस पर लागू नही होती थी क्योंकि भारत मे पुन बसने के अनुमति-पत्र के आधार पर वह भारत मे नही आई थी। हाई कोर्ट यह समझता था कि इस मामले मे असहाय युवती अपने पति के कार्य का फल भोग रही है, वह अपने छोटे बच्चों का भरणपोषण भारत मे रहने वाले अपने माता पिता की सहायता के बिना नही कर सकती है। फिर भी न्यायालय ने प्रार्थी को भारत का नागरिक नहीं माना तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस नियम का अनुसरण किया कि 'पति की मृत्यु पर पत्नी का अधिवास (Domicile) उसके पति का ही निवास स्थान समझा जाता है।'

प्रत्यर्पण
(Extradition)

प्रत्यर्पण का स्वरूप (The Nature of Extradition)—जब कोई व्यक्ति एक देश मे भीषण अपराध करने के बाद उसके दण्ड से बचने के लिए दूसरे देश मे भाग जाता है तो पहले देश की प्रार्थना पर दूसरे देश द्वारा उस अपराधी को सौंपना प्रत्यर्पण (Extradition) कहलाता है। लारेन्स ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—"यह एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को ऐसे व्यक्ति का अर्पण करना है, जो पहले राज्य के प्रदेश मे विद्यमान है किन्तु जिस पर यह आरोप है कि उसने दूसरे राज्य के प्रदेश मे अपराध किया है या दूसरे राज्य के प्रदेश से बाहर अपराध करने पर भी वह इसका प्रजाजन होने के नाते इस देश के अनुसार इस राज्य के क्षेत्राधिकार मे आता है।" स्टार्क ने इसे "ऐसी प्रक्रिया (Process) बताया है, जिससे एक राज्य दूसरे राज्य की प्रार्थना पर उसे ऐसा व्यक्ति सौंपता है, जो इसकी प्रार्थना करने वाले राज्य के प्रदेश मे इसके कानून के विरुद्ध किए गए अपराध मे अभियुक्त (accused) है या उसे दण्डित (convicted) अथवा अपराधी ठहराया जा चुका है, तथा प्रार्थना करने वाले राज्य को तथाकथित अपराधी पर विचार करने का अधिकार है।"[1] इस प्रकार की प्रार्थनायें प्राय राजनयिक रूप से की जाती हैं।

प्रत्यर्पण कई कारणो से आवश्यक समझा जाता है। सब राज्यो मे यह इच्छा सामान्य रूप मे पायी जाती है कि प्रत्येक भीषण अपराध करने वाला व्यक्ति अवश्य दण्डित होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति ऐसा अपराध करके दूसरे देश मे भाग जाता है तो उसे पुन उस देश मे लाकर अभियोग चलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरा कारण यह है कि ऐसे व्यक्ति पर वही राज्य अच्छी तरह विचार कर सकता है, जिसमे उसने अपराध किया है, क्योंकि वहाँ अपराधी के विरुद्ध आवश्यक साक्षी सुगमतापूर्वक एकत्र हो सकती है, वहाँ मामले की सत्यता निश्चित करने की सुविधायें अधिक हैं और उस राज्य को अपने अपराधियो का दमन करने मे अन्य राज्यो की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी और हित है[2]। यदि अपराधी पर दूसरे राज्य मे अभियोग चलाया जाय तो

---

१. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, ४र्थ संस्करण, पृ० २६०

२. यह बात सुच्चासिंह के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। यह पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री प्रतापसिंह कैरों की हत्या करके जनवरी १९६५ में नेपाल भाग गया। भारतीय पुलिस

सब साक्षियो का वहाँ मुकद्दमे की समाप्ति तक रहना बडा कठिन, असुविधाजनक तथा व्ययसाध्य होगा। अतएव इस अवस्था मे अपराधी का प्रत्यर्पण ही श्रेयस्कर उपाय है।

प्रत्यर्पण का विकास (Development of the Law of Extradition)—प्रत्यर्पण के कानून का विकास १९वीं तथा २०वी शती मे हुआ है। १८वी शती से पहले प्रत्यर्पण बहुत कम होता था। ग्रोशियस, वैटल और कैण्ट न समाज की सामान्य शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए भगोडे अपराधियो के समर्पण का प्रबल समर्थन किया था। प्यूफेनडोर्फ ने अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity) के कारण प्रत्यर्पण को आवश्यक बताया था। १८वीं शताब्दी मे योरोपियन राज्य इस प्रथा को अपनाने लगे। वैटल के कथनानुसार १७५८ मे हत्यारो तथा चोरो का प्रत्यर्पण होता था, किन्तु उस समय तक विभिन्न देशो मे इसके लिए कोई सन्धियाँ नहीं थीं। उस समय इनकी आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु उन्नीसवी शती मे यातायात के नवीन साधनो—रेलो तथा जहाजो—के अद्भुत विकास के कारण अपराधियो के लिए अपने राज्य से दूरवर्ती देशो मे भागना बहुत सुगम हो गया। अत इनको पकडने तथा दण्डित करने के लिये विभिन्न राज्य एक-दूसरे के साथ प्रत्यर्पण सन्धियाँ (Extradition Treaties) करने लगे। १८७० मे ग्रेट ब्रिटेन मे इसके लिए कानून बनाया गया। इसका सशोधन १८७३, १८९५, १९०६ और १९३२ मे हुआ। ब्रिटिश भारत मे अपराध करने वाले व्यक्ति देशी रियासतों मे भाग जाया करते थे। अत भारत म १८७०, १८८१ तथा १९०३ मे इसके लिए आवश्यक कानून बनाये गये। १९०३ के भारतीय कानून के अनुसार भारत सरकार द्वारा अपराधी के प्रत्यर्पण से पहले मजिस्ट्रेट द्वारा एक प्रारम्भिक जाँच मे यह निश्चित किया जाता है कि अपराधी के विरुद्ध उपरिदर्शी (Prima facie) साक्षी है या नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यर्पण की माँग गम्भीर एव सार्वजनिक महत्व के अपराधो के होने पर ही की जाती है। यह बडी मन्द और व्ययसाध्य प्रक्रिया है। अत लघु अपराधों के लिए इस प्रक्रिया का अवलम्बन ठीक नहीं समझा जाता। एडविन डिकिन्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून म प्रत्यर्पण के विकास का वर्णन करते हुए लिखा है—"वर्तमान राज्य पद्धति के अभ्युदय तथा यात्रा के साधनो के विकास के साथ अपराधो के निरोध मे सब राज्यो का सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय बन गया। यह स्पष्ट हो गया कि राज्यो को या तो दूसरे राज्यो के दण्डविधानो को लागू करने के ढग ढूंढने चाहिए या फौजदारी कानून की सर्वदेशव्यापी पद्धति बनानी चाहिए अथवा भगोडे अपराधियो के समर्पण करने की व्यवस्था करनी चाहिए। पहले विकल्प मे गम्भीरतम राजनीतिक कठिनाइयाँ थी। दूसरा विकल्प काल्पनिक था, अत तीसरे विकल्प का विकास विभिन्न राज्यो की द्विपक्षीय सन्धियो द्वारा हुआ। १९वी शती के प्रारम्भ मे सन्धि के अभाव मे प्रत्यर्पण की आवश्यकता का समर्थन प्रसिद्ध विधिशास्त्रियो की

अधिकारियों ने इसे नेपाल में घुसकर पकड लिया और नेपाल सरकार से इसे भारत लौटाने की प्रार्थना की ताकि यहाँ इसके अपराध के मामले पर समुचित विचार हो सके। नेपाल राज्य के न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार करके मुल्जिम को भारत को सौंप दिया।

सम्मति से होने लगा, किन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे सुप्रतिष्ठित नही हुआ।" ह्वीटन के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सार्वभौम रूप से माना जाने वाला कोई सिद्धान्त ऐसा नही है जिसके अनुसार किसी राज्य के लिए प्रत्यर्पण की सन्धि करना आवश्यक हो। कोई राज्य दूसरे राज्य से प्रत्यर्पण की माँग अधिकार के रूप मे नही कर सकता। वह अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity) अथवा पारस्परिक सन्धि के आधार पर अपराधी को लौटाने का दावा कर सकता है।

प्रत्यर्पणीय व्यक्ति (Extraditable Persons)—प्रत्यर्पण की माँग मे दो बातें देखनी पडती हैं—(१) व्यक्ति प्रत्यर्पण योग्य होना चाहिए। (२) प्रत्यर्पण का अपराध गम्भीर एव अराजनीतिक होना चाहिये। फ्रास और जर्मनी जैसे कुछ राज्य विदेशो मे अपराध करने वाले अपने देश के नागरिको या राष्ट्रिको (National) को प्रत्यर्पण योग्य नही समझते, वे उन्हे स्वय दण्ड देते हैं। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन तथा स० रा० अमरीका अपने राष्ट्रिको का भी प्रत्यर्पण करते है बशर्ते कि यह प्रत्यर्पण सन्धि की व्यवस्थाओ के प्रतिकूल न हो। १८७९ मे ग्रेट ब्रिटेन ने एक ब्रिटिश नागरिक टोरविल्ला का आस्ट्रिया को प्रत्यर्पण किया क्योकि यह आस्ट्रिया के टिरोल प्रदेश मे अपनी पत्नी की हत्या करके इगलैण्ड भाग आया था। १८८४ में इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन ने अपने एक प्रजाजन निलिस को जर्मनी मे धोखा देने के अपराधो के सम्बन्ध मे जर्मनी की सरकार को सौंपा था। १९१० मे सयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने इटली मे हत्या करने वाले एक अमरीकी नागरिक पोर्टर चार्लटन को इटालियन सरकार को सौंपा था किन्तु १८७७ मे ज्यूरिक मे चोरी करने वाले आरफेड थामस विरसन को इगलैंड ने स्विट्जरलेण्ड द्वारा प्रत्यर्पण की माँग करने पर भी नही सौंपा, क्योकि १८७४ की एग्लो-स्विस सन्धि के अनुसार दोनो देश अपने नागरिको का प्रत्यर्पण नही कर सकते थे। १९०६ मे इसी प्रकार फ्रास को एक ब्रिटिश प्रजाजन का प्रत्यर्पण १८७६ के एग्लो फ्रच प्रत्यर्पण सन्धि का विरोधी होने के कारण नही किया गया, १९०८ के समझौते द्वारा अपने देश के नागरिको का प्रत्यर्पण ऐच्छिक बना दिया गया है।

ब्रियर्ली ने अपने नागरिको को राज्यो द्वारा प्रत्यर्पण न करने के सिद्धान्त की बडी आलोचना करते हुए यह कहा है कि इसे दो कारणो से न्यायोचित नही माना जा सकता।[१] पहला कारण यह है कि कुछ अवस्थाओ मे दूसरे देश मे किये गए अपराध के सम्बन्ध मे उपयुक्त साक्षी के अभाव मे अपराधी के विरुद्ध अभियोग चलाना कठिन होता है, अत उसके अपराधी की सही जाँच के लिए नागरिक होने पर भी उसका प्रत्यर्पण होना चाहिए। दूसरा कारण यह है कि दूसरे देश मे अपराध के बाद न्यायालय द्वारा दण्डित होने पर भी व्यक्ति भाग सकता है, इस दशा म स्वदेश मे उस पर मुकद्दमा नही चलाया जा सकता क्योकि न्याय के सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर एक ही अपराध के लिए एक व्यक्ति पर दो बार अभियोग नही चलाया जा सकता। अत अपने देश के अपराधी नागरिको को प्रत्यर्पण की माँग होने पर दूसरे देशो को न्याय की दृष्टि

---

१. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० २३१

से इनका सौंपना उचित है। किन्तु अधिकाश देशो की वर्तमान परिपाटी यही है कि वे अपने नागरिक को दूसरे देशो को नही सौंपते।

प्रत्यर्पण के अपराध (Extradition Crimes)—सामान्यत अपराधियो के प्रत्यर्पण की मांग तभी की जाती है, जब उन्होंने कोई बहुत गम्भीर अपराध किए हो। विभिन्न देशो के प्रत्यर्पण कानूनो (Extradition Acts) मे ऐसे अपराधो का उल्लेख होता है। ग्रेट ब्रिटेन के कानून मे प्रत्यर्पण-विषयक गिनाये अपराधो मे मुख्य ये हैं वध (Murder), मनुष्यमारण, नकली सिक्के बनाना, जालसाजी, गबन, चौर्यकर्म (Larceny), झूठे बहानो से रुपया या द्रव्य प्राप्त करना, हिंसावाला लुंठन (Robbery with violence), सेंध लगाना, गृहदाह (Arson), अपहरण, बलात्कार, बच्चे को चुराना, रुपया ऐंठने की धमकी देना, समुद्री डकैती, खतरनाक दवाइयो के कानून तोडना, घूसखोरी, झूठी गवाही देना या कूट साक्ष्य (Perjury), महासमुद्रो मे जहाज पर कप्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र या विद्रोह, समुद्र मे दूसरे जहाजो पर हत्या के उद्देश्य से किये जाने वाले अपराध, समुद्र मे किसी जहाज का डुबाना या नष्ट करना। फ्रास के प्रत्यर्पण कानूनो मे अपराधो का नामश उल्लेख न करते हुए यह कहा गया है कि वहाँ के दण्ड विधान के अनुसार जिन अपराधो मे न्यूनतम दण्ड नियत किया गया है, वे सब प्रत्यर्पण सम्बन्धी अपराध है।

आजकल सामान्य रूप मे विभिन्न देशो मे प्रत्यर्पण सधियाँ (Extradition treaties) दो प्रकार की होती है—(१) पुराने ढग की (Older or classical type) सधियाँ—इनमे प्रत्यर्पण किये जाने योग्य अपराधो की पूरी सूची दी जाती है जैसे ग्रेट ब्रिटेन के उपर्युक्त कानून मे अथवा १६६२ के भारतीय प्रत्यर्पण कानून मे। (२) आधुनिक (Modern) सधियाँ—इनमे प्रत्यर्पण योग्य अपराधो की कोई सूची नही होती, किन्तु सामान्य रूप से यह व्यवस्था होती है कि उन सभी अपराधो के मामलो मे प्रत्यर्पण किया जाएगा, जो अपराध सधि करने वाले दोनो देशो मे समान रूप से दण्डनीय समझे जाते हैं। उदाहरणार्थ, १६३३ के प्रत्यर्पण के माण्टविडियो अभिसमय (Montevideo Convention on Extradition of 1933) के प्रथम अनुच्छेद (Article 1) के अनुसार यह व्यवस्था की गयी है कि किसी व्यक्ति के प्रत्यर्पण की माँग तभी की जा सकती है जब उसका कार्य अपराध हो तथा प्रत्यर्पण की मांग करने वाले तथा उस व्यक्ति को सौंपने वाले दोनो देशो मे यह ऐसा अपराध हो, जिसका न्यूनतम दण्ड एक वर्ष की सजा हो। यह समझौता दक्षिण अमरीका मे उरुगुए राज्य की राजधानी माण्टविडियो मे हुआ था और इसमे अमरीका के अनेक राज्यो के साथ स० रा० अमरीका भी सम्मिलित हुआ था।

प्रत्यर्पण के कुछ प्रसिद्ध मामले (Case Law on Extradition)—(१) **आइजलर का मामला (The Eisler Extradition Case)**—गैरहार्ट आइजलर (Gerhart Eisler) सयुक्त राज्य अमरीका का एक विदेशी कम्यूनिस्ट था। इसे वहाँ कुछ अपराधो के लिये दण्ड दिया गया। इसने अपनी सजा को कम कराने के लिये उच्च न्यायालय मे अपील की। अपील के समय यह जमानत पर रिहा किया गया। इस

अवस्था में १२ मई, १९४९ को यह न्यूयार्क के बन्दरगाह से रवाना होने वाले पोलैण्ड के एक जहाज बेटरी (S. S. Batory) पर चोरी से सवार होकर स० रा० अमरीका से भाग निकला। इस जहाज ने इगलैण्ड के बन्दरगाह सौथम्पटन पर सबसे पहले रुकना था। अमरीकी सरकार ने ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की कि जहाज यहाँ पहुँचते ही आइजलर को बन्दी बना लिया जाय तथा उसे स० रा० अमरीका को दण्ड देने के लिए सौंप दिया जाय। इस प्रार्थना के अनुसार उसे बन्दी बनाकर लदन मे बो स्ट्रीट (Bow Street) के मैजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया। स० रा० अमरीका मे आइजलर को दो अपराधो पर दण्डित किया गया था। पहला अपराध अमरीकी काग्रेस की अवज्ञा (Contempt of Congress) था क्योकि उसने प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) की एक कमेटी के सम्मुख गवाही देने से इन्कार किया था। उसका दूसरा अपराध यह था कि उसने स० रा० अमरीका से बाहर जाने की अनुमति माँगने के आवेदनपत्र मे कुछ झूठी बातें लिखी थी। किन्तु ये दोनो अपराध इगलैड तथा स० रा० अमरीका के मध्य मे २२ दिसम्बर १९३१ को की गई प्रत्यर्पण सधि मे गिनाये गये अपराधो की सूची मे नही थे। स० रा० अमरीका की ओर से ब्रिटिश न्यायालय मे इस बात पर बल दिया गया कि आइजलर का प्रत्यर्पण इसलिये किया जाना चाहिये कि उसने अमरीका से बाहर जाने के आवेदनपत्र मे झूठी बातें कही हैं और अमरीकी न्यायालय ने उसे झूठी साक्षी (Perjury) के लिये दण्डित किया है। झूठी गवाही देना दोनों देशों मे दण्डनीय अपराध है। अत आइजलर का प्रत्यर्पण होना चाहिये।

किन्तु ब्रिटिश कानून के अनुसार झूठी साक्षी (Perjury) का अपराध केवल किसी मुकद्दमे या अदालती कार्यवाही मे ही किया जा सकता है, जब न्यायालय मे सच बोलने की शपथ खाकर झूठी गवाही या बयान दिया गया हो। स० रा० अमरीका मे झूठी साक्षी (Perjury) का अर्थ वहाँ के कानून द्वारा बहुत व्यापक बना दिया गया है, इसके अनुसार अदालती कार्यवाही से सम्बन्ध रखने वाले प्रशासन सम्बन्धी विभिन्न मामलो मे दिये जाने वाले हलफनामो (Affidavits) मे दिया गया कोई भी झूठा बयान झूठी साक्षी (Perjury) समझा जाता है। ब्रिटिश न्यायाधीश ने इगलिश कानून का अनुसरण करते हुए आइजलर द्वारा स० रा० अमरीका छोड़ने के आवेदनपत्र मे कही गई झूठी बात को अदालत मे दी गई झूठी गवाही (Perjury) के अपराध से सर्वथा भिन्न माना। ऐसे झूठा बयान देना इगलैण्ड के कानून के अनुसार अपराध नही था, अत स० रा० अमरीका की आइजलर को उसे सौंपने की प्रार्थना अस्वीकार कर दी गयी और आइजलर को बन्धनमुक्त कर दिया गया।

इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण ब्लैकमर (Case of Blackmer) का है। इसमे ब्लैकमर नामक व्यक्ति ने अपनी आमदनी के बारे मे झूठा विवरण दिया था। इसके बाद वह फ्रास भाग गया। स० रा० अमरीका की सरकार ने फ्रेच सरकार से ब्लैकमर को सौंपने की प्रार्थना की क्योकि उसने अपनी आय के सम्बन्ध मे झूठा बयान देकर Perjury का अपराध किया था। फ्रेंच न्यायालय की व्याख्या के अनुसार आयकर के सम्बन्ध मे झूठा बयान देना Perjury के अपराध मे सम्मिलित नहीं है। अत उसने

अमरीकी सरकार की प्रत्यर्पण की माँग को स्वीकार नहीं किया।

राजनीतिक अपराध तथा प्रत्यर्पण (Extradition and Political Crimes)—स्टार्क के मतानुसार तीन प्रकार के अपराधों में सामान्य रूप से प्रत्यर्पण नहीं किया जाता[4]—(क) धार्मिक अपराध, (ख) सैनिक अपराध—जैसे सैनिक सेवा को छोड़कर भाग जाना, (ग) राजनीतिक अपराध। राजनीतिक अपराधों में प्रत्यर्पण न करने की पद्धति १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद शुरू हुई। इससे पहले ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं था। १६वीं-१७वीं शताब्दियों के लेखक राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण के पक्षपाती थे। उस समय विभिन्न देशों की सन्धियों में ऐसे अपराधी सौंपने की व्यवस्था की जाती थी। किन्तु १७९३ के फ्रेंच संविधान के अनुच्छेद १२० में फ्रांस में उन व्यक्तियों को शरण देने की व्यवस्था की गई, जो अपने देश से 'स्वतन्त्रता के पक्ष में' भाग लेने के कारण निकाले गए हों। फिर भी १८३० तक ऐसे अपराधियों का प्रत्यर्पण होता रहा। इस समय ग्रेट ब्रिटेन, हालैंड, स्विट्ज़रलैंड जैसे स्वतन्त्रताप्रेमी देशों में यह विचारधारा प्रबल होने लगी कि निरंकुश राजसत्ता वाले देशों में राजनीतिक स्वाधीनता का संघर्ष करने वालों को इन देशों से अपने यहाँ भाग आने तथा शरण लेने पर निरंकुश राजाओं की सरकारों को नहीं सौंपना चाहिये। १८१५ में जिब्राल्टर के गवर्नर ने स्पेन से आये हुए कुछ राजनीतिक अपराधी मैड्रिड को सौंपे थे, इस पर ब्रिटिश पार्लियामेंट में बड़ा रोष प्रकट किया गया। सर जेम्स मैकिन्तोष ने यह घोषणा की कि प्रत्येक देश के राजनीतिक भगोड़ों को आश्रय देना चाहिये। १८१६ में लार्ड कैसलरे (Castlereagh) ने यह कहा कि केवल राजनीतिक अपराध करने वालों को कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिये। १८२३ में स्विट्ज़रलैंड को महाशक्तियों के दबाव के कारण नेपल्ज़ और पीडमाण्ट के विद्रोहों में भाग लेने वाले कुछ अपराधियों के प्रत्यर्पण के लिए विवश होना पड़ा। १८२९ में एक डच विधिशास्त्री ने ऐसे अपराधियों के प्रत्यर्पण करने का सिद्धान्त पुष्ट करते हुए एक विद्वत्तापूर्ण कानूनी ग्रन्थ लिखा। १८३३ में आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस ने राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण की सन्धियाँ कीं; किन्तु इसी समय बेल्जियम ने अपने प्रत्यर्पण कानून में राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण पर विशेष प्रतिबन्ध लगा दिया। १८३४ में उसने फ्रांस के साथ ऐसी व्यवस्था करने वाली प्रत्यर्पण सन्धि भी की। फ्रांस ने अन्य देशों के साथ प्रत्यर्पण सन्धियों में राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण पर पाबन्दी लगाई। अन्य राज्यों ने भी इसका अनुसरण किया और १८६७ के बाद हुई सभी प्रत्यर्पण सन्धियों में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यह ग्रेट ब्रिटेन, स्विट्ज़रलैंड, बेल्जियम, फ्रांस और स० रा० अमरीका द्वारा राजनीतिक बन्दियों के विषय में प्रत्यर्पण-विरोधी कड़ा रुख अपनाने के कारण हुआ।

किन्तु अभी तक 'राजनीतिक अपराध' के ठीक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में पूरी सहमति नहीं हो सकी। ओपेनहाइम के शब्दों में "कुछ लेखक राजनीतिक इरादे (Motive) से किये गए अपराध को राजनीतिक मानते हैं, अन्य लेखक राजनीतिक

४. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टु इण्टरनेशनल लॉ, पृ० २६३

प्रयोजन (Purpose) की दृष्टि से किया गया अपराध राजनीतिक समझते हैं। कुछ इसके लिये राजनीतिक इरादा और प्रयोजन दोनों आवश्यक मानते हैं। कुछ अन्य लेखक राजनीतिक अपराध की परिभाषा को केवल राज्य के विरुद्ध किये गए कुछ अपराधों के लिए सीमित करना चाहते है, जैसे महाराजद्रोह (High treason)। आज तक इस शब्द के समुचित अर्थ के निर्णय के सब प्रयत्न विफल हुए है और शायद इसी कारण इस शब्द की सतोषजनक परिभाषा हो सकने की कोई सभावना नहीं है।"

प्रत्यर्पण के कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मन सम्राट् विलियम कैसर द्वितीय ने हालैंड मे शरण ग्रहण की थी। मित्रराष्ट्रों की सुप्रीम कौंसिल ने वर्साय सन्धि की धारा २२६ के आधार पर हालैंड से जर्मन सम्राट् के प्रत्यर्पण की मांग की। इस धारा मे जर्मन सम्राट् पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और सधियों की पवित्रता के उल्लघन के महापराध के लिए न्यायालय मे अभियोग चलाए जाने की व्यवस्था थी। डच सरकार ने ऐसा अभियोग चलाने के लिए जर्मन सम्राट् के प्रत्यर्पण को इस आधार पर अस्वीकार किया कि उसने वर्साय की सधि पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं, अत वह इससे बँधी हुई नहीं है। इसके साथ ही हालैंड की पुरानी परम्परा अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों मे पराजित व्यक्तियों को शरण देने की थी।[५] १९२१ मे स्पेन के प्रधान मन्त्री दातो (Dato) की हत्या करने के बाद फोर्ट केस (Fort Case) मे दो व्यक्ति जर्मनी भाग गये। जर्मनी और स्पेन की सधि मे यद्यपि राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण का निषेध था, फिर भी जर्मनी ने इन दोनों अपराधियों को इस आधार पर स्पेन को सौंपा कि इनका अपराध बदले के इरादे से किया गया था और इसका प्रयोजन किसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं था।

दो ब्रिटिश मामलों मे राजनीतिक अपराध की यह कसौटी तय की गई थी कि जिस राज्य मे यह अपराध हो, वहाँ राजनीतिक प्रभुता के लिए सघर्ष करनेवाले दो दल होने चाहियें, अपराध का उद्देश्य इस प्रभुता की प्राप्ति हो, इस कसौटी को मान लेने से

५. द्वितीय विश्वयुद्ध में जब मित्रराष्ट्र जीतने लगे तथा जर्मनी और जापान इनकी सेनाओं द्वारा चारों ओर से घिरने लगे तो इस बात की सम्भावना की जाने लगी कि प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मन सम्राट् कैसर की भांति जर्मनी और जापान के वे नेता तटस्थ देशों में शरण ग्रहण करके बचने का प्रयत्न करें, जिन पर अन्तर्राष्ट्रीय युद्धापराधों (War crimes) का आरोप हो। अतः ३० जुलाई, १९४३ को राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने यह आशा प्रकट की कि "कोई भी तटस्थ देश अपने प्रदेश को ऐसा आश्रयस्थल नहीं बनायेगा जिससे ऐसे अपराधियों को अपने कार्यों के न्यायोचित परिणाम स्वरूप दण्ड देने में सहायता मिले।" ३० अक्तूबर, १९४३ को मास्को में ब्रिटिश, स. राज्य अमेरिका, रूस ने 'जर्मन अत्याचारों के विषय में घोषणापत्र' (Declaration of German Atrocities) में यह कहा कि इस घोषणा पर हस्ताक्षर करने वाले देश अपराधी व्यक्तियों का "पीछा भूमण्डल के सुदूरतम छोरों तक करेंगे और उन्हें उन पर दोष लगाने वालों को सौंपेंगे ताकि न्याय हो सके।" जर्मनी के सभी नाज़ी नेता युद्धकारी (Belligerent) देशों में ही बन्दी बनाये गये थे, अत तटस्थ देशों में उनका पीछा करने की कोई आवश्यकता नहीं हुई।

आतंकवादी (Terrorist) तथा अराजकवादी कार्य राजनीतिक अपराधों की श्रेणी में नहीं आ सकते। १८९१ के रे कैस्टियोनी (Re Cationi) के मामले में रे कैस्टियोनी ने स्विट्जरलैंड के राजनीतिक उपद्रव में भाग लिया, इसमें उसने अपना राजनीतिक पक्ष पुष्ट करने के इरादे से गोली चलाई, अचानक वह गोली रोस्सी नामक निर्दोष व्यक्ति को लगी और वह मर गया। उस पर हत्या का आरोप लगाया गया, वह इससे बचने के लिए इंगलैंड भाग आया। स्विस सरकार ने ब्रिटिश सरकार से नरहत्या के लिए इसके प्रत्यर्पण की माँग की, किन्तु ब्रिटिश न्यायालय ने इस आधार पर यह प्रार्थना अस्वीकार की कि कैस्टियोनी का गोली चलाने का उद्देश्य राजनीतिक था, अतः उसका अपराध राजनीतिक है। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन ने मेउनियर (Meunier) को अपराध के राजनीतिक न होने से उसका प्रत्यर्पण किया। मेउनियर फ्रेंच अराजकवादी था, उसने पेरिस के होटल में बमविस्फोट किया और इसके बाद वह इंगलैंड भाग आया। उसके अपराध में कोई राजनीतिक उद्देश्य न होने के कारण ब्रिटिश सरकार ने उसका प्रत्यर्पण फ्रेंच सरकार को किया।

१९५५ में कोल्कजिस्की के मामले (Kolczynski and others) में ब्रिटिश न्यायालय ने राजनीतिक अपराध की बड़ी व्यापक व्याख्या की। इसमें एक मछली पकड़ने वाले पोलिश जहाज पर सवार सात नाविकों ने समुद्र में यात्रा करते हुए यह अनुभव किया कि उन पर कड़ी राजनीतिक देखरेख हो रही है, यदि वे स्वदेश वापिस लौटेंगे तो उन्हें अपने राजनीतिक विचारों के लिये कठोर राजदण्ड भोगना पड़ेगा। अपनी सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने जहाज के कप्तान के विरुद्ध विद्रोह करके उसे पकड़ लिया और जहाज को निकटतम ब्रिटिश बन्दरगाह में ले गये। यहाँ उन्हें ब्रिटिश अधिकारियों ने २२ सितम्बर १९५४ को नजरबन्द कर दिया। पोलैंड की कम्यूनिस्ट सरकार ने इनके प्रत्यर्पण की माँग की, न्यायालय में यह कहा गया कि १८७० के ब्रिटिश प्रत्यर्पण कानून में इसके लिये आवश्यक अपराधों की सूची में एक अपराध महासमुद्रों में जहाज पर विद्रोह करना है, १९३२ की एंग्लो-पोलिश प्रत्यर्पण संधि में भी इसका उल्लेख है, उपर्युक्त पोलिश व्यक्तियों ने यह अपराध किया है, अतः इनका प्रत्यर्पण होना चाहिये।

न्यायालय ने इस मामले में निर्णय देते हुए कहा—'(क) १८७० के प्रत्यर्पण कानून का उद्देश्य राजनीतिक स्वरूप रखने वाले अपराधों के विषय में प्रत्यर्पण को रोकना है। मैजिस्ट्रेट का यह कर्तव्य है कि वह सारी साक्षी देखकर यह निश्चय करे कि यह अपराध प्रत्यर्पणयोग्य (Extraditable) है या राजनीतिक स्वरूप रखता है। (ख) अपराध का राजनीतिक स्वरूप प्रत्यर्पण की प्रार्थना के समर्थन में दी गई साक्षी से तथा इसके उत्तर में दी साक्षी से प्रकट होता है। कैस्टियोनी के मामले में 'राजनीतिक स्वरूप' के सम्बन्ध में दी गई परिभाषा बहुत व्यापक नहीं है। न्यायाधीश कैसरज के मत में इस परिभाषा में सदैव उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए विचार करना चाहिये। वर्तमान समय १८९० के उस समय से भिन्न है, जब कैस्टियोनी के मामले का निर्णय किया गया था। उस समय किसी नागरिक के लिये अपना देश छोड़कर दूसरे देश में नया जीवन शुरू करना देशद्रोह नहीं था। उस समय युद्ध न होने पर देश एक-दूसरे के शत्रु

नहीं समझे जाते थे। वर्तमान मामले में प्रार्थियों के पास केवल विद्रोह का एकमात्र मार्ग खुला हुआ था। उन्होंने एक राजनीतिक स्वरूप रखनेवाला अपराध किया है और यदि उन्हें पोलिश सरकार को सौंपा जायगा तो वे राजनीतिक अपराध के लिए दण्डित किये जायेंगे। अतएव न्यायालय ने १८७० के प्रत्यर्पण कानून के अनुभाग ३(१) के अनुसार पोलिश नाविकों को पोलिश सरकार को सौंपने का निषेध किया।

एटेण्टेंट धारा (*Attentant Clause*)—कई बार कुछ राजनीतिक अपराधों का उद्देश्य राज्य अथवा शासन के अध्यक्ष को मारना होता है। ऐसे अपराधों के राजनीतिक होते हुए भी इनमें प्रत्यर्पण होता है। इसका बड़ा मनोरंजक इतिहास है। १८६४ में फ्रांस के सम्राट् नैपोलियन तृतीय के वध के उद्देश्य से बेल्जियम में बसे दो फ्रेंच व्यक्तियों ने केले तथा लील के बीच की रेलवे लाइन पर बमविस्फोट किया। फ्रांस ने बेल्जियम से इनके प्रत्यर्पण की प्रार्थना की। बेल्जियम के न्यायालय ने इस अपराध के राजनीतिक होने के कारण यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी। बाद में बेल्जियम ने अपने १८६६ के प्रत्यर्पण कानून का संशोधन करते हुए उसमें Attentant Clause जोड़ी इसके अनुसार सरकार के अध्यक्ष का या उसके परिवार के किसी सदस्य का वध राजनीतिक अपराध नहीं समझा जाना चाहिये। कुछ समय बीतने पर यह व्यवस्था अन्य योरोपियन राज्यों ने भी अपने प्रत्यर्पण कानूनों में सम्मिलित की।

दोहरी अपराधिता (Double Criminality) **का नियम**—अधिकांश राज्य प्रत्यर्पण के लिये यह आवश्यक समझते हैं कि अपराधी का कार्य प्रत्यर्पण करने तथा इसकी माँग करने वाले दोनों राज्यों में अपराध समझा जाता हो, इस प्रकार यह कार्य दोहरे रूप में अपराध होना चाहिए। यदि यह केवल एक ही राज्य में अपराध है तो प्रत्यर्पण नहीं किया जायगा। दिसम्बर, १९३२ में दलिनायस से भागे हुए अपराधी व्यापारी सैमुअल इन्सल को ग्रीक न्यायालय ने इस आधार पर अमरीका को नहीं सौंपा कि उस पर जो दोष लगाया गया है, वह यूनानी कानून में अपराध नहीं है। इस विषय का दूसरा प्रसिद्ध मामला **आइजलर** (Eisler) का है।

इसका पहले (पृ० ३०७) उल्लेख किया जा चुका है।

अपराध भेद का सिद्धान्त (The Principle of Speciality)—इसके अनुसार प्रत्यर्पण की माँग करने वाला राज्य अपराधी को केवल उसी अपराध के लिये दण्डित कर सकता है, जिसके आधार पर उसका प्रत्यर्पण किया गया है। यदि प्रत्यर्पण की माँग वाले तथा उस पर मामला चलाये जाने वाले अपराध में भेद है तो न्यायालय इस दशा में उसे मुक्त कर देते हैं। **स० रा० बनाम रौश्चर** (United States v Rouscher 1886) के मामले में ऐसा ही हुआ। रौश्चर एक नाविक था, इसे वध के अपराध के कारण ग्रेट ब्रिटेन ने स० रा० अमरीका को सौंपा। किन्तु यहाँ उस पर क्रूर तथा असाधारण दण्ड देने का अपराध लगाकर दण्डित किया गया। इस मामले की अपील होने पर सुप्रीम कोर्ट ने इसका दण्ड रद्द करते हुए इसे इस आधार पर मुक्त कर दिया कि इसे केवल प्रत्यर्पण वाले अपराध के लिए ही दण्डित किया जा सकता है। एक

इटालियन न्यायालय ने In re Arrieto के मामले में यह निर्णय किया था कि अभियुक्त की सहमति से तथा प्रत्यर्पण संधि में इस प्रकार की व्यवस्था होने पर प्रत्यर्पण वाले अपराध से भिन्न अपराध के लिए भी उस पर अभियोग चलाया जा सकता है।

• *प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सावरकर के मामले का प्रथम परिशिष्ट में विस्तार से उल्लेख किया गया है।*

प्रत्यर्पण के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इसके लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक है—(क) राजनीतिक, सैनिक और धार्मिक अपराधों के लिये प्रत्यर्पण नहीं हो सकता। (ख) प्रत्यर्पित (Extradited) व्यक्ति पर केवल उन्हीं अपराधों के लिये अभियोग चलाया जा सकता है, जिनके आधार पर उसके प्रत्यर्पण की प्रार्थना की गई थी। (ग) प्रत्यर्पण की माँग करने वाला राज्य केवल उसी अपराध के लिये अभियोग चला सकता है, जो दोनों देशों में अपराध समझा जाता हो।

अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण—आइकमान का मामला (Extradition by Abduction—Eichmann Case)—यदि किसी अपराधी व्यक्ति को सामान्य रूप से दूसरी सरकार से प्राप्त न किया जा सकता हो तो क्या ऐसी दशा में उसका बल तथा छल से अपहरण करना उचित है? इस विषय में आइकमान का मामला बड़ा रोचक है। कार्ल एडोल्फ आइकमान को हिटलर ने १९३८ में 'यहूदी प्रवास विभाग' (Bureau of Jewish Emigration) का अध्यक्ष बनाकर उसे यहूदियों को जर्मनी से निकालने तथा इस समस्या के समाधान का कार्य सौंपा। १९३९ में चैकोस्लोवाकिया पर जर्मन अधिकार होने पर इसे वहाँ बसे ३५,००० यहूदियों को बाहर निकालने का कार्य संगठित करने भेजा गया। १९४१ में इसे सुरक्षा एवं यहूदियों के निष्कासन दोनों विभाग सौंप दिये गये, इसे आइकमान विभाग (Dien stelle Eichmann) का नया नाम दिया गया। इस विभाग का कार्य जर्मनी में तथा जर्मन सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेश में लाखों यहूदियों का निर्वासन तथा सफाया करना था। १९४३ में आइकमान ने यहूदियों को मरवाने के लिये विशेष दस्ते (Einsatzgruppen Spcial Squads) बनाये। उस समय इन्हें गोली से उड़ाने तथा इनके शवों को गाड़ने की प्रक्रियायें बड़ी मन्द, खर्चीली और झंझट वाली प्रतीत हुईं, अत: आइकमान ने कम खर्च में बड़े पैमाने पर तथा बड़ी जल्दी यहूदियों का सामूहिक नरसंहार करने तथा इनके शवों को भस्म करने के लिये एक गैस Zyclon B का प्रयोग करने की आज्ञा दी। इसमें यहूदियों को बहुत बड़ी संख्या में कमरों में बन्द करके उसमें विषैली गैस भर दी जाती थी, इन गैसगृहों (Gas chambers) से उनका सामूहिक संहार हो जाता था और बिजली की भट्टियों से उनके शव जला दिये जाते थे। १९४४ में *आइकमान ने स्वयं वैयक्तिक रूप से हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट में १ लाख ८०* हजार से २ लाख तक हंगेरियन यहूदियों को आसविट्ज के बन्दीगृह (Auschvitz concentration Camp) में निर्वासित कराया तथा गैसगृहों में इन्हें मरवाया। आइकमान का यह दावा था कि उसने हिटलर के 'यहूदी प्रश्न के अन्तिम समाधान' के लिये

५ लाख यहूदियो के वध का आयोजन कराया है।[६]

द्वितीय विश्वयुद्ध मे ८ मई १९४५ को आइकमान अमरीकी फौजो द्वारा बन्दी बना लिया गया। उस समय इसने अपना नाम और वेष बदल लिया। कुछ समय बन्दी रहने के बाद यह अमरीकन कैम्प से भाग निकला और झूठे नाम से दक्षिण अमरीका के अर्जेण्टायना राज्य मे चला गया और वहाँ एक कारखाने मे काम करने लगा। किन्तु कुछ यहूदी अपनी जाति के विध्वसक आइकमान का पता लगाने पर तुले हुए थे। वे पन्द्रह वर्ष तक इसकी खोज मे लगे रहे। इस बीच मे यहूदियो का राज्य इज़राइल भी बन गया था। ११ मई १९६० को यहूदी स्वयसेवकों ने इसे अर्जेण्टायना मे पकडा, एक विमान पर बिठा कर इजराइल ले आये और उन्होंने यहाँ पहुँचकर इसे इजराइल की सरकार को सौप दिया।

आइकमान के इस प्रकार गुप्तरीति से अर्जेण्टायना मे अपहरण पर वहाँ की सरकार का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक था। उसने इज़राइल के इस कार्य का प्रबल विरोध करते हुए ८ जून १९६० के पत्र मे यह कहा कि उसने एक मित्र देश की प्रभुसत्ता का उल्लघन किया है, आइकमान ने यद्यपि लाखो यहूदियो का नरसहार किया है, वह अर्जेण्टायना मे झूठे नाम से रह रहा था, अत उसे वहाँ शरण ग्रहण करने का कोई अधिकार नही था, फिर भी इज़राइल अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन करके दूसरे देश म अपने प्रतिनिधि भेज कर अपहरण का ऐसा कार्य नही कर सकता। उसे आइकमान को वापिस लौटा देना चाहिये और इसके बाद उसके प्रत्यर्पण की माँग करनी चाहिये। यदि आइकमान को जातिवध (Genocide) के अपराध के आधार पर लौटाया जाय तो उस पर यह अभियोग या तो जर्मनी मे चलाया जाना चाहिये, जहाँ ये अपराध किये गये थे अथवा स० रा० सघ के जातिवध अभिसमय (Genocide Convention) के अनुसार यह मामला एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष लाया जाना चाहिये। यदि इज़राइल ने उसकी यह प्रार्थना नही मानी तो वह यह मामला सुरक्षा परिषद् मे ले जायगा।

इसके उत्तर मे इज़राइल की सरकार का यह कहना था कि यह कार्य स्वयसेवको ने किया है, आइकमान ने अपना समर्पण स्वेच्छापूर्वक अपनी मानसिक शान्ति पाने के लिये किया है, वह आइकमान पर अभियोग इज़राइल मे ही चलाना चाहती है, उसे लौटाने के लिये तैयार नही है, किन्तु इस काण्ड मे अर्जेण्टायना की सरकार की प्रभुसत्ता का जो उल्लघन हुआ है, उसके लिये वह उससे क्षमा माँगती है।

आइकमान को न लौटाने पर अर्जेण्टायना ने सुरक्षा परिषद् मे इस प्रश्न को उठाया। सुरक्षा परिषद् ने २२, २३ जून १९६० को इस प्रश्न पर विचार करके यह

---

६. कीसिंग्स आर्काइव्ज, २५ जून—२१ जुलाई, १९६०, पृ० १७४८९। यहूदियों के रोमाचक नरसहार के लिये देखिये कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६२, पृ० १८८२६

निर्णय दिया कि ऐसे कार्यों से राज्य की प्रभुसत्ता का उल्लंघन होता है, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न होता है तथा यदि ऐसे कार्य बार-बार किये जायें तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होने की सम्भावना है, इज़राइल को यह चाहिये कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संघ के चार्टर के अनुसार इस मामले में अर्जेण्टायना को समुचित मुआवजा दे और परिषद् को यह आशा है कि दोनों देशों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बने रहेंगे।

इज़राइल में आइकमान पर ११ अप्रैल १९६१ में मुकद्दमा चलाया गया तथा ३१ मई १९६२ को आइकमान को न्यायालय के निर्णय के अनुसार प्राणदण्ड दे दिया गया।

आइकमान के मामले में यह प्रश्न उठाया गया था कि इज़राइल इस मामले को चलाने का अधिकार नहीं रखता था क्योंकि जिस समय ये अपराध किये गये थे, उस समय इज़राइल राज्य का निर्माण ही नहीं हुआ था तथा ये अपराध इज़राइल राज्य की सीमा से बाहर किये गये थे। दूसरा प्रश्न यह था कि क्या इज़राइल द्वारा आइकमान का अर्जेण्टायना से इस तरह अपहरण करना न्यायोचित था। इस विषय में इज़राइल का यह कहना था कि यदि सामान्य रूप से आइकमान के प्रत्यर्पण की मांग अर्जेण्टायना से की जाती तो वह अवश्य फरार हो जाता। अन लाखों निरीह निरपराध यहूदियों के हत्यारे को पकड़ने के लिए यदि अपहरण करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय नियम की कुछ अवहेलना हुई है तो आइकमान के अपराध की गुरुता को देखते हुए नैतिक दृष्टि से उसे इस प्रकार पकड़ने में कोई दोष नहीं प्रतीत होता।[7]

आर्टुकोविक का मामला (Artukovic Case)—इसी प्रकार का एक अन्य मामला यूगोस्लाविया के आन्द्रिज्य आर्टुकोविक का है। १९३४ में फ्रांस के बन्दरगाह मार्सेलीज़ में यूगोस्लाव राजा एलेक्जेण्डर की हत्या हुई, इसके षड्यन्त्र में सर्वप्रथम

---

७. इस मामले के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९६१, पृ० १२७—१३५ तथा पृ० ३०७—३५८।

अपहरण द्वारा प्रत्यर्पणविषयक एक अन्य मामला कांगो (किन्शासा) के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री शोम्बे का है। कीसिंग्स आकाइव्ज, १९६७, पृ० , एशियन रिकार्डर १९६७, पृ० ७७०५) कांगो की वर्तमान सरकार इसे देशद्रोही, साम्राज्यवादियों का साथ देने वाला, कांगो के प्रथम प्रधानमन्त्री लुमुम्बा की हत्या कराने वाला समझती थी। यह कांगो से भाग कर विदेश चला गया था, किन्तु इसकी अनुपस्थिति में भी कांगो के एक न्यायालय में इस पर मामला चला कर मार्च १९६७ में इसे प्राणदण्ड दिया गया था। कांगो सरकार किसी प्रकार इसे दण्ड देने के लिये विदेश से स्वदेश लाने के लिये प्रयत्नशील थी। १ जुलाई १९६७ को जब शोम्बे एक एक ब्रिटिश विमान द्वारा रोम से स्पेन जा रहा था तो जहाज पर सवार कुछ व्यक्तियों ने चालक को इस विमान को जबर्दस्ती अल्जीरिया ले जाने के लिये बाधित किया। इस विमान के अल्जीरिया पहुंचते ही वहां की सरकार ने शोम्बे को बन्दी बना लिया तथा २ जुलाई १९६७ को कांगो की सरकार ने अल्जीरिया की सरकार से शोम्बे के प्रत्यर्पण की मांग की।

आर्टुकोविक का नाम लिया गया। १९४१ मे जर्मन सेनाओ ने यूगोस्लाविया पर अधिकार कर लिया। उस समय क्रोट लोगो ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए एक पृथक् गणराज्य की स्थापना की। आर्टुकोविक क्रमश. इस राज्य में गृहमन्त्री, न्यायमन्त्री तथा राज्य परिषद् का अध्यक्ष बना। वर्तमान यूगोस्लाविया की सरकार का यह दावा है कि इसने अपने शासनकाल मे हजारो निर्दोष यूगोस्लावो का वध बडी क्रूरता से कराया।

१९४५ मे जर्मनी की हार होने पर आर्टुकोविक ने स्वदेश से भागकर आस्ट्रिया, स्विट्जरलैण्ड और आयर्लैंड मे शरण ली। १९४८ मे वह स० राज्य अमरीका मे कैलिफोर्निया मे रहने वाले अपने भाई के पास कुछ दिन रहने के लिये झूठे नाम से चला गया। अमरीका मे अपने निवास के प्रथम वर्ष मे ही उसने आप्रवास (Immigration) के अधिकारियों को अपना असली नाम बता दिया। १९४५-५० मे उसने स० रा० अमरीका में स्थायी रूप से निवास के लिए १९४८ के Displaced Persons Act के अनुसार प्रार्थना की। उसके प्रार्थनापत्र को अस्वीकृत कर दिया गया क्योकि उसने अमरीका मे प्रवेश झूठे नाम से किया था।

१९५१ मे यूगोस्लाव सरकार ने उसके प्रत्यर्पण की माँग की। इसपर उसे बन्दी बना लिया गया। अब उसने बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) के अन्तर्गत न्यायालय मे अपनी मुक्ति के लिये आवेदनपत्र दिया। इस मामले मे न्यायाधीश हाल का यह मत था कि १९०२ मे स० रा० अमरीका ने अपराधियों के प्रत्यर्पण की जो सधि सर्बिया राज्य से की थी वह यूगोस्लाविया का सर्वथा नया राज्य बन जाने के कारण उसके साथ की गई नही मानी जा सकती, अत सधि के अनुसार उसका प्रत्यर्पण नही हो सकता। आर्टुकोविक का यह कहना था कि उसके विरुद्ध जो अपराध लगाये जा रहे है, उनका स्वरूप राजनीतिक है। अत इनके आधार पर उसके प्रत्यर्पण की माँग नही की जा सकती। न्यायाधीश ने इस तर्क को स्वीकार करते हुए उसे मुक्त कर दिया।

भारतीय प्रत्यर्पण कानून १९६२ (Indian Extradition Act, 1962)—इस प्रसग मे १६ सितम्बर १९६२ को राष्ट्रपति की स्वीकृति पाने वाले भारतीय प्रत्यर्पण कानून का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। यह १८८१ के भगोडे अपराधी अधिनियम (Fugitive Offenders' Act) १८७० तथा १९३२ के प्रत्यर्पण कानूनों (Extradition Acts) तथा १९०३ के भारतीय प्रत्यर्पण कानून का स्थान लेने तथा इनमें समयानुकूल सशोधन करने के लिये बनाया गया है। नये कानून मे एक विदेशी राज्य मे तथा राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) के देश मे भेद किया गया है। इसकी अनुसूची (Schedule) में गिनाये हुए राष्ट्रमण्डल के देश ये है—आस्ट्रेलिया, कनाडा, सीलोन, साइप्रस, मलाया, घाना, न्यूजीलैंड, नाइजीरिया, पाकिस्तान, सियरालिओन, सिंगापुर, टांगानिका और ग्रेट ब्रिटेन। यह कानून आयर्लैंड पर राष्ट्रमण्डल के देशो के समान लागू होगा।

इसके अनुभाग (Section) २ मे इस कानून मे प्रयुक्त विभिन्न पारिभाषिक शब्दों के लक्षण तथा आशय स्पष्ट किए गए हैं। प्रत्यर्पण के अपराध (Extradition

offence) को, ऐसा अपराध बताया गया है, जिसके सम्बन्ध में व्यवस्था विदेशी राज्य के साथ की गई प्रत्यर्पण सन्धि में दी गई हो। जिन राज्यों के साथ ऐसी सन्धि नहीं है, उनके सम्बन्ध में ये अपराध इस कानून की दूसरी अनुसूची में वर्णित किये गए अपराध होंगे। इस अनुसूची के अपराध ये हैं—

सदोष हत्या (Culpable murder), हत्या का प्रयत्न, गर्भपात (Miscarriage) कराना, बच्चे का परित्याग (Abandonment), भगाना (Kidnapping), अपहरण (Abduction), दासता (Slavery), जबर्दस्ती श्रम कराना, बलात्कार तथा अप्राकृतिक अपराध (Unnatural offences) अपकर्षण (Extortion), चोरी और डकैती (Robbery and Dacoity), गबन (Criminal misappropriation), सापराध न्यास भग (Criminal breach of trust), ठगना, रिष्टि (Mischief), जालसाजी वाले दस्तावेजों का प्रयोग, मुद्रासम्बन्धी अपराध, जहाजों को समुद्र में डुबोना या नष्ट करना अथवा इसका प्रयत्न या षड्यन्त्र करना, इसी प्रकार विमानों का विध्वंस करना या इसका प्रयत्न अथवा षड्यन्त्र करना, महासमुद्रों में किसी जहाज पर या विमान पर इसे नष्ट करने के इरादे से आक्रमण करना, महासमुद्रों में जहाज के स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करना, सोने को, हीरों को तथा अन्य बहुमूल्य मणियों को तथा मादक पदार्थों को चोरी से लाना, स्त्रियों तथा लड़कियों का अनैतिक व्यापार या अन्य कोई ऐसा अपराध जो भारतीय दण्ड विधान के अनुसार अथवा भारत सरकार द्वारा प्रकाशित की गई विज्ञप्तियों के अनुसार दण्डनीय अपराध हो। भगोड़ा अपराधी (Fugitive Criminal) वह व्यक्ति है जिस पर विदेशी राज्य की सीमा में उपर्युक्त प्रत्यर्पण अपराध करने का आरोप है या जिसे ऐसे अपराध के लिए दण्ड मिल चुका है और उसके भारत में भागकर आने का संदेह है।

इस कानून के अनुभाग (Section) ३१ में राजनीतिक अपराधों (Political Crimes) की व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि ऐसे भगोड़े अपराधियों को पकड़कर किसी विदेशी राज्य को नहीं सौंपा जायगा, जिनका अपराध राजनीतिक हो या भगोड़ा व्यक्ति उसके मामले पर विचार करने वाले मजिस्ट्रेटों के अथवा केन्द्रीय सरकार के समक्ष सन्तोषजनक रीति से यह प्रमाणित कर सके कि उसके प्रत्यर्पण की माँग इसलिए की जा रही है कि उसे राजनीतिक स्वरूप रखने वाले किसी अपराध के लिये दण्डित किया जा सके। इस कानून के अनुभाग २२ के अनुसार भगोड़े अपराधी ने यह अपराध इस कानून के बनने से पहले किया हो तो भी उसे पकड़कर विदेशी राज्य को सौंपा जा सकता है। अनुभाग २३ में यह व्यवस्था है कि किसी राज्य की प्रभुसत्ता में न आने वाले महासमुद्रों में अथवा वायुमंडल में अपराध करने वाले व्यक्तियों को भी दूसरे राज्य को सौंपा जा सकता है। अनुभाग २९ में यह कहा गया है कि यदि केन्द्रीय सरकार को यह प्रतीत होता है कि प्रत्यर्पण की माँग बड़े क्षुद्र कारणों से तथा अच्छे इरादे से नहीं की जा रही, भगोड़े अपराधी को लौटाना अन्यायपूर्ण होगा तो वह अदालत में उसके विरुद्ध चल रही कार्यवाही को किसी भी समय रोक सकती है, इस व्यक्ति को बन्दी बनाने वाले वारण्ट को रद्द करके उसे मुक्त करने का अधिकार रखती है। अनुभाग ३० में यह कहा गया

है कि यदि भगोडे अपराधी के प्रत्यर्पण की माँग कई राज्य करें तो केन्द्रीय सरकार जिस राज्य को उचित समझे उसे भगोडे का प्रत्यर्पण कर सकती है।

इस कानून के दूसरे तथा तीसरे अध्याय में भगोडे अपराधियों के प्रत्यर्पण की माँग के सम्बन्ध में आवश्यक नियमों का निर्देश है। अध्याय ३ के अनुभाग ४ से ११ के अनुसार विदेशी राज्य के भगोडे अपराधी के प्रत्यर्पण की प्रार्थना उस राज्य के दिल्ली स्थित राजदूत द्वारा या विदेशी सरकार द्वारा केन्द्रीय सरकार को की जानी चाहिए। इस प्रार्थना के आने पर केन्द्रीय सरकार इस मामले की जाँच करने के लिए एक न्यायाधीश को आदेश देगी। न्यायाधीश ऐसा आदेश पाने पर भगोडे अपराधी को बन्दी बनाने के वारण्ट निकालेगा और यदि इस मामले की जाँच करने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि उसके विरुद्ध प्रथम दृष्टि मे (prima facie) मामला सिद्ध हो गया है तो वह भगोडे अपराधी को जेल भेज सकता है तथा इस विषय म अपनी जाँच की रिपोर्ट तथा अभियुक्त का वक्तव्य केन्द्रीय सरकार को भेज देगा। इस रिपोर्ट और वक्तव्य को प्राप्त करने के बाद यदि केन्द्रीय सरकार इसे विदेशी सरकार को सौंपना उचित समझेगी तो इस विषय मे आवश्यक कार्यवाही करेगी।

तारासोव का मामला (Tarasov Case)—उपर्युक्त कानून बनने के बाद इस विषय का सबसे प्रसिद्ध मामला रूसी नाविक तारासोव का है। इसके प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं २४ वर्षीय वी० एस० तारासोव (Vladislav Stepanovich Tarasov) एक रूसी तेलवाहक (Tanker) जहाज तेहेरनोव्सी (Tchernovci) पर नाविक था। उस पर यह आरोप था कि उसने इस इस जहाज म, जब यह महासमुद्र (High Seas) मे था तो ७०० रु० की चोरी की और जब यह पोत कलकत्ता के बन्दरगाह में आया तो २५ नवम्बर १९६२ को तारासोव उस जहाज से कूद पडा तथा उसने वहीं पास खडे हुए स० रा० अमरीका के जहाज Steel Surveyor पर शरण ग्रहण की। इस पर सोवियत दूतावास ने भारत सरकार से प्रार्थना की कि रूस तारासोव पर रूसी अदालत में उसकी चोरी के अपराध के लिए मुकद्दमा चलाना चाहता है, अत तारासोव उसे सौंप दिया जाय। इस पर भारत सरकार ने यह आदेश दिया कि इस मामले मे प्रत्यर्पण का निर्णय करने से पहले इस बात की न्यायिक जाँच (Judicial survey) हो कि सोवियत दूतावास द्वारा तारासोव के विरुद्ध लगाये गए चोरी के आरोप मे प्रथम दृष्टि में (prima facie) मामला बनता भी है या नहीं। इस मामले की जांच पहले कलकत्ता में तथा बाद मे दिल्ली में सब डिवीजनल मजिस्ट्रेट श्री एन० एल० कक्कड ने की। २९ मार्च १९६३ को इस मामले में यह निर्णय दिया गया कि तारासोव के विरुद्ध प्रथम दृष्टि मे (prima facie) मामला नहीं सिद्ध हो पाया, उस पर चोरी का अपराध मनगढन्त है।

इस मामले में वादी की ओर से कहा गया था कि तारासोव ने रूसी जहाज पर रुपया रखने वाले (Purser) तृतीय साथी (Third Mate) के कमरे से १७ नवम्बर को महासमुद्र मे चोरी की। जहाज के कप्तान ब्राउन (M A. Brown) ने इस मामले की जाँच की, किन्तु उसे २४ नवम्बर की शाम तक किसी व्यक्ति पर शक नहीं हुआ।

२४ को जब उसे तारासोव पर शक हुआ तो वह ड्यूटी पर था, अत वह उससे कुछ पूछ नहीं सका। तारासोव अगले दिन सवेरे रूसी जहाज से समुद्र में कूदा। रा० रा० अमरीका के स्टील सरवेयर जहाज पर चढकर उसने स० रा० अमरीका से शरण मांगी। इस पर सोवियत उप-वाणिज्य दूत लोंड्रेव (Londrev) ने कलकत्ता के दक्षिणी बन्दरगाह के थाने में उसके जहाज में गायब होने की तथा उसे ढूँढकर सोवियत वाणिज्य दूतावास में लौटाने की रिपोर्ट दर्ज करायी। इस रिपोर्ट में चोरी का उल्लेख नहीं था। २८ नवम्बर को वह पकडा गया प्रेज़ीडेन्सी मजिस्ट्रेट ने उसके अभियोग पर विचार किया और उसे दोषी सिद्ध करने के प्रमाणों के अभाव में उसे मुक्त कर दिया। इसी बीच सोवियत दूतावास ने उसके प्रत्यर्पण की प्रार्थना की और वह ९ जनवरी को दिल्ली के उपर्युक्त मजिस्ट्रेट के वारण्ट पर पुन गिरफ्तार कर लिया गया, ११ जनवरी १९६३ को दिल्ली लाकर उसके प्रत्यर्पण की जाँच (*Extradition Enquiry*) शुरू की गई।

इस विषय में तारासोव का कहना था कि वह सर्वथा निर्दोष है। उसने कोई चोरी नहीं की। वह अपने देश से इस आशा से भागना चाहता था कि उसे स्वतन्त्रता का जीवन बिताने का अवसर मिले, वह अत्याचार के भय से आशंकित न रहे, रूस में व्यक्ति कुछ नही है, वहा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नही है। सोवियत सरकार उसके प्रत्यर्पण की माँग बदले की भावना से कर रही है, रूस में उस पर चोरी के लिये मुकद्दमा नही चलेगा, किन्तु युक्रेनियन दण्ड-विधान की धारा ५६ के अनुसार मुकद्दमा चलेगा। इसमे स्वदेश लौटने से मना करने वाले भगोड़ों को १० से १५ वर्ष की कैद की अथवा गोली से मारने की व्यवस्था है, भले ही उन्होंने कोई अपराध न किया हो। जब कोई रूसी सोवियत शासन से असतुष्ट होकर देश से बाहर जाता है तो इसे इसी प्रकार चोरी के अपराध मे फँसाया जाता है, उसपर भी इसीलिये झूठमूठ मनगढन्त यह अपराध लगाया जा रहा है।

माननीय न्यायाधीश ने इस मामले मे तारासोव के पक्ष मे निर्णय देते हुए कहा कि चोरी के मामले मे दो बात विचारणीय है—(१) चोरी २५ नवम्बर को हुई या १७ नवम्बर को, (२) क्या २५ नवम्बर से पहले तैयार किये गये कागज वास्तविक है। उपस्थित की गई साक्षी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि कोई चोरी हुई है तो रात के १२ बजे से सवेरे ४ बजे तक २५ नवम्बर को हुई है, जब रूसी जहाज कलकत्ता के किंग जार्ज गोदी (Dock) मे था। १७ नवम्बर को कोई चोरी नही हुई क्योंकि २५, २६ नवम्बर को दक्षिणी बन्दरगाह (South Port) के थाने मे इस विषय मे जो रिपोर्टें दर्ज करायी गई हैं, उनमे सोवियत दूतावास ने चोरी का कोई उल्लेख नही कराया। चोरी के विषय म फोटो आदि के जो प्रमाण २५ ता० से पहले तैयार किये बताये जाते हैं, वे भी पुलिस को नहीं दिखाये गये। जज की सम्मति मे "सोवियत सघ *कलकत्ता मे इस मामले को चलाने के बारे म बहुत उत्सुक (serious) नहीं था, उसने* केन्द्रीय सरकार को प्रत्यर्पण की कार्यवाही आरम्भ करने की प्रार्थना की थी।"

सोवियत दूतावास द्वारा उपस्थित की गयी साक्षियों की कडी आलोचना करते हुए न्यायाधीश ने कहा कि विदेशी राज्य ने ऐसी साक्षी नहीं पेश की जो यह प्रदर्शित करे

कि चोरी हुई थी। वादी के १२ गवाहों में से केवल एक ही गवाह कप्तान ब्रौन पेश किया गया और उसकी साक्षी विश्वसनीय नहीं है। किसी व्यक्ति को दण्डित करने से पहले उसके विरुद्ध ऐसा प्रबल केस होना चाहिये, यदि ऐसा नहीं हो तो तारासोव को छोड़ दिया जाना चाहिये। अन्यथा इसकी रिपोर्ट केन्द्रीय सरकार को प्रत्यर्पण कानून के अनुभाग ७ (४) के अनुसार आवश्यक कानूनी कार्यवाही करने के लिये देनी चाहिये। ऐसे मामले में केन्द्रीय सरकार यह निर्णय करेगी कि उसका प्रत्यर्पण किया जाय या न किया जाय।[८]

प्रत्यर्पण कानून की व्याख्या करते हुए इस निर्णय में कहा गया था कि प्रत्येक देश इस बात का दावा करता है कि इसे अपने नागरिकों की तथा इसकी शरण में आये प्रत्येक विदेशी की रक्षा करने का सर्वोच्च अधिकार (Sovereign right) प्राप्त है। "राज्य ऐसे किसी व्यक्ति को अन्य किसी राज्य को अर्पण करने से इन्कार कर देता है, जिसके बारे में प्रबल केस न हो कि उसने वास्तव में अपराध किया है।" प्रत्यर्पण के मामलों के प्रमाण सामान्य मामलों की अपेक्षा अधिक पुष्ट और प्रबल होने चाहिये। न्यायाधीश ने सोवियत संघ की इस युक्ति को स्वीकार नहीं किया कि विदेशी राज्य द्वारा उपस्थित किये गये प्रमाणों को कानूनी साक्षी के लिये पर्याप्त समझना चाहिये और इसमें कोई संदेह नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त निर्णय में यह भी कहा गया था कि भारत और सोवियत संघ के मध्य कोई प्रत्यर्पण संधि (Extradition Treaty) न होने के कारण भगोड़े व्यक्ति को विदेशी राज्य को नहीं सौंपा जा सकता।

प्रत्यर्पण के विषय में स्वर्लियन (Svarlien) ने यह सर्वथा सत्य ही लिखा है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि इस युग में यातायात के शीघ्रगामी साधनों के विकास के कारण एक अपराधी के लिये अपने अपराध के स्थल से बचकर भाग निकलना अधिक सरल हो गया है। अतः इस समय पहले की अपेक्षा यह अधिक आवश्यक हो गया है कि अपराधी को दण्ड देने तथा न्याय व्यवस्था के लिये सब देशों में पारस्परिक सहयोग हो। यह मानव समाज के संरक्षण के लिये नितान्त आवश्यक है ताकि इसके कानूनों का उल्लंघन करने वाले दण्ड से बच न सकें। किन्तु दूसरी ओर यह भी आवश्यक नहीं है कि समाज के क्रूर तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार से व्यक्ति की रक्षा की जाय।"[९] समाज के ऐसे क्रूरतापूर्ण शासन से व्यक्ति को मुक्ति प्रदान

---

८. हिन्दुस्तान टाइम्स, ३० मार्च १९६३, पृ० १ तथा ७

९. स्वर्लियन—इन्ट्रोडक्शन टू दी लॉ आफ नेशन्स, १९५५, पृ० ४३३

यह श्री एवं श्रीमती धर्मतेजा के उदाहरण से स्पष्ट है। भारत सरकार जयन्ती शिपिंग कम्पनी के लाखों रुपये के घोटाले और गबन घोटाले के लिये इन दोनों पर भारत में मामला चलाना चाहती है। किन्तु ये भागकर सं० रा० अमेरिका चले गये। वाशिंगटन की सरकार से जब भारत सरकार ने इनका प्रत्यर्पण करना चाहा तो तेजा दम्पती हवाई जहाज से वहाँ से भागकर दक्षिण अमेरिका के कोस्टारिका Costa Rica नामक राज्य में पहुँच गये और इसके राष्ट्रपति के पास उन्होंने शरण ली। कोस्टारिका के साथ भारत की कोई प्रत्यर्पण संधि नहीं

करने के लिये आश्रय के अधिकार की व्यवस्था की गयी है।

आश्रय का अधिकार (Right of Asylum)—प्रत्यर्पण और आश्रय के अधिकार एक-दूसरे के विलोम है। स्टार्क के शब्दो मे प्रत्यर्पण के प्रारम्भ के साथ आश्रय की समाप्ति हो जाती है। प्राय राजनीतिक अपराधी दूसरे देशो मे आश्रय या शरण ग्रहण करते है। जब किसी व्यक्ति को किन्ही कारणो से अपने देश मे प्राण सकट मे पडने की आशका होती है तो वह दूसरे देश मे आश्रय ग्रहण करता है। मार्च १९५९ मे जब दलाई लामा का तिब्बत म निवास करना सुरक्षित नही रहा तो उन्होने ल्हासा से भागकर भारत मे आश्रय ग्रहण किया।

स्टार्क (पृ० २७६) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे आश्रय के दो मुख्य तत्व बताये है—(१) स्थायी रूप से शरण देना। (२) आश्रय देने वाले राज्य के प्रदेश के अधिकारियो द्वारा पूरा सरक्षण। आश्रय दो प्रकार का होता है—(क) प्रादेशिक आश्रय (Territorial Asylum) किसी राज्य द्वारा अपने प्रदेश मे किसी व्यक्ति को दिया गया आश्रय, जैसे दलाई लामा को भारत सरकार द्वारा भारत मे दिया गया आश्रय।

स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना द्वारा स्विट्जरलैण्ड तथा स० रा० अमेरिका म शरण लेने की घटना इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण है। वह दिसम्बर १९६६ म अपने दिवगत पति (रूस की सरकार ने स्वेतलाना को इस विवाह की स्वीकृति नहीं दी थी) ब्रजेशसिंह के अवशेष लेकर अपने भारतीय पति के घर कालाकाकर (उत्तर प्रदेश) कुछ निश्चित अवधि के लिये आई थी। इस अवधि के समाप्त होने पर किन्ही कारणों से उसने रूस जाना उचित नही समझा और नई दिल्ली मे स० रा० अमेरिका के दूतावास मे शरण ग्रहण की और वहाँ के अधिकारियो की सहायता से वह अस्थायी शरण (Temporary asylum) लेने के लिए स्विट्जरलैण्ड पहुँची (११ मार्च १९६७)। वहाँ कुछ समय रहने के बाद वह २१ अप्रैल १९६७ को न्यूयार्क पहुँची और उसने यह कहा कि वह रूस लौटने के स्थान पर यहा इसलिये आई है कि "वह आत्माभिव्यक्ति की उस स्वतन्त्रता को चाहती है, जो उसे रूस मे प्राप्त नही थी।" स० रा० अमेरिका के सरकारी प्रवक्ता की ओर से कहा गया कि वह यहाँ तीन से छ महीने के अनुमति-पत्र (Visitor's Visa) पर आयी है और जब तक चाहे यहाँ रह सकती है।

है, अतः भारत उससे तेजादम्पति के प्रत्यर्पण की माग नहीं कर सकता। स० रा० अमेरिका की कोस्टा रिका से प्रत्यर्पण सधि है, किन्तु वह उससे तेजा दम्पति की माग इस लिये नहीं कर सकता कि स० रा० अमेरिका में तेजा दम्पती का यही अपराध है कि वे जमानत (Bail) देकर भी वहाँ से भाग निकले हैं और यह अपराध प्रत्यर्पण के लिये पर्याप्त कारण नहीं है। इस समय भारत सरकार इस बात का प्रयत्न कर रही है कि श्री तथा श्रीमती धर्मतेजा को भगोड़ा अपराधी (Criminal Fugitives) मानकर कोस्टा रिका की सरकार उन्हे भारत सरकार को सौंप दे ताकि उनके विरुद्ध लाखों रुपये के गबन और गोलमाल की जाँच हो सके, किन्तु तेजा दम्पति यह प्रयत्न कर रहे है कि कोस्टा रिका उन्हें राजनीतिक शरण (Political Asylum) प्रदान करे। (टाइम्ज आफ इंडिया, दिल्ली, २२ नवम्बर १९६७, पृ० १)

(ख) प्रदेशबाह्य आश्रय (Extraterritorial Asylum)—यह किसी राज्य द्वारा अपने प्रदेश से बाहर विदेशो मे स्थित अपने दूतावासो, युद्धपोतो, व्यापारिक जहाजों मे किसी व्यक्ति को शरण देना है। दोनों प्रकार के आश्रयो मे मौलिक अन्तर है। पहले प्रकार का आश्रय प्रादेशिक प्रभुता का परिणाम होता है और दूसरा इस प्रभुता को कम करने वाला होता है। प्रत्येक राज्य को पहले प्रकार का आश्रय देने का पूर्ण अधिकार है, बशर्ते कि उसने किसी सधि द्वारा इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार न कर लिया हो। दूसरे प्रकार का आश्रय केवल विशेष अवस्थाओ मे किसी व्यक्ति को उत्तेजित भीड के आक्रमण स बचाने आदि की असाधारण अवस्थाओ मे मानवीय कारणो से दिया जाता है।

(क) प्रादेशिक आश्रय (Territorial Asylum) प्रदान करने की परपाटी बहुत प्राचीन है। यह राजनीतिक धार्मिक, सामाजिक मतभेदो के कारण अपने देश से भागने वाले व्यक्तियो को दिया जाता रहा है। इटली, फ्रास, जर्मनी, सोवियत यूनियन के सविधानो मे राजनीतिक कारणो से पीडित होने वाले व्यक्तियों को आश्रय देने के अधिकार की घोषणा की गयी है। किसी व्यक्ति को आश्रय लेने का कोई अधिकार नही है, आश्रयदाता देश किसी व्यक्ति को आश्रय देने या न देने के मामले मे बिल्कुल स्वतन्त्र है। १९४८ के मानवीय अधिकारो के घोषणापत्र मे कहा गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति को अत्याचार से रक्षा पाने के लिए दूसरे देशो मे शरण ग्रहण करने का अधिकार है।" किन्तु यह केवल कोरी घोषणा मात्र है। स्टार्क का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्ति का कोई ऐसा अधिकार नही स्वीकार करता। इस विषय की यथार्थ स्थिति का चित्रण करते हुए ओपेनहाइम ने स्पष्ट शब्दो मे लिखा—"वर्तमान समय मे तथाकथित आश्रय का अधिकार केवल इतना ही है कि प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह किसी पीडित विदेशी को अपनी भूमि मे प्रवेश करने की तथा उसके प्रदेश मे उसके सरक्षण मे रहने और इस प्रकार आश्रय लेने की अनुमति दे। इस प्रकार का विदेशी भगोडा अपने आश्रयदाता राज्य के आतिथ्य का उपभोग करता है, किन्तु राज्य के हित की दृष्टि से उसे निरीक्षण मे रखना या किसी स्थान पर नजरबन्द करना भी आवश्यक हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रदेश मे रहने वाले व्यक्तियो को ऐसा कोई कार्य न करने दे जिससे किसी दूसरे राज्य की सुरक्षा सकट मे पडे।"[10] भारत ने दलाई लामा को यहाँ आश्रय देते समय यह स्पष्ट कर दिया था कि वे यहाँ किसी प्रकार से चीन विरोधी राजनीतिक प्रचार और सगठन नही करेंगे, इस दृष्टि से उन पर कडी देखरेख रखी गई कि वे ऐसा कोई कार्य न करें।

(ख) प्रदेशबाह्य आश्रय (Extraterritorial Asylum)—यह पाँच प्रकार का होता है—(१) दूतावास मे ली जाने वाली शरण या आश्रय (Asylum in Legations), (२) वाणिज्य दूतावासों (Consulates) मे लिया जाने वाला आश्रय,

१०. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ०, खण्ड १, पृ० ६७८

(३) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के भवनो मे लिया जाने वाला आश्रय, (४) युद्धपोतो का आश्रय (Asylum in Warships), (५) व्यापारिक जहाजो का आश्रय। इसमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण दूतावासो मे लिया जानेवाला आश्रय है। इसे राजनयिक आश्रय (Diplomatic Asylum) भी कहते है। आगे इसी की चर्चा विशेष रूप से की जायगी।

क्षेत्रीय अधिकारविषयक नवीन दृष्टिकोण—वर्तमान शताब्दी मे लाखो मनुष्यो को विभिन्न कारणो से प्रेरित होकर जिस बडे पैमाने पर दूसरे देशो मे शरण ग्रहण करनी पडी है, ऐसे पैमाने पर आबादियो के परिवर्तन की घटनाये इतिहास मे पहले कभी नही हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी योरोप के प्रदेशो से हजारो जर्मन शरणार्थी पश्चिमी देशो मे गये, १९४७ मे भारत के विभाजन से लाखो आदमी पाकिस्तान से भारत तथा भारत से पाकिस्तान गये, पश्चिमी एशिया मे इजराइल राज्य की स्थापना से तथा अरब-इजराइल सघर्ष से लाखो अरबो को बेघरबार होकर शरणार्थी बनना पडा, साम्यवादी चीन द्वारा तिब्बत पर अधिकार करने के बाद भगोडे तिब्बतियो का जनप्रवाह नैपाल और भारत को बढ रहा है, क्यूबा म साम्यवादी शासन स्थापित होने के बाद यहाँ से भागकर व्यक्ति स० राज्य मे शरण लेने लगे है। अफ्रीका के देशो मे राजनीतिक उथल-पुथल से जनसख्याओ के परिवर्तन बहुत बडी मात्रा मे हो रहे है। इन सब परिवर्तनो से लाखो आदमी बेघरबार और अनाश्रित हो गये है। अत एल्फान रीस (Elfan Rees) ने इस शताब्दी को **'बेघरबार मनुष्य की शताब्दी** (Century of the Homless man) कहा है।"[११] इस समय प्रादेशिक शरण ग्रहण (Territorial asylum) की समस्या बडी विकट एव जटिल हो गयी है और इसके सम्बन्ध मे नवीन दृष्टिकोण मे चिन्तन आरम्भ हुआ है।

इसके परिणामस्वरूप अब इसके मानवीय पहलू पर अधिक बल दिया जाने लगा है। पहले क्षेत्रीय शरण देना प्रभुसत्तासम्पन्न राज्यो का एक महत्वपूर्ण अधिकार माना जाता था, राज्य इसका प्रयोग करते हुए अपने प्रदेश मे दूसरे राज्यों के नागरिकों को शरण देते थे। किन्तु अब इसे अत्याचार और उत्पीडन से बचने के लिए व्यक्तियों का बहुमूल्य अधिकार स्वीकार किया जाता है। इसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को स्वीकार करते हुए १ जनवरी १९५१ को 'शरणार्थियों के लिए सघ के उच्च आयुक्त' का पद (Office of U N High Commissioner for Refugees) स्थापित किया गया। इससे शरणार्थियो को अन्तर्राष्ट्रीय सरक्षण पहुँचाने का कार्य सौंपा गया। १९६० में स० रा० सघ के मानवीय अधिकार आयोग (U N Human Rights Commission) द्वारा शरणविषयक घोषणा का एक प्रारूप (Draft Declaration on Asylum) तैयार करते हुए इसमे यह कहा गया है कि यह राज्य का अधिकार ही नही, अपितु कर्तव्य है कि वह अत्याचार से त्राण पाने वाले की इच्छा रखने वालो को अपने प्रदेश मे आश्रय प्रदान करे। इस घोषणापत्र पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए भारत, बेल्जियम, इगलैण्ड, पेरु तथा चैकोस्लोवाकिया ने इसी प्रकार की सम्मति

११. इण्डियन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १८१

प्रकट की थी। किन्तु स्पेन, स्वीडन, हालैण्ड, युगोस्लाविया ने इसे व्यक्ति का अधिकार मानने पर बल दिया है। १९४८ में हुए अमेरिकन राज्यों के नवम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने मनुष्य के अधिकारों तथा कर्तव्यों के अमेरिकन घोषणापत्र में यह कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपराध करने की दशा में, अन्य देशों में उन देशों के कानूनों के अनुसार शरण ग्रहण करने का अधिकार है। १९६४ में हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ (International Law Association) के ५१वें सम्मेलन में आश्रय के अधिकार पर पास किये गये एक प्रस्ताव में यह कहा गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से व्यक्ति को दूसरे देश में शरण पाने का अधिकार है।

इस विषय में दूसरा विचार **अप्रत्यावर्त्तन के सिद्धान्त** (Principle of non-refoulement) का स्वीकार किया जाना है। इस सिद्धान्त का यह आशय है कि किसी व्यक्ति को उस देश में उसकी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती वापिस भेजने या प्रत्यावर्त्तन की कार्यवाही न की जाय, जिस देश से वह भागकर आया है। वह जिस देश में शरण ग्रहण कर रहा है, यदि वह देश उसे उसके मूल देश (Country of origin) को लौटा देता है तो वह पुनः वहाँ वापिस जाने पर उन्हीं अत्याचारों और उत्पीडनों का शिकार होगा, जिससे बचने या परित्राण पाने के लिए उसने दूसरे देश में शरण ली थी। शरणार्थी को उसके मूल देश में लौटाने या प्रत्यावर्त्तन करने से शरण ग्रहण का मूल उद्देश्य और प्रमुख प्रयोजन सर्वथा विफल हो जाता है, अतः इस विषय में अप्रत्यावर्त्तन के सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिये। इसे १९५१ के शरणार्थी समझौते (Refugee Convention) की धारा ३१, ३२ तथा ३३ में मानवीय अधिकारों के आयोग द्वारा १९६० में प्रस्तुत किये गये शरण के अधिकार के घोषणापत्र के प्रारूप की धारा ३ में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। कई देशों में वहाँ की सरकारों ने इस विषय में बड़ी स्पष्ट घोषणायें की हैं। ऐसे देशों में आस्ट्रिया, स्विट्जरलैण्ड और इंगलैण्ड के नाम उल्लेखनीय हैं।[12] ८ मार्च १९५७ को ब्रिटेन के उपगृहसचिव ने लोकसभा में यह घोषणा की थी—"यदि युक्तियुक्त रूप से इस बात की कल्पना की जा सकती है कि किसी विदेशी का अपने देश में प्रवेश रोकने का यह परिणाम होगा कि उसे ऐसे देश में लौटकर जाना पड़ेगा, जहाँ उसके प्राण संकट में पड़ जायेंगे, अथवा उस पर इस प्रकार का अत्याचार होगा कि वह जीवन बिताने योग्य नहीं रह सकेगा तो उसे सामान्य रूप से इस देश में प्रवेश की अनुमति दी जायेगी, बशर्ते कि उसे अवांछनीय व्यक्ति समझने के कोई ठोस कारण न हों।" इस प्रकार की सरकारी घोषणाओं से अप्रत्यावर्त्तन का सिद्धान्त कई देशों का हिस्सा बन चुका है।

फिर भी इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने में कई कठिनाइयाँ हैं। किसी देश में शरणार्थियों के अबाध रीति से बड़ी संख्या में आने के कारण कई प्रकार की आर्थिक समस्यायें हो सकती हैं। इनके आधार पर कोई देश शरणार्थियों को अपने देश में आने से रोक सकता है। किन्तु इस समय सामान्य प्रवृत्ति व्यक्ति को संरक्षण

१२. इण्डियन जर्नल ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १८६७

की आवश्यकता होने पर मानवीयता के आधार पर उसे शरण देने की ओर अधिक पायी जाती है। राज्य आजकल यदि किसी व्यक्ति को शरण देने से इन्कार करते हैं तो उसकी अस्वीकृति अपनी प्रभुसत्ता के आधार पर नहीं, अपितु इस आधार पर होती है कि शरण माँगने वाले व्यक्ति किन्हीं कारणों से शरण पाने योग्य नहीं है। आजकल जब कोई देश किसी व्यक्ति को शरण देने से इन्कार करता है तो उसकी बडी आलोचना होती है और यह इस बात को सूचित करती है कि लोकमत सामान्यत कष्टपीडित व्यक्तियों को शरण देने के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करता है। यह इगलैण्ड में शरण माँगने वाले दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा पहला उदाहरण एक स्पेनिश नाविक पेरेज सेलेस का मामला (Perez Selles Case) है। इसमें स्पेनिश नागरिक सेलेस को राजनीतिक कारणों के आधार पर अपने देश में सैनिक सेवा करने पर आपत्ति थी, इससे बचने के लिये वह इगलैण्ड भाग आया। ब्रिटेन के गृहसचिव (Home Secretary) ने उसे स्पेन वापिस लौटाने का निश्चय किया क्योंकि उसकी सम्मति मे उसे इगलैण्ड मे राजनीतिक शरण देना न्यायोचित नहीं था। इस पर इगलैण्ड मे प्रबल आन्दोलन हुआ, ६ मार्च १९५८ को लोकसभा मे बहुत बहस हुई, इसके परिणामस्वरूप गृहसचिव को इस विषय मे उसके देश-निष्कासन के आदेश (Deportation order) को वापिस लेना पडा, उसे यह सुविधा दी गई कि वह स्पेन के अतिरिक्त किसी अन्य देश मे जा सकता है।[13] दूसरा उदाहरण नाइजीरिया के एनाहोरा (Enahoro) का था। यह १९६३ मे उस समय की नाइजीरियन सरकार के विद्रोह करने वाले एक दल (Action Group of Nigeria) का उपराष्ट्रपति था, स्वदेश से भागकर ब्रिटेन मे आ गया था। नाइजीरिया की सरकार इस पर सघीय सरकार को उलटने तथा राजद्रोह आदि कई अपराधों के लिये मुकद्दमा चलाना चाहती थी। उसने भगोडा अपराधी कानून (Fugitive Offenders Act) के आधार पर ब्रिटिश सरकार से अपराधी को लौटाने की प्रार्थना की। गृहमन्त्री ने इसे नाइजीरिया को सौंपने का निश्चय किया, किन्तु जनता द्वारा इस का प्रबल विरोध किया गया। इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस समय राज्यों मे विदेशी नागरिकों को मानवीयता के आधार पर अपने प्रदेश मे शरण देने की तथा सामान्य रूप से अपने शरणार्थी को पुराने देश को न लौटाने की प्रवृत्ति प्रबल हो रही है।

राजनयिक आश्रय (Diplomatic Asylum)—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राजदूतों के निवासस्थान उस राज्य के क्षेत्राधिकार से मुक्त माने जाते है, जिसमे वे स्थित होते है। उदाहरणार्थ, नई दिल्ली की चाणक्यपुरी के म० रा० अमरीका के दूतावास रूजवैल्ट भवन मे भारतीय पुलिस अमरीकी राजदूत की अनुमति के बिना प्रवेश, तलाशी या किसी को पकडने का अधिकार नहीं रखती। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि यदि यहाँ कोई व्यक्ति आश्रय ले ले तो वह पुलिस की पकड मे बाहर

१३- पूर्वोक्त पत्रिका, पृ० १६८

हो जाता है। किन्तु राजदूतों को अपने दूतावासों में विदेशियों को इस प्रकार शरण देने का अधिकार कहाँ तक है, यह प्रश्न बडा विवादास्पद है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता ग्रोशियस के समय से इस विषय मे विवाद चला आ रहा है। १७वी, १८वी शताब्दी मे इस अधिकार को स्वीकार नही किया गया।[१४] स्टार्क ने लिखा है कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी दूत को यह सामान्य अधिकार नही प्रदान करता कि वह अपने दूतावास मे किसी विदेशी को शरण दे सके।[१५]

अपवाद रूप में दूतावास में निम्नलिखित अवस्थाओं मे शरण दी जा सकती है—(क) अस्थायी आश्रय (Temporary Asylum) उन व्यक्तियो को दिया जा सकता है, जिनके प्राण उत्तेजित भीड से या अव्यवस्था के कारण सकट मे पडे हुए है या स्थानीय राजनीतिक भ्रष्टाचार की उग्रता के कारण कोई व्यक्ति दूतावास मे भागकर शरण लेने को विवश हो। इस अवस्था मे आश्रय देना इसलिए न्यायोचित समझा जाता है कि इससे शरण लेने वाले के प्राणो की या शरीर की भौतिक क्षति से रक्षा अस्थायी रूप से हो जाती है। मानवीयता के आधार पर ऐसी शरण दी जानी चाहिये।

(ख) जहाँ ऐसा आश्रय देने का बाध्यकारी स्थानीय रिवाज (Binding local custom) हो वहाँ यह शरण दी जानी चाहिये।

(ग) जहा विशेष संधि द्वारा दूतावास वाले राज्य तथा प्रादेशिक राज्य मे राजनीतिक अपराधियों को ऐसा आश्रय देने के अधिकार की व्यवस्था की गई हो, वहाँ यह शरण दी जा सकती है।

आजकल यह माना जाता है कि दूतावास किसी व्यक्ति को अस्थायी रूप से ही ऐसा आश्रय दे सकता है, यदि इस प्रकार शरण लेने वाले व्यक्ति की माँग स्थानीय पुलिस द्वारा की जाय तो उसे यह व्यक्ति सौंप दिया जाना चाहिये। इस विषय मे स० रा० अमरीका ने १ दिसम्बर १९३२ के अपने एक आदेश म यह घोषणा की थी "एक राजनयिक दूतमडल के प्रयोजनो मे यह सम्मिलित नही है कि वह आश्रय प्रदान करे। यह केवल कुछ ऐसे सीमित राज्यो मे अनुमति देने वाली (Permissive) स्थानीय परिपाटी के रूप मे प्रचलित है, जहाँ राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो मे बार-बार अस्थिरता आती रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इस प्रकार के आश्रय देने का कोई सामान्य नियम नही है।"[१६]

दूतावास मे स्थायी रूप से शरण देने की परिपाटी केवल दक्षिण अमरीकी राज्यो मे पायी जाती है। १९२८ मे इस विषय मे २१ अमरीकी राज्यो ने हवाना अभिसमय (Havana Convention) पर हस्ताक्षर किये थे। इस पर हस्ताक्षर करते हुए स० रा० अमरीका ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह इस प्रकार के आश्रय को अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वीकार न करने का अपना अधिकार सुरक्षित रखता है। इस समझौते

१४ स्वर्जियन—इण्ट्रोडक्शन टू दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २४९
१५ स्टार्क—वही, पृ० २६६-६७
१६. स्वर्जियन—वही, पृ० २५०

की नई शर्तों की नई व्याख्या २६ दिसम्बर १९३३ को माण्टीविडिओ के नये समझौते में की गई। इसके अनुच्छेद १ में इसका स्पष्ट लक्षण करते हुए कहा गया है "राज्यों के लिये दूतावासों मे ऐसे व्यक्तियों को शरण देना वैध नहीं होगा, जिन पर सामान्य अपराधों का आरोप किया गया हो, जिन पर सामान्य न्यायालयों में अभियोग चलाया गया हो जो दण्डित किये जा चुके हों, जो स्थल एवं जल की सेनाओं की सेवा छोड़कर भाग गये हों।" दूतावासों में राजनीतिक शरण (Political Asylum) दी जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि राजनीतिक मतभेदों के कारण यदि कोई व्यक्ति पीड़ित किया जाता है तो उसे दूतावास में शरण ग्रहण करने का अधिकार है। राजनीतिक अपराध का निर्णय करना शरण देने वाले राज्य का कार्य है। कुछ वर्ष पहले राणाओं की विरोधी पार्टी से परित्राण पाने के लिये नैपाल के राजा ने काठमाडु के भारतीय दूतावास में शरण ली थी। इस विषय में सबसे प्रसिद्ध मामला हया डी ला टारे (Haya de la Torre) का अथवा कोलम्बियन-पेरवियन आश्रय का है।

कोलम्बियन-पेरवियन आश्रय मामला (Colombian Peruvian Asylum Case)—यह झगड़ा दक्षिण अमरीका के दो राज्यों— कोलम्बिया तथा पेरु में—एक राजनीतिक नेता के विषय में था। इसका नाम Victor Raul Haya de la Torre था, यह पेरु के वामपक्षी क्रांति दल Alianza Popular Revolutionaria Americana का नेता था, उस पर यह आरोप था कि उसने सैनिक विद्रोह को भड़काया है। उसने पेरु की सरकार के चंगुल से बचने के लिये पेरु की राजधानी लीमा में अवस्थित कोलम्बिया राज्य के दूतावास में शरण ग्रहण की (३ जनवरी १९४९)। इसके बाद कोलम्बिया ने पेरु से यह माँग की कि वह इसे पेरु से सुरक्षित रूप से बाहर यात्रा करने (Safe conduct) की अनुमति दे। इसके विपरीत पेरु ने अपराधी होने के कारण हया डी ला टारे को उसे वापिस लौटाने की माँग की। दोनों देशों के विवाद का हल न होने पर कोलम्बिया इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले गया (१५ अक्तूबर १९४९) और उसने न्यायालय से इस विषय में दो प्रश्नों पर उत्तर चाहा— (१) क्या १८ जुलाई १९११ के बोलिवियन समझौते तथा २० फरवरी १९२८ के हवाना अभिसमय के अनुसार कोलम्बिया शरण देने वाले अपराधों की व्याख्या करने का अधिकार रखता है? (२) क्या पेरु इस प्रकार शरण दिए गए व्यक्ति को सुरक्षित रूप से यात्रा करने का (Safe conduct) अधिकार देने के लिये बाध्य है?

२० नवम्बर १९५० को इस मामले में अपना पहला निर्णय देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने उपर्युक्त दोनों प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि कोलम्बिया ने उसे केवल अपनी ओर से या एक पक्ष से (Unilaterally) राजनीतिक अपराधी माना है, पेरु ऐसा मानने के लिए बाध्य नहीं है, किन्तु पेरु यह भी सिद्ध नहीं कर सका कि यह भगोड़ा शरणार्थी राजनीतिक अपराधी से कुछ अधिक है। इसने कुछ अन्य अपराध किये हैं। राजनैतिक आश्रय केवल अविलम्बनीयता (Urgency) की परिस्थितियों में दिया जाना चाहिये, इस मामले में ऐसा नहीं था, यह आश्रय सैनिक विद्रोह के तीन महीने बाद दिया गया। न्यायालय ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया कि क्या भगोड़ा

शरणार्थी पेरु को वापिस कर दिया जाना चाहिये, क्योकि दोनो पक्षो मे से किसी ने इस प्रश्न को नही उठाया था।

कोलम्बिया ने दूसरी बार यह मामला न्यायालय के सम्मुख लाते हुए यह प्रार्थना की कि टारें को वापिस देने के विषय मे न्यायालय अपना निर्णय दे। २७ नवबर को न्यायालय ने यह प्रार्थना इस आधार पर अस्वीकार की कि दोनो पक्षो ने आरम्भ मे यह मामला लाते समय इस मुद्दे (Point) को नही उठाया था, अत न्यायालय इस पर विचार नही कर सकता। इसका दूसरा कारण यह भी था कि ऐसा मामला तब तक नही उठाया जा सकता जब तक दोनो दलो मे निर्णय के सम्बन्ध मे विवाद न हो।

इस समय पेरु कोलम्बिया से हया डी ला टारें को वापिस करने की माँग कर रहा था। किन्तु कोलम्बिया ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा कि न्यायालय का निर्णय ऐसा नही है, जिससे वह शरणार्थी को पेरु को सौपने को बाध्य हो। इस पर १३ दिसबर को यह मामला तीसरी बार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे लाया गया और पूछा गया कि हया डी ला टारें अभी तक पेरु की राजधानी लीमा के कोलम्बियन दूतावास मे छिपा हुआ है, अब उसके सम्बन्ध मे क्या कार्यवाही की जाय।

१३ जून १९५१ को अ० न्यायालय ने इस विषय मे अपना तीसरा निर्णय दिया तथा एक के विरुद्ध १३ के मतो से कोलम्बिया का यह दावा स्वीकार किया कि आश्रय देने वाला राज्य अपने शरणार्थी को स्थानीय अधिकारियो को सौपने को बाध्य नहीं है। किन्तु १९२८ के हवाना अभिसमय के अनुसार राजनीतिक अपराधियो को राजनयिक आश्रय अस्थायी रूप से ही दिया जा सकता है, इस बीच मे उसे अपनी सुरक्षा के कुछ अन्य प्रबन्ध कर लेने चाहिये। यह अभिसमय ऐसे आश्रय के समाप्त करने के एक ही उपाय का प्रतिपादन करता है और वह यह है कि सुरक्षित यात्रा का अभय वचन (Safe conduct) प्राप्त करके शरणार्थी उस देश से बाहर चला जाय। किन्तु न्यायालय ने अपने पहले निर्णय मे कहा था कि प्रादेशिक राज्य (Territorial State) से सुरक्षित यात्रा का ऐसा अभय वचन तभी माँगा जा सकता है, जब यह आश्रय "नियमित रूप से दिया एव लिया गया हो और यदि प्रादेशिक राज्य यह चाहे कि शरणार्थी को देश से बाहर भेज दिया जाय। इस मामले मे शरण अनियमित रूप से दे दी गई है, तथा प्रादेशिक राज्य ने शरणार्थी को बाहर भेजने की माँग नही की, अत न्यायालय की सम्मति मे उपर्युक्त अभिसमय इस विषय मे मौन है कि अब क्या किया जाना चाहिए। इस विषय मे अभिसमय की चुप्पी का यह सूचित करना है कि ऐसे मामलो मे उपर्युक्त निर्णय राजनीतिक सुविधा को देखते हुए किये जाने चाहिए।" यद्यपि न्यायालय की सम्मति थी कि यह शरण अवैध रूप से दी गई है, इसको फौरन समाप्त कर देना चाहिये। फिर भी इसके साथ उसका यह मत था कि आश्रय देने वाला कोलम्बिया का राज्य राजनीतिक अपराधी को समर्पण करने के लिये बाधित नही किया जा सकता। इन परस्पर-विरोधी स्थितियों से बचने के लिए न्यायालय के निर्णय मे यह कहा गया कि 'आश्रय को समाप्त करने का उपाय केवल समर्पण ही नही है' और अन्त मे यह आशा प्रकट की गई थी कि कानूनी स्थिति स्पष्ट हो जाने के बाद दोनो देश सौजन्य एव उत्तम

पडोसी की नीति से इस समस्या का समाधान कर लेंगे ।

दूतावास आश्रय (Legation Asylum) के इस सुप्रसिद्ध मामले का अन्तिम समाधान करने के लिये १९५३ मे दक्षिण अमरीको राज्यो ने शरणग्रहण कानून की नई व्याख्या स्वीकार की, अन्तर-अमरीकी न्यायिक समिति (Inter-American Judicial Committee) ने ब्यूनोस एयर्स मे इस विषय में एक नया अभिसमय (Convention) स्वीकार किया, किन्तु पेरु ने इसके विरुद्ध नोट दिया। अन्त मे कोलम्बिया तथा पेरु मे इस विषय मे एक समझौता हुआ और अप्रैल १९५४ मे पांच वर्ष तक लीमा के कोलम्बियन दूतावास मे स्वेच्छापूर्वक बन्दी बने रहने वाले- हया-डी ला टारे को मेक्सिको नगर तक सुरक्षित यात्रा करने (safe conduct) का अभय वचन दिया गया, इस प्रकार इस मामले का पटाक्षेप हुआ ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यक्ति

(International Law and the Individual)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे व्यक्ति की स्थिति —तीन पक्ष (Three Views)—यह बडा जटिल प्रश्न है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे व्यक्ति का क्या स्थान है। इस विषय मे तीन प्रधान पक्ष हैं सबसे पुराना और परम्परागत (Traditional) पक्ष यह है कि व्यक्ति का इसमे कोई स्थान या महत्व नही है, दूसरा प्रतिवादी पक्ष इसके सर्वथा प्रतिकूल यह मानता है कि व्यक्ति को ही इस कानून मे यह गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त है। तीसरा पक्ष दोनो की यह स्थिति मानता है। कानूनी परिभाषा मे यह विषय (Subject) और पात्र (Object) का झगडा है। सामान्य विधिशास्त्र (General Jurisprudence) मे विषय वे व्यक्ति कहलाते हैं, जिन्हे कानून अधिकार और कर्त्तव्य प्रदान करता है तथा पात्र (Object) वे वस्तुए होती है जिनके सम्बन्ध मे ये अधिकार दिये जाते हैं और कर्त्तव्यो को पूरा करने की जिम्मेवारी दी जाती है। कानूनी शब्दो मे उपर्युक्त विवाद इस प्रश्न पर है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय और पात्र क्या है ? प्राचीन परम्परागत पक्ष यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय (Subject) केवल राज्य है, व्यक्ति इसका विषय कभी नहीं हो सकते। व्यक्ति राष्ट्रीय कानून का विषय होते है, क्योकि इसमे उन्हे कुछ अधिकार और कर्त्तव्य मिलते है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे ये अधिकार और कर्त्तव्य राज्यो को प्राप्त होते हैं, अत वही इसका विषय समझे जाने चाहियें। दूसरा पक्ष यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तियो को ही कुछ अधिकार प्रदान करता है, अत वही इसका विषय माना जा सकता है। तीसरा पक्ष राज्य और व्यक्ति दोनो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय समझता है। पहले पक्ष के मुख्य समर्थक सर फ्रेडरिक स्मिथ और आपेनहाइम है और दूसरे पक्ष के पोषक हेन्स केलसन, स्टोवैल, हैफटर तथा ब्राउन आदि विधिवेत्ता है। तीसरा पक्ष फेनविक, स्वार्त्सनबर्जर प्रभृति विधिशास्त्रियों ने रखा है। यहाँ क्रमश इन तीनो का सक्षिप्त प्रतिपादन होगा।

पहला पक्ष—परम्परागत दृष्टिकोण (1 Traditional View)—इसके अनुसार केवल राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बन सकते हैं। सर फ्रेडरिक स्मिथ ने लिखा है[1] "राष्ट्रो के कानून मे राज्य और केवल राज्य न्यायालयो मे उपस्थित होने तथा अपनी बात सुना सकने का अधिकार (Locus standi) रखते हैं, अत केवल वही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International personality) को धारण करते हैं।"

ओपेनहाइम[1] के मतानुसार क्योंकि राष्ट्रों का कानून मुख्य रूप से राज्यों के बीच का कानून है, अत: सामान्यत: केवल राज्य राष्ट्रों के कानून का विषय होते हैं तथा व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चरम पात्र (Ultimate objects) होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इस पक्ष की पुष्टि में अनेक बातें कही जा सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और नियमों का निर्माण राज्य करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में वादी-प्रतिवादी के रूप में केवल राज्य ही उपस्थित हो सकते हैं। सं० रा० संघ की सदस्यता केवल राज्यों को प्राप्त है। दूसरे देशों में नागरिकों के हितों की रक्षा भी राज्य इन देशों में भेजे गये अपने दूतों तथा राजनयिक प्रतिनिधियों द्वारा करते हैं। राज्य ही अन्य देशों से सन्धियाँ करके नये अधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाते हैं। विदेश में न्याय न प्राप्त होने की दशा में कोई व्यक्ति इसे पाने के लिए अपने राज्य की शरण में जाता है। युद्ध के कानून के अनुसार जब एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करता है तो इससे दूसरे राज्य के सब निवासी पहले राज्य के शत्रु समझे जाते हैं, भले ही वैयक्तिक रूप से वे इस युद्ध के समर्थक न हों। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून विदेशों में राजाओं, शासनाध्यक्षों तथा राजनयिक प्रतिनिधियों को कुछ विशेषाधिकार प्रदान करता है (देखिए ऊपर, पृ० २७०–५) किन्तु व्यक्तियों को ये अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर बनाये गए राष्ट्रीय कानून के नियमों से प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों की पृष्ठभूमि में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अवश्य होता है, किन्तु इनका निर्माण राष्ट्रीय कानूनों से ही होता है। सर्बियन ऋण (Serbian Loans) के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि वह केवल राज्यों के विवाद सुन सकता है। ऐसा कोई मामला इस न्यायालय के समक्ष नहीं लाया जा सकता, जिसमें एक ओर राज्य तथा दूसरी ओर किसी अन्य राज्य के प्रजाजन हों। इन सब तथ्यों से यही सिद्ध होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय (Subject) केवल राज्य है।

दूसरा पक्ष—अतिवादी दृष्टिकोण (2 Extreme View)—इसका यह मत है कि राज्य मस्तिष्क की कोरी कल्पना मात्र है, व्यक्तियों से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है, राज्य मनुष्य के लिये है, न कि मनुष्य राज्य के लिए। सं० रा० अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा में कहा गया था कि सरकारों का निर्माण शासित जनता की सहमति से होता है, अत: राज्य जनता के आदेश के अनुसार उसका कार्य करने वाले हैं, राज्यों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, उनके कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्राप्त होने वाले अधिकार राज्य के नहीं, किन्तु व्यक्तियों के होते हैं। इसी दृष्टि से वैस्टलेक (Westlake) ने लिखा है—"राज्य के अधिकार और कर्त्तव्य उनका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं।" स्टोवैल (Stowell) के मतानुसार "एक व्यक्ति दो प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है—मानवीय प्राणी होने के नाते तथा अपने राज्य का अंग होने की दृष्टि से।" हैफ्टर के कथनानुसार मानवीय प्राणियों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान मौलिक

---

१. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खं० १, अष्टम सं०, पृ० ६३६

अधिकार उन्हे "अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निकटतम (Immediate) विषय बनाते हैं।" ब्राउन का यह कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समर्थकों की सबसे भयकर भूल यह है कि वे तोतारटन्त की भाँति बराबर यह कहते हैं कि यह कानून केवल पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न राज्यों के बीच मे ही लागू होता है। प्रसिद्ध विधिशास्त्री लौटरपैक्ट (Louterpacht) ने आपेनहाइम की पुस्तक का संशोधन करते हुए यह लिखा है— राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय होने का सही अर्थ यह है कि (क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण केवल राज्यो द्वारा हो सकता है। (ख) प्रधान रूप से इसका सम्बन्ध राज्यो के अधिकार तथा कर्तव्यो मे है, व्यक्तियो के अधिकारो और कर्तव्यो मे नही। (ग) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो के समक्ष राज्य ही उपस्थित हो सकते हैं। इस सिद्धान्त मे इससे अधिक कोई बात नही है। जब हम यह कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यों के आचरण को नियन्त्रित करता है तो हमे यह नही भूल जाना चाहिये कि इस प्रकार नियन्त्रित किये जाने वाला आचरण राज्यो के अगरूप मे कार्य करने वाले व्यक्तियो का आचरण है। हेन्स केल्सन ने इस पक्ष को पुष्ट करते हुए कहा है—"अन्य सब कानूनो की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी मानवीय आचरण के नियन्त्रण के लिए है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त (Norms) व्यक्तियो पर ही लागू होते हैं।"

तीसरा मध्यवर्ती पक्ष (3 Intermediate View)—वर्तमान समय मे विधिशास्त्रियों का झुकाव उपयुक्त दोनों पक्षो के मध्य मे वर्तमान तीसरे पक्ष को सही मानने का है। इसके अनुसार राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय होने मे कोई सन्देह नही है, किन्तु व्यक्तियों को भी इसका विषय माना जाना चाहिए। फेनविक के शब्दो मे व्यक्तियो के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य न होते हुए भी, इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना जा सकता है। इस कानून की अनेक शाखाओ का राज्य के साथ नही, किन्तु व्यक्तियो के साथ सम्बन्ध है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं—अधिवास (Domicile), देश मे विदेशियो के अधिकार और कर्त्तव्य, राष्ट्रीय बन्दरगाहो मे विदेशी जहाजो के विशेषाधिकार (देखिये ऊपर, पृ० २७६), महासमुद्रो मे नौचालन (पृ० २७८-९)। इन विषयों के कानून यद्यपि राज्यो के मध्य बनाये जाते हैं, किन्तु अपने व्यावहारिक प्रयोग मे ये वैयक्तिक अधिकार ही समझे जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पच न्याय-अधिकरणो (Arbitration Tribunals) मे कई बार व्यक्ति भी वादी-प्रतिवादी के रूप मे उपस्थित होते हैं। अधिग्रहण या नौलुठन न्यायालयो (Prize Courts) मे एक पुरानी प्रथा के अनुसार जहाजो के वैयक्तिक स्वामी अपने अधिकारो की रक्षा के लिए उपस्थित होते हैं। न्यूरेम्बर्ग मे जर्मन युद्धापराधियो पर चलाये गये अभियोगो से यह प्रमाणित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भग के कार्यो के लिए व्यक्तियो को सीधे रूप मे उत्तरदायी बनाया जा सकता है। वर्तमान समय मे यह अनुभव किया जाने लगा है कि व्यक्ति का कल्याण—भले ही वह किसी देश का हो—बहुत अधिक महत्व रखता है, उसकी दशा सुधारने या उन्नत करने से केवल उसके देश का नही, किन्तु समस्त मानव जाति का हित उन्नत होता है। लौटरपैक्ट के शब्दो मे समष्टि का कल्याण इसका निर्माण करने वाली व्यष्टियो के कल्याण से निर्धारित होता है। इससे यह स्पष्ट है कि

राज्य की सामूहिक सत्ता इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियो से ऊँचे दर्जे की नही है। आजकल राष्ट्रीय सीमाओ का अतिक्रमण करते हुए व्यक्तियो के हितो की परस्पर-निर्भरता (Interdependence) इतनी अधिक बढ गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय अनन्य रूप से (Exclusively) राज्य को नही माना जा सकता, व्यक्तियो को भी इसका विषय मानना पडता है।[2]

वर्तमान समय की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति भी इस धारणा को पुष्ट करती है। इस समय मानव के मौलिक अधिकारो पर बहुत बल दिया जा रहा है, ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को—भले ही वह किसी राज्य का सदस्य हो या न हो—अवश्य प्राप्त होने चाहियें। १९४१ मे राष्ट्रपति रुजवैल्ट ने कांग्रेस को दिये अपने सन्देश मे **'चार स्वतन्त्रताओ'** की घोषणा की थी। स० रा० सघ के चार्टर मे मौलिक मानवीय अधिकारो की सुरक्षा का बारम्बार उल्लेख हुआ है, उसकी आर्थिक सामाजिक परिषद् इन अधिकारो की रक्षा के लिए विशेष रूप से बनाई गई है। १० दिसम्बर १९४८ को स० रा० सघ की जनरल असेम्बली ने **मानवीय अधिकारो की सार्वभौम घोषणा** स्वीकार की है, १९५० मे कुछ योरोपियन राज्यों ने इसके सम्बन्ध मे एक समझौता करके इसे कानूनी मान्यता प्रदान की है। ११ दिसम्बर १९४६ को स० रा० सघ की जनरल असम्बली ने सर्वसम्मति से जातिवध (Genocide) को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक अपराध घोषित किया है। इस सम्बन्ध मे हुए समझौतो का आगे उल्लेख किया जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों तथा समझौतो द्वारा व्यक्तियो के मौलिक अधिकारो की सुरक्षा के ये सब प्रयत्न इस बात को भलीभाँति प्रदर्शित करते है कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हो सकता है।

अत इस विषय मे फेनविक का यह कथन यथार्थ प्रतीत होता है—'उपर्युक्त तथ्यो की उपस्थिति मे यह कहना सर्वथा अवास्तविक होगा कि व्यक्ति कुछ अशो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के, विशेष रूप से वास्तविक कानून (Substantive law) के नियमो का विषय नहीं है। प्रक्रियात्मक कानून (Procedural law) मे अपने अधिकारो के लागू करने के लिए व्यक्ति को राज्य का सहारा लेना पडता है, इसमे भी प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बनाई गई अल्पसख्यको के सरक्षण की सन्धियो का उदाहरण है। इनसे व्यक्तियों के मौलिक अधिकारो की सुरक्षा के लिये राष्ट्रसघ का आधार अन्तर्राष्ट्रीय शासनयन्त्र बनाया गया था।'[3] थामस ने यह बताया कि शनै-शनै अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र विशाल होने से राज्यो का क्षेत्र सकुचित हुआ है और इसने व्यक्तियो के मौलिक अधिकारो के सरक्षण का विस्तार करते हुए उसे अपने कानून का विषय बनाया है। इसके कुछ उदाहरण दासप्रथा निषेध, राज्यहीन व्यक्तियों और शरणार्थियों के सरक्षण के समझौते, अल्पसख्यकों के प्रति धार्मिक और राजनीतिक सहिष्णुता के व्यवहार पर बल देने वाली सन्धियाँ, युद्ध करने के नियमो का निर्माण

२. लौटरपैक्ट—इण्टरनेशनल लॉ एण्ड ह्यूमन राइ स, पृ० ६०
३. फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, तृतीय सस्करण, पृ० १३४-५

है।[४] ये सब व्यक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय होने के प्रबल प्रमाण हैं।

अब यहाँ व्यक्ति की स्थिति पर प्रभाव डालने वाली कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो, समझौतो का उल्लेख किया जायगा।

व्यक्ति की स्थिति को प्रभावित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थायें (International provisions affecting the position of Individual)—**सन्धियाँ** (Treaty stipulations) —कई बार विभिन्न देशो मे कुछ सन्धियाँ व्यक्तियो के अधिकारो की सुरक्षा के लिए की जाती है। १८७८ की बर्लिन की सन्धि द्वारा टर्की, रूमानिया, सर्बिया, मोण्टीनीग्रो तथा बल्गारिया पर यह बाध्यता डाली गई थी कि वे अपने प्रजाजनो को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करें। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, रुमानिया, ग्रीस, आस्ट्रिया, बल्गारिया, यूगोस्लाविया और टर्की के साथ की गई सन्धियो मे इन राज्यो के जातीय, आर्थिक और भाषा की दृष्टि से अल्पसख्या रखने वाले समुदायो के साथ समान व्यवहार तथा इनके हितो के सरक्षण की गारण्टी दी गई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर इटली, रुमानिया तथा धुरी देशो के अन्य सहायक राज्यो के साथ की गई पेरिस की सन्धियो मे मानवीय अधिकारो के सरक्षण की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो ने व्यक्तियो को कुछ अधिकार प्रदान किये है। १९२८ मे Jurisdiction of the Court of Danzig के मामले मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया था ऐसी सन्धियाँ करने वाले पक्षो के इरादे के आधार पर व्यक्तियो को अधिकार और कर्त्तव्य प्रदान करने वाले कुछ नियम बनते है और इन देशो के राष्ट्रीय न्यायालयो द्वारा इनका पालन करवाया जा सकता है।

न्यूरेम्बर्ग के अभियोग (Nuremberg Trials, November 29, 1945–Sep 30, 1946)—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद धुरी राष्ट्रों के प्रमुख नाज़ी नेताओ, सेनापतियो तथा अधिकारियो पर शाति और मानवता के विरुद्ध तथा युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को तोडने वाले युद्धापराधो (War crimes) के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय मे मामले चलाये गये। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा इनके सम्बन्ध मे तय किये गये वैयक्तिक जिम्मेवारी के सिद्धान्तो का पहले उल्लेख हो चुका है (देखिये, पृ० १२३)। इन मामलो मे अभियुक्तों ने अपनी सफाई देते हुए यह कहा था कि (क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्यो से होता है, इसमें व्यक्तियो के लिए कोई दण्ड-व्यवस्था नही है। (ख) राज्य के कार्यो के लिए वैयक्तिक रूप से किसी को दोषी नही ठहराया जा सकता। न्यायालय ने उपर्युक्त दोनों तर्कों को अस्वीकार करते हुए कहा कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तियो एव राज्यो को कर्त्तव्य और दायित्व प्रदान करता है।" १९४२ मे Exparte Quirin के मामले मे स० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश श्री स्टोन ने कहा था—"व्यक्तियो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भग के लिए दण्ड दिया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के

४. थामस—दी डेमेस्टिक्स आफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० २७

मानवीय अधिकारों का एक योरोपियन न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था उक्त समझौते में है। किन्तु अभी तक पाँच राज्य ही इसके लिये तैयार हुए हैं, अतः इसकी स्थापना नहीं हो सकी। न्यायालय को आयोग की अपेक्षा अधिक अधिकार है, क्योंकि इसका क्षेत्राधिकार अनिवार्य है। आयोग के अधिकार सीमित है, फिर भी यह अब तक वैयक्तिक शिकायतों के २०० आवेदनपत्रों पर विचार कर चुका है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति का तथा वैयक्तिक अधिकारों का महत्व स्वीकार किया जाने लगा है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय मान लिया गया है।

सोलहवाँ अध्याय

राजनयिक प्रतिनिधि-राजदूत और वाणिज्य दूत

(Diplomatic Agents and Consuls)

प्राचीन एव मध्यकाल मे दूत प्रथा (Diplomatic Agents in Ancient and Medieval Period)—प्रत्येक राज्य अन्य राज्यो के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखने तथा पारस्परिक व्यवहार चलाने के लिये वहाँ अपने दूत और व्यापारिक प्रतिनिधि भेजता है। विभिन्न राज्यो द्वारा एक-दूसरे के पास अपने दूत भेजने की प्रथा इतिहास मे अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। वाल्मीकि रामायण मे अगद के रावण के दरबार मे तथा महाभारत मे श्रीकृष्ण के कौरवो के दरबार मे दूत बनकर जाने का उल्लेख है। प्राचीन भारत के विभिन्न प्रकार के दूतो का पहले वर्णन हो चुका है (देखिये पृ० १६-२०)।

सिकन्दर के आक्रमण के यूनानी विवरणो से ज्ञात होता है कि मालव (Malloi) और क्षुद्रक (Oxydrakoi) गणराज्यों ने यूनानी राजा से सधि करने के लिये अत्यधिक योग्य तथा बहुत ऊँचा कद रखने वाले व्यक्तियो को पूर्ण अधिकार देकर सधि करने को भेजा था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तक भारत मे विदेशी व्यक्तियो का आगमन इतना अधिक बढ गया था कि पाटलिपुत्र की नगर व्यवस्था म एक बोर्ड का कार्य विदेशियो की देखभाल करना था। सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार मे मेगस्थनीज को अपना राजदूत बनाकर भेजा था, उसके उत्तराधिकारी बिन्दुसार के समय डेईमेकस (Diemachus) सीरिया के यूनानी राजा का राजदूत बनकर आया। टालमी फिलाडेल्फोस ने मौर्यों के दरबार मे डियोनिसियोस को राजदूत बनाकर भेजा। अशोक के शिलालेखों मे पश्चिम के चार यूनानी राज्यो मे धर्मदूत भेजने का वर्णन है। २० ई० पूर्व मे एक पाण्ड्य राजा ने रोमन सम्राट् आगस्टस सीजर के दरबार मे अपना दूत मण्डल भेजा था।

मध्य युग मे योरोप म दूत भेजने की प्रथा प्रचलित थी, किन्तु ये दूत आरम्भ मे दूसरे देशो मे विशेष कार्य करने के लिये भेजे जाते थे, अपना कार्य पूरा होने के बाद ये स्वदेश लौट आते थे। स्थायी रूप से अन्य राज्यो मे दूत भेजने की प्रथा का श्रीगणेश १४वी शताब्दी मे इटली के गणराज्यो विशेषत. वेनिस (Venice) मे हुआ। फ्रास मे लुई ११वाँ (१४६१–१४८३) पहला नरेश था, जिसने दूसरे देशो मे स्थायी रूप से निवास के लिये अपने राजदूत भेजे। १५२० ई० मे इगलैंड और जर्मनी के राजाओ मे दूत भेजने की सधि हुई। १६४८ की वैस्टफेलिया की सधि ने इस प्रथा को प्रोत्साहित

किया। इसके बाद यातायात तथा सचार के साधनो की उन्नति से अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढने लगा और स्थायी दूत भेजने की प्रथा १७वी शती में लगभग सभी राज्यो ने अपना ली। उस समय दूतो का प्रधान कार्य अपने देश के स्वार्थों की रक्षा के लिए दूसरे देशो मे जासूसी करना और झूठ बोलना था।[1] १७वी शती के एक ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ सर हेनरी वोटन (Henry Wotton) ने लिखा था राजदूत ऐसा ईमानदार आदमी है जो अपने देश के हित के लिये विदेश मे झूठ बोलने भेजा जाता है।[2]

राजनयिक सम्बन्धो का वियना अभिसमय (Vienna Convention on Diplomatic Relations April 1961)—दूतो के कार्यों के प्रकारो तथा इनके विषय मे सभी आवश्यक समस्याओ पर गम्भीर विचार करने के उपरान्त स० रा० सघ की अध्यक्षता म ८१ राज्यो के वियना सम्मेलन ने १९६१ मे एक समझौता स्वीकार किया है इसकी आरम्भिक रूपरेखा अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने तैयार की थी। यह समझौता २२ राज्यो की सरकारो का अनुसमर्थन (Ratification) पाने पर ही लागू समझा जायगा। इसका विशेष महत्व इसलिये है कि इसने पहली बार राजदूतो के सम्बन्ध म सभी आवश्यक नियमो का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसकी प्रस्तावना म कहा गया है कि राजदूतो के विषय म इस प्रकार के नियमो के बारे मे समझौता करना म उन देशो मे भी परस्पर मैत्रीपूर्ण सबन्ध बढगे जिनम इस समय सवैधानिक एव सामाजिक पद्धतियो के विषय मे उग्र मतभेद है। इसमे इस बात पर बल दिया गया है कि राजदूतो को प्रदान किये जाने वाले विशेषाधिकारो तथा उन्मुक्तियो का उद्देश्य यह है कि विदेशो मे भेजे जाने वाले दूतमण्डल अपने कार्य अधिक क्षमता और योग्यता के साथ सम्पन्न कर सक। इन अधिकारो का प्रयोजन व्यक्ति को नही किन्तु राज्य को लाभ पहुँचाना है। जिन विषयो म इस अभिसमय ने नियम नही बनाये उनके सबन्ध म अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजी कानून (Customary International Law) के प्रचलित नियम यथापूर्व बने रहेंगे। यहाँ यथास्थान इस अभिसमय के विभिन्न नियमो का उल्लेख किया जायगा।

दूतो की श्रेणियाँ और प्रकार मध्ययुग म दूतो के अनेक प्रकार थे और उनके पौर्वापर्य क्रम के कुछ निश्चित नियम नही थे। प्रत्येक देश का दूत अपनी सवारी और गाडी अन्य देशो के दूतो से आगे रखना चाहता था। १७वी शती मे लन्दन के एक शाही जलूस मे स्पेनिश राजदूत ने फ्रेंच दूत की गाडी को आगे बढने से रोकने के लिय

१ कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१६) में दूत के आदमी के काम को अत्यधिक महत्व देते हुए यह कहा गया है कि वह तपस्वी और व्यापारी का वेष धारण करने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु राज्य के योग्य प्रजाजनों को फोड़कर अपनी ओर मिलाये, उसके मन्त्रियों के दाव पेच ले उसके सामरिक महत्व के स्थानों किलों के रहस्यों रक्षा की व्यवस्था और राज्य की त्रुटियों का पता लगाये—रागापरागौ भर्तरि रन्ध्रं प्रकृतीनां तापसवैदेहकव्यञ्जनाभ्यामुपलभेत ।
अन्तीकरस्थानयुद्धप्रतिग्रहापसारभूमीरात्मन परस्य चावेक्षेत।दुर्गराष्ट्रप्रमाणं सारवृत्तिगुप्तिच्छिद्राणि चोपलभेत।

२ स्टलिन—इण्ट्रोडक्शन टू दी ला आफ नेशन्स

अन्त करने के लिये १८१५ की वियना कांग्रेस ने तथा १८१८ की एक्स-ला शापेल (Aix-La Chapelle) की कांग्रेस ने विभिन्न प्रकार के दूतो की श्रेणियाँ तथा पौर्वापर्य का क्रम निश्चित किया। वियना के नियमो मे राजदूतो की तीन ही श्रेणियाँ थी, छोटे राज्यो के दूतो के लिये उसमे कोई स्थान नही था। इस अभाव की पूर्ति के लिये एक्स ला शापेल की कांग्रेस ने निवासी मंत्री (Minister Resident) की नई श्रेणी का निर्माण किया। दूतों की इन चारो श्रेणियो का स्वरूप इस प्रकार है—

(क) राजदूत (Ambassador)—ये इन्हे भेजने वाले राज्य के अध्यक्ष के वैयक्तिक प्रतिनिधि माने जाते है और इस कारण इन्हे अनेक विशेष सम्मान और अधिकार दिये जाते है। इनका सबसे बडा अधिकार शासन के अध्यक्ष से सीधा मिलने और वार्त्ता करने का है। इस अधिकार का राजतन्त्रों के युग मे बडा महत्त्व था, किन्तु आजकल लोकतन्त्रप्रणाली मे मंत्रियो का महत्व अधिक बढ जाने से इसका गौरव कम हो गया है। राजदूतो का दूसरा अधिकार परम श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप मे सम्बोधित कराने का है। राजा का वैयक्तिक प्रतिनिधि होने के नाते इनके लिये इस सम्बोधन का प्रयोग सर्वथा समीचीन है। महाशक्तियो या बडे राज्यो को ही राजदूत भेजने का अधिकार है। छोटे राज्यो के दूतो को इसमे सम्मिलित नही किया जाता। पद, प्रतिष्ठा और पौर्वापर्य के क्रम की दृष्टि से दूतो मे राजदूतों का स्थान सर्वोपरि तथा सर्वोच्च है। पोप द्वारा भेजे गये लीगेट (Legate) तथा नशियो (Nuncio) नामक दूत भी दर्जे की दृष्टि से राजदूतों के समकक्ष समझे जाते है।

(ख) पूर्णाधिकार-मन्त्री तथा असाधारण दूत (Ministers Plenipotentiary and Envoys Extraordinary)—ये इन्हे भेजने वाले राज्य के शासनाध्यक्ष के वैयक्तिक प्रतिनिधि नही समझे जाते। अत इन्हे राजदूतो को प्रदान किये जाने वाले विशेष सम्मानसूचक अधिकार प्राप्त नही होते। ये राज्य के अध्यक्ष के साथ वार्त्तालाप करने का अधिकार (Right of Audience) नहीं रखते और इन्हे सौजन्यवश ही परम श्रेष्ठ (His Excellency) सम्बोधित किया जाता है। वस्तुत ऐसा कहलाने का इन्हे कोई अधिकार नही है। पोप के अन्तरनशियो (Internuncio) नामक दूत भी इसी श्रेणी मे आते है।

इनके साथ जुडे हुए विशेषणों का मनोरंजक इतिहास है। योरोप मे पहले अस्थायी कार्यों पर भेजे जाने वाले दूतो के साथ असाधारण (Extraordinary) का विशेषण लगाया जाता था, इसका प्रयोजन अन्य देशो मे स्थायी रूप से निवास करने वाले इन राज्यों के मंत्रियो (Ministers Residents) से इनका भेद करना था। बाद मे यह विशेषण स्थायी-अस्थायी दोनो प्रकार के दूतों को समान रूप से दिया जाने लगा और अन्त मे उनके साथ पूर्णाधिकार (Plenipotentiary) का विशेषण भी जोडा गया। इसका शब्दार्थ यह है कि ऐसे दूत को इसे भेजने वाले राजा की ओर से कार्य करने के पूरे अधिकार प्रदान किये गये हैं। इस दृष्टि से कौटिलीय अर्थशास्त्र को (१।१६) की प्राचीन भारतीय परिभाषा के अनुसार इसे निसृष्टार्थ कह

सकते है।[3] आजकल सब राजदूतो के लिए 'असाधारण दूत' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु पहली श्रेणी से इनका बड़ा भेद इनका राजा का वैयक्तिक प्रतिनिधि न माना जाना है और इसलिए इन्हे पद और प्रतिष्ठा की दृष्टि से राजदूतो के बाद दूसरा स्थान दिया जाता है।

(ग) निवासी मन्त्री (Ministers Resident)—पहले यह बताया जा चुका है कि एक्स ला शापेल के १८१८ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने इस नवीन वर्ग का निर्माण किया था। निवासी मन्त्री स्वरूप और कार्य की दृष्टि से उपर्युक्त दूसरे वर्ग के दूतों से कोई भेद नही रखते किन्तु ग्रेट ब्रिटेन आस्ट्रिया, फ्रास, आदि महाशक्तिया यह चाहती थी कि उनके तथा लघुशक्तियों के दूतों म अन्तर बना रहे। इस नय वर्ग के बनाने का यही उद्देश्य था कि लघुशक्तियों के दूतो को महाशक्तिया के दूता से अधिक प्रतिष्ठा न प्राप्त हो। इन्हे सौजन्यवश भी परम श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप म सम्बोधित नही किया जाता। ये दूसरे वग से हीन समझे जाते है। आजकल निवासी मन्त्री नियत करने की प्रणाली कम हो रही है।

(घ) कार्यदूत (Charge d' Affaires)—इनका पहले तीन वर्गों के दूतो के साथ यह मौलिक अन्तर है कि उपर्युक्त तीन प्रकार के दूत एक राज्य के अध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्य के अध्यक्ष (Head of State) को भेजे जाते है। किन्तु कार्यदूत एक देश के विदेश मन्त्रालय म दूसरे देश के विदेश मन्त्रालय (Foreign Office) को भेजे जाते है। इसके परिणामस्वरूप कार्यदूतो को अन्य दूतो के समान विशेष सम्मान नही मिलता। पहले तीन वर्ग अपनी नियुक्ति के प्रत्यय पत्र या शासन (Letter of Credence) राज्य के अध्यक्ष को प्रस्तुत करते है किन्तु कार्यदूत अपना प्रमाणपत्र विदेश मन्त्री के समक्ष उपस्थित करता है। इस समय भारत म ईथियोपिया मेक्सिको, मंगोलिया वेनेजुएला के कार्यदूत है।

वियना काग्रेस ने यह नियम बनाया था कि उपर्युक्त वर्गों के दूतो का अपने वर्ग म पौर्वापर्य क्रम (Order of precedence) उनके आगमन की सरकारी सूचना की तिथि से निश्चित होगा। स्टार्क (पृ० २७४) ने लिखा है कि राज्य आजकल इस नियम का अनुसरण नही करते, किन्तु वे राजदूतो की प्रवरता (Seniority) का प्रमाणपत्र उपस्थित किये जाने की तिथि से निर्धारित करते हैं। भारत म इसी परम्परा का पालन किया जाता है। किसी देश म स्थित विदेशो के सभी दूतो को सामूहिक रूप से **राजनयिक निकाय** (Diplomatic Corps) कहते हैं। इसम सबसे वरिष्ठ (Senior) दूत को डायन या दूतशिरोमणि (Doyen) कहा जाता है।

---

३. कौटल्य ने लिखा है कि यह अमात्य या मन्त्री जैसे गुणों वाला होता है (अमात्य सम्पदोपेतो निसृष्टार्थ)। आजकल स्वतन्त्र भारत में राजदूत का दर्जा मन्त्रिमंडल के सदस्य जैसा समझा जाता है।

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१६) में इसके लिए शासन शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे शासनमेव वाक्यं परः।

ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सदस्य-राज्य आपस मे जिन दूतो का आदान-प्रदान करते है, वे हाई कमिश्नर या उच्चायुक्त (High Commissioner) कहलाते हैं।

इस समय भारत मे वाणिज्य दूतो के अतिरिक्त राजनयिक दूतो की तीन प्रकार की श्रेणियाँ है—(क) राजदूत (Ambassador), (ख) हाई कमिश्नर (High Commissioner), (ग) दूत (Envoys)। इनमे सबसे ऊँचा स्थान राजदूतो का है। हमारे यहाँ लगभग ५० देशो के राजदूत हैं, इनमे स० रा० अमरीका और सोवियत रूस जैसे शक्तिशाली राष्ट्रो और लाओस जैसे नगण्य राज्यो के प्रतिनिधि भी हैं। इनका निवास-स्थान राजदूतावास (Embassy) कहलाता है। अधिकाश राजदूतावास इनके लिए विशेष रूप से बसायी गई नई दिल्ली की उपनगरी चाणक्यपुरी मे अवस्थित हैं।

(ख) ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के दस देशो —आस्ट्रेलिया, कनाडा, सीलोन, घाना, नाइजीरिया, मलाया, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, ग्रेट ब्रिटेन और टागानिक्या के आठ हाई कमिश्नर हैं।

(ग) तीसरी श्रेणी दूतो की है, अल्बानिया और पोप के यहाँ दूत हैं। इनके निवासस्थान दूतावास (Legations) कहलाते हैं।

दूतो की नियुक्ति (Appointment of Envoys)—प्राचीन भारत मे दूतो के लिए अनेक गुणो का होना आवश्यक समझा जाता था।[५] किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने दूत के लिए कोई आवश्यक योग्यताये या शर्ते निर्धारित नही की। राज्य अपनी इच्छानुसार जिस व्यक्ति को दूसरे देशो मे अपने हितो की सिद्धि के लिए समर्थ और आवश्यक समझते हैं, उसे अपना दूत बनाकर भेज सकते है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न देशो मे विविध प्रकार के नियम प्रचलित है। भारत मे विदेश सेवा विभाग की प्रतियोगिता परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले तथा शासन का पर्याप्त अनुभव रखने वाले व्यक्तियो के अतिरिक्त सार्वजनिक, राजनीतिक और शिक्षा व समाज-सेवा के क्षेत्रो मे प्रतिष्ठा पाने वाले डा० राधाकृष्णन्, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, सरदार के० एम० पणिक्कर जैसे व्यक्तियो को भी राजदूत बनाया जाता है। हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू का यह विश्वास है कि सुन्दर एव गुणवती पत्नी राजदूत को नये देश म सामाजिक सबन्ध बनाने और उसके कार्य मे बडी सहायक सिद्ध होती है, अत भारत मे राजदूतो की नियुक्ति मे इसका भी ध्यान रखा जाता है।[५]

---

५. मनु ने दूत के लिए निम्न गुण आवश्यक माने है—सब शास्त्रों में कुशल होना, इशारों, आकार और चेष्टाओं को समझने की क्षमता रखना, रुपये पैसे की दृष्टि से ईमानदार होना तथा स्त्रियों के चक्कर में न पडना (शुचिः-अर्थदानस्त्रीव्यसनाद्यभावात्मक शौनयुक्त-कुल्लूक), चतुराई, कुलीनता, लोकप्रिय (अनुरक्त) होना, राजा के सदेश को न भूलना (स्मृतिमान्), देश काल पहचानना व सुन्दरता, निर्भयता, बातचीत में कुशलता (दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्। इगिताकारचेष्टज्ञ शुचिं दक्ष कुलोद्गतम्॥) अनुरक्तः शुचिर्दक्ष स्मृतिमान्देशकालवित्। वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥) मि० महाभारत शान्तिपर्व ८५।२८, रामायण अयोध्य काण्ड १००।३१, कामन्दक १२, १८, १—२।

पहले स्त्रियों को बहुत कम राजदूत बनाया जाता था, लुई चौदहवें ने मदाम द गुएब्रिआ (Madame de Guebriant) को पोलैण्ड में प्रथम स्त्री राजदूत बनाया था। पश्चिम में नारी जागरण तथा स्त्रियों के समानाधिकार आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप स्त्रियों को राजदूतों के पदों पर नियुक्त किया जाने लगा। स० रा० अमरीकी सरकार ने १९३५ में डेन्मार्क में तथा इसके बाद इटली और लक्समबर्ग में अपने स्त्री राजदूत नियत किये। भारत ने १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद श्रीमती विजय-लक्ष्मी पंडित को पहले सोवियत रूस का (१९४८-४९) तथा बाद में स० रा० अमरीका (१९४९-५१) का राजदूत नियत किया और १९५४ से १९६२ तक ग्रेट ब्रिटेन में वे भारत की हाई कमिश्नर थीं। बर्मा ने जुलाई १९६० में श्रीमती आँगसान को भारत में अपना राजदूत नियत किया था।

राजदूतों के नियुक्ति और आगमन अनेक विधि विधानों और समारोहों के साथ सम्पन्न होते हैं। किसी देश द्वारा दूसरे देश में अपना दूत नियुक्त करते समय उसे अपने राज्य के अध्यक्ष की ओर से प्रत्यय पत्र (Letter of Credence, Letter de Creance) प्रदान किया जाता है। इसमें उस व्यक्ति के उस देश में राजदूत बनाने की सूचना होती है। प्रत्येक दूत अपने देश से इसे दो रूपों में लेता है, नियुक्ति का मूल प्रत्यय पत्र मुहरबन्द लिफाफे में दिया जाता है तथा इसकी एक प्रतिलिपि भी दी जाती है। जिस देश के लिए उसे प्रत्यय पत्र दिया जाता है, उसके लिए उसे प्रत्ययप्राप्त या प्रत्यायित प्रतिनिधि (Accredited Representative) कहा जाता है। यह जब इन दो पत्रों के साथ दूसरे देश में पहुँचता है तो अपने आगमन की सूचना देने के लिए विदेश मन्त्रालय को प्रत्यय पत्र की प्रतिलिपि भेज देता है। इसके बाद विदेश मन्त्रालय द्वारा निश्चित की गई तिथि पर यह एक निश्चित विधि के साथ सम्पन्न किये जाने वाले समारोह में उस देश के शासनाध्यक्ष—राष्ट्रपति या राजा को अपने राजदूत होने का मुहरबन्द प्रत्यय पत्र स्वयमेव देता है। भारत में आने वाले सभी राज-दूत नई दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति के समक्ष अपने प्रत्यय पत्र (Credentials) पेश करते हैं। कार्यदूत (Charge d' Affaires) अपने प्रत्यय पत्र विदेश मन्त्री को देते हैं। राजदूतों ने यदि कोई विशेष कार्य करना होता है तो इसके लिए पूरे अधिकार देने के लिए उन्हें अपने राज्य के अध्यक्ष से हस्ताक्षरांकित जो प्रमाणपत्र दिया जाता है, उसे पूर्णाधिकार पत्र (Full Powers) कहते हैं। सामान्य रूप से एक देश में एक राजदूत नियुक्त किया जाता है, किन्तु कई बार यह एक से अधिक देशों के लिए भी होता है। उदाहरणार्थ, भारत में स० रा० अमरीका का राजदूत नेपाल में भी अम-रीका के दूत का कार्य करता है। लंदन में भारत का हाई कमिश्नर आयरलैण्ड तथा स्पेन में भी भारत के दूत का काम करता है। यूगोस्लाविया में भारतीय दूत यूनान और बल्गारिया का भी दूत माना जाता है। इसी प्रकार रूस का भारतीय दूत हंगरी और पोलैण्ड में, स्वीडन का डेन्मार्क और फिनलैण्ड में, मेक्सिको का पानामा में, स्विट्ज़र-

पत्नियों के विचारों के लिये देखिये—स्टेट्समैन, अक्टूबर १९६३।

लैण्ड का वैटिकन मे, इटली का अल्बानिया मे भी भारतीय राजदूत का कार्य करता है।

स्वीकरणीय व्यक्ति (Persona Grata)—कई बार कोई राज्य दूसरे राज्य द्वारा दूत बनाये जाने वाले व्यक्ति को स्वीकार नही करता। राजदूतो की नियुक्ति से पहले प्राय दूसरे देशो से उस व्यक्ति के लिए विधिपूर्वक पूर्ण स्वीकृति ले ली जाती है। इसे agreation कहा जाता है। यह स्वीकृति जिसके लिए दी जाती है, उसे **स्वीकरणीय व्यक्ति** (Persona Grata) कहा जाता है। राज्य निम्नलिखित आधारो पर किन्ही व्यक्तियो को अपने देश मे राजदूत पद के लिए **अस्वीकरणीय** (Persona non grata) घोषित कर सकते है :—

(१) राज्य के लिए उस व्यक्ति का वैयक्तिक रूप मे आपत्तिजनक होना। फ्रास ने इगलैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम के राजदूत के रूप मे ड्यूक आफ बकिंघम (Duke of Buckingham) को स्वीकार नही किया क्योकि उसने अपनी पहली यात्रा मे फ्रेंच रानी के प्रेमी होने का दावा किया था।

(२) कोई देश किसी व्यक्ति को अपना विरोधी (Hostile) होने पर उसे राजदूत पद के लिए अस्वीकार कर सकता है। इटली ने १८८५ मे श्री कीली (Keiley) को अमरीका का राजदूत मानने से इसलिए इन्कार कर दिया कि उसने १८७१ मे इटली द्वारा पोप के प्रदेशो को अपने राज्य का अग बनाये जाने का विरोध किया था।

(३) यदि कोई व्यक्ति प्रत्यायित (Accred ted) देश का प्रजाजन हो और वहा की सरकार उसे कूटनीतिक उन्मुक्तियाँ (Diplomatic Immunities) न देना चाहे तो वह ऐसे व्यक्ति को राजदूत मानने से इन्कार कर सकती है। किन्तु यदि उसे एक बार दूत स्वीकार कर लिया जाय तो इसे दूतो के सभी विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते है। सर हैलिडे मैकार्टनी (Halliday Macartney) के साथ ऐसा ही हुआ। *वह ब्रिटिश प्रजाजन था, फिर भी १८९७ मे उसने लन्दन के चीनी दूतावास मे सचिव* का कार्य किया। उसकी नियुक्ति के समय कोई आपत्ति नही की गई, अत जब उससे उसके मकान के टैक्स (Rates) मागे गये तो न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उसके दूत होने के कारण उससे ऐसी माग नही की जा सकती।

१९६१ के राजनीतिक सबन्धो के वियना अभिसमय (*Vienna Convention on Diplomatic Relations*) ने यह व्यवस्था की है कि दूत भेजने वाले मडल के कर्मचारी उस राज्य के नागरिक होने चाहिए। यदि वे दूत ग्रहण करने वाले राज्य के नागरिको म से बनाये जाय तो इसके लिए स्वीकृति पहले ही ले लेनी चाहिए। इसी प्रकार राजदूत इन्हे भेजने तथा ग्रहण करने वाले दोनो राज्यो से भिन्न **तीसरे राज्य** (Third States) के नागरिक भी हो सकते हैं, किन्तु इसके लिए भी इस दूत को ग्रहण करने वाले राज्य की स्वीकृति आवश्यक है।

किसी दूत की अस्वीकृति से उत्पन्न होने वाली कटुता तथा अप्रियता से बचने के लिये दूत भेजने वाला देश इसे ग्रहण करने वाले देश से पहले ही स्वीकृति (Agreation) ले लेता है। वियना अभिसमय के अनुच्छेद ४ के अनुसार दूत ग्रहण करने वाले राज्य के लिये किसी दूत का नाम अस्वीकृत करते हुए उसके लिए कारण बताने की आवश्यकता

नहीं है।

दूतों के कार्य (Functions of Diplomatic Agents)—प्राचीन भारत में कौटिल्य ने इनके कार्यों का वर्णन करते हुए लिखा है कि इनके निम्नलिखित कर्त्तव्य होते हैं—अपने स्वामी का सन्देश दूसरे राजा के पास पहुँचाना और उसका उत्तर अपने स्वामी को भेजना, सन्धियों का पालन कराना, अपने राजा की शक्ति या प्रताप प्रदर्शित करना, अपने मित्रों में वृद्धि करना, शत्रुओं में फूट उत्पन्न करना, शत्रु के मित्रों में भेद डालना, शत्रु की सेना और गुप्तचरों को अपने राज्य से बाहर करना, शत्रु के बन्धु-बान्धवों तथा रत्नों का अपहरण, गुप्तचरों के सवादों का सग्रह, शत्रु की कमजोरी देखते ही पराक्रम प्रदर्शित करना, सन्धि के अनुसार शत्रुपक्ष के व्यक्तियों (समाधि) को मुक्त कराना, योग अर्थात् औपनिषदिक उपायों से मारण आदि के प्रयोग।[7] कार्यों की इस सूची से यह स्पष्ट है कि उस समय दूत का एक प्रधान कार्य दूसरे देश की जासूसी करना था। आजकल दूत के लिए ऐसा कार्य वर्जित है। अन्य कार्य दूतों के वर्तमान कार्यों से बहुत कुछ मिलते हैं।

ओपेनहाइम (Oppenheim) ने दूतों के तीन मुख्य कार्य बताये हैं[8]—

(१) सन्धिवार्त्ता करना (Negotiation) —वह अपने राज्य के लिए दूसरे राज्य के साथ विभिन्न विषयों में वार्त्ता चलाने (Negotiation) का माध्यम है।

(२) निरीक्षण (Observation)—इसका एक बड़ा कार्य दूसरे देश की राजनीतिक परिस्थिति का निरीक्षण (Observation) तथा उसकी पूरी रिपोर्ट अपनी सरकार को भेजते रहना है।

(३) सरक्षण (Protection)—तीसरा कार्य उस देश में अपने स्वदेशवासी राष्ट्रिकों (Nationals) की जान और माल की रक्षा करना है। इसके अतिरिक्त इसे अपनी सरकार का दृष्टिकोण, राष्ट्रीय नीति और विचारों को दूसरे देश के सम्मुख बड़ी स्पष्टता और प्रबलता के साथ रखना है। यदि उसके देश के प्रति कभी असम्मान प्रदर्शित किया जाता है या उसके देशवासियों के स्वार्थों को आंच आती है तो वह इसके प्रतिकार के लिए उस देश के विदेशमन्त्री से मिलता है। वह उस देश में रहने वाले अपने राष्ट्रवासियों के जन्म, विवाह, मृत्यु का पंजीकरण (Registration) करता है। वह विदेश में अपने देश को प्रभावित करने वाली राजनीतिक और सामाजिक दशाओं की विस्तृत जानकारी स्वदेश भेजता रहता है। अपने देश के भगोड़े अपराधियों के प्रत्यर्पण के लिए वह विदेश मन्त्रालय से बात करता है, वह स्वदेशवासियों के लिये

७. अर्थशास्त्र १।१६ प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्र-संग्रहः।
उपजापः सुहृद्भेदो गूढदण्डातिसारणम्॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः॥

मनु (७ ६६) ने इनके सन्धि और लड़ाई कराने के कार्यों पर बल दिया है—दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्। दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः।

८. ओपेनहाइम—इन्टरनेशनल ला, खं० १, पृ० ७८४

पारपत्र (Passport) जारी करता है। उससे यह आशा रखी जाती है कि वह जिस देश मे राजदूत बनकर गया है, वहाँ की स्थानीय या आन्तरिक राजनीति मे कोई भाग नही लेगा।

राजनयिक सम्बन्धों के वियना अभिसमय (Vienna Convention on Diplomatic Relations) म दूतो के निम्नलिखित कार्य बताये गये है—(१) दूत ग्रहण करने वाले (Receiving) राज्य मे इसे भेजने वाले (Sending) राज्य का प्रतिनिधित्व करना। (२) दूत ग्रहण करने वाले राज्य मे भेजने वाले राज्य के तथा इसके नागरिको के हितो की सुरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के अनुसार करना। (३) ग्रहण करने वाले राज्य के साथ विभिन्न विषयो मे वार्त्ता करना। (४) ग्रहण करने वाले राज्य की परिस्थितियो की वैध उपायो से पूरी जानकारी करना तथा इसकी सूचना तथा रिपोर्ट अपने देश को भेजना। (५) दूत भेजने तथा ग्रहण करने वाले राज्यो मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाना, दोनो के आर्थिक, सास्कृतिक और वैज्ञानिक सम्बन्धो का विकास करना।

दूतो के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ (Diplomatic Privileges and Immunities)—दूतो को अपना कार्य भली भाति करने के लिए सभी राज्य कुछ विशेषाधिकार प्रदान करते हैं। यदि उन्हे स्वदेश को अपनी गुप्त रिपोर्ट, चिट्ठियाँ, तार और सन्देशहर भेजने की स्वतन्त्रता न हो तो वे अपना कार्य नहीं कर सकते। उन पर किसी प्रकार का दबाव या भय नहीं होना चाहिए, उनके निवास-स्थान स्थानीय पुलिस तथा अन्य अधिकारियो के अधिकारक्षेत्र से बाहर होने चाहिए। पारस्परिकता के आधार पर सभी देश अन्य राज्यो के दूतो को विशेषाधिकार प्रदान करते हैं तथा अपने न्यायालया के क्षेत्राधिकार मे उन्हे कुछ छूट या उन्मुक्तियाँ प्रदान करते हैं। क्षेत्राधिकार वाले अध्याय मे इनका सक्षिप्त उल्लेख हो चुका है (पृ० २७४ ५)। इनके प्रमुख विशेषाधिकार निम्नलिखित हैं —

(१) वैयक्तिक सुरक्षा तथा अवध्यता (Personal Safety)—प्राचीनकाल से दूत को किसी प्रकार की शारीरिक क्षति पहुँचाना, उसे पकडना, मारना या बन्धन मे रखना बड़ा जघन्य कार्य समझा जाता रहा है (देखिये ऊपर पृ० १९)। कौटिल्य के मतानुसार दूत यदि चाण्डाल हो तो भी अवध्य है।[९] वर्तमान समय मे विभिन्न देशो के

९ अर्थशास्त्र १।१६ तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्या।

महाभारत के शान्तिपर्व (८५।२६–२७) में भीष्म ने युधिष्ठिर को दूत की अवध्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा कि इसे मारने वाला नरकगामी और भ्रूणहत्या के पाप का भागी होता है—

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याचिदापदि।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह॥
यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः।
यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः॥

प्राचीन ... की अवध्यता का विशेषाधिकार विशिष्ट विदेशी व्यक्तियों को भी

कानूनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के निर्णयों द्वारा यह सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित हो चुका है। पहले (पृ० २७४) यह बताया जा चुका है कि १७०८ ई० के ब्रिटिश कानून के अनुसार किसी राजदूत को बन्दी बनाने तथा उसका माल जब्त करने की सब आज्ञायें अवैध होती है। रिपब्लिका बनाम लांगचैम्पस (Republica v Longchamps) के मामले में यह कहा गया था कि "राजदूत का शरीर पवित्र और अवध्य (Inviolate) होता है। इसके प्रति की गई किसी प्रकार की हिंसा न केवल उस राजा या प्रभु (Sovereign) का अपमान है जिसका प्रतिनिधित्व वह दूत कर रहा है, अपितु इससे राष्ट्रों की सामान्य सुरक्षा और कल्याण को भी हानि पहुँचती है। इस प्रकार का कार्य करने वाला व्यक्ति सारी दुनिया के विरुद्ध अपराध करता है।" पेलेची के मामले (Palachie Case) में दिये गये निर्णय के अनुसार "राजदूत को सब प्रकार की क्षतियों (Injuries) तथा अपकारों (Wrongs) से सुरक्षित रखना चाहिये। सब देशों और राष्ट्रों के कानून के अनुसार उन्हें प्रत्येक स्थान में सुरक्षित रखना चाहिये। हमारे शत्रु के दूत को भी हानि पहुँचाना वैध नहीं है।" विदेशी राजदूत की अपनी भूमि में सब प्रकार से रक्षा और संरक्षण करना अपने देश में रहने वाले अन्य नागरिकों तथा विदेशियों की सुरक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण है।[10]

प्रदान किया जाता था। हर्षवर्धन ने चीनी यात्री ह्वेनत्सांग (युआनच्वांग) की सुरक्षा के लिए आवश्यक व्यवस्था की थी। जब भारत के धार्मिक विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने के बाद चीनी यात्री के प्राण संकट में पड़ गये तो हर्ष ने एक राजकीय घोषणा निकाली कि चीनी यात्री का बाल भी बाका न होना चाहिये, यदि किसी व्यक्ति ने उसके प्राणों को संकट में डाला तो उससे पूरा बदला लिया जायगा।

१० कई बार विशेष परिस्थितियों में राजदूतों की अवध्यता तथा दूतावासों की अनतिक्रम्यता (Inviolability of Embassies) के नियम का उल्लंघन भी होता है। १८ सितम्बर १९६३ को इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता में मलायेशिया संघ के निर्माण से क्षुब्ध एवं उत्तेजित १० हजार व्यक्तियों की भीड़ ने ब्रिटिश दूतावास के २२ नर-नारियों पर आक्रमण किया, उन पर पत्थर, बोतलें और ईंटें फैंकी, ब्रिटिश राजदूत गिल्क्राइस्ट को दो पत्थर लगे, ब्रिटिश दूतावास में आग लगा दी गयी। पुलिस ने बड़ी कठिनाई से ब्रिटिश दूतावास के कर्मचारियों को अपने कार्यालय में पहुँचाकर रक्षा की। सेना को बुलाकर इस स्थिति पर नियन्त्रण स्थापित किया गया। (हिन्दुस्तान टाइम्स, १९-२० सितम्बर, १९६३)। इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने ब्रिटिश सरकार से इस घटना पर गहरा खेद प्रकट किया।

सितम्बर १९६५ के भारत-पाकिस्तान संघर्ष के समय पाकिस्तान के साथ सहानुभूति रखने वाले हजारों इण्डोनेशियनों ने प्रदर्शन करके ८ सितम्बर को जकार्ता में भारतीय दूतावास पर हमला करके इसे भीषण क्षति पहुँचाई, उन्होंने इस के सारे फर्नीचर को तोड़-फोड़ दिया, दूतावास के कागजों और फाइलों को निकालकर उन्हें बगीचे में रखा और वहाँ उनकी होली जलाई। बाद में भारत सरकार द्वारा इस कार्यवाही का उग्र प्रतिवाद करने पर इण्डोनेशिया के विदेशमन्त्री डा० सुबान्द्रियो ने यह घोषणा की कि उनकी सरकार भारतीय दूतावास को पहुँची क्षति की समुचित पूर्ति करेगी।

साम्यवादी चीन ने राजदूतों की अवध्यता के नियम का कई बार भीषण रूप से उल्लंघन किया है। इस विषय में सोवियत संघ, भारत एवं अन्य देशों के राजदूतों के साथ किये गये पेकिंग के व्यवहार के कुछ थोड़े से उदाहरणों का उल्लेख यहाँ किया जाता है। जनवरी १९६७ में विदेशों में अध्ययन करने वाले चीनी विद्यार्थियों को पेकिंग ने सांस्कृतिक क्रान्ति में भाग लेने के लिये स्वदेश लौट आने के लिए कहा। फ्रांस और फिनलैण्ड से मास्को के मार्ग से चीन लौटने वाले कुछ विद्यार्थियों ने वहाँ के चीनी दूतावास के कर्मचारियों के साथ मिलकर २५ जनवरी १९६७ को लेनिन की समाधि के निकट लाल चौक (Red Square) में बड़ा उत्पात मचाया, जब उन्हें ऐसा कार्य करने से रोका गया तो पेकिंग ने इस बात का झूठा प्रचार किया कि मास्को में चीनी विद्यार्थियों के साथ बड़ा अमानुषिक और बर्बर व्यवहार हुआ है तथा इसका बदला लेने के लिए २६ जनवरी की सन्ध्या से पेकिंग में सोवियत दूतावास को चीनी प्रदर्शनकारियों की भारी भीड़ ने घेर लिया, दूतावास में आने जाने वाले व्यक्तियों पर थूका जाने लगा, उन्हें परेशान किया गया, लाठियों से मारा पीटा गया, उन पर कूड़ा डाला गया, दूतावास में जलती मशालें फेंकी गईं। २ फरवरी को सोवियत राजनयिकों की एक गाड़ी लालरक्षकों ने १६ घण्टे रोके रखी। इस विषम परिस्थिति में जब सोवियत दूतावास के बच्चों तथा स्त्रियों को खतरे से बचने के लिए इन्हें तीन दलों में ४-६ फरवरी को रूस भेजा गया तो हवाई अड्डे तक जाते हुए लाल रक्षकों ने इन पर थूका और इन्हें पीटा। ६ फरवरी को गोद में बच्चे लेकर स्वदेश लौटती दूतावास की रूसी स्त्रियों को एक चीनी भीड़ ने घेर लिया, उन्हें माओ और स्तालिन के चित्रों के नीचे से रेंगकर जाने को विवश किया। जब रूस, ब्रिटेन तथा फ्रांस के राजनयिकों ने इन बच्चों और स्त्रियों को बचाना चाहा तो उनके साथ भी दुर्व्यवहार किया गया। दूतावास लौटते हुए रूसियों पर हमला किया गया, इनकी एक बस को १२ घण्टे रोककर इन्हें बन्दी बना कर रखा गया। ६ फरवरी की सन्ध्या से सोवियत दूतावास पर घेरा डाल दिया गया, कई दिनों तक यह घेरा पड़ा रहा, यहाँ का कोई कर्मचारी बाहर नहीं निकल सकता था। ३१ जनवरी से ४ फरवरी तक पेकिंग के फ्रेंच दूतावास पर उग्रप्रदर्शन होते रहे, इसके एक कर्मचारी मो० रावर्ट रिचर्ड को चीनियों ने घेर लिया क्योंकि दूतावास जाते हुए उसकी गाड़ी एक दूसरी गाड़ी से टकरा गई थी। उसे मोटर से बाहर घसीटकर ७ घण्टे तक ठंड में खड़ा रखा। सोवियत संघ के अतिरिक्त पूर्वी योरोप के अन्य साम्यवादी देशों के राजदूतों के साथ भी ऐसा ही दुर्व्यवहार किया गया। चैकोस्लोवाक दूतावास के दो कर्मचारियों पर २६ जनवरी को लालरक्षकों ने हमला किया। हंगरी के राजदूत की गाड़ी पर आक्रमण किया गया, पूर्वी जर्मनी के कार्यदूत (Charge 'd and Affiaires) को धमकाया गया। मंगोलिया के दूतावास ने यह माँग की कि उनके कर्मचारियों की सुरक्षा की गारण्टी दी जाय तो चीनी विदेशमन्त्रालय ने ६ फरवरी को यह घोषणा की कि राजनयिक उन्मुक्ति (Diplomatic immunity) पूंजीवादी संस्थाओं की उपज है, क्रान्ति करने वाले देश बूर्जुआ व्यवस्थाओं (Bourgeoise norms) को

स्वीकार नही करते है (कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६७, पृ० २२०४६-७)।

जून १९६७ मे पेकिंग मे भारतीय दूतावास के दो कर्मचारियो कृष्णन्, रघुनाथ तथा विजय पर जासूसी का अपराध लगा कर इन्हे देश से बाहर निकलने का आदेश दिया गया, लालरक्षको ने इन्हे हवाई अड्डे पर पीटा तथा ठोकरे मारी, दूतावास के तृतीय सचिव सी० वी० रघुनाथ को घुटनो के बल चलवाया। १३ जून का लोकसभा मे भारत के विदेशमत्री श्री छागला ने यह घोषणा की कि चीन का कार्य सभ्य व्यवहार के नियमो तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सभी ज्ञात नियमो का अभूतपूर्व एव भीषण (flagrant) उल्लघन है (एशियन रिकार्डर १९६७, पृ० ७८०८–११)।

मई १९६७ मे हागकाग मे दगे होने पर चीन मे ब्रिटेन का विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया, कैण्टन, पेकिंग तथा शघाई मे ब्रिटिश दूतावास के कर्मचारियो पर हमले किये गये तथा उनके साथ भीषण दुर्व्यवहार किया गया। दा ब्रिटिश राजनयिको-ट्रैविट तथा व्हिटनी को २४ मई को शघाई के हवाई अड्डे पर घेर लिया गया, उन्हे धक्के दिये गये, ठोकर लगाई गई, दीवारो पर पोस्टर चिपकाने वाली लेई उनके मुंह और शरीर पर पोती गई। चीनियो ने ट्रैविट के चेहरे पर थूका, उसकी जाकेट फाड दी, उसके सिर पर यूनियन जैक के झण्डे से युक्त बेत की बनी टोपी (Dunce's cap) पहनाने का प्रयत्न किया गया (कीसिंग्स आर्काइव्ज, जुलाई १५-२२, १९६७, पृ० २२१४१)।

उपर्युक्त घटनाओ मे यह स्पष्ट है कि राजदूतो की अनव्यता एव उन्मुक्तियो के नियम की अवहेलना करने की प्रवृत्ति बढ रही है। इसका प्रतिकार करने के उपाय प्रतिवाद-पत्र भेजना, बदले की कार्यवाही करना तथा दौत्यसम्बन्ध भग करना है। साम्यवादी चीन जैसे देश के प्रतिवाद-पत्रो की कोई परवाह नही करते है। कई वार बदले की कार्यवाही प्रभावशाली सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ जनवरी १९६७ मे चीनियो ने पेकिंग मे रूसी दूतावास के कर्मचारियो पर जैसे प्रतिबन्ध लगाये थे वैसे ही प्रतिबन्ध रूस ने मास्को के चीनी दूतावास के कर्मचारियो पर लगा दिये। जून १९६७ मे चीन द्वारा पेकिंग के भारतीय दूतावास पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने पर भारत सरकार ने नई दिल्ली के चीनी दूतावास पर वैसे ही कडे प्रतिबन्ध लगाये तो चीन ने अपने प्रतिबन्ध हटा लिए। अन्तिम उपाय दौत्यसम्बन्धो का भग करना है। स० रा० सघ की जनरल असेम्बली की कानूनी समिति ने ८ दिसम्बर १९६७ को भारत द्वारा समर्थित एक प्रस्ताव पारित करके राजदूतो के विशेषाधिकारो तथा उन्मुक्तियो के विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो की अवहेलना करने वाले सभी कार्यो की निन्दा की है। सब देशो को इस विषय मे १९६१ के वियना अभिसमय को स्वीकार करने की अपील की गई है (टाइम्स आफ इडिया, दिल्ली ९ दिसम्बर १९६७ पृ० १०)। रा० रा० सघ की समिति मे यह मामला इस लिए उठाया गया था कि अगस्त १९६७ मे स० रा० सघ की विशेष असेम्बली मे भाग ले कर स्वदेश लौटने वाले गिनी के प्रतिनिधियो के विमान को जब इजन मे कुछ खराबी आने के कारण आइवरी कास्ट मे उतारना पडा तो वहाँ की सरकार ने गिनी के प्रतिनिधियो को बन्दी लिया था।

दूत की अवध्यता के सिद्धान्त के अनुसार उसे प्राप्त होने वाली पूर्ण सुरक्षा अनतिक्रम्यता (Inviolability) कहलाती है, उसका शरीर इतना अधिक पवित्र समझा जाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार की क्षति या हिंसा द्वारा इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। उसके प्रति शक्ति या हिंसा का प्रयोग सर्वथा वर्जित है, उस पर न्यायालयों में कोई मुकद्दमा चलाकर उसे दण्डित नहीं किया जा सकता। उसकी यह अनतिक्रम्यता केवल उसके शरीर तक ही सीमित नहीं है, किन्तु उसको अपना कार्य चलाने के लिए जिन व्यक्तियों या वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उन सबको यह सुरक्षा प्राप्त है। अन दूत की स्त्री, परिवार के सदस्य, उसका अनुचरवर्ग, फर्नीचर, घोडे, मोटरगाडियाँ, कागज-पत्र, तार तथा सदेशहर अनतिक्रम्य माने जाते हैं। किसी दूत का कार्य समाप्त हो जाने पर दूसरा देश इसके कागजात को नहीं छू सकता। *उपर्युक्त सब व्यक्तियों पर देश का दण्ड-विधान लागू नहीं होता।* इन्हें मनमानी कार्यवाही करने की स्वतन्त्रता है किन्तु उनसे यह आशा रखी जाती है कि वे स्वयमेव अपने पर ऐसा नियन्त्रण रखेंगे कि उनके किसी कार्य में देश के कानून का उल्लघन न हो।

यदि वे अपने पर ऐसा नियन्त्रण नहीं रखते और कोई जघन्य अपराध करते हैं तो वे जिस देश में दूत बनकर गये है, वह उनके प्रत्यावर्तन (Recall) की माँग कर सकता है और उन्हें अपने देश से निकाल सकता है। १५८४ में इंगलैण्ड स्थित स्पेनिश राजदूत मेन्दोज़ा (Mendoza) ने वहाँ की रानी एलिज़ाबेथ को गद्दी से हटाने के एक षड्यन्त्र में भाग लिया, इस पर उसे ब्रिटिश भूमि छोडकर चले जाने की आज्ञा दी गयी। इसी प्रकार १६५४ में जब इगलैण्ड के फ्रेंच राजदूत द वास (De Bass) ने क्रामवैल की हत्या के षड्यन्त्र में हिस्सा लिया तो उसे २४ घटे के भीतर ग्रेट ब्रिटेन छोडना पडा। यदि ऐसा षड्यन्त्र देश की आन्तरिक शान्ति को सकट में डालने वाला हो तो राजदूत को बन्दी भी बनाया जा सकता है। १७१८ में फ्रास में स्पेन के राजदूत सेल्लामेयर (Cellamare) को फ्रेंच सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र में भाग लेने के कारण हवालात में डाला गया था। १७१७ में लदन में स्वीडन के राजदूत गिलिनवर्ग (Gyllenburg) को गिरफ्तार किया गया क्योंकि उसने जार्ज प्रथम के विरुद्ध षड्यन्त्र में भाग लिया था।[11] इस विषय में लार्ड मेहोन (Mahon) ने लिखा था—"यदि कोई व्यक्ति उस देश की सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करता है, जहाँ उसे दूत बनाकर भेजा गया है तो वह राष्ट्रों के कानून का उल्लघन करता है। उसको कानून द्वारा दिया गया विशेषाधिकार इस शर्त पर है कि वह अपने कूटनीतिक कर्त्तव्यों की सीमा का उल्लघन नहीं करता। यदि वह ऐसा करता है तो इस बात को अस्वीकार करना असम्भव है कि इस प्रकार हानि उठाने वाली सरकार को अपने सरक्षण की दृष्टि से आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है।"

युद्ध छिड जाने पर भी राजदूत की अनतिक्रम्यता और अवध्यता के अधिकार में कोई अन्तर नहीं आता।

११. हार्नेग्ड—इटरनेशनल लॉ, पृ० २२३-४

(२) **राज्यक्षेत्रबाह्यता**[12] (Exterritoriality)—यह राजदूतो का दूसरा विशेषाधिकार है। इसका आशय ब्रियर्ली के शब्दो मे यह है कि दूत तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुयें यद्यपि भौतिक रूप से इन्हे दूत मानने वाले राज्य के प्रदेश मे अवस्थित होती है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार इन पर उस प्रदेश का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) नही लागू होता। ये उस राज्य के क्षेत्र मे रहते हुए भी उसके कानून और न्यायालयों के अधिकारक्षेत्र से बाहर समझे जाते हैं। कुछ विद्वान् इन्हे राज्य मे रहते हुए भी इनके निवासस्थान या दूतावासो को उस राज्य से बाहर का प्रदेश समझते है, किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसे इस हद तक नही स्वीकार करता। १६३५ मे रोम के न्यायालय ने पोप की नगरी वैटिकन मे बनी इमारतो के सम्बन्ध मे यह कहा था कि १६२६ की लेटरन सधि (देखिए पृ० १४८) के अनुसार इन्हे इटली के क्षेत्राधिकार से कुछ उन्मुक्तियाँ प्राप्त है, किन्तु इस आधार पर इन इमारतो को इटली के प्रदेश से बाहर नही माना जा सकता। १६३४ मे एक फ्रेंच न्यायालय (Court of Cessation) ने यह माना था कि फ्रास के विदेशी दूतावास मे फ्रेंच प्रजाजन द्वारा किये गये अपराध के सम्बन्ध मे यह नही माना जा सकता कि वह फ्रेंच प्रदेश से बाहर किया गया है। १६३४ मे एक जर्मन न्यायालय ने बर्लिन के अफगान दूतावास मे अफगान राजदूत की हत्या के मामले मे बचाव पक्ष के इस दावे को स्वीकार नहीं किया कि अफगान दूतावास मे घटित होने के कारण यह घटना जर्मन प्रदेश से बाहर हुई है और जर्मन न्यायालयो को इस पर विचार करने का कोई अधिकार नही है। फिर भी ओपेनहाइम ने लिखा है—"राज्य-क्षेत्रबाह्यता के शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यह इस तथ्य को सूचित करता है कि दूतों के साथ अधिकांश मामलों में ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि वे इन्हे दूत स्वीकार करने वाले राज्य के प्रदेश के भीतर निवास नहीं करते।"[13]

इस विशेष अधिकार के अनुसार विदेशी राजदूतो के सरकारी निवासस्थान और दूतावास उस राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर समझे जाते है। इनमे शासन, न्याय या पुलिस विभाग का कोई कर्मचारी प्रवेश करने का अधिकार नही रखता। पहले दूतावास के साथ लगा हुआ शहर का बहुत-सा हिस्सा भी राज्यक्षेत्रबाह्य समझा जाता था।

---

१२. राज्यक्षेत्रबाह्यता (Exterritoriality) तथा बाह्य क्षेत्राधिकार (Extraterritoriality) में सूक्ष्म अन्तर है। पहले शब्द का आशय केवल इतना ही है कि किसी व्यक्ति या वस्तु पर उस राज्य का क्षेत्राधिकार नहीं है, जिस राज्य के प्रदेश में वह है। दूसरा शब्द इससे सर्वथा भिन्न यह अर्थ देता है कि किसी राज्य का क्षेत्राधिकार उस राज्य की सीमाओं से बाहर किसी दूसरे राज्य के प्रदेश में है। ब्रियर्ली ने पहले शब्द के प्रयोग पर दो आपत्तियाँ की हैं, पहले तो यह कि इसमें यह मान लिया जाता है कि क्षेत्राधिकार और प्रदेश सदैव सहवर्ती होते हैं, यह बात सत्य नही है। दूसरी आपत्ति यह है कि इसमें व्यक्ति को राज्य में होते हुए भी कल्पना (Fiction) द्वारा उससे बाहर मान लिया जाता है। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि कोई व्यक्ति स्थानीय क्षेत्राधिकार से मुक्त है (दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १८७)।

१३. ओपेनहाइम—इंटरनेशनल ला, ख० १, पृ० ७६३

किन्तु अब यह दर्जा केवल दूतावास तथा उससे सम्बद्ध घुडसालो तथा मोटरगाडियो के गैरजो को ही दिया जाता है। यदि दूतावास की सीमा मे विशेषाधिकार का उपयोग न करने वाले किसी व्यक्ति द्वारा कोई अपराध किया जाता है तो इसे राज्याधिकारियो को सौंपना उस दूतावास का कर्तव्य माना जाता है। दूतो से यह आशा रखी जाती है कि वे अपना दूतावास अपराधियो का अड्डा नही बनने देंगे।

किन्तु मध्यकाल मे मैड्रिड, वेनिस और रोम मे अवस्थित विदेशी दूतावास न केवल इस प्रकार के अड्डे बने हुए थे, अपितु दूत अपने सरक्षित निवासस्थान अपराधियो को ऊँचे किरायो पर चढाकर इनमे खूब लाभ कमाते थे। यह बुराई यहाँ तक बढ गई कि १६७७ मे पोप इन्नोसैण्ट एकादश को यहाँ तक कहना पड़ा कि जो दूतावास ऐसा करेंगे, पोप उनके दूतो को अपने साथ भेंट का अवसर प्रदान नही करेगा। शनै.-शनै यह बुराई कम हुई तथा अपराध करने वाले व्यक्तियो को दूतावास मे पकडा जाने लगा। १८२६ मे लन्दन मे अमरीकन राजदूत गैलेटीन (Gallatin) के कोचवान ने अमरीकी दूतावास के बाहर एक अपराध किया, इसके बाद वह अमरीकी दूतावास की घुडसाल मे छिप गया। यहाँ से ब्रिटिश पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। विदेश मन्त्री लार्ड डडली (Dudley) ने इस कार्य का समर्थन करते हुए कहा—"मुझे एक भी ऐसे दृष्टान्त का ज्ञान नही है जिसमे राष्ट्रो के कानून द्वारा किसी राजदूत के दूतावास को ऐसा विशेषाधिकार दिया गया हो कि इसमे अपराधियो को न पकडा जा सके।" इन्हे पकडने के एक अन्य उदाहरण मे, १८६६ मे पेरिस के रूसी दूतावास मे निक्ति चेनकोफ ने एक रूसी सहचारी (Attache) पर हमला करके उसे घायल कर दिया, पुलिस इस अपराधी को दूतावास से पकड कर ले गई और फ्रेंच सरकार ने रूसी राजदूत की इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया कि अपराधी उसे सौपा जाय।

राजनीतिक अपराधियो को दूतावास मे शरण देने (Diplomatic Asylum) के सम्बन्ध मे विभिन्न देशो मे एक जैसी व्यवस्था नही है। पहले दूतावास इन्हे शरण दिया करते थे। स्पेन और दक्षिण अमरीका के राज्यो मे इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। आज तक पेरु के अतिरिक्त अन्य सभी दक्षिण अमरीकी राज्य दूतावास मे राजनीतिक अपराधियो को शरण देने का अधिकार रखते हैं। अन्यत्र दूतावासो को इस प्रकार अपनी इमारत मे अपराधियो को सरक्षण देने का कोई अधिकार नही है। इस अवस्था मे यदि प्रार्थना करने पर भी राजदूत अपराधी को नही देता तो राज्य के सिपाही इसे घेर कर अपराधी को इसमे से बलपूर्वक निकाल सकते है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति कुछ उच्छृंखल तथा गैर-कानूनी काम करने वाले व्यक्तियो के आक्रमण के प्रकोप से बचने के लिए दूतावास मे शरण लेता है तो उसे मानवीय आधार पर दूतावास को अस्थायी रूप से सरक्षण देने का अधिकार माना जाता है। यह पहले बताया जा चुका है कि दूतावास अपने देश के किसी अपराधी व्यक्ति को अपने यहाँ इस इरादे से पकड कर नही रख सकते कि उसे वहाँ से मुकद्दमा चलाने के लिए स्वदेश भेजा जाय।

(३) फौजदारी न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से मुक्ति (Immunity from the Jurisdiction of Criminal Courts)—दूत फौजदारी कानून के अपराधो के लिए

स्थानीय न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त समझे जाते है, पुलिस इन्हें पकडकर अदालत मे मुकद्दमा नही चला सकती। दूतो से यह आशा रखी जाती है कि वे ऐसे अपराध नही करेंगे। ऐसे अपराध होने की दशा मे यह मामला उन्हे दूत बनाकर भेजने वाले देश के सामने रखा जाता है, उनको वापिस बुलाने तथा उनको अपने देश में दण्ड देने की माँग की जाती है।

बियर्ली के शब्दो मे "एक दूत जिस देश मे भेजा जाता है, वह उस देश की फौजदारी कार्यवाही मे तथा पुलिस की कार्यवाही से बिल्कुल मुक्त होता है। इसका यह अर्थ नही है कि उस देश के फौजदारी कानून और पुलिस के नियमो का पालन करना उसका कर्त्तव्य नही है किन्तु यदि वह ऐसा नही करता तो उसके विरुद्ध केवल यही कार्यवाही की जा सकती है कि उसकी सरकार को राजनयिक ढग से उसकी शिकायत (Diplomatic complaint) की जाय अथवा बडे गम्भीर अपराध मे उसको देश से निकाल दिया जाय।"[१४]

पुरानी व्यवस्था ऐसी नही थी। १६५३ ई० मे लन्दन मे स्थित पुर्तगाली राजदूत के भाई डॉन पैंण्टेलियोनसा का एक ब्रिटिश कनल से झगडा हो गया, अगले दिन वह अपने पाँच साथियो को लेकर उस कनल से दुबारा लडने गया, लडाई मे एक अग्रेज मारा गया। इसी बीच ब्रिटिश पुलिस वहा आ गई, डॉन ने भागकर पुर्तगाली दूतावास मे शरण ली, किन्तु उसे बाद मे ब्रिटिश सरकार को सौंपा गया। क्रामवेल ने यह मामला एक विशेष न्यायालय को सौंपा, इसने डान का यह दावा स्वीकार नही किया कि राजदूत का भाई होने से उसे दूतो जैसी स्थानीय फौजदारी अदालत के क्षेत्राधिकार स मुक्ति प्राप्त है। न्यायालय के निर्णयानुसार उसे फासी का दण्ड दिया गया। किन्तु उस समय के प्रसिद्ध विधिशास्त्रियो मे लीबनित्ज (Leibnitz) तथा बिंकरशायेक (Bynkershoek) ने इस निर्णय को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल बताया और अधिकाश आधुनिक विधिशास्त्रियो का भी ऐसा ही मत है।

राजा अथवा राज्य के विरुद्ध किए गए षड्यन्त्रो मे से दूतो के सम्मिलित होने पर उन्हे प्राय स्वदेश लौटने के लिए बाधित किया जाता है। इस विषय मे पहले मेन्दोजा और द बास के उदाहरणो का उल्लेख किया जा चुका है (पृ० ३५०)।

(४) दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति (Immunity from the Jurisdiction of Civil Courts)—दूतो के विरुद्ध स्थानीय न्यायालयो मे दीवानी मामलो के सम्बन्ध मे कोई अभियोग नही लगाया जा सकता। यदि वह स्थानीय व्यक्तियो से कोई ऋण लेता है और इसे नही उतारता तो इसके लिए उस पर कोई मुकद्दमा नही चलाया जा सकता, उसे ऋण अदा न करने के लिए बन्दी नही बनाया जा सकता, कर्ज की वसूली के लिए उसका फर्नीचर, गाडी, घोडे तथा अन्य सम्पत्ति जब्त नही की जा सकती। ग्रोशियस ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मे इसका बडा स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"राजदूत की वैयक्तिक सम्पत्ति न तो किसी

१४. बियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २१३

न्यायालय के और न ही किसी प्रभुसत्तासम्पन्न राजा के आदेश से ऋणों की अदायगी या सुरक्षा के लिए जब्त की जा सकती है। मेरे विचार के अनुसार यह सबसे ठीक सम्मति है क्योंकि राजदूत द्वारा पूर्ण सुरक्षा के उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने शरीर पर तथा उपयोग के लिए आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध मे सब प्रकार से सुरक्षित और चिन्तामुक्त हो। यदि वह ऋणग्रस्त हो जाय और उसके पास इसे चुकाने के लिए अचल सम्पत्ति न हो तो उससे ऋण अदा करने की प्रार्थना करनी चाहिए। यदि वह इसे स्वीकार नही करता तो इसकी शिकायत उसके स्वामी से करनी चाहिए।" बिंकरशोयेक ने भी ग्रोशियस के उपर्युक्त मत का समर्थन किया है। वैटल (Vattal) ने इसको पुष्ट करते हुए कहा है कि यदि दूत व्यापार करता है तो उसके विरुद्ध किसी दावे की वसूली के लिए उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति जब्त की जा सकती है। किसी राजदूत का सामान इस आधार पर नहीं रोका जा सकता कि उसने अपना कर्ज अदा नही किया। १७७२ म फ्रेंच सरकार ने एक जर्मन राज्य हेस्से केमल (Hesse-Cassel) के राजदूत बैरन डी रैथ को इस आधार पर पासपोर्ट नही दिया था कि उसने अपना कर्ज नही अदा किया था। इस पर पेरिस के अन्य सभी राजदूतो ने फ्रेंच सरकार के इस कार्य का तीव्र प्रतिवाद किया। इस विषय में इंग्लैंड का १७०८ का कानून इतना कड़ा है कि राजदूत पर कर्ज अदा करने के लिए सम्मन भी तामील नहीं किया जा सकता है।

किन्तु दो अवस्थाओं मे दूत की दीवानी मामला मे उन्मुक्ति (Immunity) समाप्त हो जाती है। **पहली** अवस्था उसका स्वयमेव स्थानीय दीवानी अदालत मे उपस्थित होकर इसका क्षेत्राधिकार स्वीकार करना है। इस प्रकार वह स्वयमेव अपनी उन्मुक्ति का परित्याग कर देता है। **दूसरी** अवस्था उसका अदालत मे किसी अन्य व्यक्ति पर अभियोग चलाना है, इससे भी वह अपने पर स्थानीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लेता है। दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से दूतो की मुक्ति प्राय कोई जटिल समस्याय नहीं उत्पन्न करती। दूत ऐसी दशा मे स्वयमेव स्थानीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार मान लेता है। यदि वह ऐसा नही करता तो स्थानीय अधिकारी विदेश न्यायालय के कूटनीतिक पत्रव्यवहार द्वारा उसके देश से दूत पर कर्ज अदा करने के लिए दबाव डलवाते है। प्राय विदेश मन्त्रालय के दबाव से मामला सुलझ जाता है। यदि ऐसा न हो तो दूत के वापिस बुलाने की माँग की जाती है। दूतों को यह उन्मुक्ति केवल इसलिए दी गई है कि वे अपना काय अच्छी तरह कर सकें। इसका यह उद्देश्य नही कि 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' की नीति के अनुसार वे खूब ऋण लेते चले जायें और इसे अदा न करे। स० रा० सघ के विशेषाधिकार उन्मुक्ति समझौते मे यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह उन्मुक्ति देने का उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थ की सिद्धि नही, किन्तु स० रा० सघ के कार्य को आगे बढ़ाना है।

१९६१ के वियना अभिसमय (Vienna Convention) ने राजदूतों के दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति के सम्बन्ध मे तीन अपवाद माने हैं (१ अनुच्छेद, ३१)—
(१) वैयक्तिक अचल सम्पत्तिविषयक मामले (Real actions relating to

इस प्रकार के मामलों में, बशर्ते कि यह सम्पत्ति दूत भेजने वाले राज्य की ओर से इस
immovable property), बशर्ते कि यह सम्पत्ति दूत भेजने वाले राज्य की ओर से इस
दूत-मडल का कोई प्रयोजन पूरा करने के लिए न रखी गयी हो। यदि यही अचल सम्पत्ति
इस दूतमडल का कोई प्रयोजन पूरा करने के लिये आवश्यक है तो इसके सम्बन्ध मे इसके
विरुद्ध कोई कार्यवाही नही की जा सकती। (२) किसी ऐसी सम्पत्ति के उत्तराधिकार
(Succession) के मामले, जिसमे दूत का सम्बन्ध उसकी वैयक्तिक हैसियत से हो।
(३) ऐसे मामले जिनमे राजदूत ने अपने सरकारी कार्यों से अतिरिक्त कोई व्यापारिक
या व्यावसायिक (Professional) कार्य किया हो। इन अपवादो की व्यवस्था करते
हुए स्पष्ट रूप से यह बात कही गई है कि इन मामलो म यदि कोई पार्टी राजदूत के
विरुद्ध कोई आज्ञा प्राप्त कर लेता है तो उसका पालन करते हुए राजदूत के शरीर की
तथा उसके निवासस्थान की अनतिक्रम्यता (Inviolability) को किसी प्रकार भग
नही किया जा सकेगा।

(५) गवाही देने के कार्य से मुक्ति (Exemption from Subpoena as
Witness)—किसी स्थानीय दीवानी, फौजदारी या प्रशासनिक न्यायालय मे साक्षी देने
के लिए दूत को बाधित नही किया जा सकता। यदि कोई स्थानीय अधिकारी किसी
विषय मे उसकी साक्षी लेने के लिए दूतावास म जाय तो भी दूत को पूरी स्वतन्त्रता
है कि वह साक्षी दे या न दे। किन्तु यदि वह स्वयमेव साक्षी बनना स्वीकार कर लेता
है तो उसका लाभ उठाया जा सकता है। १८८१ मे अमरीकन राष्ट्रपति गारफील्ड की
हत्या के समय वेनेजुएला का राजदूत श्री कोमान्चो उपस्थित था वह अपनी सरकार
मे आज्ञा लेकर इस मामले म दृष्टसाक्षी बना। १८५६ म वाशिगटन मे हालैण्ड के
राजदूत मो० डुबोइस ने नरहत्या (Homicide) का एक मामला देखा। इस मामले
को अदालत म चलाने के लिए डुबोइस की साक्षी आवश्यक थी अमरीकन सरकार ने
उससे गवाही देने की प्रार्थना की। डुबोइस द्वारा इसे स्वीकार न करने पर वाशिगटन ने
उच सरकार से यह निवेदन किया और उसने डुबोइस को अपनी गवाही अदालत के
स्थान पर स० रा० अमरीका के विदेशमत्री को देने को कहा। कानूनी दृष्टिकोण से इसका
कोई महत्व न होने के कारण यह साक्षी नही ली गयी।

(६) करो से मुक्ति (Exemption from Taxes)—दूत पर स्थानीय
सरकार आयकर तथा अन्य प्रत्यक्ष कर नही लगा सकती। उसे नगरपालिका के मकान,
बिजली, सफाई आदि के टैक्स देने चाहिए, किन्तु अनेक देशो म सौजन्यवश ये कर नही
लिये जाते। उससे किसी कानूनी प्रक्रिया द्वारा ये कर वसूल नही किये जा सकते।
राजदूत के उपयोग मे आने वाली वस्तुओ पर चुगी और तटकर नही लिया जाता।
कई बार राजदूतो ने इस सुविधा का दुरुपयोग भी किया है। डेनमार्क मे स्थित एक
फ्रैंच राजदूत ने कोपनहेगन म पेरिस की वस्तुओ की दुकान खोली, जिससे अन्य दुकान
दारो को बडा घाटा उठाना पडा। रूस के एक फ्रैंच राजदूत ने रेशम बेचने का काम
शुरू किया था। भारत म उरुगुए के दूतावास के एक कर्मचारी नाडल ने सिंगापुर के
एक व्यापारी तथा दूतावास की भारतीय लडकी उषा अडवानी के साथ मिलकर
कीमती घडियो को चोरी से भारत मे लाने का कार्य किया।

वियना अभिसमय (Vienna Convention) के अनुच्छेद ३४ मे दूतो का करो से मुक्ति का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और इसके साथ ही ऐसे करो की सूची भी दी गई है जिनपर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। इस प्रकार के अपवाद परोक्ष करो (Indirect taxes) या बिक्री कर (Purchase tax) के है, जो प्राय वस्तुओ के मूल्य म सम्मिलित कर लिये जाते है। इनमे ऐसे टैक्स भी है, जो विशुद्ध रूप से वैयक्तिक अचल सम्पत्ति पर या वैयक्तिक आय पर लगाये जाते है। इस अभिसमय ने राजदूत के अथवा उसके परिवार के सदस्यो के वैयक्तिक उपयोग के लिये मगाई गई वस्तुओ को सीमाशुल्क या चुगी (Custom duty) से मुक्त माना है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का यह विचार था कि यह छूट पहले अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Law) द्वारा नही, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity) के कारण दी जाती थी, किन्तु इस समय यह प्रथा इतनी सामान्य हो गई है कि इसे कानून के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिये। वियना सम्मेलन ने इसे कानून के रूप मे ही माना है।

(७) **उपासना का अधिकार** (Right to worship) —प्रत्येक राजदूत को अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार पूजा और उपासना करने की स्वतन्त्रता है। यह सम्भव है कि उसका धर्म स्थानीय धर्म से भिन्न और विरोधी हो। वह अपनी उपासना के लिये मन्दिर मस्जिद या गिर्जाघर का अपने दूतावास मे निर्माण कर सकता है।

(८) **पत्रव्यवहार की स्वतन्त्रता** (Freedom of Communication) — दूत को अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिये अपनी सरकार के साथ पत्र-व्यवहार की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये, अत उसके पत्रो, तारो, सदेशो कूटनीतिक थैलो (Diplomatic bags) का स्थानीय सरकार निरीक्षण नही कर सकती।

(९) **सीमित क्षेत्राधिकार** (Limited Jurisdiction) —राजदूत को अपने दूतावास की सीमा मे रहने वाले व्यक्तियो पर सीमित क्षेत्राधिकार होता है, उसे अपने अनुचर वर्ग पर नियन्त्रण रखने तथा अपराध करने वाले किसी व्यक्ति पर मुकदमा चलाने के लिये स्वदेश भेजने का अधिकार है। किन्तु वह अपने दूतावास के अपराधी व्यक्तियो के मामलो पर विचार करने और उन्हे दण्ड देने का अधिकार नही रखता।

दूत के अनुयायीवर्ग के विशेषाधिकार (Privileges of Envoys) —दूतो को प्राप्त होन वाले उपर्युक्त विशेषाधिकार उनके अनुयायीवर्ग को भी कुछ अशो मे प्राप्त होते हैं। उनके अनुयायीवर्ग मे निम्न प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित है—(क) दूतावास मे काम करने वाले कर्मचारी —परामर्शदाता, सचिव, सहचारी (Attache), दुभाषिये, डाक्टर, पुरोहित। (ख) दूत की वैयक्तिक सेवा म लगे व्यक्ति, जैसे उनका निजी सचिव, उसके बच्चो की शिक्षिका। (ग) उसके परिवार के सदस्य पत्नी, बच्चे। (घ) दूत के नौकर और सेवक। पहले तथा दूसरे वर्ग को दूतो की भाति अनतिक्रम्यता (Inviolability), राज्यक्षेत्रबाह्यता (Exterritoriality), दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति क अधिकार होते है। राजदूत दीवानी मामलो मे आवश्यकता पडने पर इनको विशेषाधिकार से वचित कर सकता है। तीसरे वर्ग मे

इसकी पत्नी को या पत्नी दूत हो तो उसके पति को सब विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। बच्चों और सम्बन्धियों को दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों से मुक्ति प्राप्त होती है। १६०६ में बेल्जियम में चिली के राजदूत के बेटे वैडिंगटन ने इसी दूतावास के सचिव की हत्या कर दी। बेल्जियम की सरकार ने पहले इस मामले में कोई कार्यवाही नहीं की। चिली के राजदूत ने अपने आप बेटे का विशेषाधिकार हटा लिया और चिली की सरकार ने इस पर बेल्जियम में मुकद्दमा चलाना स्वीकार कर लिया। घरेलू नौकरों और सेवकों के सम्बन्ध में इंगलैंड के १७०८ के कानून में यह व्यवस्था की गई है कि ये लोग व्यापार न करें तो दीवानी कार्यवाही के क्षेत्राधिकार से मुक्त होते हैं, किन्तु फौजदारी क्षेत्राधिकार से मुक्त नहीं होते। दूतों को अपने अनुयायीवर्ग की पूरी सूची विदेश मन्त्रालय को देनी पड़ती है और ब्रिटिश न्यायालय किसी व्यक्ति का राजनयिक विशेषाधिकार तब तक स्वीकार नहीं करेंगे, जब तक उन्हें विदेश मन्त्रालय से इसकी सूचना न मिल जाय। राजदूतों के संदेशवाहक (Couriers) दीवानी व फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त होते हैं, उन्हें विशेष पासपोर्ट दिये जाते हैं, उन्हें अन्य राज्यों में निर्दोष यात्रा (Innocent Passage) का अधिकार होता है, उनके कूटनीतिक पत्रों वाले मुहरबन्द थैलों की तलाशी नहीं ली जा सकती।

उन्मुक्तियों का प्रारम्भ और समाप्ति (Commencement and discontinuance of Immunities)—दूतों के ये विशेषाधिकार उस देश में पहुँचने ही शुरू हो जाते हैं, जिसमें उन्हें नियुक्त किया गया है। किन्तु इनकी समाप्ति उनके दौत्य की अवधि की समाप्ति के साथ नहीं होती। ये विशेषाधिकार उस समय तक बने रहते हैं, जब तक कि वे अपना कार्य न समेट लें और वापिस स्वदेश न लौट आयें। दूतों को नियुक्त होने पर आते हुए तथा अपनी अवधि की समाप्ति पर स्वदेश लौटते हुए अन्य देशों में निर्दोष यात्रा (Innocent Passage) का अधिकार है। 'स० रा० संघ के चार्टर के अनुच्छेद १०५ के अनुसार संघ के सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों तथा संघ के अधिकारियों को अपना कार्य करने के लिए दूतों की भांति विशेषाधिकार देने की व्यवस्था की गई है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में राजदूतों को अपना कार्य छोड़ने के बाद बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं। इस ध्यान में रखते हुए वियना सम्मेलन के यह व्यवस्था स्पष्ट रूप में की है कि दूतों को देश छोड़ने का तथा अपनी उन्मुक्तियों को तब तक उपयोग करने का अधिकार है जब तक उन्हें इसकी अनुमति दी जाय (अनुच्छेद ३६)। उनकी ये उन्मुक्तियाँ सशस्त्र संघर्ष या युद्ध में भी इसी प्रकार बनी रहेंगी (अनुच्छेद ३६ व ४४)। अपनी विशेषाधिकारपूर्ण स्थिति समाप्त हो जाने पर भी दूतों को उन सभी कार्यों के सम्बन्ध में उन्मुक्ति प्राप्त रहती है, जो कार्य उन्होंने दूतमण्डल का सदस्य रहते हुए किये थे। किन्तु यदि इस अवधि में उन्होंने विरुद्ध रूप से वैयक्तिक कार्यों -पूँजी के विनियोग, विवाह आदि के नियमों का भंग राजदूत रहते हुए किया हो तो उनके विरुद्ध इस विषय में कार्यवाही की जा सकती है।

कई बार राजदूतों को अपना कार्य समाप्त होने पर अन्य अथवा तृतीय रा

(Third States) में से होते हुए स्वदेश लौटना पड़ता है। तृतीय राज्य प्रायः राजदूतों को अपने देश में से गुजरते हुए सब सुविधायें तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान करते हैं। किन्तु सामान्यतः यह माना जाता था कि यह कार्य सौजन्यवश (Comity) किया जाता है, तृतीय राज्य विदेशी दूतों को अपने प्रदेश में से गुजरते हुए विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ देने के लिए बाधित नहीं किये जा सकते। **वियना अभिसमय** (Vienna Convention) ने यद्यपि यह तो नहीं कहा कि तृतीय राज्य ऐसा करने के लिये बाध्य है, किन्तु इस विषय में यह नया नियम बनाया है कि यदि कोई विदेशी राजदूत अपने पद पर नियुक्ति के बाद या पद से मुक्ति के अनन्तर उसके प्रदेश में से होकर गुजरता है तो तृतीय राज्य को उसे तथा उसके परिवार के सदस्यों को सब सुविधायें और उन्मुक्तियाँ देनी चाहिए तथा इनके राजनयिक पत्रव्यवहार तथा राजनयिक संदेश ले जाने वालों को वही स्वतन्त्रता, संरक्षण तथा अनतिक्रम्यता देनी चाहिये, जो वे अपने देश में आये दूतों को प्रदान करते हैं। वैल्डाक (Waldock) ने लिखा है कि ये व्यवस्थायें राजनयिक सम्बन्धों के कानून में महत्वपूर्ण नये नियम हैं।[15]

दौत्यकार्य की समाप्ति के कारण (Grounds for the termination of Diplomatic mission)—किसी दूत के कार्य की समाप्ति अनेक कारणों से हो सकती है। पहला कारण दूतमंडल भेजने का प्रयोजन पूरा हो जाना है। कई बार दूत किसी राजकीय विवाह, राज्यारोहण आदि में सम्मिलित होने के लिये या किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिये भेजे जाते हैं। इनकी समाप्ति पर इनके कार्य का अन्त हो जाता है। **दूसरा** कारण राजदूत के प्रत्ययपत्र (Letter of Credence) में दी गई उसके दौत्य कर्म की अवधि का समाप्त होना है। **तीसरा** कारण राजदूत को भेजने वाले राज्य द्वारा वापिस बुला लेना है। यह उसके त्यागपत्र देने, उसकी पदोन्नति होने से अथवा दूत भेजने और ग्रहण करने वाले देशों में किन्हीं कारणों से मतभेद,

---

१५. स्टार्क—दी लॉ ऑफ् नेशन्स, षष्ठ संस्करण, पृ० २६४

यह नियम बनाने तथा राजदूतों को तृतीय राज्यों में से निर्दोष गमन (Innocent passege) का अधिकार देने की व्यवस्था इसलिए करनी पड़ी है कि पहले राज्य कई बार युद्ध के समय इसका उल्लंघन किया करते थे। उदाहरणार्थ, ६ नवम्बर १९१६ को आस्ट्रिया हंगरी ने यह घोषणा की कि कौण्ट टार्नोव्स्की (Tarnowski) स० रा० अमरीका में राजदूत बनाया गया है, कौण्ट को अमरीका जाने के लिये रॉटरडम के डच बन्दरगाह से जहाज पर बैठना था। किन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिये उसे सुरक्षित यात्रा (Safe Conduct) का अभय वचन देना ब्रिटिश एवं फ्रेंच सरकार ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि उनका यह कहना था कि तटस्थ देशों में आस्ट्रिया-हंगरी के दूतावास अपने राजनयिक कार्यों से अतिरिक्त (जासूसी आदि) के कामों में लगे रहते हैं। उस समय स० रा० अमरीका ने इन दोनों राज्यों के इस कार्य का प्रबल विरोध करते हुए कहा कि राजदूतों का आदान-प्रदान करना प्रभुसत्तासम्पन्न राज्यों का ऐसा अधिकार है, जो उनसे कभी नहीं छीना जा सकता, युद्धकाल में भी इसका अपहरण नहीं हो सकता। इस पर फ्रेंच तथा ब्रिटिश सरकारों को आस्ट्रियन दूत को अपने प्रदेश में से होकर सुरक्षित रूप से जाने का आश्वासन देना पड़ा (स्वर्लियन—पृ० २०१)

मनोमालिन्य और तनाव की वृद्धि होने से होता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने वहाँ बसे हुए भारतीयों के साथ जातीय भेदभाव और पक्षपात की नीति के कारण बड़ा दुर्व्यवहार किया, भारत सरकार ने इसके विरुद्ध प्रतिवाद प्रकट करने के लिये १९४६ में वहां से अपना हाई कमिश्नर वापिस बुला लिया और उसका कार्य एक छोटे पदाधिकारी को सौंपा। किन्तु दक्षिण अफ्रीका की नीति में कोई परिवर्तन न होने तथा इसके अधिक उग्र होने पर जुलाई १९५४ में भारत सरकार द्वारा वहाँ का हाई कमिश्नर का कार्यालय भी बन्द कर दिया गया। गोआ के प्रश्न पर पुर्तगाली सरकार द्वारा समझौते की बात चलाना बन्द करने पर भारत सरकार ने जुलाई १९५३ में लिस्बन से अपना राजदूत वापिस बुला लिया। चौथा कारण राजदूत की मृत्यु तथा पांचवां कारण दोनों राज्यों में से किसी एक के शासनाध्यक्ष का परिवर्तन है। आपेनहाइम ने लिखा है कि स० रा० अमरीका में चुनाव अथवा मृत्यु द्वारा राष्ट्रपति का परिवर्तन होने पर वहाँ के राजदूतों के पुराने प्रत्ययपत्र समाप्त हो जाते हैं और नये प्रत्ययपत्र जारी किये जाते हैं। स्विटजरलैंड में बहुमुखी कार्यपालिका (Plural Executive) की व्यवस्था होने के कारण राज्य के अध्यक्ष की मृत्यु हो जाने पर प्रत्ययपत्र बदलने की आवश्यकता नहीं होती। छठा कारण दोनों देशों में युद्ध छिड़ जाना है इस दशा में दोनों देश अपने दूत वापिस बुला लेते हैं। सातवाँ कारण किसी राज्य का अन्य राज्य में विलय (Merger) तथा आठवां कारण दूत ग्रहण करने वाले राज्य द्वारा गम्भीर अपराध की दशा में उसे बर्खास्त करना है जैसे इङ्गलैंड ने मेंदोजा और दबास को किया था (देखिये पृ० ३४०)।

✓ नवाँ कारण दूत स्वीकार करने वाले देश (Accrediting State) द्वारा किसी विशेष कारण से इस दूत को इसे भेजने वाले देश से वापिस बुलाने की माँग करना है। यह तभी होता है जब दूत के किसी आपत्तिजनक व्यवहार से राज्य उसका अपने यहाँ रहना वाञ्छनीय नहीं समझता वह दूत भेजने वाले राज्य को उसे वापिस बुला लेने के कारणों का स्पष्टीकरण करता है और उसे वापिस बुलाने का अनुरोध करता है। यह सम्भव है कि दूत भेजने वाले राज्य को ये कारण उपयुक्त या पर्याप्त न प्रतीत हों। इस अवस्था में भी उस राज्य को दूत वापिस बुलाना ही पड़ता है भले ही वह इस विषय पर अपना असन्तोष तथा राजदूत नियुक्त न करके प्रकट करे और दूतावास में निम्न पद रखने वाले व्यक्तियों से ही अपना काम चलावे। कुछ उदाहरणों से यह स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

(क) १८०४ ई० में स० रा० अमरीका में स्थित स्पेनिश राजदूत पर यह आरोप लगाया गया कि वह दो देशों के एक विवाद में स्पेन का पक्ष लेने के लिये एक समाचार-पत्र को घूस दे रहा है।

(ख) १८०९ में स० रा० अमरीका ने वाशिंगटन में ब्रिटिश दूत जैक्सन की वापिसी की माँग की क्योंकि उसने एक भोज में कुछ आपत्तिजनक बातें कही थी। इस पर उसे वापिस बुला लिया गया।

(ग) १९५२ में सोवियत रूस ने स० रा० अमरीका से उसके राजदूत का

केनन (George Kennan) को वापिस बुलाने की माँग की क्योंकि उसने बर्लिन में पत्र-सम्वाददाताओं को कुछ ऐसे वक्तव्य दिये थे, जो रूसी सरकार को अपने प्रतिकूल प्रतीत हुए। स० रा० अमरीका ने रूस द्वारा अपने दूत की वापिसी के कारणों को पर्याप्त नहीं समझा। अतः यह निश्चय किया गया कि केनन वापिस आ जाये, किन्तु उसके स्थान पर अभी कोई नया दूत न भेजा जाय, दूतावास का परामर्शदाता ही उसका कार्य करता रहे।

(घ) अक्तूबर १६२४ में सोवियत रूस की गुप्तपुलिस ने अमरीकी दूतावास की कुछ स्त्रियों को मास्को में गुण्डागर्दी के लिए पकड़ा। जब अमरीका ने इसका प्रबल विरोध किया तो रूस ने यह माँग की कि अमरीकी दूतावास के सहचारी (Attache) की पत्नी मिसेज सोमरलेट (Somerlatte) को वापिस बुला लिया जाय। सोवियत रूस द्वारा किसी पत्नी को वापिस बुलाने की माँग बड़ी अनोखी घटना थी।

(ङ) २७ जून १६६३ को सोवियत रूस ने पेकिङ की सरकार से मास्को के चीनी दूतावास के तीन कर्मचारियों को वापिस बुलाने की माँग की क्योंकि उन्होंने चीनी साम्यवादी दल का सोवियत रूस की नीति की प्रबल आलोचना करने वाला १४ जून का वह पत्र रूस में वितरित किया था, जिसके प्रकाशन पर रूसी सरकार ने प्रतिबन्ध लगा रखा था। ३० जून १६६३ को ये सब चीनी स्वदेश वापिस लौट गये।[16]

स० रा० अमरीका के इतिहास में दूतों के वापिस बुलाने (Recall) के कई मनोरंजक उदाहरण हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध नागरिक जैने (Citizen Genet) का है। १७६२ ई० में फ्रेंच सरकार ने इसे स० रा० अमरीका में अपना दूत बनाया। अप्रैल १७६३ में यह अमरीका में चार्ल्स टाउन पहुँचा तथा राष्ट्रपति वाशिंगटन को अपने प्रत्ययपत्र देने के लिये फिलाडेल्फिया जाने के स्थान पर इसने ब्रिटिश जहाजों को लूटने के लिए निजी युद्धपोतों (Privateers) को सन्नद्ध करना आरम्भ किया। यह कार्य अमरीका की तटस्थता के सर्वथा प्रतिकूल था। इसके अतिरिक्त उसने इन निजी युद्धपोतों द्वारा पकड़े गये ब्रिटिश जहाजों की जब्ती के लिये फ्रेंच वाणिज्य दूतावास की ओर से अभिग्रहण न्यायालय स्थापित किये। जब उसे इन अवैध कार्यों को बन्द करने के लिये कहा गया तो उसने राष्ट्रपति वाशिंगटन की सम्मतियों के प्रति अवज्ञा प्रकट करते हुए राष्ट्रपति की सत्ता एवं अधिकार में सन्देह प्रकट किया। इस पर स० रा० अमरीका ने फ्रांस से इस दूत को वापिस बुलाने की माँग की। दूसरा उदाहरण १८४६ में पेरु की राजधानी लीमा से अमरीकी कार्यदूत (Charge d'Affaires) जेवट (Jewett) को वापिस बुलाने का है। पेरु के विदेशमन्त्री सौल्डन ने इसे एक ऐसे सरकारी पत्र (Peruano) के प्रदेश की प्रतिलिपि भेजी, जिसका उद्देश्य पेरु में विदेशी व्यक्तियों के अपने नागरिकों की ओर से हस्तक्षेप को रोकना था। इस विषय में जब सौल्डन और जेवट में पत्रव्यवहार चला तो इस जेवट ने इसे 'कानूनी तथा नैतिक विकृतियों का सम्मिश्रण' कहा। इस पर बात यहाँ तक बढ़ी कि पेरु ने इस कार्यदूत को वापिस बुलाने

16. कीसिंग्स कण्टेम्पररी आर्काइव्ज, १६६३, पृ० १६४६६

की माँग की। तत्कालीन विदेशमन्त्री जेम्स बुकानन ने इसी प्रसग मे दूतो की वापिसी के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा कि यदि दूत उसे ग्रहण करने वाले देश मे अपने को अस्वीकरणीय बना लेता है तो उसे वापिस बुलाने की माँग स्वीकार कर लेनी चाहिये, यदि ऐसा न किया जाय तो विदेश मे भेजने का मुख्य प्रयोजन—मित्रतापूर्ण सबधो की वृद्धि—सर्वथा विफल हो जायगी।[17]

दसवाँ कारण जासूसी के कारण वापिसी की माँग (Recall due to espionage) है। कई बार दूतावास के कर्मचारी अपनी स्वतन्त्रता और उन्मुक्तियो का दुरुपयोग करते हुए गुप्तचर का काम करते हैं और गोपनीय सैनिक सूचनायें अपने देश को भेजते हैं। इस दशा मे इनको वापिस बुलाने की माँग करना स्वाभाविक है। ३ सितम्बर १९६३ को दिल्ली की पुलिस ने एक होटल मे पाकिस्तान हाई कमीशन के तीन व्यक्तियो को एक भारतीय पाइलट आफिसर से गुप्त सूचनाये प्राप्त करते हुए रगे हाथ पकडा इसमे पाकिस्तान के हवाई परामर्शदाता विंग कमाण्डर अरशाद भी सम्मिलित थे। भारत सरकार ने इन सब व्यक्तियो की वापिसी की माग की। इस पर इसका बदला लेने के लिए पाकिस्तान ने कराची स्थित भारतीय दूतावास के तीन कर्मचारियो पर जासूसी का आरोप लगाया और उन्हे वापिस बुलाने की माँग की।[18] (८ सितम्बर १९६३)।

ग्यारहवाँ कारण राजनीतिक मतभेदो की उग्रता के कारण दूतसम्बन्ध का भग होना है। क्यूबा मे कास्ट्रो (Castro) की साम्यवादी सरकार स्थापित होने पर उसका स० रा० अमरीका से प्रबल विरोध उत्पन्न हुआ। २ जनवरी १९६१ को कास्ट्रो ने अपने एक भाषण मे कहा" कि क्यूबा की राजधानी हवाना मे स० रा० अमरीका का दूतावास क्रान्तिविरोधियो के कार्यो का अड्डा बना हुआ है इसके ३०० कर्मचारियो मे से ८० प्रतिशत गुप्तचर का काम कर रहे हैं, ये सरकार के विरोधियो की सहायता कर रहे है अत इनकी सख्या घटाकर केवल ११ कर दी जाय शेष कर्मचारी ४८ घटे मे वापिस बुला लिये जाए।" अमरीकी सरकार ने कहा कि इतने कम कर्मचारियो से काम चलना सम्भव नही है इस दशा म वहाँ दूतावास रखने का कोई लाभ नही है। अत स० रा० अमरीका ने क्यूबा से दूतसम्बन्ध भग कर दिये। क्यूबा के साम्यवादी होने के कारण दक्षिण अमरीका के अर्जण्टायना इक्वेडोर आदि १५ देशो ने क्यूबा मे राजनयिक सम्बन्ध तोड लिये।[19] डोमिनिकन गणराज्य ने वेनेजुएला के राष्ट्रपति की हत्या के प्रयास (२४ जून, १९६०) मे सहयोग दिया था, अत अमरीकी राज्यो के सगठन (Organization of American States) की २१ राज्यो के विदेशी मत्रियो की बैठक (१९–२८ अगस्त १९६०) ने यह निश्चय किया कि अमरीका महाद्वीप के राज्य इसके अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड दे तथा इसका आर्थिक बहिष्कार करें। इस पर सभी

---

१७ गर्हनियन—इण्ट्रोडक्शन टू दी लॉ आफ् नेशन्स, पृ० २५४
१८ हिन्दुस्तान टाइम्स, १० सितम्बर, १९६३
१९ कीसिंग्स आर्काइव्स, १९६१, पृ० १७६१०
२०. कीसिंग्स आर्काइव्स, १९६१, पृ० १८७१७

अमरीकी राज्यो ने इससे दूतसम्बन्ध भग कर लिये।[21] २६ सितम्बर १९६३ को मलायेशिया सघ का निर्माण हुआ। फिलिप्पाइन और इडोनीशिया इसके प्रबल विरोधी थे, उन्होंने इसके स्थापित होते ही इससे अपना दूतसम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया, १७ सितम्बर को मलायेशिया ने भी इन देशो से अपने दूत वापिस बुला लिये।

वाणिज्यदूत (Consuls)—दूसरे राज्यो मे अपने व्यापार और वाणिज्य के हितो की सुरक्षा के लिये नियत किये गये प्रतिनिधि वाणिज्यदूत कहलाते है। इनका प्रादुर्भाव मध्ययुगीन योरोप के स्पेन, फास और इटली के व्यापारिक नगरो मे हुआ। आरम्भ मे विदेश मे रहने वाले व्यापारियो द्वारा अपने वाणिज्य सम्बन्धी विवादो के निपटाने के लिए चुने गये पच जज कासुल (Judges Consul) या कासुल व्यापारी (Consul Merchants) कहलाते थे। १५वी शताब्दी म हालैण्ड और लण्डन मे इटालियन कासुल थे तथा इटली, हालैण्ड, डेन्मार्क, नार्वे और स्वीडन मे ब्रिटिश कासुल थे। इसके बाद इस प्रथा मे ह्रास होने लगा। किन्तु १९वी शताब्दी म पुन इसकी महत्ता का अनुभव किया गया और इस समय शायद ही कोई ऐसा देश हो जो अन्य देशो मे अपने वाणिज्यदूत न नियत करता हो। भारत के वाणिज्यदूत योरोप अमरीका, अफीका और एशिया के व्यापारिक महत्व रखने वाले सभी राज्यो मे है।

वाणिज्यदूत विदेश मे अपने राज्य के प्रतिनिधि होते हुए भी कूटनीतिक प्रतिनिधि (Diplomatic Agents) नही है। इनका प्रधान कार्य अपने देश के व्यापारिक हितो का सरक्षण है, किन्तु इसके साथ ये अपने देश के प्रजाजनों के लिये कुछ अन्य कार्य भी करते है, ये इनके विविध प्रकार के कानूनी लेखों, साक्षियों और पत्रो को प्रमाणित करने वाले सार्वजनिक लेख्यप्रमाता (Public Notary) का काम करते हैं, इन्हे पासपोर्ट देते हैं, इनके विवाह सम्पन्न कराते हैं और उस देश के बन्दरगाहो म आने वाले स्वदेशीय जहाजो के नाविक वर्ग पर पूरा अनुशासन, नियन्त्रण और निरीक्षण रखते है।

विदेश म कासुल का राजदूत से एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि राजदूत केवल एक व्यक्ति होता है, किन्तु कासुल व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार एक से अधिक सख्या मे होते है। प्राय सभी महत्वपूर्ण व्यापारिक नगरो और बन्दरगाहो म एक वाणिज्यदूत अवश्य होता है। इसके मुख्य वर्ग ये है—महावाणिज्यदूत (Consul General), वाणिज्यदूत (Council), सहायक वाणिज्यदूत (Vice Consul) वाणिज्य प्रतिनिधि (Consular Agent)। उदाहरणार्थ, भारत सरकार ने विदेशो म पॉच प्रकार के वाणिज्यदूत नियत किए हुए है—(क) बेल्जियन कागो कोपनहेगन दमिश्क आदि मे महावाणिज्यदूत (Consul General) हैं, (ख) अदन, पूर्वी अफ्रीका, फिजी आदि मे आयुक्त (Commissioner) है। (ग) बसरा, बर्लिन, कोबे म वाणिज्यदूत (Consul) हैं। (घ) एण्टवर्प, जलालाबाद, कन्धार मे सहायक वाणिज्यदूत (Vice-Consul) हैं। (ड) पहले तिब्बत के तीन नगरो ग्यातसे, गरतोक और यातुग मे एजेन्सियाँ थी। किन्तु १९४९ म तिब्बत मे चीनी प्रभुत्व सुदृढ होने के बाद इनका महत्व समाप्त हो गया है।

---

२१. वही, पृ० १७६६१

वाणिज्यदूतो की नियुक्ति दूतो की भाँति प्रत्ययपत्र (Letter of Credence) के द्वारा नही होती, किन्तु ये अपनी सरकार के आदेश से नियुक्त किये जाते है। यह सरकार इनकी नियुक्ति की सूचना उस देश की सरकार को भेजती है, जहाँ इन्हे नियत किया जाना होता है। वहाँ की सरकार मे यह प्रार्थना की जाती है कि वह उन्हे अपने देश मे वाणिज्यदूत का कर्तव्य पूरा करने की अनुमति देने के लिए आवश्यक पत्र जारी करे। यह **अनुमतिपत्र** Exequatur कहलाता है। यदि सरकार को इस नियुक्ति पर कोई आपत्ति नही होती तो वह यह अनुमतिपत्र प्रकाशित कर देती है। यदि वाणिज्य-दूत स्थानीय नियमो का कोई उल्लघन करता है तो सरकार इस अनुमतिपत्र (Exequatur) को वापिस ले लेती है।

वाणिज्यदूतो को उस देश की सरकार से, जहाँ उनकी नियुक्ति हुई हो, सीधा पत्र व्यवहार करने का अधिकार नहीं होता। राजदूतों के अभाव मे ही उन्हे यही अधिकार दिया जाता है। इनके विशेषाधिकार भी दूतो से कम होते हैं, ये स्थानीय सरकार के क्षेत्राधिकार से पूर्ण रूप से मुक्त नही होते। हालैण्ड (Holland) के कथनानुसार इन्हे राज्यक्षेत्रबाह्यता (Exterritoriality) तथा अनतिक्रम्यता (Inviolability) के विशेषाधिकार नहीं होते।[12] ओपेनहाइम (Oppenheim) ने लिखा है कि अपना सरकारी कार्य करते हुए ही इन्हे स्थानीय दीवानी तथा फौजदारी अदालतों के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति प्राप्त होती है।[13] आजकल विभिन्न राज्य द्विपक्षीय सधियो द्वारा वाणिज्यदूतों के विशेषाधिकारों का निर्धारण करने लगे हैं। सामान्य रूप से इन्हे अपना कर्तव्यपालन करने के लिए आवश्यक समझे जाने वाले अधिकार ही दिये जाते है। उदाहरणार्थ, इनसे जूरी का काम नहीं लिया जाता, इन्हे सुरक्षित यात्रा (Safe Conduct) का अधिकार होता है इनके सरकारी कागजो तथा पत्र-व्यवहार का निरीक्षण और तलाशी नही हो सकती, किसी अपराध का आरोप लगाए जाने पर इन्हे उस समय तक जमानत पर छूटने का अधिकार होता है जब तक कि इनका अनुमतिपत्र (Exequatur) वापिस न ले लिया जाय। कुछ राज्यो मे वाणिज्यदूतो को करो तथा सीमा शुल्क (Custom duties) मे भी आंशिक मुक्ति प्रदान की जाती है। सामान्यत वाणिज्यदूतो के विशेषाधिकार दूतों के अधिकारो की अपेक्षा बहुत कम हैं और इनका स्वरूप उतना सुनिश्चित नही हुआ है। स्टार्क ने लिखा है कि राज्यो की वर्तमान प्रवृत्ति राजदूतों तथा वाणिज्यदूतों की सेवाये सम्मिलित और सयुक्त करने की है। अनेक राज्यो मे एक ही व्यक्ति को दोनो कार्य सौंपे जाते हैं। यदि यह प्रवृत्ति बढी तो दूतो तथा

---

१२ वाणिज्य दूतावास (Consulates) दूतावास (Embassies) की भाति पुलिस तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा अप्रवेश्य नहीं समझे जाते। १९४८ में कासेनकिना के मामले में स० रा० अमरीका में सोवियत वाणिज्य दूतावास की ऊपरली मजिल की खिड़की से एक रूसी स्त्री नीचे सड़क पर कूदी थी। उस समय स० रा० अमरीका ने इस मामले की जाँच के लिए अपनी पुलिस वाणिज्य दूतावास में भेजी थी।

१३. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० १, पृ०

वाणिज्यदूतो के विशेषाधिकारो का अन्तर भविष्य मे कम हो जायगा।[२४]

वाणिज्यदूतविषयक सम्बन्धो का १९६३ का वियना अभिसमय (Vienna Convention on Consular Relations, March 1963)—स० रा० सघ की जनरल असेम्बली ने १८ दिसम्बर, १९६१ को एक प्रस्ताव (स० १६८५) पास कर वाणिज्यदूतो के सम्बन्धो के विषय मे एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया था। इसके अनुसार आस्ट्रिया की राजधानी वियना मे ४ मार्च से २३ अप्रैल १९६३ तक एक ऐसा सम्मेलन हुआ, इसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा इस विषय मे तैयार किये गये नियमों पर विचार-विमर्श करके एक समझौता तैयार किया।[२५] इसे तैयार करने वाली समिति (Drafting Committee) के अध्यक्ष भारत के प्रतिनिधि श्री के० कृष्णराव थे। इस अभिसमय की महत्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं।

इसमे वाणिज्य दूतावासो के अध्यक्षो की चार श्रेणियाँ मानी गई हैं—(क) महावाणिज्यदूत (Consul General), (ख) वाणिज्यदूत (Consuls), (ग) उप-वाणिज्यदूत (Vice-Consuls), (घ) वाणिज्यिक अभिकर्त्ता (Cousular Agents)। किन्तु राज्यो को यह अधिकार है कि वे इनसे अधिक एव विभिन्न प्रकारो के वाणिज्य-दूत भी नियुक्त कर सकते हैं (अनुच्छेद ९)। इसके अनुच्छेद (Article) ३१ मे वाणिज्य दूतावास की इमारतो की अनतिक्रम्यता (Inviolability of the Consular permises) का, अनुच्छेद ३२ मे इनकी करो से मुक्ति का तथा अनुच्छेद ३३, ३४, ३५ मे वाणिज्य दूतावास सम्बन्धी अभिलेखो तथा दस्तावेजो की अनतिक्रम्यता (Inviolability of the Consular Archives and Documents), घूमने-फिरने तथा यात्रा की स्वतन्त्रता तथा पत्र-व्यवहार करने की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त स्वीकार किये गये हैं। इस विषय मे वियना सम्मेलन ने वाणिज्यदूतो को राजदूतो जैसे विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्रदान की हैं। अनुच्छेद ४१ मे वाणिज्यदूताधिकारियो की शारीरिक अनतिक्रम्यता (Personal inviolability), अनुच्छेद ४३ मे न्यायिक और प्रशासनात्मक क्षेत्राधिकार से मुक्ति स्वीकार की गई है। इसी प्रकार इन्हे सीमा शुल्कों (Custom duties) से तथा करो से मुक्ति प्राप्त है (अनुच्छेद ४८, ४९)। ये सब अधिकार राजदूतो जैसे हैं। किन्तु स्थानीय क्षेत्राधिकार से इनकी मुक्ति राजदूतो की उन्मुक्ति की अपेक्षा अधिक सीमित तथा मर्यादित है। वाणिज्यदूतो की उन्मुक्तियाँ केवल उन्ही कार्यो तक सीमित हैं, जो उन्होने वाणिज्यदूत का कर्तव्य पूरा करने के लिए किये हो, फौजदारी मामलो मे स्पष्ट रूप मे उन्हे उस राज्य का क्षेत्राधिकार स्वीकार करना होगा, जहाँ वे दूत बनाकर भेजे गये हो (अनुच्छेद ४३)। ये गम्भीर अपराध होने की दशा मे ही गिरफ्तार किये जा सकते है, जेल म तब तक नही भेजे जा सकते जब तक कि इनके मामले का अन्तिम निर्णय न हो जाय। अपने कार्यो से सम्बन्ध न

२४. स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० २७६

२५. इसके लिए देखिये—इण्डियन जरनल आफ इण्टरनेशनल लॉ, अप्रैल १९६३, पृ २१८-२५३।

रखने वाले मामलों में वे गवाही दे सकते हैं। इस विषय में इस अभिसमय की नई व्यवस्था यह है कि यदि वे ऐसे मामलों में गवाही देने से इकार करें तो उन्हें इसके लिये बाधित नहीं किया जा सकता (अनुच्छेद ४४)।

अभी तक वाणिज्यदूतों के सम्बन्ध में यह स्थिति थी कि वे कुछ स्थानीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए नियुक्त किये जाते थे और उन्हें अपना सीधा सम्बन्ध स्थानीय अधिकारियों (Local authorities) के साथ ही रखना पड़ता था। यदि वे अपने देश की सरकार के साथ कोई पत्र-व्यवहार या सम्पर्क स्थापित करना चाहते थे तो वे यह कार्य अपने देश के राजदूत के माध्यम से कर सकते थे। किन्तु वियना अभिसमय ने वाणिज्य-दूतों को यह अधिकार प्रदान किया है कि वे उन्हें नियुक्त करने वाले राज्य के नागरिकों तथा सरकार के साथ सीधा पत्र-व्यवहार कर सकते हैं (अनुच्छेद ३६)। ब्रियर्ली ने लिखा है कि यह अभिसमय अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रगतिशील विकास के कई नये तत्वों का समावेश करने वाला है।[२६]

२६. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, छठा संस्करण, पृ० २६५

सत्रहवाँ अध्याय

सन्धियाँ

(Treaties)

सन्धियों का स्वरूप (Nature of Treaties)—सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बड़ा महत्वपूर्ण स्रोत हैं (देखिए तीसरा अध्याय)। अत्यन्त प्राचीनकाल से ये विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन और नियन्त्रण करती रही हैं। ओपेनहाइम (Oppenheim) ने इसका लक्षण करते हुए लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ ऐसे समझौते हैं, जो संविदात्मक (Contractual) होते हैं, राज्यों अथवा राज्यों के संगठनों के मध्य किये जाते हैं और जो कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य उत्पन्न करते हैं।"[1] स्टार्क (Starke) के शब्दों में "सन्धि का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह ऐसा समझौता है जिससे दो या अधिक राज्य आपस में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन सम्बन्ध स्थापित करते हैं या करना चाहते हैं।"[2] राष्ट्रीय कानून में एक व्यक्ति के पास कानूनी कार्य करने के अनेक साधन हैं जैसे संविदा (Contract), स्वत्वान्तर (Conveyance), पट्टा (Lease), अनुज्ञा (Licence)। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में राज्यों के पास विविध प्रकार के कानूनी कार्य करने के लिये सन्धि ही एकमात्र साधन है। राज्य इसी से मौलिक संवैधानिक कानून बनाते हैं, जैसे सं० रा० संघ का १९४५ में सैन फ्रांसिस्को में बनाया गया चार्टर, इसीसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण करते हैं, अपनी भूमि तथा अड्डे पट्टे पर देते हैं, सैनिक मैत्रियाँ करते हैं, बेल्जियम जैसे राज्यों को १८३१ की सन्धि द्वारा तटस्थ बनाया जाता है। विधायक (Law making) सन्धियों द्वारा कानून का निर्माण किया जाता है।

सन्धि और संविदा (Treaty and Contract)—सन्धि वैयक्तिक कानून की संविदा (Contract) से गहरा सादृश्य रखती है। दोनों में उभय पक्ष की सहमति आवश्यक है। किन्तु इसके साथ ही दोनों में एक बड़ा महत्वपूर्ण अन्तर है। यदि कोई संविदा अनुचित दबाव (Duress) डालकर करायी जाय तो इसकी वैधता समाप्त हो जाती है, किन्तु कोई सन्धि दबाव के कारण अवैध नहीं होती। वर्साय की सन्धि इसका सुन्दर उदाहरण है, प्रथम विश्वयुद्ध में परास्त होने पर जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों के सैनिक

१. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, ८वाँ संस्करण, पृ० ८९१

२. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, ८वाँ संस्करण, पृ० ४८० ; कौटिल्य ने सन्धि का लक्षण करते हुए कहा है—पणबन्धः सन्धिः (७।१), अर्थात् दो राज्यों के बीच आत्मसमर्पण, प्रदेश देने आदि की शर्तों (पण) से बँधना सन्धि है।

सन्धि सम्पादन के आठ आवश्यक अंग (Eight Steps in Conclusion of Treaties)—सन्धि करने की कोई सुनिश्चित विधियाँ नहीं है, फिर भी सन्धि के नियमों के बाध्य रूप से पालन के लिये प्रत्येक सन्धि के सम्पादन में क्रमश निम्न आठ अंगों का अनिवार्य होना आवश्यक है। पहला अंग सन्धि चर्चा के लिये विभिन्न देशों के मन्त्रालयों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रतिनिधि नियत करना (Accrediting of Negotiators) है। इन्हें अपने विदेशमन्त्री से इस कार्य का अधिकार प्रदान करने वाला पूर्णाधिकार (Full Powers, Pleins Pouvoirs) नामक प्रमाण-पत्र दिया जाता है। जब इस पर राजा या शासनाध्यक्ष के हस्ताक्षर हो तो इसे 'विशेष पूर्णाधिकार' (Special Full Powers) कहा जाता है। सन्धि सम्पादन का दूसरा अंग सन्धिवार्ता (Negotiations) है। इसके बाद सन्धि का मसविदा तैयार हो जाने पर तीसरा अंग हस्ताक्षर (Signature) का होना है यह बहुत ही औपचारिक ढंग से और बड़े समारोह के साथ किया जाता है। इसके लिये सन्धि परिषद् का अन्तिम अधिवेशन विशेष रूप से बुलाकर उसमें वर्णानुक्रम में देशों के विभिन्न प्रतिनिधि एक मेज के पास आकर बारी-बारी से हस्ताक्षर करते हैं, जैसे १६१६ में वर्साय की सन्धि पर विभिन्न देशों ने शीशमहल (Hall of Mirrors) में हस्ताक्षर किये थे। ये हस्ताक्षर राज्यों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त ऐसी सन्धि परिषदों में भाग लेने वाले राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री भी करते हैं, जैसे १६१६ की वर्साय की सन्धि पर स० रा० अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने तथा १६३८ के म्यूनिख के समझौते पर ब्रिटिश एव फ्रेंच प्रधानमन्त्रियों ने हस्ताक्षर किये। यदि सन्धि का अनुसमर्थन (Ratification) न होना हो तो यह हस्ताक्षर होने के बाद ही लागू हो जाती है, जैसे १६०२ की ऐंग्लो-जापानीज मैत्री सन्धि। कई बार सन्धियों में यह कहा जाता है कि वे अनुसमर्थन होने से पहले हस्ताक्षर होने के बाद से ही दोनों पक्षों पर अस्थायी रूप से लागू समझी जायेंगी, जैसे ६ जुलाई, १६५७ की जापान तथा आस्ट्रेलिया की व्यापार सन्धि। यदि सन्धि का अनुसमर्थन होना हो तो प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होने के बाद भी उनकी सरकारें इस सन्धि को अस्वीकार कर सकती हैं, जैसे स० रा० अमरीका की सरकार ने वर्साय की सन्धि पर इसके राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने पर भी इसे अस्वीकार किया था।

सन्धि सम्पादन का चौथा अंग अनुसमर्थन (Ratification) है। यह कई कारणों से उचित जान पड़ता है (क) राज्यों को यह अधिकार होना चाहिये कि वे सन्धि की बाध्यताओं और कर्तव्य स्वीकार करने से पहले अपने प्रतिनिधियों द्वारा मानी गई शर्तों पर पूरी तरह पुनर्विचार कर लें। (ख) राज्य की प्रभुसत्ता उसे किसी सन्धि को अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त करती है। (ग) प्राय सन्धियों द्वारा राष्ट्रीय कानून में संशोधन करने आवश्यक होते हैं। हस्ताक्षर के बाद अनुसमर्थन के समय तक राज्य को इसके लिये संसद् से आवश्यक स्वीकृति लेने का अवसर मिल जाता है। (घ) लोकतन्त्र के सिद्धान्त के अनुसार सरकार का सन्धि की बाध्यता ग्रहण करने से पहले लोकमत या संसद् द्वारा समर्थन प्राप्त करना आवश्यक है। राज्य चार कारणों के आधार पर सन्धि

को सपुष्ट करने मे अस्वीकार कर सकता है —(क) उसके प्रतिनिधि ने अपने अधिकार से बाहर की बात स्वीकार की। (ख) उसके प्रतिनिधि को किसी तथ्य के सम्बन्ध मे जान-बूझकर धोखे मे रखा गया है। (ग) सन्धि का पालन असम्भव है। (घ) प्रतिनिधि सन्धि की किन्हीं शर्तों से सहमति नही रखता था।

पहले अनुसमर्थन को बहुत महत्व दिया जाता था। लार्ड स्टोवेल ने १८१३ मे Elisa Ann के मामले म लिखा था—'अनुसमर्थन एक उपचार (Formality) है, किन्तु यह आवश्यक उपचार है क्योकि इसके अभाव म सन्धि लेख की कानूनी प्रामाणिकता अधूरी रहती है।" किन्तु अब अनुसमर्थन सभी सन्धियो के लिए आवश्यक नही माना जाता है और प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकार की गई सन्धि के अस्वीकार करने मे बडा दोष नही समझा जाता। ब्रियर्ली ने लिखा है—' राज्य के लिए कोई ऐसा कानूनी या नैतिक कर्तव्य नही है कि वह अपने पूर्वाधिकारियो द्वारा हस्ताक्षर की हुई सन्धि का अनुसमर्थन करे। इस विषय मे इतना ही कहा जा सकता है कि यह बहुत गम्भीर कदम है और उसे हल्केपन से नही उठाना चाहिये।"[४]

(५) सहमिलन और अभिलग्नता (Accessions and Adhesions)—कई बार राज्य किसी सन्धि के सम्पन्न हो जाने पर बाद मे इसम सम्मिलित होते हैं। यदि वे उस सन्धि की सब शर्तों और व्यवस्थाओ को स्वीकार कर लेते हैं तो यह सहमिलन (Accession) कहा जाता है किन्तु यदि व उस सन्धि की कुछ थोडी सी शर्तों को ही स्वीकार करते हैं तो यह केवल उन शर्तों के साथ जुडना या अभिलग्नता (Adhesion) कहलाता है। ब्रिटिश परम्परा के अनुसार किसी सन्धि म बाद मे सम्मिलित होने वाला राज्य सन्धि करने वाले अन्य राज्यो की भाँति संविदा करने वाला पक्ष (Contracting Party) गिना जाता है।

(६) सन्धि का लागू होना (*Enforcement of a Treaty*)—यह सन्धि की शर्तों पर निर्भर होता है। कई बार यह प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरो के बाद ही लागू हो जाती है। किन्तु कुछ सन्धियाँ अनुसमर्थन के बाद लागू होती हैं। अनुसमर्थन वाली सन्धियाँ सम्बद्ध राज्यो के अनुसमर्थन तथा इसके विभिन्न राज्यो म आदान प्रदान (Exchange af Ratifications) के बाद लागू होती हैं। कई बार कुछ अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयो के लिए इसका अनुसमर्थन करने वाले छ या दस राज्यो की संख्या निर्धारित कर दी जाती है, जैसे १९३० के राष्ट्रीयता कानून के संघर्ष विषयक हेग अभिसमय म। इस अभिसमय का निश्चित संख्या के राज्यो द्वारा अनुसमथन होने पर इसे लागू किया जा सकता था। कई बार किसी सन्धि के लागू होने की शर्त का स्पष्ट रूप से उल्लेख रहता है, जैसे १९२५ की लोकार्नो सन्धि मे यह शर्त थी कि यह राष्ट्रसघ मे जर्मनी के प्रवेश पाने के बाद ही लागू होगी।

(७) पंजीकरण और प्रकाशन (Registration and Publication)—स० रा० सघ के चार्टर की धारा १०२ के अनुसार इसके सदस्यो द्वारा की गई सब सन्धियो

---

४. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ् नेशन्स, पृ० २४६

और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का "यथासम्भव शीघ्र ही" संघ के सचिवालय मे पंजीकरण तथा इसका संघ द्वारा प्रकाशन आवश्यक है। कोई भी राज्य संघ के न्यायालय या सुरक्षा परिषद् आदि किसी अंग के आगे ऐसी सन्धि का प्रमाण नहीं दे सकता, जिसका पंजीकरण संघ मे न हुआ हो। इस व्यवस्था का उद्देश्य राज्यों द्वारा की जाने वाली गुप्त सन्धियों की दूषित प्रथा को समाप्त करना था।

(८) **सन्धियों का क्रियान्वय** (Application)—सन्धि निर्माण की अन्तिम स्थिति तब आती है जब इसको क्रियान्वित करने के लिए राज्य अपने राष्ट्रीय कानूनों का आवश्यक निर्माण और संशोधन करते हैं। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O) की बैठकों मे श्रमिकों की दशा उन्नत करने के सम्बन्ध मे अनेक अभिसमय होते रहते हैं, किन्तु जब तक राज्य इनके सिद्धान्तों को लागू करने वाले कानून अपने देश मे पास नहीं करते, तब तक इनका क्रियान्वय सम्भव नहीं है।

सन्धि की बनावट (*Structure of a Treaty*)—*आधुनिक सन्धियों के मुख्य* भाग ये है—(क) अवतरणिका (Preamble)—इसमें सन्धि करने वाले राज्यों के अध्यक्षों या सरकारों के नामों का, सन्धि के प्रयोजन और दोनों पक्षों द्वारा सन्धि करने के सकल्प का वर्णन होता है। (ख) सन्धि की मुख्य धाराएं या व्यवस्थाएँ (*Substantive* Clauses), (ग) अन्तिम धाराएं (Clauses Protocolaires or Final Clauses)—इनमें सन्धि के लागू होने, उसके हस्ताक्षर या अनुसमर्थन द्वारा स्वीकृति, उसकी अवधि, उसकी भाषा, संशोधन, रजिस्ट्री आदि औपचारिक विषयों का वर्णन होता है। (घ) सन्धि पर पूर्णाधिकारियों (Plenipotentiaries) के हस्ताक्षर, हस्ताक्षर करने की तिथि तथा स्थान का उल्लेख।

सन्धियों का वर्गीकरण (Classification of Treaties)—प्राचीन काल से सन्धियों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जाता रहा है। कामन्दकीय नीतिसार (सन्धिविकल्प प्रकरण, श्लोक २-२०) मे १६ प्रकार की *सन्धियों का वर्णन है, यह युद्ध* मे विजेता और विजित के सम्बन्ध पर आधारित है, जिसमे शत्रु को द्रव्य देकर मेल किया जाय, वह द्रव्यसन्धि है, जिसमे लड़की दी जाय जैसे सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य *को दी थी तो यह* **सन्तानसन्धि** *है। यदि दोनों राज्यों का पलड़ा लड़ाई में बराबर* रहने पर सन्धि हो तो यह कपालसन्धि कहलाती है, क्योंकि जिस प्रकार घड़े के दो आधे टुकड़े (कपाल) चटख जाने पर भी आपस मे ऐसे जुड़े रहते हैं कि घड़ा देखने में पूर्ववत् प्रतीत होता है, किन्तु जो रेखा पड़ गई है, वह मिट नहीं सकती। अपने को पूर्णतया शत्रु के हाथ मे समर्पित करके जो सन्धि की जाती है, वह उपग्रहसन्धि कहलाती है। कौटिल्य ने दो राज्यों में मित्र, सोने, भूमि आदि का लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से **मित्रसन्धि, हिरण्यसन्धि, भूमिसन्धि** का उल्लेख किया है (अधिकरण ७, अध्याय ६)। सन्धि को स्थायी बनाने के उद्देश्य से की गई व्यवस्थाओं की दृष्टि से कौटिल्य ने **चल** और **स्थावर** *सन्धियों का वर्णन किया है। शपथपूर्वक सन्धि का पालन करने के सत्य* वचन के साथ की गई सन्धि चल सन्धि है और सन्धि के पालन को सुरक्षित करने के लिए जब किसी की जमानत (प्रतिभू) रखी जाय अथवा शत्रु के राजपुत्र आदि को

लेकर (प्रतिग्रह) रखा जाय तो यह स्थावर सन्धि होती है।[५]

आधुनिक विधिशास्त्रियों ने सन्धि के स्वरूप, प्रकृति, प्रभाव, उद्देश्य तथा विषयवस्तु की दृष्टि से सन्धियों के विभिन्न वर्गीकरण किये हैं। ओपेनहाइम (Oppenheim) ने विषयवस्तु की दृष्टि से सन्धियों को दो वर्गों में बाँटा है—(क) **कानून बनाने वाली सन्धियाँ** (Lawmaking Treaties), (ख) कानून बनाने के उद्देश्य से **भिन्न किसी अन्य प्रयोजन के लिए की गई सन्धियाँ**। कानून बनाने वाली सन्धियों में १८१५ की वियना कांग्रेस के चरम कानून (Final Act) का उल्लेख किया जा सकता है। इसने स्विट्जरलैण्ड के तटस्थीकरण अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में स्वतन्त्र नौचालन, नीग्रो दास व्यापार निषेध तथा दूतों की विभिन्न श्रेणियों के निर्माण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण नियम बनाये। १८५६ की पेरिस की घोषणा (देखिये, पृ० ११६), रणक्षेत्र में घायल सैनिकों के सम्बन्ध में १८६४, १९०६, १९२९, १९३९ के जेनेवा अभिसमय, १९०७ के हेग अभिसमय (देखिये, पृ० ५१), राष्ट्रसंघ का विधान, १९२० में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परिनियम, १९४५ का सं० रा० संघ का चार्टर इसी प्रकार की कानूनी निर्माण करने वाली सन्धियाँ हैं। केलसन (Kelsen) ने ओपेनहाइम के इस वर्गीकरण की कड़ी आलोचना करते हुए कहा है कि प्रत्येक सन्धि का यह आवश्यक कार्य है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के कुछ नियम बनाये। अतः ऐसी कोई सन्धि नहीं हो सकती, जो कानून निर्माण के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य करे। अतएव यह वर्गीकरण सर्वथा भ्रान्तिमूलक है।[६]

कई बार सन्धियों का उनके उद्देश्य की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाता है, जैसे शान्ति सन्धि, मित्रता की सन्धि (Treaty of Alliance), तटस्थता आदि की गारटी देने वाली सन्धि तथा व्यापार की सन्धि। हालैण्ड (Holland) ने विषय की दृष्टि से सन्धियों को पाँच वर्गों में विभक्त किया है—

(क) **राजनीतिक** (*Political*)—इसमें शान्ति, सीमा, *मित्रता, मान्यता*, देशीयकरण (Naturalization) और गारंटी की सन्धियाँ आ जाती हैं।

(ख) **व्यापारिक** (Commercial)—नौचालन, वाणिज्य तथा मछलीगाहों से सम्बन्ध रखने वाली सन्धियाँ।

(ग) **सामाजिक** (*Social*)—विभिन्न देशों में पारस्परिक व्यवहार की सुविधायें बढ़ाने वाली सन्धियाँ, जैसे १८७५ का भार और नाप की अन्तर्राष्ट्रीय पद्धतियों का समझौता, १८७४ का डाकखानों का समझौता।

(घ) **दीवानी न्याय** (Civil Justice) सम्बन्धी सन्धियाँ, जैसे १८८६ की कापी राइट की, १८८० की पेटेण्ट और ट्रेडमार्क की सन्धियाँ।

---

५ कौटिल्य अर्थशास्त्र ७।१७ सत्य शपथो वा चलः सन्धि। प्रतिभू प्रतिग्रहो वा स्थावर-। कौटिल्य ने अन्यत्र (७।३) में आमिष, पुरुषान्तर, आत्मरक्षण आदि सन्धियों की चर्चा की है। इसमें कपालसन्धि की व्याख्या कामन्दक से सर्वथा भिन्न है, उसके मतानुसार जिस सन्धि में समस्त धन तत्काल देने की व्यवस्था रहती है, उसे कपालसन्धि कहते हैं।

६. केल्सन—प्रिन्सिपल्स आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३१९-२०

(ङ) फौजदारी न्याय (Criminal Justice) विषयक सन्धियाँ, जैसे भगोड़े अपराधियों के प्रत्यर्पण (Extraditions) की सन्धियाँ।

मैकनेयर (McNair) ने सन्धियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—(क) स्वत्वान्तर (Conveyance) अर्थात् किसी प्रकार के स्वत्व-परिवर्तन का स्वरूप रखने वाली सन्धियाँ, (ख) संविदा का स्वरूप रखने वाली सन्धियाँ, (ग) कानून बनाने वाली सन्धियाँ—ये दो प्रकार की है (अ) वैधानिक कानून बनाने वाली, जैसे स० रा० संघ का चार्टर, (आ) विशुद्ध कानून बनाने वाली, जसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा स्वीकार किये गये अभिसमय या १९४८ की मानवीय अधिकारों की घोषणा। (इ) सार्वभौम डाक संघ (Universal Union) जैसी संस्थाओं को स्थापित करने वाली सन्धियाँ।

अवैध सन्धियाँ (Invalid Treaties)—सन्धियाँ कई कारणों से अवैध (Invalid) होती है। पहला कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियम या रूढ़ि को तोड़ना है। १९२८ के केलाग-ब्रीआ पैक्ट द्वारा सब राज्यों ने राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध के परित्याग की घोषणा की थी। दूतों की अवध्यता, युद्ध में असैनिकों को न मारना आदि सर्वसम्मत अन्तर्राष्ट्रीय नियम है। इनका भंग करने वाली कोई भी सन्धि वैध नहीं हो सकती। कोई देश ऐसी सन्धि नहीं कर सकता जो उसकी पहले ग्रहण की हुई बाध्यताओं के अनुकूल न हो। १८७८ मे रूस द्वारा टर्की के साथ की गई सैन स्टीफानो (San Stefano) की सन्धि, १८५६ की पेरिस की सन्धि तथा १८६१ के लन्दन सम्मेलन की शर्तो के प्रतिकूल थी। अतः ग्रेट ब्रिटेन ने इसका घोर विरोध किया और अन्त में रूस को १८७८ की बर्लिन सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। दूसरा कारण अनैतिक उत्तरदायित्व उत्पन्न करना है, ऐसा करने वाली सन्धि स्वयमेव अवैध हो जाती है। यदि कोई सन्धि तीसरे पक्ष पर आक्रमण करने के लिए है तो वह वैध नहीं मानी जायगी। तीसरा कारण सन्धि की शर्तों की पूर्ति की असम्भाव्यता है। चौथा कारण दबाव, डर या धमकी द्वारा बलपूर्वक सन्धि की शर्तें स्वीकार कराना है। ऐसी सन्धि का पालन आवश्यक नहीं होता। संविदा कानून में भी ऐसी शर्तें होती है। किन्तु दबाव की बात युद्ध में हारने पर लागू नहीं होती। पाँचवां कारण सन्धि के समय धोखा या भ्रान्तिपूर्ण व्यवहार है। कई बार सन्धि सम्मेलनों में नदियों या शहरों की गलत स्थिति बनाने वाले नक्शे उपस्थित करके दूसरे पक्ष को ठग लिया जाता है। १८५६ की पेरिस की सन्धि में रूस और फ्रांस में बोलग्राड नामक शहर के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हुआ। प्रश्न यह था कि यह रूस को दिया जाय या नहीं। सम्मेलन में पेश किये गए नक्शे में यह शहर नहीं था, अतः रूस को यह शहर नहीं दिया गया। सन्धियों की अवैधता का छठा कारण इसे करने वालों की कानूनी असमर्थता होती है। सन्धि करने का अधिकार सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्यों को है। यदि कोई पराधीन (Dependent) राज्य या तटस्थीकृत (Neutralized) राज्य सन्धि करता है तो उसे सन्धि करने का अधिकार न होने से यह सन्धि अवैध हो जाती है। किसी सन्धि की अवैधता का सातवाँ कारण इसकी शर्तों का स० रा० संघ (? राज्यों पर डाले गये दायित्वों के प्रतिकूल होना है। संघ के चार्टर की धारा १०३ में

यह कहा गया है कि यदि संघ के सदस्यों पर चार्टर द्वारा डाले गये दायित्वों तथा अन्य सन्धियों द्वारा उन पर पड़ने वाले दायित्वों मे विरोध हो तो चार्टर वाले दायित्व प्रबल एवं माननीय समझे जायेंगे।

सन्धि पालन का उपाय (Means of securing performance of treaties) —प्राचीन काल से सन्धियों के पालन पर बहुत बल दिया जाता है और इसके लिए अनेक उपायों का अवलम्बन किया जाता रहा है। **पहला** उपाय दोनो पक्षो द्वारा इसके पालन की शपथ लेने का है। कौटिल्य (अर्थशास्त्र ७।१७) ने इसका वर्णन करते हुए कहा है— पूर्वकालीन राजा अग्नि, जल, सीता (हल का फाल), प्राकार (किले) की ईंट, हाथी का कन्धा, घोड़े की पीठ, रथ पर बैठने का आसन, शस्त्र, रत्न, अन्नादि के बीज, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य, घृतादि रस, सुवर्ण तथा नकद रुपयों का स्पर्श करके शपथ लेते थे, ऐसा करते समय वे कहते थे कि जो सन्धि की बातों का निरादर करे उसे ये वस्तुयें सदा के लिए त्याग दें।'[७] प्राचीन भारत मे ऐसे विचारकों की कमी नहीं थी, जो शपथ वाली सन्धि को विशेष विश्वसनीय न होने के कारण अस्थिर मानते थे, अतएव इसे 'चल सन्धि' कहते थे। किन्तु कौटिल्य का यह मत था कि सत्य और शपथ इहलोक तथा परलोक दोनों जगह स्थावर होता है अतः यह स्थायी सन्धि होती है, इस सन्धि का भंग करने पर सन्धिकर्ता को इहलोक में कलंक का तथा परलोक में नरकगामी होने का भय होता है।

दूसरा उपाय सन्धि पालन के लिये एक पक्ष द्वारा किन्हीं व्यक्तियों को शरीर-बन्धक या ओल (Hostage) रखने का है। कौटिल्य ने दो प्रकार के शरीरबन्धक बताये हैं—पहले तो जामिन (प्रतिभू) बनाये जाने वाले गाँवों के प्रधान आदि व्यक्ति और दूसरा हारे हुए राजा के बन्धुओं तथा मुख्य पुरुषों को अपने यहाँ रख लेना (प्रतिग्रह)। कौटिल्य का यह विचार था कि प्रतिग्रह मे राजा को सुयोग्य पुत्र या अमात्य नहीं देने चाहियें (अर्थशास्त्र ७।१७)। दसवीं शताब्दी के अन्त में गजनी का शासक सुबुक्तगीन जयपाल से सन्धि का पालन कराने के लिये शरीरबन्धक ले गया था।

तीसरा उपाय अपनी चलसम्पत्ति को आधि (Pledge) या गिरवी के रूप मे रखना है। पोलैण्ड ने अपने शाही ताज के कुछ रत्न प्रशिया को इस प्रकार आधि में रक्खे थे। यह प्रथा अब बिल्कुल समाप्त हो गई है।

चौथा उपाय पराजित राज्य की आमदनी को हर्जाना वसूल करते रहने के लिए सुरक्षित रखना है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वर्साय की सन्धि मे ऐसी व्यवस्था की गई थी।

पाँचवाँ उपाय विजेता द्वारा विजित से सन्धि पालन कराने के लिये उसके कुछ प्रदेश पर अधिकार रखना है। १८७१ मे जर्मन सेनाएँ फ्रांस की भूमि पर उस समय तक बनी रहीं, जब तक कि उन्होंने फ्रांस से युद्ध का हर्जाना नहीं वसूल कर लिया। वर्साय

---

७. अर्थशास्त्र ७।१७ अग्न्युदकसीताप्राकारलोष्टहस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठरथोपस्थशस्त्ररत्नबीजगन्धरससुवर्णहिरण्यान्यालेभिरे, हन्युरेतानि त्यजेयुश्चैनं यः शपथमतिक्रामेदिति।

को सधि मे मित्रराष्ट्रो द्वारा कुछ जर्मन प्रदेशो पर उस समय तक अधिकार की व्यवस्था की गई थी, जब तक जर्मनी सधि की कुछ शर्तों का पूरा पालन न करे।

छठा उपाय सधि पालन के लिये कुछ राज्यो द्वारा गारण्टी दिया जाना है। १९२५ की लोकार्नो सधि के पालन की गारण्टी ग्रेट ब्रिटेन ने ली थी।

सातवाँ उपाय सधि तोडने वाले देश के विरुद्ध अन्य राज्यो द्वारा सम्मिलित रूप से की गई अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही है। यदि कोई राज्य मादक दवाइयो के सम्बन्ध मे किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते को भग करता है तो अन्य राज्य उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाकर उसे सधि पालन के लिए विवश कर सकते है।

सधि-विषयक दो सिद्धान्त (Two Principles of Treaties) (क) सधियो की पवित्रता-विभिन्न राज्यो द्वारा सधियो के पालन का मूल सिद्धान्त सधियो को पवित्र समझा जाना है। रोमन कानून का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है—Pacta sunt servanda (राज्यसमया सम्माननीया)। इसका आशय यह है कि राज्यो को एक दूसरे के साथ किये समझौतो का आदर करना चाहिए। सधि एक प्रकार की सविदा (Contract) है, इसमे दोनो पक्ष एक दूसरे को दिये हुए वचन का पालन अपना कर्तव्य समझते हैं। जिस प्रकार वैयक्तिक क्षेत्र मे 'प्राण जाय अरु वचन न जाई' के नैतिक सिद्धान्त का पालन अभीष्ट समझा जाता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इस नियम का पालन आवश्यक है। यदि ऐसा न हो, सधियो को पवित्र और पालनीय न माना जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अराजकता मच जाय। राज्यो का यह कर्तव्य है कि उन्होने सधियो द्वारा अपने ऊपर जो दायित्व ग्रहण किये है उन्हे पूरी ईमानदारी के साथ निबाहने का प्रयत्न करे। यह सद्भावना (Good Faith) ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का मूल आधार है। फैनविक (Fenwick) के शब्दो मे 'दार्शनिको, धर्मशास्त्रियो तथा विधिशास्त्रियो ने सर्वसम्मति से यह सिद्धान्त स्वीकार किया है कि यदि राज्य द्वारा दिये गये वचन पर भरोसा करना सम्भव न हो, तो समूचे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सम्बन्ध सकट मे पड जायगे और कानून की सत्ता लुप्त हो जायगी।" इसी कारण सधियो को पवित्र समझते हुए उनका तोडना बडा जघन्य कार्य समझा जाता है। जर्मनी ने १९१४ मे बेल्जियम की तटस्थता के सधिपत्र को कागज का टुकडा बताते हुए जब उसका उल्लघन किया तो समूचे सभ्य जगत् ने एक स्वर से उसके कार्य की घोर निन्दा की थी।

किन्तु कई बार सधि सम्बन्धी परिस्थितियो मे परिवर्तन आ जाने पर इसमे सशोधन, इसकी उपेक्षा या भग कुछ शर्तों के पूरा होने पर अनुचित नही समझा जाता। इसका समर्थन रोमन कानून के एक दूसरे सिद्धान्त—स्थितियो की अपरिवर्तनशीलता के आधार पर किया जाता है।

(ख) स्थिति की अपरिवर्तनशीलता (Rebus sic stantibus)—सविदा के सम्बन्ध मे रोमन कानून का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि दोनो पक्ष इसकी शर्तो का पालन करने के लिए उसी समय तक बाध्य है, जब तक इस सविदा के किये जाने के समय की वस्तुओ की स्थिति अपरिवर्तनशील बनी रहती है, इसमे कोई मौलिक परिवर्तन नही आता। यह उसका Rebus sic stantibus अर्थात् वस्तुओ की वर्तमान स्थिति बने

रहने का नियम (वस्तुतामावर्तमानस्थिते) है। यदि सविदा करने के बाद स्थितियो मे मौलिक परिवर्तन आ जाय तो इसका पालन आवश्यक नही होता है। दीवानी कानून के इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे भी अपना लिया गया है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। १८५६ मे क्रीमियन युद्ध मे परास्त होने के बाद पेरिस की सधि मे रूस पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि वह कृष्णसागर मे अपना जगी बेडा नही रख सकता। किन्तु १८७० मे रूस ने *इस सधि की व्यवस्था* को इस आधार पर तोडा कि १४ वर्ष पहले की पेरिस की सधि के समय की परिस्थितियो मे मौलिक परिवर्तन आ चुका है, वालेचिया और मोल्डेविया के सम्मिलन से कृष्णसागर पर रूमानिया के नये राज्य का निर्माण हो चुका है, लोहे की चादरो से ढके जाने वाले रणपोतो के नवनिर्माण से समुद्री लडाई का स्वरूप बदल गया है। इन परिवर्तित परिस्थितियो मे वह पेरिस की सधि के पालन के लिए बाध्य नही किया जा सकता।

प्रत्येक सधि पालन करने के लिए बनाई जाती है उसमे सदैव यह शर्त अस्पष्ट अथवा ध्वनित (Implied) रूप मे विद्यमान रहती है कि राज्य इनका तभी तक पालन करेगा, जब तक उसमे इनके पालन की सामर्थ्य होगी वह अपनी सत्ता को मिटाकर या गहरी क्षति पहुँचाकर इसे पूरा नही कर सकता, उस अवस्था मे उसे यह सधि समाप्त करने का अधिकार है। हाल (Hall) ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, ' सधि उस समय निरर्थक हो जाती है जबकि यह राज्य के जीवन के लिए सकटपूर्ण तथा उसकी स्वतन्त्रता के प्रतिकूल हो, बशर्ते कि सधि करते समय दोनो पक्षो ने इसके हानिप्रद परिणामो को ध्यान मे रखा हो।' [८] काश्मीर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। भारत सरकार ने १९४७ मे काश्मीर का भारतीय सघ मे प्रवेश स्वीकार करते हुए यह वचन दिया था कि काश्मीर के भविष्य का निर्णय जनमत सग्रह (Plebiscite) से किया जायगा। पाकिस्तान आज तक भारत सरकार से यह माँग करता है कि वह अपने इस वचन को पूरा करे और काश्मीर का निर्णय जनमत सग्रह से कराय। किन्तु भारत सरकार का यह कहना है कि १९५४ मे पाकिस्तान के अमरीका के साथ सैनिक सधियो मे आबद्ध होने तथा उससे प्रभूत परिमाण म रणसामग्री प्राप्त करने के कारण स्थिति मे मौलिक अन्तर आ गया है, इससे भारत की आत्मरक्षा के लिये एक नवीन सकट उत्पन्न हो गया है। १३ अप्रैल १९५६ को श्री नेहरू ने अपने एक भाषण मे कहा था—"पाकिस्तान को मिलने वाली सैनिक सहायता ने और उसकी सैनिक समझौतो की सदस्यता ने काश्मीर के जनमत-सग्रह के प्रस्ताव के मूलाधार को नष्ट कर दिया है।"

'परिस्थितियो की परिवर्तनशीलता' बडा लचकीला शब्द है और प्राय इसकी उदार व्याख्या के आधार पर बहुधा राज्य अपनी सधियो को भग करते रहते है। अत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आविर्भाव के समय से ही विधिशास्त्रियो म इस प्रश्न के सम्बन्ध मे बडा विवाद रहा है। ग्रोशियस (Grotius) ने लिखा था कि परिस्थिति के परिवर्तन का अर्थ सामान्य रूप से इसका बदलना नही, किन्तु सधि करते समय जिन परिस्थितिया

८. हाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ४०६-७

पर विचार किया गया था, उनमे परिवर्तन आना है। वैटल (Vattel) ने कूटनीतिज्ञो द्वारा इस शर्त के दुरुपयोग को रोकने के लिये कहा था —"यहाँ केवल वही परिस्थितियाँ आवश्यक होती है, जिनके कारण सधि की गई थी, केवल इनमे आने वाला परिवर्तन ही कानूनी तौर से सधि मे किये गए किसी वचन का पालन रोक सकता है।" १६वी शताब्दी मे उग्र राष्ट्रीयता का विकास होने से जर्मन लेखको हफ्टर (Heffter) तथा ब्लशली (Bluntschli) ने इसकी बडी उदार व्याख्या करते हुए कहा कि राज्य को जनता के अधिकारो तथा कल्याण को क्षति पहुँचाने वाली किसी भी सधि व्यवस्था को तोडने का अधिकार है। एक अन्य जर्मन लेखक ट्रीटस्के (Tritschke) ने तो यहाँ तक कहा कि किसी भी राज्य को, अपने भविष्य को दूसरे देशो के साथ बाँधने वाली सधियो के साथ बधा हुआ नही अनुभव करना चाहिए, यदि कोई राज्य यह मानता है कि सधियाँ "वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियो को अभिव्यक्त" नही करती तो वह दूसरे पक्ष से सधि को रद्द करने की प्रार्थना कर सकता है, इसके अस्वीकृत होने पर वह युद्ध छेड सकता है। इटालियन विधिशास्त्री फिओर (Fiore) ने इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा —'वे सभी सधियाँ रद्द समझी जानी चाहिये, जो किसी भी राष्ट्र की स्वतन्त्र क्रियाशीलता के विकास मे बाधक है या इसके प्राकृतिक अधिकारो के प्रयोग को रोकती है।" इसका अभिप्राय राज्यो को स्वच्छन्द रूप से सधि भग करने की खुली छूट प्रदान करना है, किन्तु आजकल अधिकाश विधिशास्त्री और राज्य इससे सहमत नही हैं।

१८७० मे जब रूस ने १८५६ की पेरिस की सधि की कृष्णसागर मे जगी बेडा न रखने की शर्त तोडने की घोषणा की तो ग्रेट ब्रिटेन ने इसका उग्र प्रतिवाद किया। इस विषय पर विचार के लिये सम्बद्ध राज्यों का एक सम्मेलन लन्दन मे बुलाया गया। १८७१ की लन्दन की सधि के अनुसार यद्यपि अन्य राज्यो ने रूस को उपयुक्त प्रतिबध से मुक्त कर दिया, किन्तु इसके साथ ही यह घोषणा की —'राष्ट्रो के कानून का यह आवश्यक सिद्धान्त है कि कोई भी शक्ति तब तक अपने को किसी सधि की बाध्यताओं से मुक्त नही कर सकती, इसकी शर्तो का सशोधन नही कर सकती, जब तक कि वह मैत्रीपूर्ण समझौते द्वारा सधि करने वाले अन्य राज्यो की सहमति इसके लिए प्राप्त नही कर लेती।' ब्रियर्ली ने इस विषय मे यह सत्य ही लिखा है, "सधियो की पवित्रता को बनाये रखने की योरोपियन राज्यो की घोषणा खोखली थी क्योंकि ऐसा करते हुए भी उन्होंने रूस के सधिभग को मान्यता प्रदान की, अतएव इसका कोई प्रभाव नही पडा। १६०८ मे आस्ट्रिया हगरी ने १८७८ की बर्लिन की सधि द्वारा उसे प्रशासन के लिये दिये गए बोस्निया हर्जेगोविना के तुर्क प्रान्तो को रूस-जापान युद्ध म पराजित रूस की कमजोरी का लाभ उठाते हुए अपने साम्राज्य का अग बना लिया। ग्रेट ब्रिटेन ने इस सधिभग का विरोध करते हुए पुन सम्मेलन बुलाने का निष्फल प्रयत्न किया। १६१४ मे जर्मनी ने १८३१ की बेल्जियम की तटस्थता की सधि को भग किया, ग्रेट ब्रिटेन बेल्जियम की रक्षा के लिये प्रथम विश्वयुद्ध मे सम्मिलित हुआ। इसके बाद जर्मनी म हिटलर का प्रभुत्व स्थापित होने पर जर्मन ने वर्साय की सधि की धाराओं का अमान्

तोडना शुरू किया। अप्रैल १९३५ मे राष्ट्रसघ ने १८७१ की उपर्युक्त घोषणा की पुन: पुष्टि करते हुए जर्मनी द्वारा वर्साय की सन्धि की सैनिक धाराओ के उल्लघन की निन्दा की।

आधुनिक विधिशास्त्रियो मे श्री केलमन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में 'स्थिति की अपरिवर्तनशीलता' (Rebus sic stantibus) का सिद्धान्त सर्वथा अस्वीकार करते है। "वस्तुत इसे अस्तिवादी (Positive) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का हिस्सा सिद्ध करना बहुत कठिन है। १८७१ मे लदन की सन्धि द्वारा स्वीकार की गई घोषणा इस सिद्धान्त का खुला खण्डन है। अब तक किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस नियम की सत्ता को पुष्ट नही किया।"[9] मैकनेयर (McNair) के मतानुसार—"यद्यपि न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे प्राय इसका स्थान अस्वीकार नही करते, किन्तु मुझे ऐसे एक भी मामले का ज्ञान नही है, जिसमे किसी अन्तर्राष्ट्रीय अभियोग मे इसे स्पष्ट रूप मे लागू किया गया हो।" ब्रियर्ली ने लिखा है—"इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे स्वीकार करने के लिये इसका लक्षण बहुत सावधानी से करना चाहिये अन्यथा यह किसी राज्य द्वारा असुविधाजनक समझी जाने वाली सन्धियो को तोडने का बहाना हो जायगा। इस सिद्धान्त का क्षेत्र बहुत ही सीमित है।"[10]

स्टार्क ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पहेली बताया है।[11] उसके मतानुसार इसका क्रियान्वित होना बडा अनिश्चित है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे कानूनी सम्मति मे अभी एकरूपता नही आई। इस समय किसी राज्य को इसे एकपक्षीय रूप से स्वयमेव लागू करने का अधिकार नही है। यह १८७१ की लदन की घोषणा तथा अप्रैल १९३५ के राष्ट्रसघ के प्रस्ताव से स्पष्ट है। आजकल यह अच्छा समझा जाता है कि इस सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहने वाला राज्य सन्धि करने वाले अन्य राज्यों से सन्धि रद्द करने की या समाप्त करने की प्रार्थना करे। टर्की ने १९३६ मे इसी उपाय का अवलम्बन किया था। १९२३ में लोजान की सन्धि द्वारा बास्फोरस तथा डार्डेनल्ज जलडमरूमध्यो के सम्बन्ध मे एक समझौता हुआ था, हिटलर के अभ्युत्थान से योरोप की राजनीतिक स्थिति मे बहुत अन्तर आ गया, अत टर्की ने अन्य राज्यो से लोजान की सन्धि समाप्त करने की प्रार्थना की। अन्य राज्यो ने इसे स्वीकार करते हुए १९३६ मे इन जलडमरूमध्यो के बारे मे मोन्त्रो (Montreaux) का नया समझौता किया। सन्धि रद्द करने का दूसरा उपाय यह है कि दोनो पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अपना मामला निर्णय के लिए सौंप दे।

आपेनहाइम ने इस सिद्धान्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है[12]—"स्थिति की अपरिवर्तनशीलता (Clasula Rebus sic stantibus) का सिद्धान्त किसी राज्य

---

९ केलसन—प्रिन्सिपल्ज आफ इटरनेशनल ला, पृ० ३५९-६०

१०. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २३०-३४

११. स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इन्टरनेशनल लॉ, पृ० ३१३-१८

१२. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, ख० १

को यह अधिकार नहीं प्रदान करता कि वह परिस्थितियों मे महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित होते ही यह घोषणा करे कि वह सन्धि की बाध्यताओं से मुक्त है। किन्तु परिवर्तन से उसे यह अधिकार मिलता है कि वह सन्धि करने वाले अन्य राज्यों से इसकी बाध्यता से मुक्ति की माँग कर सके। अतएव जब कोई राज्य यह समझता है कि परिस्थितियों के मौलिक परिवर्तन के कारण किसी सन्धि की बाध्यतायें उसके लिए असह्य हो गई है तो इसका उचित मार्ग यह है कि वह पहले सन्धि करने वाले दूसरे राज्यों से यह प्रार्थना करे कि वे इस सन्धि को रद्द करने के लिये तैयार हो जाय। यदि अन्य राज्य इस प्रार्थना को स्वीकार करने तथा विवादग्रस्त प्रश्न को न्यायालय को सौंपने के लिए तैयार नहीं होते तब प्रार्थना करने वाले राज्य के लिये यह घोषणा करना न्यायपूर्ण होगा कि वह अब अपने को इस सन्धि से बधा हुआ अनुभव नहीं करता। न्यायिक निर्णय के लिये इस विवाद को सौंपने की बात अस्वीकार करना अपने आप मे इस बात की उपरिदर्शी (prima facie) साक्षी है कि स्थिति की अपरिवर्तनशीलता के सिद्धान्त की दुहाई जानबूझकर किये जाने वाले सन्धिभग को छिपाने का आवरण मात्र है या सन्धि से लाभ उठाने वाला राज्य अपनी सत्ता का कानूनी आधार खोदेने वाली सन्धि को बलपूर्वक लागू करने के लिए तुला हुआ है।"

सन्धियों की समाप्ति (Termination of Treaties) — सन्धियों की समाप्ति दो प्रकार से हो सकती है—(क) कानून की प्रक्रिया (Operation) द्वारा, (ख) सधिकर्त्ता राज्यों के कार्य द्वारा। पहले प्रकार के पाँच मुख्य रूप ये है—(१) द्विपक्षीय सधि मे एक पक्ष की समाप्ति, म० रा० अमरीका की सरकार ने १८०५ ई० मे ट्रिपोली मे एक सन्धि की। १९११ मे इटली ने ट्रिपोली को अपने राज्य का अग बना लिया, ट्रिपोली के राज्य की समाप्ति से उसकी अमरीका के साथ की हुई सन्धि का अन्त हो गया। (२) दो देशों मे युद्ध छिड़ जाने पर उनकी पारस्परिक सन्धियाँ कुछ अशो मे समाप्त हो जाती है। आगे इस पर प्रकाश डाला जायगा। (३) सन्धि करने की स्थिति मे परिवर्तन आने पर (Rebus sic stantibus) सन्धि समाप्त की जा सकती है, इस का ऊपर वर्णन हो चुका है। (४) पाँच या दस वर्ष की निश्चित अवधि के लिये की गई सन्धियाँ अवधि की समाप्ति पर समाप्त हो जाती है। (५) यदि किसी सन्धि या समझौते के लागू होने के लिये राज्यों की सख्या नियत हो तथा अनेक राज्यों द्वारा सधि के परित्याग के कारण इसे मानने वाले राज्यों की सख्या नियत सख्या से कम हो जाय तो यह सन्धि समाप्त हो जाती है।

राज्यो द्वारा सन्धिभग के दो ही रूप है पहला रूप दोनों पक्षों के पारस्परिक समझौते द्वारा सन्धि को समाप्त करना है। दूसरा रूप एक राज्य द्वारा किसी सन्धि के अवसायन की घोषणा (Denunciation) है। स्टार्क के शब्दों में अवसायन का अर्थ एक राज्य द्वारा दूसरे राज्यों को यह सूचना देना है कि वह इस सन्धि की बाध्यताओं (Obligations) से मुक्त होना चाहता है।" कई बार सन्धियों मे इनके अवसायन

१२ स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इन्टरनेशनल लॉ, पृ० ३१६

की विधि का वर्णन होता है। ऐसा न होने पर सब सबद्ध दलो की सहमति से अवसायन किया जाता है। किन्तु एकपक्षीय अवसायन (Unilateral denunciation) भी होते है। हिटलर ने १६ मई १९३५ को वर्साय सधि की जर्मनी को नि शस्त्रीकरण करने वाली धाराओ के अवसायन की घोषणा की थी।

सधियो पर युद्ध छिडने का प्रभाव (Effects of War on Treaties)—इस विषय मे दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है पहला दृष्टिकोण स्टार्क जैसे विधिशास्त्रियों का है जो सधियो को नश्वर और भगुर समझता है। उसका मत यह है कि युद्ध छिडते ही सधियो की सब बाध्यतायें समाप्त हो जाती है। किन्तु वाइल्डमैन (Wildman) के मतानुसार शान्ति सधि की शर्तें स्थायी होती है और कभी भग नही होती। वस्तुत सचाई इन दोनो विरोधी दृष्टिकोणो के बीच मे है। सधियो पर पडने वाला युद्ध का प्रभाव बहुधा सधियो के स्वरूप पर निर्भर होता है। इस दृष्टि से सधियों के दो भेद किये जाते हैं—(क) युध्यमान (Belligerents) तथा अन्य राज्यों के बीच मे की गई सधियाँ। (ख) युध्यमान देशो के मध्य की गई सधियाँ।

(क) युध्यमान (युद्धकारी) तथा अन्य देशो मे विभिन्न प्रकार की सधियाँ हो सकती हैं। पहला प्रकार कानून निर्माण करने वाली (Law making) सधियो का है (देखिये नृ० अध्याय)। पेरिस की घोषणा जैसी सधियाँ सब राज्यो के लिए कानून बनाती हैं और इन पर युद्धो का कोई प्रभाव नही पडता। स्वास्थ्य, सफाई मादक द्रव्यो आदि के सम्बन्ध मे किये गये समझौते युद्धो मे भी बने रहते हैं। दूसरा प्रकार युद्ध सचालन के सम्बन्ध मे की गई सधिया हैं। १८६४ तथा १९०६ के जेनेवा अभिसमयो मे बीमारो और घायलो के तथा १८९९ और १९०७ के हेग अभिसमयों (Conventions) मे लडाई के नियम बनाये गये थे। ये नियम युद्ध के समय मे भी लागू रहते है। तीसरा प्रकार विभिन्न राज्यो की मैत्रीसधियाँ (Treaties of Alliance) है, ये युद्ध छिडने पर समाप्त हो जाती है। चौथा प्रकार व्यापारिक सधियों का है, ये युद्धकारी राज्यों के बीच समाप्त हो जाती है, किन्तु अन्य राज्यो के बीच यथापूर्व चलती रहती है।

केवल युद्धकारी देशो मे होने वाली सधियो के भी कई प्रकार है। पहला प्रकार स्थानीय मामलो वाली, सीमाओ, देशीयकरण (Naturalization), मान्यता आदि की सधियाँ है। ये युद्ध छिडने पर भी बनी रहती है। दूसरा प्रकार राजनीतिक और मैत्रीसधियो का है, ये युद्ध आरम्भ होने के साथ समाप्त हो जाती हैं। तीसरा प्रकार प्रत्यर्पण (Extradition) और व्यापारिक सधियो का है युद्ध छिडने पर ये स्थगित हो जाती है और युद्ध के बाद पुन चालू हो जाती है।

सधियों की व्याख्या के सामान्य सिद्धान्त (General Principles of Interpretation of Treaties)—कई बार दो राज्यो मे हुई सधि के शब्दो के वास्तविक अभिप्राय पर गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो जाता है। इसका समाधान करने के कई साधन हैं। पहला प्रधान साधन अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है। स्टार्क के कथनानुसार इसका अस्सी प्रतिशत कार्य सधियो की व्याख्या करना रहा है।[१४] अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (I L O)

---

१४. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१६

जैसे स० रा० संघ के संगठन भी समझौतों तथा सन्धियों की व्याख्या करते हैं। दूसरा साधन इस कार्य के लिये विशेष रूप से नियुक्त की हुई विधिशास्त्रियों की समितियाँ होती हैं। तीसरा साधन अभिसमय (Convention) करते हुए इसके साथ इसकी व्याख्या करने वाले प्रोटोकोल (Protocol) का जोड़ा जाना है। कई बार सन्धियों के अनेक भाषाओं में सम्पन्न किये जाने से भी विवाद उत्पन्न होते हैं। बहुपक्षीय अभिसमय (Multilateral Conventions) प्रायः अंग्रेजी और फ्रेंच दोनों भाषाओं में किये जाते हैं और इसमें दोनों रूपों को समान प्रामाणिकता प्रदान की जाती है। १९३७ का लन्दन का खाड समझौता चार भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन और रशियन में हुआ था। १९४५ का स० रा० संघ का चार्टर पाँच भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच, रशियन, स्पेनिश और चीनी में तैयार किया गया था। संघ के चार्टर की अनुच्छेद संख्या १११ के अनुसार इसके पाँचों रूपान्तर समान रूप में प्रामाणिक हैं।

सन्धियों की व्याख्या करते हुए सामान्यतः संविदा (Contract) की व्याख्या वाले नियमों का अनुसरण किया जाता है। ग्रोशियस के समय से इन नियमों पर विधिशास्त्री सूक्ष्म विचार करते रहे हैं। ग्रोशियस ने इनकी व्याख्या में दोनों पक्षों के सन्धि के समय के इरादों को महत्त्व दिया था। आजकल स्टार्क और ओपेनहाइम[१५] के मतानुसार सन्धियों की व्याख्या के मुख्य नियम निम्नलिखित हैं:—

(१) **व्याकरणीय व्याख्या और दोनों पक्षों का इरादा** (*Grammatical interpretation and the intention of parties*)—सन्धि के शब्दों को भाषा के व्याकरण के नियमों के अनुसार उनके सामान्य और स्वाभाविक अर्थ में लेना चाहिये। किन्तु यदि व्याकरणीय व्याख्या (Grammatical Construction) से अर्थ का अनर्थ होता हो या यह सम्बद्ध पक्षों के इरादे से भिन्न अर्थ देती हो तो इसे अस्वीकार करना चाहिये। व्याख्या की सबसे बड़ी कसौटी सन्धि करते समय दोनों पक्षों का सुस्पष्ट (Ostensible) इरादा है। यदि इस समय किसी पक्ष ने अपने मन में कोई बात रखते हुए सन्धि की है तो बाद में इस गुप्त इरादे के आधार पर सन्धि की व्याख्या नहीं हो सकती।

(२) **सन्धि का उद्देश्य और प्रकरण** (*Object and Context of Treaty*)—यदि किसी सन्धि के कुछ शब्दों या वाक्यांशों के अर्थ में सन्देह हो तो इनकी व्याख्या सन्धि के सामान्य उद्देश्य (Object) के अनुसार प्रकरण (Context) को देखते हुए की जायगी।

(३) **तर्कानुकूलता तथा सम्बद्धता** (*Reasonableness and Consistency*)—सन्धियों की व्याख्या में शब्दों तथा वाक्यांशों के अनेक अर्थ होने पर तर्कानुकूल तथा सन्धि की विभिन्न धाराओं से मेल खाने वाले अर्थ को ही ग्रहण किया जाना चाहिये। सम्बद्धता के सिद्धान्त का अर्थ यह भी है कि शब्दों की व्याख्या वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय

---

१५. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१८; ओपेनहाइम—पूर्वोक्त पुस्तक, खण्ड १, पृ० ९५–८।

कानून के सिद्धान्तो के अनुकूल होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यो की प्रभुसत्ता (Sovereignty) को बहुत महत्व देता है। सधि करते समय राज्य अपनी प्रभुसत्ता पर न्यूनतम प्रतिबन्ध लगवाना चाहते हैं। यदि किसी सधि के शब्द द्वयर्थक (ambiguous) हो, इनमे से एक अर्थ उसकी प्रभुसत्ता को अधिक मर्यादित करने वाला हो और दूसरा कम मर्यादित करने वाला हो तो उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार प्रभुसत्ता पर कम प्रतिबन्ध लगाने वाली व्याख्या स्वीकार की जायेगी। इसी प्रकार यदि सधि की एक व्याख्या किसी पक्ष पर कम उत्तरदायित्व डालती है और दूसरे पर अधिक दायित्व डालती है तो पहली व्याख्या सही मानी जायगी। यदि सधि मे सामान्य और विशेष व्यवस्थाओ मे मतभेद हो तो विशेष व्यवस्थाये ही सामान्य व्यवस्थाओ को नियन्त्रित करेंगी। यह रोमन कानून के (Lex specialis derogat generali) नियम (विशेष सामान्य बाधते) के अनुरूप हैं।

(४) **प्रभावशालिता का सिद्धान्त** (The Principle of Effectiveness)—स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस पर बल देते हुए कहा है कि प्रत्येक सधि को ऐसी व्याख्या प्रदान की जानी चाहिये, जो समग्ररूप' मे इस सधि को 'प्रभावशाली और उपयोगी' बनाये। बहुपक्षीय समझौतो मे उन्हे कार्यरूप मे परिणत करने वाली व्यवस्थाओ के विषय मे यह सिद्धान्त विशेष रूप से लागू होता है।

(५) **बाह्य सामग्री की सहायता** (Recourse to Extrinsic Material)—सामान्य रूप से न्यायालय किसी सधि की व्याख्या के लिये उसके मूल पाठ (Text) को महत्वपूर्ण मानते है, कई बार सधि के शब्दो से स्पष्ट विरोध न होने की दशा मे व्याख्या के लिये निम्नलिखित प्रकार की बाह्य सामग्री से सहायता ली जाती है—(क) सधि से सम्बन्ध रखने वाला पुराना इतिहास और ऐतिहासिक प्रथाये। (ख) सधि की तैयारी होने का कार्य (Travaux preparatoires), जैसे सधि का प्रारूप (Draft), सधि सम्मेलन के वाद-विवाद। सधि का मूल पाठ अस्पष्ट होने पर ही इनसे सहायता ली जाती है। गुप्त सधियो, समझौतो या सधि चर्चा मे रद्द किये गये प्रस्तावो को इस व्याख्या मे कोई महत्त्व नही दिया जाता।

(६) जब सधि के नियम स्पष्ट और निश्चित हो तो इनकी व्याख्या की कोई आवश्यकता नही समझी जाती। १६०१ मे स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन मे हे पौन्सेफोट (Hay-Pauncefote) सधि द्वारा पानामा नहर के बारे मे व्यवस्था की गई कि यह "इन नियमो का पालन करने वाले सब राष्ट्रों के व्यापारिक और लड़ाकू जहाजो के लिये समानता के आधार पर खुली रहेगी।" स० रा० अमरीका का यह दावा था कि 'सब राष्ट्रों' में वह इस नहर का निर्माता और स्वामी होने के कारण नही आता, वह इसमे अपने जहाजो के लिये विशेषाधिकारो का परित्याग नही कर सकता। ग्रेट ब्रिटेन का कहना था कि सधि के शब्द स्पष्ट और निश्चित हैं, उनकी व्याख्या की कोई आवश्यकता नही है।

(७) सधि के शब्दो और उद्देश्य मे विरोध होने पर शाब्दिक व्याख्या को अधिक विस्तृत और व्यापक रूप मे ग्रहण किया जाता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण

यूट्रैक्ट (Utrecht) की सधि की एक व्यवस्था से दिया जा सकता है। इसमे यह कहा गया था कि डन्कर्क के बन्दरगाह और किलेबन्दियों को नष्ट कर दिया जाय तथा दुबारा न बनाया जाय। सधि के शब्दों के अनुसार फ्रास ने इसे नष्ट कर दिया, किन्तु इसमे तीन मील की दूरी पर मरडिक (Mardyck) नामक स्थान पर नया बन्दरगाह और किला बनाना शुरू कर दिया। ग्रेट ब्रिटेन ने इसका उग्र विरोध किया, फ्रास द्वारा की गयी शाब्दिक व्याख्या को सन्धि के उद्देश्य के विरुद्ध बताते हुए उसे उपर्युक्त शब्दों की बुद्धिग्राह्य (Reasonable) एव अधिक उदार व्याख्या के अनुसार नये बन्दरगाह के निर्माण का कार्य बन्द करने को कहा। फ्रास को ग्रेट ब्रिटेन की यह बात माननी पडी।

(८) उदार व्याख्या (Liberal Interpretation) —१९३३ में **फैक्टर व० लोबन हाइमर** (Factor *v* Laubenheimer 290 U S 276) के मामले मे *न्यायालय ने यह सिद्धा त तय किया था—"यदि एक सधि की दो व्याख्यायें उत्तम रीति* से हो सकती हो एक व्याख्या सधि के अधिकारो को सीमित करती हो, दूसरी इन अधिकारो को विस्तृत करती हो तो अधिक उदार व्याख्या को ग्रहण किया जाना चाहिये।" इस मामले मे *न्यायालय ने इस सिद्धान्त के आधार पर दोनो देशो की प्रत्यर्पण* की सधि की अधिक उदार व्याख्या स्वीकार की थी।

(९) *कई बार सधियो मे ऐसे शब्दो का प्रयोग होता है जो दोनो देशो के स्थानीय प्रयोग म विभिन्न अर्थ रखते है। इस अवस्था मे वह सधि जिस देश म लागू होनी होती है, वहाँ के स्थानीय प्रयोग का ही अर्थ व्याख्या मे ठीक माना जाता है।* हाल ने इस विषय मे आस्ट्रिया और इटली की १८६६ की सधि का उदाहरण दिया है। इसमे हस्तान्तरित प्रान्तो के निवासियो (inhabitants) को इन प्रदेशो से हटने का अधिकार दिया गया था। निवासी शब्द का आस्ट्रियन तथा इटालियन कानून मे विभिन्न अर्थ था, यह व्यवस्था आस्ट्रिया पर लागू होनी थी, अत इसका आस्ट्रियन अर्थ स्वीकार किया गया।

(१०) *सधि की व्याख्या करते हुए उसके समग्ररूप का ध्यान रखना चाहिये।* आयोनियन जहाजो के मामले मे डा० वाशिंगटन ने इस पर बहुत बल दिया था। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने १९३७ म बेल्जियम और हालैंड को १८६३ की सधि पर विचार करते हुए कहा था - "इस सधि द्वारा उत्पन्न किया गया शासन इसकी सब व्यवस्थाओ को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध करने का परिणाम है। यह एक पूरी समष्टि है, इसकी कुछ व्यवस्थाओ को अन्य व्यवस्थाओ से पृथक् करके उन्ह स्वतन्त्र रूप मे नही सोचा जा सकता।"

(११) *सधियो की व्याकरणीय व्याख्या जहाँ विरोधी या असम्भव अर्थ उत्पन्न करे, वहाँ इसे स्वीकार नही करना चाहिये।*

(१२) *यदि सधि की किसी धारा का उद्देश्य न्याय (Equity) प्रदान करना हो तो इसकी बहुत सकीर्ण व्याख्या नही करनी चाहिये।*

(१३) *सधि की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिये कि वह उसके प्रयोजन* और उद्देश्य को आगे बढाने वाली हो।

(१४) संधियों की व्याख्या छल-कपट से रहित होनी चाहिये ।

श्वार्त्जेनबर्जर (Schwartzenberger) ने व्याख्या के उपर्युक्त नियमों को चार वर्गों में बांटा है सर्वप्रथम संधि के मूलपाठ की व्याकरणीय व्याख्या (Grammatical Interpretation) होनी चाहिये । यदि यह सन्तोषजनक न हो, शब्दों का अर्थ संदिग्ध हो तो इसकी क्रमबद्ध व्याख्या (Systematic Interpretation) होनी चाहिये । इसके लिये संधि के विभिन्न अंशों को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध करते हुए व्याख्या करनी चाहिये । जब इससे भी काम न चले तो ऐतिहासिक व्याख्या (Historical Interpretation) का सहारा लेना चाहिये । संधि होने के समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर विचार करते हुए इसकी व्याख्या करनी चाहिये । चौथा प्रकार कार्यात्मक व्याख्या (Functional Interpretation) का है । इसका यह अभिप्राय है कि संधि की व्याख्या उन प्रयोजनों और कार्यों को देखते हुए की जानी चाहिये, जिनकी पूर्ति के लिये संधि की गई थी ।[१६]

१६. श्वार्त्जेनबर्जर—ए मेनुअल आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ७३

अठारहवाँ अध्याय

संयुक्त राष्ट्र संघ

(United Nations Organization)

संघ के विचार का उद्भव और विकास (*Origin and Development of the Idea*)—द्वितीय विश्वयुद्ध के भीषण नरमेध और विध्वंस के ताण्डव ने विचारशील व्यक्तियों को मानवजाति की रक्षा के लिए शांति को सुरक्षित बनाये रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की तीव्र आवश्यकता अनुभव करायी। पश्चिमी योरोप तथा सं० अमरीका में इसके लिये पिछले राष्ट्र संघ से एक भिन्न संगठन बनाना कई कारणों से आवश्यक समझा गया। पहला कारण अमरीकी सीनेट द्वारा राष्ट्र संघ की योजना की अस्वीकृति थी। ऐसी संस्था को सं० रा० अमरीका द्वारा अपनाना सम्भव नहीं था। दूसरा कारण राष्ट्र संघ की परिषद् द्वारा १९३९ में सोवियत यूनियन का इससे निष्कासन था। मास्को का ऐसी संस्था में सम्मिलित होना असम्भव था, जिसे उसने अपनी सदस्यता से पृथक् कर दिया था। तीसरा कारण राष्ट्र संघ के साथ लगी हुई बदनामी और उसके संविधान की कुछ मौलिक त्रुटियाँ थीं, इनका निराकरण राष्ट्र संघ से भिन्न एक नई तथा अधिक शक्तिशाली नवीन संस्था से ही हो सकता था।

इसकी रूपरेखा तैयार करने के लिये १९४४ में वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स में ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस और चीन के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इन्होंने इस नई संस्था के विभिन्न अंग, पुरानी लीग के अंगों की भाँति, एक असेम्बली, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय रखे। इसके अतिरिक्त राष्ट्र संघ के सचिवालय द्वारा किये जाने वाले कार्यों को अधिक क्षमतापूर्वक करने के लिये एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) बनाने का तथा शांति स्थापित करने वाली, अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र सेनाओं की व्यवस्था के लिये सैनिक स्टाफ समिति के निर्माण के सुझाव दिये गये। इस समय पहली बार इस संस्था के सम्बन्ध में पश्चिमी राष्ट्रों और रूस के कुछ मतभेद प्रकट हुए। रूस इस संस्था को महाशक्तियों के निर्णयों पर सहमति प्राप्त करने का तथा प्रचार करने का साधन मात्र समझता था, वह इस पूंजीवादी (बूर्जुआ) राष्ट्रों से भरी संस्था में अपना प्रभाव बनाये रखने के लिये वीटो या निषेधाधिकार चाहता था। उसका यह कहना था कि केवल इसी प्रकार महाशक्तियों में शान्ति को स्थायी बनाये रखने वाली एकता बनी रह सकती है। वाशिंगटन सिद्धान्त रूप में वीटो से सहमत था, किन्तु इसे मर्यादित करना चाहता था। इस सम्मेलन में इस प्रश्न का कोई अन्तिम फैसला नहीं हो सका। याल्टा सम्मेलन में रूजवेल्ट और स्तालिन ने

इस पर यह समझौता किया कि सुरक्षा परिषद् प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) मामलो मे ११ सदस्यो मे से ७ के बहुमत से तथा अन्य आवश्यक विषयो (Substantive matters) मे सात स्वीकारात्मक मतो (Affirmative votes) से कार्य करे। इसमे सुरक्षा परिषद् के पाँचो सदस्यों-स० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत यूनियन, फ्रास और चीन की सहमति तथा एकमति (unanimity) होनी चाहिये। सयुक्त राष्ट्र सघ के विधान (चार्टर) को अन्तिम रूप सान फ्रासिस्को सम्मेलन (२५ अप्रैल—२६ जून १६४५) मे दिया गया। यहाँ पर तैयार किया गया चार्टर २४ अक्टूबर १६४५ से लागू हुआ और इसकी पहली बैठक जनवरी १६४६ में लन्दन में हुई। इसी वर्ष दिसम्बर मे जॉन डी० राकफेलर द्वारा मेनहेट्टन (न्यूयार्क) के मध्य म दान दिये गये स्थान मे इसका स्थायी मुख्य कार्यालय रखने का निश्चय हुआ।

सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्य और प्रयोजन (Object and Purpose of U. N O)—सयुक्त राष्ट्र सघ का चार्टर राष्ट्र सघ के प्रतिज्ञापत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, इसमे दस हजार शब्द, १११ धाराये तथा १६ अध्याय है। इसके आरम्भ मे ही इसके उद्देश्यो का वर्णन है। इसका **पहला** उद्देश्य मानवजाति की भावी सन्ततियो को युद्ध की विभीपिका से मुक्ति प्रदान करना, अन्तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा बनाये रखना है और इस दृष्टि मे शाति को सकट मे डालने वाले सभी कार्यो के विरोध के लिये प्रभावशाली सामूहिक उपायो का ग्रहण करना है तथा शाति को भग करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त के आधार पर शान्तिपूर्ण उपायो से हल करना है। इसका **दूसरा** उद्देश्य सब राष्ट्रो मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो का बढाना है, इसका आधार सब लोगो का समानाधिकार तथा आत्मनिर्णय का सिद्धान्त होना चाहिये। **तीसरा** उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक या मानवतावादी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने म सब देशो का सहयोग प्राप्त करना, मानवीय अधिकारो के प्रति सम्मान बढाना तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना सब को मौलिक स्वतन्त्रताये प्राप्त कराना है। **चौथा** उद्देश्य सयुक्त राष्ट्र सघ को ऐसा केन्द्र बनाना है, जो इन सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिये विभिन्न राष्ट्रो द्वारा किये जाने वाले कार्यो मे सामजस्य स्थापित कर सके।

मौलिक सिद्धान्त (Basic Principles)—सघ के चार्टर की धारा २ मे इसके निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्त बताये गये है—(१) इसका प्रधान आधार छोटे-बडे सब देशो की समानता और सर्वोच्च सत्ता का सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ, इसमे रूस और सयुक्त राज्य अमरीका जैसे बडे राज्यो का तथा नौरू जैसे अभी स्वतन्त्र हुए छोटे राज्यो का दर्जा समान माना जाता है, उन्हें बराबर सख्या मे प्रतिनिधि भेजने, इसकी सब कार्यवाहियो मे भाग लेने तथा वोट देने के अधिकार एक जैसे हैं। (२) प्रत्येक सदस्य से यह आशा रखी जाती है कि वे चार्टर द्वारा उन पर लागू होने वाले दायित्वो का पालन पूरी ईमानदारी से करें। (३) सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों से करेंगे। (४) सभी राष्ट्र सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्यो के प्रतिकूल कोई कार्य नही करेंगे, वे किसी देश की स्वतन्त्रता का हनन करने की या आक्रमण

करने की न तो धमकी देंगे और न ऐसा कार्य करेंगे। (५) कोई भी देश चार्टर के प्रतिकूल काम करने वाले देश की सहायता नहीं करेगा। (६) स० रा० संघ इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों से भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने वाले सिद्धान्तों का पालन करायेगा। (७) स० रा० संघ किसी देश के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

सदस्यता (Membership)—संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र इसके आरम्भिक सदस्य थे। नये सदस्य पाँच स्थायी सदस्यों सहित सुरक्षा परिषद् के बहुमत की सिफारिश पर तथा असेम्बली के दो तिहाई बहुमत से बनाये जा सकते हैं। सदस्य बनने के लिये किसी देश का शान्तिप्रिय होना, चार्टर की बाध्यताओं को स्वीकार करना तथा इन्हें पूरा करने के लिए समर्थ होना है। पाँच स्थायी सदस्यों में से कोई भी किसी नये सदस्य को अपने वीटो (निषेधाधिकार) से संघ में प्रविष्ट होने से रोक सकता है।

इसके सब सदस्यों के अधिकार समान समझे जाते हैं। उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे इस चार्टर के अनुसार अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे, इसके सब सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शान्तिपूर्ण रीति से इस प्रकार करेंगे कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा और न्याय खतरे में न पड़ें। सब सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता भंग करने के लिये न तो शक्ति प्रयोग करने की धमकी देंगे और न शक्ति का प्रयोग करेंगे। वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे, जो संयुक्त राष्ट्रों के प्रयोजनों के अनुकूल न हो। सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्र संघ को ऐसी प्रत्येक कार्यवाही में सब प्रकार की सहायता देंगे, जो वर्तमान चार्टर के अनुसार हो तथा संयुक्त राष्ट्र संघ जिस राज्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर रहा हो, उसे कोई मदद नहीं देंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ का किसी राज्य के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। यद्यपि इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों पर चार्टर के दायित्व और बंधन लागू नहीं होते, फिर भी यदि वे शान्ति का भंग करते हैं तो संयुक्त राष्ट्र संघ उनके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। सदस्य न बनने वाले राज्यों को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद सुरक्षा परिषद् के सामने लाने का अधिकार है। वे सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर सामान्य असेम्बली द्वारा निश्चित की गई शर्तों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में सम्मिलित होने का भी अधिकार रखते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग (Principal Organs of U N O)—संघ के चार्टर की धारा ७ के अनुसार इसके छः अंग हैं—(१) सामान्य असेम्बली (General Assembly), (२) सुरक्षा परिषद् (Security Council), (३) आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council), (४) न्यास परिषद् (Trusteeship Council), (५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, (६) सचिवालय (Secretariat)।

सामान्य असेम्बली (General Assembly)—इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य-राज्य को इसमें ५ प्रतिनिधि तथा ५ वैकल्पिक

प्रतिनिधि (Alternate delegates) भेजने का अधिकार है, किन्तु वह वोट एक ही दे सकता है। इसका अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर महीने के तीसरे बृहस्पतिवार से प्रारम्भ होता है। इसके विशेष अधिवेशन महामंत्री सुरक्षा परिषद् की अथवा स० रा० संघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर बुला सकता है। ऐसे विशेष अधिवेशन पैलेस्टाइन की समस्या पर २८ अप्रैल से १५ मई १९४७ को तथा १६ अप्रैल से १४ मई १९४८ को बुलाये गये, मध्यपूर्व की स्थिति पर १ से १० नवम्बर १९५६ को तथा हंगरी की स्थिति पर ४ से १० नवम्बर १९५६ को किये जा चुके हैं। असेम्बली का कार्य ७ मुख्य समितियों में बँटा हुआ है, प्रत्येक सदस्य इनमें अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये समितियाँ इस प्रकार हैं—(१) राजनीतिक और सुरक्षा समिति, इसके कार्य में शस्त्रास्त्रों का नियंत्रण भी सम्मिलित है। (२) आर्थिक और वित्तीय समिति, (३) सामाजिक, मानवीय और सांस्कृतिक समिति, (४) न्यास समिति (Trusteeship Committee), (५) प्रशासनात्मक तथा बजट समिति, (६) कानूनी समिति (७) विशेष राजनीतिक समिति। इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियां होती हैं—(१) सामान्य समिति—इसका कार्य असेम्बली की तथा इसकी समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करना होता है। (२) प्रमाणपत्र समिति, (Credentials Committee)—यह प्रतिनिधियों के प्रमाणपत्रों की जाँच करती है।

असेम्बली प्रत्येक अधिवेशन के लिये अपना सभापति चुनती है। इसके आठवें अधिवेशन के लिये भारत की प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित सभापति चुनी गई थीं। इसके महत्वपूर्ण निर्णय दो तिहाई बहुमत से तथा अन्य निर्णय सामान्य बहुमत से होते हैं। महत्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं—शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी सिफारिशें, सदस्यों का प्रवेश या निष्कासन, ट्रस्टीशिप के विषय, संघ के अन्य अंगों के सदस्यों का चुनाव।

असेम्बली वर्तमान चार्टर के क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी विषय पर विचार कर सकती है। इसके प्रमुख विचारणीय विषय ये हैं—निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्रनियन्त्रण के सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्त, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य अथवा सदस्येतर किसी राज्य द्वारा इसके समक्ष उपस्थित किये गये शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्न, संघ के विभिन्न अंगों की शक्तियों तथा कार्यों से सम्बन्धित प्रश्न, सुरक्षा परिषद् की वार्षिक तथा विशेष रिपोर्टों पर विचार, बजट पर विचार तथा अनुमोदन, विभिन्न देशों द्वारा संघ के व्यय को वहन करने का अनुपात।

सामान्य असेम्बली निम्नलिखित बातों के अध्ययन की व्यवस्था करती है तथा उस पर अपनी सिफारिश देती है—(क) राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास और संहिताकरण को प्रोत्साहित करना, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाना, जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेद किये बिना सबको मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रतायें दिलाने में सहायता देना। मूल चार्टर में यह व्यवस्था थी (धारा १२) कि सुरक्षा परिषद् जब किसी झगड़े या परिस्थिति पर विचार कर रही हो तो

उसके सम्बन्ध में असेम्बली तब तक कोई सिफारिश नहीं करेगी, जब तक स्वयं सुरक्षा परिषद् उससे ऐसा करने को न कहे। किन्तु जब सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों द्वारा वीटो के प्रयोग से गतिरोध उत्पन्न होने लगा तो असेम्बली ने १९५० में अपने पाँचवें अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास किया कि जब सुरक्षा परिषद्, ऐकमत्य न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित रखने के अपने प्रधान उत्तरदायित्व को पूरा न कर सके और शान्ति भंग के भय या आक्रमण की आशंका हो तो असेम्बली इस विषय पर फौरन विचार करके सदस्यों को शान्ति बनाये रखने के सामूहिक उपायों की सिफारिश करेगी, यदि शान्ति भंग या आक्रमण की आशंका हो तो वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये सैनिक कार्यवाही के प्रयोग की सिफारिश भी कर सकती है। इस प्रस्ताव से असेम्बली के अधिकार और प्रभाव में बड़ी वृद्धि हुई है।

छोटी असेम्बली (Little Assembly)—१९४७ तक सुरक्षा परिषद् में स्थायी महाशक्तियों के उग्र विरोध और वीटो के प्रयोग के कारण ऐसा गतिरोध उत्पन्न हो गया कि सुरक्षा परिषद् से युद्ध और आक्रमणों की आशंका से भयभीत विश्व को सुरक्षा पाने या शांति बनाये रखने की आशाओं का पूरा होना असम्भव प्रतीत हुआ। अतः सामान्य असेम्बली ने इस नवीन परिस्थिति का हल करने के लिये १३ नवम्बर १९४७ को "अन्तरिम समिति (Interim Committee) नामक एक नया सहायक अंग स्थापित किया, इसे सामान्य रूप से छोटी असेम्बली कहा जाता है। यह असेम्बली का सामान्य अधिवेशन न होने की दशा में उसके अधिकार-क्षेत्र में आने वाले प्रश्नों पर विचार करती है, इसके लिये इसे जांच कमीशन नियत कराने, आवश्यक अन्वेषण कराने और महामंत्री को असेम्बली का विशेष अधिवेशन बुलाने की सिफारिश करने का अधिकार है। इसकी स्थिति सुस्पष्ट करने के लिये सामान्य असेम्बली ने यह भी निश्चय किया कि छोटी असेम्बली चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के दायित्वों का भी ध्यान रखेगी। सामान्य असेम्बली के प्रत्येक सदस्य को इसमें एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। इस प्रकार यह जनरल असेम्बली से बहुत छोटी, उसका पचमांश और सदा अधिवेशन में रहने वाली स्थायी संस्था है। प्रारम्भ में यह दो बार एक-एक वर्ष के लिये बनायी गई। नवम्बर १९४९ में इसे अनिश्चित अवधि के लिये पुनः स्थापित किया गया। किन्तु रूस तथा उसके समर्थक देश इसके घोर विरोधी थे। १९५२ के बाद इसकी कोई बैठक नहीं हुई।

शान्ति के लिये एकता (Uniting for Peace) प्रस्ताव (३ नवम्बर १९५०)—सुरक्षा परिषद् में वीटो के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का दूसरा प्रयत्न यह प्रस्ताव था। यह वस्तुतः सोवियत रूस द्वारा बार-बार निषेधाधिकार के प्रयोग से उत्पन्न परिस्थिति का प्रतिकार करने के लिये और कोरिया युद्ध में चीनी फौजों के हस्तक्षेप की सूचना, कोरिया की संयुक्त कमान से उपलब्ध होने से दो दिन पूर्व पास किया गया था। जून १९५० में कोरिया के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् ने बड़ी तेजी से कार्यवाही की थी। इसका कारण यह था कि उस समय सोवियत रूस सं० राष्ट्र संघ के कुछ अंगों की बैठकों का जानबूझकर बहिष्कार कर रहा था, क्योंकि संघ ने

पेकिंग की कम्यूनिस्ट सरकार को अपना सदस्य बनाना स्वीकार नही किया था। अगस्त १९५० मे रूस ने इस बहिष्कार की नीति को छोडकर सुरक्षा परिषद् की बैठको मे भाग लेना शुरू किया, इससे यह स्पष्ट था कि कोरिया के मामले मे वह किसी भी कार्यवाही मे अडगेबाजी करेगा, इसका हल करने के लिये तथा वीटो के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध को समाप्त करने के लिए अमरीका की ओर से यह प्रस्ताव रखा गया कि ऐसी स्थिति मे जनरल असेम्बली को विचार करने और आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार दिया जाय। जनरल असेम्बली मे वीटो न होने के कारण वहाँ इस प्रकार की अडगेबाजी नही हो सकती थी। रूस ने यद्यपि इसका इस आधार पर घोर विरोध किया कि इससे सुरक्षा परिषद् की सत्ता क्षीण हो जायेगी, फिर भी यह 'अकेसन योजना' (Acheson Plan) पास हो गई।

इसके अनुसार सुरक्षा परिषद् के वीटो विहीन सात सदस्यो के वोट से या सघ के सदस्यो के बहुमत से, २४ घण्टे का नोटिस देकर जनरल असेम्बली का आवश्यक विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। यदि सुरक्षा परिषद् आपसी मतभेदो के कारण शान्ति भग की अथवा आक्रमण की आशका को या आक्रमण को रोकने मे अपने कर्त्तव्य का पालन नही करती, तो असेम्बली इस विषय पर फौरन विचार करके "सामूहिक उपायो" के लिए अपनी सिफारिशे दे सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए फौजी कार्यवाही का भी निर्देश कर सकती है। इस प्रस्ताव मे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव वाले क्षेत्र मे स्थिति का निरीक्षण करने और रिपोर्ट देने के लिये १४ व्यक्तियो के शान्ति निरीक्षण आयोग (Peace Observation Commission) की व्यवस्था थी और इसके तीसरे (सी) भाग मे सदस्यो से यह प्रार्थना की गयी थी कि वे अपनी सेनाओं का कुछ विशेष भाग इस दृष्टि से प्रशिक्षित, सगठित और सुसज्जित करें कि वह सुरक्षा परिषद् या जनरल असेम्बली की सिफारिश पर सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना के रूप मे फौरन सेवा के लिए उपलब्ध हो सके।

यह प्रस्ताव सघ के विधान मे बडा क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला है। इसने जनरल असेम्बली को सुरक्षा परिषद् से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। पहले स० रा० सघ का केन्द्र सुरक्षा परिषद् थी, अब इसने यह गौरवास्पद स्थान असेम्बली को प्रदान किया है। इससे वीटो की समाप्ति तो नही हुई, किन्तु उससे उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का हल निकल आया है। यद्यपि सुरक्षा परिषद् इस विषय मे केवल सिफारिशे ही करती है और इनका मानना सदस्यों की इच्छा पर है और इन्हे न मानते हुए भी सदस्य चार्टर का उल्लघन नही करते, जैसे भारत और सोवियत गुट ने कोरिया युद्ध मे चीनी हस्तक्षेप के सम्बन्ध मे असेम्बली की सिफारिश नही मानी थी, फिर भी ये सिफारिशे बडा महत्व रखती हैं। नवम्बर १९५६ मे मिश्र पर इजराइल, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास का आक्रमण होने पर जनरल असेम्बली के विशेष अधिवेशन ने इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते हुए सफलतापूर्वक शान्ति स्थापित की।

१९४६ से सुरक्षा परिषद् की तुलना मे जनरल असेम्बली का महत्व बढ रहा है। इसमे १११ राष्ट्रो के प्रतिनिधियो के समानता के आधार पर सम्मिलित होने के

कारण तथा उनके स्वतन्त्र रूप मे अपनी शिकायते, प्रस्ताव और सुझाव रखने के कारण इसे विश्व का उन्मुक्त अन्त करण (Open conscience of the world) कहा जाता है। इसमे "अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, कपडो और आवास स्थान" तक की सभी समस्याओ पर विचार होता है। स्टार्क के कथनानुसार यह बात उल्लेखनीय है कि जनरल असेम्बली ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नो के समाधान मे प्रधान भाग लिया है। इसने सयुक्त राष्ट्र सघ के समक्ष लाये कुछ मुख्य प्रश्नो पर विचार करके पैलेस्टाइन, यूनान, स्पेन और कोरिया के सम्बन्ध मे कार्यवाही की है। पैलेस्टाइन के विषय मे इसने १९४६ मे तथ्य अन्वेषण की विशेष समिति नियत की, १९४८ मे यहूदियो तथा अरबो के विवाद के निर्णय के लिए पहले मध्यस्थ नियुक्त किया और बाद मे समझौता आयोग बनाया।"[1]

सुरक्षा परिषद् (Security Council)—चार्टर के पाँचवे अध्याय की धारा २३ से ३२ तक सुरक्षा परिषद् के सगठन, कार्यो, अधिकारो तथा मतदान पद्धति का वर्णन है। इस परिषद् के १५ सदस्य होते है, इनमे चीन, फ्रास, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन तथा स० रा० अमरीका स्थायी सदस्य है, दस अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिए जनरल असेम्बली के दो-तिहाई बहुमत से चुने जाते हैं, दो वर्ष की अवधि समाप्त होने पर किसी सदस्य को पुन चुनाव के लिए खडा होने का अधिकार नही है, प्रत्येक सदस्य का परिषद मे एक प्रतिनिधि होता है। अस्थायी सदस्य प्राय. विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से चुने जाते हैं, इनमे प्राय दो लैटिन अमरीका राज्यो के प्रतिनिधि, एक ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का प्रतिनिधि और एक कम्युनिस्ट देशो का प्रतिनिधि होता है। स० रा० सघ का कोई भी सदस्य अपने देश से सम्बद्ध विषय उपस्थित होने पर इसकी कार्यवाही मे भाग ले सकता है (धारा ३२), किन्तु उसे वोट देने का अधिकार नही होता। १९५७ ५८ मे सुरक्षा परिषद् मे काश्मीर का प्रश्न उपस्थित होने पर भारत और पाकिस्तान ने इसकी कार्यवाही मे इसी प्रकार भाग लिया था।

सुरक्षा परिषद् का सगठन इस प्रकार का बनाया गया है कि वह लगातार काम करती रहे, अत सघ के मुख्य कार्यालय मे सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य के एक प्रतिनिधि का बना रहना आवश्यक है (धारा २८)। सुरक्षा परिषद् का मुख्य उत्तरदायित्व "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना है" (धारा २४)। इसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और विवाद उत्पन्न करने वाली किसी भी परिस्थिति या झगडे की जाच का पूरा अधिकार दिया गया है। इसमे सामान्य रूप से कानूनी विवाद नही आते, क्योकि इनका निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जाता है। सयुक्त राष्ट्र सघ के सब सदस्य इस बात पर सहमत हैं कि वे "वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के सब निर्णयो को स्वीकार करेंगे, एव पालन करेंगे" (धारा २)। सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगडा के शान्तिपूर्ण निपटारे के सम्बन्ध मे धारा ३३ से ३८ तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को सकट

१. स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ४४४

मे डालने, इसे भग करने तथा आक्रमण रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध मे धारा ३६ से ५१ तक विस्तृत वर्णन है। यह परिषद् अपने निर्णयो को क्रियान्वित करने के लिए सदस्यों को पहले तो ऐसे उपायो को व्यवहार मे लाने के लिए कहती है जिनमे सेना के उपयोग की आवश्यकता न हो। यदि ये उपाय अपर्याप्त हो तो परिषद् "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने या फिर से स्थापित करने के लिए" जल, थल, वायु-सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है (धारा ४२)। सयुक्त राष्ट्र सघ के सब सदस्य यह वचन देते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा बनाये रखने मे सहयोग देने के लिये सुरक्षा परिषद् के मॉंगने पर और विशेष समझौतो के अनुसार वे अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता तथा अन्य सुविधाएँ प्रस्तुत करेंगे (धारा ४३)। सुरक्षा परिषद् "सशस्त्र सेनाओ को उपयोग मे लाने की योजनाय" एव सैनिक स्टाफ समिति की सलाह और सहायता से बनायेगी (धारा ४४)। यह सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee) सुरक्षा परिषद् को निम्न विषयो मे सहायता और परामर्श देगी—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने की सैनिक आवश्यकताएँ, इस समिति के आधीन सेनाओ का प्रयोग और कमान, शस्त्रो का नियन्त्रण, सभावित नि शस्त्रीकरण (धारा ४६)। इस समिति के सदस्य सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के सैनिक स्टाफो के अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि होंगे। सुरक्षा परिषद् को उपयोग के लिए दी गई सशस्त्र सेनाओ का सामरिक सचालन, सैनिक स्टाफ समिति के हाथ मे होगा और यह परिषद् के आधीन होगी (धारा ४७)। सुरक्षा परिषद् जो भी कार्यवाही तय करेगी, उसे पूरा करने मे सब सदस्य सामूहिक रूप से एक दूसरे को सहयोग देंगे (धारा ५०)।

सुरक्षा परिषद् की ये व्यवस्थाएँ **राष्ट्रसघ के पुराने प्रतिज्ञापत्र से मौलिक भेद रखती हैं**, उसम आक्रमणो को रोकने के लिए सैनिक स्टाफ समिति जैसा कोई सगठन नही था। सुरक्षा परिषद् ने कोरिया के युद्ध मे इन धाराओ का उपयोग किया था, ७ जुलाई तथा २७ जुलाई १९५० को पास किये प्रस्तावो म उत्तर कोरिया के आक्रमण की निन्दा करते हुए सदस्यो को इसके विरोध के लिए सेनाएँ देने और अन्य सहायता करने को कहा गया था। कई बार सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा किसी सदस्य पर आक्रमण होने की दशा मे उसे सहायता पहुँचाने मे किन्ही कारणो से विलम्ब हो सकता था, अत धारा ५१ मे उसे उस समय तक आत्मरक्षा (Self-defence) का अधिकार दिया गया है, 'जब तक सुरक्षा परिषद् स्वयमेव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई कार्यवाही नही करती।" इसके अतिरिक्त चार्टर ने शान्ति बनाये रखने के लिए प्रादेशिक व्यवस्थाओ सगठनो, सधियो, समझौतो की भी अनुमति इस शर्त पर दी है कि ये स० रा० सघ के प्रयोजनो और सिद्धान्तो से मेल खाते हो (धारा ५२) और सुरक्षा परिषद् के आधीन ही अपनी सारी कार्यवाही करें और इसकी सूचना सुरक्षा परिषद् को भेजते रहें (धारा ५३)।

वीटो (Veto)—चार्टर की धारा २७ म सुरक्षा परिषद् मे मतदान की प्रणाली का वर्णन है। इसके अनुसार प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) विषयों मे परिषद् के निर्णय सात सदस्यो के स्वीकारात्मक (Affirmative) मत से किये जायेंगे। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयो का आशय ऐसे मामलो से है जिनमे सुरक्षा परिषद् की बैठक के समय

या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अगो की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक मे सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करना आदि हो। इसके अतिरिक्त सब विषय सारवान् (Substantive) या महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। ऐसे विषयो के निर्णयो के लिए सात सदस्यो के स्वीकारात्मक सात वोटो के साथ पाँच स्थायी सदस्यों के स्वीकारात्मक वोट भी होने चाहियें। यदि इन पाँच मे से किसी का विवादास्पद झगडे से सम्बन्ध है तो यह वोट नही देगा। इस व्यवस्था के अनुसार यदि पाँच सदस्यो मे से कोई एक भी किसी महत्वपूर्ण निर्णय के विपक्ष मे वोट देता है, तो यह विषय अस्वीकृत समझा जायेगा। यही निषेधाधिकार या वीटो की सुप्रसिद्ध व्यवस्था है। सुरक्षा परिषद् मे पहले ७ वर्षो मे इसका पचास बार प्रयोग हुआ, इनमे से केवल एक बार फ्रास ने किन्तु ४९ बार सोवियत रूस ने इसका प्रयोग किया।[१] इसका प्रयोग प्राय सघ मे नये सदस्यों का प्रवेश रोकने के लिए तथा विवादो के शान्तिपूर्ण निपटारे के विषय मे हुआ है। सामान्यत यह कहा जाता है कि वीटो की व्यवस्था बडी दोषपूर्ण है। इससे कोई एक महाशक्ति सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्य सभी सदस्यो द्वारा चाही जाने वाली व्यवस्थाओं को ठप्प कर सकती है अत वीटो की दूषित और हानिकर व्यवस्था का उन्मूलन अथवा सशोधन होना चाहिये।

इस प्रश्न की समुचित मीमासा के लिए **वीटो व्यवस्था** की पृष्ठभूमि पर विचार करना आवश्यक है। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम समय मे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय सगठन पर विचार करते हुए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस व्यवस्था को इसलिये आवश्यक समझा था कि युद्ध के बाद ऐसे सगठन को तभी सफलता मिल सकती थी, जबकि इसे सब महाशक्तियो का सहयोग प्राप्त हो। राष्ट्रपति की दूरदृष्टि ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत रूस या स० रा० अमरीका जैसे बडे देशो के लिए एक ऐसे सगठन मे भाग लेना सम्भव नही है, जिसमे अन्य राष्ट्र केवल अपने बहुमत के बल पर ही महाशक्तियो को किसी कार्य के लिए बाधित करे। इसे रोकने का एक मात्र उपाय वीटो था। महाशक्तियो के सहयोग के बिना विश्व सगठन की कोई व्यवस्था सफल नही हो सकती थी, उन्हे जबर्दस्ती उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करने के लिए बाधित नही किया जा सकता था। इसका परिणाम युद्ध और विश्व सगठन की समाप्ति थी। अत वाशिंगटन का यह विचार था कि वह वीटो वाला विश्व सगठन ही स्वीकार करेगा और यदि इसमे वीटो की व्यवस्था नही होगी तो वह उसके लिये सर्वथा अस्वीकार्य होगा। स० रा० अमरीका का यह विचार था कि सुरक्षापरिषद् ऐसे निर्णय कर सकती है, जिनके अनुसार उसे अपनी सेना का उपयोग करना पडे, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह यह उपयोग अपनी इच्छा से करे, न कि दूसरे राष्ट्रों द्वारा बाधित होकर। यदि स० रा० अमरीका ऐसे उपयोग से सहमत नही है तो इसे अपने निषेधाधिकार द्वारा रद्द करने का पूरा अधिकार होना चाहिये। किन्तु वीटो के अधिकार का प्रबल समर्थक होते हुए भी वाशिंगटन यह चाहता था कि इसके प्रयोग म बडी सावधानी बरती जाए। इसका

---

१. चार्ल्स रलीचर—एन इट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ६२५

उपयोग विवादो के शान्तिपूर्ण निपटारे को रोकने या नये सदस्यो के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए नही हो। इसके विपरीत रूस निषेधाधिकार के प्रयोग को नियन्त्रित करने के पक्ष मे नही है, वह २६ जुलाई १६६० तक इसका प्रयोग ८६ बार कर चुका था।

केलसन (Kelsen) का यह मत है कि वीटो राष्ट्र सघ मे पाँच स्थायी सदस्यो को विशेषाधिकारप्राप्त शक्तियाँ बनाता है, अन्य सब सदस्यों पर उनकी कानूनी प्रभुता स्थापित करता है, यह उनके निरकुश और स्वच्छन्द शासन का सूचक है। चार्टर मे घोषित किये सब सदस्यो की समानता के मूल एव सर्वप्रथम सिद्धान्त का प्रत्याख्यान है, यह उसकी समूची राजनीतिक विचारधारा का विरोधी है और सघ की व्यवस्था मे गतिरोध उत्पन्न करने वाला है, अत वीटो की समाप्ति होनी चाहिये।[3]

किन्तु यह मत ठीक प्रतीत नही होता। स० रा० सघ को सुचारु रूप से चलाने के लिए वीटो का होना आवश्यक है। पहले यह बताया जा चुका है कि सघ की सफलता के लिए महाशक्तियों का सहयोग अपेक्षित है, राष्ट्र सघ की विफलता का एक कारण स० रा० अमरीका और रूस का उससे पृथक् रहना था। यदि वर्तमान सघ मे बहुमत द्वारा किसी महाशक्ति को किसी कार्य के लिये बाधित किया जाय तो उसका परिणाम विश्वयुद्ध और सघ से उस शक्ति का पृथक् हो जाना होगा। अत वीटो का मूल विचार श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दो मे विश्वयुद्ध की सम्भावना को हटाना तथा विवादो को सम्मेलनो द्वारा सुलझाना है।[4] वीटो पद्धति को इसमे बडी सफलता मिली है, अत उसका बना रहना आवश्यक है।[5] इसके न होने का परिणाम सयुक्त राष्ट्र सघ की क्षीणता और विघटन होगा।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (The Economic and Social Council)—चार्टर के दसवें अध्याय मे धारा ६१ से ६२ तक इस परिषद् के स्वरूप, कार्यो तथा शक्तियो का वर्णन है। इस परिषद् में जनरल असेम्बली द्वारा चुने हुए २७ सदस्य होते हैं, इनमे से ६ सदस्य प्रतिवर्ष तीन साल के लिए निर्वाचित होते हैं। जिन सदस्यो की अवधि समाप्त हो जाय, वे चुनाव के लिये पुन खडे हो सकते हैं। यह सस्था सघ के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा अन्य विभिन्न प्रकार के कार्यों को करती है। इन्हे सम्पन्न कराने के लिए यह उपर्युक्त विषयो का अध्ययन करती है, इन पर रिपोर्ट देती है, इनके अध्ययन का प्रबन्ध करती है। यह सबके लिए मानव अधिकारो तथा मूल स्वतन्त्रताओ के प्रति आस्था बढाने के लिए या उनका पालन कराने के लिए सिफारिशें कर सकती है, अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर आने वाले विषयों के सम्बन्ध में असेम्बली मे पेश करने के लिए समझौते का मसविदा तैयार कर सकती है तथा इससे सम्बद्ध विषयो पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कर सकती

---

३. हेन्स केलसन—दी लॉ आफ् दी यूनाइटेड नेशन्स, पृ० २७६-७७

४. १८ सितम्बर १६५० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की विषय समिति में दिया गया भाषण।

५. चार्ल्स स्लीचर—एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ६२५-२६

है। इसे आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में मानव अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए कमीशन बनाने का अधिकार है। इसके सब निर्णय उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत से किये जाते है। प्रतिवर्ष इसके कम से कम दो अधिवेशन होते हैं। यह केवल सिफ़ारिशें करती है, इसे अपने निर्णय क्रियान्वित कराने का अधिकार नहीं है।

इस परिषद् का उद्देश्य विश्व को अभाव से मुक्ति प्रदान कराना है। जिस प्रकार सुरक्षा परिषद् विश्व को युद्ध के संकट से बचाती है, इसी प्रकार यह उसकी दरिद्रता और दैन्य के दानवों से रक्षा करती है। चार्टर की ५५वीं धारा मे यह कहा गया है कि इसका उद्देश्य निम्न बातों को बढावा देना है—(क) रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना, सबको काम दिलाना, आर्थिक और सामाजिक विकास के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना। (ख) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और तत्सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना, संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग। (ग) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेद किये बिना सबके लिए मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताकी रक्षा, इनके प्रति सर्वत्र सम्मान और उनका पालन। तीसरी व्यवस्था सर्वथा नवीन है, राष्ट्र संघ के संविधान मे केवल राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों को अल्पसंख्यक सन्धियों द्वारा सुरक्षित बनाने की व्यवस्था थी, किन्तु इसमें मानवीय अधिकारों की सुरक्षा पर बल दिया गया है। आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा परिषद् उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने का यत्न करती है। आर्थिक उन्नति के लिए यह प्राविधिक सहायता का आयोजन करती है और सामाजिक उन्नति के लिए मानवीय अधिकारों का निर्धारण और पालन। ये दोनों एक दूसरे के पूरक है, आर्थिक उन्नति के बिना मानवीय अधिकार निरर्थक हैं और मानवीय अधिकारों के बिना भर-पेट भोजन करने वाला मनुष्य पशुओं से बेहतर नहीं है।

आर्थिक तथा सामाजिक सुरक्षा परिषद् अपना कार्य विभिन्न प्रकार के आयोगों, स्थायी समितियों, तदर्थ समितियों और विशेष संस्थाओं के माध्यम से करती है। ये इसको रिपोर्ट देते हैं। इसके आयोग दो प्रकार के हैं—कार्यात्मक (Functional) और प्रादेशिक (Regional)। पहले प्रकार के आयोग निम्न विषयों से सम्बद्ध हैं—आर्थिक और रोजगार, यातायात तथा संचार साधन, आंकड़े सम्बन्धी, मानवीय अधिकार, स्त्रियों का सामाजिक दर्जा, नशीली दवाइयाँ, वित्तविषयक तथा जनसंख्या सम्बन्धी। प्रादेशिक आयोग विभिन्न देशों की आर्थिक समस्याओं के समाधान मे सहायता पहुँचाते है। अब तक ऐसे तीन आयोग स्थापित हुए हैं—पहला १९४७ मे योरोप के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Europe) था, इसके अधीन विभिन्न समितियाँ कोयले, बिजली, उद्योग, आन्तरिक यातायात, इस्पात, इमारती व्यापार और कृषि की समस्याओं पर विचार करती है। १९४७ मे एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Asia and Far East—ECAFE) तथा १९४८ मे दक्षिण अमरीका का आर्थिक आयोग (Economic Commission for Latin America) स्थापित किया गया। इस परिषद् की विशेष संस्थायें निम्नलिखित हैं—स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड,

अन्तर्राष्ट्रीय बालकल्याण निधि (U. N. International Children Emergency Fund—UNICEF)। अन्तिम संस्था जनरल असेम्बली द्वारा ११ दिसम्बर १९४६ को स्थापित की गई थी। इसका उद्देश्य बालकल्याण के विविध सराहनीय कार्य करना है।

न्यास के विचार का विकास तथा न्यास परिषद् (Trusteeship Council)—संयुक्त राष्ट्र संघ ने राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था के स्थान पर न्यास पद्धति (Trusteeship) को ग्रहण किया और इसके संचालन के लिए न्यास समिति का निर्माण हुआ है। मैण्डेट की भाँति न्यास की व्यवस्था भी विभिन्न शक्तियों के समझौते का परिणाम थी।[६] १९४५ में ७० करोड़ व्यक्ति पश्चिमी राष्ट्रों के साम्राज्यों में पराधीन थे, इस प्रकार मानव जाति के प्रति तीन व्यक्तियों में से एक परतन्त्र था, किन्तु अगले दस वर्षों में इस विचार के विकास से प्रति बारह व्यक्तियों में से एक ही पराधीन रह गया है। युद्ध के समय में अनेक सम्मेलनों में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की समस्या पर विचार हुआ था। उस समय राष्ट्रपति रूज़वेल्ट पराधीन देशों—भारत आदि को स्वाधीन बनाने की नवीन व्यवस्था (New Deal) के पक्षपाती थे, किन्तु स० रा० अमरीका में उपनिवेशवाद विरोधी भावना होते हुए भी कुछ व्यक्ति प्रशान्त महासागर में जापान से छीने हुए टापुओं पर सामरिक दृष्टि से अमरीका का प्रभुत्व वाञ्छनीय समझते थे। डच, फ्रेंच और दक्षिण अफ्रीका यूनियन वाले साम्राज्यवाद और मैण्डेट व्यवस्था को बनाये रखना चाहते थे। किन्तु इसके साथ ही द्वितीय महायुद्ध में एशिया में उत्पन्न साम्राज्यवादी विरोधी भावना की उपेक्षा सम्भव नहीं थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्र संघ के मैण्डेट वाले प्रदेशों की तथा इटली के साम्राज्य की नई व्यवस्था करनी थी। सान फ्रांसिस्को के सम्मेलन में जब इन समस्याओं पर विचार हुआ तो फ्रांस, हालैण्ड और दक्षिण अफ्रीका तथा स० रा० अमरीका के सैनिक दलों ने पुरानी मैण्डेट व्यवस्था में किसी प्रकार के विस्तार का तथा रूज़वेल्ट की तथा कार्डेल हल की न्यास पद्धति के विचारों का विरोध किया। किन्तु न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, मध्यपूर्व तथा दक्षिण अमरीका के देशों, सोवियत यूनियन, स० रा० अमरीका तथा चीन ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के उन्मूलन पर बल दिया। इन दोनों दृष्टिकोणों में हुए समझौते का परिणाम स० रा० संघ की न्यास पद्धति है। इसकी विस्तृत व्यवस्था चार्टर के ११, १२ तथा १३ अध्यायों में धारा ७६ से ९१ तक में है।

न्यास पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि इस समय कुछ पिछड़े हुए, अल्प विकसित और आदिम दशा वाले प्रदेशों के निवासी इस योग्य नहीं हैं कि वे अपने देश का शासन स्वयमेव कर सकें और अपने भाग्यविधाता बन सकें, इन्हें दूसरे विकसित और उन्नत देशों की सहायता अपेक्षित है, सभ्य देशों का यह कर्तव्य है कि वे

---

६. इस पद्धति के विकास की अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा के लिये देखिये, इलेस—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७६—७८।

इनके विकास मे पूरी सहायता दे और जब तक ये अपना शासन करने मे समर्थ नही हो जाते, तब तक इनकी तथा इनके हितो की देखभाल, इन्हे न्यास या अमानत समझते हुए करें, इनका अपने स्वार्थों के लिए शोषण न करे। इन शक्तियो द्वारा यह कार्य स० रा० सघ के नियन्त्रण मे होना चाहिए। राष्ट्र सघ की मैंन्डेट व्यवस्था केवल जर्मनी तथा टर्की के साम्राज्यवाद से पीडित हुए प्रदेशो के लिये थी, किन्तु स० रा० सघ की न्याम पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाये गये सभी क्षेत्रो के लिये है।

न्यास वाले प्रदेशों के शासन की देखभाल का कार्य न्यास परिषद् करता है। इसके सदस्य न्यास प्रदेशो का शासन करने वाले ग्रास्ट्रेलिया, बेल्जियम, फ्रास, इटली, ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका तथा सुरक्षा परिषद् के न्यास प्रदेशो का शासन करने वाले देश, चीन और सोवियत रूस तथा इतनी ही सख्या मे ३ वर्ष के लिए जनरल असेम्बली द्वारा चुने जाने वाले देश है, भारत भी ३१ दिसम्बर १९५९ तक इसका एक चुना हुआ सदस्य था। इसके सब निर्णय उपस्थित और वोट देने वाले सदस्यो के बहुमत से किये जाते है। वर्ष मे इसकी बैठकें नियमित रूप से होती है, सभापति सदस्यो द्वारा एक वर्ष के लिये चुना जाता है।

न्याम परिषद् न्यास प्रदेशो के प्रशासन की देखभाल तीन प्रकार से करती है—(१) सुरक्षा परिषद् द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली के आधार पर प्रशासन करने वाले देशो से न्यास प्रदेशो की विविध प्रकार की प्रगति के सम्बन्ध मे विस्तृत रिपोर्टें मगाई जाती हैं। (२) इन प्रदेशो के निवासियो के मौखिक अथवा लिखित आवेदन-पत्रो पर परिषद् विचार करती है। १९५१ तक परिषद् ने ऐसे ७०० प्रार्थनापत्रो पर विचार किया था, १९५५ मे इनकी सख्या बढकर एक ही अधिवेशन मे ४०० तक पहुँच गई, १९५७ में यह सख्या १०५७ हो गई। (३) परिषद् प्रतिवर्ष अपने निरीक्षक मण्डल (Visiting Missions) पूर्वी अफ्रीका, पश्चिमी अफ्रीका, प्रशान्त महासागर, टागानिक्या, सुमालीलैण्ड आदि विभिन्न देशो में इस प्रकार भेजती है कि तीन वर्षों मे एक बार प्रत्येक प्रदेश का निरीक्षण हो जाए। ये मण्डल न्यास प्रदेशो की अन्तर्राष्ट्रीय देखभाल के बडे प्रभावशाली साधन है और परिषद् के सदस्यो को इन प्रदेशो का प्रामाणिक ज्ञान कराने तथा इनकी समस्यायें हल कराने मे बहुत सहायक सिद्ध होते है। ये मिशन न्याम परिषद् के प्रति उत्तरदायी होने के कारण निष्पक्ष और स्वतन्त्र अन्वेषण कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)—यह स० रा० सघ के चार्टर (अध्याय १४, धारा ९२–९६) तथा न्यायालय सम्बन्धी परिशिष्ट के आधार पर बनाया गया है। इसके नियम प्राय राष्ट्र सघ के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के नियमों जैसे हैं। इसके न्यायाधीश राष्ट्रीयता का विचार किये बिना अपने उच्च नैतिक चरित्र और अगाध अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी ज्ञान के कारण चुने जाते है। इस न्यायालय के कुल पन्द्रह न्यायाधीश होते हैं, इनमे से कोई दो एक राष्ट्र के नही हो सकते। ये सुरक्षा परिषद् और जनरल असेम्बली द्वारा ९ वर्ष के लिय चुने जाते हैं और

अन्तर्राष्ट्रीय बालकल्याण निधि (U. N. International Children Emergency Fund—UNICEF)। अन्तिम सस्था जनरल असेम्बली द्वारा ११ दिसम्बर १९४६ को स्थापित की गई थी। इसका उद्देश्य बालकल्याण के विविध सराहनीय कार्य करना है।

न्यास के विचार का विकास तथा न्यास परिषद् (Trusteeship Council)—संयुक्त राष्ट्र सघ ने राष्ट्र सघ की मैण्डेट व्यवस्था के स्थान पर न्यास पद्धति (Trusteeship) को ग्रहण किया और इसके सचालन के लिए न्यास समिति का निर्माण हुआ है। मैण्डेट की भाँति न्यास की व्यवस्था भी विभिन्न शक्तियों के समझौते का परिणाम थी।[६] १९४५ में ७० करोड व्यक्ति पश्चिमी राष्ट्रों के साम्राज्यो मे पराधीन थे, इस प्रकार मानव जाति के प्रति तीन व्यक्तियों में से एक परतन्त्र था, किन्तु अगले दस वर्षों में इस विचार के विकास से प्रति बारह व्यक्तियों में से एक ही पराधीन रह गया है। युद्ध के समय मे अनेक सम्मेलनो में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की समस्या पर विचार हुआ था। उस समय राष्ट्रपति रूजवेल्ट पराधीन देशो—भारत आदि को स्वाधीन बनाने की नवीन व्यवस्था (New Deal) के पक्षपाती थे, किन्तु स० रा० अमरीका मे उपनिवेशवाद विरोधी भावना होते हुए भी कुछ व्यक्ति प्रशान्त महासागर मे जापान से छीने हुए टापुओं पर सामरिक दृष्टि से अमरीका का प्रभुत्व वाछनीय समझते थे। डच फ्रेंच और दक्षिण अफ्रीका यूनियन वाले साम्राज्यवाद और मैण्डेट व्यवस्था को बनाये रखना चाहते थे। किन्तु इसके साथ ही द्वितीय महायुद्ध मे एशिया में उत्पन्न साम्राज्यवादी विरोधी भावना की उपेक्षा सम्भव नही थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्र सघ के मैण्डेट वाले प्रदेशो की तथा इटली के साम्राज्य की नई व्यवस्था करनी थी। सान फ्रासिस्को के सम्मेलन मे जब इन समस्याओं पर विचार हुआ तो फास, हालैण्ड और दक्षिण अफ्रीका तथा स० रा० अमरीका के सैनिक दलो ने पुरानी मैण्डेट व्यवस्था मे किसी प्रकार के विस्तार का तथा रूजवेल्ट की तथा कार्डल हल की न्यास पद्धति के विचारों का विरोध किया। किन्तु न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, मध्यपूर्व तथा दक्षिण अमरीका के देशो, सोवियत यूनियन, स० रा० अमरीका तथा चीन ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के उन्मूलन पर बल दिया। इन दोनों दृष्टिकोणों में हुए समझौते का परिणाम स० रा० सघ की न्यास पद्धति है। इसकी विस्तृत व्यवस्था चार्टर के ११, १२ तथा १३ अध्यायो में धारा ७६ से ९१ तक मे है।

न्यास पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि इस समय कुछ पिछडे हुए, अल्प विकसित और आदिम दशा वाले प्रदेशो के निवासी इस योग्य नहीं है कि वे अपने देश का शासन स्वयमेव कर सकें और अपने भाग्यविधाता बन सकें, इन्हे दूसरे विकसित और उन्नत देशो की सहायता अपेक्षित है, सभ्य देशो का यह कर्त्तव्य है कि वे

---

६. इस पद्धति के विकास की अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा के लिये देखिये, ह्लेस—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७६—७८।

इनके विकास मे पूरी सहायता दे और जब तक ये अपना शासन करने मे समर्थ नही हो जाते, तब तक इनकी तथा इनके हितो की देखभाल, इन्हे न्यास या अमानत समझते हुए करें, इनका अपने स्वार्थो के लिए शोषण न करे। इन शक्तियों द्वारा यह कार्य स० रा० सघ के नियन्त्रण मे होना चाहिए। राष्ट्र सघ की मैंण्डेट व्यवस्था केवल जर्मनी तथा टर्की के साम्राज्यवाद से पीडित हुए प्रदेशो के लिये थी, किन्तु स० रा० सघ की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाये गये सभी क्षेत्रो के लिये है।

न्यास वाले प्रदेशो के शासन की देखभाल का कार्य न्यास परिषद् करती है। इसके सदस्य न्यास प्रदेशो का शासन करने वाले आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, फ्रास, इटली, ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका तथा सुरक्षा परिषद् के न्यास प्रदेशो का शासन करने वाले देश, चीन और सोवियत रूस तथा इतनी ही सख्या मे ३ वर्ष के लिए जनरल असेम्बली द्वारा चुने जाने वाले देश है, भारत भी ३१ दिसम्बर १९५६ तक इसका एक चुना हुआ सदस्य था। इसके सब निर्णय उपस्थित और वोट देने वाले सदस्यो के बहुमत मे किये जाते है। वर्ष मे इसकी बैठकें नियमित रूप से होती हैं, सभापति सदस्यो द्वारा एक वर्ष के लिये चुना जाता है।

न्यास परिषद् न्यास प्रदेशो के प्रशासन की देखभाल तीन प्रकार से करती है—(१) सुरक्षा परिषद् द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली के आधार पर प्रशासन करने वाले देशों से न्यास प्रदेशों की विविध प्रकार की प्रगति के सम्बन्ध मे विस्तृत रिपोर्टें मगाई जाती हैं। (२) इन प्रदेशो के निवासियो के मौखिक अथवा लिखित आवेदन-पत्रो पर परिषद् विचार करती है। १९५१ तक परिषद् ने ऐसे ७०० प्रार्थनापत्रों पर विचार किया था, १९५५ मे इनकी सख्या बढकर एक ही अधिवेशन मे ४०० तक पहुँच गई, १९५७ मे यह सख्या १०५७ हो गई। (३) परिषद् प्रतिवर्ष अपने निरीक्षक मण्डल (Visiting Missions) पूर्वी अफ्रीका, पश्चिमी अफ्रीका, प्रशान्त महासागर, टागानिक्या, सुमालीलैण्ड आदि विभिन्न देशो मे इस प्रकार भेजती है कि तीन वर्षों मे एक बार प्रत्येक प्रदेश का निरीक्षण हो जाए। ये मण्डल न्यास प्रदेशो की अन्तर्राष्ट्रीय देखभाल के बडे प्रभावशाली साधन है और परिषद् के सदस्यों को इन प्रदेशो का प्रामाणिक ज्ञान कराने तथा इनकी समस्यायें हल कराने में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। ये मिशन न्यास परिषद् के प्रति उत्तरदायी होने के कारण निष्पक्ष और स्वतन्त्र अन्वेषण कर सकते है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)—यह स० रा० सघ के चार्टर (अध्याय १४, धारा ९२–९६) तथा न्यायालय सम्बन्धी परिशिष्ट के आधार पर बनाया गया है। इसके नियम प्राय राष्ट्र सघ के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के नियमो जैसे हैं। इसके न्यायाधीश राष्ट्रीयता का विचार किये बिना अपने उच्च नैतिक चरित्र और अगाध अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी ज्ञान के कारण चुने जाते हैं। इस न्यायालय के कुल पन्द्रह न्यायाधीश होते हैं, इनमे से कोई दो एक राष्ट्र के नही हो सकते। ये सुरक्षा परिषद् और जनरल असेम्बली द्वारा ९ वर्ष के लिय चुने जाते है और

अपनी पदावधि समाप्त होने पर चुनाव के लिये पुन. खड़े हो सकते है। इसका कोरम नौ जजों का होता है। स० रा० सघ के सभी सदस्य इसका लाभ उठा सकते है। इसमें से किसी राज्य को जबर्दस्ती मुकद्दमे मे नहीं घसीटा जा सकता। प्रतिवादी राज्य की सहमति पर ही किसी मामले पर न्यायालय विचार करता है। इसके कार्य का अगले अध्याय मे वर्णन होगा (देखिये नीचे पृ० ४०१)।

सचिवालय (Secretariat)—चार्टर के पन्द्रहवे अध्याय (धारा ६७–१०१) मे सघ का कार्य चलाने वाले सचिवालय का वर्णन है। इसमे महामन्त्री और सघ की आवश्यकतानुसार कर्मचारी वर्ग रहता है। महामन्त्री की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल असेम्बली करती है। सचिवालय के सम्बन्ध मे राष्ट्र सघ के विधानपत्र मे कोई व्यवस्था नही, किन्तु चार्टर मे इसका विस्तार से वर्णन है। इसके अनुसार यह सघ का कार्यवाहक और प्रशासनात्मक अग है। महामन्त्री सचिवालय की सहायता से उसके सारे कार्य का सचालन करता है। उसके मुख्य कार्य ये हैं—(१) वह असेम्बली मे, आर्थिक और सामाजिक परिषद् मे, न्यास परिषद् की सभी बैठको मे काम करता है। (२) सघ के विभिन्न अग उसे जो काम सौंपते है, उन्हे पूरा करता है। (३) सघ के कार्यों के सम्बन्ध मे जनरल असेम्बली को वार्षिक रिपोर्ट देता है। (४) यदि उसकी सम्मति मे किसी मामले मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होता है तो सुरक्षा परिषद् का ध्यान उस मामले की ओर खीच सकता है। (५) कर्मचारियो की नियुक्ति जनरल असेम्बली द्वारा बनाये नियमो के अनुसार करता है। कर्मचारियो के भरती करने और उनकी नौकरियों की शर्तों को निर्धारित करने मे सबसे अधिक इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि दक्षता, क्षमता और ईमानदारी का ऊँचे से ऊँचा स्तर कायम रह सके। साथ ही यह भी देखा जाता है कि भरती अधिक से अधिक विस्तृत भौगोलिक आधार पर हो (धारा १०१)। महामन्त्री और कर्मचारी वर्ग के लिये यह आवश्यक है कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरी तरह समझे, सघ से बाहर किसी राज्य या अधिकारी से कोई परामर्श न प्राप्त करें। उनकी सम्पूर्ण निष्ठा और उत्तरदायित्व सघ के प्रति होना चाहिये। इसके साथ ही सयुक्त राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य के लिये यह प्रतिज्ञा करना आवश्यक है कि वह महामन्त्री और उसके कर्मचारियो के दायित्वो के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानेगा और उन दायित्वो के पालन मे किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयत्न नही करेगा (धारा १००)। किन्तु कई बार निष्पक्षता और तटस्थता के इस उदात्त आदर्श का पूरा पालन नही हुआ। कुछ वर्ष पहले कम्युनिस्ट विरोधी आन्दोलन बहुत उग्र होने पर स० रा० अमरीका ने अपने प्रभाव का प्रयोग करते हुए महामन्त्री की सहायता से सघ मे कार्य करने वाले, किन्तु कम्युनिस्ट प्रकृति वाले कुछ अमरीकनों को इसके सचिवालय से निष्कासित किया था।

उन्नीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

(International Tribunals)

वर्तमान समय मे विभिन्न राज्यों के कानूनी विवादो को सुलझाने मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने बडा महत्वपूर्ण भाग लिया है। इसके स्वरूप का शनैः-शनैः विकास हुआ है। सर्वप्रथम यह हेग मे पचनिर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) के रूप मे स्थापित हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) स्थापित हुए। यहां इन तीनो के स्वरूप और कार्यों का सक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

पचनिर्णय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration)—१८९९ मे पचनिर्णय (Arbitration) या पचायत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को सुलझाने की दृष्टि से इसकी स्थापना का निश्चय किया गया। १९०० मे हालैण्ड के हेग नगर मे इसकी स्थापना की गई। यद्यपि इसका नाम तो स्थायी न्यायालय था किन्तु वास्तव मे यह कोई न्यायालय नही था। यह केवल जजो के नामो की सूची थी, जिसमे से कुछ नाम विवाद करने वाले राज्य अपनी इच्छा से अपने विवाद के पचायती निर्णय के लिये चुन लेते थे। न्यायालय न होने पर भी इसका विशेष महत्व इस बात मे था कि यह स्थायी स्वरूप रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विकास म पहला पग था। इससे पहले अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न होने पर पच नये सिरे से निश्चित करने पडते थे, किन्तु इसमे निश्चित जजो की सूची मे से पच चुन लिये जाते थे और इनका स्थायी मुख्यालय हालैण्ड के हेग नगर मे था। न्यायालय की निष्पक्षता बनाये रखने के लिये यह व्यवस्था की गई थी कि इसका कोई भी न्यायाधीश किसी मामले मे वकील का काम नही कर सकता था। १९०२ से १९१४ तक इसने विभिन्न मामलों मे १४ पचाट या निर्णय (Award) दिये और इस प्रकार पचायती पद्धति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के समाधान करने की भावना का विकास हुआ।

इसके कुछ उल्लेखनीय मामले इस प्रकार थे—१९०२ मे कैलिफोर्निया का पायस फण्ड (The Pious Fund of California) का मामला, १९०५ का जापानी गृहकर का मामला (Japanese House Tax)। १९१० मे इस न्यायालय ने उत्तरी अटलाटिक तट के मछलीगाह मामले (The North Atlantic Coast Fisheries

Case) का फैसला किया। यह विवाद स० रा० अमरीका का ग्रेट ब्रिटेन और कनाडा के साथ उत्तरी अटलांटिक मे मछलियाँ पकडने के सम्बन्ध मे था। इसमे स० रा० अमरीका का यह दावा था कि उसे अपने नागरिको के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियो मे भी इस क्षेत्र मे मछलियाँ पकडवाने का अधिकार है तथा इस क्षेत्र मे मछली पकडने के नियम ग्रेट ब्रिटेन और कनाडा को उसके साथ मिलकर बनाने चाहियें। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि नियम बनाने का स्वाभाविक अधिकार ग्रेट ब्रिटेन और कनाडा को है तथा स० रा० अमरीका को अपने मछली पकडने वाले जहाजो पर अन्य देशो के नागरिको को काम पर लगाने का अधिकार है। किन्तु अमरीकी मछलीमार कुछ निश्चित खाडियो और बन्दरगाहो मे मछली का शिकार नही कर सकते। कोई खाडी दस मील तक चौडी होने पर तटवर्ती राज्य के प्रदेश मे समझी जानी चाहिये, इसके भीतर अमरीकी नागरिक मछलियाँ नही पकड सकते। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी सावरकर के मामले का निर्णय भी इसी न्यायालय ने किया (देखिये प्रथम परिशिष्ट)। १९१२ मे इसके सम्मुख कार्थेज नामक जहाज का मामला आया, यह फ्रेंच स्टीमर था, इसे इटली ने इस आधार पर पकड लिया कि वह एक हवाई जहाज को ट्यूनिस ले जा रहा है। फ्रेंच सरकार का यह कहना था कि ट्यूनिस तटस्थ देश था तथा हवाई जहाज लडाई की विनिषिद्ध (Contraband) वस्तुओ मे पूरी तरह नही आता। न्यायालय ने इटली द्वारा इसके पकडे जाने को अनुचित ठहराते हुए उसे हर्जाने के रूप मे फ्रास को १,६०,००० फ्रांक देने को कहा।

इस न्यायालय की पद्धति मे कई दोष थे। यह बडी जटिल तथा व्ययसाध्य थी। इसके जज स्थायी नही होते थे, किन्तु विशेष मामला के लिये एक निश्चित सूची मे से छाटे जाते थे, मामले के निर्णय के बाद इनका कार्य समाप्त हो जाता था। स्थायी न्यायाधीशो के अभाव मे विधिशास्त्र के नियमो का भी समुचित विकास नही हो पाता था। अत निश्चित अवधि के लिये जजो की नियुक्ति आवश्यक समझी जाने लगी तथा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उपर्युक्त दोषो को दूर करते हुए एक अन्य स्थायी न्यायालय की स्थापना की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice)—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बनाये गये राष्ट्र सघ के प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद स० १४ में यह कहा गया था कि सघ की कौन्सिल स्थायी न्यायालय की स्थापना की योजना का निर्माण करेगी। इसके अनुसार फरवरी १९२० मे इस न्यायालय की योजना तैयार करने के लिये एक परामर्शदात्री समिति बनायी गयी। असेम्बली ने ३ दिसम्बर १९२० को यह योजना स्वीकार की। तदनुसार इसका परिनियम (Statute) बनाया गया और १५ फरवरी १९२२ से इस न्यायालय ने अपना कार्य आरम्भ किया, अक्टूबर १९४५ में इसका अन्तिम अधिवेशन हुआ। अप्रैल १९४६ मे इसके स्थान पर न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित हुआ।

इस न्यायालय को उन सभी मामलो पर विचार करने का अधिकार दिया गया जो सबद्ध पक्षो द्वारा निर्णय के लिये इसे सौंपे जायें। इसके अनुच्छेद स० ३७ के अनुसार

इसे ऐसी सन्धियों के सम्बन्ध में होने वाले विवाद सुनने का अधिकार था, जिनमें ऐसे विवादों के निर्णय का अधिकार संघ द्वारा स्थापित न्यायालय को दिया गया था। इसके अतिरिक्त न्यायालय के परिनियम (Statute) में एक वैकल्पिक धारा (Optional clause) थी। इसे मानना या न मानना राज्यों की इच्छा पर था। इसे स्वीकार करने वाले राज्य निम्नलिखित प्रकार के विवादों में न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार करते थे—(क) सन्धि की व्याख्या, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न, (ग) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का भंग करने वाले तथ्य, (घ) किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन करने पर उसके लिये दिये जाने वाले हर्जाने का स्वरूप और मात्रा। बीस राज्यों ने इस वैकल्पिक धारा पर हस्ताक्षर किये थे। कई राज्य कुछ शर्तों के साथ इन विषयों में न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानते थे।

यह न्यायालय अपने निर्णय देता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चार प्रकार के स्रोत स्वीकार करता था—(१) अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (Conventions), (२) अन्तर्राष्ट्रीय रीतियाँ और रूढ़ियाँ (Customs), (३) सभ्य राज्यों द्वारा स्वीकार किये गये सिद्धान्त, (४) न्यायालयों के निर्णय और विभिन्न देशों के मान्य योग्य विधिशास्त्रियों की सम्मतियाँ। राष्ट्र संघ की कौन्सिल और असेम्बली को यह अधिकार था कि वे किन्हीं विषयों में न्यायालय की परामर्शात्मक सम्मति प्राप्त कर सकें। इसके पन्द्रह न्यायाधीश कौन्सिल और असेम्बली द्वारा ६ वर्ष की अवधि के लिये चुने जाते थे। न्यायालय के कार्य के लिये आवश्यक गणपूर्ति (Quorum) नौ जजों की मानी जाती थी। किसी मामले पर विचार के लिए उससे सम्बद्ध देशों के जजों को भी न्यायासन पर बैठने का अधिकार होता था।

इस न्यायालय द्वारा निर्णय किये गये मामलों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—१६२३ में पोलैण्ड के जर्मनवासियों (German Settlers in Poland) के मामले में न्यायालय ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था—"*अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राज्यों के उत्तराधिकार के सामान्य सिद्धान्त की सत्ता अस्वीकार करने वाले भी यह नहीं मानते हैं कि सम्पत्ति के स्वामी के रूप में किसी राज्य से प्राप्त किये हुए वैयक्तिक अधिकार उस राज्य की प्रभुसत्ता में परिवर्तन होने पर अवैध हो जाते हैं।*" १६२३ में इसने फ्रेंच सरकार द्वारा किराये पर लिये विम्बलडन (Wimbledon) नामक जहाज के जर्मन सरकार द्वारा कील नहर में न गुजरने देने के मामले पर विचार किया (देखिये ऊपर पृ० २२६)। १६२५ में ऊपरी साइलीसिया के मामले (Case of Upper Silesia) में इस न्यायालय ने यह नियम निश्चित किया कि सन्धि केवल सम्बद्ध पक्षों के लिये ही कानून बनाती है। सन्दिग्ध अवस्था में सन्धि से तीसरे पक्ष के लिये किसी प्रकार के अधिकार नहीं निकाले जा सकते। १६२७ में इसने फ्रेंच स्टीमर लोटस (S S Lotus) के मामले का निर्णय किया (देखिये प्रथम परिशिष्ट तथा ऊपर पृ० २७०-७१)।

न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)—सं० रा० संघ के चार्टर के अनुच्छेद ९२ में इस न्यायालय को संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान न्यायिक अंग बनाते हुए यह कहा गया है कि यह इसके साथ जोड़े गये परिनियम

Statute) के अनुसार कार्य करेगा, यह परिनियम अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के परिनियम पर आधारित है और चार्टर का अविभाज्य अंश है। इस न्यायालय के पन्द्रह जज होते हैं, ये जनरल असेम्बली तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा पृथक् रूप से चुने जाते हैं। जजों के कार्यकाल की अवधि नौ वर्ष होती है। किन्तु पिछले स्थायी न्यायालय की भाँति सब जजों का चुनाव ९ वर्ष बाद एकसाथ नहीं होता, क्योंकि एक-तिहाई जज प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते रहते हैं। इस व्यवस्था से यह लाभ हुआ है कि सदैव दो-तिहाई जज ऐसे होते हैं, जो न्यायालय की कार्यविधि से और विचाराधीन मामलों से पूरा परिचय रखते हैं। एक राष्ट्र का एक से अधिक न्यायाधीश नहीं हो सकता।

क्षेत्राधिकार (Jurisdiction)—इसका क्षेत्राधिकार तीन प्रकार का है: (१) ऐच्छिक (Voluntary), (२) आवश्यक (Compulsory), (३) परामर्शात्मक (Advisory) (अनुच्छेद ३६)।

(१) ऐच्छिक (Voluntary)—इसे ऐसे किसी भी मामले पर विचार करने का अधिकार है, जिसे विवाद से सबद्ध राज्य इसे अपनी इच्छा से सौंपने को तैयार हों।

(२) आवश्यक (Compulsory) – इस परिनियम को स्वीकार करने वाले राज्य किसी समय यह घोषणा कर सकते हैं कि वे चार प्रकार के कानूनी विवादों के लिये अन्य राज्यों द्वारा यह बाध्यता स्वीकार करने पर भी अपने लिये न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वतः आवश्यक (Ipso facto compulsory) मानते हैं। विवाद के चार प्रकार पहले बताये गये (पृ० ४०१) (क) सधि की व्याख्या, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई प्रश्न, (ग) अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यता के उल्लंघन का प्रश्न तथा (घ) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के उल्लंघन की क्षतिपूर्ति की मात्रा तथा स्वरूप है। क्षेत्राधिकार मानने की यह घोषणा बिना शर्त के अथवा कुछ शर्तों के साथ हो सकती है। इस घोषणा की प्रतियाँ सं० रा० सघ के महामंत्री के पास जमा की जाती हैं, वह इन प्रतियों को न्यायालय का परिनियम स्वीकार करने वाले राज्यों को तथा न्यायालय के रजिस्ट्रार को भेजता है। पिछले स्थायी न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार करने की घोषणा जो राज्य कर चुके हैं, उनकी यह घोषणा वर्तमान न्यायालय के सम्बन्ध में भी लागू समझी जाती है। इसमें राज्यों को न्यायालय का आवश्यक क्षेत्राधिकार स्वीकार या अस्वीकार करने का विकल्प (Option) दिया गया है, अतः छत्तीसवीं धारा के दूसरे पैरे को वैकल्पिक धारा (Optional Clause) भी कहते हैं।

सं० रा० अमरीका ने न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार करते हुए अपनी घोषणा में यह कहा है कि यह निम्नलिखित प्रकार के विवादों में लागू नहीं होगी (क) पहले किये गये समझौतों के अनुसार जो विवाद अन्य न्यायाधिकरणों को सौंपे गये हों। (ख) जो विवाद सं० रा० अमरीका की दृष्टि में उसके घरेलू क्षेत्राधिकार (Domestic Jurisdiction) में आते हों। यह घोषणा पाँच वर्ष के लिए है। सं० रा० अमरीका की घोषणा से स्पष्ट है कि उसने न्यायालय का आवश्यक क्षेत्राधिकार बिल्कुल नगण्य बना दिया है। अब तक विश्व के एक-तिहाई राज्यों ने इसी

प्रकार कुछ शर्तों के साथ न्यायालय का क्षेत्राधिकार माना है और इस आधार पर मोरक्को का मामला (Morocco Case) तथा एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला (Anglo-Norwegian Fisheries Case) न्यायालय के सम्मुख आया है।

केलसन (Kelsen) ने इस व्यवस्था की आलोचना करते हुए लिखा है कि यह वस्तुत. अनिवार्य क्षेत्राधिकार नहीं है, क्योंकि यदि ऐसी घोषणा करने वाला कोई राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध कोई मामला इस न्यायालय के समक्ष लाता है तो दूसरा पक्ष न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानने के लिए तभी बाध्य है जबकि उसने भी ऐसी घोषणा की हो। न्यायालय के परिनियम की धारा ३६ के पैराग्राफ २ के अनुसार विभिन्न राज्यों द्वारा की गई घोषणायें ऐसी शर्तों के साथ है, जो इन्हें क्रियात्मक दृष्टि से बिलकुल निरर्थक बना देती है।

फिर भी इस व्यवस्था का बहुत महत्व है। आपेनहाइम ने लिखा है —"प्रतिबन्धों (Reservations) के होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सबसे व्यापक और महत्वपूर्ण व्यवस्था है। वैकल्पिक धारा के कारण ग्रहण किए गए उत्तरदायित्वों से न्यायालय की क्रियाशीलता मे एक महत्वपूर्ण स्रोत की वृद्धि हुई है।"[1]

(३) परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction)—न्यायालय के परिनियम के चौथे अध्याय मे इसके परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार का वर्णन है। स० रा० संघ के चार्टर के अनुच्छेद ९६ म यह कहा गया है कि जनरल असेम्बली या सुरक्षा परिषद् किसी कानूनी प्रश्न के सम्बन्ध म न्यायालय से सम्मति मांग सकती है। स० रा० संघ के अन्य अंगो को तथा विशेष एजेन्सियों को ऐसी परामर्शात्मक सम्मति मांगने का अधिकार है। इस प्रकार की सम्मतियो का सम्बद्ध पक्षो द्वारा मानना आवश्यक नही होता। पहले (पृ० १५०) यह बताया जा चुका है कि जनरल असेम्बली ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की स्थिति के विषय मे ऐसी सम्मति न्यायालय से मांगी थी। इस समय इन सम्मतियो का महत्व बढ रहा है। आपेनहाइम ने यह लिखा है कि इस न्यायालय द्वारा दिए निर्णयों की सख्या परामर्शात्मक सम्मतियों के बराबर है।

यह न्यायालय पूर्ववर्ती न्यायालय द्वारा स्वीकार किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विविध स्रोतों को स्वीकार करता है। इसके न्यायाधीशों को राजदूतों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां प्राप्त होती है। इनके वेतन सब प्रकार के करों से मुक्त होते है। इस न्यायालय के सम्मुख आये कुछ महत्वपूर्ण मामले निम्नलिखित है —

(१) कोरफू चैनल मामला (Corfu Channel Case—1946) (देखिये प्रथम परिशिष्ट)।

(२) मोरक्को मे अमरीकी राष्ट्रजनों के उत्तराधिकार (The Rights of Nationals of U S A in Morocco)—३० दिसम्बर १९४८ को फ्रेंच सरकार ने मोरक्को निवासियो के सम्बन्ध म एक अधिवासी आज्ञा (Residential Decree) निकाली, इसके अनुसार अमरीकी नागरिक वहां के पुराने कानून के अनुसार प्राप्त

---

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६३

सुविधाओं और अधिकारों से वंचित हो गये। फ्रेंच सरकार ने २८ अक्टूबर १९५० को न्यायालय से इस प्रकार की घोषणा प्राप्त करानी चाही कि मोरक्को के अमरीकी नागरिको को किसी प्रकार का विशेष व्यवहार पाने का अधिकार नही है और उन पर मोरक्को के सब कानून लागू होते हैं। स० रा० अमरीका का यह दावा था कि उसके नागरिको पर उपर्युक्त आज्ञा लागू करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन है। न्यायालय ने अमरीका के पक्ष मे निर्णय देते हुए कहा कि उपर्युक्त आज्ञा का स्वरूप भेदभावपूर्ण (Discriminatory) है, क्योकि इसमे फ्रास के माल के आयात पर मुद्राविषयक कोई नियन्त्रण नही रखा गया और स० रा० अमरीका के माल पर इस प्रकार का नियन्त्रण है। पुराने कानून Act of Algeciras के अनुसार अमरीकी नागरिको को जो अधिकार प्राप्त थे, वे उनसे नई आज्ञा द्वारा छीने नही जा सकते।

(३) **एग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला** (Anglo-Norwegian Fisheries Case—1951) देखिए ऊपर पृ० २१५।

(४) **स० रा० सघ की सेवा करते हुए प्राप्त होने वाली क्षति का मुआवजा** (Reparation for the Injuries suffered in the service of U N O)—१९४८ मे पेलेस्टाइन मे स० रा० सघ के मध्यस्थ (Madiator) कौण्ट बर्नडाट मार डाले गये। इस घटना के बाद स० रा० सघ ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्शात्मक सम्मति इस विषय पर माँगी कि क्या सघ को इसकी सेवा करते हुए मारे गए व्यक्ति के लिए इस हत्या की उत्तरदायी सरकार के विरुद्ध हर्जाना वसूल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दावा करने का अधिकार है। यदि ऐसा है तो जिस राज्य के व्यक्ति को यह क्षति पहुँची है उस राज्य के अधिकारो के साथ सघ के कार्य का समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है। इस विषय मे न्यायालय की सर्वसम्मति थी कि स० रा० सघ अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखता है, वह सघ को क्षति पहुँचाने वाले किसी भी राज्य के विरुद्ध—भले ही वह सघ का सदस्य न हो—मुकद्दमा चलाने और हर्जाना वसूल करने का अधिकार रखता है।

(५) **स० रा० संघ की सदस्यता के सम्बन्ध मे जनरल असेम्बली का अधिकार** (Competence of the General Assembly for the Admission of a State to U. N O)—१९४६-४७ मे अनेक राज्यो ने स० रा० सघ की सदस्यता के लिये आवेदन-पत्र दिये, किन्तु सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करते हुए सुरक्षा परिषद् मे सब के आवेदन-पत्र रद्द कर दिये। इस पर जनरल असेम्बली ने न्यायालय से यह सम्मति माँगी कि क्या जनरल असेम्बली किसी राज्य की सदस्यता का प्रार्थना पत्र सुरक्षा परिषद् द्वारा अस्वीकृत होने पर उसे अपने निर्णय से सघ का सदस्य बना सकती है। न्यायालय की सम्मति थी कि सुरक्षा परिषद् की सिफारिश न होने पर जनरल असेम्बली को अपने निर्णय द्वारा किसी देश को सघ का सदस्य बनाने का अधिकार नही है।

(६) **द० प० अफ्रीका का अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा** (International Status of South West Africa)—दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के सम्बन्ध मे न्यायालय की सम्मति

का पहले उल्लेख किया जा चुका है (देखिये पृ० १५०) ।

(७) **हया डी ला टार्रे का मामला** (Case of Haya de la Torre, 1951)—टार्रे पेरु का राष्ट्रीय एव राजनीतिक नेता था । इस पर यह आरोप था कि इसने अपनी सरकार के विरुद्ध सैनिक विद्रोह भड़काने का प्रयत्न किया है । जब इसे पेरु की सरकार ने पकड़ना चाहा तो इसने पेरु की राजधानी लीमा मे विद्यमान कोलम्बिया राज्य के दूतावास मे शरण ले ली । पेरु की सरकार ने कोलम्बिया की सरकार से इस अपराधी को लौटाने की प्रार्थना की । उसके न लौटाने पर यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे लाया गया । न्यायालय की सम्मति थी कि यद्यपि अमरीकी राज्यो ने हवाना मे किये गये अभिसमय (Havana Convention) मे स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था की थी कि *स्थानीय अधिकारियों को दोनों राज्यों के सामान्य अपराधियोका प्रत्यर्पण किया जायगा*, किन्तु इस प्रकार की कोई व्यवस्था राजनीतिक अपराधियो के बारे में नही की गई थी । फिर भी न्यायालय की सम्मति मे टार्रे को गलत ढग से आश्रय (Asylum) दिया गया *था, पेरु इसे समाप्त करने की माँग कर सकता है, किन्तु कोलम्बिया शरणार्थी को प्रत्यर्पण* करने के लिये बाध्य नही है ।

(८) **पुर्तगाल का भारतीय प्रदेश मे से होकर गुजरने का अधिकार** (Case concerning Right of Access of Portugal to certain territories of India)—१२ अप्रैल, १९६० को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भारत और पुर्तगाल के एक महत्वपूर्ण विवाद मे अपना निर्णय दिया । यह विवाद १९५४ मे उत्पन्न हुआ था । इस वर्ष २१ तथा २२ जुलाई को गुजरात मे पुर्तगाल की दो छोटी बस्तियों – दादरा तथा नगर हवेली मे पुर्तगाली सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुआ । ये दोनों बस्तियाँ चारो ओर से भारतीय प्रदेश से घिरी हुई है और समुद्रतट पर स्थित पुर्तगाली बस्ती दमन से इन बस्तियो मे आने के लिये भारतीय प्रदेश मे से होकर गुजरना पड़ता है । जब इन दोनो बस्तियो मे विद्रोह के बाद स्थापित नई व्यवस्था को कुचलने और अपना औपनिवेशिक शासन पुन स्थापित करने के लिये पुर्तगाल ने अपनी सेनाएं भेजनी चाही तो भारत सरकार ने इन्हे अपने प्रदेश मे से होकर दादरा और नगर हवेली तक जाने की आज्ञा नही दी । पुर्तगाल का यह कहना था कि १७७९ की सधि के अनुसार उसे इन बस्तियो पर प्रभुसत्ता प्राप्त है, स्थानीय प्रथा के अनुसार उसे इस प्रदेश मे से अपने व्यक्तियो और सशस्त्र सेनाओं को अपनी बस्तियो तक ले जाने का मार्गाधिकार (Right of passage) है । वह इस मामले को १९५५ मे विश्व न्यायालय मे ले गया और उसने न्यायालय से यह प्रार्थना की थी कि वह उसके मार्गाधिकार को स्वीकार करते हुए यह घोषणा करे कि भारत ने पुर्तगाल को रास्ता न देकर अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो का उल्लघन किया है ।

न्यायालय मे इस मामले पर पन्द्रह मे से तेरह न्यायाधीशों ने पाँच वर्ष तक विचार किया । इसका निर्णय देते समय न्यायालय के दो जज सम्मिलित नहीं हुए, सर हर्श लौटरपैक्ट (ग्रेट ब्रिटेन) बीमार थे और नव निर्वाचित जज राबर्टो अरमारो इस समय तक हेग मे नही थे । न्यायालय मे १३ जजो के अतिरिक्त भारत और पुर्तगाल के तदर्थ न्यायाधीश (Ad Hoc Judges) क्रमश श्री एम० सी० छागला और डॉ०

मैनुअल फर्नान्डिस थे।

भारत ने पुर्तगाल द्वारा यह मामला न्यायालय मे लाये जाने पर न्यायालय के इस मामले मे क्षेत्राधिकार होने के सम्बन्ध मे छ आपत्तियाँ की थी। इनमे से चार आपत्तियाँ तो न्यायालय ने पहले ही रद्द कर दी थीं। पाँचवी आपत्ति यह थी कि यह विशुद्ध रूप से भारत का घरेलू मामला है और छठी आपत्ति यह थी कि इस विवाद का प्रादुर्भाव १९३० मे भारत द्वारा न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार करने से पहले का है, अत न्यायालय को इस मामले पर विचार करने का अधिकार नही है। किन्तु न्यायालय ने अपने निर्णय मे ये दोनो आपत्तियाँ भी क्रमश १३ तथा २ और ११ तथा ४ के बहुमत से स्वीकार नहीं की।

१७७९ की सधि के सम्बध मे दोनों पक्षो मे बडा मतभेद था। भारत सरकार का यह कहना था कि इस सधि की धारा १७ के अनुसार १२०००) रु० का भूमि-कर देने वाले प्रदेश लिस्बन को दिये गये हैं। पुर्तगाल द्वारा उपस्थित की गयी सधि की व्याख्या के अनुसार उसे इस पर पूरी प्रभुसत्ता मिली थी। न्यायालय ने इस विषय मे भारत के पक्ष का समर्थन किया, इस सधि की वैधता स्वीकार करते हुए भी इसे केवल १२०००) का भूमि-कर देने वाला बताया, प्रभुसत्ता देने वाला नही बताया। छ मतों के विरुद्ध नौ मतो से न्यायालय ने यह फैसला दिया कि भारत ने निजी व्यक्तियों को (Private persons) को मार्ग देने के सम्बन्ध मे किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के प्रतिकूल आचरण नही किया।

इस मामले मे पुर्तगाल का मुख्य दावा यह था कि उसे पश्चिमी तट पर दमन से दादरा और नगर हवेली की बस्तियो तक अपनी सेनाओं और सरकारी अधिकारियों को भारतीय प्रदेश मे से होकर जाने का अधिकार है। इस विषय मे न्यायालय ने केवल निजी व्यक्तियो का ही मार्गाधिकार स्वीकार किया, सेनाओ के गुजरने का अधिकार नही माना। न्यायालय के मतानुसार सशस्त्र सेनाओं के लिये प्रादेशिक प्रभु (Territorial Sovereign) से अनुमति ली जाती रही थी। इस प्रकार की अनुमति यह सूचित करती है कि पुर्तगाल को ऐसा कोई मार्गाधिकार नही था। न्यायालय ने अपने निर्णय मे यह भी लिखा कि २१-२२ जुलाई की घटनाओ द्वारा इन बस्तियों मे पुर्तगाली शासन का अन्त हो जाने के कारण इनके चारो ओर के भारतीय प्रदेश मे बडी उत्तेजना थी, इस दशा मे भारत को यह पूरा अधिकार था कि वह पुर्तगाली सेनाओ को अपने प्रदेश मे से होकर न गुजरने दे। पुर्तगाल को भारत की अनुमति के बिना उसके प्रदेश मे से सशस्त्र सेनाये, सशस्त्र पुलिस, हथियार और गोला बारूद ले जाने का कोई अधिकार नहीं है। न्यायालय के बहुमत के इस निर्णय से कई जजो ने मतभेद भी प्रकट किया। सोवियत जज श्री कोजेवनिकोव का मत था कि न्यायालय को इस मामले पर विचार करने का कोई अधिकार न था। ग्रीक जज स्पिरोपोलोस (Spiropoulos) का मत था कि पुर्तगाली शासन का अन्त करके जनता ने अपना शासन स्थापित कर लिया है, नये शासन की स्थापना के साथ स्वत ही पुर्तगाल का मार्गाधिकार भी समाप्त हो गया है। भारतीय जज श्री एम० सी० छागला ने यह मत व्यक्त किया कि पुर्तगाल अपने सीमित

मार्गाधिकार को सिद्ध करने के लिये भी आवश्यक प्रमाण उपस्थित नहीं कर सका। पुर्तगाली जज मैनुअल फर्नान्डेस ने न्यायालय द्वारा पुर्तगाल के भी भारतीय प्रदेश मे सेनायें न भेज सकने के निर्णय से असहमति प्रकट की। आस्ट्रेलिया के जज सर पर्सी स्पैण्डर की यह सम्मति थी कि पुर्तगाल को स्थानीय प्रथा द्वारा भारतीय प्रदेशो म से होकर गुजरने का अधिकार है, ताकि वह दादरा और नगर हवेली पर अपना प्रभुत्व रख सके, किन्तु भारत को इसे नियन्त्रित करने का अधिकार है।

प्रीह विहीर का मामला (The Preah Vihear Case)—यह कम्बोडिया और थाइलैण्ड (स्याम) के बीच प्रीह विहीर नामक मन्दिर पर स्वामित्व तथा प्रभुसत्ता के बारे मे एक झगडा था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कम्बोडिया द्वारा ६ अक्टूबर १६५६ को दिये आवेदनपत्र के आधार पर इस मामले मे अपना निर्णय १५ जून १६६२ को दिया। इसमे विवाद का विषय न्यायालय के अनुसार इस प्रकार है कि—'कम्बोडिया का यह दावा है कि थाईलैण्ड ने प्रीह विहीर मन्दिर के तथा इसके पास के क्षेत्र मे कम्बोडिया की प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial Sovereignty) का उल्लघन किया है। *दूसरी ओर थाईलैण्ड का यह कहना है कि यह विवादग्रस्त मन्दिर उसके राज्य की* सीमा के भीतर है। यह प्रादेशिक प्रभुसत्ता के विषय म विवाद है, न्यायालय को यह विचार करना है कि इस मन्दिर पर किस देश की प्रभुसत्ता है, यह किस देश की सीमा के अन्दर है।"

प्रीह विहीर का मन्दिर बहुत प्राचीन है, कम्बोडिया और थाईलैण्ड की सीमा पर अवस्थित है। इस समय यद्यपि यह जीर्ण दशा मे है, किन्तु इतिहास और पुरातत्व की दृष्टि मे बडा महत्वपूर्ण है और तीर्थस्थान है। यह मन्दिर इसी नाम के मैदान मे एकदम ऊची उठी भूमि (Promontory) या चोटी पर बना हुआ है। यह चोटी दागरेक (Dangrek) पर्वतमाला के पूर्वी भाग मे है। दागरेक पर्वतमाला सामान्य रूप से इस क्षेत्र मे दोनो देशो की सीमा बनाती है। इसके दक्षिण मे कम्बोडिया है तथा उत्तर मे थाईलैण्ड। १६०४ तथा १६०७ की सधियो के अनुसार उस समय के दोनो देशो स्याम (उस समय थाईलैण्ड का यही नाम था) तथा फ्रास (उस समय कम्बोडिया पर फ्राम का अधिकार था) ने सीमा-सम्बन्धी यह समझौता किया था और १६०४ की सधि मे यह तय हुआ था कि प्रीह विहीर के क्षेत्र मे जलविभाजक (Watershed) को सीमा माना जायगा। उस समय जल विभाजक सीमा (Watershed Boundary) को प्रदर्शित करनेवाले नक्शे भी फ्रास ने तैयार किये तथा स्याम को दिये। दोनो देशो की सीमा निर्धारित करने के लिये एक फ्रको-स्यामी सराधन आयोग (Franco Siamese Conciliation Commission) भी बनाया गया। इस आयोग म स्याम ने प्रीह विहीर के मन्दिर पर अधिकार के विषय मे कोई आपत्ति या प्रश्न नही उठाया।

इस आयोग का कार्य समाप्त होने के कुछ समय बाद फरवरी १६४६ म फ्राम ने थाईलैण्ड की सरकार को यह नोट भेजा कि उसे यह सूचना मिली है कि स्याम की सरकार ने प्रीह विहीर के मन्दिर म अपने चार रक्षक भेजे हैं, इस विषय म उसने पूरी सूचना मांगी। स्याम ने इस नोट का कोई उत्तर नही दिया और न ही मार्च १६४६

ने भेजे फ्रास के इस विषय के दूसरे नोट का कोई उत्तर दिया। मई १९४९ में फ्रास ने इस विषय मे अपने तीसरे नोट मे सक्षेप से बताया कि वह किन कारणो के आधार पर प्रीह विहीर को कम्बोडिया मे समझता है, थाईलैण्ड द्वारा छापे गये एक मानचित्र मे यह बात स्वीकार भी की गई है। अत स्याम को यहाँ से अपने रक्षक हटा लेने चाहिएँ। इस नोट मे इस प्रदेश पर फ्राम की प्रभुसत्ता का बडे स्पष्ट तथा असदिग्ध शब्दो मे प्रतिपादन था। स्याम ने इस नोट का तथा जुलाई १९५० मे भेजे गये एक अन्य फ्रेंच पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया।

१९५३ मे कम्बोडिया फ्राम के प्रभुत्व से स्वाधीन हुआ। उसने यह निश्चय किया कि वह इस मन्दिर मे अपने रक्षक (Keepers) भेजेगा। इन्हे वहाँ भेजने पर पता लगा कि वहाँ स्यामी रक्षक पहले से ही विद्यमान हैं। इस पर जनवरी १९५४ मे कम्बोडिया ने एक नोट भेजकर थाईलैण्ड से इस बारे मे पूरी जानकारी माँगी। स्याम ने केवल इस नोट की पहुँच की स्वीकृति भेजी, किन्तु इस मन्दिर के विषय में न तो कोई बात लिखी और न ही इस पर प्रभुसत्ता का कोई दावा किया। मार्च १९५४ मे थाईलैण्ड की सरकार को कम्बोडिया ने यह सूचित किया कि चूंकि थाईलैण्ड ने उसके पहले नोट का कोई ठोस उत्तर नही दिया अत उसका विचार अब वहाँ पहले वापिस बुलाये रक्षको के स्थान पर कम्बोडिया के सैनिक भेजने का है। इस पत्र मे कम्बोडिया ने मई १९४९ के पत्र मे दिये गये विवरण के आधार पर प्रीह विहीर मन्दिर पर अपने अधिकार का प्रबल समर्थन किया। थाईलैण्ड ने कम्बोडिया के इस पत्र का भी कोई उत्तर नही दिया। कम्बोडिया ने जून १९५४ म थाईलैण्ड को एक अन्य नोट मे यह कहा कि उसे यह सूचना मिली है कि थाई सेना ने प्रीह विहीर पर अधिकार कर लिया है और कम्बोडिया के सैनिको को वहाँ इसलिए नही भेजा जा रहा कि स्थिति बिगड न जाये। थाईलैण्ड को अपनी सेना वहाँ से वापिस बुला लेनी चाहिये या इस विषय म अपने विचारो की सूचना देनी चाहिये। थाईलैण्ड ने इस पत्र का भी कोई उत्तर नही दिया और उसके सैनिक प्रीह विहीर मे जमे रहे।

इसके बाद दोनो देशो मे इस विषय म कोई पत्र व्यवहार नही हुआ। किन्तु अन्त मे १९५८ मे थाईलैण्ड की राजधानी बकाक मे दोनो देशो का एक सम्मेलन विवादग्रस्त प्रादेशिक मामलो पर विचार करने के लिये हुआ। इसम प्रीह विहीर का मामला भी था। थाई प्रतिनिधि ने इस पर बात करना स्वीकार न किया और यह सम्मेलन भग हो गया। इस पर कम्बोडिया यह प्रश्न अक्टूबर १९५९ मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे ले गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस विषय मे तीन के विरुद्ध नौ वोटो के बहुमत से यह निर्णय किया¹ कि प्रीह विहीर का मन्दिर कम्बोडिया राज्य की सीमा के भीतर है, थाईलैण्ड (स्याम) को वहाँ से अपनी सेना हटा लेनी चाहिये। इसके साथ पाँच के विरुद्ध सात वोटों से न्यायालय ने यह भी निर्णय किया कि थाईलैण्ड ने १९५४ मे मन्दिर

---

१. कहिये आर्डोरल्ज १९६२, पृ० ६-३३

पर अधिकार करने के बाद यहां से जो पुरानी मूर्तियां हटायी हों, वे कम्बोडिया को वापिस लौटा देनी चाहिये।

इस मामले में न्यायालय ने कम्बोडिया का यह दावा स्वीकार किया कि १९०६ में दोनों देशों के संयुक्त आयोग (Franco-Siamese Commission) ने दागरेक पर्वतमाला में जल विभाजक को सीमा स्वीकार किया था, इसके अनुसार यह मन्दिर कम्बोडिया के ओर की ढाल पर है, अतः यह उसके प्रदेश में है।

इस मामले में स्याम का यह कहना था कि उसने इस सीमा पर तथा १९०८ के नक्शे पर अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की। अतः यह प्रदेश उसके अधिकार में है। किन्तु न्यायालय ने प्रतिषेध (Preclusion) या निबन्धन (Estoppel) के सिद्धान्त के आधार पर स्याम का दावा अस्वीकार करते हुए इसका बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया। न्यायाधीश अल्फेरो (Alfero) के कथनानुसार इस सिद्धान्त का यह अभिप्राय है कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में कोई भी देश उस दशा में अपने पहले कार्यों से तथा रुख से बँधा होता है जबकि वह मुकद्दमे में अपने पहले कार्यों से विरोधी रुख अपनाता है। इस सिद्धान्त का मूलतत्व यह है कि किसी राज्य द्वारा मुकद्दमे के समय अपनाई गई स्थिति तथा किए गए दावों में और उसके इस विषय के पहले के व्यवहार एवं आचरण में कोई विरोध या असंगति (Inconsistency) नहीं होनी चाहिये। ऐसी असंगति को न्यायालय में कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता (allegans Contraria non audiondus-est)। किसी राज्य का झगड़े से पहले का रुख या कार्य उसके लिखित वक्तव्य, घोषणा, व्यवहार या मौन स्वीकृति से सूचित होता है। यदि कोई राज्य विरोधी तथ्यों की उपस्थिति में चुप रहता है, उसका कोई प्रतिवाद या विरोध नहीं करता तो यह समझा जायगा कि उसने इस प्रकार इस विषय में अपनी मौन सहमति (Tacit Consent) दे दी है तथा मुकद्दमे में वह इसके विपरीत स्थिति नहीं ग्रहण कर सकता। यह सिद्धान्त उसे ऐसी स्थिति ग्रहण करने से रोकता (Preclude या Stop) है, अतः इसे Estoppel या Preclusion कहते हैं। वादी या प्रतिवादी का पहला आचरण या व्यवहार उसे ऐसा बाँध देता है कि वह उसके विपरीत कोई विरोधी स्थिति मुकद्दमे में नहीं ग्रहण कर सकता अतः इसे निबन्धन (Estoppel) कहते हैं। यह उसे पहली स्थिति से विरोधी स्थिति लेने का निषेध करता है, अतः इसे प्रतिषेध या प्रतिवारण (Preclusion) का सिद्धान्त भी कहते हैं।

इस मामले में थाईलैण्ड का यह कहना था कि उसने कम्बोडिया के तत्कालीन फ्रेंच अधिकारियों को उनके सीमा सम्बन्धी नक्शों के बारे में पत्र द्वारा विधिपूर्वक कोई सहमति नहीं भेजी। किन्तु न्यायालय का यह मत था कि थाईलैण्ड ने अपने आचरण (Conduct) से इस विषय में निश्चित रूप से सहमति प्रदान की है। यदि वे इस नक्शे में दी गई सीमा से सहमत नहीं थे तो उन्हें तर्कसंगत अवधि (Reasonable Period) के भीतर इसका विरोध प्रकट कर देना चाहिये था। "उन्होंने ऐसा विरोध न तो उस समय प्रकट किया और न ही बहुत वर्षों तक प्रकट किया, अतः यह समझना चाहिये कि उन्होंने इस पर सहमति प्रदान की है।"

"यदि १९०८ में स्याम द्वारा नक्शे की तथा सीमान्त की स्वीकृति में कोई सदेह हो तो भी न्यायालय बाद की घटनाओं के प्रकाश में यह समझता है कि अब थाईलैण्ड को अपने आचरण के कारण यह दावा करने का अधिकार नहीं है कि उसने यह सीमा नहीं स्वीकार की। १९०४ की संधि के लाभों का स्याम ने पचास वर्ष तक उपयोग किया है, इससे उसे स्थायी सीमा का लाभ प्राप्त हुआ है। फ्रांस ने तथा उसके द्वारा कम्बोडिया ने यह विश्वास किया है कि थाईलैण्ड ने नक्शा स्वीकार किया है। अत अब थाईलैण्ड के लिये यह मार्ग खुला नहीं है कि वह एक ओर इस संधि के लाभों का उपयोग करे और दूसरी ओर इस बात को अस्वीकार करे कि उसने इस संधि पर कभी सहमति नहीं प्रदान की।"[3]

३ जुलाई १९६२ को बैंकाक से की गई एक सरकारी घोषणा के अनुसार थाईलैण्ड ने विरोध प्रकट करते हुए न्यायालय के इस निर्णय को मान लिया, किन्तु इसके साथ इस मन्दिर के चारों ओर की भूमि में सेनायें रखने का अपना अधिकार सुरक्षित रखने का विचार प्रकट किया।[4]

यह निर्णय कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें न्यायालय ने पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं की वैधता पर विस्तार से विचार किया और इसके मौलिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया। निवन्धन के सिद्धान्त का भी विशद प्रतिपादन किया।[5] भारत चीन-सीमा विवाद के प्रसंग में इस निर्णय का विशेष महत्व है क्योंकि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के निर्धारण करने के सिद्धान्त बताये गये हैं।

✓ **मध्यपूर्व तथा कांगो में स० रा० संघ की कार्यवाही पर होने वाले व्यय के सम्बन्ध में परामर्शात्मक सम्मति (Advisory opinion on Costs of U N operation in the Middle East and Congo)** — अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने २० जुलाई १९६२ को इस विषय में अपनी सम्मति दी कि मध्यपूर्व तथा कांगो में शान्ति स्थापित

---

३. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की रिपोर्ट १९६२, पृ० ३२

४. इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये—डा० स० कृष्णराव—दी प्रीह विहीर केस एण्ड दी साइनो-इण्डियन बाउण्डरी क्वैश्चन १९६२

५. इस निर्णय को स्वीकार करते हुए भी थाईलैण्ड ने इस निर्णय में उसके विरुद्ध मत देने वाले न्यायाधीशों के देशों के विरुद्ध जो कार्यवाही की, वह नितान्त असाधारण थी। इस मामले पर विचार करते समय न्यायालय के अध्यक्ष पाकिस्तान के थे, अत २१ जून को थाईलैण्ड ने यह घोषणा की कि पाकिस्तान के जहाज थाईलैण्ड के बन्दरगाहों में नहीं रुक सकते, पाकिस्तान के व्यापारिक प्रतिनिधियों को देश छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी गई। इस मामले में ब्रिटिश एवं फ्रेंच न्यायाधीशों ने थाईलैण्ड के विरुद्ध वोट दिया था, फ्रेंच विदेश मन्त्रालय के दो कानूनी परामर्शदाता सं० रा० अमरीका के श्री अचेसन (Acheson) के साथ कम्बोडिया की ओर इस मामले में वकील थे, अत थाईलैण्ड की सरकार ने इन देशों से विरोध प्रकट करने के लिए १९ जून को यह घोषणा की कि वह लाओस के सम्बन्ध में जेनेवा में होने वाले सम्मेलन में तथा दक्षिणपूर्वी एशिया सन्धि-संगठन (SEATO) की बैठक में अपने प्रतिनिधि नहीं भेजेगा, २१ जून को उसने पेरिस में विद्यमान अपने दूत को वहाँ से लौटने के लिये तैयार रहने को कहा (कीसिंग्स आर्काइव्ज १९६२, पृ० १८८३१)।

करने के लिए संघ की ओर से की जाने वाली फौजी कार्यवाहियों पर होने वाले व्यय को देने के सम्बन्ध में संघ के सदस्यों की वित्तीय जिम्मेवारी कहाँ तक है, क्या ऐसा व्यय सं० रा० संघ का व्यय समझा जाना चाहिये और इसे संघ के चार्टर की धारा १७ पैराग्राफ २ के अनुसार सब सदस्य राज्यों में बाँटा जाना चाहिये।

इस सम्बन्ध में खर्च न देने वाले प्रमुख राज्य सोवियत यूनियन तथा साम्यवादी गुट के अन्य देश है, इन्होंने इसके लिये एक पाई भी नहीं दी। ऐसे अन्य राष्ट्र, राष्ट्रवादी चीन, फ्रांस और अरब देश हैं। इनका यह कहना था कि संघ के विधान के अनुसार ये विशेष व्यय हैं। 'संघ के खर्चों (Expenses of Organization) में नहीं आते, अत ये इन्हें देने के लिये बाध्य नहीं हैं। इस पर जनरल असेम्बली ने २० दिसम्बर, १९६१ को पारित किये एक प्रस्ताव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से संघ के चार्टर की धारा १७ के पैरा २ की प्रामाणिक व्याख्या के सम्बन्ध में सम्मति माँगी और न्यायालय ने यह सम्मति दी कि कांगो में की जाने वाली फौजी कार्यवाही पर होने वाला व्यय 'संघ का व्यय' है और इसका वहन संघ के सदस्यों को करना चाहिये।

दक्षिण अफ्रीका के मामले (South West African Cases)— इस मामले में १८ जुलाई १९६६ को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने सभापति के निर्णायक मत से एक महत्वपूर्ण निर्णय किया है।[१] यह मामला हेग के न्यायालय में ४ नवम्बर १९६० को ईथियोपिया तथा लाइबेरिया के अफ्रीकी राज्यों ने दक्षिण अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध इस आधार पर प्रस्तुत किया था कि उसने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दिये गये शासनादेश (Mandate) के कर्त्तव्यों तथा दायित्वों का पालन नहीं किया है। इस मामले को अच्छी तरह समझने के लिये इसकी पृष्ठभूमि का परिचय होना आवश्यक है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका का प्रदेश जर्मनी के अधीन इसका संरक्षित राज्य था। युद्ध में जर्मनी के हारने पर वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी ने यह प्रदेश अपने साम्राज्य के अन्य भागों की भांति मित्रराष्ट्रों को सौंप दिया। इन्होंने राष्ट्र संघ के संविधान की धारा २२ के अनुसार इस प्रदेश पर शासन करने का अधिकार ब्रिटिश सरकार की ओर से दक्षिण अफ्रीका के संघ (Union of South Africa) को सौंप दिया। १७ दिसम्बर १९२० को राष्ट्र संघ की परिषद् ने इस शासनादेश को संपुष्ट करते हुए इसकी शर्तों का स्पष्टीकरण किया। इन शर्तों के तथा राष्ट्र संघ के संविधान की धारा २२ के अनुसार दक्षिण अफ्रीका ने दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका पर राष्ट्र संघ की ओर से इस उद्देश्य से शासन करना था कि वह इस प्रदेश में निवासियों के कल्याण और विकास में सहायक हो। राष्ट्रसंघ की परिषद् को यह अधिकार था कि वह इसके प्रशासन का निरीक्षण करे और यह पता लगाये कि दक्षिण अफ्रीका इस दिशा में अपने दायित्वों का पूरा कर रहा है। दक्षिण अफ्रीका ने कई बार इस प्रदेश को अपने राज्य में मिलाने की इच्छा प्रकट की,

---

१. इण्टरनेशनल कोर्ट आफ जस्टिस की रिपोर्ट १९६६, पृ० ६, इण्डियन जर्नल आफ इण्टरनेशनल ला, जुलाई १९६६, पृ० ४०५–४४६

किन्तु राष्ट्र सघ इस पर आपत्ति करता रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर स० राष्ट्र सघ की स्थापना होने पर राष्ट्र सघ द्वारा शासनादेशप्राप्त (Mandated) सभी प्रदेश या तो स्वतन्त्र हो गये अथवा स० रा० सघ की सरक्षकता (Trusteeship) मे आ गये। केवल दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर ही दक्षिण अफ्रीका के सघ का प्रभुत्व बना रहा और वह स० रा० सघ को प्राप्त नही हुआ। सघ की पहली सामान्य असेम्बली मे दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधि ने यह कहा कि दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के अधिकाश निवासी दक्षिण अफ्रीका के सघ मे मिलना चाहते है, किन्तु असेम्बली ने इसे स्वीकार न करते हुए यह सिफारिश की कि इसे स० रा० सघ की अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति (Trusteeship System) मे लाया जाय। दक्षिण अफ्रीका इसके लिये तैयार नही था, फिर भी वह इस बात के लिये तैयार हो गया कि "वह इसकी यथापूर्व स्थिति (status quo) बनाये रखेगा और शासनादेश की वर्तमान भावना से इसका प्रशासन करता रहेगा। इस समय उसने इसके शासन के विषय मे स० रा० सघ को प्रतिवर्ष रिपोर्ट देना स्वीकार किया। किन्तु १९४९ से ऐसी रिपोर्ट देना बन्द कर दिया और दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका को सघ की न्यास पद्धति मे देने से इन्कार किया तथा यह कहा कि इसके प्रशासन के सबन्ध मे वह सघ को कोई रिपोर्ट देने को बाध्य नही है।

इस समस्या के उत्पन्न होने पर जनरल असेम्बली ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर तथा इस प्रदेश के सम्बन्ध मे दक्षिण अफ्रीका के दायित्वो के बारे मे परामर्शात्मक सम्मति मॉगी। १९५०, १९५५ तथा १९५६ मे न्यायालय ने इस विषय मे अपनी सम्मतियाँ देते हुए यह कहा था कि (१) राष्ट्र सघ का अन्त हो जाने पर भी उसका शासनादेश बना हुआ है। (२) सामान्य असेम्बली को इस प्रदेश पर किये शासन की देखभाल करने के वही अधिकार प्राप्त है जो इससे पहले इस प्रदेश के प्रशासन के सम्बन्ध मे राष्ट्र सघ को प्राप्त थे। (३) दक्षिण अफ्रीका का यह कर्त्तव्य है कि वह इसपर जनरल असेम्बली के निरीक्षण तथा नियन्त्रण को स्वीकार करे और प्रतिवर्ष इसे अपने शासन की रिपोर्टें भेजें। (४) स० रा० सघ के चार्टर के अध्याय १२ के अनुसार दक्षिण अफ्रीका इस बात के लिये कानूनी तौर से बाध्य नही है कि वह इस प्रदेश को न्यास पद्धति मे (Trusteeship System) मे लाये। (५) दक्षिण अफ्रीका को यह अधिकार नही है कि वह स० रा० सघ की सहमति के बिना दक्षिण पश्चिमी-अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे कोई परिवर्तन करे। दक्षिण अफ्रीका ने इन सम्मतियो को मानने से इन्कार कर दिया।

इसके बाद इस प्रश्न पर विचार करने के लिये जनरल असेम्बली ने २६ फरवरी १९५९ को दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका विषयक समिति (Committe on South West Africa) का निर्माण किया। १७ नवम्बर १९५९ को पास हुए एक प्रस्ताव द्वारा जनरल असेम्बली ने इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर अपने सदस्यो को यह सलाह दी कि वे दक्षिण अफ्रीका के साथ विवादग्रस्त दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के मैण्डेट के विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे कानूनी कार्यवाही करने का यत्न करें।

इसपर ४ नवम्बर १९६० को ईथियोपिया तथा लाइबेरिया ने पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध इस आधार पर आवेदनपत्र दिया कि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के शासनादेश (Mandate) के प्रश्न पर तथा शासनादेश प्राप्त करने वाली (Mandatory) शक्ति के रूप मे दक्षिण अफ्रीका के यूनियन के कर्त्तव्यों तथा कार्यों पर विचार करे। इस पर ३० नवम्बर १९६१ को दक्षिण अफ्रीका ने अपनी प्रारम्भिक आपत्ति यह उठाई कि इसके विरुद्ध लाये गये मामले पर विचार करने का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) न्यायालय को नही है। २१ दिसम्बर १९६२ को न्यायालय ने ७ के विरुद्ध ८ वोटो से दक्षिण अफ्रीका की आपत्तियो को रद्द करते हुए कहा कि न्यायालय को इस विषय पर विचार करने का पूरा अधिकार है।

इसके बाद इस मामले का दूसरा दौर (Second Phase) शुरू हुआ। २३ दिसम्बर १९६४ को ईथियोपिया तथा लाइबेरिया ने दक्षिण अफ्रीका सघ पर दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के प्रशासन के सबन्ध मे दिये गये शासनादेश को भग करने के आरोप-लगाते हुए न्यायालय से इन विषयो पर विचार एव घोषणा करने के लिये कहा—(१) दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका दक्षिण अफ्रीका सघ को शासनादेश (Mandate) के रूप मे मिला हुआ प्रदेश है। (२) दक्षिण अफ्रीका सघ पर शासनादेश के सभी बन्धन और दायित्व लागू है, स० रा० सघ को उसके प्रशासन के निरीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार है, उसे इस विषय मे स० रा० सघ को वार्षिक रिपोर्ट देनी चाहिये। (३) रग-भेद एव पार्थक्य (Apartheid) की नीति अपनाने के कारण दक्षिण अफ्रीका इस प्रदेश के निवासियो की नैतिक तथा भौतिक उन्नति करने मे विफल सिद्ध हुआ है, उसने इस प्रदेश के निवासियो के साथ उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के अनुसार व्यवहार नही किया है, इस प्रकार उसने इस प्रदेश के निवासियो के लिये आत्मनिर्णय और स्वतन्त्रता प्राप्ति के द्वार बन्द कर दिये है। इस प्रदेश मे सैनिक अड्डे स्थापित किये है। (४) दक्षिण अफ्रीका सघ ने स० रा० सघ की सहमति के बिना शासनादेश की शर्तो मे गम्भीर परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। (५) न्यायालय से यह भी प्रार्थना की गई थी कि वह इस बात पर भी विचार करे कि उपर्युक्त कार्यो से दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के सबन्ध मे दक्षिण अफ्रीका सघ को दिये गये शासनादेश का भग होना है, अत उसका यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसे कार्य करना बन्द कर दे तथा इस विषय मे अपने दायित्वो और कर्त्तव्यो का पालन करे।

किन्तु न्यायालय ने इन मौलिक प्रश्नों पर विचार करने के स्थान पर केवल इसी विषय पर जाँच और विचार किया कि क्या आवेदनकर्त्ताओ (ईथियोपिया तथा लाइबेरिया) को इस विषय मे अपना दावा करने का कोई कानूनी अधिकार (legal right or interest) है। न्यायालय का यह तर्क था कि यह विषय इस मामले के Merits से सम्बद्ध था, जब कि १९६२ मे न्यायालय ने जिस प्रश्न पर निर्णय दिया था, वह इसके सम्मुख आवेदनकर्त्ताओ की स्थिति के बारे मे था। न्यायालय का यह मत था कि शासनादेश के प्राविधान (Substantive provisions of the Mandate) दो प्रधान वर्गो मे बाँटे जा सकते हैं—(क) सचालन सम्बन्धी व्यवस्थायें

या प्राविधान (Conduct provisions), (ख) विशेष हितों वाले प्राविधान (Special interests provisions)। सचालनविषयक व्यवस्थाये शासनादेश प्राप्त करने वाले राज्य के अधिकारो का तथा इस प्रदेश के निवासियो के प्रति तथा सघ एव दूसरे विभिन्न अगो के प्रति इसके दायित्वों का प्रतिपादन करती हैं। दूसरे प्रकार की व्यवस्थाये वे विशेष हितो वाली है जो शासनादेशप्राप्त (Mandated) प्रदेश के बारे मे सघ के सदस्यो को वैयक्तिक राज्यो के रूप मे अथवा इनके नागरिको को कुछ अधिकार प्रदान करते है। न्यायालय का यह मत था कि इस मामले का सम्बन्ध पहले प्रकार की व्यवस्थाओ से था। न्यायालय ने आवेदनकर्त्ताओं का यह तर्क नही स्वीकार किया कि यद्यपि शासनादेश प्राप्त करने वाले राज्य सघ की परिषद् के सम्मुख उत्तरदायी है, फिर भी सघ के सदस्यो को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि शासनादेश की व्यवस्थाओं का उल्लघन होता हो तो वे न्यायालय से न्याय प्राप्त करे। न्यायालय की दृष्टि मे आवेदनकर्त्ताओ को न्यायालय से शासनादेश के उल्लघन के सम्बन्ध मे न्याय पाने के लिये तथा इस विषय म घोषणात्मक निर्णय पाने के लिये कोई कानूनी अधिकार होना चाहिये था, किन्तु उन्हे ऐसा कोई कानूनी अधिकार नही है, अत न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नही कर सकता है। न्यायालय ने इस विषय पर मानवीयताविषयक तर्क (Humanitarian grounds) के आधार पर भी विचार करने से इन्कार किया क्योंकि कानूनी मामलो पर विचार करने वाला न्यायालय (Court of law) होने के नाते ऐसे प्रश्नो पर विचार नही कर सकता था। इसके बाद न्यायालय ने आवेदनकर्त्ताओ की इस प्रधान युक्ति को भी नही स्वीकार किया कि शासनादेश का क्षेत्राधिकार निर्देश करने वाली धारा (Jurisdictional clause) इस विषय मे आवेदनकर्त्ताओ को कानूनी कार्यवाही करने का कोई अधिकार प्रदान करती है, विद्वान् न्यायाधीशो ने इस धारा की अत्यन्त सकीर्ण व्याख्या करते हुए यह परिणाम निकाला कि आवेदनकर्त्ताओ की प्रार्थना पर इसलिये विचार नही किया जा सकता कि वे इस बात को सिद्ध नही कर सके हैं कि उन्होंने जिस विषय मे न्याय पाने के लिये आवेदनपत्र दिया है उस विषय मे उन्हे यह न्याय पाने का कोई कानूनी अधिकार या हित (Legal right or interest) है। अत अध्यक्ष के निर्णायक मत से न्यायालय ने ईथियोपिया तथा लाइबेरिया के दावे १८ जुलाई १९६६ को रद्द कर दिये।

न्यायालय के १९६६ के निर्णय की अफ्रीका तथा एशिया मे बडी कडी आलोचना हुई है। यह आलोचना निम्नलिखित कारणो के आधार पर की गई है—(१) यह निर्णय १९६२ मे इस मामले मे दिये गये इसी न्यायालय के निर्णय का दो बातो मे विरोधी तथा प्रतिकूल है। पहली बात यह है कि १९६२ मे इस न्यायालय ने अपने निर्णय में यह कहा था कि मैण्डेट पद्धति के अनुसार दिये गये शासनादेश की दो विशेषताये हैं—(क) यह शासन करने वाले देश को "सभ्यता की पवित्र धरोहर या न्यास (Sacred Trust of Civilisation) के रूप मे दिया जाता है। (ख) इस न्यास के अनुसार शासनकार्य ठीक रीति से चलता रहे, इसके लिये इसमे समुचित व्यवस्थाये की गई हैं और न्यायालय को भी इनके पालन के लिये अधिकार दिये गये हैं। १९६२

मे इन बातो को स्वीकार करने के बाद १९६६ मे इसके सर्वथा प्रतिकूल न्यायालय ने यह घोषणा की कि १९६२ मे इसमे प्रतिपादित किया गया यह विचार भ्रान्तिपूर्ण था कि 'पवित्र धरोहर' की रक्षा के लिये कोई कानूनी कार्यवाही की जा सकती थी। दूसरी बात यह थी कि १९६२ मे न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि ईथियोपिया तथा लाइबेरिया को इस मामले मे कानूनी कार्यवाही करने का अधिकार है या नही। दक्षिण अफ्रीका का यह कहना था कि सघ के किसी सदस्य को इस विषय मे कार्यवाही करने का कोई अधिकार नहीं है, उस समय न्यायालय ने यह तर्क अस्वीकार कर दिया था। किन्तु १९६६ मे अपने इस पूर्व निर्णय के सर्वथा प्रतिकूल जाते हुए उन्होंने ईथियोपिया तथा लाइबेरिया का इस मामले में कोई अधिकार नही माना। इस विषय मे द० अफ्रीका के एक न्यायाधीश वानविक ने लिखा था कि इस निर्णय के अधिकाश तर्क १९६२ के निर्णय मे दिये गए तर्कों के प्रतिकूल और विरोधी हैं।

(२) १९६२ के निर्णय मे न्यायालय ने द० अफ्रीका की यह युक्ति स्वीकार नही की थी कि मैण्डेट की धारा के अनुसार वर्तमान विषय मे कोई 'विवाद' (Dispute) नही क्योकि इससे आवेदनकर्त्ताओ के किसी भौतिक हित को कोई क्षति नही पहुँचती है। उस समय न्यायालय ने कहा था कि सघ के सदस्यो को इस बात का कानूनी अधिकार प्राप्त है कि वे मैण्डेट पद्धति का पालन करवाते रहें। इसी आधार पर १९६२ का निर्णय दिया गया था। १९६२ में इस प्रकार स्थापित एव प्रतिपादित की गई व्यवस्था का न्यायालय ने १९६६ मे विरोध किया। एक अमेरिकन न्यायाधीश जेस्सप ने इसे कानून के क्षेत्र मे सर्वथा निराधार व्यवस्था (Completely unfounded in law) कहा है। (३) न्यायालय द्वारा आवेदनकर्त्ताओ के लिये इस मामले मे कानूनी अधिकार होने का तर्क उठाना सर्वथा अवैध और असगत था। न्यायालय के विधान एव निर्णयो मे इस बात का कही उल्लेख नही कि इसके सामने मामला लाने वाले आवेदनकर्त्ता देश के लिए यह आवश्यक है कि वह इस विषय मे अपना कानूनी अधिकार सिद्ध करे। न्यायाधीश जेस्सप ने इस विषय मे यह ठीक ही लिखा था कि इस कथन की पुष्टि मे एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा इस प्रकार का विरोधी निर्णय देने का कारण यह था कि १९६२ का निर्णय ७ के विरुद्ध ८ के बहुमत से हुआ था। किन्तु १९६६ मे १४ न्यायाधीश थे, इनमे सात पुराने न्यायाधीश थे और सात नये। पुराने न्यायाधीशो मे सर पर्सी स्पण्डर न्यायालय के अध्यक्ष थे, इन्होने १९६२ मे न्यायालय के बहुमत के निर्णय से असहमति प्रकट की थी और इस समय १९६२ वाले निर्णय के प्रतिकूल निर्णय को उन्होंने अपने निर्णायक वोट से बहुमत का निर्णय बनाया। इसके अतिरिक्त न्यायालय के एक न्यायाधीश पाकिस्तान के जफरुल्ला खा ने अपना मत नही दिया क्योकि उनका यह कहना था कि प्रधान न्यायाधीश ने उन्हें इस कारण इस मामले में मत न देने की सलाह दी क्योंकि उन्हे एक बार प्रार्थी राज्यो ने तदर्थ न्यायाधीश (Judge ad hoc) के रूप मे मनोनीत किया था।

१९६६ मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने १९६२ के निर्णय के प्रतिकूल निर्णय

करके अपनी स्थिति तथा प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचाया है, १९६६ मे कोई नवीन परिस्थितियाँ न होने पर भी ऐसा निर्णय होने का यह कारण था कि १९६२ वाले सात न्यायाधीश अवकाश ग्रहण कर चुके थे। न्यायाधीश विभिन्न देशो से निर्वाचित होने पर भी न्यायालय का कार्य निष्पक्ष रीति से करते है। फिर भी इस मामले मे यह बात उल्लेखनीय है कि १९६२ के निर्णय से असहमति रखने वाले तथा १९६६ मे बहुमत रखने वाले न्यायाधीश आस्ट्रेलिया, फ्रास, ग्रीस, इटली, पोलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और ब्रिटेन के थे। पोलैण्ड के अतिरिक्त इन देशो की सरकारें दक्षिण अफ्रीका की नीति की कटु आलोचक नही है। किन्तु १९६६ मे असहमति प्रकट करने वाले न्यायाधीश चीन, जापान, मेक्सिको, नाइजीरिया, सेनेगाल, सोवियत सघ, और स०रा० अमेरिका के थे। स० रा० अमेरिका के अतिरिक्त इन देशो की सरकारें दक्षिणी अफ्रीका के कार्यो और नीतियो की कटु आलोचक रही है। यह सम्भव है कि यह केवल सयोग हो, किन्तु इससे न्यायालय की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचा है, एशिया तथा अफ्रीका के देशो मे इस न्यायालय की निष्पक्षता मे गहरा सदेह उत्पन्न हो गया है।[७]

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मूल्याकन—इस विषय मे बम्बई हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश तथा स० रा० अमरीका मे भारत के राजदूत श्री एम० सी० छागला ने यह सत्य ही कहा है—' न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स० रा० सघ का बहुत महत्वपूर्ण अग है। यद्यपि यह पूर्ण नही है, इसके पास वह सत्ता और अधिकार नही है, जो इसे प्राप्त होना चाहिए फिर भी यह एक महान् विचार का मूर्त रूप है, एकमात्र यही विचार राष्ट्रो मे शान्ति और सद्भाव लाने वाला है। इस विचार के अनुसार जैसे व्यक्ति आपस मे विवाद होने पर एक दूसरे का गला काटने का नही दौडते, वैसे ही राष्ट्रो को भी आपस मे मतभेद होने पर शस्त्रो का सहारा नही लेना चाहिये, किन्तु एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय के निर्णयो को स्वीकार करना चाहिए। इस न्यायालय मे स्वतन्त्रता तथा पक्षपात-हीनता तो है, किन्तु इसके पास पूरी सत्ता और अधिकार नही है। यदि युद्धो का स्थान इस न्यायालय को ग्रहण करना तो है अभी बहुत कुछ करना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सुदृढ और सुस्थिर आधार पर प्रतिष्ठित करना होगा। न्यायालय का क्षेत्राधिकार ऐच्छिक के स्थान पर सब मामलो मे अनिवार्य हो जाना चाहिए और अन्त मे न्यायालय के प्रत्येक निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए उसके पीछे उचित अनुज्ञप्ति (Sanctions) होनी चाहियें। इसके निर्णयो को आवश्यकता पडने पर स० रा० सघ के बलपूर्वक क्रियान्वित करनेवाले साधनो (Coercive machinery) द्वारा लागू किया जाना चाहिये।"

७. इस निर्णय की आलोचना के लिये देखिये इण्डियन जर्नल ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, जुलाई १९६६, पृ० ३८३-३९४

बीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निवटारा

(Settlement of International Disputes)

सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का निवटारा करने के दो प्रधान साधन हैं - मैत्रीपूर्ण (Amicable)[1] और बल-प्रयोगकारी (Coercive) या बाध्यकारी (Compulsive)। मैत्रीपूर्ण साधनो मे दोनो पक्षो मे सद्भावना और अच्छी प्रेरणा द्वारा विवादो का हल किया जाता है और बाध्यकारी साधनो का आधार बल-प्रयोग है।

मैत्रीपूर्ण साधन (Amicable means)—*अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के मैत्रीपूर्ण साधन ये है—वार्त्ता, सत्सेवा और मध्यस्थता, संराधन, अन्तर्राष्ट्रीय आयोग और जाँच,* पचनिर्णय, न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा तथा स० रा० सघ के माध्यम द्वारा न्यायिक समझौता। स० रा० सघ के चार्टर की धारा ३३ मे इनका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को सकट मे डालने वाले किसी विवाद मे दोनो पक्ष सर्वप्रथम इसे निम्न उपायो द्वारा हल करने का प्रयत्न करेंगे—वार्त्ता, जाँच, मध्यस्थता, सराधन, पचनिर्णय, न्यायालय द्वारा निर्णय, प्रादेशिक सगठनो का तथा अन्य शान्तिपूर्ण उपायो का अवलम्बन"।

(१) **वार्त्ता (Negotiation)**—इसका अभिप्राय दो देशों मे उत्पन्न हुए किसी विवाद के समाधान के लिये परस्पर वार्त्तालाप है। ये राज्यो के अध्यक्षों द्वारा या उन द्वारा नियुक्त एव प्रमाणित किये राजदूतो से तथा अन्य प्रतिनिधियो द्वारा होना है। प्राय: किसी विवाद के निवटारे के लिये दो देशो मे पत्र-व्यवहार होता है, यह भी वार्त्ता का अग होता है। उदाहरणार्थ, भारत-पाक सीमा-विवाद के समाधान करने के लिये १ सितम्बर १९५९ को पहले पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खाँ और भारत के प्रधानमत्री की वार्त्ता हुई और उन्होने दोनो देशो मे 'उत्तम पडोसी' के सम्बन्ध

---

१. प्राचीन भारत के स्मृतिकारों ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि युद्ध छेड़ने से पहले मैत्रीपूर्ण उपायों द्वारा विवाद का समाधान करना चाहिये। इन्हें वे साम या शान्ति का उपाय कहते हैं। साम के बाद दान अर्थात् दूसरे पक्ष को आर्थिक सहायता और बहुमूल्य भेंटों द्वारा अपने वश में करना चाहिये। इन दोनों उपायों के विफल होने पर भेद अर्थात् शत्रुपक्ष में फूट डालकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये। तीनों के सफल न होने पर युद्ध छेड़ना उचित है। मनुस्मृति (७।१९८) के मतानुसार—साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन॥ ये चारों साधन प्राचीन परिभाषा के अनुसार उपाय कहलाते थे। इनके विशद वर्णन के लिये देखिये—पाण्डुरंग वामन काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, ख० ३, पृ० १७१।

स्थापित करने तथा सीमा-विवाद का अन्त करने के लिये मन्त्रियों की एक परिषद् बुलाने का निश्चय किया। भारत के इस्पात तथा खान मन्त्री श्री स्वर्णसिंह तथा पाकिस्तान के ले० कर्नल के० एम० शेख ने अपने प्रतिनिधि-मंडलों के साथ १५ अक्टूबर से २२ अक्टूबर १९५९ तक दिल्ली और ढाका में वार्तायें करके सीमा-सम्बन्धी विभिन्न विवादों का समाधान कर लिया। मूर ने Mavrommatis Palestine Concession में लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्ता एक कानूनी, व्यवस्थित और प्रशासनात्मक प्रक्रिया है, इसकी सहायता से राज्य सरकारें अपनी असंदिग्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं, अपने मतभेदों पर विचार-विमर्श, इनका व्यवस्थापन और समाधान करती हैं।" यह आवश्यक नहीं कि वार्ता द्वारा विवाद का समाधान हो जाय, किन्तु शान्ति-प्रेमी राज्य इस उपाय का अधिकतम उपयोग करते हैं। कई बार शान्ति का ढोंग करने वाले राज्य भी विश्व का लोकमत अपने अनुकूल बनाने के लिए वार्ता के साधन का अवलम्बन करते हैं। युद्ध से पहले वार्ता द्वारा लड़ाई को रोकने का भरसक प्रयत्न किया जाता है।

सितम्बर १९६५ में भारत-पाक संघर्ष छिड़ने पर ७ सितम्बर को सोवियत रूस ने दोनों देशों को इस क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिये अपनी सत्सेवायें देने का प्रस्ताव रखा था बशर्ते कि दोनों देश इसे उपयोगी समझते हों। रूस की सत्सेवाओं से ही जनवरी १९६८ में ताशकन्द-घोषणा (Tashkent Declaration) द्वारा दोनों देशों में शान्ति स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण पग उठाया गया।

(२) सत्सेवा और मध्यस्थता (Good Offices and Mediation)—जब दो पक्ष स्वयमेव अपने प्रतिनिधियों की वार्ता द्वारा विवाद का निपटारा नहीं कर सकते तो अन्य राज्य इनके विवाद के समाधान के लिये अपनी सेवायें देते हैं। उत्तम उद्देश्य से किया गया उनका यह कार्य सत्सेवा है और झगड़े को सुलझाने की दृष्टि से दोनों पक्षों के बीच में पड़ना मध्यस्थता है। कई बार अनेक शक्तियाँ मिलकर मध्यस्थता का कार्य करती हैं। चाको प्रदेश के सम्बन्ध में बोलिविया और पैरागुये में जब दो वर्ष (१९३२-३) तक निरन्तर युद्ध चलता रहा तो स० रा० अमरीका, अर्जेन्टायना, ब्राज़ील, चिली, पेरू तथा युरेगुये की सामूहिक मध्यस्थता ने इस विवाद का समाधान कर शांति स्थापित की। १९४७ में हालैण्ड तथा इंडोनेशिया में संघर्ष होने पर सुरक्षा परिषद् द्वारा नियत की गयी सत्सेवा समिति (Good Offices Committee) ने दोनों पक्षों के समझौते में उत्पन्न हुए गतिरोध को दूर किया। पेलेस्टाइन में ब्रिटिश मैण्डेट की समाप्ति के बाद इज़राइल तथा अरबों के मध्य में उत्पन्न हुए विवाद के समाधान के लिये जनरल असेम्बली ने मई १९४८ में कौण्ट बर्नाडाट को मध्यस्थ बनाया। १९५१ में आस्ट्रेलिया की सरकार ने भारत और पाकिस्तान के काश्मीर-सम्बन्धी विवाद को हल करने के लिये अपनी सत्सेवायें देने को कहा था, किन्तु भारत सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया। स० रा० संघ की ओर से अमरीका के फ्रैंक ग्राहम ने मध्यस्थ बनकर काश्मीर के मामले का समाधान करने का यत्न किया। सितम्बर १९०५ में

रूस-जापान-युद्ध की समाप्ति अमरीकन राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट की सत्सेवाओं से हुई।

"अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के हेग अभिसमय" पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों ने भविष्य में सत्सेवाओं और मध्यस्थता के उपाय के अधिकाधिक प्रयोग का संकल्प प्रकट किया था। इसकी विभिन्न धाराओं (२–८) में इन दोनों के सम्बन्ध में अनेक नियम निश्चित किये गये थे। इनके अनुसार विवाद करने वाले पक्षों के अतिरिक्त अन्य राज्यों को सत्सेवायें देने का या मध्यस्थता करने का अधिकार है, इसे शत्रुतापूर्ण कार्य नहीं समझा जा सकता। धारा ६ के अनुसार ये उपाय केवल परामर्शात्मिक स्वरूप रखते हैं। धारा ७ के अनुसार मध्यस्थता स्वीकार करने का यह परिणाम नहीं है कि वह किसी पक्ष को युद्ध की आवश्यक तैयारियाँ करने से रोक सके। धारा ४ में मध्यस्थों के कार्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसका उद्देश्य "विवाद करने वाले राज्यों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करना तथा परस्पर-विरोधी दावों का समन्वय करना है"। कई बार यह बड़ा उपयोगी होता है तथा युद्धों की सम्भावना दूर कर देता है। १९०४ में डागर बैंक की घटना से ग्रेट ब्रिटेन और रूस में युद्ध छिड़ने की सम्भावना थी, किन्तु फ्रांस की मध्यस्थता से दोनों देशों में समझौता हो गया।

(३) सराधन (Conciliation)—आपेनहाइम ने इसका लक्षण करते हुए कहा है—"यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें झगड़ा निपटाने का काम कुछ व्यक्तियों के कमीशन या आयोग को सौंपा जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों के विवरण सुनकर उनमें समझौता कराने के प्रयत्न की दृष्टि से विवाद सम्बन्धी तथ्यों को स्पष्ट करते हुए एक रिपोर्ट देता है, इसमें विवाद के समाधान के लिये कुछ प्रस्ताव होते हैं, किन्तु इनका स्वरूप पंचाट (Award) या अदालती निर्णय की भाँति अनिवार्य रूप से मान्य नहीं होता।"[१] हडसन के शब्दों में "सराधन की प्रक्रिया में तथ्यों के अन्वेषण तथा विरोधी दावों के समन्वय के प्रयत्न के बाद विवाद के समाधान के लिये प्रस्ताव बनाये जाते हैं। इन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने की स्वतन्त्रता दोनों पक्षों को होती है।" इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि सराधन में वस्तुतः तीन तत्वों—जाँच, मध्यस्थता तथा विवाद निपटाने के प्रस्तावों का सम्मिश्रण होता है। हेग के अभिसमय (Convention) द्वारा सराधन की प्रक्रिया विकसित हुई है। इसकी धारा ६ के अनुसार यह व्यवस्था की गयी थी कि तथ्यों के सम्बन्ध में विवाद होने पर इसके अन्वेषण के लिये दोनों पक्षों द्वारा चुने गये व्यक्तियों का एक 'अन्तर्राष्ट्रीय आयोग' बनाया जाय। किन्तु किसी राज्य के 'सम्मान' और महत्वपूर्ण स्वार्थ (Honour and Vital Interest) से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न ऐसी जाँच का विषय नहीं बन सकते थे।

सराधन का इससे मिलती-जुलती अन्य प्रक्रियाओं से बड़ा सूक्ष्म और स्पष्ट अन्तर है। यह जाँच के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग (International Commission of

---

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, सं० २, सप्तम संस्करण, पृ० १२

Enquiry) तथा पचनिर्णय (Arbitration) की मध्यवर्ती प्रक्रिया है। जांच कमीशन का मुख्य उद्देश्य इस आशा स तथ्यो का विशदीकरण (Elucidation) करना होता है कि इससे दोनो पक्ष स्वयमेव आपस मे समझौता कर लेगे। किन्तु सराधन का मुख्य लक्ष्य इस आयोग के प्रयत्नो द्वारा दोनों पक्षों का समझौता कराना है। पचनिर्णय मे ठीक ढग से बनाये पच या न्यायाधिकरण का निर्णय दोनो पक्षो को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होता है, किन्तु सराधन मे दोनो पक्षो के लिए कानूनी तौर से यह आवश्यक नही कि वे विवाद के समाधान के लिए सुझाये गये प्रस्तावो को स्वीकार कर ले। सराधन मध्यस्थता (Mediation) से भी स्पष्ट भेद रखता है, क्योकि सराधन मे दोनो पक्ष अपना विवाद मुख्य रूप से दूसरे व्यक्तियो के समूह को इस प्रधान उद्देश्य के साथ सौपते है कि वह तथ्यों की निष्पक्ष जाँच के बाद इसके समाधान के प्रस्ताव उपस्थित करेगा। किन्तु मध्यस्थता मे तीसरा राज्य स्वयमेव दोनो पक्षो मे वार्ता चलाकर विवाद को हल करने का प्रयत्न करता है।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय जाँच-आयोग** — ये विवादो की जाँच के लिये बनाये जाते हैं और इनकी रिपोर्ट दिये जाने तक दोनो पक्ष अपना युद्ध बन्द रखते है। पहले यह कहा जा चुका है कि १८९९ के हेग **अभिसमय** के अनुसार यह जाँच किसी राज्य के सम्मान तथा महत्वपूर्ण स्वार्थ के प्रश्न के साथ सम्बद्ध नहीं होनी चाहिये। इसका उद्देश्य इस दृष्टि से तथ्यो का अनुसधान करना है कि इनके विशदीकरण से भ्रांति और अज्ञान दूर हो सके और इसके परिणामस्वरूप शान्ति स्थापित हो। १९०७ के **हेग अभिसमय** द्वारा इनके स्वरूप मे काफी सुधार किया गया था। १९२४ में **वाशिंगटन मे हुए समझौते** के अनुसार जांच के स्थायी आयोग स्थापित करने का निर्णय किया गया। इसकी मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित थी--(क) समझौते के मुख्य कूटनीतिक उपायों के विफल हो जाने पर दोनो पक्ष अपने विवाद स्थायी आयोग को सौपेंगे और इसकी रिपोर्ट मिलने तक युद्ध आरम्भ नही करेंगे। (ख) स्थायी आयोग के पाच सदस्य होंगे। प्रत्येक पक्ष इसके लिये एक अपना नागरिक और एक तीसरे राज्य का नागरिक चुनेगा और दोनो मिलकर तीसरे राज्य का पाचवा सदस्य चुनगे। (ग) इनकी रिपोर्ट एक साल के भीतर अवश्य आ जानी चाहिये, किन्तु इसकी अवधि दोनो पक्षो की सहमति से घटायी और बढ़ायी जा सकती है। स० रा० अमरीका ने इसके आधार पर अनेक देशो के साथ सधियां की है। यह व्यवस्था हेग की व्यवस्था से निम्न अशो मे भिन्नता रखती है—(क) इसमे राज्य की प्रतिष्ठा और महत्वपूर्ण स्वार्थों के प्रश्न को जाँच-आयोग के अधिकार-क्षेत्र से बाहर नही रखा गया। हेग अभिसमय का आयोग विवाद होने पर बनाया जाता था, किन्तु यह स्थायी रूप से बना हुआ है। (ख) इसमे रिपोर्ट के प्रकाशन से पहले युद्ध पर पाबन्दी लगायी गयी है।

राष्ट्र सघ ने और स० रा० सघ ने सराधन और जांच-आयोग द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को हल करने का प्रयत्न किया है। १९३१ मे राष्ट्र सघ द्वारा मचूरिया की घटनाओ की जाँच के लिये **लिटन कमीशन** नियुक्त किया गया था। राष्ट्र सघ ने पेलेस्टाइन मे अरब राज्यो तथा इजराइल के बीच स्थायी शान्ति बनाये रखने के लिये

एक सराधन आयोग (Conciliation Commission) बनाया था। दोनो विश्वयुद्धो के बीच मे विभिन्न देशो मे सराधन की प्रक्रिया अपनाने के लिये सैकडो सधियाँ की गयी और इस कार्य के लिये सौ से अधिक स्थायी आयोग बनाये गये, किन्तु इस प्रक्रिया से बहुत कम लाभ उठाया गया। अप्रैल १९४८ की शान्तिपूर्ण निबटारे की अमरीकन सधि मे अमरीकी राज्यो ने इस प्रक्रिया से आपसी विवाद हल करने की व्यवस्था स्वीकार की है। इसी वर्ष ब्रुसेल्ज की सधि द्वारा ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, बेल्जियम, हालैंड, लुक्सेमबर्ग ने आपसी विवादो के लिये सराधन के उपाय के अवलम्बन का निश्चय किया है। १९४९ मे स० रा० सघ की जनरल असेम्बली ने सराधन के सम्बन्ध मे चार प्रस्ताव स्वीकार किये है।

उपर्युक्त सभी साधनो — वार्ता, सत्सेवा, मध्यस्थता, सराधन, जाँच आयोग—मे दोनो पक्षो के विवाद को किसी न्यायिक निर्णय (Judicial decision) द्वारा हल नही किया जाता, दोनो पक्ष मध्यस्थो के सुझाव को मानने के लिये बाध्य नही है। अत इन्हे निर्णयेतर (Non-decisional) उपाय कहा जाता है। किन्तु इनमे दोनो पक्षो को सुझाव न मानने की स्वतन्त्रता होने से ये उपाय अधिक प्रभावशाली नही है। इन्हे प्रभावशाली बनाने के लिये कुछ अन्य उपायो का विकास किया गया है। इनमे दोनो पक्षो को विवाद के निबटारे के लिये बनाये गये पच आदि का निर्णय मानना आवश्यक होता है। अत ये निर्णयात्मक (Decisional) साधन कहे जाते है। ये दो प्रकार के है— पचनिर्णय (Arbitration) तथा अधिनिर्णय या न्यायिक निर्णय (Adjudication or judicial settlement)।

(५) **पचनिर्णय**[१] (Arbitration)—*विभिन्न राज्यो के विवादो को दोनो पक्षो द्वारा किसी पच को सौपकर निर्णय कराने की परिपाटी पश्चिमी जगत् मे यूनानियो के समय से चली आ रही है। मध्य काल मे भी इसका प्रयोग होता रहा।* १७९४ की जे सधि (Jay Treaty) के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका के अनेक विवाद पचनिर्णय द्वारा तय किये गये। १८७२ से १८९९ तक ग्रेट ब्रिटेन ने ऐसे तीस पचनिर्णय कराये, अन्य योरोपियन राज्यो, दक्षिण अमरीकी राज्यो तथा स० रा० अमरीका के इसी अवधि मे पचनिर्णयो द्वारा तय किये गये अन्तर्राष्ट्रीय विवादो की सख्या क्रमश साठ, पचास और बीस थी।

पचनिर्णय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आपेनहाइम ने लिखा है[२] कि "इसका अर्थ राज्यो के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाना है, यह निर्णय दोनों पक्षो द्वारा चुने हुए एक अथवा अनेक पचो के न्यायाधिकरण (Tribunal) द्वारा होता है और यह अधिकरण न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से पृथक् है।" पच का काम कानून का ज्ञान न रखने वाले किसी राज्य के शासनाध्यक्ष को भी सौंपा जा सकता है तथा किसी न्यायाधिकरण को सौपा जा सकता है। विभिन्न राज्य आपसी विवाद पचो को सौपने के लिये विशेष सधियाँ करते है। इन सधियो मे पचनिर्णय के

२. आपेनहाइम—इन्टरनेशनल लॉ, ख० २, सप्तम सस्करण, पृ० २२

मूल सिद्धान्तो का और इसकी प्रक्रिया का विस्तृत विवरण होता है। कई बार व्यापारिक सन्धियो मे एक ऐसी धारा रखी जाती है, जिसके अनुसार इसके सम्बन्ध मे होने वाले मतभेदो के निर्णय के लिये पचो की व्यवस्था का उल्लेख होता है। सामान्य रूप से पचनिर्णय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक सिद्धान्त लागू किये जाते हैं। यदि सम्बद्ध पक्षो की इच्छा हो तो वे इसमे समन्याय (Equity) के सिद्धान्त भी लागू कर सकते हैं। ब्रियर्ली के कथनानुसार[४] 'पच और जज दोनो के लिये यह अनिवार्य है कि वे कानून के नियमो के अनुसार अपना निर्णय दें, किसीको यह अधिकार नही है कि वह कानून का निरादर करते हुए अपने विवेक का प्रयोग करे अथवा वह जिसे उचित और न्यायपूर्ण समझता है, उसके अनुसार अपना निर्णय करे।"

सामान्य रूप से पचो का निर्णय (Award) या पचाट[५] दोनो पक्षो को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पडता है। राज्यों के लिये यह आवश्यक नही है कि वे अपना कोई विवाद पचों को सौंपे। किन्तु एक बार यह विवाद सौंपने पर पचनिर्णय को स्वीकार करना उनके लिए आवश्यक हो जाता है। भारत को कई बार काश्मीर का प्रश्न पच को सौंपने की प्रेरणा दी गयी, किन्तु उसने इसे पच को सौंपना स्वीकार नही किया। यदि वह ऐसा कर लेता तो उसके लिये पच का निर्णय मानना आवश्यक हो जाता। यदि एक पक्ष पच का निर्णय नही मानता तो दूसरा पक्ष उसे सभी उपायों से इसके लिए बाध्य कर सकता है। किन्तु यदि पच का निर्णय दबाव, भ्रान्ति, धोखे या गलतफहमी से दिया गया हो तो इसका पालन सम्बद्ध पक्षो के लिए आवश्यक नही होता, यदि यह अपने अधिकारो का अतिक्रमण करके दिया जाय तो भी मान्य नही होता। १८३१ मे हालैण्ड के राजा ने ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका के उत्तर-पूर्वी सीमा विवाद के बारे मे अपना निर्णय दिया था, किन्तु इसे पच द्वारा अपने अधिकारो के अतिक्रमण के कारण स्वीकार नही किया गया। इसी आधार पर १९०९ मे बोलिविया ने पेरू के साथ अपने सीमा विवाद के विषय मे अर्जेन्टायना के राष्ट्रपति द्वारा किये गये पचाट (Award) को स्वीकार नही किया।

हेग के १८९९ तथा १९०७ के अभिसमयों (Conventions) मे पचनिर्णय को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी विवादो को हल करने का सबसे प्रभावशाली तथा न्यायपूर्ण साधन मानते हुए इसके सम्बन्ध मे विस्तृत व्यवस्थायें की गयी थी। **अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारे के अभिसमय** की ९७ धाराओ मे ५४ (धारा स० ३७ ९०) पचनिर्णय के विषय मे हैं। १८९९ के हेग सम्मेलन से पहले कोई ऐसा निश्चित व्यक्ति समूह नही था, जिसमे से पचो को चुना जाय। इस सम्मेलन की सबसे बडी विशेषता पचनिर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना थी। इसके सम्बन्ध मे परिहास मे यह कहा जाता है कि यह न तो स्थायी था और न न्यायालय,

---

४. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २७४

५. भारतीय संविधान में award के लिए काश्मीरी भाषा के इस शब्द को ग्रहण किया गया है।

क्योंकि यह विधिशास्त्र के विद्वानों के नामों की एक सूची मात्र था। इस अभिसमय को स्वीकार करने वाले प्रत्येक राज्य को "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की योग्यता के लिए विख्यात, उच्चतम नैतिक ख्याति रखनेवाले तथा पंच के कर्त्तव्य स्वीकार करने के इच्छुक" चार व्यक्तियों के नाम देने पड़ते हैं। इनका कार्यकाल ६ वर्ष का होता था (धारा ४४)। जब सबद्ध पक्ष अपने विवाद के लिए उपर्युक्त नामसूची में से सर्वसम्मति से पंचों के नाम नहीं छाँट सकते थे तो प्रत्येक पक्ष दो नाम छाँट लेता था, एक अपने देश का तथा एक अन्य देश का। दोनों पक्षों द्वारा चुने गये चार व्यक्ति पाँचवें पंच को चुनते थे। हेग के प्रस्तावों के अनुसार राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए पंच-पद्धति को आवश्यक रूप से स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इसे अपनी इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार करने की स्वाधीनता रखी। इस विषय में उनकी यह घोषणा थी कि "यह वाछनीय है कि विवाद उत्पन्न होने पर परिस्थितियों के अनुसार पंच-पद्धति का अवलम्बन किया जाय।"

हेग के पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय ने अपनी स्थापना के बाद से १९१४ तक १६ मामलों का फैसला दिया था। इनका पहले उल्लेख किया जा चुका है (पृ० ३९६-७)। इनमें उत्तरी अटलांटिक की मछलीगाहों वाला झगड़ा तो पिछले सौ वर्ष से चला आ रहा था। १९१२ में इसका निबटारा हो गया।

विभिन्न देशों ने अपने कानूनी विवादों को पंचों को सौंपने की जो संधियाँ की हैं, उनमें कुछ अपवाद और प्रतिबन्ध रखे गये हैं। १९०३ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने पंचनिर्णय की संधि करते हुए यह कहा कि यह केवल उन्हीं विवादों के लिए लागू होगी जिनमें किसी की स्वाधीनता, सम्मान और महत्वपूर्ण स्वार्थों का प्रश्न न हो। १९०८ में स० रा० अमरीका ने भी अनेक अन्य देशों के साथ ऐसी रूट संधियाँ (Root Treaties) की। किन्तु इस विषय की अधिकांश संधियों में अनिवार्य पंचनिर्णय (Compulsory Arbitration) को अनेक प्रतिबन्धों और मर्यादाओं के साथ स्वीकार किया गया है।

(६) अधिनिर्णय (Adjudication)—हेग के पंच न्यायालय का कार्य महत्व-पूर्ण होने पर भी कई दृष्टियों से दोषपूर्ण था। पहले बताया जा चुका है कि वस्तुतः यह कोई न्यायालय नहीं था, केवल पंचों के नामों की सूची थी। जब विवाद करने वाले पक्ष इन नामों में से किन्हीं व्यक्तियों को अपने मामले के लिये पंच मान लेते थे तभी यह न्यायालय का रूप धारण करता था। इसका दूसरा दोष यह था कि प्रत्येक मामले के पंच विभिन्न व्यक्ति होते थे। इसलिए न्याय कार्य में कोई अविच्छिन्नता या एक-रूपता नहीं आने पाती थी। इन दोषों को दूर करने के लिए प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) की स्थापना की और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स० रा० संघ ने स्थायी न्यायालय के स्थान पर न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित किया। न्यायालयों द्वारा किये गये फैसले अधिनिर्णय (Adjudication) कहलाते हैं। पिछले अध्याय में इन दोनों के कार्य का वर्णन हो चुका है (देखिये पृ० ३९७-८)।

पंचनिर्णय (Arbitration) तथा अधिनिर्णय (Adjudication) में कुछ

सादृश्य तथा कुछ भेद हैं। सादृश्य ये हैं—(क) दोनों मे विवाद का समाधान कानून के नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर एक बाह्य एवं निष्पक्ष एजेन्सी द्वारा होता है। (ख) पचनिर्णय तथा अधिनिर्णय दोनों का पालन दोनों पक्षों के लिए अनिवार्य होता है। (ग) दोनों मे अपने विवाद को पचायत या न्यायालय को सौंपना ऐच्छिक होता है। किन्तु इन दोनों के मौलिक भेद निम्नलिखित है—(क) पचायत के पच प्रत्येक मामले मे सम्बद्ध पक्षों द्वारा चुने हुए व्यक्ति होते है, किन्तु अधिनिर्णय करने वाला न्यायालय स्थायी होता है, यह विवाद उत्पन्न होने से पूर्व ही विद्यमान होता है, उसके न्यायाधीशों के चुनाव मे सबद्ध पक्ष कोई भाग नही लेते। ये न्यायाधीश विभिन्न राज्यों द्वारा चुने होते हैं। (ख) पचायत उन सब नियमों को स्वीकार करती है, जो विवाद करने वाले पक्षों को मान्य है, किन्तु न्यायालय कानून के विषय मे दोनों पक्षों द्वारा किसी प्रकार की कोई मर्यादा का बधन स्वीकार करेगा। स्थायी न्यायालय का सबसे बडा लाभ इसका अविच्छिन्न रूप से बना रहना है। इसमे जहाँ एक ओर वादविधि (case law) का विकास होता है, वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक विवाद मे विचार के लिए हर बार नये सिरे से न्यायाधीशों को चुनने की आवश्यकता नही रहती। कई बार अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए ऊपर बताये गये साधनों या प्रक्रियाओं का मिश्रित (Composite) रूप मे प्रयोग होता है। १६१६ के बाद की गयी अनेक सधियों मे विवादों के निबटारे के लिए मध्यस्थ और न्यायिक निर्णय की प्रक्रियाओं का वर्णन है। १६२५ की लोकार्नो सधि तथा १६२८ का अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान का सामान्य कानून (General Act) इसके सुप्रसिद्ध उदाहरण हैं।

(७) राष्ट्रसघ और स० रा० सघ द्वारा विवादों का निबटारा (Settlement of Disputes through the Machinery of League of Nations and U N O) —इन दोनों सस्थाओं के बनाने का प्रधान उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का शान्तिपूर्ण समाधान था। राष्ट्रसघ के प्रतिज्ञापत्र मे ऐसे विवादो के हल के लिए धारा १२ में तीन उपाय बताये गये है—इसे पचों को सौंपना, हेग की स्थायी पचायती अदालत को सौंपना अथवा सघ की कौंसिल द्वारा इसकी जाँच करवाना। पहली दो अवस्थाओं मे यह निर्णय उपयुक्त (Reasonable) समय मे दिया जाना आवश्यक था तथा कौंसिल की जाँच छ महीने के भीतर पूरी होनी चाहिए थी। इन निर्णयों के तथा जाँच के बाद तीन महीने तक दोनों देशों को युद्ध छेडने की मनाही थी, ताकि इस बीच मे उनकी उत्तेजित मनोभावनायें शान्त हो जायें और शान्तिपूर्ण तथा निष्पक्ष रीति स इस प्रश्न पर विचार हो। धारा १३ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सधि के या कानून आदि के प्रश्न पचनिर्णय या न्यायालय के निर्णय के विषय बन सकते थे। धारा १६ मे कौंसिल द्वारा विवाद के निपटाने की विधि का विस्तृत वर्णन था। कौंसिल द्वारा की गई जाँच की रिपोर्ट मानने के लिये दोनों पक्ष बाधित नही किये जा सकते थे। धारा १६ मे शान्तिपूर्ण निबटारे के प्रस्ताव स्वीकार न करने वाले राज्यो के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic sanctions) लगाने की व्यवस्था की गयी थी।

स० रा० सघ के चार्टर की धारा २४, २५ मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा

बनाये रखने का प्रधान उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् पर डाला गया है, वह स० रा० संघ के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करती है स० रा० संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को स्वीकार तथा क्रियान्वित करें। विवाद करने वाले पक्षों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपने विवादों का समाधान वार्त्ता, मध्यस्थता, जाँच, समाधान, पंचनिर्णय, अधिनिर्णय से, तथा प्रादेशिक सगठनों की सहायता से और अन्य शांतिपूर्ण उपायों से करें। सुरक्षा परिषद् भी इन्हीं उपायों का अवलम्बन करके विवादों का समाधान करती है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने वाली किसी भी स्थिति की जाँच करने का अधिकार है। स० रा० संघ का कोई सदस्य ऐसी स्थिति को सुरक्षा परिषद् के सामने रख सकता है। इसका समाधान यदि शान्तिपूर्ण उपायों से न हो तो उसे इसके लिये सैनिक कार्यवाही करने का भी अधिकार है। कोरिया तथा स्वेज नहर के मामले में उसने ऐसी कार्यवाही सफलतापूर्वक की थी।

बाध्यकारी साधन (Compulsive measures)—जब दो राज्य उपर्युक्त शान्तिपूर्ण उपायों से अपने विवाद का समाधान नहीं कर सकते, तो वे युद्ध छेड़ने से पहले दूसरे पक्ष पर अनेक प्रकार का दबाव और बल डालकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते हैं। युद्ध में शस्त्रों के बल का प्रयोग होता है, यह विवाद के निर्णय का अन्तिम उपाय है। किन्तु उससे पूर्व दूसरे पक्ष पर दबाव डालने के लिये जिन साधनों का अवलम्बन किया जाता है, वे बाध्यकारी साधन (*Compulsive measures*) कहलाते हैं। आपेनहाइम ने लिखा है—"मतभेदों के समाधान के बाध्यकारी साधन वे हैं, जिनमें बाध्यता का कुछ अंश होता है, इनका प्रयोग एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध इस उद्देश्य से करता है कि वह पहले राज्य द्वारा वाञ्छित रूप में मतभेदों के समाधान को स्वीकार कर ले।"[६]

युद्ध में तथा बाध्यकारी साधनों में कई महत्वपूर्ण अन्तर हैं। पहला अन्तर यह है कि ये साधन विवाद करने वाले राष्ट्रों अथवा अन्य राज्यों द्वारा युद्ध का कार्य नहीं समझे जाते। अतः इनका प्रयोग होने पर शांतिकाल के सब सम्बन्ध—राजदूतों का आदान-प्रदान, व्यापारिक सम्पर्क और सन्धियों का पालन सामान्य रूप से होता रहता है। दूसरा अन्तर यह है कि बाध्यकारी साधनों द्वारा दूसरे पक्षों को हानि पहुँचायी जाती है, किन्तु इसकी कुछ सीमा और मर्यादा होती है, युद्ध में परपक्ष को हानि पहुँचाने के सभी साधनों का प्रयोग हो सकता है, बशर्ते कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा वर्जित न हों। तीसरा अन्तर यह है कि बाध्यकारी साधनों का प्रयोग करने के बाद जब दूसरा पक्ष मतभेदों का समाधान करने के लिये तैयार हो जाता है, तो इनका प्रयोग बन्द कर दिया जाता है। किन्तु यदि लड़ाई एक बार शुरू हो जाय तो एक पक्ष के झुक जाने पर भी दूसरा पक्ष लड़ाई बन्द करने के लिये बाधित नहीं होता। विजेता को विजित देश पर मनचाही शर्तें थोपने का पूरा अधिकार है। बाध्यकारी साधनों के प्रयोग में ऐसा

---

६. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० १६२

सम्भव नहीं है। बाध्यकारी साधनों के मुख्य प्रकार ये हैं —

(क) प्रतिकर्म (Retorsion)—प्रतिकर्म एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतिकार लेने की दृष्टि से किये गये कार्य होते है। ओपेनहाइम के शब्दो मे "प्रतिकर्म बदले के लिये एक पारिभाषिक शब्द है, इसका प्रयोग एक राज्य के ऐसे अशिष्टतापूर्ण, अकृपालु, अनुचित और अन्यायपूर्ण कार्यों के लिये होता है, जो दूसरे राज्य द्वारा इस प्रकार के कार्य किये जाने पर प्रत्युत्तर के रूप मे किये जाते हैं।"[७] जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के किसी कार्य से क्षति उठाता है तो वह उसे वैसे ही क्षति पहुँचाने के कार्य करता है, यही प्रतिकर्म है। इसका उद्देश्य इस प्रकार के कार्य द्वारा दूसरे राज्य को अपना अशिष्ट, अनुचित तथा अमैत्रीपूर्ण व्यवहार छोडने के लिये बाधित करना है। कुछ उदाहरणों से इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा।

जब रूस ने १९०४ में साखालीन टापू के समुद्र मे जापानी मछियारो को निकाल दिया तो जापान ने रूस से आने वाले माल पर अधिक चुगी लगाने की धमकी दी। १९५१ मे जब चैकोस्लोवाकिया ने अकारण ही कुछ अमरीकन नागरिको को बन्दी बनाया तो अमरीकन सरकार ने इस देश के साथ किये हुए व्यापारिक समझौते को रद्द करने का निश्चय किया। जब दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयो के साथ रंगभेद की नीति मे कोई कमी या परिवर्तन नहीं किया तो भारत सरकार ने अपने देश मे रहने वाले दक्षिण अफ्रीका के नागरिको पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये तथा वहाँ से अपना प्रतिनिधि—भारतीय हाई कमिश्नर भी वापिस बुला लिया। १८९६ मे क्यूबा के जनरल वेलिर ने जब क्यूबा मे कच्चे तम्बाकू के बाहर जाने पर पाबन्दी लगाई तो स० रा० अमरीका ने इस देश से सिगार का आयात बन्द कर दिया। फरवरी १८९९ मे जब अलास्का के सीमा विवाद पर कनाडा का स० रा० अमरीका से कोई समझौता नहीं हो सका तो कनाडा मे चार्ल्स टप्पर ने इस पर बल दिया कि अमरीकन उद्योगो के लिये कनाडा से जाने वाली वस्तुओ - इमारती लकडी, कच्ची खालो, ऊन आदि के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय।

(ख) प्रत्यपहार (Reprisals)—ब्रियर्ली ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'शाब्दिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अर्थ बदले की दृष्टि से सम्पत्ति का जब्त करना या व्यक्तियों का पकडना है और पहले एक राज्य के लिये यह बात असाधारण नही थी कि वह अपने किसी ऐसे नागरिक को प्रत्यपहार पत्र (Letter of Marque) दे, जो दूसरे राज्य मे न्याय से वंचित किया गया हो। इस पत्र द्वारा उसे यह अधिकार दिया जाता था कि वह स्वयमेव दूसरे राज्य के प्रजाजन द्वारा पहुँचायी हानि का बदला बल प्रयोग द्वारा ले या अपराधी (Delinquent) राज्य के प्रजाजनो की सम्पत्ति लूट ले। अब विशेष प्रत्यपहार (Special Reprisal) की यह प्रथा बहुत समय से लुप्त हो चुकी है।'[८] ओपेनहाइम के शब्दो मे "प्रत्यपहार एक राज्य के, दूसरे

---

७. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० १३४

८. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० ३२१

राज्य के विरुद्ध उसे हानि पहुँचाने वाले तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसे अवैध कार्य है, जिन्हें अपवाद रूप मे इस उद्देश्य से करने की अनुमति दी जाती है कि दूसरे राज्य को, उसके अपने अन्तर्राष्ट्रीय अपराध करने से उत्पन्न हुए मतभेद का सतोषजनक समाधान स्वीकार करने के लिये विवश किया जा सके।[9] हाल ने इसके औचित्य और मर्यादा का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है— "प्रत्यपहार का औचित्य यही है कि यह युद्ध के भीषण विकल्प के निराकरण का साधन है। सिद्धान्त रूप मे यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि पूर्ण युद्ध की सम्भावना कम करने वाला कोई भी कार्य पर्याप्त कारण होने पर अनुमति योग्य होता है।" स्टार्क के शब्दो मे प्रत्यपहार ऐसे उपाय हैं, जो कुछ राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतिकारात्मक कार्यवाहियों के रूप मे करते हैं तथा जिनका उद्देश्य (उन्हें पहुँचायी गयी हानि का) निवारण करना होता है। पहले इस शब्द का प्रयोग सम्पत्ति की जब्ती और व्यक्तियों की गिरफ्तारी के लिए होता था, किन्तु वर्तमान समय मे इनका यह अभिप्राय समझा जाता है कि किसी राज्य के गैरकानूनी या अनौचित्यपूर्ण व्यवहार से उत्पन्न हुए झगडे के समाधान की दृष्टि से दूसरे राज्य द्वारा अवलम्बन किये गये बल-प्रयोग के साधन। इसके अनेक रूप हो सकते हैं—जैसे किसी विशेष राज्य के माल का बहिष्कार, पोतावरोध (Embargo), नौसैनिक प्रदर्शन या गोलाबारी।[10]

उपर्युक्त लक्षणो से यह स्पष्ट है कि प्रत्यपहार का साधन उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय अपराधो के लिए बरता जा सकता है, जिनके लिये इन अपराधो की क्षतिपूर्ति मैत्रीपूर्ण उपायो से नही हो सकती। कोई भी प्रत्यपहार तब तक उचित नही समझा जा सकता जब तक कि (१) अपराध करने वाले राज्य द्वारा पहुँचायी गई हानि के निवारण की प्रार्थना विफल न हो चुकी हो। (२) किसी राज्य को पहुँची हुई क्षति की तुलना मे प्रत्यपहार के कार्य "अधिक" न हो। प्रत्यपहार से दूसरे राज्य को उतनी ही मात्रा मे क्षति पहुँचानी चाहिए, जितनी पहले राज्य ने उसे पहुँचायी हो। (३) प्रत्यपहार का अवलम्बन हालैण्ड के मतानुसार केवल उन्हीं मामलो मे किया जाना चाहिए, जिनमे बडी गहरी क्षति पहुँची हो, इस क्षति को पहुँचाने वाला अथवा इसका समर्थन करने वाला दूसरा राज्य हो तथा इसके लिए न्याय प्राप्त करने के सब प्रयत्न असफल हो चुके हों। प्रत्यपहार के कुछ आधुनिक उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

प्रथम विश्वयुद्ध में पुर्तगाल तटस्थ था। अफ्रीका मे इसका एक उपनिवेश अगोला था, इसकी सीमा तत्कालीन जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के साथ लगती थी, १९१५ मे अगोला के सीमावर्ती स्थान नौलिआ मे हुई एक घटना में तीन जर्मन मारे गये। यह मामला (Portugal v Germany—the Naulilaa Case, 1927-28) पचायती अदालत को सौंपा गया। इसके सामने उपस्थित की गई साक्षी के आधार पर

९. ओपेनहाइम—दी इंटरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० १३६

१०. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३४२-३

इसे विश्वास हो गया कि यह घटना विशुद्ध रूप से भ्रान्ति का परिणाम थी। जर्मन लोगों ने प्रत्यपहार के रूप में अपनी सेना पुर्तगाल के प्रदेश में भेजी, इसने अनेक सीमावर्ती चौकियों पर हमला किया तथा नौलिआ में वहाँ की रक्षक सेना को भगा दिया। पुर्तगालियों द्वारा जर्मन सेना के दबाव के कारण खाली किए गये प्रदेश में स्थानीय जनता ने विद्रोह किये और इसे दबाने के लिए पुर्तगालियों को पर्याप्त सेना भेजनी पड़ी। पंचों ने इस मामले में प्रत्यपहार के वैध होने के लिए तीन शर्तें रखीं—(क) दूसरे राज्य द्वारा कोई अवैध कार्य होना चाहिये। (ख) प्रत्यपहार का कार्य करने से पहले अवैध कार्यों से उत्पन्न हुई शिकायत को दूर करने के लिए शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिये। इनके विफल होने पर प्रत्यपहार के कार्य (Reprisals) होने चाहियें। (ग) प्रत्यपहार के साधन अधिक उग्र नहीं होने चाहियें, इनका दूसरे राज्य द्वारा पहुँचायी गयी क्षति के समानुपात में होना आवश्यक है। इस मामले में पुर्तगाल ने कोई अवैध कार्य नहीं किया था, जर्मनी ने इस शिकायत को दूर करने के लिये शान्तिपूर्ण रीति से प्रयत्न नहीं किया था तथा जर्मनी की कार्यवाही उसे पहुँची क्षति से कहीं अधिक भारी क्षति पुर्तगाल को पहुँचाने वाली थी, अतः इस मामले में पंचों का पंचाट (Award) पुर्तगाल के पक्ष में था।

१९३५ में फ्रांस बन्दरगाह मार्सेलीज में यूगोस्लाविया के राजा एलेक्जेण्डर की हत्या कर दी गयी, यूगोस्लाविया यह समझता था कि इसके पीछे हंगरी का हाथ है, अतः उसने अपने देश के हंगेरियनों का निष्कासन किया। १९३७ में स्पेन के गणराज्य की सरकारी सेना के एक वायुयान द्वारा एक जर्मन युद्धपोत Deutschland पर की गई तथाकथित गोलाबारी का बदला लेने के लिए जर्मन जंगी जहाजों ने आल्मेरिया के स्पेनिश बन्दरगाह पर गोलाबारी की।

युद्ध के समय युद्धकारी देशों द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध किये जाने वाले कार्यों को भी प्रत्यपहार कहा जाता है, किन्तु इनका उद्देश्य सामान्य रूप से यह होता है कि शत्रु युद्ध के नियमों का उल्लंघन न करे। १९३९-४० में जब जर्मनी ने समुद्रों में चुम्बकीय सुरंगें बिछाकर व्यापारिक जहाजों को डुबोने का अवैध कार्य आरम्भ किया तो ग्रेट ब्रिटेन इसे रोकने के लिए तटस्थ देशों के जहाजों पर लदे हुए जर्मनी से किये गये निर्यात पदार्थों को जब्त करने लगा।

प्रत्यपहार के कई प्रकार होते हैं। इनको प्रायः विशेष (Special) और सामान्य (General) नामक दो वर्गों में बाँटा जाता है। विशेष प्रत्यपहार वे हैं, जिनमें दूसरे राज्य के किसी कार्य से क्षतिग्रस्त होने वाले विशेष व्यक्तियों को बदला लेने का अधिकार दिया जाता है और सामान्य प्रत्यपहार में ऐसा बदला लेने का अधिकार सामान्य रूप से सब नागरिकों और सेनाओं को दिया जाता है। प्रत्यपहार का आदिम रूप विशेष प्रत्यपहार था। योरोप के मध्यकालीन राजा कई बार अपने प्रजाजनों को, दूसरे राज्यों के नागरिकों द्वारा पहुँचायी गयी क्षति का प्रतिशोध करने में असमर्थ होते थे, इस अवस्था में वे ऐसे प्रजाजनों को बदला लेने का अधिकार दे देते थे। इसमें एक बड़ा लाभ यह था कि दूसरे राज्य के साथ युद्ध छेड़े बिना ही

वैयक्तिक रूप से क्षतिपूर्ति के लिये बदला लिया जा सकता था। इटली के राज्यों मे बहुधा ऐसा होता था। इस व्यवस्था का दुरुपयोग न हो, इस दृष्टि से शनैं-शनैं प्रत्यपहार के नियमों का विकास होने लगा। इसका सबसे बड़ा नियम यह था कि प्रत्यपहार का अधिकार राजा द्वारा दिया जाता था। फ्रास मे चार्ल्स षष्ठ (१४०० ई०) के समय से प्रत्यपहारपत्र प्रदान करना राजा का विशेषाधिकार समझा जाने लगा। इसे प्राप्त करने से पहले किसी नौसैनिक न्यायालय मे यह प्रमाणित करना पडता था कि इतनी धन राशि का सामान अमुक राज्य के व्यक्तियों द्वारा लूटा गया है। इसके आधार पर प्रत्यपहार मे उतनी ही धनराशि वाला उस देश का सामान लूटने का अधिकार दिया जाता था, इसे प्राप्त करने वाले को जमानत जमा करानी पडती थी, लूट का माल अदालत के आगे उपस्थित करना आवश्यक था। विशेष प्रत्यपहार का अन्तिम उदाहरण १७६३ मे फ्रेंच सरकार द्वारा मार्सेलीज के एक व्यापारी को जिनोआ के विरुद्ध दिया गया प्रत्यपहारपत्र था। इसके बाद यह प्रथा लुप्त हो गई।

सामान्य प्रत्यपहार (General Reprisal) का तात्पर्य हानि पहुँचाने वाले देश के जहाज और सम्पत्ति को जब्त करने का अधिकार अपनी सब सेनाओं और प्रजाजनों को सामान्य रूप से प्रदान करना है। क्रामवेल के समय फ्रास ने एक ब्रिटिश व्यापारिक जहाज को अवैध रीति से जब्त कर लिया और पेरिस ने इसका प्रतिकार करने मे विलम्ब किया। इस पर क्रामवेल ने फ्रेंच जहाजों को सामान्य रूप से पकड़ने के लिए अपने जहाज भेज दिये। कई फ्रेंच जहाज पकडकर बेच दिये गये, इनसे ग्रेट ब्रिटेन का मुआवजा पूरा करने के बाद शेष राशि फ्रास को सौंप दी गई। १८१६ मे इगलैंड ने सिसली के राजा के साथ उसके प्रदेश से गन्धक निकालने की संधि की थी। बाद मे इस संधि की अवहेलना करते हुए राजा ने इस पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। इसका बदला लेने के लिये ब्रिटिश विदेशमन्त्री लार्ड पामर्स्टन ने नेपल्ज में अपना बेडा भेजा, इसने उसके सभी जहाजों को पकड लिया। सिसली के राजा को अन्त मे विवश होकर गन्धक का एकाधिकार समाप्त करना पडा और उसने ब्रिटिश व्यापारियों को उनकी क्षतिपूर्ति के लिए हर्जाना दिया। १८६१ मे ब्राजील के तट पर नष्ट होने वाले ब्रिटिश जगी जहाज प्रिन्स आफ वेल्ज का वहा के निवासियों द्वारा लूट लिया गया। जब ब्राजील की सरकार ने इस विषय मे क्षतिपूर्ति करने से इकार किया तो ब्रिटिश बेडे ने ब्राजील के पाँच जहाज पकड लिए, अन्त मे ब्राजील को ३२०० पौंड का हर्जाना देने को विवश होना पडा।

ओपेनहाइम ने प्रत्यपहार को भावात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) नामक दो वर्गों मे बाटा है। भावात्मक प्रत्यपहार वे कार्य हैं जो सामान्य अवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय अपराध समझे जाते हैं। निषेधात्मक प्रत्यपहारों का तात्पर्य ऐसे कार्यों को न करने से है जो सामान्य रूप से आवश्यक समझे जाते हैं, जैसे सन्धियों का पालन, ऋणों की अदायगी।

स० रा० सघ के चार्टर के अनुसार प्रत्यपहार का प्रयोग अवैध है। चार्टर की धारा २ के पैराग्राफ ३ तथा ४ मे इस बात पर बल दिया गया है कि इसके सदस्य-राज्य

किसी अन्य राज्य की प्रादेशिक अखण्डता और राजनीतिक स्वाधीनता नष्ट करने के लिये शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे तथा इसकी धमकी भी नहीं देंगे। अत. दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रत्यपहार के रूप मे शक्ति का प्रयोग चार्टर की भावना के प्रतिकूल है। धारा ३३ मे शान्ति और सुरक्षा को खतरे मे डालने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का समाधान वार्ता एव अन्य शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा करने को कहा गया है। अतएव चार्टर के अनुसार प्रत्यपहार का अवलम्बन वैध नहीं है।

किन्तु स्टार्क ने बताया है कि कुछ अवस्थाओ मे 'अन्तर्राष्ट्रीय या सामूहिक प्रत्यपहार' (Collective Reprisal) वैध भी होते है। यदि कोई देश मादक द्रव्यो के अत्यधिक निर्यात से इनके अवैध व्यापार की सम्भावना को बढाता है तो १६३१ के **'जैनेवा औषध अभिसमय'** (Geneva Drugs Convention) के अनुसार उस देश के निर्यात पर अधिरोध (Embargo) होता है, अर्थात् इसके बन्दरगाहो मे जहाजो को ऐसा माल बाहर ले जाने से रोका जा सकता है। इसका दूसरा उदाहरण सघ के आदेश से की जाने वाली व्यवस्थायें है। कोरिया युद्ध के समय १८ मई १६५१ को जनरल असेम्बली ने यह प्रस्ताव पास किया था कि सघ के सदस्य चीन की साम्यवादी सरकार तथा उत्तरी कोरिया की सरकार के अधिकार वाले प्रदेशो को जहाजो द्वारा शस्त्र, रण सामग्री, पेट्रोल तथा परिवहन के साधन न भेजे।

(ग) अधिरोध (Embargo) —किसी देश के बन्दरगाहो मे व्यापारिक जहाजो के प्रवेश या निष्क्रमण पर पाबन्दी लगाना अधिरोध, घाटबन्दी या पोतानरोध है।[११] अग्रेजी मे इस शब्द का मूल स्पेनिश है और इसका अर्थ बन्दरगाहो मे जहाज को रोकना है। जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य को क्षति पहुँचाता है और दूसरा राज्य पहले राज्य को क्षतिपूर्ति प्रदान करने के लिए बाधित करने के उद्देश्य से अपने बन्दरगाहो मे विद्यमान अपराधी राज्य के जहाजो को रोक लेता है तो यह अधिरोध या नावाधिरोध है। जहाजो को कई उद्देश्यो से रोका जाता है, कई बार युद्ध छिड़ने से पूर्व ऐसा इसलिये किया जाता है कि विदेशी जहाज कोई राजनीतिक महत्व का समाचार अन्य देशो मे प्रसारित न करें। पहले युद्ध की सम्भावना होने पर शत्रु-देश के जहाजो को अपने बन्दरगाहो मे रोका जाता था, युद्ध के समय तटस्थ देशो के जहाज रोककर उनके स्वामियो को मुआविजा देने के बाद उन जहाजो से अपना काम लिया जाता था। किन्तु अधिरोध का आशय क्षतिपूर्ति प्राप्त करने की दृष्टि से जहाजो पर लगायी गयी रोक से है। यह अपने देश के जहाजो पर भी लगायी जा सकती है। १७६६ मे ऐसी रोक ग्रेट ब्रिटेन ने तथा १८०७ मे स० रा० अमरीका ने अपने जहाजो पर लगाई थी।

(घ) शान्तिमय आवेष्टन (Pacific Blockade) — युद्ध के समय युद्धकारी देश एक दूसरे के बन्दरगाहो की पूरी नाकाबन्दी या आवेष्टन करते हैं। शान्तिकाल मे

---

११. कौटिलीय अर्थशास्त्र में घाटों (तीर्थो) में रोकी गयी नावों के लिये बद्धतीर्थ शब्द का प्रयोग किया है (२।२८) बद्धतीर्थास्तैनाः कार्या राजद्विष्टकारिणां तत्पथमयात्। इस दृष्टि से Embargo को बद्धतीर्थता भी कहा जा सकता है, दोनो का मूल शब्दार्थ एक ही है।

इस प्रकार का कार्य शान्तिमय आवेष्टन कहलाता है। इसका उद्देश्य दूसरे राज्य पर दबाव डालना होता है और दबाव डालने वाले देश के जहाज उसके बन्दरगाहों और तट को ऐसा घेर लेते है कि अन्य देशो के साथ उसका व्यापारिक सम्पर्क बिलकुल समाप्त हो जाता है। १६०२ मे जब वेनेजुएला ने ग्रेट ब्रिटन, जर्मनी और इटली के ऋणों की अदायगी नही की, तो इन देशो की नौसनाओं ने उसका घेरा डालकर उसे ऋण अदा करने के लिए विवश करने का प्रयत्न किया।

शान्तिमय आवेष्टन के औचित्य के सम्बन्ध मे विधिशास्त्रियो मे बड़ा मतभेद है। किन्तु इस विषय मे सब एक सम्मति रखते है कि घेरा डालने वाले राज्य को तीसरे राज्य के घेरा तोड़ने वाले जहाजों का पकड़ने या जब्त करने का अधिकार नही है। आवेष्टन की समाप्ति पर ये जहाज इनके स्वामी देशको वापिस किये जाने चाहियें। शान्तिमय आवेष्टन के परिणाम बहुत गम्भीर होने हैं, अत इसका प्रयोग सन्धिवार्ता के पूर्ण रूप से विफल होने पर ही किया जाना चाहिये। शक्तिशाली नौसेना रखने वाले देश निर्बल राज्यों के विरुद्ध इसका प्रयोग सफलतापूर्वक कर सकते हैं। इसका दुरुपयोग भी सम्भव है। १६वी शताब्दी से इस साधन का प्रयोग होने लगा है। सर्व प्रथम यूनान के स्वतन्त्रता युद्ध मे इसका प्रयोग ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास और रूस ने तुर्कसेनाओं द्वारा अधिकृत समुद्रतट के शान्तिमय आवेष्टन के रूप मे किया। १८३१ म फ्रास ने पुर्तगाल मे फ्रेंच प्रजाजनो को पहुँची क्षति पूरी कराने के लिय इसकी टेगस नदी का आवेष्टन किया। १८३३ मे ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने हालैण्ड की तथा १८४५ मे अर्जण्टायना की नाकाबन्दी की। १८३८ में फ्रास ने मेक्सिको के बन्दरगाहो का आवेष्टन किया।

यह साधन शक्तिशाली नौसेना रखने वाले देशों द्वारा निर्बल राज्यों के विरुद्ध सफलतापूर्वक बरता जा सकता है। स्टार्क ने यह लिखा है[१२] कि महाशक्तियों ने प्राय मिलकर इसका प्रयोग सामूहिक हित की दृष्टि से सन्धियो के पालन, युद्धो के रोकने, उपद्रवो को शान्त करने के लिये किया है। १८८६ मे यूनानी सेनायें टर्की के सीमान्त पर जमा हो गयी, इस समय महाशक्तियों के शान्तिमय आवेष्टन ने दोनों देशो म युद्ध की आशका को समाप्त कर दिया। स० रा० सघ के चार्टर की धारा ४२ मे सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये इस साधन के अवलम्बन का अधिकार दिया गया है।

शान्तिमय आवेष्टन का उपाय अपनाने मे कई लाभ है। यह युद्ध की अपेक्षा कम उग्र तथा अधिक लचकीला साधन है। दूसरी ओर यह सामान्य प्रत्यपहार से अधिक उग्र है और इसे यदि प्रबल राज्यो के विरुद्ध प्रयुक्त किया जाय तो यह युद्ध का कार्य समझा जा सकता है। प्रबल सामुद्रिक शक्तियाँ प्राय इस साधन का अवलम्बन युद्ध के उत्तरदायित्व, अनुविधाओं तथा बोझ से बचने के लिये करती हैं। शान्तिमय आवेष्टन मे युद्ध की स्थिति न होने के कारण तीसरे राज्यो के जहाजो का आवेष्टन करने वाला देश युद्ध और तटस्थता के नियम नही लागू कर सकता, उसे इनके जहाज पकड़ने और

---

१२. स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इन्टरनेशनल लॉ, पृ० ३४५

जब्त करने का अधिकार नहीं है। जब वह युद्ध की परेशानियों से बचने के लिए शांतिमय आवेष्टन का अवलम्बन करता है तो वह युद्ध और शांति दोनों के लाभ पाने का दावा नहीं कर सकता।

(ड) हस्तक्षेप (Intervention)—कई बार दो देशों का झगडा निबटाने के लिये तीसरा राज्य हस्तक्षेप करता है। आपेनहाइम के मतानुसार यह दो राज्यों के विवाद में तीसरे राज्य द्वारा ऐसा तानाशाही हस्तक्षेप है जिसका उद्देश्य यह होता है कि इस विवाद का समाधान हस्तक्षेप करनेवाले राज्य की इच्छा के अनुसार हो।" हस्तक्षेप कर्ता राज्य दोनों पक्षों पर पंचनिर्णय के लिये अथवा विशेष समाधान स्वीकार करने के लिये दबाव डाल सकता है। कई बार अनेक राज्य मिलकर ऐसा दबाव डालते हैं। पहले (पृ० १३६) यह बताया जा चुका है कि शिमोनोसेकी की चीन जापान संधि के बाद जर्मनी फ्रांस और रूस ने इस मामले में हस्तक्षेप करते हुए जापान को इस बात के लिये विवश किया कि वह लिआओटुंग का प्रायद्वीप चीन को वापिस कर दे। स० रा० अमरीका ने मुनरो सिद्धान्त के आधार पर दक्षिण अमरीका के राज्यों के मामलों में अनेक बार हस्तक्षेप किया है।

१३. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खण्ड १, अष्टम संस्करण, पृ० ३०५

तृतीय खण्ड

युद्ध के नियम

इक्कीसवाँ अध्याय

युद्ध और इसके प्रभाव

(War and its Effects)

युद्ध का स्वरूप (Nature of War)—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण हल न होने पर इनके समाधान के लिए युद्ध के उपाय का अवलम्बन किया जाता है। जब दुर्योधन ने पाण्डवों के दूत श्रीकृष्ण के पाँच गाँव देने के न्यूनतम प्रस्तावों को ठुकराते हुए कहा—'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' तो पाण्डवों के लिये संग्राम करना अनिवार्य हो गया। युद्ध राज्यों के मध्य सशस्त्र सेनाओं द्वारा किया जाने वाला ऐसा संघर्ष है, जिसमें दोनों एक दूसरे को बलपूर्वक जीतकर उससे अपनी बात मनवाना चाहते हैं। हॉल ने इसका स्वरूप बताते हुए कहा है "जब राज्यों के मध्य मतभेद इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि दोनों पक्ष बल-प्रयोग का अवलम्बन करते हैं अथवा उनमें से कोई एक पक्ष हिंसा के ऐसे कार्य करता है, जिन्हें दूसरा पक्ष शांति का भंग समझता है तो दोनों में युद्ध का सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है। इसमें दोनों पक्ष एक दूसरे के विरुद्ध नियन्त्रित हिंसा का प्रयोग उस समय तक करते हैं, जब तक कि दोनों में से एक पक्ष उन शर्तों को स्वीकार करने को तय्यार न हो जाय, जिन्हें उसका शत्रु उससे मनवाना चाहता है।"[1] ओपेनहाइम के मतानुसार "युद्ध दो या अधिक राज्यों में अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा इस उद्देश्य से किया जाने वाला संघर्ष है कि दूसरे पक्ष को पराजित किया जाय और विजेता द्वारा उस पर शांति स्थापित करने की मनचाही शर्तें थोपी जाएँ।"[2]

---

१. हाल—इण्टरनेशनल लॉ, अष्टम संस्करण, पृ० ८१

२. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, सप्तम संस्करण, पृ० २०२

इस प्रसंग में प्राचीन भारत के विधिशास्त्रियों द्वारा किये गये युद्ध या विग्रह के लक्षणों का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। कौटिल्य के शब्दों में शत्रु को हानि पहुँचाने वाले द्रोह या हिंसापूर्ण कार्य करना लड़ाई है (अपकारो विग्रह. ७।१)। शुक्राचार्य के मत में शत्रु को पीड़ित और वशीभूत करने वाला कार्य युद्ध है (विनय कुमार सरकार का अनुवाद ४-७, ४६८-२)। कामन्दक का लक्षण है—अमर्षोपगृहीताना मन्युनतन्तचेतसाम्। परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः। इसकी यह खूबी है कि इसमें दूसरे पक्ष के हानि पहुँचाने की इच्छा को युद्ध की विशेषता बताया गया है। आधुनिक विधिशास्त्री भी इसे ऐसा मानते हैं। प्राचीन स्मृतिकारों का यह विचार था कि युद्ध का प्रयोग अत्यन्त असाधारण अवस्था में, अन्य उपायों के विफल होने पर किया जाना चाहिये। राजा का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह युद्ध किये बिना विजय प्राप्त करे—अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद् वसुधाधिपः। जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप॥ (महाभारत शान्तिपर्व,

युद्ध की वैधता के विचार की समाप्ति—(War loses its legal character)—प्रथम विश्वयुद्ध से पहले प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से लडाई छेडने का अधिकार (The right to make war) प्राप्त था। किन्तु राष्ट्र-संघ के संविधान ने इस सिद्धान्त की घोषणा की कि कोई भी लडाई या लडाई की धमकी संघ के सभी सदस्यो के लिए समान रूप से गहरी चिन्ता का विषय है तथा इस सम्बन्ध मे विश्व में तथा विभिन्न राष्ट्रो मे शान्ति बनाये रखने के लिये संघ को प्रभावशाली कार्यवाही करनी चाहिए। इसका यह अर्थ था कि संघ के सदस्यो ने शान्ति बनाये रखने के लिए सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective responsibility) के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया तथा विभिन्न राष्ट्रो द्वारा छेडी जाने वाली लडाइयो की पुरानी परम्परा का परित्याग करने की घोषणा करते हुए अपने विवाद संघ के सामने लाने का निश्चय किया। पेरिस मे हुए केलाग-ब्रीयाँ पैक्ट (Pact of Paris) द्वारा इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशो ने राष्ट्रीय नीति के रूप मे युद्ध के उपाय का परित्याग करने की घोषणा की। इससे राष्ट्रो के लिए युद्ध के उपाय का अवलम्बन करना अवैध हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सं० रा० संघ के चार्टर मे भी विभिन्न राष्ट्रो द्वारा युद्ध छेड़ने के अधिकार को अस्वीकार किया गया है। शक्ति का प्रयोग केवल सुरक्षा परिषद् या जनरल असेम्बली ही कर सकती है, कोरिया तथा कांगो (किनहासा) के मामले मे उसने सैनिक बल का प्रयोग किया है। किन्तु चार्टर की धारा ४२ के अनुसार सुरक्षा परिषद् द्वारा युद्ध के उपायो का प्रयोग विभिन्न राष्ट्रो द्वारा अपनी इच्छानुसार युद्ध छेडने के पुराने अधिकारो से सर्वथा भिन्न है। सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ५१ किसी राष्ट्र को आत्मरक्षा (self defence) के लिये युद्ध करने का अधिकार उसी समय तक प्रदान करती है जब तक कि सुरक्षा परिषद् शान्ति बनाये रखने के लिये कोई कदम नही उठाती है। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से विभिन्न राष्ट्रो द्वारा छेडे जाने वाले युद्ध अब वैध नही रहे हैं। फिर भी अभी तक मानव समाज मे युद्धो की सत्ता बनी हुई है, सं० रा० संघ इनका अन्त नही कर सका। अत युद्धो के अवैध होते हुए भी इनके विभिन्न प्रकारो और नियमो का प्रतिपादन करना आवश्यक है।

युद्धों के प्रकार (Classification of Wars) – पहले युद्धो का अनेक दृष्टियो से वर्गीकरण किया जाता था।

(क) मध्यकालीन योरोप मे धार्मिक दृष्टि से धर्म्य या न्याय्य (Just) और

१४।१)। इसका कारण स्पष्ट करते हुए कामन्दक (९-११) ने कहा है कि युद्ध में दोनों पक्षों का नाश होता है—नाशो भवति युद्धेन कदाचिद् उभयोरपि। मनु का यह मत (७।१९९) है कि युद्ध में विजय के अनिश्चित होने तथा पराजय की सम्भावना होने से युद्ध के मार्ग का अवलम्बन नहीं करना चाहिये—अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयो। पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्॥ शुक्रनीति के अनुसार अन्य उपायों के विफल होने पर ही युद्ध करना चाहिये—उपायान्तरनाशे तु ततो विग्रहमाचरेत्।

अधर्म्य अथवा अन्याय्य (Unjust) युद्धों पर बहुत बल दिया जाता था। (देखिये ऊपर पृ० २३-३३)। आजकल यद्यपि इस वर्गीकरण को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाता, तथापि किसी देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता या प्रादेशिक अखण्डता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से लडे जाने वाले युद्ध धर्म्य समझे जाते हैं। अपने पडोसी देशों के प्रदेशों के प्रति विस्तारवादी नीति के कारण किये जाने वाले युद्ध अन्यायपूर्ण कहलाते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले जर्मनी का यह कहना था कि उसे जर्मन जनता के जीवनयापन के लिए अधिक स्थान (Lebensraum) चाहिये, अत उसने पडोसी राज्यों के प्रदेश हड़पने शुरू किये और युद्ध आरम्भ किया। उसका यह युद्ध अन्यायपूर्ण था।

(ख) मध्यकाल मे युद्धो को सार्वजनिक (Public) तथा वैयक्तिक नामक दो वर्गो म बाँटा जाता था। दो स्वतन्त्र, सर्वोच्चप्रभुतासम्पन्न राज्यों का सशस्त्र सैनिक सघर्ष सार्वजनिक युद्ध कहलाता था, किन्तु दो बडे जमीदारो का सैनिक भर्ती करके लड़ाई करना वैयक्तिक युद्ध कहलाता था। आजकल ऐसे युद्ध की प्रथा बिल्कुल समाप्त हो गई है। इस समय सभी युद्ध सार्वजनिक समझे जाते हैं और राज्यो के मध्य मे होते है। किसी राज्य मे विद्रोह या अभिद्रोह होने पर विद्रोहियों को मान्यता प्रदान करके (देखिये ऊपर पृ० १८२) उन्हे युद्ध की स्थिति प्रदान की जाती है।

(ग) युद्धो का एक अन्य भेद पूर्ण (Perfect) और अपूर्ण युद्ध होना है। जब कोई एक राष्ट्र समग्र रूप मे दूसरे राष्ट्र से लडाई करता है, तो यह पूर्ण युद्ध होता है, किन्तु जब यह लडाई कुछ स्थानों और व्यक्तियों तक सीमित होती है तो इसे अपूर्ण युद्ध कहा जाता है।

(घ) युद्ध का एक अन्य प्रकार यादव युद्ध या गृहयुद्ध (Civil War) भी है। यह एक ही राज्य के विभिन्न व्यक्तियो मे होता है, जैसे स्पेन का गृहयुद्ध वहाँ की गणराज्य सरकार के विरुद्ध जनरल फ्राको तथा उसके समर्थक सेनापतियो द्वारा किया गया विद्रोह था। ग्रोशियस ने इसे मिश्रित युद्ध (Mixed War) का नाम इसलिये दिया था कि इसमे सरकार की ओर से विद्रोहियों को दबाने का प्रयत्न सार्वजनिक (Public) युद्ध होता है तथा विद्रोही व्यक्तियो द्वारा सरकार को हटाने का प्रयत्न वैयक्तिक (Private) युद्ध होता है, गृहयुद्ध मे इन दोनो का सम्मिश्रण होता है। ओपेनहाइम ने गृहयुद्ध का लक्षण करते हुए कहा है कि यह स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब एक राज्य मे दो परस्पर विरोधी पक्ष इस उद्देश्य से शस्त्रो का अवलम्बन करते है कि वे राज्य मे सत्ता प्राप्त कर ले अथवा यह स्थिति उस दशा मे भी उत्पन्न होती है, जब किसी राज्य की जनता का एक बडा भाग वैध सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करता है।[3]

(ङ) युद्धो का एक अन्य भेद औपचारिक (Formal) तथा अनौपचारिक (Informal) युद्ध है। जब कोई लड़ाई युद्ध-घोषणा आदि की सब विधियों का पूरा पालन करते हुए छेडी जाती है तो यह औपचारिक युद्ध कहलाता है, किन्तु जब बिना युद्ध-घोषणा के तथा अन्य विधियो का पालन न करते हुए इसे किया जाता है तो यह

---

३. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० २०६

अनौपचारिक युद्ध होता है। जापान ने १६३३ में चीन के विरुद्ध ऐसी लड़ाई छेड़ी थी। २० अक्टूबर १६६२ को साम्यवादी चीन ने बिना घोषणा के भारत के साथ ऐसा युद्ध आरम्भ किया।

छापामार (Guerilla) युद्ध शत्रु के प्रबल होने पर किया जाता है। मराठों ने शक्तिशाली मुगल सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध इसी नीति का प्रयोग करके उसके छक्के छुडाये थे। आपेनहाइम के मतानुसार "यह ऐसी लड़ाई है जो शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश में ऐसे सशस्त्र व्यक्ति-समूहों द्वारा लड़ी जाती है, जो किसी संगठित सेना का भाग नहीं होते।"[४] इनके पास इतनी शक्ति नहीं होती कि वे शत्रु के साथ खुली लड़ाई लड़ सकें, अतः इनके आक्रमण गुप्त रूप से, चोरी-छिपे शत्रु पर छापे मारते रहने के रूप में होते हैं। अतएव यह छापामार युद्ध कहलाता है। प्रायः ये हारी हुई सेना के अंश होते हैं, इनका उद्देश्य शत्रु को परेशान करना तथा उनकी संचार प्रणाली और मार्ग-व्यवस्था को छिन्न भिन्न करना होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर द्वारा पराभूत किये जाने के बाद फ्रांस आदि अनेक देशों में जर्मनी के विरुद्ध इस प्रकार के प्रतिरोध आन्दोलन (Resistance movements) तथा छापामार युद्ध होते रहे थे।

१६वीं शताब्दी में तथा १८६६ के पहले हेग सम्मेलन के समय तक छापामार सेनाओं के कार्य अवैध समझे जाते थे। यह माना जाता था कि किसी प्रदेश पर शत्रु का पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद उसकी सत्ता की अवहेलना बिल्कुल निरर्थक कार्य है। किन्तु पिछले दो विश्वयुद्धों के बाद इस धारणा में बहुत परिवर्तन आ गया है। अब ऐसे प्रतिरोध आन्दोलनों, मिलिशिया तथा स्वयंसेवक दलों में सशस्त्र संघर्ष करने वाले व्यक्तियों को १६४६ के जेनेवा अभिसमय के अनुसार निम्नलिखित चार शर्तें पूरी करने पर युद्धबन्दियों का-सा व्यवहार पाने का अधिकार है। ये शर्तें इस प्रकार हैं--(क) इनका नेतृत्व करने वाला व्यक्ति इनके कार्यों के लिये उत्तरदायी हो। (ख) वे दूर से पहचाना जा सकने वाला विशिष्ट चिन्ह धारण करते हों। (ग) वे खुले रूप में शस्त्र धारण करते हों। (घ) वे युद्ध के नियमों के अनुसार सैनिक कार्यवाही करते हों।

(च) समग्र युद्ध (Total War)—पुराने जमाने की लड़ाइयाँ प्रतिस्पर्धी सेनाओं में हुआ करती थीं, साधारण जनता पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता था। मेगस्थनीज ने मौर्यकालीन भारत के बारे में लिखा है कि युद्ध के समय कृषक निर्बाध रूप से अपनी खेती करते रहते थे (देखिये ऊपर पृ० २१)। वर्तमान समय में इस स्थिति में कई कारणों से बड़ा अन्तर आ गया है। आधुनिक लड़ाई में केवल दो देशों की सेनायें ही नहीं, किन्तु समग्र जनता पूरी शक्ति के साथ भाग लेती है। अतएव इसे **समग्र युद्ध** (Total War) कहा जाता है। युद्ध में विजय पाने के लिए समूची जनता का सहयोग लिया जाता है और इसमें किसी प्रकार के नियम, नीति और विवेक की परवाह नहीं की जाती। अणुबमों, विषैली गैसों और प्रक्षेपणास्त्रों के प्रयोग में कोई संकोच नहीं किया जाता। सैनिक-असैनिक का भेद बिल्कुल भुला दिया जाता है।

---

४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० २१२

ओपेनहाइम ने इस स्थिति के पाँच कारण बताये है।[१] पहला कारण सैनिको की संख्या मे विलक्षण वृद्धि है। अब प्रायः अधिकांश राज्यो मे अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम है, इस कारण देश के सभी बालिग पुरुष शस्त्र धारण करते है। दूसरा कारण यह है कि युद्ध की प्रक्रिया जटिल होने से उसके लिए आवश्यक सामग्री की मात्रा बहुत बढ गई है। इसका उत्पादन करने के लिये विभिन्न युद्धोद्योगों मे असैनिक जनता का एक बडा भाग लगा रहता है। तीसरा कारण हवाई युद्ध का विकास है इसमे लडाई का क्षेत्र अब केवल रण के मैदान तक सीमित नही रहा, किन्तु शत्रु के युद्ध प्रयत्नो को क्षति पहुँचाने की दृष्टि से रणक्षेत्र से बाहर के पुलो, शस्त्रास्त्र तैयार करने वाले कारखानो, रेल के स्टेशनो, औद्योगिक केन्द्रो, बन्दरगाहो और शत्रु को सहायता पहुँचाने वाले जलपोतो को हवाई बमवर्षा का लक्ष्य बनाया जाता है। चौथा कारण यह है कि अब शत्रु को परास्त करने के लिये आर्थिक दृष्टि से उस पर दबाव डालने वाले कार्य अधिक मात्रा मे किये जाने लगे हैं। इसका यह परिणाम हुआ है कि अब युद्ध का प्रभाव दो राज्यो की सेनाओं तक ही सीमित नही रहा, किन्तु सारी असैनिक जनता को भी युद्ध के परिणामो का फल भोगना पडता है। पाँचवां कारण हिटलर के नात्सी जर्मनी, मुसोलिनी के फासिस्ट इटली जैसे अधिनायकवादी राज्यो (Totalitarian States) का अभ्युत्थान है। इसमे व्यक्ति के प्राण और सम्पत्ति पर शान्ति एव युद्धकाल मे राज्य का पूरा अधिकार समझा जाता है। इससे भी सैनिक और असैनिक जनता की भेदक रेखा लुप्त होने लगी है तथा समूचा राष्ट्र युद्धमलग्न समझा जाने लगा है। इन परिस्थितियों ने समग्र युद्ध (Total War) के विचार को मूर्त रूप प्रदान किया है।

युद्धेतर शत्रुता (Non War Hostility)—अब तक दो पक्षो मे युद्ध होने पर ही शत्रुता की स्थिति होती थी और इसमे सशस्त्र सघर्ष (Armed contention) होता था। किन्तु अब कई बार युद्ध के बिना शत्रुता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका सर्वोत्तम आधुनिक उदाहरण कोरिया का युद्ध (१९५०–५३) है। यह पहले दक्षिणी एव उत्तरी कोरिया के राज्यो का सघर्ष था बाद मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से दक्षिण कोरिया की ओर से रा० रा० सघ ने इस मामले मे हस्तक्षेप किया। स० रा० सघ की सशस्त्र सेनाएँ उत्तरी कोरिया की सेनाओं से सघर्ष करने लगी। किन्तु स्टार्क के शब्दो मे इस सघर्ष को सग्रामावस्था या युद्ध की स्थिति (Status of War) का दर्जा नही प्रदान किया गया। कोरिया के सघर्ष से पहले बिना युद्ध के शत्रुता की स्थिति तीन उदाहरणो मे उत्पन्न हो चुकी थी—(क) मचूरिया (१९३१–३२) मे तथा १९३७ के बाद चीन मे जापान और चीन के सघर्ष मे। (ख) १९३८ मे चन कुफेंग मे रूस जापान के सघर्ष मे। (ग) १९३९ मे नोमोनहैन मे बाह्य तथा आन्तरिक मगोलिया की फौजो के आक्रमण मे। कोरिया युद्ध के बाद ऐसी स्थिति स्वेज नहर के क्षेत्र पर अक्टूबर, नवम्बर १९५६ मे इजरायली, फ्रेंच तथा ब्रिटिश फौजो के आक्रमण से उत्पन्न हुई थी। इस समय ब्रिटिश लार्ड प्रिवी सील ने

---

१. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० २०७

१ नवम्बर १९५६ को यह घोषणा की थी—'महारानी की सरकार वर्तमान कार्य को युद्ध नहीं समझती। वहाँ कोई युद्धावस्था (State of War) नहीं है, किन्तु संघर्ष की स्थिति (State of Conflict) है'।

युद्ध तथा संघर्ष की स्थितियों में क्रियात्मक दृष्टि से बड़ा अन्तर न होते हुए भी कानूनी दृष्टि से बड़ा अन्तर पड़ जाता है। यदि नियमानुसार घोषणा द्वारा दोनों पक्षों में युद्ध शुरू हुआ है तो अन्य देश इस संघर्ष में तटस्थ रहते हैं, उन्हें तटस्थ देशों के सब अधिकार और सुविधायें प्राप्त होती हैं। किन्तु जब युद्ध की स्थिति न मानी जाय और केवल शत्रुता या संघर्ष की स्थिति मानी जाय, तो तटस्थता का कोई प्रश्न नहीं उठता। स्टार्क के मतानुसार युद्धेतर शत्रुता (Non War Hostilities) के विकास के तीन प्रधान कारण हैं[१]—(क) राज्य यह नहीं चाहते कि १९२८ के युद्ध का निषेध करने वाले केलाग ब्रीआँ पैक्ट पर हस्ताक्षर करके उन्होंने युद्ध न करने का जो वचन दिया है, उसका भंग युद्ध घोषणा द्वारा किया जाय। (ख) इसका दूसरा उद्देश्य यह भी है कि इस संघर्ष में भाग न लेने वाले राज्यों को तटस्थता की घोषणा करने से रोका जाय। (ग) तीसरा कारण यह इच्छा है कि संघर्ष को कुछ स्थानीय क्षेत्रों तक ही सीमित रक्खा जाय तथा इसे व्यापक एवं विस्तीर्ण युद्ध का रूप न दिया जाय।

युद्ध का आरम्भ तथा युद्ध-घोषणा (Commencement and Declaration of War)—प्राचीनकाल में युद्ध आरम्भ करने के विस्तृत विधि-विधान थे। इस विषय में रोमन व्यवस्था का पहले (पृ० २५) उल्लेख किया जा चुका है। १७वीं शताब्दी तक योरोपियन राज्य युद्ध छेड़ने से पहले अग्रदूतों या वार्त्तावहों (Heralds) तथा अवहेलना पत्रों (Letters of Defiance) द्वारा दूसरे राज्यों को इसकी सूचना देते थे। इस सूचना को पाने के तीन दिन बाद लड़ाई शुरू की जाती थी। इसका अन्तिम उदाहरण १६३५ ई० में फ्रांस द्वारा ब्रसेल्ज में स्पेन के विरुद्ध युद्ध घोषणा करना था, इसमें युद्ध की सूचना देने वाले दूत को बड़ी धूमधाम से भेजा गया था। १८वीं शती में यह प्रथा बन्द हो गयी और बिना घोषणा के ही युद्ध छेड़े जाने लगे। १७०० से १८७० तक की अवधि में हुए केवल दस युद्धों में ही रण घोषणा की गयी। १०७० लड़ाइयों में ऐसी कोई घोषणा नहीं की गयी। ग्रोशियस का मत था कि युद्ध की घोषणा अवश्य की जानी चाहिये, उन्नीसवीं शती में इस नियम की ओर कुछ ध्यान दिया गया। किन्तु बीसवीं शती के आरम्भ के साथ इसकी घोर उपेक्षा शुरू हुई। १९०४ में जापान ने पोर्ट आर्थर के बन्दरगाह में अवस्थित रूसी बेड़े पर अचानक अप्रत्याशित आक्रमण करके उसके साथ लड़ाई आरम्भ की। जापान का कहना था कि इससे पहले उसकी संधिवार्त्ता रूस से भंग हो चुकी थी और उस समय उसने रूस को यह कह दिया था कि अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये उसे स्वतन्त्र कार्यवाही करने का अधिकार है।

पोर्ट आर्थर की इस घटना के कारण १९०७ के तीसरे हेग अभिसमय' में यह नियम बनाया गया कि कोई भी शत्रुतापूर्ण कार्य तब तक नहीं शुरू होना चाहिये, जब

---

१ स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इन्टरनेशनल लॉ, पृ० ३४६

तक कि उससे पहले निम्न दो रूपों में सूचना न दी जाय— (क) युद्ध छेड़ने के कारणों पर प्रकाश डालने वाली रण-घोषणा। (ख) अल्टीमेटम या अन्तिम चेतावनी—इसमें दूसरे राज्य को कुछ शर्तें न मानने पर युद्ध आरम्भ करने की बात कही जाती है। इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की गयी है कि तटस्थ राज्यों को युद्ध की स्थिति की सूचना अविलम्ब देनी चाहिये। प्रथम विश्वयुद्ध में आस्ट्रिया के आर्क ड्यूक फ्रांसिस फर्डिनैण्ड की हत्या होने से आस्ट्रिया द्वारा सर्विया के विरुद्ध युद्ध छेड़ने से पहले से उसे २३ जुलाई १९१४ को अल्टीमेटम दिया गया था, इसमें सर्बिया को उसके प्रदेश में होने वाली सब आस्ट्रियाविरोधी कार्यवाहियों को रोकने की, ऐसे प्रचारकार्य में लगे व्यक्तियों के निष्कासन की, ऐसा कार्य करने वाले संगठनों को समाप्त करने की माँगें की गयी थी। सर्विया को ४८ घण्टों में इस अल्टीमेटम का उत्तर देना था। जब उसने इनमें से कुछ माँगों को अस्वीकार किया और कुछ के लिये पंचनिर्णय का सुझाव दिया, तो २८ जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्विया के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की। ४ अगस्त को जब जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता का भंग करते हुए, इस पर आक्रमण किया तो ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। इससे पूर्व २ अगस्त १९१४ को जर्मनी ने रूस के विरुद्ध तथा ४ अगस्त १९१४ को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की थी। ६ अप्रैल १९१७ को सं० रा० अमरीका की कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास करके जर्मनी के विरुद्ध विधिपूर्वक युद्ध-घोषणा की।

किन्तु पिछले तीस वर्षों में हेग की उपर्युक्त व्यवस्था का बारम्बार बड़ा शोचनीय उल्लंघन हुआ है। जापान ने १९३१ में मंचूरिया पर तथा १९३७ में चीन पर बिना युद्ध-घोषणा के आकस्मिक आक्रमण कर दिया। इटली ने १९३५ में एबीसीनिया पर इसी प्रकार का हमला किया। द्वितीय विश्वयुद्ध का श्रीगणेश जर्मनी ने पोलैण्ड पर अघोषित आक्रमण एवं हवाई बमबारी के साथ किया। रूस का १७ सितम्बर १९३९ को पोलैण्ड पर तथा ३० नवम्बर १९३९ को फिनलैण्ड पर आक्रमण इसी प्रकार का था। जर्मनी ने ९ अप्रैल १९४० को डेनमार्क और नार्वे पर तथा जून १९४१ में रूस पर सहसा, बिना किसी चेतावनी के हमला शुरू कर दिया। ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने पर्लहार्बर के बन्दरगाह में सं० रा० अमरीका के समुद्री बेड़े पर अप्रत्याशित और भीषण आक्रमण किया। जापान के इस आक्रमण को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से किसी भी प्रकार न्यायोचित नहीं सिद्ध किया जा सकता। जून १९५० में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर तथा २० अक्टूबर १९६२ को चीन ने भारत पर बिना युद्ध-घोषणा किये आक्रमण कर दिया। १ सितम्बर १९६५ को पाकिस्तान ने छम्ब जोड़ियाँ क्षेत्र में बिना किसी युद्ध-घोषणा के भारत पर एक भीषण आक्रमण करके भारत पाकिस्तान संघर्ष का श्रीगणेश किया। ४ जून १९६७ में इजराइल तथा मिस्र एवं अरब राष्ट्रों में होने वाला युद्ध भी बिना किसी युद्ध-घोषणा के आरम्भ हुआ। भविष्य में बिना युद्ध-घोषणा के अप्रत्याशित आक्रमणों (Surprise attacks) से ही अधिकांश लड़ाइयाँ छिड़ने की आशा है। इसका कारण यह है कि शत्रु पर झटपट अप्रत्याशित रीति से हमला (Surprise attacks) करनेवाला देश शत्रु के सैनिक अड्डों तथा संस्थानों को नष्ट करके तत्काल बहुत बड़ा लाभ प्राप्त कर लेता है और उसकी विजय की सम्भावनायें बहुत बढ़ जाती

हिटलर ने पोलैण्ड आदि देशो पर इसी प्रकार हमले करके विद्युत् युद्ध (Blitzkrieg) की पद्धति अपनाकर सफलता प्राप्त की थी। इसका नवीनतम उदाहरण ४ जून १९६७ को इजराइल द्वारा अरब राष्ट्रो पर भीषण आक्रमण था, पहले २४ घंटे मे इजराइल ने मिस्र की वायुसेना का बहुत बड़े भाग का विध्वस करके इसे बिल्कुल निकम्मा बना दिया, इसके परिणामस्वरूप सख्या एव सैनिक बल की दृष्टि से शक्तिशाली होते हुए भी अरब राष्ट्र इस लडाई मे इजराइल से बुरी तरह हारे। फेनविक के मत मे बिना घोषणा किये युद्ध छेड़ने वाले देश को तत्काल लडाई का ६० प्रतिशत लाभ मिल जाता है।[७] आणविक आयुधो द्वारा की जाने वाली लडाई मे शत्रु पर बिना घोषणा के अनभ्र वज्रपात करना और भी अधिक आवश्यक है, अत भविष्य मे युद्ध-घोषणा करके लडाई छेड़ने के अन्तर्राष्ट्रीय नियम का पालन किये जाने की सभावना बहुत कम है।

इन उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून यद्यपि युद्ध छेड़ने से पहले युद्ध की घोषणा करना आवश्यक मानता है, किन्तु राज्य इस नियम का पालन बहुत कम करते हैं।

२—युद्ध के तात्कालिक प्रभाव (Immediate Effects of War)—दो देशो मे युद्ध शुरू होने से इनके सम्बन्धो मे मौलिक परिवर्तन होते हैं। हाल्ड के शब्दो मे लडाई परस्पर विरोधी युद्धकारी देशो के ऐसे प्रत्येक सम्बन्ध को विच्छिन्न कर देती है, जिसका मूलकारण दोनो देशो की मित्रता की भावना होती है। शत्रुता आरम्भ होने पर न केवल दोनो देशो की सेनाये एक दूसरे के विरुद्ध सशस्त्र सघर्ष आरम्भ करती हैं, किन्तु कुछ अन्य प्रभाव भी होते हैं। इनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं —

(१) राजनयिक सम्बन्धों का भग[८] (Termination of Diplomatic and

---

७ फेनविक—इण्टरनेशनल ला, पृ० ६६५

८ (क) इस प्रसग में प्राचीन भारत में युद्ध छिड़ने के प्रभावों का सक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। पहला प्रभाव दौत्य सम्बन्ध का भग होना था। विजिगीषु राजा लड़ाई छिड़ जाने पर शत्रु के दूत का तिरस्कार करते हुए कहता था अब तुम्हें पुन यहा नहीं आना चाहिये। (कौटिलीय अर्थशास्त्र १३।३ त्सुगलमेत न पुनरिहागन्तव्यम)। कई बार ऐसी अवस्था में इसके पकडे जाने और मारे जाने की सम्भावना होती है, कौटिल्य ने ऐसी स्थिति में उसे चुपचाप भाग जाने की सलाह दी है (कौ० २।१३ शासनमनिष्टमुक्त्वा वन्धवधभयादविसृष्टो व्यपगच्छेत्। अन्यथा नियम्येत)। दूसरा प्रभाव यह था कि युद्ध छिड़ते ही दोनों पक्षों के गुप्तचरों और जासूसों की गतिविधियाँ प्रबल हो जाती थीं। कौटिल्य ने मन्त्रयुद्ध के प्रकरण (१२।२) में इनका विस्तार से वर्णन किया है। तीसरा प्रभाव यह है कि विदेशियों के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बिल्कुल समाप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार का सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति दूष्य (शत्रु के साथ सहयोग करने से दोषयोग) कहे जाते थे। इनके साथ व्यवहार के विस्तृत नियम कौटिलीय अर्थशास्त्र(९।५,६)में प्रतिपादित किये गये हैं। चौथा प्रभाव सन्धियों पर था। उपयोगी तथा लाभदायक सन्धियों को जारी रखा जाता था, अन्य सन्धियाँ भग कर दी जाती थीं।

(ख) इस विषय में भारत पाक सघर्ष का उदाहरण बड़ा रोचक है। यह सघर्ष बिना युद्ध-घोषणा के आरम्भ हुआ था। अतः इसमें दोनों देशों ने अपने दौत्य सम्बन्ध भग नहीं किये।

Consular Relations)—युद्ध छिड़ते ही दोनों देशों के दौत्य (Diplomatic) सम्बन्धों का अन्त हो जाता है। राजदूतों को पासपोर्ट दे दिये जाते हैं और उन्हें स्वदेश लौटने के लिये कहा जाता है और जब तक वे देश छोड़कर नहीं चले जाते, तब तक वे अपने विशेषाधिकारों (देखिये सोलहवाँ अध्याय) का उपभोग कर सकते हैं। प्राय वाणिज्य-दूतों के कार्य (Consular activities) भी समाप्त हो जाते हैं और इन्हें देश छोड़कर जाने की अनुमति दी जाती है। किन्तु कई बार इन्हें स्वदेश नहीं लौटने दिया जाता और इनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता है। राजदूत के स्वदेश चले जाने पर उसका दूतावास किसी तटस्थ देश के प्रतिनिधि को सौंप दिया जाता है और यदि राजदूत कुछ कागज-पत्र छोड़ गया हो तो इन्हें मुहरबन्द कर दिया जाता है।

(२) शत्रुदेश के व्यक्ति (Persons of Enemy Country)—पहले युद्ध छिड़ते ही अपने देश में विद्यमान शत्रुदेश के समस्त प्रजाजनों को युद्धबन्दी बना लिया जाता था। किन्तु अब इस प्रथा में बहुत परिवर्तन आ गया है। आजकल शत्रुदेश के केवल उन्हीं प्रजाजनों को बन्दी बनाया जाता है, जिनसे शत्रु को महत्वपूर्ण सैनिक सूचना प्राप्त हो सकती हो या जो शत्रु सेना के वास्तविक अथवा सम्भावित सदस्य हों। इनके अतिरिक्त शत्रुदेश के सभी प्रजाजनों को निश्चित अवधि के भीतर देश छोड़कर चले जाने को कहा जाता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने १० अगस्त

समूचे संघर्ष के दौरान नई दिल्ली में पाकिस्तान के तथा कराची में भारत के राजदूत शान्तिकाल की भाँति निवास करते रहे। ६ सितम्बर की दोपहर को पाकिस्तान के विदेश विभाग के निदेशक ने कराची में भारतीय दूतावास को यह सूचित किया कि जब तक दूतावास के कर्मचारी भारत नहीं लौट जाते हैं तब तक उन्हें अपनी सुरक्षा के लिये एक ही इमारत में चले जाना चाहिये, पुलिस के संरक्षण में रहना चाहिये, विदेश कार्यालय में मिलने के लिये आते समय, बाजार से सामान लाने के लिये तथा डाक्टर से मिलने के लिये जाते समय भारतीय दूतावास के कर्मचारियों को पुलिस के साथ ही जाना चाहिये। जब पाकिस्तानी अधिकारियों से भारतीय दूतावास ने यह पूछा कि वे भारतीय दूतावास के कर्मचारियों पर ये पाबन्दियाँ क्यों लगा रहे हैं तो यह उत्तर मिला कि पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने आज यह घोषणा की है कि हम (भारत के साथ) लड़ रहे हैं (We are at war)। कराची में भारतीय दूत ने पाकिस्तान को यह बताया कि चूँकि दोनों देशों में से किसी एक देश ने दूसरे देश के विरुद्ध युद्ध-घोषणा नहीं की, दूतावासों का बन्द करने की प्रार्थना नहीं की, अत भारतीय दूतावास के कर्मचारियों पर ऐसी पाबन्दियाँ लगाना उचित नहीं है। किन्तु पाकिस्तान ने इसकी कोई परवाह नहीं की। भारतीय दूतावास के कर्मचारियों को अपने निवास स्थानों को छोड़कर एक निश्चित स्थान में रहना पड़ा।

किन्तु युद्ध-विराम होने तक भारतीय दूतावास के कर्मचारी पाकिस्तान में ही बने रहे। (एशियन रिकार्डर, अक्टूबर २९, नवम्बर १९६५, पृ० ६७४४-५)। इन मामलों में अयूब की उपर्युक्त घोषणा के बाद भी भारत सरकार दौत्य सम्बन्ध भंग न होने के कारण तथा विधिवत् युद्ध की घोषणा न होने के कारण यही मानता रहा कि भारत पाकिस्तान की सरकार के साथ अथवा जनता के साथ लड़ाई नहीं कर रहा है, किन्तु भारतीय सेनाओं की कार्यवाही विशुद्ध रूप से उनकी रक्षा के लिये की जा रही है (एशियन रिकार्डर, पृ० ६६९०)।

१९१४ तक ब्रिटिश प्रदेश मे विद्यमान सभी जर्मन प्रजाजनों को स्वदेस छोड़कर जाने को कहा, ३ सितम्बर १९३९ के द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर जर्मन लोगों को ६ सितम्बर तक इगलैण्ड से चले जाने का आदेश दिया गया। १८९७ मे टर्की ने सब यूनानियों को १५ दिन के भीतर कुस्तुन्तुनिया खाली करने का नोटिस दिया था। बोअर युद्ध मे १८९९ मे ट्रासवाल के शासकों ने वहाँ रहने का अनुमतिपत्र न प्राप्त करने वाले सभी शत्रुप्रजाजनों को अपने राज्य से निकाल दिया था।

हालैण्ड (Holland) ने यह बताया है कि युद्ध छिड़ने पर शत्रुप्रजाजनों को अपने प्रदेश से निकालने के सम्बन्ध मे राज्यों का व्यवहार दो विरोधी नियमों द्वारा निश्चित होता है। पहला नियम शत्रुदेश के प्रजाजनों तथा उनकी सम्पत्ति को शत्रुदेश से अभिन्न समझता है अतः युद्ध छिड़ने पर इन सबको बन्दी बनाना और सम्पत्ति को जब्त कर लेना उचित मानता है। दूसरा नियम यह है कि युद्ध राज्यों मे होता है, न कि उनके प्रजाजनों मे। अतः युद्ध छिड़ने पर उचित कारण न होने पर प्रजाजनों पर तथा उनकी सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगाना ठीक नहीं है। वर्तमान समय मे अधिकाश विधिशास्त्री दूसरा नियम ही सत्य मानते है। वैटल और ब्लशली (Bluntschli) ने इसका समर्थन किया है। वैटल के कथनानुसार युद्ध की घोषणा करने वाला नरेश अपने प्रदेश म विद्यमान शत्रुदेश के प्रजाजनों को बन्दी नही बना सकता, उसे इनके अपने देश से बाहर चले जाने की तिथि निश्चित कर देनी चाहिये, उस तिथि के बाद अपने देश म रहने वाले व्यक्तियो को ही वह पकड सकता है।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय लड़ाई आरम्भ होने पर युद्धकारी देशों ने शत्रुप्रजाजनों को नजरबन्द रखने की नीति अपनाई थी। इनकी गतिविधि पर कड़ा निरीक्षण रखा जाता है, राज्य के लिये इन्हे बड़ा खतरनाक समझा जाता है। १९१७ मे जर्मनी ने जब लूसीटानिया जहाज को डुबाया था तो ब्रिटिश प्रदेश मे जर्मन लोगो के विरुद्ध रोष और प्रतिहिंसा की इतनी जबरदस्त लहर उत्पन्न हुई कि इगलैड मे नजरबन्द जर्मन लोगों के प्राण सकट म पड गए। पहले विश्वयुद्ध मे ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रास ने शत्रुदेशों के प्रजाजनों को नजरबन्द रखा, किन्तु स० रा० अमरीका ने ऐसा नही किया। द्वितीय विश्वयुद्ध म भी स० रा० अमरीका ने बहुत थोडे जर्मनो को सैनिक कारणों से नजरबन्द किया।

१९४९ मे जेनेवा मे युद्ध के समय मे असैनिक व्यक्तियों की रक्षा का अभिसमय (Convention on the Protection of the Civilian Persons in Time of War) बना, इसके अनुसार युद्ध आरम्भ होने पर या उसके बाद शत्रुप्रजाजनों को अपनी इच्छानुसार स्वदेश लौटने का अधिकार होना चाहिए, बशर्ते कि उनका जाना राज्य के हितों के प्रतिकूल न हो। उन्हे अपनी यात्रा के लिए आवश्यक धनराशि और वैयक्तिक सामान भी साथ ले जाना चाहिए। शत्रुदेश मे जो प्रजाजन युद्ध के समय किसी देश म रहना चाहे, उनके साथ शान्तिकाल मे विदेशियों के साथ होने वाला व्यवहार किया जाना उचित है। यदि युद्ध के कारण उनकी नौकरी छूट गई है तो उन्हे

अन्यत्र नौकरी करने की अनुमति दी जानी चाहिए। यदि उन्हे कोई नौकरी न मिले तो युद्धकारी देश द्वारा उनका भरणपोषण होना चाहिए। इन्हे युद्धसंचालन के साथ साक्षात् रूप मे सम्बद्ध कोई कार्य करने के लिए बाधित नही किया जा सकता। यदि किसी विदेशी को शत्रुप्रजाजन होने के कारण नजरबन्द किया जाता है तो उसे अपने मामले पर विचार के लिये न्यायालय के पास जाने का अधिकार होना चाहिये तथा नजरबन्दो के मामलो पर निश्चित अवधि के बाद पुनर्विचार होते रहना चाहिए। शत्रुदेश के प्रजाजन किसी भी सरकार का सरक्षण न रखने वाले शरणार्थियो से भिन्न है और उन्हे अपने शरीर और सम्मान की रक्षा के लिए, धार्मिक विश्वासो तथा पारिवारिक अधिकारो के लिए राज्य से सरक्षण पाने का पूरा अधिकार है। उनके साथ नस्ल के या राजनीतिक सम्मति के आधार पर भेदभाव का कोई व्यवहार नही होना चाहिये। उनसे सूचना प्राप्त करने के लिए उनके साथ किसी प्रकार का शारीरिक बल प्रयोग—यातना या शारीरिक पीडा देने अथवा क्रूरता के कार्य करने का दुर्व्यवहार नही होना चाहिए। उन्हे किसी प्रकार डराया या धमकाया जाना, मारा या पीटा जाना वर्जित है। विशेष अपराध न करने पर किसी ऐसे व्यक्ति को सामान्य रूप मे दण्डित नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय रेडक्रास सोसायटियो को अपना कार्य करने की पूरी सुविधायें होनी चाहिएँ। इन्हे नजरबन्दो को आवश्यक सहायता पहुँचाने का अधिकार होना चाहिए। इस अभिसमय मे नजरबन्दो के स्थान, भोजन, वस्त्र, स्वास्थ्य, डाक्टरी सहायता, धार्मिक और बौद्धिक कार्यो की स्वतन्त्रता इनकी सम्पत्ति की सुरक्षा तथा मृत्यु की दशा मे सम्पत्ति की व्यवस्था, इनकी मुक्ति, स्वदेश प्रत्यावर्तन अथवा तटस्थ देशो मे भेजने के विषय मे विस्तृत नियम बनाये गए है। नजरबन्द करते समय एक परिवार के सब सदस्यो को एक ही स्थान पर रखना चाहिए, इन पर आश्रित व्यक्तियो के निर्वाह की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

(३) व्यापारिक सम्पर्क की समाप्ति (Dissolution of Commercial Relations)—दो देशो मे युद्ध छिडने पर सामान्यत दोनो देशो का व्यापारिक सम्पर्क और कानूनी सम्बन्ध या तो समाप्त हो जाता है अथवा युद्धकाल के लिए स्थगित हो जाता है। इस विषय मे प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ब्रिटिश तथा अमरीकन लेखको का यह विचार था कि युद्ध छिडने पर व्यापारिक सम्पर्क स्वत निषिद्ध हो जाता है और इसे विशेष अनुमति लेकर ही किया जा सकता है। सामान्यत दोनो देशो के मध्य हुए सब ठेके और सविदाये समाप्त अथवा स्थगित हो जाती हैं। किन्तु जर्मन, फ्रेंच तथा इटालियन विधिशास्त्रियो का यह मत है कि युद्ध से सब सम्पर्क समाप्त नहीं होते, युद्धकारी देशो को यह अधिकार है कि वे अपनी विशेष आज्ञाओ द्वारा शत्रुओ के साथ व्यापार बन्द कर दे। प्रथम विश्वयुद्ध छिडने पर ग्रेट ब्रिटेन ने १९१४ के **शत्रुओं के साथ व्यापार का अधिनियम (Trading with Enemy Act)** पास करके युद्धकाल मे विशेष अनुमति के अतिरिक्त शत्रुदेशो के प्रजाजनो के साथ सारा व्यापारिक सम्बन्ध अवैध बना दिया। २७ सितम्बर १९१४ को फ्रास ने एक राजकीय आदेश द्वारा शत्रुप्रजाजनो अथवा शत्रुदेश मे रहने वाले सब व्यक्तियो के साथ व्यापार को निषिद्ध बना दिया। जर्मनी

ने ३० सितम्बर १९१४ के एक अध्यादेश (Ordinance) द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य में रहने वाले व्यक्तियों को धन की अदायगी वर्जित ठहराई। स० रा० अमरीका ने इस युद्ध में सम्मिलित होने पर अक्टूबर १९१७ में 'शत्रु के साथ व्यापार अधिनियम' द्वारा जर्मनी के साथ सारे व्यापारिक सम्बन्ध अवैध बना दिए। दूसरे विश्वयुद्ध में भी सब देशों ने ऐसे कानून बनाये।

(४) संविदाओं पर प्रभाव (Effect on Contracts)—लड़ाई छिड़ने से दो युद्धकारी देशों के सम्बन्ध भंग हो जाते हैं, अतः इन सम्बन्धों पर आधारित दोनों देशों के व्यक्तियों और कम्पनियों में हुए व्यापारिक समझौते, ठेके और संविदायें (Contracts) तथा सांविदिक (Contractual) सम्बन्ध स्वयमेव टूट जाते हैं। साझेदारी के समझौते (Partnership Agreements) भंग हो जाते हैं। ट्राटर, कैम्पबैल और मैकनेयर ने ब्रिटिश कानून में विभिन्न प्रकार की संविदाओं पर युद्ध छिड़ने के प्रभाव की विस्तृत मीमांसा की है। युद्ध शुरू होने से ठीक पहले तोड़े गये ठेके के सम्बन्ध में शत्रुदेश से सम्बद्ध पक्ष युद्ध के समय उस देश के न्यायालयों में कोई अभियोग नहीं चला सकते, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही उन्हें मामला चलाने का अधिकार मिल जाता है। इसी प्रकार परिसीमन या अवधि का कानून (Law of Limitations) युद्धकाल में स्थगित रहता है। किन्तु समुद्री तथा आग के बीमे की, एजेन्सी की, साझीदारी की तथा माल की बिक्री की संविदायें युद्ध छिड़ने के साथ समाप्त हो जाती है। ब्रिटिश कम्पनियों के जर्मन हिस्सेदार दोनों देशों में युद्ध छिड़ने पर अपना लाभांश नहीं ले सकते। १९१९-२० की तथा १९४६ की शान्ति-सन्धियों में युद्ध से पहले की गई संविदाओं के रद्द होने के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के नियम बनाये गए थे।

(५) शत्रुदेश में युद्धकारियों की सम्पत्ति (Belligerent Property in Enemy Country)—पहले युद्ध छिड़ते ही अपने देश में विद्यमान शत्रु की सार्वजनिक (Public) और वैयक्तिक (Private), चल और अचल सब प्रकार की सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। किन्तु शनैः शनैः इस अन्तर्राष्ट्रीय नियम का विकास हुआ कि अपने प्रदेश में शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति को उस देश द्वारा जब्त करके राज्यसात् (Confiscate) नहीं किया जा सकता और न ही शत्रुप्रजाजनों के ऋणों को रद्द किया जा सकता है। वैयक्तिक सम्पत्ति के राज्यसातकरण का अन्तिम उदाहरण १७९३ में हुआ, इसके बाद १९वीं शताब्दी में ऐसी कोई घटना नहीं हुई। प्रथम विश्वयुद्ध में १९१४ में ब्रिटिश सरकार ने 'शत्रु के साथ ब्रिटिश व्यापार' (संशोधन) अधिनियम के अनुसार शत्रुसम्पत्ति का एक संरक्षक (Custodian) बनाया। इसका कार्य शत्रुप्रजाजनों को वैयक्तिक रूप से मिलने वाले लाभांशों को प्राप्त करना, इनका विनियोग करना तथा युद्ध के अन्त तक इन्हें सुरक्षित रखना था। १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर भी ग्रेट ब्रिटेन में इसी प्रकार का कानून बनाया गया। १९१९-२० की तथा १९४७ की शान्ति-सन्धियों में वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये अनेक व्यवस्थायें की गई थीं।

शत्रु की सम्पत्ति (Enemy Property) पर युद्धारम्भ का प्रभाव तीन रूपों मे देखा जा सकता है—(क) स्वदेश मे शत्रु की सार्वजनिक सम्पत्ति (Enemy Public Property)। (ख) स्वदेश मे शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति (Enemy Private Property)। (ग) तटस्थ देशों मे युध्यमान देशों की सम्पत्ति।

(क) शत्रु की सार्वजनिक सम्पत्ति को अपने प्रदेश मे अथवा महासमुद्रो मे जब्त और राज्यसात् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, शत्रु के रणपोत तथा अन्य सार्वजनिक जहाज राज्यसात् किये जा सकते है, बशर्ते कि ये वैज्ञानिक अनुसधान या निरीक्षण मे, किसी धार्मिक या परोपकार के कार्य मे अथवा हस्पताल के और घायलो की सेवा आदि के कार्यो मे न लगे हो। सैनिक प्रयोजनो के उपयोग के लिए शत्रु की चल और अचल सार्वजनिक सम्पत्ति का पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

(ख) शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध मे स्टार्क के मतानुसार राज्यों का सामान्य व्यवहार यह है कि युद्धकारी राज्य अपने प्रदेश मे इसका राज्यसात्करण (Confiscation) नहीं करते, जब्त करके अपनी सम्पत्ति नही बनाते, किन्तु इसका समपहरण (Sequestration) करते है अर्थात् कुछ समय के लिए स्थायी रूप से इसे अपने अधिकार मे ले लेते है, युद्ध के बाद शान्ति-सन्धियों मे इनके सम्बन्ध मे समुचित व्यवस्था की जाती है। ऊपर इस विषय मे ब्रिटिश कानून और शान्ति-सन्धियों की चर्चा हो चुकी है। युद्धकारी देश को यह अधिकार है कि यह अपने प्रदेश से शत्रु को सैनिक लाभ पहुँचाने वाली गोला-बारूद तथा हथियारों की रण-सामग्री बाहर न जाने दे। यह वैयक्तिक रेल कम्पनियो की गाडिया, डिब्बे, इजन आदि चलस्कन्ध (Rolling Stock) तथा सामान और व्यक्तियो की ढुलाई के अन्य साधनो को छीनकर इनका प्रयोग कर सकता है। किन्तु युद्ध की समाप्ति पर इस प्रकार छीनी हुई वैयक्तिक सम्पत्ति वापिस लौटानी पडती है और युद्ध के समय किये गये इनके उपयोग का मुआवजा देना पडता है। युद्धकारी राज्य शत्रुप्रजाजनों को चुकाए जाने वाले ऋणों की अदायगी युद्ध की समाप्ति तक स्थगित कर सकते हैं।

स्टार्क ने लिखा है[1] कि यह निश्चित नहीं है कि कोई ऐसा भी अन्तर्राष्ट्रीय नियम है, जिससे शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति का राज्यसात्करण (Confiscation) पूर्ण रूप से निषिद्ध हो। इस विषय मे विधिशास्त्रियो मे बडा मतभेद है। किन्तु शत्रुद्वारा अधिकृत प्रदेश मे वैयक्तिक सम्पत्ति की तब तक लूट या राज्यसात्करण नही हो सकता, जब तक कि इसका युद्ध मे तात्कालिक उपयोग न हो। अत गोला-बारूद, हथियार एव सेना द्वारा अधिकार करने के लिये अन्य आवश्यक सामग्री वैयक्तिक होते हुए भी शत्रु द्वारा छीनी जा सकती है। स्थल मे शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति को कुछ अधिक सरक्षण प्राप्त है, क्योकि समुद्र मे शत्रु के जहाजो को और माल को जब्त किया जा सकता है। किन्तु तटस्थ देशो के जहाजो पर लदा हुआ शत्रु का माल तब तक राज्यसात् नही हो सकता, जब तक कि यह युद्ध के प्रयोजनो के लिए उपयोगी न हो अथवा शत्रु द्वारा युद्ध

१. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३६३

के नियमों को बार बार तोडने पर उससे प्रत्यपहार (Reprisals) के रूप मे न छीना गया हो।

(ग) तटस्थ देशों मे युद्धकारी देशों की सम्पत्ति (Belligerent Property in Neutral Countries) के सम्बन्ध मे सामान्य नियम यह है कि यह परिग्रहण (seizure) से मुक्त है, किन्तु इस मुक्ति का दुरुपयोग सम्भव है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे जर्मनी और उसके साथियो ने शत्रुदेशो की सम्पत्ति लूटकर उसे सुरक्षित बनाने के लिये तटस्थ देशा मे जमा करा दिया था। मित्रराष्ट्रो ने उस समय तटस्थ देशो को इस विषय मे अनेक चेतावनियां दी और हिटलर को हराने के बाद उन्होंने जर्मनी द्वारा स्वीडन और स्विट्जरलैण्ड मे जमा की हुई सम्पत्ति को हस्तगत किया। स० रा० अमरीका ने १६४१ म द्वितीय विश्वयुद्ध मे सम्मिलित होने से पूर्व ही जर्मनी तथा उसके अधिकृत तटस्थ देशो की सम्पत्ति का निश्चलन (Freezing of Assets) कर दिया था, इसके अनुसार इस सम्पत्ति का प्रयोग किसी व्यापारिक प्रयोजन म नही हो सकता था। इस प्रकार जर्मनी, इटली, लियुआनिया, लैटविया, इस्टोनिया की स० रा० अमरीका म विद्यमान सभी सम्पत्ति निश्चलित कर दी गई।

(६) सन्धियों पर प्रभाव ((Effect on Treaties)—न्यायाधीश कार्डोज़ो (Cardozo) ने लिखा है कि लडाई छिडने पर युद्धकारी देशो की सधियो पर इसके प्रभाव का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ऐसी समस्या है, जिसका अभी तक पूरी तरह समाधान नही हुआ। पुराने विधिशास्त्रियों के मतानुसार लडाई छिडते ही युद्धकारी देशा की सन्धियां स्वत समाप्त हो जाती हैं। आधुनिक विधिशास्त्री इस विचार को नही मानते और राज्यो का व्यवहार भी इसके अनुकूल नही है। इसके अनुसार युद्धारम्भ के साथ कुछ सधियां अभिशून्य (Annul) या रद्द होती है, कुछ यथापूर्व बनी रहती हैं तथा कुछ सधियां स्थगित हो जाती हैं और शांति स्थापित होने पर पुनरुज्जीवित समझी जाती है।

इस विषय मे कानून की इस अनिश्चित स्थिति के कारण कोई एकरूप नियम या सिद्धान्त निश्चित करना सम्भव नही है। कार्डोज़ो ने इस विषय म यह सत्य ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसी समस्याओ पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करता है, यह युद्ध की आवश्यकताओ के अनुसार सधियो का सरक्षण या अभिशून्यन (Annulling) करता है। स्टार्क ने इस विषय म दो कसौटियो का वर्णन किया है।[१०] पहली कसौटी कर्तृगत (Subjective) है, इसमे सधि करने वाले देशा का इरादा देखा जाता है, क्या सधि करते समय उनका यह अभिप्राय था कि युद्ध छिडने पर भी इस सधि का पालन उनके लिए आवश्यक होगा? यदि सधि करते समय ऐसा इरादा था तो युद्धारम्भ के बाद भी यह सधि बनी रहेगी, अन्यथा यह सधि रद्द समझी जायगी। दूसरी कसौटी कर्मगत (Objective) है। क्या इस सधि का पालन युद्ध सचालन के साथ सगत (Compatible) है? यदि यह सगत है तो सधि बनी रहेगी, अन्यथा यह

---

१०. स्टार्क—इन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० २६०-६१

संधि समाप्त हो जायगी।

उपर्युक्त कसौटियों को लागू करते हुए तथा राज्यों के वर्तमान व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए स्टार्क ने इस विषय में कानूनी स्थिति का प्रतिपादन निम्नलिखित रूप में किया है—(क) युद्धकारी देशों के दोनों पक्षों में सामान्य राजनीतिक कार्यवाही तथा उत्तम सम्बन्ध बनाये रखने पर बल देने वाली मैत्री संधियाँ (Treaties of Alliance) युद्धारम्भ के साथ समाप्त हो जाती है।

(ख) स्थायी व्यवस्था रखने वाली, हस्तान्तर (Cession) की तथा सीमाएं निर्धारित करने वाली संधियों पर युद्ध का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे युद्ध छिड़ने के बाद भी यथापूर्व बनी रहती हैं।

(ग) शत्रुतापूर्ण कार्यों (Hostilities) में युद्ध सचालन को तथा युद्ध के नियमों को निर्धारित करने वाले १८९९ तथा १९०७ के हेग-अभिसमयों जैसी संधियाँ युद्ध छिड़ने के बाद भी पूर्ववत् बनी रहती हैं, क्योंकि इनका उद्देश्य ही युद्ध सचालन के नियम निश्चित करना है।

(घ) स्वास्थ्य, मादक द्रव्यों, औद्योगिक सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में अनेक देशों में किये गये बहुपक्षीय अभिसमय (Multilateral Conventions) युद्ध छिड़ने पर रद्द नहीं होते। ये या तो युद्ध के समय में भी चालू रहते हैं या युद्धकाल तक स्थगित रहने पर युद्ध के बाद पुनरुज्जीवित हो जाते हैं।

(ङ) कई बार संधियों में स्पष्ट रूप में यह निर्देश रहता है कि युद्ध छिड़ने पर उनकी क्या स्थिति होगी। १९१९ के हवाई यातायात अभिसमय (Aerial Navigation Convention) के अनुच्छेद ३८ में यह व्यवस्था की गई थी कि युद्ध छिड़ने पर समझौता करने वाले देशों की स्वतन्त्रता पर युद्धकारी अथवा तटस्थ देशों के रूप में इसके कारण कोई प्रतिबन्ध नहीं लगेगा। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय था कि युद्ध के समय इस संधि का पालन स्थगित हो जाएगा। युद्धकाल में स्थगित होने वाली संधियों के पुनरुज्जीवन के सम्बन्ध में विधिशास्त्रियों में कुछ मतभेद है। अनेक विचारकों का यह मत था कि युद्धकाल में स्थगित होनेवाली संधियाँ लड़ाई समाप्त होने पर स्वयमेव पुनरुज्जीवित हो जाती हैं। किन्तु अन्य विचारकों की यह धारणा है कि इनका पुनरुज्जीवन तभी होता है, जब शान्ति-संधियों में इसके लिए स्पष्ट व्यवस्था की जाय।

शत्रुरूपता या अरिप्रकृति (Enemy Character)—दो देशों में युद्ध छिड़ने पर युद्धकारी देश अपने शत्रुओं को तथा उनकी सम्पत्ति को हानि पहुँचाकर लड़ाई जीतने का प्रयत्न करते हैं। यह हानि केवल उन व्यक्तियों तथा सम्पत्ति को पहुँचाई जानी चाहिए जो शत्रु समझे जाएँ अथवा जिन्हें शत्रु का रूप प्राप्त हो। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि युद्धकारी देश के प्रजाजनों को तथा उनकी सम्पत्ति को शत्रुरूपता या अरिप्रकृति प्राप्त हो जाती है, और तटस्थ देशों के प्रजाजनों और उनकी सम्पत्ति को यह नहीं प्राप्त होती। किन्तु इस नियम के अनेक महत्वपूर्ण अपवाद हैं, कई बार शत्रु-देश के प्रजाजनों को अरिरूपता प्राप्त नहीं होती और तटस्थ देशों के व्यक्तियों तथा सम्पत्ति को यह प्राप्त हो जाती है।

ओपेनहाइम के मतानुसार यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद और अनिश्चित है क्योंकि इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कोई सर्वसम्मत नियम नही हैं।[११] प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ब्रिटिश तथा अमरीकन न्यायालयो द्वारा इस विषय मे निर्धारित नियम फ्रास तथा अन्य देशो के नियमो से भिन्न थे। १९०७ के हेग सम्मेलन मे इस विषय मे तय किये गये नियम ग्रेट ब्रिटेन ने कुछ शर्तो के साथ स्वीकार किये। इस प्रश्न पर विचार के लिए लन्दन में नौसैनिक सम्मेलन बुलाया गया। किन्तु यह सम्मेलन तथा हेग का अभिसमय इस विषय के पुराने विवादों का समाधान नही कर सका, मुख्य मतभेद इस प्रश्न पर था कि किसी व्यक्ति या माल की शत्रुरूपता अथवा तटस्थ होने की कसौटी राष्ट्रीयता (Nationality) होनी चाहिए या अधिवास (Domicile)। यहाँ व्यक्तियो, निगमो, कारपोरेशनो, जहाजो तथा माल के सम्बन्ध मे यह विचार किया जायगा कि इन्हे किन परिस्थितियो म शत्रु समझा जाता है, इनकी शत्रुरूपता की क्या कसौटियाँ हैं।

(क) व्यक्तियो की शत्रुरूपता (Enemy Character of Individuals)—इस विषय मे सामान्य नियम यह है कि युद्धकारी देशो के प्रजाजन युद्ध छिड़ने पर शत्रुरूप धारण करते है और तटस्थ देशो के प्रजाजनो को यह अरिप्रकृति प्राप्त नही होती। किन्तु तटस्थ देशो के व्यक्ति यदि एक युद्धकारी देश की सेना मे भर्ती हो जाते हैं, उसके पक्ष मे कुछ कार्य करते है, किसी युद्धकारी देश के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्य करते है तो इन्हे शत्रुरूपता प्राप्त हो जाती है। शत्रु होने की सबसे बड़ी और मुख्य कसौटी व्यक्ति की निष्ठा (Allegiance) या राजभक्ति है। जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन के युद्ध मे यदि ब्रिटिश प्रजाजन होते हुए भी किसी की निष्ठा जर्मनी के प्रति है, तो वह ब्रिटेन का शत्रु समझा जाना चाहिए। In the King v Superintendent of Vine Street Police Station (1916) के मामले मे ब्रिटिश न्यायालय ने अलफेड लीबमान नामक व्यक्ति को विदेशी शत्रु घोषित किया, यद्यपि वह इगलैण्ड मे २६ वर्ष से निवास कर रहा था और उसने २५ वर्ष पूर्व जर्मन राष्ट्रीयता से मुक्ति पा ली थी।

१९३९ के **'शत्रु के साथ व्यापार करने के'** ब्रिटिश कानून मे शत्रु का लक्षण करते हुए कहा गया है कि 'यह शत्रु के प्रदेश मे रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति है'। इस कानून मे स्पष्ट रूप से यह कहा गया था कि केवल शत्रुप्रजाजन होने के कारण कोई व्यक्ति शत्रु नही समझा जायगा। १९१७ के स० रा० अमरीका के **'शत्रु के साथ व्यापार के कानून'** मे शत्रु की निम्न परिभाषा की गई थी—(क) शत्रुप्रदेश मे निवास करने वाला कोई भी राष्ट्रीयता रखने वाला कोई भी व्यक्ति, (ख) शत्रुदेश की सरकार, (ग) शत्रुदेश के नागरिक तथा प्रजाजन। इससे यह स्पष्ट है कि ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमरीका मे शत्रुत्व के लिए शत्रुप्रदेश मे अधिवास (Domicile) को प्रधानता दी जाती है। किन्तु इसके विपरीत योरोपियन देशो मे राष्ट्रीयता को महत्व दिया जाता है। १९४० के शत्रु के साथ व्यापार करने के जर्मन कानून मे निवास की शर्त के साथ राष्ट्रीयता की शर्त को भी बहुत महत्व दिया गया था।

---

११. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० २६६

लारेन्स ने शत्रु समझे जाने वाले व्यक्तियों को उनके शत्रुत्व की मात्रा की दृष्टि से निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया है—(क) शत्रु की सेनाओं में लड़ने वाले व्यक्ति पूर्णरूप में शत्रु माने जाते हैं। (ख) शत्रु के व्यापारिक जहाजों को चलाने वाले नाविक। इनकी स्थिति शत्रुदेश के सैनिकों तथा असैनिक जनता की मध्यवर्ती होती है, १८०६ के हेग अभिसमय के अनुसार यदि ये इस बात की लिखित प्रतिज्ञा करते हैं कि युद्धकाल में ये अपना कार्य नहीं करेंगे तो इन्हें बन्दी रखने के बंधन से मुक्त किया जा सकता है। (ग) सेना से सम्बन्ध न रखते हुए भी सेना का अनुसरण करने वाले समाचारपत्रों के संवाददाता, रिपोर्टर, ठेकेदार, सेना को सामान देने वाले व्यक्ति पकड़े जाने पर युद्धबन्दी समझे जाते हैं।[12] (घ) शत्रुदेश में निवास करने वाले तटस्थ देशों की राष्ट्रीयता रखने वाले व्यक्ति भी अधिवास (Domicile) के कारण शत्रु समझे जाते हैं, बशर्ते कि वे युद्ध छिड़ जाने के बाद व्यापार के उद्देश्य से शत्रु के देश में रहें। ब्रिटिश तथा अमरीकन विधिशास्त्री अधिवास (Domicile) को बहुत महत्त्व देते हैं। एक विशेष इरादे से किसी स्थान पर देर तक निवास (Residence) करना अधिवास है। शत्रुदेश में व्यापार के इरादे से रहने वाले तटस्थ देशों के व्यक्ति भी शत्रु को सहायता देकर उसकी युद्ध करने की शक्ति को बढ़ाते हैं। अतः इन्हें शत्रु समझा जाना चाहिए। (ङ) शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश में निवास करने वाले व्यक्ति उस समय तक शत्रु समझे जाते हैं, जब तक कि उस प्रदेश पर शत्रु का अधिकार रहता है। (च) तटस्थ देशों में अधिवास रखने वाले ऐसे व्यक्ति शत्रु समझे जाते हैं, जो शत्रुदेश के साथ व्यापार करते हों।

(ख) निगमों की शत्रुरूपता (Enemy Character of Corporations) — व्यापार करने वाली कम्पनियों और निगमों के शत्रुरूप का निर्धारण करने की दो बड़ी

---

१२. महाभारत (शान्तिपर्व ६७।१) में सेना के साथ जाने वाले, उन्हें रसद पहुंचाने वाले व्यक्तियों के लिए महाजन शब्द का प्रयोग हुआ और इनको मारना अधर्म ठहराया गया है—अप्रयानेन युद्धे न राजा हन्ति महाजनम् ॥ नीलकण्ठ की टीका—महाजन कटकाश्रित वैश्यादिजनम् ॥ इसी प्रकार शान्तिपर्व (१००।२८) में घोड़ों के लिए घास लाने वाले घसियारों या बहिश्रों (बहिस्तृणाद्यर्थं चरन्तो बहिश्चरान्—नीलकण्ठी टीका) को भी अवध्य कहा गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में सेना के साथ जाने वाले, किन्तु असैनिक कार्य (विष्टिकर्म) करने वाले व्यक्तियों के निम्न प्रकार बताये गए हैं—(क) शिविर, मार्ग, पुल, कुएं तथा घाट ठीक स्थिति में रखने वाले। *(ख) यन्त्र, शस्त्रास्त्र, कवच तथा अन्यान्य युद्धोपयोगी सामग्री एवं खाद्य पदार्थों को एक स्थान से* दूसरे स्थान में ले जाने वाले। (ग) युद्धभूमि में छोड़े हुए शस्त्रास्त्र और कवचों का संग्रह करने वाले, शत्रु के शस्त्रास्त्रों से घायल योद्धाओं को अन्यत्र पहुँचाने वाले। (१०।४—शिविरमार्गसेतुकूपतीर्थशोधनकर्म यन्त्रायुधावरणोपकरणग्रासवहनमायोधनाच्च प्रहरणावरणप्रतिविद्धापनयनमिति विष्टिकर्माणि)। रामायण (अयोध्याकाण्ड ७६।८०) में सेना के साथ जाने वाले खनक (झाड़ आदि खोदने वालों), यन्त्रकों (इंजीनियरों), पेड़ काटने वालों (वृक्षतक्षक), द्रष्टाओं (देखभाल करने वालों) का उल्लेख है। ये सब महाभारत की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार महाजन तथा अवध्य हैं।

कसौटियाँ उनकी रजिस्ट्री (Incorporation) का आदेश या अभिवास (Domicile) तथा नियन्त्रण हैं। शत्रुदेश में स्थगित होने वाली तथा वहाँ अपनी रजिस्ट्री कराने वाली कम्पनी या निगम के शत्रु होने में कोई सदेह नहीं है। किन्तु कोई कम्पनी शत्रु या शत्रुदेश के साथ व्यापार करती है तो उसे भी शत्रु समझा जाता है। निगम के शत्रु होने की दूसरी कसौटी उसका नियन्त्रण है। इसके एक देश में रजिस्ट्री होने पर भी यदि इसको नियन्त्रित करने वाली शक्ति शत्रुदेश में है तो इसे शत्रु समझा जायगा। इस नियम का सुस्पष्ट प्रतिपादन Daimler Co Ltd v. Continental Tyre and Rubber Co Ltd (1916) के मामले में हुआ था।

इस मामले की **काण्टिनेण्टल टायर और रबर कम्पनी** १९०५ में ग्रेट ब्रिटेन में बनायी गयी थी, इसका रजिस्टर्ड कार्यालय लदन में था, किन्तु इसके सब सचालक जर्मन थे तथा इसके लगभग सभी हिस्से जर्मन प्रजाजनों द्वारा खरीदे गये थे। इस कम्पनी को डैमलर कम्पनी से कुछ रुपया लेना था। उसकी वसूली के लिये इसने उस कम्पनी पर मुकद्दमा चलाया, उसने अपनी सफाई में यह कहा कि ग्रेट ब्रिटेन में रजिस्ट्री होने पर भी इसके सचालक जर्मन होने के कारण यह शत्रु है और १९१४ के 'शत्रु के साथ व्यापार कानून' के अनुसार वे शत्रु को कोई अदायगी नहीं कर सकते। लार्ड पार्कर ने डैमलर कम्पनी के हक में फैसला देते हुए इसमें निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—(क) किसी निगम या कम्पनी का शत्रुरूप इस बात से निश्चित होता है कि उसका नियन्त्रण करने वाले शत्रुदेश में रहते हैं, अथवा शत्रुदेश में रहते हुए भी शत्रु का अनुसरण करते हैं, उससे आदेश ग्रहण करते हैं या उसके नियन्त्रण में कार्य करते हैं। (ख) ग्रेट ब्रिटेन में स्थापित हुई कम्पनी केवल यहाँ बनने के कारण से मित्र नहीं हो सकती। कम्पनी अपने अभिकर्त्ताओं (Agents) द्वारा कार्य करती है। यह युद्धकाल में उस दशा में शत्रुरूप धारण करती है, जब ये शत्रुदेश में रहते हों या शत्रु-हिस्सेदारों के आदेश के अनुसार कार्य करते हों। (ग) वैयक्तिक हिस्सेदारों के स्वरूप से कम्पनी का स्वरूप नहीं निर्धारित होता। किन्तु यह इस बात से निश्चित होता है कि इस कम्पनी का वास्तविक नियन्त्रण करने वाले व्यक्ति शत्रुओं से आदेश ले रहे हैं या शत्रुओं के नियन्त्रण में कार्य कर रहे हैं। (घ) ग्रेट ब्रिटेन में रजिस्टर्ड होने वाली कम्पनी यदि तटस्थ देश के साथ यहाँ अथवा उन देशों में रहने वाले एजेण्टों द्वारा व्यापार करती है, तो ऊपरी दृष्टि से यह मित्र समझी जा सकती है, किन्तु यह इसका वास्तविक नियन्त्रण करने वाले एजेण्टों के कारण शत्रुरूप भी धारण कर सकती है। (ङ) ग्रेट ब्रिटेन में रजिस्ट्री कराने वाली कम्पनी यदि शत्रुदेश के साथ व्यापार करती है तो इसे शत्रु समझना चाहिये।

डैमलर के मामले में उपर्युक्त सिद्धान्तों को १९४३ में हाउस आफ लार्डस ने सौफ्राक्ट (Saufracht) के मामले में पुन पुष्ट किया। यह कम्पनी तटस्थ देश हालैण्ड में बनी थी, इसके सचालक वहीं रहते थे। किन्तु विश्वयुद्ध में जर्मनी ने हालैण्ड पर अधिकार कर लिया, इस कम्पनी पर जर्मन नियन्त्रण स्थापित हो गया अत. ग्रेट ब्रिटेन द्वारा इसे शत्रुरूपता प्राप्त हुई। १९३९ के शत्रु के साथ व्यापार के

कानून में शत्रुता निर्धारण करने के लिये रजिस्ट्री और नियन्त्रण की दोनों कसौटियों को आवश्यक माना गया है। फ्रेंच न्यायालयों ने प्रथम विश्वयुद्ध में यह कहा था कि उन्हें यह अधिकार है कि वे मामले की तह तक जाकर यह निश्चय करें कि कोई कम्पनी वास्तव में फ्रेंच है या केवल दिखावे के तौर पर ऐसी है। १ सितम्बर १९३९ के फ्रेंच आदेश में रजिस्ट्री और नियन्त्रण की दोनों कसौटियाँ स्वीकार की गयी हैं।

(ग) जहाजों की शत्रुरूपता (Enemy Character of Ships)—इनके सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि इनका स्वरूप इनकी ध्वजा (Flag) से निश्चित होता है। यदि इन पर शत्रुदेश की ध्वजा फहरा रही हो तो ये शत्रु समझे जायेंगे। किन्तु यदि इन पर तटस्थ देश की ध्वजा हो तो ये शत्रु नहीं समझे जायेंगे। १९०९ में इस सामान्य नियम की पुष्टि लन्दन की घोषणा ने भी की। इसके अनुच्छेद ५७ के अनुसार जहाज की शत्रुरूपता की कसौटी उस पर वैध रूप से फहरायी जाने वाली ध्वजा थी। १९१४ का युद्ध छिड़ते ही ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने इस नियम को स्वीकार किया, किन्तु जर्मनी ने इस व्यवस्था का अनुचित रीति से बहुत लाभ उठाया। उस समय स० रा० अमरीका तटस्थ देश था, इसके बहुत से जहाज-मालिकों ने जर्मन पूंजी की सहायता से नये जहाज खरीदे और इन पर अमरीकी झण्डा लगाकर जर्मनी को माल भेजने लगे। इन पर तटस्थ देश की ध्वजा होने के कारण लन्दन सम्मेलन के उपर्युक्त निर्णय के अनुसार इन्हें शत्रु होने के कारण रोका या पकड़ा नहीं जा सकता था। इससे ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस को यह निश्चय हो गया कि लन्दन सम्मेलन की स्वीकृत की हुई उपर्युक्त व्यवस्था का उन्हें परित्याग करना चाहिये। अत: ग्रेट ब्रिटेन ने २० अक्टूबर १९१५ के एक सरकारी आदेश में उपर्युक्त व्यवस्था के निराकरण (Abrogation) की घोषणा करते हुए यह कहा कि वह इस विषय में पुरानी ब्रिटिश परम्परा का अनुसरण करेगा। फ्रांस ने भी नीति में इसी प्रकार का परिवर्तन किया। ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालयों (Prize Courts) ने The St Tudno के मामले में ब्रिटिश ध्वजा फहराने वाले किन्तु जर्मन स्वामित्व रखने वाले तथा The Harnborm के मामले में तटस्थ देश का झण्डा फहराने वाले जहाज के बारे में सूक्ष्म विचार करते हुए यह निर्णय दिया "अधिग्रहण कानून (Prize Law) का यह निश्चित नियम है कि अधिग्रहण न्यायालय बाह्यरूपों और पारिभाषिकताओं (Forms and Technicalities) के पीछे छिपे हुए तथ्यों और वास्तविकताओं की तह तक जायेंगे। इसका यह अर्थ है कि जहाज के स्वामी या उनके द्वारा चुने गये झण्डे के नियमों से बंधे हुए हैं, किन्तु इन्हें पकड़ने वाले उन झण्डे के नियमों से बंधे हुए नहीं हैं।"

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि तटस्थ देश का झण्डा लगाने वाला जहाज यदि वस्तुत: शत्रु को सहायता पहुँचा रहा है तो उसे शत्रुरूप प्राप्त हो जायगा।

ओपेनहाइम के कथनानुसार तटस्थ देश के झण्डे वाला पोत निम्न दशाओं में शत्रुरूप प्राप्त करता है।"—(क) लन्दन-घोषणा के अनुच्छेद ४६ के अनुसार ऐसे

१३. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, भा० २, पृ० ७७-६

जहाजो को लड़ाई के कार्यों मे सीधा भाग लेने से, शत्रुसरकार द्वारा नियत किये एजेण्ट के नियन्त्रण मे होने से, शत्रुसरकार की अनन्य रूप मे सेवा करने से, शत्रु की सेनाओं के परिवहन से अथवा शत्रु को सूचना देने का माध्यम होने से शत्रु समझा जाता है। (ख) यदि यह इसके निरीक्षण और तलाशी लेने के वैध अधिकार के प्रयोग का प्रतिरोध करता है, तो भी इसे शत्रुरूपता प्राप्त होती है। (ग) ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका और जापान के व्यवहार तथा आचरण के अनुसार ऐसे तटस्थ पोतों को भी शत्रुरूपता प्राप्त होती है, जो १७५६ के नियम का उल्लंघन करते हैं। इस नियम के अनुसार युद्ध के समय मे कोई भी दूसरा देश उस प्रदेश मे व्यापार नही कर सकता जिसके व्यापार का अधिकार युद्ध छिड़ने से पहले कोई देश केवल अपना झण्डा फहराने वाले जहाजों के लिये सुरक्षित समझता था। (घ) तटस्थ देश की ध्वजा फहराने पर भी यदि उस जहाज के स्वामियों में से कुछ शत्रुदेश के हैं तो इसे शत्रुरूप प्राप्त हो जायगा।

तटस्थ देश के जहाज को शत्रुरूप प्राप्त होने पर उसके सम्बन्ध में निम्न नियम लागू होते हैं—(क) इस पर लदा हुआ शत्रु का सारा माल राज्यसात् (confiscate) किया जा सकता है, भले ही वह जब इस पर लादा गया हो उस समय यह जहाज वस्तुतः तटस्थ रहा हो। (ख) इस पर लदा हुआ सारा माल शत्रु का समझा जायगा, तटस्थ देशों के माल के मालिकों के लिये यह आवश्यक होगा कि वे इसके तटस्थ रूप को सिद्ध करें। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो यह शत्रु का माल माना जायगा।

(घ) नौपण्य की शत्रुरूपता (Enemy Character of Cargo)—जहाजों पर लदे हुए सामान या नौपण्य की शत्रुरूपता के सम्बन्ध मे विभिन्न देशों के नियमों में एकरूपता नहीं है। हालैण्ड ने तटस्थ देश होने के कारण अपने लाभ की दृष्टि से इस विषय में १६५० मे अन्य देशों के साथ ऐसी सधियाँ कीं जिनके अनुसार तटस्थ या स्वतन्त्र देशों के जहाजों पर लदा हुआ माल स्वतन्त्र अर्थात् युद्धकारी देशों द्वारा न पकड़ा जाने वाला समझा जाय, दूसरे शब्दों में तटस्थ देशों के जहाजों का माल युद्धकाल में न छीना जाय। इसे 'स्वतन्त्र जहाज और स्वतन्त्र माल' (Free ships, Free goods) का सिद्धान्त कहते हैं, किन्तु इसे मनवाने के लिये उसे इसका विरोधी सिद्धान्त शत्रु के जहाजों पर लदा हुआ माल शत्रु का होता है (Enemy ships, Enemy goods) भी मानना पड़ा। इसके अनुसार शत्रु के जहाज पर लदा हुआ सारा माल युद्धकारी देश द्वारा आत्मसात् किया जा सकता था, भले ही उस पर किसी तटस्थ देश का स्वामित्व हो।

इसके विपरीत तत्कालीन प्रधान सामुद्रिक शक्ति ग्रेट ब्रिटेन ने इस विषय में Consolato del mare (देखिये ऊपर पृ० ३३) के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का अनुसरण किया। इसके अनुसार जहाज पर लदे माल के पकड़े जाने की कसौटी जहाज का झण्डा नहीं, किन्तु माल का स्वामित्व था, यदि इस माल के स्वामी तटस्थ देशों के व्यक्ति हैं, तो शत्रु के जहाजों पर लदा हुआ भी यह माल नहीं पकड़ा जा सकता था और यदि शत्रु का माल तटस्थ देशों के जहाजों पर लदा हुआ है तो इसे छीना जा सकता था। यह नियम उपर्युक्त डच सिद्धान्त से सर्वथा प्रतिकूल था, किन्तु अधिक न्यायपूर्ण

और तर्कसंगत होने से शनैं शनैं लोकप्रिय और सर्वमान्य होने लगा। स० रा० अमरीका ने इसे स्वीकार किया। प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने Nereide के मामले में १८१५ में यह घोषणा की कि संयुक्त रा० अमरीका ने असंदिग्ध रूप में यह मान लिया है कि "एक मित्र के जहाज में लदा हुआ शत्रु का माल युद्ध में छीना जा सकता है तथा शत्रु के जहाज में लदा हुआ मित्र का माल (छीना जाने पर भी) मित्र को लौटा देना चाहिये।" क्रीमिया युद्ध की समाप्ति पर १८५६ की पेरिस की घोषणा द्वारा ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने यह स्वीकार किया कि "तटस्थ देश के झण्डे वाले जहाज में युद्ध की विनिषिद्ध (contraband) वस्तुओं के अतिरिक्त शत्रु का सामान जा सकता है और युद्ध में विनिषिद्ध सामग्री के अलावा तटस्थ देशों के माल को शत्रु का झण्डा फहराने वाले जहाज पर लदा होने पर भी नहीं पकडा जा सकता।"

वर्तमान समय में आपेनहाइम के मतानुसार सामान्य रूप में यह माना जाता है[१४] कि किसी माल की शत्रुरूपता उसके मालिकों की शत्रुरूपता पर निर्भर है। यदि किसी नौपण्य का स्वामी शत्रु है तो यह माल शत्रु का समझा जायगा। व्यक्तियों को शत्रु समझने की कसौटी के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण माल की शत्रुरूपता में भी यह मतभेद है। प्रधान रूप से इस विषय में दो पक्ष हैं —

(१) व्यापारिक अधिवास (Commercial Domicile)—ब्रिटिश तथा अमरीकन व्यवहार के अनुसार किसी व्यक्ति का शत्रुदेश में अधिवास उसे शत्रुरूप प्रदान करता है, अतः शत्रुदेश में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों का माल शत्रु का माल समझा जाता है, शत्रुदेश में न रहने वाले व्यक्तियों का माल शत्रुरूप नहीं धारण करता। इस कारण तटस्थ देशों में रहने वाले शत्रुप्रजाजनों का माल शत्रुरूप नहीं प्राप्त करता, किन्तु शत्रु के देश में रहने वाले तटस्थ राज्यों के प्रजाजनों का माल शत्रुरूप धारण करता है। इसी तरह एक युद्धकारी देश के जो प्रजाजन दूसरे युद्धकारी देश में बसे होते हैं, युद्ध छिड़ने पर भी उस देश में बने रहते हैं उनका माल दूसरे देश की दृष्टि में शत्रु का समझा जाता है। एक तटस्थ देश के प्रजाजन द्वारा शत्रुदेश में स्थापित की हुई व्यापारिक कम्पनी शत्रु मानी जाती है, इसका स्वामी भले ही शत्रुदेश से बाहर रहता हो, किन्तु व्यापारिक अधिवास (Commercial Domicile) के कारण शत्रुदेश में ही समझा जाता है।

(२) राष्ट्रीयता—फ्रांस तथा अनेक योरोपियन राज्य अधिवास को महत्त्वपूर्ण न मानते हुए राष्ट्रीयता को ही कसौटी मानते हैं। इनके अनुसार माल के मालिक की राष्ट्रीयता (Nationality) यह निश्चित करती है कि माल को शत्रुरूपता दी जाय या न दी जाय। अतः शत्रु के व्यापारिक जहाजों पर लदे हुए माल में से केवल उसी माल को शत्रुरूपता प्रदान होती है, जिसके स्वामी शत्रुदेश के प्रजाजन हों, भले ही ये तटस्थ देशों में रहते हों, किन्तु शत्रुदेश के नागरिक होने के कारण इनका माल शत्रु का ही समझा जाना चाहिये। शत्रु के जहाजों पर लदा हुआ तटस्थ राज्यों के प्रजाजनों का माल शत्रुरूप नहीं प्राप्त करता, भले ही ये शत्रुदेश में निवास करते हों।

१४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ ख २, पृ० २८१

बाईसवाँ अध्याय

स्थल युद्ध के नियम

(Laws of Land Warfare)

युद्ध के नियमों का विकास (Development of Laws of War)—युद्ध आरम्भ होने पर दोनों पक्षों का ध्येय शक्ति के प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजय पाना होता है, किन्तु शक्ति का प्रयोग मनमानी रीति से नहीं किया जा सकता। यद्यपि पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाले राज्यों को यथेच्छ बलप्रयोग का अधिकार है, फिर भी वे शत्रु को हराने के लिए बलप्रयोग में कुछ मर्यादाओं का पालन आवश्यक समझते हैं। बलप्रयोग की ये मर्यादाएँ ही युद्ध के नियम कहलाती हैं। महाभारत में इनका विचार न रखने वालों को दस्यु और डाकू कहा गया है।[1] कुछ विधिशास्त्री इन्हें युद्ध के कानून (Laws of War) कहते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने १९४९ की अपनी पहली रिपोर्ट में इस शब्द के परित्याग का सुझाव दिया है। अतः इन्हें सैनिक बलप्रयोग के नियम कहना ही ठीक है। यदि इन नियमों का पालन न किया जाय तो युद्ध में बर्बरता और पाशविकता की कोई सीमा नहीं रहेगी।

युद्ध के नियमों का विकास शनैः शनैः हुआ है। प्राचीन भारत के युद्धविषयक नियमों का संक्षिप्त उल्लेख पहले हो चुका है (पृ० २०)[2]। योरोप में इनका विकास मध्य युग में इसाइयत से तथा शौर्य (Chivalry) के विचार से हुआ। आपेनहाइम के

---

1. महाभारत शान्तिपर्व १००।३ निर्मर्यादा दस्यवस्तु भवन्ति परिपन्थिनः।

2. इस विषय में कुछ अन्य प्रमाण निम्नलिखित हैं। महाभारत शान्तिपर्व (९५।१९) में इस पर बल दिया गया है कि व्यक्ति को युद्ध के धर्मानुकूल सिद्धान्तों के अनुसार लड़ना चाहिये, न कि क्रोध और हत्या की भावनाओं से प्रेरित होकर (धर्मेण योद्धव्यं न क्रुधेन जिघांसता)। वस्तुतः युद्ध के नियमों की इससे सुन्दर कसौटी नहीं हो सकती कि उसमें क्रोध और हिंसा की भावना नहीं होनी चाहिये। गीता (२।३१) में यह कहा गया है कि क्षत्रिय के लिए धर्म्य युद्ध (Just War) से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है (धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते)। प्राचीन भारतीय शत्रु के विरुद्ध शक्ति के अत्यधिक अमर्यादित प्रयोग को अनुचित समझते थे। शान्तिपर्व (९५।१४ [?]) में कहा गया है कि शत्रु को न तो धोखा देना चाहिये और न ही कर्णिक प्रहारों से उसका छेदन करना चाहिये, ऐसे प्रहारों से उसकी मृत्यु हो सकती है (नामित्रो विनिकर्तव्यो नातिच्छेद्यः कथञ्चन। जीवितं ह्यप्यनिच्छिद्य ह्यपनेयं कदाचन। [?]) यह हेग सम्मेलन में तय किये गये इस सिद्धान्त से गहरा साम्य रखता है कि शत्रु के विरुद्ध शक्ति का इतना ही प्रयोग किया जाना चाहिये कि वह

मतानुसार तीन सिद्धान्तो ने इन नियमो का स्वरूप निर्धारण करने मे बडा भाग लिया।[३] पहला सिद्धान्त यह है कि युद्धकारी देश शत्रु को परास्त करने के लिए किसी भी मात्रा और प्रकार मे बल का प्रयोग कर सकता है। दूसरा सिद्धान्त मानवीयता (Humanity) का है, इसके अनुसार बल का ऐसी मात्रा मे तथा ऐसे रूपो मे प्रयोग नही करना चाहिए, जो शत्रु को हराने के लिए आवश्यक न हो। तीसरा सिद्धान्त शौर्य (Chivalry) है, भारतीय परिभाषा मे इसे क्षात्र धर्म कह सकते हैं। इसके अनुसार शत्रु को चेतावनी देकर, उसके साथ न्यायोचित व्यवहार करते हुए लडाई करनी चाहिए, धोखाधडी और धूर्त्तता से विजय नही प्राप्त करनी चाहिए। महाभारत के शब्दो मे धर्मपूर्वक लडते हुए मर जाना श्रेयस्कर है, किन्तु पापकर्म से विजय प्राप्त करना अच्छा नही है।[४] इन्ही विचारो के परिणामस्वरूप आजकल युद्ध मे असैनिक व्यक्तियो की हत्या, युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार, संहारक गैसो का प्रयोग, नाविको की सुरक्षा किए बिना व्यापारिक जहाजो का डुबाना गर्हणीय का कार्य समझे जाते हैं।

१९वीं शताब्दी के मध्य मे विभिन्न देश युद्ध के नियमो को विभिन्न संधियो, समझौतो और घोषणाओ द्वारा स्वीकार करने लगे हैं। इस विषय मे महत्वपूर्ण समझौते निम्नलिखित हैं-- (१) १६ अप्रैल १८५६ की पेरिस की घोषणा (देखिए ऊपर पृ० ५०)। (२) २२ अगस्त १८६४ का जैनेवा का अभिसमय—यह रणक्षेत्र मे घायल होने वाले सैनिको की दशा मे सुधार करने के सम्बन्ध मे था। पहले इस पर नौ राज्यो ने हस्ताक्षर किए, किन्तु बाद मे अन्य राज्य भी सम्मिलित हुए। इस विषय में दूसरा जैनेवा समझौता ६ जुलाई १९०६ को ३५ राज्यों ने किया। (३) ११ दिसम्बर १८६८ की सैण्टपीटर्सबर्ग की घोषणा—इसमे ४०० ग्राम (१४ औंस) से कम भार के, विस्फोटक अथवा ज्वलनशील पदार्थों से भरे अग्निबाण (Projectiles) के प्रयोग का निषेध किया गया था। इस पर १७ राज्यो ने हस्ताक्षर किये। (४) हेग की १८९९ की पहली शान्ति परिषद् ने स्थल युद्ध के नियमो का अभिसमय तय्यार किया। १९०७ मे इसका संशोधन हेग की दूसरी शान्ति परिषद् ने किया। (५) दमदम गोलियो के निषेध की हेग घोषणा—ये गोलियाँ लगने पर फैल जाती हैं और शरीर मे नुकीले लम्बे घाव करती है, इनका यह नामकरण कलकत्ता के निकट दमदम के शस्त्र बनाने के कारखाने मे इन का निर्माण होने के आधार पर किया गया है। (६) गुब्बारा से फेंके जाने वाले विस्फोटक द्रव्यो के विषय मे हेग घोषणा। (७) दम घोटने वाली श्वासरोधी (Asphyxiating) या हानिप्रद गैसो के प्रयोग के निषेध की हेग घोषणा। (८) समुद्री लडाई के सम्बन्ध मे सं० ४ मे ऊपर बताये हेग अभिसमय के सिद्धान्त को लागू करने वाला हेग अभिसमय। (९) १९०७ का लडाई आरम्भ करने के विषय मे हेग अभिसमय। (१०) १९०७ का युद्धारम्भ के समय शत्रु के व्यापारिक जहाजों की स्थिति सम्बन्धी हेग समझौता। (११) १९०७ का व्यापारिक जहाजों को रणपोतों म परिवर्तित करने का हेग

३. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० २२७

४. महाभारत शान्तिपर्व ९५।१७ धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।

अभिसमय। (१२) स्वयचालित समुद्रान्तर्वर्ती सरपर्शी सुरगो (Automatic submarine contact mines) का हेग अभिसमय। (१३) युद्ध के समय नौसेनाओ द्वारा बमबारी-विषयक १६०७ का हेग अभिसमय। (१४) समुद्री युद्ध मे निग्रह के अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्धो के विषय मे १६०७ का हेग समझौता। (१५) तटस्थ शक्तियों और व्यक्तियो के स्थलीय और समुद्री युद्ध के विषय मे अधिकारो और कर्त्तव्यो के १६०७ के हेग समझौते। (१६) श्वासरोधी विषैली तथा अन्य गैसो के प्रयोग को वर्जित ठहराने वाला १६२५ का प्रोतोकोल। (१७) बीमारो और घायलो के साथ तथा युद्धबन्दियों के साथ किये जाने वाले व्यवहारविषयक १६२६ के जेनेवा अभिसमय। (१८) व्यापारिक जहाजो के विरुद्ध पनडुब्बियों के प्रयोग के बारे मे १६३६ का लन्दन प्रोतोकोल। (१६) १६४६ मे जेनेवा मे निम्नलिखित विषयो के सम्बन्ध मे किये गए रेडक्रास के चार अभिसमय (क) युद्ध बन्दियो के साथ व्यवहार, (ख) रणक्षेत्र मे आहतो तथा बीमारो की दशा सुधारना (ग) समुद्री युद्ध मे घायल, बीमार तथा जहाज नष्ट हो जाने पर नाविकों की दशा सुधारना, (घ) युद्धकाल मे असैनिक व्यक्तियों की रक्षा। ये अभिसमय बहुत विशद हैं और इनसे युद्ध के नियमो का बहुत अशो मे सहिताकरण (Codification) सम्पन्न हुआ है।

नियमो का पालन (Observance of Laws)—उपर्युक्त नियमो के पालन के सम्बन्ध मे दो प्रधान आपत्तियाँ उठाई जाती है। पहली आपत्ति कुछ जर्मन लेखकों का यह विचार है कि सैनिक आवश्यकता का यह तकाजा है कि युध्यमान देशो के कार्यो पर कोई मर्यादा नही होनी चाहिए, राज्य की सुरक्षा युद्ध के नियमो के पालन से अधिक महत्वपूर्ण है, अत सभी प्रकार की हिसा का प्रयोग अमर्यादित रूप म किया जा सकता है। एक जर्मन कहावत है—Kriegsraeson geht vor Kriegsmaneer अर्थात् युद्ध की आवश्यकता युद्ध के प्रकार पर हावी होती है, आवश्यकता पडने पर हिसा का कोई भी क्रूर कार्य किया जा सकता है, इसमे औचित्य अनौचित्य का विवेचन व्यर्थ है। अग्रेजी की कहावत है कि युद्ध और प्रेम म सभी कुछ उचित होता है (All is fair in love and war)।

किन्तु यह दृष्टिकोण अधिकाश विधिशास्त्रियो द्वारा भ्रान्तिपूर्ण समझा जाता है। हेग नियमो के अनुच्छेद २२ मे यह व्यवस्था है कि युध्यमान देशो का शत्रु को हानि पहुँचाने का अधिकार असीम या अमर्यादित नही है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे कुछ ऐसे परम्परागत नियम हैं, जिन्हे राज्यो ने विभिन्न सधियों द्वारा स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, युद्ध मे विष एव विषैले हथियारो का प्रयोग, शत्रु के सैनिकों को धोखे से मारना या घायल करना वर्जित है। कैसी भी सैनिक आवश्यकता क्यों न हो, इन साधनो का प्रयोग निषिद्ध ही समझा जाना चाहिए। १६४५ म Peleus के मामले मे एक ब्रिटिश न्यायालय ने सैनिक आवश्यकता की युक्ति को स्वीकार नही किया था। इस मामले मे एक जर्मन पनडुब्बी के सेनापति ने एक व्यापारी जहाज डुबाने के बाद उसके एक तख्ते से चिपटकर तैरने वाले व्यक्तियो को मशीनगन से इसलिए भून डाला कि जहाज को डुबाने के प्रत्येक चिह्न को नष्ट कर दिया जाय ताकि पनडुब्बी का पीछा न किया जा

सके। जर्मन सेनापति ने इस जघन्य कार्य का समर्थन सैनिक आवश्यकता और आत्म-संरक्षण के आधार पर किया, किन्तु न्यायालय ने इसे अस्वीकार करते हुए यह *कहा कि उसे ऐसा कोई अधिकार नहीं था। वह आत्मरक्षा के लिए केवल यही कर सकता था कि डुबाने वाली जगह से शीघ्रातिशीघ्र भाग जाता।* १९४७ में Milch के मामले में न्यूरेम्बर्ग के अमरीकन सैनिक न्यायाधिकरण ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इसका निराकरण करते हुए कहा था—"ये नियम और रिवाज युद्ध की सभी अवस्थाओं के लिए विशेषरूप से बनाए गए हैं।"

दूसरी आपत्ति 'सामान्य भागग्रहण धारा' (General Participation Clause) की है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले किये गए अनेक हेग अभिसमयों में उपर्युक्त धारा है और इसमें यह व्यवस्था है कि इस समझौते के नियमों का पालन तभी आवश्यक होगा, जब सभी युध्यमान देशों ने इन समझौता पर हस्ताक्षर किये हों। इसका परिणाम यह था कि युद्ध छिड़ने पर यदि केवल एक देश ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किये तो यह समझौता लागू नहीं होता था।

किन्तु ब्रिटिश न्यायालयों ने यह स्थिति कभी स्वीकार नहीं की। लार्ड सुमनेर ने Blonde and other ships (१९२०) के *मामले में उपर्युक्त व्याख्या को अस्वीकार किया।* १९४६ में *न्यूरेम्बर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस सम्बन्ध में यह कहा था* कि "हेग के अभिसमय द्वारा बताए गए स्थलयुद्ध के नियम इन्हें अंगीकार करने के समय निश्चित रूप में यह सूचित करने थे कि ये तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय कानून से आगे बढ़े हुए हैं।...१९३९ तक ये कानून सब सभ्य देशों द्वारा स्वीकार किये जा चुके थे।" इस कारण न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि यद्यपि १९०७ में इन नियमों के बनने के समय चैकोस्लोवाकिया की सत्ता नहीं थी, किन्तु इन नियमों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की घोषणा की गई है, अतः वे उस पर भी लागू होते थे। इसी प्रकार युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में जैनेवा के समझौते पर रूस ने हस्ताक्षर नहीं किये थे, किन्तु विभिन्न युद्धापराध न्यायालयों के निर्णयानुसार रूस इस आधार पर यह दावा नहीं कर सकता कि वह इन नियमों के पालन के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। १९२९ के जेनेवा के *अभिसमयों में 'सामान्य भाग ग्रहण की धारा' को हटा दिया गया तथा* १९४९ के जेनेवा अभिसमयों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि यह सम्भव है कि संघर्ष करने वाले पक्ष में से एक देश ने अभिसमय पर हस्ताक्षर न किये हों, किन्तु इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशों के आपसी व्यवहार में इन नियमों का पालन अनिवार्य समझा जायगा।[5]

युद्ध के नियमों की अनुज्ञप्तियाँ (*Sanctions of the Laws of War*)—युद्ध के नियमों का बहुधा उल्लंघन होता है, किन्तु इनका पालन करने के लिए बाध्य करने वाली कुछ अनुज्ञप्तियाँ भी हैं। स्टार्क के कथनानुसार पहली अनुज्ञप्ति प्रत्यपहार (Reprisal) की है।[6] द्वितीय विश्वयुद्ध में जब जर्मनी ने युद्धबन्दियों को

---

५. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ३२६

६. स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३६८

जजीरों मे जकडना शुरू किया, तो ग्रेट ब्रिटेन ने इसका प्रतिकार करने के लिए जर्मन युद्धबन्दियो के साथ ऐसा व्यवहार आरम्भ कर दिया। इससे बाधित होकर जर्मनो को इस क्रूर, अमानवीय एव अवैध आचरण का परित्याग करना पडा। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध मे जर्मनी ने हेग अभिसमयो द्वारा निषिद्ध रासायनिक गैसो का प्रयोग इसलिए नही किया कि ग्रेट ब्रिटेन भी प्रत्युत्तर मे जर्मनी के विरुद्ध इन्हे प्रयुक्त करेगा। **दूसरी** अनुज्ञप्ति युद्ध-नियमो का उल्लघन करने पर दण्ड दिए जाने का भय है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद १९४६-८ तक जर्मनी और जापान के युद्धापराधियो पर अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरणो मे अभियोग चलाये गए और ऐसा अपराध करने वाले सेनापतियो तथा उच्चाधिकारियो को दण्डित किया गया। भविष्य मे ऐसे दण्डो का भय युध्यमान देशो के अधिकारियो द्वारा युद्ध के नियमो के पालन मे सहायक होगा। **तीसरी** अनुज्ञप्ति क्षतिपूर्ति या मुआवजे की है। १९०७ के **चौथे हेग अभिसमय** के तीसरे अनुच्छेद मे यह कहा गया है कि यदि कोई राज्य ऐसे नियम तोडता है तो उस राज्य को अपनी सेना द्वारा किये सब कार्यों के लिए उत्तरदायी समझा जायगा और उससे क्षति-पूर्ति के लिए हर्जाना लिया जायगा। इस अनुच्छेद के अनुसार शान्तिसधि के समय उससे हर्जाने की राशि वसूल की जा सकती है।

स्थल युद्ध के उद्देश्य और साधन (Aims and Means of Land Warfare) —स्थल युद्ध के दो प्रधान उद्देश्य है – शत्रु की सेनाओ को परास्त करना तथा शत्रु के प्रदेश पर अधिकार और उसका प्रशासन। इन उद्देश्यो की पूर्ति का प्रधान साधन शत्रु-देश के व्यक्तियो के प्रति हिंसा का प्रयोग है। किन्तु इसके अन्य साधन ये भी है—शत्रु की सम्पत्ति का आत्मसात्करण (Appropriation), उपयोग तथा विध्वस, घेरा डालना, बमवर्षा, जासूसी, देशद्रोह का लाभ उठाना तथा छलोपाय (Ruses)। इनमे सबसे महत्वपूर्ण शत्रु के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग है, अत यहाँ पहले उसका वर्णन किया जायगा।

स्थल युद्ध के नियम शत्रु के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग की मर्यादा (Laws of Land Warfare—Limit to the use of force against Enemy) — वर्तमान समय मे स्थल युद्ध के नियमो का निर्माण सर्वप्रथम कोलम्बिया कालेज न्यूयार्क के प्राध्यापक फ्रांसिस लीबर (Francis Leiber) ने अमरीकन गृहयुद्ध के समय किया था। २४ अप्रैल, १८६३ को स० रा० अमरीका की सरकार ने इन्हे Instruction for the Government of Armies of the United States in the Field के नाम से प्रकाशित किया। इन्हे आवश्यक सशोधनो के साथ अन्य राज्यो ने १८९९ के तथा १९०७ के हेग सम्मेलनो मे स्वीकार किया। १९०७ का **चौथा हेग अभिसमय** विस्तार मे इन नियमो का वर्णन करता है, अत इन्हे 'हेग नियम" कहा जाता है।

इसमे सर्वप्रथम युध्यमानो (Belligerents) का लक्षण किया गया है, ये ऐसे लडने वाले हैं, जिन्हे वैध योद्धा (Lawful Combatant) कहा जाता है। इनमे मुख्य रूप से देश की नियमित सेनाओ (Regular Armies) का समावेश होता है। किन्तु इनके अतिरिक्त युद्ध के नियमो का पालन करने वाले छापामार दस्तो (Guerrilla

Troops), स्वयंसेवक दलों (Volunteer Corps) तथा नागरिक सेना (Militia) को भी वैध योद्धा समझा जाता है, बशर्ते कि (१) इनका नेतृत्व उचित रीति से हो, (२) ये दूर से पहचाने जा सकने वाले निश्चित विशेष चिन्ह को धारण करें, (३) खुले रूप में शस्त्र धारण करें, (४) युद्ध के कानून और प्रथाओं के अनुसार लड़ाई करें। कई बार किसी देश की असैनिक जनता सामूहिक रूप से स्वयमेव शत्रु के विरुद्ध विद्रोह के लिए उठ खड़ी होती है और शस्त्र धारण करती है, इसका पारिभाषिक नाम *Levies en Masse* है, कौटिल्य के शब्दों में यह औत्साहिक बल है।[7] *यदि यह उपर्युक्त चारों शर्तें पूरी करती है, तो इसे भी वैध योद्धा का दर्जा दिया जा सकता है।*

वैध योद्धा समझे जाने वाले सैनिकों तथा योद्धाभिन्न असैनिक जनता के साथ युद्ध के समय हिंसा के प्रयोग में बड़ा भेद और विवेक किया जाता है। युद्ध का उद्देश्य शत्रु को पराभूत करना है, अतः शत्रु के सैनिकों के विरुद्ध उतनी ही हिंसा वैध है, जो उपर्युक्त उद्देश्य को पूरा कर सके। इस दृष्टि से सैनिकों के विरुद्ध तीन प्रकार की हिंसा वैध है—उन्हें जान से मारना, घायल करना और बन्दी बनाना। युद्ध में किसी सैनिक या अधिकारी और राजा तक को गोली से मारा जा सकता है। किन्तु उनका वध तभी हो सकता है, जब वे लड़ने को तैयार हों या बन्दी बनाए जाने का विरोध करें। अतः बीमार या घायल, हथियार डालने वाले, समर्पण करने वाले, बन्दी बनाए जाने का विरोध न करने वाले सैनिकों का न तो वध किया जा सकता है और न ही इन्हें घायल किया जा सकता है। इन्हें दयादान (Quarter) दिया जाना चाहिये, इनके प्राणों की *रक्षा होनी चाहिए। हेग अभिसमय के अनुच्छेद २३-सी में इनका विस्तृत वर्णन है।*[8]

---

७. कौटिलीय अर्थशास्त्र ६।२ में इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—सैन्यमनेकमनेकजातीयस्थमुक्तमनुक्तं वा विलोपार्थं यदुत्तिष्ठति तदौत्साहिकम्। भक्तवेतनविलोपविष्टिप्रतापकरं भेद्यं परेषाम्, अभेद्यं तुल्यदेशजातिशिल्पप्रायं संहतं महत्। अर्थात् केवल अपने उत्साह के बल पर सैनिक कार्यों में प्रवृत्त होने वाली सेना औत्साहिक बल होती है, इसका एक मुखिया या नायक नहीं होता, इसमें अनेक जातियों या देशों के लोग रहते हैं। राजा का आदेश पाकर या उसे बिना पाये ये शत्रु के प्रदेश को नष्ट करने के लिए उठ खड़े होते हैं। भेद और अभेद के भेद से यह दो प्रकार का होता है, भत्ता, वेतन, लूटपाट तथा बेगार करने राजा का प्रताप प्रदर्शित करने वाली सेना भेद्य होता है, एक देश, एक जाति और एक व्यवसाय करने वाली सेना अभेद्य होती है। भेद्य का आशय शत्रु द्वारा फोड़ी तथा अपने साथ मिलाई जा सकने वाली है। पहले प्रकार में उसका लक्ष्य भत्ता, वेतन और लूट का लालच होता है, अतः शत्रु द्वारा इसे अधिक प्रलोभन देकर अपने साथ मिलाया जा सकता है। दूसरा प्रकार समान देश, जाति और व्यवसाय के बन्धन से बंधा होने के कारण अधिक सुदृढ़ होता है, उसमें आधुनिक राष्ट्रीयता के कुछ तत्त्व होते हैं। अतः शत्रु द्वारा उसका भेदन करना या फोड़ना सम्भव नहीं होता।

८. महाभारत (शान्तिपर्व १०२ ३४ तथा ९८।३-४) में इसी प्रकार की व्यवस्था है—कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा नहि हिंस्यात्। बलेनविजितो यश्च न तं युध्येत भूमिप। महाभारत कर्णपर्व ९०।११-१२ प्रकीर्णकेशे विमुखे ब्राह्मणे अथ कृताञ्जलौ। शरणागते न्यस्तशस्त्रे याचमाने तथाऽर्जुन॥ अबाणे भ्रष्टभग्नावर्मे तथा। न विमुञ्चन्ति शस्त्राणि शूराः साधुव्रते

ये वर्तमान समय के सर्वमान्य नियम है। विभिन्न देशो के न्यायालय इनका उल्लघन करने वालो को दण्ड देते है। १६४५ मे कनाडा के एक सैनिक न्यायालय ने एक जर्मन रेजिमैंट के सेनापति कुर्ट मेयर (Kurt Meyer) को इसलिए प्राणदण्ड दिया था कि उसने अपने सैनिको को इस बात के लिए उकसाया था कि वे मित्रराष्ट्रो के सैनिको पर किसी प्रकार का दयादान (Quarter) न करें, बाद मे उसका दण्ड घटा कर आजीवन कारावास मे बदल दिया गया था। Ruchteschell Case मे अभियुक्त पर यह दोष लगाया गया था कि एक ब्रिटिश व्यापारिक जहाज के समर्पण कर देने के बाद भी वह उस पर गोली चलाता रहा। १६४५ मे हालैण्ड मे एक ब्रिटिश सैनिक न्यायालय ने Almelo के मामले मे एक व्यक्ति को इसलिए दण्डित किया कि उसने हवाई जहाज मे आग लगने पर उसमे कूद कर एक निजी मकान मे छिपे हुए ब्रिटिश हवाबाज को गोली स मारा था। इस प्रकार की हिंसा अमानवीय, जघन्य और अवैध समझी जाती है।

शत्रु के योद्धाओ और सैनिको के प्राणहरण का अधिकार यद्यपि वैध है, किन्तु इसके साधनो मे कुछ वैध और कुछ अवैध तथा वर्जित है। तलवार, राइफल, मशीनगन आदि से मारना तो ठीक है, किन्तु ऐसे मत साधनो से प्राण लेना वर्जित है जिनसे अनावश्यक रूप मे अधिक पीडा और कष्ट हो। हेग नियमो के अनुच्छेद २३ मे इस दृष्टि मे विष का तथा अनावश्यक हानि (Unnecessary injury) पहुँचानेवाले, जलता हुआ द्रव पदार्थ डालने वाले हथियारो, अग्निबाणो तथा क्षेपणास्त्रो (Projectiles) का प्रयोग वर्जित है। अत शत्रु द्वारा व्यवहार मे लाये जाने वाले पानी के जलस्रोतो, कुओ, पम्पो, नदियो को विषैला नही बनाया जा सकता[9], विषैले हथियारो का प्रयोग नही हो सकता[10], राइफलो मे काँच के टुकडे, लोहे की नुकीली कीले तथा तोपो मे Chain shot, Crossbar shot तथा अत्यन्त गरम गोले नही भरे जा सकते। अनुच्छेद २३ के अनुसार योद्धाओ को धोखे से मारा या घायल नही किया जा सकता, वध के लिये हत्यारो को किराये पर नही रखा जा सकता। १८६८ की सैण्ट पीटर्सबर्ग की घोषणा के अनुसार लडाई मे १४ ग्रोस से कम भार वाली विस्फोटक अथवा ज्वलनशील सामग्री रखने वाले अग्निबाणो या क्षेपणास्त्रो (Projectiles) का प्रयोग निषिद्ध है। १८६६ के प्रथम हेग सम्मेलन ने ब्रिटिश सरकार द्वारा कलकत्ता के निकट दमदम के कारखाने मे बनाई जाने वाली गोलियों के व्यवहार पर २६ जुलाई १८६६ को प्रतिबध लगाया, इसी समय श्वासरोधी या हानिकारक गैसो के प्रयोग को भी निषिद्ध ठहराया

स्थिनाः। स्व च शूरतमो लोके साधुवृत्तश्च पाण्डव ।। महाभारत शान्तिपर्व १०६।२७-२६ में सोए हुए व्यक्ति को अवध्य बताया गया है—विजय लभते नित्य सेना सम्यक प्रयोजयन्। प्रसुप्तांस्तृषितान् श्रान्तान् प्रकीर्णान्नाभिघातयेत्।

९. इस विषय में मनुस्मृति ने अपद्रव्य-मलमूत्र आदि से शत्रु के पानी तथा अन्न आदि को दूषित करने का विधान किया है (७।१६५), दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्।

१०. महाभारत (शान्तिपर्व ६५।११) में विष से बुझा तथा कांटे वाला बाण दुर्जनों का हथियार बताया गया है—इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम्। देखिये ऊपर पृ० २०

गया। इसका निषेध वर्साय सन्धि के अनुच्छेद १७१ मे तथा १९१९ की अन्य सधियो मे तथा वाशिंगटन की फरवरी १९२२ की सधि मे भी है। जून १९२५ मे राष्ट्र सघ की परिषद् द्वारा बुलाये गये एक सम्मेलन मे विभिन्न राज्यो ने एक प्रोतोकोल पर हस्ताक्षर किये, इसके अनुसार श्वासरोधी, विषैली या इस प्रकार की अन्य गैसो का प्रयोग तथा हानिकर जीवाणुओ के प्रसार द्वारा किये जाने वाले युद्ध के साधन निषिद्ध ठहराये गये है।

सैनिको के अतिरिक्त सेना के साथ चलने वालो, इन्हे रसद तथा विभिन्न प्रकार की सामग्री पहुँचाने वालो, तथा सम्वाददाताओ पर योद्धा न होने के कारण प्रत्यक्ष रीति से आक्रमण नही हो सकता। इनका वध या घायल करना भी वर्जित है। इन्हे केवल बन्दी बनाया जा सकता है। १९४९ के **जेनेवा अभिसमय** के अनुसार घायलो की चिकित्सा मे लगे हुए, डाक्टरो, सैनिक हस्पतालो के अन्य कर्मचारियो तथा पादरियो को भी युद्ध मे बन्दी नही बनाया जा सकता।

शत्रु की असैनिक (Civilian) **जनता** के सम्बन्ध मे मध्यकाल मे बडे क्रूर नियम प्रचलित थे। उस समय प्राय किलो मे रहने वाली असैनिक जनता को नर-नारो का भेद किये बिना क्रूरतापूर्वक मार दिया जाता था, अथवा इनसे बडा निष्ठुर व्यवहार किया जाता था। किन्तु १८वी शती मे 'राष्ट्रो के कानून' का यह नियम सार्वभौम रूप से माना जाने लगा कि युद्ध मे भाग न लेने वाले शत्रुओ पर आक्रमण या इनका प्राणहरण नही होना चाहिये। १८६३ मे स० रा० अमरीका की सरकार की सेना के सामान्य आदेशो मे कहा गया था—"यह सिद्धान्त अधिकाधिक रूप मे स्वीकार किया जाने लगा है कि युद्ध की आवश्यकताएँ जहाँ तक अनुमति दे, वहाँ तक शस्त्रहीन नागरिक के शरीर, सम्पत्तिऔर सम्मान को कोई क्षति नही पहुँचनी चाहिए।" आजकल ये न केवल अवध्य और अनाक्रमणीय समझे जाते है, किन्तु इन्हे सामान्य रूप से युद्ध मे बन्दी भी नही बनाया जा सकता। विशेष अवस्थाओ मे, साधारण जनता को शत्रु के विरुद्ध लडने के लिये उत्तेजित करने पर इन्हे बन्दी बनाया जा सकता है। यदि जनता द्वारा सामूहिक विद्रोह की आशका हो तो इनके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही हो सकती है, अन्यथा आक्रान्ता को सैनिक सेवा की आयु रखने वाले व्यक्तियो को भी गिरफ्तार करने का कोई अधिकार नही है। इन्हे बन्दी बनाने के अतिरिक्त वह अधिकृत प्रदेश मे शान्ति बनाये रखने के लिये सब प्रकार के बल का प्रयोग कर सकता है। लडाई लडने के अतिरिक्त सैनिक कार्यो के लिये आवश्यक सडको, पुलो, मकानो का निर्माण इन्हे मजदूरी देकर करा सकता है, इन कार्यों को कराने के लिये आवश्यकता होने पर वह इन्हे कारावास और प्राणदण्ड भी दे सकता है। किन्तु इनके विरुद्ध हिंसा के प्रयोग की सीमायें हेग नियमो के अनुच्छेद ४६ मे दी गई है। इसमे यह कहा गया है, "इनके पारिवारिक सम्मान और अधिकारो का, वैयक्तिक जीवन और वैयक्तिक सम्पत्ति का, धार्मिक विचारो तथा धार्मिक स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाना चाहिए।" १९४९ के जेनेवा अभिसमय मे भी इन सिद्धान्तो को स्वीकार किया गया है।

असैनिक जनता पर हवाई बमवर्षा (**Aerial Bombarment on Civil**

Population)—वर्तमान समय मे असैनिक जनता को हवाई बमवर्षा से सबसे अधिक खतरा है। १९०७ के हेग नियमो के अनुच्छेद २५ मे अरक्षित कस्बो और गांवो पर गोलाबारी करने का निषेध किया गया था, इसमे आकाश से की जाने वाली गोलाबारी भी सम्मिलित थी। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध मे इस नियम का पालन नही हुआ। १९२३ मे हेग मे विधिशास्त्रियो ने हवाई लडाई के नियमो की सहिता का एक प्रारम्भिक रूप तैयार किया। इसके अनुसार आकाश से की जाने वाली बमबारी को केवल उसी दशा मे वैध ठहराया गया, जब कि इसका लक्ष्य विशिष्ट सैनिक लक्ष्य, शत्रुसेनायें, सैनिक बस्तियां और शस्त्रास्त्रो के कारखाने हो। असैनिक जनता की अन्धाधुन्ध बमबारी को अवैध ठहराया गया। किन्तु १९३० के बाद चीन-जापान के युद्ध मे तथा १९३६-३८ तक स्पेन के गृहयुद्ध मे इस नियम की बहुत अवहेलना हुई। अत १९३८ मे राष्ट्र सघ की असेम्बली ने यह प्रस्ताव पास किया कि असैनिक जनता को हानि पहुँचाने के इरादे से की गयी गोलाबारी अवैध है। द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ से धुरी राष्ट्रो ने बडी निर्दयतापूर्वक शत्रु के असैनिक प्रदेशो पर हवाई बमबारी की तथा इसके प्रत्युत्तर मे मित्रराष्ट्रो द्वारा भी कोई कसर बाकी नही रखी गयी। उनका सबसे बडा कार्य १९४५ मे हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिराना था। इससे असैनिक जनता को अपार जनधन की क्षति उठानी पडी। वर्तमान समय के समग्रयुद्ध (Total war) मे असैनिक जनता पर जानबूझकर बडी निर्ममता से इस उद्देश्य से बमवर्षा की जाती है कि वे इससे भयभीत और सत्रस्त होकर अपना लडाई चलाने का साहस तथा मनोबल (Morale) खो बैठे और जल्दी आत्मसमर्पण करदे। १९४९ मे **जैनीवा मे 'युद्ध के समय असैनिक व्यक्तियों की रक्षा के लिये एक अभिसमय'** तैयार किया गया है, किन्तु यह अणुबमो की विभीषिका से असैनिक जनता के परित्राण के लिये पर्याप्त नही है।

अणुबमो के प्रयोग का औचित्य (Justification for the use of Atom Bomb)—अणुबमो के आविष्कार के बाद, इससे भी अधिक शक्तिशाली हाइड्रोजन बमो तथा अन्त महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रो (Intercontinental Ballistic missiles) का पिछले पच्चीस वर्षों मे अभूतपूर्व विकास हुआ है। इनमे असैनिक जनता के विध्वस और विनाश की सम्भावना पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ गई है, अत अणुबमो तथा प्रक्षेपणास्त्रो के प्रयोग का औचित्य और इनके उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाना नितान्त आवश्यक हो गया है। स० रा० अमरीका ने नागासाकी और हिरोशिमा मे अणुबम गिराने को दो कारणो के आधार पर उचित ठहराया था – (क) यह जापान तथा अन्य धुरी राष्ट्रो द्वारा पर्ल हार्बर मे तथा अन्य स्थानो मे स० रा० अमरीका को पहुँचायी गई भारी क्षति का प्रतिकार और प्रत्यपहार (Reprisal) लेने के लिए था। किन्तु इस दृष्टि से धुरी राष्ट्रो द्वारा एक हवाई बमवर्षा मे पहुँचाई गई क्षति की तुलना मे नागासाकी और हिरोशिमा को अणुबमो द्वारा पहुँचायी गई हानि बहुत अधिक थी। पहले (पृ० ४२७) यह बताया जा चुका है कि प्रत्यपहार शत्रु द्वारा पहुँचाई क्षति के समानुपात मे होना चाहिए। (ख) अणुबम के प्रयोग के समर्थन मे दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि यह युद्ध को शीघ्र समाप्त करने के उदात्त उद्देश्य से किया गया था। यदि इसका

प्रयोग न होता तो यह लड़ाई बहुत देर तक चलती रहती, इसमें प्राण और धन की अत्यधिक क्षति होती। अणुबम के प्रयोग ने जापान को आत्मसमर्पण के लिये विवश करके द्वितीय विश्वयुद्ध को जल्दी समाप्त कर दिया। यह सैनिक आवश्यकता (Military Necessity) का सिद्धान्त है। पहले यह बताया जा चुका है कि न्यायालय इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन दोनों कारणों में से कोई भी सन्तोषजनक नहीं है। वस्तुतः इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अवैध है क्योंकि इसके विस्फोट से विषैली (Radio Active) धूलि का प्रसार होता है, १९०७ के नौ हेग अभिसमय के अनुच्छेद २३ में विषैले पदार्थों का प्रयोग निषिद्ध ठहराया गया है। यह १८६८ की सैण्ट पीटर्सबर्ग की उस घोषणा के भी विरुद्ध है जिसमें अनावश्यक पीड़ा देने वाले पदार्थों का व्यवहार वर्जित बताया गया है।

स्टार्क ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है[11] कि जब तक अणुबम और अणुशक्ति पर (तथा अन्य महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों पर) कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित नहीं होता, तब तक आधुनिक युद्ध में असैनिक जनता की रक्षा होने की बहुत कम सम्भावना है। सं० रा० संघ १९४६ से इसके नियन्त्रण की अन्तर्राष्ट्रीय योजना बना रहा है। इसमें उसे अब तक पूरी सफलता नहीं मिली, फिर भी इस विषय में उसका कार्य बहुत आशाजनक है और यह सम्भावना की जा सकती है कि अन्ततोगत्वा वह इस पर नियन्त्रण स्थापित कर असैनिक जनता का अनावश्यक विनाश और विध्वंस से परित्राण कर सकेगा।

घायलों तथा मृत व्यक्तियों के साथ व्यवहार (Treatment of wounded and dead persons) —१८६४ से पहले पश्चिमी जगत् में इस विषय में कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून या प्रथाय नहीं थी।[12] एक स्विस नागरिक जीन हनरी डूनैण्ट (Jeen Henry Dunant) ने १८५९ में आस्ट्रिया और इटली के सोलफरिनो के युद्ध में आहत सैनिकों की भीषण दुर्दशा देखी, हजारों घायल व्यक्ति चिकित्सा के अभाव में तड़पते हुए बुरी तरह से मर गए, जबकि उपयुक्त चिकित्सा द्वारा इनकी प्राणरक्षा सम्भव थी। १८६१ और १८६३ में इस विषय में दो पुस्तिकाये प्रकाशित करके उसने सभ्य जगत्

---

११. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २६६

१२. घायलों की चिकित्सा के सम्बन्ध में प्राचीन भारत के कुछ नियम इस प्रकार थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र (१०।३) में कहा गया है कि चिकित्सकगण चिकित्सा के शस्त्र, यन्त्र, औषध, तैल आदि स्नेह द्रव्य और घावों पर बांधने के लिए पट्टियाँ लेकर सेना के पृष्ठ भाग में सदा तैयार रहें (चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्य पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः)। महाभारत (शान्तिपर्व ९५।१३) में अपने राज्य में या घर में लाकर ऐसे शत्रु की चिकित्सा करने का विधान है, जिसके हथियार टूट चुके हैं, जो मुसीबत में पड़ा हो, जिसके धनुष की डोरी कट गयी हो या जिसका घोड़ा (वाहन) मर गया हो (भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः। चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत्। (उसके ठीक हो जाने पर उसे मुक्त कर देना चाहिए (वही, ९५।१४ निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातन।)

का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट किया। १८६५ मे इस विषय पर विचार के लिए स्विट्ज़रलैंड की सरकार की ओर से बारह राज्यों का एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन जेनेवा में बुलाया गया। इसने २२ अगस्त १८६४ को घायलो की चिकित्सा के नियमो के बारे मे एक जेनेवा अभिसमय (Convention) बनाया। १८६६ के हेग सम्मेलन ने इसके सशोधन के लिए स्विट्ज़रलैंड की सरकार से एक नया सम्मेलन बुलाने की प्रार्थना की। पैंतीस राज्यों के इस सम्मेलन ने ६ जुलाई १६०६ को एक सशोधित जेनेवा अभिसमय तैयार किया। प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभव से इसमे भी सशोधन की आवश्यकता अनुभव हुई। १ जुलाई १६२६ को ४७ राज्यो के प्रतिनिधियो ने इसका समयानुकूल सशोधन किया तथा २६ जुलाई को ३३ राज्यो ने नए समझौते पर हस्ताक्षर किये। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसमें पुन समयानुकूल सशोधन करने के लिए राज्यो का एक नया सम्मेलन बुलाया गया और १२ अगस्त १६४६ को इस विषय के नए जेनेवा अभिसमय को स्वीकार किया गया। यह १८६४, १६०६, १६२६ के अभिसमयो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, विस्तृत और विशद है। इसकी मुख्य व्यवस्थायें निम्न-लिखित हैं:—

सेनाओ के साथ सरकारी तौर से सम्बद्ध सभी बीमार और घायल व्यक्तियो का सरक्षण और देखभाल होनी चाहिए, इसमे राष्ट्रीयता, लिंग, नस्ल, धर्म या राज-नीतिक विचारो के आधार पर कोई भेदभाव नही होना चाहिए। इन व्यक्तियों का प्राणहरण या इनके प्रति हिंसा का प्रयोग सर्वथा वर्जित है। यदि किसी युध्यमान पक्ष को पीछे हटाना पडे तो उसे अपने घायलो और बीमारो की सेवा शुश्रूषा के लिए चिकित्सा विभाग के व्यक्ति उनकी देखरेख के लिये पीछे छोड जाने चाहिएं। बीमार और घायल शत्रु के हाथ मे पड़ने पर, युद्धबन्दी समझे जाते हैं। प्रत्येक मुठभेड के बाद सेनापति का यह कर्तव्य है कि वह रणक्षेत्र का दौरा करके घायलो और मृतको को एकत्र करे तथा उनको लूट से तथा दुर्व्यवहार से सरक्षण प्रदान करे (अनुच्छेद १२—१६)। बीमारो और घायलो की चिकित्सा तथा शुश्रूषा का कार्य करने वाले गति-शील (Mobile) चिकित्सक दलों को तथा इनके आवास स्थानो को पूरी सुविधायें तथा सरक्षण प्रदान किया जाता है। किन्तु यदि ये शत्रु को हानि पहुँचाते हैं, सैनिको को आश्रय देते है, युद्धसामग्री को छिपाते हैं या जासूसी करते हैं, तो इनका सरक्षण समाप्त हो जाता है (अनुच्छेद २१ २२)। इनका सामान यदि शत्रु के हाथ मे पड जाय तो वह घायलो और बीमारो की सेवा के लिए सुरक्षित समझा जायगा। आहतो की सेवा, सग्रह तथा परिवहन मे तथा गतिशील चिकित्सालयो मे काम करने वाले व्यक्तियों तथा ऐसा कार्य करने वाली मान्यताप्राप्त सोसायटियो के कार्यकर्ताओं को पूरा सम्मान और सरक्षण दिया जाता है। ये अवध्य हैं, इन पर आक्रमण नहीं हो सकता। १६२६ के अभिसमय के अनुसार सेना के डाक्टर युद्धकर्ता देश के हाथ मे पड जाने पर बन्दी बना कर रोके जा सकते थे। किन्तु १६४६ के अभिसमय मे यह कहा गया है कि चिकित्सक वर्ग, पादरी तथा राष्ट्रीय रेडक्रास सोसायटियों के कार्यकर्ता, युद्ध-बन्दियो के स्वास्थ्य और आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये रोके जा

सकते हैं, किन्तु वे युद्धबन्दी नहीं समझे जायेंगे (अनुच्छेद २८)।

स्विट्ज़रलैंड के इस विषय में किये गये महत्वपूर्ण कार्य का स्वीकार करते हुए, उसके एक प्राचीन निशान—सफेद भूमि पर बने हुए लाल क्रास—को सेना की चिकित्सा सेवाओं का विशिष्ट चिह्न बना दिया गया। टर्की में यह चिह्न लाल शेर तथा ईरान में लाल सूर्य है। चिकित्सा सम्बन्धी सभी सेवाओं में सम्बन्ध रखने वाले सामान पर, झण्डों पर रणक्षेत्र में चिकित्सा कार्य में लगे व्यक्तियों की भुजाओं पर बाँधी जाने वाली पट्टियों पर यह निशान उपयुक्त सैन्य अधिकारी की स्वीकृति से अंकित किया जाना चाहिए। हस्पतालों की इमारतों पर लगे झण्डों पर लाल क्रास का चिह्न बना होना चाहिए (अनुच्छेद २२)। यह चिह्न सभी चिकित्सा करने वाले व्यक्तियों को धारण करना चाहिए। लाल क्रास (Red Cross) के इस चिह्न का शान्तिकाल में अथवा युद्धकाल में दुरुपयोग नहीं किया जा सकता।

रणक्षेत्र में मृत व्यक्तियों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यह व्यवस्था है कि इनके शरीरों को किसी प्रकार विकृत नहीं किया जाएगा, इनके साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं होगा, किन्तु विजेता द्वारा रणक्षेत्र में उचित रीति से दफनाया या जलाया जाएगा। १९४९ के जैनेवा अभिसमय के अनुच्छेद १५ के अनुसार प्रत्येक मुठभेड़ के बाद दोनों पक्षों को मृतकों की खोज करनी चाहिए और शवों को विकृत होने से बचाना चाहिये।

असैनिक बीमारों तथा घायलों की रक्षा के लिये दोनों पक्षों को अपने प्रदेश में ऐसे सुरक्षा क्षेत्र बनाने चाहिये, जहां इनको युद्ध के दुष्प्रभावों से रक्षा हो सके। इन क्षेत्रों में आहतों और बीमारों के साथ १५ वर्ष से कम आयु के बच्चों, बूढ़े व्यक्तियों, गर्भवती स्त्रियों तथा ७ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की माताओं को रखना चाहिए। रणक्षेत्र में इनकी रक्षा के लिये तटस्थीकृत (Neutralized) प्रदेश बनाये जा सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सुरक्षित स्थान पर ले जाने वाले हवाई जहाजों पर आक्रमण नहीं किया जा सकता। घायलों की चिकित्सा के लिये भेजी जाने वाली सामग्री, धार्मिक पूजा के लिये आवश्यक पदार्थों तथा १५ वर्ष से कम आयु के बच्चों, गर्भवती तथा प्रसूता स्त्रियों के लिये भेजे जाने वाले भोजन, द्रव्य, कपड़ा और शक्ति देने वाली दवाइयों के सब पार्सलों की ढुलाई निःशुल्क की जाती है।

युद्धबन्दी (Prisoners of War)—आरम्भ में युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं थे। उन्हें या तो मार डाला जाता था या देवताओं के आगे बलि चढ़ाया जाता था अथवा दास बनाया जाता था।[13] कई बार दोनों पक्षों में बन्दियों का विनिमय भी होता था। मध्ययुग की समाप्ति पर इनका वध और दास बनाना कम हो गया, किन्तु इनके साथ अपराधियों जैसा व्यवहार होता था और इन्हें पकड़ने वाले इनसे अधिक से अधिक लाभ कमाने का यत्न करते थे। इन्हें बन्दी बनाने वाले व्यक्ति इनके

---

१३. महाभारत के शान्तिपर्व (९६।४) में इस सम्बन्ध में यह उदार व्यवस्था पायी जाती है कि साल भर तक इसे दास रखने के बाद मुक्त कर दे और उसे अपना पुत्र समझे। संवत्सरं विप्रणयेत्तस्माज्जातः पुनर्भवेत्। नीलकण्ठ—विप्रणयेत्—दासोऽस्मीति वक्तुं शिक्षयेत्।

सम्बन्धियों से मोचनधन (Ransom) लेकर ही उसे मुक्त करते थे। यह प्रथा उस समय इतने व्यापक रूप में प्रचलित थी कि विभिन्न प्रकार के बन्दियों के मोचनधन की मात्रा लगभग निश्चित हो चुकी थी। ग्रोशियस ने लिखा है कि एक सामान्य सिपाही का मोचनधन उसके मासिक वेतन के तुल्य समझा जाता था। १७वी शती में युद्ध-बन्दियों के सम्बन्ध में यह प्रथा लुप्त होने लगी कि वे इन्हें पकड़ने वालों के अधिकार में समझे जाय। अब ये जिस राज्य की सेना द्वारा पकड़े जाते थे, उस राज्य के अधिकार में माने जाने लगे। किन्तु अभी तक युद्धबन्दी क्रूर व्यवहार का पात्र और अपराधी माने जाते थे। १८वी शताब्दी से शनैः शनैः यह सिद्धान्त सर्वमान्य होने लगा कि युद्ध में सैनिकों को बन्दी बनाने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि वे भागकर अपनी सेना में वापिस न जा सकें और पुनः शस्त्र न धारण कर सकें। उनका बन्दीकरण अपराधों के लिये दण्डित किये जाने वाले व्यक्तियों के कारावास से सर्वथा भिन्न है।[१] १७८५ में प्रशिया तथा स० रा० अमरीका में हुई सधि में सर्वप्रथम इनके साथ उचित बर्ताव की बात स्वीकार की गई।[१०] इन्हें कैदियों के जेलखानों से भिन्न स्वास्थ्यप्रद स्थानों में बन्द करने, बेड़िया न पहनाने, व्यायाम तथा उत्तम भोजन की सुविधा देने पर बल दिया गया। १९वी शताब्दी में यह सिद्धान्त सामान्य रूप से स्वीकार किया जाने लगा कि युद्धबन्दियों के साथ विजेता को वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा वह अपनी सेनाओं के सैनिकों के साथ करता है। हेग के १९०७ के अभिसमय में सैनिकों के बन्दीकरण के सम्बन्ध में विशद नियम बनाये गये। प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभवों का लाभ उठाते हुए ४७ राज्यों के प्रतिनिधियों ने युद्धबन्दियों के साथ व्यवहार पर नया अभिसमय तैयार किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पुनः इन नियमों के संशोधन की आवश्यकता अनुभव की गई, स्विस सरकार की प्रार्थना पर २१ अप्रैल से १२ अगस्त १९४९ तक इन समस्याओं पर विभिन्न राज्यों के सम्मेलन ने विचार किया तथा युद्धबन्दियों के बर्ताव (Treatment of Prisoners of War) पर एक नया अभिसमय स्वीकार किया। इसकी प्रमुख व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं —

इस अभिसमय के आरम्भ में ही यह कहा गया है कि यह घोषित युद्धों के अतिरिक्त, इस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के सभी सशस्त्र संघर्षों पर लागू होगा, भले ही उनमें किसी एक पक्ष द्वारा युद्ध की स्थिति (Status of War) न मानी गई हो (अनुच्छेद २)। इसमें यह व्यवस्था की गई है कि उन सभी व्यक्तियों के साथ जाति, वर्ण, धर्म, लिंग, जन्म सम्पत्ति आदि के आधार पर कोई भेदभाव न करते हुए सब अवस्थाओं में मानवीय व्यवहार किया जायगा, जो लड़ाई में कोई भाग नहीं ले रहे, जिन्होंने अपने हथियार डाल दिये हैं या जो बीमारी में घावों से अथवा अन्य किन्हीं कारणों से लड़ने में असमर्थ हैं। ऐसे व्यक्तियों के शरीर के साथ किसी भी समय और किसी भी स्थान पर निम्नलिखित कार्य सर्वथा वर्जित हैं — (क) इनका प्राणहरण तथा शरीर की हिंसा, सब प्रकार की हत्या, अंगकर्त्तन, क्रूर बर्ताव तथा यातना

१०. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० २६८

(Torture) देना, (ख) शरीर बन्धक (Hostage) बनाना, (ग) वैयक्तिक सम्मान को हानि पहुँचाना, अपमानजनक व्यवहार करना, (घ) सभ्य राज्यों द्वारा आवश्यक समझी जाने वाली न्यायिक (Judicial) गारण्टियाँ प्रदान करने वाले तथा नियमित रूप से बनाए गए न्यायालयों द्वारा निर्णय किये जाने से पूर्व इन्हें दण्ड देना और ऐसे दण्ड क्रियान्वित करना।

इस अभिसमय के अनुच्छेद ४ मे निम्नलिखित वर्गों के व्यक्तियों को युद्धबन्दी माना गया है—(१) संघर्ष करने वाले पक्षो मे किसी एक पक्ष की सशस्त्र सेनाओं के सदस्य, नागरिक सेना (Militia) के तथा स्वयंसेवक दलो के सदस्य। (२) प्रतिरोध आन्दोलन (Resistance movement) करने वाले तथा अन्य स्वयंसेवक दलों के सदस्य, बशर्ते कि इनके सदस्यो का नेतृत्व किसी उत्तरदायी व्यक्ति द्वारा होता हो, ये दूर से पहचाना जाने वाला निश्चित चिह्न धारण करते हो, शस्त्रों को खुले रूप मे धारण करते हो तथा युद्ध के कानूनों और प्रथाओं के अनुसार युद्ध का संचालन करते हो। (३) इन्हे बन्दी बनाने वाली शक्ति द्वारा न स्वीकार की जाने वाली सरकार या शासनसत्ता के प्रति निष्ठा रखने वाली नियमित सेनाओं के सदस्य। (४) सशस्त्र सेनाओं का अनुगमन करने वाले रसद सामग्री देने वाले ठेकेदार, युद्ध के सम्वाददाता, सेनाओं की देखभाल करने वाले नौकर तथा मजदूर। (५) व्यापारिक जहाजों का नाविक वर्ग तथा असैनिक वायुयानों के चालक और अन्य कर्मचारी। (६) अनधिकृत प्रदेश के ऐसे निवासी, जो शत्रु के आने पर स्वयमेव उसका प्रतिरोध करने के लिए हथियार उठाते है तथा जो नियमित सेना का अंग नही है। युद्धबन्दी होने के लिए इनका खुले रूप मे शस्त्र धारण करना तथा युद्ध के नियमों का पालन करना आवश्यक है। युद्धबन्दियो के सम्बन्ध मे मौलिक सिद्धान्त यह है कि उनके साथ सदैव मानवीय व्यवहार किया जाना चाहिए। अतएव यह व्यवस्था की गई है कि बन्दी बनाने वाली शक्ति को कोई भी ऐसा कार्य नही करना चाहिये, जिससे बन्दी की मृत्यु हो या उसके स्वास्थ्य को हानि पहुँचे। बन्दियो को चिकित्सा सम्बन्धी अथवा वैज्ञानिक परीक्षण करने का विषय नही बनाया जा सकता है। स्थानीय जनता के कुतूहल हिंसा, रोष, डराने या अपमान से उनकी रक्षा की जानी चाहिये। प्रत्यपहार (Reprisals) के आधार पर उनसे कोई दुर्व्यवहार नही किया जा सकता। सभी परिस्थितियो मे उनके शरीर को कोई क्षति नही पहुँचानी चाहिये। स्त्रियों के साथ आदर का व्यवहार होना चाहिए। बन्दियो को अपने नागरिक दर्जे के कारण प्राप्त अधिकारों के पूर्ण उपभोग का अधिकार है। इसमे बन्दियो के स्वास्थ्य की देखभाल और चिकित्सा की पूरी जिम्मेवारी, उन्हे बन्दी बनाने वाले राज्य की है। बन्दी बनाये जाने पर प्राय इनमे सैनिक सूचना प्राप्त करने का यत्न किया जाता है और इसे प्राप्त करने के लिए इन पर बड़ा प्रकार का दबाव डाला जाता है। किन्तु उपयुक्त अभिसमय के अनुसार इनसे केवल इनके नाम, उपनाम, सैनिक पद, जन्मतिथि, सेना तथा रेजिमेंट के नम्बर और नम्बर की सूचना प्राप्त की जा सकती है। सूचना प्राप्त करने के लिए इन्हे कोई शारीरिक या मानसिक यातना नही दी जा सकती। इन्हे हथियारो, सैनिक सामग्री और कागजात के अतिरिक्त

सम्बन्धियो से मोचनधन (Ransom) लेकर ही उसे मुक्त करते थे। यह प्रथा उस समय इतने व्यापक रूप मे प्रचलित थी कि विभिन्न प्रकार के बन्दियो के मोचनधन की मात्रा लगभग निश्चित हो चुकी थी। ग्रोशियस ने लिखा है कि एक सामान्य सिपाही का मोचनधन उसके मासिक वेतन के तुल्य समझा जाता था। १७वी शती मे युद्ध-बन्दियो के सम्बन्ध मे यह प्रथा लुप्त होने लगी कि वे इन्हे पकडने वालो के अधिकार मे समझे जाय। अब ये जिस राज्य की सेना द्वारा पकडे जाते थे, उस राज्य के अधिकार मे माने जाने लगे। किन्तु अभी तक युद्धबन्दी क्रूर व्यवहार का पात्र और अपराधी माने जाते थे। १८वी शताब्दी से शनैः शनैः यह सिद्धान्त सर्वमान्य होने लगा कि युद्ध मे सैनिको को बन्दी बनाने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि वे भागकर अपनी सेना मे वापिस न जा सके और पुनः शस्त्र न धारण कर सके, उनका बन्दीकरण अपराधो के लिये दण्डित किये जाने वाले व्यक्तियो के कारावास से सर्वथा भिन्न है। १७८५ मे प्रशिया तथा स० रा० अमरीका मे हुई सधि मे सवप्रथम इनके साथ उचित बर्ताव की बात स्वीकार की गई,[१०] इन्हे कदियो के जेलखानो से भिन्न स्वास्थ्यप्रद स्थानो मे बन्द करने, बेडियाँ न पहनाने, व्यायाम तथा उत्तम भोजन की सुविधा देने पर बल दिया गया। १९वी शताब्दी मे यह सिद्धान्त सामान्य रूप से स्वीकार किया जाने लगा कि युद्धबन्दियो के साथ विजेता को वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा वह अपनी सेनाओ के सैनिको के साथ करता है। हेग के १९०७ के अभिसमय मे सैनिको के बन्दीकरण के सम्बन्ध मे विशद नियम बनाये गये, प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभवो का लाभ उठाते हुए ४७ राज्यो के प्रतिनिधियो ने युद्धबन्दियो के साथ व्यवहार पर नया अभिसमय तैयार किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पुनः इन नियमों के सशोधन की आवश्यकता अनुभव की गई, स्विस सरकार की प्रार्थना पर २१ अप्रैल से १२ अगस्त १९४९ तक इन समस्याओ पर विभिन्न राज्यो के सम्मेलन ने विचार किया तथा युद्धबन्दियों के बर्ताव (Treatment of Prisoners of War) पर एक नया अभिसमय स्वीकार किया। इसकी प्रमुख व्यवस्थायें निम्नलिखित है —

इस अभिसमय के आरम्भ मे ही यह कहा गया है कि यह घोषित युद्धो के अतिरिक्त, इस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यो के सभी सशस्त्र सघर्षो पर लागू होगा, भले ही उनमे किसी एक पक्ष द्वारा युद्ध की स्थिति (Status of War) न मानी गई हो (अनुच्छेद २)। इसमे यह व्यवस्था की गई है कि उन सभी व्यक्तियो के साथ जाति, वर्ण, धर्म, लिंग, जन्म, सम्पत्ति आदि के आधार पर कोई भेदभाव न करते हुए सब अवस्थाओ मे मानवीय व्यवहार किया जायगा, जो लडाई मे कोई भाग नही ले रहे, जिन्होने अपने हथियार डाल दिये है या जो बीमारी से, घावो से अथवा अन्य किन्ही कारणो से लडने मे असमर्थ है। ऐसे व्यक्तियो के शरीर के साथ किसी भी समय और किसी भी स्थान पर निम्नलिखित कार्य सर्वथा वर्जित हैं — (क) इनका प्राणहरण तथा शरीर की हिंसा, सब प्रकार की हत्या, अगकर्त्तन, क्रूर बर्ताव तथा यातना

१०. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० २६८

(Torture) देना, (ख) शरीर बन्धक (Hostage) बनाना, (ग) वैयक्तिक सम्मान को हानि पहुँचाना, अपमानजनक व्यवहार करना, (घ) सभ्य राज्यों द्वारा आवश्यक समझी जाने वाली न्यायिक (Judicial) गारण्टियाँ प्रदान करने वाले तथा नियमित रूप से बनाए गए न्यायालयों द्वारा निर्णय किये जाने से पूर्व इन्हें दण्ड देना और ऐसे दण्ड क्रियान्वित करना।

इस अभिसमय के अनुच्छेद ४ में निम्नलिखित वर्गों के व्यक्तियों को युद्धबन्दी माना गया है—(१) संघर्ष करने वाले पक्षों में किसी एक पक्ष की सशस्त्र सेनाओं के सदस्य, नागरिक सेना (Militia) के तथा स्वयंसेवक दलों के सदस्य। (२) प्रतिरोध आन्दोलन (Resistance movement) करने वाले तथा अन्य स्वयंसेवक दलों के सदस्य, बशर्ते कि इनके सदस्यों का नेतृत्व किसी उत्तरदायी व्यक्ति द्वारा होता हो, ये दूर से पहचाना जाने वाला निश्चित चिह्न धारण करते हों, शस्त्रों को खुले रूप में धारण करते हों तथा युद्ध के कानूनों और प्रथाओं के अनुसार युद्ध का संचालन करते हों। (३) इन्हें बन्दी बनाने वाली शक्ति द्वारा न स्वीकार की जाने वाली सरकार या शासनसत्ता के प्रति निष्ठा रखने वाली नियमित सेनाओं के सदस्य। (४) सशस्त्र सेनाओं का अनुगमन करने वाले रसद सामग्री देने वाले ठेकेदार, युद्ध के सम्वाददाता, सेनाओं की देखभाल करने वाले नौकर तथा मजदूर। (५) व्यापारिक जहाजों का नाविक वर्ग तथा असैनिक वायुयानों के चालक और अन्य कर्मचारी। (६) अनधिकृत प्रदेश के ऐसे निवासी, जो शत्रु के आने पर स्वयमेव उसका प्रतिरोध करने के लिए हथियार उठाते हैं तथा जो नियमित सेना का अंग नहीं हैं। युद्धबन्दी होने के लिए इनका खुले रूप में शस्त्र धारण करना तथा युद्ध के नियमों का पालन करना आवश्यक है। युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में मौलिक सिद्धान्त यह है कि उनके साथ सदैव मानवीय व्यवहार किया जाना चाहिए। अतएव यह व्यवस्था की गई है कि बन्दी बनाने वाली शक्ति को कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे बन्दी की मृत्यु हो या उसके स्वास्थ्य को हानि पहुँचे। बन्दियों को चिकित्सा सम्बन्धी अथवा वैज्ञानिक परीक्षण करने का विषय नहीं बनाया जा सकता है। स्थानीय जनता के कुतूहल हिंसा, रोष, डराने या अपमान से उनकी रक्षा की जानी चाहिये। प्रत्यपहार (Reprisals) के आधार पर उनसे कोई दुर्व्यवहार नहीं किया जा सकता। सभी परिस्थितियों में उनके शरीर को कोई क्षति नहीं पहुँचानी चाहिये। स्त्रियों के साथ आदर का व्यवहार होना चाहिए। बन्दियों को अपने नागरिक दर्जे के कारण प्राप्त अधिकारों के पूर्ण उपभोग का अधिकार है। इसमें बन्दियों के स्वास्थ्य की देखभाल और चिकित्सा की पूरी जिम्मेवारी, उन्हें बन्दी बनाने वाले राज्य की है। बन्दी बनाये जाने पर प्रायः इनसे सैनिक सूचना प्राप्त करने का यत्न किया जाता है और इसे प्राप्त करने के लिए इन पर कई प्रकार का दबाव डाला जाता है। किन्तु उपर्युक्त अभिसमय के अनुसार इनसे केवल इनके नाम, उपनाम, सैनिक पद, जन्मतिथि, सेना तथा रेजिमेंट के नम्बर और नम्बर की सूचना प्राप्त की जा सकती है। सूचना प्राप्त करने के लिए इन्हें कोई शारीरिक या मानसिक यातना नहीं दी जा सकती। इन्हें हथियारों, सैनिक सामग्री और कागजात के अतिरिक्त

अपनी सभी वैयक्तिक वस्तुएँ रखने का अधिकार है। उनसे उनका रुपया सैनिक अधिकारी के आदेश से छीना जा सकता है, किन्तु इसकी रसीद उन्हें दी जाती है और यह उनके हिसाब में जमा रहता है। बन्दियों को Penitentiaries में नहीं रखा जा सकता, इन्हें स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयुक्त स्थानों में रखा जाना चाहिए। इनके रहने की व्यवस्था राज्य के अन्य सैनिकों की भाँति होनी उचित है। इनको उचित मात्रा में स्वास्थ्यप्रद भोजन, गर्मी रहित तथा सुप्रकाशित निवास स्थान मिलने चाहिएँ। स्त्रियों के निवास की व्यवस्था पृथक् होनी चाहिये। चिकित्सा का उत्तम प्रबन्ध, धार्मिक विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता, बौद्धिक विकास एवं मनोरंजनों के साधनों और खेलकूद के सामान की व्यवस्था होनी चाहिये। सब बन्दियों के पास इस अभिसमय की प्रतिलिपि होनी चाहिये और कैम्प में कार्य करने वाले व्यक्तियों को इसकी व्यवस्थाओं का पूरा ज्ञान होना चाहिये।

१९४९ के अभिसमय में बन्दियों को काम पर लगाने के सम्बन्ध में विस्तृत व्यवस्थायें की गई हैं। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बन्दियों से ही काम लिया जा सकता है। अधिकारी-बन्दियों को किसी कार्य के लिये बाधित नहीं किया जा सकता। अन्य बन्दियों से खेती में, कच्चे माल के उत्पादन में, रासायनिक, धातवीय तथा मशीनों के उद्योगों से भिन्न अन्य उद्योगों में तथा सैनिक उद्देश्य से न बनाए जाने वाले सार्वजनिक निर्माण कार्य में काम लिया जा सकता है। उन्हें किसी अस्वास्थ्यप्रद, सुरंग आदि हटाने के खतरनाक काम में नहीं लगाया जा सकता। उन्हें दिन के मध्य में एक घण्टे के विश्राम का तथा सप्ताह में एक दिन की छुट्टी का अधिकार है। उन्हें काम के लिए अच्छी मजदूरी मिलनी चाहिये। यदि काम करते हुए उन्हें कोई चोट लगती है तो उन्हें इसका वही हर्जाना मिलना चाहिये जो उन्हें अपने राज्य के कानून के अनुसार मिलता।

बन्दी होने के बाद अथवा नजरबन्दी के कैम्प में पहुँचने के एक सप्ताह के भीतर प्रत्येक बन्दी को अपने परिवार को पत्र लिखने का अधिकार है। वह एक महीने में दो लिफाफे तथा चार कार्ड भेज सकता है। उसे तार भेजने का, भोजन, कपड़े, दवाइयों, धार्मिक वस्तुओं के पार्सल पाने का अधिकार है। उसके पत्रों और पार्सलों पर डाक-खाने की टिकट या डाक की दर नहीं लगती। उसके पत्रों और पार्सलों को देखा जा सकता है, किन्तु रोका नहीं जा सकता। बन्दी अपने बन्धन की अवस्थाओं के बारे में शिकायतें कर सकते हैं। अनुशासन भंग करने पर इन्हें सैनिक न्यायालय दण्डित कर सकते हैं, किन्तु इन्हें शारीरिक कष्ट नहीं दिया जा सकता, केवल मासिक वेतन में आधी राशि तक के जुर्माने किये जा सकते हैं, इनसे विशेष सुविधायें छीनी जा सकती हैं और कारावास में रखने का ३० दिन तक का दण्ड दिया जा सकता है।

युद्धबन्दी के बन्धन (Captivity) की समाप्ति निम्न पाँच प्रकारों से हो सकती है—

(१) युद्ध के समय में सीधा स्वदेश प्रत्यावर्तन (Repatriation)—प्रायः बहुत सख्त बीमार तथा अत्यधिक घायल बन्दियों को युद्ध के बीच में ही स्वदेश पहुँचा

दिया जाता है, क्योकि शत्रु-पक्ष को इनके शीघ्र ही युद्ध मे भाग लेने की कोई आशका या सम्भावना नही होती तथा इन्हे लौटाने मे वह इनकी चिकित्सा की भारी जिम्मेवारी से मुक्त हो जाता है। जिन बन्दियो के एक साल मे ठीक होने की सम्भावना न हो, जिनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य स्थायी रूप से खराब हो गया हो, उनको अवश्य स्वदेश लौटाना चाहिए (अनुच्छेद १०९)।

(२) युद्ध के समय के लिए तटस्थ देशो मे भेजना—जिन बन्दियो के एक साल मे स्वस्थ होने की आशा होती है अथवा निरन्तर बन्धन मे रहने के कारण जिनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को गम्भीर आघात पहुँच रहा होता है, उन्हे तटस्थ देशो मे भेजा जाता है। ठीक होने पर इनके तटस्थ देशो मे रहने या स्वदेश मे लौटने का प्रश्न दोनो राज्यो के पारस्परिक समझौते द्वारा तय होता है (अनुच्छेद ११०)। युध्यमान तथा तटस्थ देशो के पारस्परिक समझौते से भी युद्धबन्दी तटस्थ देशो मे भेजे जा सकते हैं।

(३) पलायन—युद्धबन्दी पलायन द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

(४) मृत्यु—युद्धबन्दी की मृत्यु होने पर इसकी सूचना 'युद्धबन्दी सूचना विभाग' को यथासम्भव शीघ्र ही देनी चाहिए। इसमे उसकी मृत्यु के कारणो का तथा उसके गाडे जाने के स्थान का पूरा विवरण दिया जाता है, बन्दियों का दाह सस्कार या दफनाना उनके धार्मिक विश्वासो के अनुकूल तथा उनकी इच्छा के अनुसार होना चाहिए। यदि उनकी मृत्यु किसी सन्तरी द्वारा अथवा किसी अन्य युद्धबन्दी द्वारा हुई हो तो बन्दी बनाने वाली शक्ति द्वारा इस मामले की सरकारी जाँच की जानी चाहिए।

(५) युद्ध की समाप्ति पर बन्दियों की मुक्ति तथा स्वदेश प्रत्यावर्त्तन—१९४९ के अभिसमय मे इस विषय मे नवीन एव विस्तृत व्यवस्थाएं की गई है। इसमे 'क्रियाशील शत्रुता' (Active Hostilities) की समाप्ति पर बन्दियो के स्वदेश लौटाने के विशेष नियम इसलिए बनाने की आवश्यकता पडी कि द्वितीय विश्वयुद्ध मे वास्तविक लडाई बन्द होने तथा शान्ति-सन्धियाँ होने के बीच कई वर्षो का समय लग गया। इस समय युद्ध-बन्दियों के स्वदेश प्रत्यावर्त्तन का व्यय दोनो पक्षो पर डाला जाता है और बन्दियो को उनकी सब बहुमूल्य वस्तुयें तथा धनराशि लौटा दी जाती है। वे अपने साथ अपना वैयक्तिक सामान ले जा सकते है। इसके अनुच्छेद ११८-१९ मे सब बन्दियो को उन राज्यो को लौटाने का वर्णन है, जिनकी ओर से वे लडाई मे सम्मिलित हुए थे।

कोरिया युद्ध की समाप्ति पर युद्धबन्दियो के प्रत्यावर्त्तन की समस्या बडे उग्ररूप मे उपस्थित हुई। इसका कारण कम्युनिस्टो की यह माँग थी कि जेनेवा अभिसमय के अनुच्छेद ११८-१९ के आधार पर उत्तरी कोरिया के सभी बन्दियो को बिना किसी शर्त के सामूहिक रूप मे उत्तरी कोरिया वालो को वापिस किया जाय। किन्तु स० रा० सघ के प्रतिनिधि का यह कहना था कि उत्तरी कोरिया की ओर से अनेक व्यक्ति अपनी इच्छा के विरुद्ध, जबरदस्ती सघ की फौजो के साथ लडने को भेजे गए है, उन्हे यह भय है कि यदि उन्हे स्वदेश वापिस भेजा जायगा तो वहाँ उनके साथ दुर्व्यवहार होगा, वे स्वदेश लौटने के लिए तैयार नहीं हैं, उन्हे उनकी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार लौटाना न्याय के

सिद्धान्तो के प्रतिकूल है, जेनेवा का उपर्युक्त अभिसमय बनाने वालो ने ऐसी असाधारण स्थिति की कल्पना नही की थी अतः इस अवस्था मे उस समझौते का पालन नही किया जा सकता था।

दोनों पक्षो के विरोधी दृष्टिकोण से इसमे प्रबल गतिरोध उत्पन्न हो गया। इसे दूर करने के लिए भारत ने नवम्बर १९५२ में जनरल असेम्बली की राजनीतिक समिति मे दोनो पक्षो द्वारा स्वीकार किया जा सकने वाला एक प्रस्ताव पेश किया, इसमें यह कहा गया था कि बन्दियो की मुक्ति जेनेवा अभिसमय के अनुसार होगी, किन्तु इसमे कैदियो के प्रत्यावर्त्तन को नियन्त्रित करने या रोकने मे शक्ति का प्रयोग नही किया जायगा। २७ जुलाई १९५३ के युद्धविराम समझौते मे इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह कहा गया कि स्वदेश लौटने की इच्छा न रखने वाले युद्धबन्दियो को एक तटस्थ आयोग को सौंपा जायगा। स० रा० सघ द्वारा नियत किये गए तटस्थ आयोग के सभापति भारत के जनरल थिमैया थे, इस आयोग ने युद्धबन्दियो से पूछताछ करके स्वदेश लौटने के इच्छुक व्यक्तियो का ही प्रत्यावर्त्तन होने दिया। उस समय यह प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण था कि जापानी सरकार का यह कहना था कि रूस ने उसके युद्धबन्दियो को साइबेरिया मे रोककर उनसे बडी प्रतिकूल परिस्थितियो मे काम लिया है, अवर्णनीय कष्ट एव यातनाये भोगते हुए लाखों जापानी कैदी साइबेरिया की ठण्ड मे समाप्त हो गए हैं, उनके ३,४०,००० से ३,७०,००० तक युद्धबन्दियो के सम्बन्ध मे कोई पता नही लग रहा था।

सर राबर्ट फिलिमोर के मतानुसार निम्नलिखित प्रकार के व्यक्ति युद्धबन्दी नही माने जा सकते (क) किसी राजा या सेनापति के आदेशो के बिना लूटपाट करने वाले (Marauders) व्यक्तियो के दल, (ख) शत्रु की सेनाओं का परित्याग करने वाले व्यक्ति (Deserters), (ग) जासूस। शत्रु के लिए सैनिक दृष्टि से उपयोगी सूचनाये प्राप्त करने की दृष्टि से जासूसी करने वाले गुप्तचर सैनिक होने पर भी युद्धबन्दी नही समझे जा सकते।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शत्रु के युद्धबन्दियो के साथ मानवीयता का तथा अपने सैनिकों जैसा बर्ताव करने का सिद्धान्त पिछली शताब्दी से ही पश्चिम मे सर्वमान्य होने लगा है। किन्तु भारत म प्राचीन काल से इनके साथ उत्तम व्यवहार पर बल दिया जाता रहा है। महाभारतकार ने कहा है कि विजेता जब विजित के साथ क्षमा का व्यवहार करता है तो उसकी कीर्ति बढती है।[१५] युद्धबन्दियों के सम्बन्ध मे उसका मन्तव्य है कि इन पर क्रोध नही करना चाहिए, इनका विनाश नही करना चाहिए, किन्तु इनका नियन्त्रण अपने पुत्र की भाँति करना चाहिए।[१६] युद्धबन्दियो के सम्बन्ध मे इससे ऊँचे आदर्श की कल्पना नही की जा सकती।

---

१५. महाभारत शान्तिपर्व १०२।३० विजित्य क्षममानस्य यशो राज्ञो विवर्धते।

१६. महाभारत १०२।३२ अक्रोधेनाविनाशेन नियन्तव्याः स्वपुत्रवत्।

तेईसवाँ अध्याय

समुद्री युद्ध के नियम

(Laws of Maritime Warfare)

समुद्री युद्ध के उद्देश्य (Objects of Maritime Warfare)—स्थलीय और समुद्री दोनो प्रकार के युद्धो का मुख्य प्रयोजन शत्रु को परास्त करना है, किन्तु दोनो के उद्देश्यों (objects) मे कुछ अन्तर है। स्थल युद्ध का मुख्य उद्देश्य शत्रु की पराजय तथा शत्रु के प्रदेश पर अधिकार करना होता है किन्तु समुद्री युद्ध का उद्देश्य न केवल शत्रु के सामरिक और व्यापारिक जहाजो को नष्ट करना अपितु शत्रु को समुद्र से कोई लाभ न उठाने देना है। ओपेनहाइम के मतानुसार समुद्री युद्ध के उद्देश्य (objects) निम्नलिखित हैं[1]—शत्रु की नौसेना को परास्त करना शत्रु के व्यापारिक बेडे का विध्वस, शत्रु की तटवर्ती किलेबन्दियों और समुद्रतट की सामरिक बस्तियों का विनाश, शत्रुदेश के तट के साथ अन्य देशो का सम्पर्क समाप्त करना शत्रु के लिये विनिषिद्ध (Contraband) रणसामग्री की ढुलाई को तथा अतटस्थ सेवा (Unneutral service) को रोकना, स्थल पर की जाने वाली सैनिक कार्यवाहियो को समुद्र द्वारा सहायता पहुँचाना, अपने समुद्री तट तथा व्यापारिक बेड़े की रक्षा। स्थलीय युद्ध मे वैयक्तिक सम्पत्ति छीनी नही जा सकती, किन्तु समुद्री युद्ध मे शत्रु के जहाजो पर लदी हुई वैयक्तिक सम्पत्ति को तथा अतटस्थ सेवा मे लगे तटस्थ जहाजों को जब्त किया जा सकता है। अत स्थलीय और समुद्री युद्ध के नियमो मे पर्याप्त अन्तर है। स्थलीय युद्ध मे शत्रु द्वारा लडाई के अनेक लक्ष्य हो सकते है किन्तु समुद्री युद्ध मे केवल छ लक्ष्य है—शत्रु के सार्वजनिक और वैयक्तिक जहाज शत्रुदेश के व्यक्ति शत्रु का समुद्री जहाजो द्वारा ले जाया जाने वाला माल, शत्रु का समुद्रतट, परिवेष्टन तोडने का प्रयत्न करने वाले तटस्थ जल पोत, विनिषिद्ध पदार्थ ले जाने वाले तथा अतटस्थ सेवा करने वाले तटस्थ जलपोत।

समुद्री युद्ध के नियमो का विकास (Development of the Laws of Maritime Warfare)—प्राचीन भारत मे समुद्री युद्ध के कुछ नियमो का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र (२।२८) मे मिलता है। इनके अनुसार हिंसा कार्य मे लगी समुद्री डाकुओं की नौकाओं को नष्ट कर देना चाहिये, शत्रु के देश को जाने वाली तथा बन्दरगाह के नियमो को भग करने वाली नौकाओ का विध्वस होना चाहिये, दिग्भ्रम अथवा तूफान से भटक कर आई नौका की रक्षा पिता की तरह करनी चाहिये नौकाओं के घाटो और बन्दरगाहो पर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि उन पर किसी शत्रुराज्य की नौका न

---

१. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, भा० २, पृ० ४५८

टिक सके।[1] परायी स्त्री, कन्या या मित्र का अपहरण करने वाले ············अग्नि जैसे विस्फोटक पदार्थ, शस्त्र और विष ले जाने वाले · लम्बे यात्री, बिना मुद्रा के नाव पर यात्रा करने वाले व्यक्ति को अपराधी के रूप मे पकड लेना चाहिये।[2]

पश्चिमी जगत् म पहले युद्ध के समय समुद्र पर शत्रु की वैयक्तिक (Private) और सार्वजनिक (Public) दोना प्रकार की सम्पत्ति जब्त एव राज्यसात् की जा सकती थी। उस समय शत्रु के जहाजो पर लदा हुआ तटस्थ देशो का माल शत्रु का माना जाता था और शत्रु का माल ढोने वाले तटस्थ देशो के जहाज शत्रु के जलपोत समझे जाते थे। १४वी शताब्दी मे कासोलेटो डेल मेयर (देखिये ऊपर पृ० ३३) ने इस विषय मे कुछ स्पष्ट और सुन्दर नियम बनाये, इनके अनुसार एक युध्यमान देश शत्रु के वैयक्तिक माल और जहाज को जब्त कर सकता था, किन्तु तटस्थ देशो के माल और जहाज के सम्बन्ध मे कुछ अपवाद माने गये। शत्रु का जहाज राज्यसात् किया जा सकता था, किंतु उस पर लदा हुआ तटस्थ देश का माल उनके स्वामियो को वापिस करना पडता था। इसी प्रकार तटस्थ देशों के जलपोतों पर लदा शत्रु का माल जब्त हो सकता था, किन्तु इन जहाजो को तटस्थ देशो को लौटाना पडता था। इन नियमो को इगलैड ने तो स्वीकार किया, किन्तु हालैड, फ्रास और स्पेन इनके प्रतिकूल आचरण करते रहे। १६वीं शताब्दी के मध्य मे क्रीमिया युद्ध के बाद पेरिस की घोषणा मे इन्हे स्वीकार किया गया (देखिये ऊपर पृ० ५०)। १६०० मे स० रा० अमरीका ने समुद्री युद्ध के नियमो की सहिता प्रकाशित की। १६०७ के **दूसरे हेग सम्मेलन** ने समुद्री युद्ध के निम्नलिखित पाँच विषयो पर **अभिसमय** (Conventions) तैयार किये—(क) युद्ध छिडने पर शत्रु के व्यापारिक जहाजो की स्थिति सम्बन्धी **छठा अभिसमय**, (ख) वणिकपोतो के रणपोतो मे परिवर्तनविषयक **सातवां अभिसमय**, (ग) स्वचालित अध समुद्री सस्पर्श सुरगो (Automatic submarine contact mines) सम्बन्धी **आठवां अभिसमय**, (घ) नौसेनाओ द्वारा बमवर्षाविषयक **नवां अभिसमय**, (ड) समुद्री युद्ध मे निग्रह (Capture) के अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्धविषयक **दसवां अभिसमय**। इन अभिसमयों के अनुसार समुद्री युद्ध के विषय मे प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय नियम निम्नलिखित हैं.—

शत्रु के जलपोतो पर आक्रमण और उनका अभिग्रहण (Attack on Enemy Ships and Seizure)—समुद्री युद्ध मे शत्रु के विरुद्ध हिसा के प्रयोग का सबसे बडा साधन उसके जलपोतो पर आक्रमण करना और इनको पकड लेना है, इससे शत्रु के जहाजो के साथ माल, उस पर लदा हुआ माल तथा उस पर सवार शत्रुजन भी आक्राता के हाथ मे पड जाते है, वह इन जहाजो को तथा माल को हथियाकर इनका आत्मसात्करण (Appropriation) कर सकता है तथा शत्रुजनो को युद्धबन्दी बना लेता

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।२८ हिंस्त्रिका निर्घा-येत्। अमित्रविषयातिगा पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च मूढवाताहतां तां पितेवानुगृह्णीयात्। बद्धतास्चैता काया राजद्विष्टकारिणा तरणभयात्।

३. वही—परस्य भार्यां कन्या वित्त वापहरन्त अग्नियोग विषहस्त दीर्घपथिकममुद्र चोपग्राहयेत्।

है। इस प्रकार वह शत्रु को गहरा धक्का पहुँचाता है। ओपेनहाइम के कथनानुसार कोई भी युध्यमान (Belligerent) पक्ष शत्रु के सभी रणपोतों (Men of War) तथा सार्वजनिक जलपोतों पर अपने रणपोतों द्वारा महासमुद्रों (High seas) में अथवा दोनों पक्षों के प्रादेशिक समुद्रों (Territorial waters, देखिये ऊपर पृ० २१०) में तुरन्त आक्रमण कर सकता है[4] और इस प्रकार हमला किये गए जहाज को प्रत्याक्रमण करने का पूरा अधिकार है। किन्तु शत्रु के वणिक्पोतों (Merchantmen) पर तभी आक्रमण *किया जाता है, जब वे उचित रीति से संकेत दिये जाने पर भी अपना निरीक्षण और तलाशी कराने से इन्कार करें।* शत्रु के वणिक्पोतों को यह अधिकार है कि वे ऐसी तलाशी देना स्वीकार न करें और अपनी रक्षा करें, किन्तु पेरिस की घोषणा के अनुसार इन पर आक्रमण करने का अधिकार केवल शत्रु के रणपोत को है। किसी युध्यमान पक्ष का कोई वणिक्पोत यदि शत्रु के सार्वजनिक या वैयक्तिक जहाज पर आक्रमण करे तो उसे समुद्री डाकू या जलदस्यु (Pirate) समझा जायगा और इनके नाविकों को युद्धबन्दी नहीं, किन्तु युद्धापराधी (War criminals) माना जायगा। शत्रु द्वारा आक्रमण होने पर वणिक्पोत को यह अधिकार है कि वह उस पर प्रत्याक्रमण करे और आवश्यकता होने पर उसका पीछा करे। *यदि वणिक्पोतों पर शत्रु बिना चेतावनी दिये आक्रमण करता है, तो इन्हें शत्रु के पोत द्वारा आक्रमण की प्रतीक्षा किये* बिना उस पर हमला करने का हक है। प्रथम विश्वयुद्ध में १९१५ में जब जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों के वणिक्पोतों को अपनी पनडुब्बियों द्वारा बिना चेतावनी के डुबाना शुरू किया तो मित्रराष्ट्रों के व्यापारिक पोतों के लिए यह सर्वथा वैध समझा जाने लगा कि वे इन्हें टक्कर मारकर (Ram) नष्ट कर दें। यद्यपि जुलाई १९१६ में ब्रूसेल्ज नामक जहाज के नायक फ्रियट (Fryatt) को जर्मन पनडुब्बी यू-३३ को इस प्रकार टक्कर लगाने के लिये मुकद्दमा चलाकर प्राणदण्ड दिया, किन्तु ओपेनहाइम की सम्मति में यह *न्यायालय द्वारा की गई हत्या (Judicial murder) के अतिरिक्त कुछ नहीं था।*[5]

युद्ध करने वाले देश अपने रणपोतों द्वारा शत्रु के निम्नलिखित प्रकार के जहाजों पर आक्रमण नहीं कर सकते —

(१) **चिकित्सालय पोत** (Hospital Ships)—१९४९ के हेग अधिनियमों के अनुसार चिकित्सा के मानवीय कार्य में संलग्न होने के कारण चिकित्सालय-पोतों (Hospital Ships) पर न तो आक्रमण हो सकता है और न ही इन्हें पकड़ा जा सकता है। ऐसे जहाजों पर पहचान के लिये रेडक्रास का चिह्न बना होता है। पहले विश्वयुद्ध में जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों के अनेक चिकित्सालय-पोतों पर आक्रमण करके इन्हें डुबाया था। *मित्रराष्ट्रों द्वारा इस अवैध कार्य के प्रतिवाद पर इसने यह उत्तर दिया था कि* चिकित्सालय-पोतों की पहचान बड़ी कठिन है तथा इनका उपयोग सैनिक प्रयोजनों के लिये होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान ने ऐसे अनेक पोत डुबाये थे। किन्तु यह

४. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ४६५-६

५. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ४६८

कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अवैध और अत्यन्त गर्हणीय है, क्योंकि इससे न केवल युद्ध मे आहत और बीमार व्यक्तियो का, किन्तु इनकी सेवा के पवित्र कार्य मे लगे हुए चिकित्सको तथा अन्य व्यक्तियो का हनन होता है।

(२) **धार्मिक, वैज्ञानिक या परोपकारी कार्यों मे संलग्न पोत** भी शत्रु के रणपोत द्वारा नही पकडे जा सकते, किन्तु यदि ये शत्रुतापूर्ण कार्य करते हैं तो इनकी यह उन्मुक्ति (Immunity) समाप्त हो जाती है (हेग के ११वें अभिसमय का ४था अनुच्छेद)।

(३) **युद्धबन्दियो के विनिमय** के कार्य मे लगे पोत (Cartel Ships) भी अनाक्रमणीय होते है।

(४) १९वी शती से समुद्री तट पर **मछली पकडने वाले जहाजों को** युध्यमान शत्रु के रणपोतो द्वारा आक्रमण और अधिग्रहण मे उन्मुक्त समझा जाता है। दूसरे हेग सम्मेलन के ११वें अभिसमय के तीसरे अनुच्छेद के अनुसार यह व्यवस्था की गयी है कि समुद्रतट से लगे हुए प्रदेश मे मछली पकडने वाली तथा स्थानीय व्यापार मे लगी हुई छोटी किश्तियाँ अपने सब सामान और उपकरणो के साथ शत्रु द्वारा नही पकडी जा सकती।

(५) कई बार समुद्री तूफान के कारण जहाजो को शत्रु के बन्दरगाह मे विवश होकर शरण लेनी पडती है, इस अवस्था मे कई उदाहरणो मे शत्रु के जहाजो के साथ बडी उदारता का व्यवहार किया गया है और उन्हे पकडा नही गया। १७४६ मे ग्रेट ब्रिटेन के स्पेन के साथ युद्ध के समय **एलिजाबेथ** नामक ब्रिटिश रणपोत को समुद्री तूफान से बचने के लिए हवाना के स्पेनिश बन्दरगाह मे शरण लेनी पडी, स्पेन ने इसे पकडने के स्थान पर मरम्मत की सुविधायें दी तथा बरमूडाज के टापू तक सुरक्षित रूप मे जाने दिया। १७९९ मे फ्रास और प्रशिया के युद्ध मे प्रशिया के एक वणिक्पोत डायना (Diana) को डन्कर्क के फ्रेंच बन्दरगाह मे शरण लेनी पडी, फ्रेंच नौसेना ने इसे यद्यपि पकड लिया, किन्तु फ्रेंच अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) ने इसे छोड दिया। ओपेनहाइम ने लिखा है[६] कि उपर्युक्त उदाहरण होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम ऐसे जहाजो को आक्रमण से मुक्ति नही प्रदान करता।

(६) १९०७ के छठे **हेग अभिसमय** के अनुसार निम्न प्रकार के वणिक्पोतों को शत्रु के आक्रमण से आंशिक उन्मुक्ति प्राप्त है—(क) युद्ध छिडने पर शत्रु के बन्दरगाहों मे विद्यमान तथा (ख) युद्ध छिडने से पहले पिछले बन्दरगाह से चले हुए तथा युद्ध की सूचना से अनभिज्ञ वणिक्पोत—क्रीमियन युद्ध शुरू होने पर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने रूस के जहाजो को ऐसी उन्मुक्ति प्रदान की थी। १८७० मे जर्मनी ने फ्रेंच जहाजो के साथ ऐसा व्यवहार किया था। १८७७ मे रूस ने टर्की के साथ लडाई छिडने पर तथा १८९८ मे स० रा० अमरीका ने स्पेन के साथ और १९०४ मे रूस और जापान ने एक दूसरे के जहाजो के सम्बन्ध मे इस नियम का पालन किया। १९०७ के छठे हेग

६ ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ४७९

अभिसमय के अनुच्छेद २ के अनुसार युद्ध छिड़ने पर शत्रु के बन्दरगाह में विद्यमान जहाज को यह उन्मुक्ति दी गयी थी। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध में इस नियम का पालन बहुत कम हुआ। अत १९२५ में ग्रेट ब्रिटेन ने इस अभिसमय का भविष्य में पालन न करने की घोषणा की। ओपेनहाइम के मतानुसार आजकल इस विषय में कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियम नहीं है।[७]

डाक ले जाने वाले जहाजों और डाक के थलों को शत्रु द्वारा पकड़े जाने के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई सामान्य नियम नहीं है। इस विषय में कई देशों ने पारस्परिक समझौतों और सन्धियों द्वारा यह तय किया है कि युद्ध के समय में भी बिना किसी बाधा के दोनों देशों की डाक, जहाजों द्वारा यथापूर्व भेजी जाती रहेगी। **११वें हेग अभिसमय** के पहले अनुच्छेद के अनुसार तटस्थ अथवा युध्यमान देशों की सरकारी और गैर-सरकारी—दोनों प्रकार की डाक अनतिक्रम्य (Inviolable) है, चाहे यह तटस्थ देश के जहाज पर लदी हो या शत्रु के जहाज में ले जायी जा रही हो। किन्तु परिवेष्टित (Blockaded) बन्दरगाह की डाक के बारे में यह छूट नहीं है। प्रथम विश्वयुद्ध में केन्द्रीय शक्तियों ने इसका बड़ा दुरुपयोग किया, दूसरे विश्वयुद्ध में भी ऐसा हुआ। इसे रोकने के लिये *मित्रराष्ट्रों ने डाक की जांच करना शुरू कर दिया,* जांच के बाद आपत्ति रहित डाक ही शत्रु को या तटस्थ देशों को भेजी जाती थी। डाक का यह छूट केवल पत्रव्यवहार तक ही सीमित है, पार्सलों के सम्बन्ध में यह छूट नहीं है।

शत्रु की सेवा में लगे तटस्थ जलपोत (Neutral Merchantships in Enemy Service)—१९०९ की **लन्दन-घोषणा में** यह कहा गया था कि तटस्थ जहाज निम्नलिखित अवस्थाओं में पकड़े तथा दण्डित किये जा सकते हैं—(क) यदि वे लड़ाई में भाग लें। (ख) यदि शत्रु की सरकार के आदेश में हों। (ग) यदि ये अनन्य रूप से शत्रु की सरकार के कार्य में लगे हों। (घ) यदि ये पूर्णरूप से शत्रु की सेनाओं की ढुलाई में अथवा शत्रु को लाभ पहुँचाने वाली सूचना को देने में लगे हुए हों।

सांस्कृतिक सामग्री को जब्त न किया जाना—१४ मई १९५४ को सम्पन्न हुए हेग *अभिसमय* (*Hague Convention of 1954*) के अनुसार शत्रुदेश से सबन्ध रखने वाली सांस्कृतिक सामग्री—मूर्तियाँ, चित्र, कलात्मक वस्तुयें, पाण्डुलिपियाँ तथा संस्कृति से सबन्ध रखने वाले विभिन्न पदार्थों को तथा इनके परिवहन में लगे जहाजों को न तो जब्त किया जा सकता है और न ही अधिगृहीत सामग्री (Prize) के रूप में छीना जा सकता है। भारत-पाक संघर्ष के समय विदेशों में भारतीय कला की प्रदर्शनी के लिये भेजी गई कलात्मक वस्तुओं और मूर्तियों का सामान ले जाने वाले एक जहाज को पाकिस्तान ने रोकने की विफल चेष्टा की थी।[८]

तटीय नगरों की बमवर्षा (Bombardment of Coastal Towns)—१९०७

---

७. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ३३५

८. हिन्दुस्तान टाइम्स १८ अक्तूबर १९६५

के ग्यारहवें हेग अभिसमय के अनुच्छेद १ मे यह व्यवस्था की गई है कि रक्षा न किये जाने वाले बन्दरगाहो, कस्बो, गांवो, निवासगृहो तथा इमारतो पर नौसेना द्वारा गोलाबारी करना सब परिस्थितियो मे वर्जित है। किसी स्थान पर केवल इसलिए बमवर्षा नही की जा सकती कि वहाँ बन्दरगाह से कुछ दूरी पर समुद्र मे सुरगें बिछाई गई है। अनुच्छेद २ मे शत्रु द्वारा उपयोग मे लाये जा सकने वाले तथा रक्षा न किये जा सकने वाले सैनिक अथवा नौसैनिक स्थानो, युद्ध सामग्री के भण्डारो, कारखानो, बन्दरगाह मे खडे रणपोतो पर गोलाबारी करने की अनुमति दी गई है, बशर्ते कि इससे पूर्व स्थानीय अधिकारियो को इन्हे नष्ट करने की सूचना दी गई हो और उन्होने इसका पालन न किया हो। अनुच्छेद ५ मे सैनिक प्रयोजनो के लिये प्रयुक्त न होने वाली तथा विशेष चिह्नो से अकित, सार्वजनिक पूजा, परोपकार तथा चिकित्सा के कार्य करने वाली इमारतो पर गोलाबारी करना वर्जित ठहराया गया है। अनुच्छेद ६ के अनुसार गोलाबारी शुरू करने से पहले उसकी पूर्व सूचना अवश्य दी जानी चाहिये।

सितम्बर १९६५ के भारत-पाक युद्ध मे पाकिस्तान ने उपर्युक्त सभी नियमो की अवहेलना करते हुए अपनी नौसेना के रणपोतो द्वारा ८ सितम्बर १९६५ को प्रात:-काल काठियावाड के समुद्रीतट पर अवस्थित द्वारका के बन्दरगाह पर गोलाबारी की। यह एक प्राचीन धार्मिक स्थान और श्रीकृष्ण के जीवन से सबद्ध होने के कारण पवित्र तीर्थ माना जाता है, यहाँ कोई सैनिक अड्डे या विमान नही थे। यह सर्वथा असैनिक अरक्षित बन्दरगाह था। इस पर बमवर्षा करना हेग के उपर्युक्त ११वें अभिसमय के अनुच्छेद १ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से निषिद्ध था।

सुरगे (Mines)—१९०७ के सातवें हेग अभिसमय मे इनका विशद वर्णन है। इनमे ऐसी स्वचालित, सस्पर्श से फटने वाली सुरगो (Automatic Contact Mines) के बिछाने का निषेध किया गया है, जो बिछाने वालो का इन पर नियन्त्रण समाप्त होने के १ घण्टे के भीतर हानिरहित न हो जाती हो। लगर वाली (Anchored) तथा इस अवधि मे हानिरहित न होने वाली सुरगें नही बिछानी चाहियें। इन्हे समुद्री व्यापार रोकने की दृष्टि से शत्रु के बन्दरगाहो या तट के सामने बिछाना वर्जित है। जब कभी स्वचालित सुरगें बिछाई जायें तो इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि इससे शान्तिमय समुद्री व्यापार को कोई हानि न पहुँचे। युध्यमान पक्षो को इन सुरगो को निश्चित अवधि मे हानिरहित बना देना चाहिए और यदि ये सुरगें उनके नियन्त्रण से बाहर हो जायें तो इस खतरे की सूचना सम्बद्ध सरकारो तथा जहाजो के मालिको को यथासम्भव शीघ्र ही दे देनी चाहिए।

हालैण्ड के मतानुसार यह अभिसमय (Convention) बडा दोषपूर्ण था। इसमे लगर वाली (Anchored) सुरगो के बिछाने के क्षेत्र पर कोई पाबन्दी नही लगाई गई थी। इस समय जर्मन प्रतिनिधियो ने यह दावा किया था कि उन्हे महासमुद्रो मे सुरगें बिछाने का अधिकार है। रूस आदि सात देशो ने इस अभिसमय पर हस्ताक्षर नही किये थे। जर्मनी ने दोनो विश्वयुद्धो मे इस समझौते की व्यवस्थाओ का उल्लघन किया। २३ अगस्त १९१४ को ब्रिटिश नौसेना विभाग ने यह घोषणा की कि

"सामान्य व्यापारिक मार्गों पर जर्मन लोग अविवेकपूर्ण नीति से सुरगे बिछा रहे हैं, ये कुछ निश्चित घण्टों के बाद हानिरहित नही हो जाती, इन्हे किसी विशेष सैनिक योजना के अनुसार नही, किन्तु ब्रिटिश जगी एव व्यापारिक जहाजों को नष्ट करने के इरादे से बिछाया जा रहा है।" जर्मनी के इस अवैध कार्य के प्रत्युत्तर मे ग्रेट ब्रिटेन ने २३ अक्टूबर १९१४ को कुछ सूचित क्षेत्रो मे सुरगें बिछाने की घोषणा की। जब जर्मनी ने अन्य व्यापारिक मार्गों पर सुरगें बिछायी तो ब्रिटिश सरकार ने भी सुरग बिछाने के क्षेत्रो को अधिक विस्तृत कर दिया। इस प्रकार व्यापारिक मार्गों पर महासमुद्रो मे सुरगें बिछाना तटस्थ देशो के अधिकारो का तथा महासमुद्रो की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रबल हनन है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अवैध और जघन्य कार्य है।

पनडुब्बियाँ (Submarines)—पनडुब्बियो के लिए यह सर्वथा वैध है कि वे शत्रु के व्यापारिक जहाजो को निरीक्षण और तलाशी के बाद पकड लें तथा शत्रु के जगी जहाजो को बिना किसी पूर्व सूचना के डुबा दें। किन्तु उनके लिए सबसे बडी समस्या यह है कि ये जिस जहाज को डुबाती हैं, उस पर सवार व्यक्तियो की सुरक्षा के लिए कोई व्यवस्था नही कर सकती। इनके लिए आक्रमण किये जाने वाले जहाज का स्वरूप पहचानना भी कठिन होता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध मे जर्मन पनडुब्बियो ने मित्रराष्ट्रों के जहाजों को प्रबल हानि पहुँचाई थी। ७ मई १९१५ को २००० सवारियों को ले जाने वाले यात्री जहाज **लूसिटानिया** को जर्मन पनडुब्बी ने टारपीडो किया, इससे इसके १२०० यात्रियों की प्राणहानि हुई, इनमे अधिकाश अमरीकन थे। जब स० रा० अमरीका ने जर्मनी से इसका प्रतिवाद करते हुए हेग अभिसमय के नियमो का पालन करने को कहा तो उसने यह उत्तर दिया कि ये नियम उस समय बनाये गये थे, जब लोगो को पनडुब्बियो द्वारा युद्ध की स्वप्न मे भी कल्पना नही थी। पनडुब्बियाँ यात्रियो और लडाई मे भाग न लेने वालो की सुरक्षा नही कर सकती, यह भी सम्भव नही है कि वे आक्रमण करने से पूर्व जहाज के यात्रियो तथा नाविको को चेतावनी देकर उन्हे प्राणरक्षा के लिए जीवन-नौकाओ मे सवार होने का अवसर दें क्योंकि इसी बीच मे उन पर शत्रु के रणपोत आक्रमण कर सकते हैं। जर्मनी ने अपने इस कार्य को सैनिक आवश्यकता तथा मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध प्रत्यपहार (Reprisal) के वैध उपाय के रूप मे न्यायानुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

१९२२ के वाशिंगटन सम्मेलन ने पनडुब्बियो द्वारा व्यापारिक जहाजो का डुबाना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विरोधी होने के कारण अवैध माना। १९३० की **लन्दन की नाविक सन्धि** ने पनडुब्बियो के लिए समुद्रतल पर चलने वाले जहाजो के नियम लागू किये तथा व्यापारिक जहाजो पर इनके आक्रमण से पूर्व इस पर सवार व्यक्तियो तथा नाविक वर्ग की सुरक्षा पर बल दिया। इस सन्धि को १९३६ के **लन्दन पनडुब्बी प्रोतोकोल** के रूप मे ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका, फ्रास, इटली और जापान ने तथा बाद मे जर्मनी तथा सोवियत रूस ने भी स्वीकार किया। किन्तु १९३९ मे द्वितीय विश्वयुद्ध छिडने पर जर्मनी ने १९३६ के प्रोतोकोल की व्यवस्थाओ का उल्लघन करते

हुए शत्रु एवं तटस्थ देशों के व्यापारिक जहाजों को, उन पर लदी सवारियों और नाविक वर्ग की सुरक्षा की व्यवस्था किये बिना बड़ी निष्ठुरता से डुबाना शुरू किया। सितम्बर १९३९ में ब्रिटिश जहाज एथीनिया (Athenia) बिना किसी चेतावनी के डुबा दिया गया। इसके प्रत्युत्तर में मई १९४० में ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि स्कैगरैक (नार्वे तथा डेन्मार्क के बीच में उत्तरी समुद्र का भाग तथा उस समय नार्वे पर जर्मन आक्रमण का महत्त्वपूर्ण मार्ग) के समुद्र में ज्यों ही कोई जहाज दिखाई देगा, उसे फौरन नष्ट कर दिया जायगा। २१ मई १९४१ को एक जर्मन पनडुब्बी ने दक्षिणी अटलाण्टिक सागर में स० रा० अमरीका के एक जहाज दी राबिन मूर (The Robin Moor) को चेतावनी देने के ३० मिनट के भीतर डुबा दिया, इसकी सवारियों तथा नाविकों की सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की। अमरीकन राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने इस कार्य की निन्दा करते हुए यह घोषणा की कि "इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तथा मानवीयता के आरम्भिक सिद्धान्तों की पूरी अवहेलना प्रदर्शित की गई है। इस कारण राबिन मूर का डुबाना अन्तर्राष्ट्रीय आततायोपन (International outlawry) का कार्य बन गया है।" स० रा० अमरीका में इस घटना से लूसिटानिया की घटना जैसा प्रबल रोष उत्पन्न हुआ। इससे भी अधिक जघन्य घटना यूनानी जहाज पेलियस (Paleus) का बिना किसी चेतावनी के दक्षिणी अटलाण्टिक में डुबाना था। आक्रमण के समय यह जहाज समुद्रतट से ३०० मील दूर था तथा पनडुब्बी ने समुद्रतल के ऊपर जाकर इस जहाज के नष्ट होने के बाद बचे हुए व्यक्तियों को मारने के लिए गोलाबारी भी की। इसके परिणामस्वरूप तीन व्यक्तियों के अतिरिक्त इस जहाज के सभी व्यक्ति मर गये।

१९४९ के जेनेवा अभिसमय में समुद्री युद्ध में नौसेनाओं के आहत होने वालों तथा बीमारी की ओर जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर उस पर सवार व्यक्तियों और नाविकों की दशा सुधारने के अनेक नियम बनाये गये हैं।

स्थल युद्ध की भाँति समुद्री युद्ध में भी ऐसे छलपूर्ण उपायों (Ruses) का प्रयोग वैध माना जाता है, जिनमें विश्वासघात (Perfidy) न किया जाय। उदाहरणार्थ, समुद्री युद्ध में जहाज पर शत्रु का अथवा तटस्थ देश का झूठा झण्डा लगाया जा सकता है। किन्तु आक्रमण करने से पहले पोत को अपनी वास्तविक ध्वजा लगा लेनी चाहिये। प्रथम विश्वयुद्ध में एक जर्मन क्रूजर एमडन (Emden) ने अपना यथार्थ रूप छिपाने के लिये जापान का झण्डा लगा लिया। इस झण्डे के कारण वह मलाया राज्य में पीनाग के बन्दरगाह से सुरक्षित निकल गया। आगे बढ़ने पर इसे रूसी क्रूजर जमशुग (Zhemsbug) मिला। इस पर इसने अपना जापानी झण्डा उतार लिया और इसके स्थान पर जर्मन झण्डा फहराने के बाद ही रूसी क्रूजर पर हमला किया, गोलाबारी की तथा टारपीडो करके इसे नष्ट कर दिया।

चौबीसवाँ अध्याय

अधिग्रहण न्यायालय

(Prize Courts)

अधिग्रहण न्यायालयो का अर्थ (Meaning of Prize Courts)—महासमुद्रो मे पकडे और छीने हुए शत्रु के जहाज तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री अधिगृहीत सामग्री या अधिग्रहण (Prize) कहलाती है।[1] इसका स्वरूप स्थलीय युद्ध मे छीनी गई शत्रु की सम्पत्ति से भिन्न होता है। अधिग्रहण पर तब तक न्यायोचित स्वत्व नही समझा जाता, जब तक कि इसका निर्णय करने के लिए बनाये गये न्यायालय छीने हुए माल के बारे मे अपने फैसले की घोषणा नही कर देते। समुद्र मे पकडी गई सम्पत्ति के स्वामित्व के सम्बन्ध मे अनेक विवाद हो सकते है कई बार ऐसा सदेह उत्पन्न हो सकता है कि यह शत्रु की सम्पत्ति है या तटस्थ देश की। सम्पत्ति छीनने वाले को स्वयमेव इस पर अधिकार करने देना न्याय के मौलिक सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। इस सम्पत्ति के स्वामित्व और स्वत्व पर विचार करने के लिए इसे न्यायालयों मे लाना अत्यधिक वाछनीय है। यह वाछनीयता उस अवस्था म अनिवार्य हो जाती है जबकि इस सम्पत्ति के सम्बन्ध मे तटस्थ देशो का अधिकार और दावा हो, क्योकि युद्ध मे दोनों युध्यमान पक्षो का कर्त्तव्य है कि वे तटस्थ देशो की सम्पत्ति अक्षत और सुरक्षित रखे। अत समुद्री युद्ध में छीनी गई या अधिगृहीत बहुमूल्य सम्पत्ति के स्वत्व निर्धारण के लिए विशेष न्यायालय बनाये जाते है। इन्हे अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) कहा जाता है। लारेन्स ने इनका लक्षण करते हुए कहा है कि अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय न्यायालय (Municipal Courts) होते है, ये युध्यमान देशो (Belligerents) द्वारा अपने प्रदेश मे, अपने द्वारा अधिकृत प्रदेश मे अथवा अपने मित्र के प्रदेश मे इस उद्देश्य से स्थापित किये जाते है कि ये अपने रणपोतो या क्रूजरों द्वारा पकडे हुए माल की वैधता का निर्णय करें। मित्र के देश मे ऐसा न्यायालय स्थापित करने से पहले उसकी स्वीकृति

---

१. हिन्दी में Prize के लिये कुछ लेखकों ने जयलाभ शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु जयलाभ बहुत सामान्य शब्द है। यह स्थल एव जल दोनों युद्धों में किसी प्रकार जीती हुई वस्तु के लिये प्रयुक्त हो सकता है। Prize समुद्री युद्ध में छीनी गई वस्तु के लिए ही व्यवहृत होता है। इसके लिये नौलुण्ठन तथा ऐसे न्यायालयों के लिये नौलुण्ठन न्यायालय के शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु इसमें लूट की अपेक्षा पकड़ने और छीनने का भाव अधिक है, अत यहाँ इनके लिए अधिग्रहण शब्द का प्रयोग किया गया है।

लेना आवश्यक है ।[२]

अधिग्रहण न्यायालयों का विकास (Evolution of Prize Courts)—पश्चिमी जगत् मे मध्य युग मे शनै-शनै. विशेष परिस्थितियों के कारण इन न्यायालयों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ । ओपेनहाइम के मतानुसार इसका उद्गम मध्ययुग के अन्त मे हुआ ।[३] रोमन साम्राज्य के पतन के बाद महासमुद्रों मे किसी सुदृढ़ शक्ति के अभाव से अराजकता मच गई । उत्तरी एव बाल्टिक समुद्रों मे डेन लोगों के समुद्री डकैती करने वाले जहाज चक्कर काटने लगे, भूमध्य सागर मे यूनानी और अरब जलपोत ऐसा कार्य करने लगे । इससे वणिक्पोतों के लिए बडा सकट उत्पन्न हो गया, वे अपनी रक्षा के लिये एकत्र होकर विशाल बेडे बनाकर एक जलसेनानायक या एडमिरल (यह अरबी मे समुद्र के शासक का अर्थ देने वाला अमीरुलबहर का योरोपियन रूप है) के नेतृत्व मे चलने लगे । इस बेडे के व्यक्ति समुद्री डाकुओं के साथ सघर्ष होने पर उनका कुछ माल पकड लेते थे, कई बार समुद्रों मे डाकुओं की सफाई करने के लिए कुछ सशस्त्र जहाज भेजे जाते थे । इन जहाजो द्वारा पकडा हुआ माल एडमिरल के आगे निर्णयार्थ उपस्थित किया जाता था । १३वी शताब्दी मे योरोप के सामुद्रिक राज्यों ने समुद्री डाकुओं की सफाई करने के लिए कुछ सशस्त्र जहाजो को इन्हे पकडने के लिए अधिकार-पत्र (Letters Patents or Letters of Marque) देने शुरु किये । इन जहाजों द्वारा पकडा हुआ माल अधिकारपत्र प्रदान करने वाले राज्यों के नियन्त्रण मे दिया जाता था । उस समय के सामुद्रिक राज्यो ने इसके लिये एडमिरल्टी (Admiralty) नामक बोर्ड बनाया तथा इसके अधिकारी सशस्त्र जहाजो पर तथा इसके द्वारा पकडे गये माल पर नियन्त्रण रखते थे, वे ऐसे प्रत्येक माल के सम्बन्ध मे पूरी जाँच करके उस माल और जहाज के स्वामित्व के सम्बन्ध म ज्ञान प्राप्त करते थे । वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के बाद यह इतना सर्वमान्य प्रथागत नियम (Customary rule) समझा जाने लगा कि युद्ध छिडने पर सामुद्रिक युद्ध मे सलग्न दोनो पक्षों के नौविभाग (Admiralty) ऐसे न्यायालय स्थापित करें जो सार्वजनिक पोतो द्वारा पकडे गये या अधिग्रहीत माल की वैधता पर विचार करें, २० जुलाई १५८६ को इगलैंड मे एक आर्डर-इन-कौंसिल द्वारा सर्वप्रथम यह व्यवस्था की गई कि समुद्र मे पकडा गया सारा माल नौसेना के उच्च न्यायालय मे निर्णय के लिये लाया जाय । इस प्रकार के अधिग्रहण न्यायालय अन्य देशो म भी स्थापित किये गये । आजकल सब देशों मे या तो स्थायी अधिग्रहण न्यायालय है या इन्हे युद्ध छिडने पर विशेष रूप मे स्थापित किया जाता है ।

अधिग्रहण न्यायालयों के कार्य (Functions of Prize Courts) प्रथम विश्वयुद्ध छिडने पर ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय को निम्न कार्य (Commission) सौंपा गया था । इसे यह अधिकार था कि यह ब्रिटिश नौसेना द्वारा छीने, पकडे और जब्त किये जाने वाले सब जहाजों की और इन पर लदे माल की जानकारी रखे, इन पर

२. लारेन्स—दी प्रिंसिपल्स आफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ४६०

३. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० ४७३

कानूनी विचार करे, ब्रिटिश नौविभाग के तथा राष्ट्रों के कानून के अनुसार जर्मन साम्राज्य के तथा उनके नागरिकों से सम्बन्ध रखने वाले सब जहाजों के और माल के बारे मे अपना निर्णय करे तथा इनके विषय मे अपनी दण्डाज्ञा (Condemnation) को सुनाये। १६३६ मे दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने पर इसम शत्रु के पकडे गये हवाई जहाजों को भी सम्मिलित कर लिया गया। पिट काबेट के मतानुसार इन न्यायालयों के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं —(क) समुद्र मे पकडे जाने वाले माल के मामलों की जाँच, (ख) पकडे हुए माल के शत्रु की सम्पत्ति होने पर इसके वैध अधिग्रहण (lawful prize) होने की तथा इसे जब्त करने की दण्डाज्ञा देना, (ग) वैध अधिग्रहण न होने की दशा मे इसे वापिस करने अथवा इसका हर्जाना देने की आज्ञा देना, (घ) लूट और अव्यवस्था से सब देशों के माल को सुरक्षित रखना।

किसी देश के अधिग्रहण न्यायालय का क्षेत्राधिकार युद्ध के समय इस देश के रणपोतों अथवा नौसेनाओं द्वारा महासमुद्रों मे पकडा गया सभी प्रकार का माल होता है। ज्यों ही नौसेना द्वारा कोई जलपोत या माल पकडा जाय तो इसे फौरन निर्णय के लिये अपने देश के निकटतम बन्दरगाह मे लाया जाना चाहिये। किन्तु यदि कोई जहाज इस तरह विध्वस्त हो गया हो कि उसे अपने देश तक ले जाना सम्भव न हो, तो समीपस्थ तटस्थ देश की अनुमति स उसे उसके किसी बन्दरगाह मे ले जाया जा सकता है। पकडे गये जहाज के समूचे माल और नाविक वर्ग को उस समय तक उस पर रहना चाहिये, जब तक कि वे निर्णयार्थ तय किये गये बन्दरगाह म नही पहुँच जाते। किन्तु यदि माल ऐसी दशा मे है कि उसकी ढुलाई उस बन्दरगाह तक सम्भव नहीं है तो इस निकटतम बन्दरगाह मे वेचकर उसकी धनराशि न्यायालय को भेजी जानी चाहिये। यह नियम तटस्थ देश के माल के सम्बन्ध मे भी लागू होता है। पेरिस की घोषणा के अनुसार विनिषिद्ध (Contraband) द्रव्य न होने पर तटस्थ देश का माल उन्हे लौटा देना चाहिये। न्यायालय जहाज के सब कागजों की जाँच और निरीक्षण तथा दोनों पक्षों का विवरण सुनने के बाद अपना निर्णय देते हैं। माल के स्वामित्व, स्वत्व और व्यवस्था के सम्बन्ध मे इनका निर्णय अन्तिम होता है, किसी दूसरे देश को इस पर पुनर्विचार कराने का अधिकार नही है।

अधिग्रहण न्यायालयों के कर्त्तव्य (Duties of Prize Courts)—ये न्यायालय यद्यपि राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) द्वारा स्थापित किये जाते हैं, तथापि ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार विवादों का निर्णय करते हैं। अतएव इसके न्यायाधीशों का दायित्व बडा जटिल होता है। उन्हे राष्ट्रीय हितों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान रखना पडता है। लार्ड स्टोवैल (Stowell) ने मेरिया (Maria) नामक स्वीडिश जहाज के मामले मे १७६६ मे इसका वर्णन करते हुए कहा था कि मेरा कर्त्तव्य "किसी विशेष राष्ट्रीय स्वार्थ के प्रयोजनों को पूरा करने वाली सामयिक तथा बदलती रहने वाली सम्मतियाँ देना नहीं है, किन्तु राष्ट्रों के कानून द्वारा तटस्थ एव युध्यमान सभी स्वतन्त्र देशों को बिना किसी भेदभाव के प्रदान किये जाने वाले निष्पक्ष न्याय का वितरण करना है। इसमे कोई सदेह नही कि ज्ञात कानून

और देशो के आचार के अनुसार न्यायिक सत्ता (Judicial authority) का स्थान युध्यमान देश मे है, किन्तु इसके कानून का कोई विशेष स्थान नही है। न्यायासन पर बैठने वाले व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह यहाँ किसी प्रश्न का उसी प्रकार निर्णय करे, जैसे इस प्रश्न का समाधान स्टाकहोल्म मे इस आसन पर बैठने वाला व्यक्ति करेगा। वह इसमे ग्रेट ब्रिटेन की ओर से ऐसे कोई दावे नही स्वीकार करेगा जो वह उन्ही परिस्थितियो मे स्वीडन के लिये स्वीकरणीय नही समझता। तटस्थ देश के रूप मे वह स्वीडन पर ऐसे कोई दायित्व नही डालेगा, जिन्हे वह इसी रूप मे ग्रेट ब्रिटेन के लिये स्वीकार नही करना चाहता।" लार्ड स्टोवैल ने १८०७ मे रिकवरी (Recovery) नामक जहाज के मामले मे इस पर अधिक प्रकाश डालते हुए लिखा था—"यह स्मरण रखना चाहिये कि ग्रेट ब्रिटेन के राजा के प्रदेश मे यहा बैठने वाला न्यायालय राष्ट्रो के कानून का न्यायालय है। यह अन्य देशो से वैसा ही सम्बन्ध रखता है, जैसा हमसे सम्बन्ध रखता है। विदेशियो को यह अधिकार है कि वे इससे यह माँग करें कि यह हमारे राष्ट्रीय विधिशास्त्र (Municipal Jurisprudence) मे ग्रहण किये सिद्धान्तो के अनुरूप, राष्ट्रो के कानून के अनुसार निर्णय करे।"

अधिग्रहण न्यायालयो का दर्जा (Status of Prize Courts)—इस विषय मे विधिशास्त्री एकमत है कि अधिग्रहण न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्नो पर विचार करते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नही, किन्तु राष्ट्रीय (Municipal) न्यायालय है। आपेनहाइम ने राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्मित और सगठित होने के कारण इसे राष्ट्रीय न्यायालय माना है। लारेन्स का भी यही मत है कि अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (Municipal Tribunals) है, वर्तमान समय मे अधिकाश विचारक न तो इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय समझते है और न ही इनके निर्णयो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानते हैं, यद्यपि सामान्यत ये निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित होते हैं।

अधिग्रहण न्यायालयों द्वारा लागू किया जाने वाला कानून (The Law of Prize Courts)—ये न्यायालय राष्ट्रीय होते हुए भी समुद्री युद्ध मे छीने गये माल के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर विचार करते है। लार्ड स्टोवैल के ऊपर उद्धृत निर्णय से यह स्पष्ट है कि इन्हे अपना निर्णय देते हुए राष्ट्रीय के साथ अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का भी ध्यान रखना पड़ता है। इस कारण यह जटिल समस्या उत्पन्न होती है कि ये किस कानून को लागू करते है, राष्ट्रीय को या अन्तर्राष्ट्रीय को ? यदि इगलैण्ड मे ब्रिटिश पार्लियामैंट द्वारा पास किये गये अथवा आर्डर इन कौंसिल से किसी अन्तर्राष्ट्रीय नियम का विरोध या सघर्ष हो तो कौन-सा कानून लागू किया जायगा।[४]

इस प्रश्न के सम्बन्ध मे लार्ड स्टोवैल ने फाक्स नामक जहाज के मामले (Fox's case) मे विचार करते हुए १८११ मे कहा था—"वाद पर विचार के समय यह प्रश्न उठाया गया है कि उस दशा मे इस न्यायालय का क्या कर्तव्य होगा,

---

४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० २८४

जबकि कोई आर्डर-इन-कौंसिल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल हो। एक पक्ष ने यह तर्क दिया है कि न्यायालय सब अवस्थाओं मे आर्डर-इन-कौंसिल को लागू करने के लिये बाधित है। दूसरे पक्ष का यह मत है कि वह आर्डर-इन-कौंसिल की उपेक्षा करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करने के लिये बाधित है। इस न्यायालय का यह कर्तव्य है *कि यह अन्य देशो के प्रजाजनो के तथा सरकारों के सम्बन्ध के बारे मे* राष्ट्रो के कानून का प्रशासन करे। दूसरे देशो की सरकारो को अपने प्रजाजनों के लिये यह माँग करने का तथा ऐसा न होने पर शिकायत करने का अधिकार है। यह इसका अलिखित कानून है, यह इसके निर्णयों से तथा सभ्य राज्यों की सामान्य प्रथा (Common usage) से प्रमाणित होता है। इसके साथ ही यह भी पूर्ण रूप से सत्य है कि इस देश के संविधान के अनुसार सपरिषद् राजा (King-in-Council) को इस न्यायालय के बारे मे कानून बनाने का अधिकार है तथा इसे ऐसे आदेश निकालने का अधिकार है कि जिनका पालन एव लागू करना इसका अनिवार्य कर्तव्य है। अत यह न्यायालय राष्ट्रों के कानून के प्रशासन के लिये भी बाधित है और साथ ही यह ऐसे आर्डर-इन-कौंसिल लागू करने के लिये भी बाधित है जो राष्ट्रो के कानून के प्रतिकूल नही, क्योकि सपरिषद् आदेशो (Orders in-Council) के बारे में यह कल्पना की जाती है कि वे इसके अलिखित कानून के सिद्धान्तो के अनुकूल होगे।"

लार्ड पार्कर ने जमोरा (Zamora) के मामले में इस प्रश्न का विद्वत्तापूर्ण विवेचन करते हुए (देखिये प्रथम परिशिष्ट) कहा था "अधिग्रहण न्यायालय का प्राथमिक कर्तव्य और कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रशासन करना है। अधिग्रहण न्यायालय पालियामेण्ट के कानून से बँधा हुआ है, किन्तु यह सपरिषद् राजा के ऐसे आदेश से बँधा हुआ नही, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विरोधी है, या उसके किसी नियम को बदलना चाहता है। किन्तु अधिग्रहण न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोडने वाले पालियामेण्ट के कानून को मानने के लिये बाधित है। अत अधिग्रहण न्यायालय पालियामेण्ट के कानूनो को मानने के लिये बाधित है, किन्तु यदि ये राष्ट्रो के कानून के साथ असगत हो, तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रशासन करने वाला नही रह जायगा और ऐसी व्यवस्थाये करने वाले क्षेत्र मे वह अधिग्रहण न्यायालय के उचित कार्य करने से वचित हो जायगा।"

उपर्युक्त दोनो निर्णय ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालयों द्वारा लागू किये जाने वाले कानून के विषय में कुछ भिन्न स्थिति का प्रतिपादन करते है। लार्ड स्टोवैल के मतानुसार ये राष्ट्रीय न्यायालय हैं, आर्डर-इन-कौसिलो तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो से बँधे हुए हैं। दोनों में विरोध सम्भव नहीं है क्योंकि आर्डर-इन-कौंसिलों के सम्बन्ध मे यह कल्पना की जाती है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक सिद्धान्तो के अनुकूल होंगे। लार्ड पार्कर ने जमोरा के मामले मे इन्हे *अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रशासन* करने वाला न्यायालय मानते हुए भी यह स्वीकार किया कि ये आर्डर-इन-कौंसिलो का पालन करने के लिए नही, किन्तु पालियामेण्ट के कानून का पालन करने के लिए बँधे हुए है। इन दोनों मे विरोध होने पर आर्डर-इन-कौंसिल को लागू करते

हुए ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के अपने स्वाभाविक कार्य से वंचित हो जाते हैं। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों मे ओपेनहाइम के मतानुसार ये न्यायालय राष्ट्रीय कानून को ही लागू करते हैं, यह वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय कानून होता है, किन्तु इसे राष्ट्रीय कानून का अंग बना लिया जाता है। लारेन्स का मत है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित राष्ट्रीय कानून होता है। जर्मनी के अधिग्रहण न्यायालयो ने सदैव यह स्वीकार किया है, कि ये राष्ट्रीय कानून को ही लागू करते हैं, भले ही यह वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो के प्रतिकूल हो।

पाकिस्तान द्वारा स्थापित अधिग्रहण न्यायालय की अवैधता—१९६५ के भारत-पाक युद्ध के बाद ८ अक्टूबर १९६५ को यह समाचार बम्बई पहुँचा कि पाकिस्तान ने इस बात का निर्णय करने के लिये एक अधिग्रहण न्यायालय बनाने का निश्चय किया है कि पिछले युद्ध म पाकिस्तान द्वारा पकडे गये भारतीय जहाजो और माल को जब्त करके नीलाम कर दिया जाना चाहिये। इस समय पाकिस्तान के अधिकार मे सिंधिया कम्पनी के तीन जहाज—१० हजार टन का भारवाही जलपोत राजेन्द्र, ३५०० टन का समुद्रतटीय पोत (Coastal Liner) सरस्वती तथा ५०० टन का लघु पोत शकीला थे। इनमे मे पहले दो जहाज लडाई छिडने के समय कराची मे थे। इसके अतिरिक्त इस समय तटस्थ देशो के १५ जहाजो द्वारा बहुत सा व्यापारिक माल—मशीनें, टेलीफोन के उपकरण, रुई, अखबारी कागज भारत आ रहा था। पाकिस्तान ने इसके बन्दरगाहो मे रुके हुए तटस्थ देशो के जहाजो से इस प्रकार का २० हजार टन का माल कराची मे ही उतार लिया। इसका बदला लेने के लिये भारत ने पाकिस्तान के तीस हजार टन के तीन जहाज रोक लिये।

पाकिस्तान द्वारा युद्ध छिडने पर अपने बन्दरगाहो मे विद्यमान तटस्थ देशो के जहाजों पर लदे भारतीय माल को उतारकर इनके अधिग्रहण की कार्यवाही करना अथवा भारतीय जहाजो के बारे मे अधिग्रहण का कार्य करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल था। १९०७ के छठे हेग अभिसमय (Sixth Hague Convention of 1907) के अनुसार जो जलपोत युद्ध छिडने पर अपने को शत्रुदेश के बन्दरगाह मे पाते हैं, उन्हें जब्त नहीं किया जा सकता, केवल युद्ध की समाप्ति तक रोका जा सकता है या उससे अपना कार्य (Requisition) करवाया जा सकता है।

पाकिस्तान द्वारा अधिग्रहण न्यायालय स्थापित करने की कार्यवाही बडी विलक्षण और अभूतपूर्व घटना थी। इसका यह कारण था कि पाकिस्तान ने युद्ध-घोषणा करके लडाई नहीं छेडी थी, दोनों देशो मे दौत्य सम्बन्ध अभी तक बने हुए थे। इनमें युद्ध की स्थिति घोषित नहीं हुई थी, युद्ध घोषित होने पर ही शत्रुदेश के जहाजो तथा माल को पकडकर इनका निर्णय करने के लिये अधिग्रहण न्यायालय स्थापित किये जाते है। पाकिस्तान को बिना युद्ध घोषणा किये अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना करने का अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से कोई अधिकार नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की आवश्यकता (The need for an International Prize Court)—लारेन्स ने इस बात पर बल दिया है कि इन

न्यायालयों का राष्ट्रीय होना एक बड़ा दोष उत्पन्न करता है। इनमें युद्ध करने वाले राष्ट्र अपने देश के कार्यों से सम्बद्ध मामलों में स्वयमेव न्यायाधीन बन जाते हैं। यद्यपि इनमें स्टोवैल जैसे न्यायाधीश सदैव निष्पक्षता से निर्णय करते हैं, किन्तु युद्ध की परिस्थितियों के दबाव के कारण यह निष्पक्षता कई बार कठिन होने लगती है। इस दोष को दूर करने के लिए १६०७ के हेग सम्मेलन में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी ने अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा था। बारहवें हेग अभिसमय (Convention) में इसे स्वीकार कर लिया गया था। इस पर अनेक राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे। किन्तु बाद में इसका अनुसमर्थन (Ratification) मुख्य रूप से इस आधार पर नहीं किया गया कि ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य सन्तोषजनक रीति से चलाने के लिये समुद्री कानून के नियमों का पर्याप्त संग्रह इस समय उपलब्ध नहीं है। किन्तु यह युक्ति ठीक नहीं है। आरम्भिक दशा में सभी कानून इसी प्रकार के होते हैं। जब तक इस प्रकार के पृथक् न्यायालय की स्थापना नहीं होती, तब तक वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को ही सब देशों की सहमति से उनके राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालयों की अपील सुनने का अधिकार दिया जाना उचित प्रतीत होता है।

पच्चीसवाँ अध्याय

हवाई युद्ध के नियम

(Laws of Air Warfare)

आजकल शक्तिशाली और शीघ्रगामी वायुयानों, प्रलयकर अणुबमों, राकेटों, स्पूतनिकों तथा अन्त महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों (Intercontinent Ballistic Missiles) के आविष्कार और विलक्षण विकास से हवाई युद्ध के महत्व में असाधारण वृद्धि हुई है। उपर्युक्त साधनों के द्वारा युद्ध में भाग न लेने वाली असैनिक जनता के विध्वस और विनाश की अमित सम्भावनायें उत्पन्न हो गई हैं। नागासाकी और हिरोशिमा में अणु-बमों के प्रलयकर विध्वस के ताण्डव ने इनके निरोध की तीव्र आवश्यकता का अनुभव कराया है। यहाँ हवाई युद्ध के नियमों के विकास का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

हवाई युद्ध के नियमों के मौलिक सिद्धान्त (Basic Principles of Air Warfare)—ये स्थलीय और समुद्री युद्धों के मौलिक सिद्धान्तों से गहरा सादृश्य रखते हैं। आपेनहाइम के मतानुसार ये निम्नलिखित हैं[1]—(क) मानवीयता के सिद्धान्त, आवश्यक क्रूरता और हिंसा का प्रयोग न करना, (ख) युद्ध न करने वाली जनता पर सीधा आक्रमण करने का निषेध, (ग) तटस्थ देश को किसी युध्यमान देश के विरुद्ध तैयारी का अथवा लड़ाई का क्षेत्र न बनाना। इन सिद्धान्तों के आधार पर १८७४ से हवाई युद्ध के नियम बनाये जाते रहे हैं।

१८७४ का ब्रुसेल्स सम्मेलन (The Brussels Conference)—रूस के सम्राट् ज़ार की प्रेरणा से बुलाये गये इस सम्मेलन ने यह नियम बनाया कि खुले तथा अरक्षित (Undefended) कस्बों, गृहसमूहों या गाँवों पर हवाई बमबर्षा नहीं की जा सकती। धर्म, कला और विज्ञान सम्बन्धी इमारतों को तथा चिकित्सालयों को बमबर्षा का लक्ष्य केवल तभी बनाया जा सकता है, जब कि इनका प्रयोग सैनिक प्रयोजनों के लिए हो।

हेग सम्मेलन (The Hague Conference)—(१८६६ में पहला हेग सम्मेलन बुलाने के समय तक हवाई युद्ध से विध्वस की सम्भावनायें बढ़ने लगीं) इससे पहले युद्ध में केवल गुब्बारों का उपयोग होता था, किन्तु इस समय यह सम्भावना की जाने लगी थी कि मनुष्य शीघ्र ही वायुयान का विध्वसक साधन के रूप में सफल प्रयोग आरम्भ कर देगा। (अतः इस सम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया कि पाँच वर्ष तक

---

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५२०

गुब्बारो या हवाई जहाजो से विस्फोटक द्रव्य फेंकने पर पाबन्दी लगाई जाय। अरक्षित स्थानो पर बमवर्षा न करने के लिए ब्रुसेल्ज सम्मेलन के निर्णय को स्वीकार किया गया।

१६०७ के दूसरे हेग सम्मेलन तक वायुयानो के तथा हवाई लडाई के क्षेत्र मे नवीन आविष्कारो से परिस्थिति बहुत बदल चुकी थी। अब कई राज्य इस विषय मे कोई पाबन्दी नही लगाना चाहते थे, अत जब इसमे अगले हेग सम्मेलन तक के लिए हवाई बमवर्षा के प्रयोग के निषेध का प्रस्ताव रखा गया तो कुछ शक्तिशाली राज्यो ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर नही किए। फिर भी इस समय निम्नलिखित नियम बनाए गए—(क) असैनिक जनता को डराने या आतकित करने के उद्देश्य से, इसे हानि पहुँचाने के प्रयोजन से अथवा सैनिक स्वरूप न रखने वाली वैयक्तिक सम्पत्ति का विध्वस करने की दृष्टि से बमवर्षा नही की जा सकती (अनुच्छेद २२-ख)। शत्रु द्वारा धनराशि या अन्य वस्तुएँ जबर्दस्ती वसूल करने की दृष्टि से की जाने वाली बमवर्षा वर्जित है (अनुच्छेद २३)। (ग) हवाई बमवर्षा केवल निम्न अवस्थाओं मे वैध है—(अ) जब यह किसी सैनिक लक्ष्य पर की गई हो, ये लक्ष्य निम्नलिखित हैं—सेनाएँ, सेनाओ से सम्बन्ध रखने वाले स्थान, शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद तथा सैनिक सामग्री तैयार करने वाले महत्वपूर्ण कारखाने। (आ) स्थलीय सेनाओ की लडाई के क्षेत्र के बिल्कुल साथ लगे प्रदेशो से दूरवर्ती नगरो, कस्बो, गाँवो, इमारतों पर बमवर्षा वर्जित है। यदि कुछ सैनिक स्थान असैनिक जनता के निवास स्थानो से सम्बद्ध और घिरे हुए हो और दोनो को बमवर्षा की दृष्टि से अलग न किया जा सकता हो तो ऐसे स्थानो पर भी बमवर्षा निषिद्ध है।

१६११ में 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सस्था' ने मैड्रिड मे हवाई युद्ध की कानूनी स्थिति पर विचार किया और यह मौलिक सिद्धान्त स्वीकार किया कि हवाई लडाई मे स्थलीय अथवा समुद्री लडाई की अपेक्षा अधिक मात्रा मे शारीरिक तथा साम्पत्तिक क्षति नही पहुँचानी चाहिए। किन्तु इस सस्था द्वारा किया विचार-विमर्श अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण नही कर सकता था। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले बनाये गए उपर्युक्त नियमो मे कई दोष थे। पहला दोष यह था कि इनमे रक्षा किए जाने वाले (Defended) तथा अरक्षित स्थान की कोई सुस्पष्ट व्याख्या नही की गई थी। दूसरा दोष यह था कि गोलाबारूद और हथियार बनाने के अधिकाश कारखाने तथा सैनिक बस्तियाँ असैनिक जनता वाले कस्बो और शहरो में होती हैं, इनकी बमवर्षा मे वैधता का प्रश्न बडा जटिल और सदिग्ध था। तीसरा दोष हवाई युद्ध के नवीन साधनो के आविष्कार और विलक्षण उन्नति के कारण उपयुक्त नियमो का सर्वथा अपूर्ण तथा अपर्याप्त होना था। चौथा कारण समग्रयुद्ध (Total war) (देखिए पृ० ४३८-६) का नवीन विचार था, इसमे युद्ध की आवश्यकताएँ सर्वोपरि मानी जाती है और शत्रु की समूची जनता के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने मे कोई दोष नही समझा जाता।

प्रथम विश्वयुद्ध (First World War)—प्रथम विश्वयुद्ध मे दोनो पक्षो ने एक दूसरे पर बहुत हवाई हमले किए। दोनो का यह कहना था कि उन्होने अपने हवाबाजो

को यह आदेश दे रखा था कि वे केवल सैनिक स्थानों को अपना निशाना बनाएँ, असैनिक जनता पर कोई आक्रमण न करें। किन्तु आदेशों का पालन इसलिए नहीं हो सका कि बड़ी ऊँचाइयों से शीघ्र गति वाले विमानों द्वारा सैनिक लक्ष्यों पर ठीक निशाना लगाना बहुत कठिन था। इस युद्ध की समाप्ति सैनिक लक्ष्यों से दूरवर्ती खुले शहरों और कस्बों पर भी बड़ी अविवेकपूर्ण रीति से हवाई बमवर्षा के साथ हुई।

वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference)—प्रथम विश्वयुद्ध में यह अनुभव हुआ कि हवाई युद्ध के पुराने नियम नवीन परिस्थितियों के लिए उपयुक्त और पर्याप्त नहीं हैं, इनके संशोधन और पुनर्विचार की आवश्यकता है। यह कार्य १९२२ में वाशिंगटन में शस्त्रास्त्रों को सीमित करने के लिए बुलाए गए एक सम्मेलन द्वारा किया गया। इसमें स० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान ने भाग लिया। इस सम्मेलन ने एक प्रस्ताव द्वारा हवाई लड़ाई की समस्याओं पर विचार करने के लिए प्रसिद्ध विधिशास्त्रियों की एक कमेटी बना दी। इस कमेटी ने १९२३ में हवाई युद्ध के नियमों की संहिता तैयार की। इसके महत्वपूर्ण नियम निम्नलिखित थे—(१) वैयक्तिक हवाई जहाजों को आत्मरक्षा की दृष्टि से भी सशस्त्र बनाना पूर्णरूप से वर्जित है। (२) असैनिक जनता को डराने या असैनिक सम्पत्ति को नष्ट करने या असैनिक जनता को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से की जाने वाली बमवर्षा निषिद्ध है। (३) शत्रु से जबर्दस्ती धनराशि या अन्य सामान लेने के लिए बमवर्षा नहीं होनी चाहिए। (४) हवाई बमवर्षा को तभी वैध समझना चाहिए, जब यह ऐसे सैनिक अड्डों, संचार के साधनों, शस्त्रास्त्र बनाने के कारखानों को लक्ष्य बनाकर की जाय, जिनके विध्वंस से शत्रु की सैनिक हानि हो और वह निर्बल हो। (५) असैनिक जनता का ध्यान न रखते हुए सैनिक लक्ष्यों पर भी की जाने वाली बमवर्षा अवैध है। (६) स्थलीय सेनाओं की कार्यवाहियों के अति सन्निकट स्थानों के अतिरिक्त अन्य शहरों, कस्बों और इमारतों पर बमवर्षा करना निषिद्ध है। (७) सार्वजनिक पूजा, उपासना, कला, धर्म, विज्ञान तथा परोपकार का कार्य करने वाली इमारतों, ऐतिहासिक स्मारकों, शरणार्थियों के लिए बने चिकित्सालयों को हवाई बमवर्षा का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। (८) स्थलीय सेनाओं पर लागू होने वाले युद्ध और तटस्थता के नियम हवाई लड़ाई पर भी लागू होते हैं। (९) किसी युध्यमान पक्ष की सेनाओं द्वारा उपर्युक्त नियमों का भंग होने पर उसे इससे होने वाली क्षति का मुआवजा देना पड़ेगा। यद्यपि इन नियमों का राज्यों ने अनुमसर्थन नहीं किया, फिर भी आपेनहाइम के शब्दों में इनकी महत्ता इस दृष्टि से है कि इन्होंने युद्ध में वायुयानों के प्रयोग की मर्यादाओं का सुन्दर और सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हुए इस विषय में सुबोध नियम बनाए और ये भविष्य में इस विषय की चर्चाओं के आधार बने।[१] १९२५ में जेनेवा के प्रोटोकोल द्वारा हवाई युद्ध में विषैली गैसों और जीवाणुओं का प्रयोग निषिद्ध ठहराया गया। जुलाई १९३२ में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग (General Commission of the Disarmament Conference) ने यह निश्चय किया कि

---

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ५१९

'असैनिक' (Civil) जनता पर हवाई आक्रमण करना पूर्णरूप से निषिद्ध है।"

किन्तु जापान द्वारा चीन के आक्रमण (१९३१ ई०) और स्पेन के गृहयुद्ध में उपर्युक्त नियमों का बहुत अधिक भंग हुआ। इस पर १९३८ में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने लोकसभा में हवाई बमवर्षा के सम्बन्ध में कानूनी स्थिति स्पष्ट करते हुए एक वक्तव्य दिया। इसके अनुसार (१) असैनिक जनता पर जानबूझकर किया गया आक्रमण निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण है। (२) हवाई बमवर्षा का निशाना वैध सैनिक लक्ष्यों को बनाना चाहिए और ये ऊँचाई से अच्छी तरह पहचाने जाने वाले होने चाहिएँ। (३) इन सैनिक लक्ष्यों की हवाई बमवर्षा में ऐसी युक्तियुक्त सावधानी बरती जानी चाहिए कि इन सैनिक लक्ष्यों के निकट रहने वाली असैनिक जनता पर बमवर्षा न हो। १९३८ में राष्ट्र संघ की असेम्बली ने उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों का स्वीकार करते हुए सर्वसम्मति से हवाई बमवर्षा के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया।

ओपेनहाइम के कथनानुसार असैनिक जनता पर हवाई बमवर्षा के निषेध के मौलिक सिद्धान्त को लागू करने में तीन बड़ी कठिनाइयाँ हैं।[3] पहली कठिनाई वर्तमान युद्ध के क्षेत्र और स्वरूप में होने वाले परिवर्तन हैं। इनके कारण लड़ाई ने समग्र युद्ध (Total War) का रूप धारण कर लिया है, सैनिक तथा असैनिक जनता में अन्तर निरन्तर कम हो रहा है। दूसरी कठिनाई ऐसे सैनिक लक्ष्य निर्धारित करने की है, जिनके विरुद्ध वैध रूप से हवाई बमवर्षा की जा सकती है। तीसरी कठिनाई प्राविधिक (technical) है कि हवाई बमवर्षा के प्रभावों को सैनिक लक्ष्यों तक ही किस प्रकार सीमित रखा जाय। किन्तु इन नई समस्याओं के होते हुए भी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून असैनिक जनता में आतंक उत्पन्न करने के उद्देश्य से उस पर जानबूझकर तथा प्रत्यक्ष रूप से की जाने वाली बमवर्षा को अवैध मानता है।[4]

द्वितीय विश्वयुद्ध (Second World War)—दूसरे विश्वयुद्ध में उपर्युक्त नियमों की घोर अवहेलना हुई। इसके आरम्भ में स० रा० अमरीका के राष्ट्रपति के प्रस्ताव के फलस्वरूप २ सितम्बर १९३९ को इंगलैण्ड और फ्रांस ने यह घोषणा की कि वे असैनिक जनता पर बमवर्षा नहीं करेंगे, वे इसे केवल अत्यधिक संकुचित अर्थ वाले सैनिक लक्ष्यों तक ही सीमित रखेंगे। १७ सितम्बर को जर्मनी ने भी पारस्परिकता के आधार पर इस नियम के पालन की घोषणा की। किन्तु इसके छः दिन बाद ही उसने पोलैण्ड की राजधानी वारसा पर अन्धाधुन्ध, अविवेकपूर्ण हवाई बमवर्षा करते हुए अपनी घोषणा का उल्लंघन किया। नार्वे के आक्रमण में इसे पुनः तोड़ा गया, १४ मई १९४० को डच बन्दरगाह राटरडम के अधिकांश भाग सैनिक स्थान न होने पर भी हवाई बमवर्षा से बुरी तरह नष्ट कर दिए गये। ६ अप्रैल १९४१ को इसी प्रकार का भीषण विध्वंस यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड को दण्ड देने के लिए किया गया, क्योंकि उसने जर्मन उच्च सत्ता की इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया था कि वह उसका मित्र बने।

---

३. ओपनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५२५

४. वही, पृ० ५२६

(१० मई १६४० को ब्रिटिश सरकार ने अपनी पूर्व घोषणा मे सशोधन करते हुए कहा कि यदि शत्रु ने ग्रेट ब्रिटेन में अथवा उसके मित्रदेशो मे असैनिक जनता पर बमवर्षा की तो वह इसके विरोध मे आवश्यक समझी जाने वाली कोई भी कार्यवाही करने का अधिकार रखती है।) आरम्भ मे ग्रेट ब्रिटेन ने व्यूहीय (Tactical) बमवर्षा न करके केवल **रणनीतिक** (Strategic) बमवर्षा की। व्यूहीय बमवर्षा का तात्पर्य आक्रमण करने वाली स्थलीय या समुद्री सेना के कार्यों को सहायता देने की दृष्टि से शत्रुप्रदेश पर की जाने वाली बमवर्षा है, जैसी हिटलर ने पोलैण्ड, नार्वे आदि पर आक्रमण के समय की थी। इसमे हवाई जहाज सेना के आगे बढने के साथ-साथ उसका मार्ग प्रशस्त करने के लिए शत्रु के प्रतिरोध को निष्फल बनाने के लिए उसके प्रदेश पर भारी पैमाने पर बमवर्षा करते है, इसमें सैनिक, असैनिक लक्ष्यो का भेद नही किया जाता। रणनीतिक (Strategic) बमवर्षा मे केवल उन्ही लक्ष्यो पर बमवर्षा की जाती है, जो रणनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो, जैसे सैनिक अड्डे, शस्त्रास्त्र बनाने के कारखाने। रणनीतिक बमवर्षा की नीति अपनाने के कारण बहुधा ब्रिटिश बमवर्षक जब विशिष्ट लक्ष्य को पहचानने मे समर्थ नही होते थे, तो वे इन पर गिराने के लिए ले जाये गये बमो को पुन स्वदेश वापिस ले आते थे।[1] किन्तु यह स्थिति देर तक नही रही। (१६४०-४१ मे जब हिटलर ने ग्रेट ब्रिटेन को हराने तथा उसकी जनता मे त्रास और आतक उत्पन्न करने के लिए लन्दन तथा अन्य ब्रिटिश नगरो पर अन्धाधुन्ध बमवर्षा आरम्भ की तो ग्रेट ब्रिटेन ने **'लक्ष्य क्षेत्रीय बमवर्षा'** (Target Area Bombing) आरम्भ की। इसका अभिप्राय ऐसे सभी विस्तृत क्षेत्रो का विध्वस था, जिनमे शस्त्रास्त्र बनाने के कारखाने, युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओ पेट्रोल आदि के केन्द्र, सैनिको के यातायात के लिए आवश्यक रेलवे जकशन और बन्दरगाह थे। वायुयान विरोधी तोपो तथा सुरक्षा के अन्य साधनो के कारण विशिष्ट सैनिक लक्ष्यो पर बमवर्षा करना कठिन हो गया, अत 'लक्ष्य क्षेत्रीय बमवर्षा' द्वारा विस्तृत प्रदेशो का विध्वस किया जाने लगा। (द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सामान्य रूप से मित्रराष्ट्र यह सिद्धान्त मानते रहे कि शत्रु के युद्धप्रयत्नो से सम्बन्ध न रखने वाले नगरो और स्थानो पर बमवर्षा करना अवैध है। किन्तु जापान को हराने के लिए स० रा० अमरीका ने अणुबम का प्रयोग किया।)

अणुबम का प्रयोग (Use of Atom Bomb)—स० रा० अमरीका ने ६ अगस्त को हिरोशिमा पर तथा ११ अगस्त १६४५ को नागासाकी पर, इन शहरो के नागरिको को कोई पूर्व-चेतावनी दिये बिना अणुबम गिराये। दृष्टसाक्षियो के वर्णनानुसार उन्होने आकाश मे पलभर के लिए एक सफेद चमक देखी, हवा के तेज झोके का अनुभव किया, एक गडगडाहट सुनी, इसके बाद मकानो के गिरने की आवाजे आने लगी, चारो ओर अधकार छा गया, धूल के बादल आकाश मे फैल गये, सब तरफ प्रचण्ड अग्नि की ज्वालायें आसमान को छूने लगी, प्रलय का दृश्य दृष्टिगोचर होने लगा। यह अनुमान लगाया गया है कि केवल हिरोशिमा मे ही ६० हजार नर-नारी और बच्चे मारे गये,

---

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५२८

एक लाख व्यक्ति आहत हुए, बीस लाख से अधिक व्यक्ति बेघरबार हो गये। नागासाकी मे १ लाख २० हजार व्यक्ति हताहत हुए, इमारतों के ध्वंसावशेषों में दबे हुऐ हजारों व्यक्ति इस संख्या में सम्मिलित नहीं है।

जापानी नगरों पर दो अणुबमों के गिराने की तीव्र भर्त्सना समूचे सभ्य जगत् ने की। इसे मानवीयता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध घोर अपराध समझा गया। यह युद्ध के नियमों के दो मौलिक सिद्धान्तों की पूर्ण अवहेलना करता है। युद्ध में अनावश्यक हिंसा का प्रयोग निषिद्ध है तथा सैनिक और असैनिक जनता में भेद रखते हुए केवल सैनिक शक्ति का विध्वंस वैध माना जाता है, असैनिक जनता की हिंसा या हानि युद्ध के नियमों के प्रतिकूल है। अणुबम सैनिक तथा असैनिक जनता का कोई भेद *न करता हुआ अपने लक्ष्य स्थान में विनाश और विध्वंस की ऐसी ताण्डव लीला* करता है कि इससे लाखों व्यक्ति हताहत होते हैं, इसकी धूलिविकिरण से ऐसे रोग उत्पन्न होते है, जिनकी कोई चिकित्सा नहीं हो सकती, भस्मासुर की शक्ति रखने वाला यह बम अपने क्षेत्र में सभी प्राणियों और वनस्पतियों के जीवन को गहरी क्षति पहुँचाता है, उन्हें भस्मावशेष बनाते हुए सामूहिक विध्वंस और प्रलय की सृष्टि करता है। जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार विषैली गैसों का प्रयोग वर्जित है (देखिये ऊपर पृ० ४६३) तो इनसे लाखों गुना अधिक संहारक शक्ति रखने वाले अणुबमों का प्रयोग कैसे वैध हो सकता है?

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने स० रा० अमरीका द्वारा इसके प्रयोग का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा था —"हमने इसका प्रयोग युद्ध की व्यथा को कम करने के लिए, हजारों तरुण अमरीकनों के प्राण बचाने के लिए किया है।" यह कहा जाता है कि जिस समय अणुबम गिराये गये, उस समय जापान के पास विशाल साम्राज्य था, इसके आधार पर वह देर तक लड़ाई जारी रख सकता था। यदि अणुबमों का प्रयोग न किया *जाता तो वह इतनी जल्दी आत्मसमर्पण न करता। इस युक्ति का आधार सैनिक आव*श्यकताओं को युद्ध में सर्वोपरि मानना है। पहले यह बताया जा चुका है कि इस सिद्धान्त को सत्य नहीं माना जा सकता (पृ० ४६०-५) और इसके आधार पर अणुबम के प्रयोग को उचित नहीं ठहराया जा सकता (पृ० ४६५)। 'हजारों तरुण अमरीकनों' की प्राण रक्षा के लिए लाखों निर्दोष जापानियों की हत्या का समर्थन किसी भी दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्धाधुन्ध हिंसा और अविवेकपूर्ण हिंसा करने वाले सभी साधनों का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से वर्जित है। प्रथम विश्वयुद्ध में जब जर्मन पनडुब्बियों ने मित्रराष्ट्रों के जहाजों को अन्धाधुन्ध डुबाना शुरू किया था तो मित्रराष्ट्रों ने अविवेकपूर्ण हिंसा के आधार पर जर्मनी के इस कार्य को अवैध बताया था। उस समय जर्मनी ने यह युक्ति दी थी कि युद्ध के पुराने नियम नवआविष्कृत शस्त्रास्त्रों के विषय में लागू नहीं होते, इनके कारण पुराने नियम मान्य नहीं रहते और इनका संशोधन होना चाहिये। किन्तु मित्रराष्ट्रों के विधिशास्त्रियों ने जर्मनी के इस युक्तिक्रम को सर्वथा अनुचित और अमान्य ठहराया

था। अमरीकन विधिशास्त्री उपर्युक्त जर्मन तर्क का अनुसरण करते हुए अणुबम का प्रयोग इस आधार पर उचित नहीं ठहरा सकते कि इस नवीन आविष्कार के बारे मे अविवेकपूर्ण हिंसा के निषेध का पुराना नियम लागू नही हो सकता। वह युद्ध का मौलिक, सार्वभौम और सार्वकालिक नियम है, उसके प्रतिकूल होने से अणुबम का प्रयोग सर्वथा वर्जित और अवैध है।

ओपेनहाइम ने केवल दो अवस्थाओ मे इसके प्रयोग को वैध माना है।[५] (१) शत्रु द्वारा पहले इसका प्रयोग किये जाने पर, उसके प्रत्युत्तर के रूप मे इसका व्यवहार। (२) इसका प्रयोग ऐसे शत्रु के विरुद्ध किया जा सकता है, जिसने युद्ध के नियमों का उल्लघन इतने बड़े पैमाने पर किया हो कि वह मानवीयता और दया के व्यवहार का पात्र न रह गया हो। यदि किसी प्रकार असदिग्ध रूप मे यह प्रमाणित हो सके कि द्वितीय विश्वयुद्ध मे जर्मनी ने अपनी सेनाओ द्वारा अधिकृत प्रदेश मे असैनिक जनता का सहार बहुत बडे पैमाने पर किया तभी प्रतिरोधक दण्ड (Deterrent punishment) के रूप मे अणुबम के प्रयोग को वैध ठहराया जा सकता है। जापान के विरुद्ध अणुबम के प्रयोग मे इन दोनो म से कोई भी अवस्था नही थी, अत इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से सर्वथा अवैध माना जाना चाहिए।

अणुबम के आविष्कार के बाद सामूहिक विध्वस के उससे अधिक शक्तिशाली अनेक अन्य साधनो—हाइड्रोजन बम राकेट, अन्त महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों (I C B M) का विकास हुआ है। रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव के कथनानुसार अन्त महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के आविष्कार के बाद बमवर्षक वायुयान सग्रहालयो की वस्तु बन गये हैं, इनकी सहायता से रूस के अड्डा से ही लन्दन, न्यूयार्क और वाशिंगटन का विध्वस करने वाले राकेट छोडे जा सकते है। अत इस समय यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि ऐसे शस्त्रों का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध ठहराया जाय और इसे सफल बनाने के लिये इनके उत्पादन पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाय। इसम राज्यों को कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रा मे पर्याप्त मात्रा मे अपनी प्रभुसत्ता (Sovereignty) का परित्याग करना पडेगा। स० रा० सघ १९५० से निरस्त्रीकरण सम्मेलनो तथा अणुशक्ति आयोग द्वारा इस कार्य को सम्पन्न कराने का प्रयत्न कर रहा है।

पाकिस्तान द्वारा हवाई युद्ध के नियमो की अवहेलना– सितम्बर १९६५ के भारत-पाक सघर्ष म पाकिस्तान ने हवाई युद्ध के उपर्युक्त नियमो का उल्लघन कई प्रकार से किया। हवाई हमले सैनिक अड्डो पर नही किये गये अपितु असैनिक क्षेत्रों, पवित्र धार्मिक स्थानो—मस्जिदो और चर्चो तथा हस्पतालो पर किये गये। नपाम बम तथा एक एक हजार पौण्ड के बम नगरा पर तथा ऐसे गाँवा पर गिराये गये, जिनका सैनिक कार्यों स कोई सम्बन्ध नही था। पाकिस्तान की वायु सेना ने अम्बाला के सुप्रसिद्ध और १७५ वर्ष पुराने चर्च—सैण्टपाल के कैथेड्रल पर १८ तथा २० सितम्बर को दो बार हमले करके इस पर बमवर्षा की। पहले हमले म इसको काफी नुकसान पहुँचा, दूसरे हमले मे

५ ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, ख० २, पृ० ३५१

यह बहुत बुरी तरह से विध्वस्त हो गया। जम्मू से आठ मील दूरी पर जोडियाँ क्षेत्र में मस्जिद मे नमाज पढने वाले व्यक्तियो पर बमवर्षा की गई। इसमे मस्जिद विध्वस्त हुई तथा पचास व्यक्ति मारे गये। इस युद्ध मे पाकिस्तान का सबसे अधिक बर्बर कृत्य हस्पतालो तथा रैडक्रास के केन्द्रो पर हमले करना था। युद्ध मे एक हस्पताल पर गोलाबारी की गई, अम्बाला मे सैनिक हस्पताल के आठ वार्ड हवाई हमले से नष्ट हो गये, जोधपुर मे जल का हस्पताल हवाई हमलो का शिकार बना, फिरोजपुर मे घायलो और बीमारो को ले जाने वाली चार एम्बुलैन्स (Ambulance) गाडियो पर हमले किये गये।[६]

युद्धविराम होने से १२ घण्टे पहले दो पाकिस्तानी सेबरजैट विमानो ने अमृतसर मे पांच मील दूर एक औद्योगिक बस्ती छेहर्टा पर एक हजार पौण्ड के छ बम २२ सितम्बर को गिराये। इनमे ४५ व्यक्ति मरे तथा ८० व्यक्ति घायल हुए। छेहर्टा असैनिक बस्ती थी, इस पर बमवर्षा करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से नपाम बम (Napalm) का प्रयोग अमानवीय समझा जाता है क्योंकि ये अत्यधिक विध्वसक और आग लगाने वाले होते है। पाकिस्तानी विमानो ने ऐसे बमो को भारत मे बडी सडको पर चलने वाली असैनिक (Civil) गाडियो पर गिराया। इस प्रकार गिराये गये बम ७५० पौण्ड के थे। इनकी विशेषता यह होती है कि इनका खोल अत्यन्त हल्का ७० पौण्ड का होता है, शेष ६८० पौण्ड अत्यधिक ज्वलनशील सामग्री पैट्रोल आदि से भरा होता है, यह बम जिस स्थान पर गिरता है, उसके आसपास ११० गज तक मनुष्य तथा सभी वस्तुये राख बन जाती है।

पाकिस्तान की हवाई सेना का एक अमानुषिक कार्य १६ सितम्बर १९६५ को गुजरात के मुख्यमन्त्री श्री बलवन्तराय मेहता को तथा उनके परिवार को ले जाने वाले एक असैनिक विमान (Civil aircraft) पर हमला करके इसे नष्ट करना था। तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने २२ सितम्बर को लोकसभा मे इस विषय पर वक्तव्य देते हुए कहा था—"युद्ध कार्य मे न लगे हुए (Non-Combatant) वायुयान पर हमला करना एक ऐसा अधिकतम अमानवीय कार्य है कि सबको उसकी निन्दा करनी चाहिये।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यह जघन्यतम कृत्य था। जुलाई १९३२ मे निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग (General Commission of the Disarmament Conference) ने इस विषय मे यह प्रस्ताव पास किया था कि असैनिक जनता पर किसी भी प्रकार का हवाई हमला करना पूर्णरूप से निषिद्ध है। १९३८ मे राष्ट्र सघ की १९वी असेम्बली ने हवाई हमलो के विषय मे कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाते हुए कहा था कि हवाई आक्रमणो का लक्ष्य केवल सैनिक अड्डे और सैनिक विमान ही होने चाहिये। पाकिस्तान ने १९६५ की लडाई मे इन सब नियमो की घोर उपेक्षा तथा अवज्ञा की है।

---

६. इण्डियन रिकार्डर, अक्टूबर २२-२८, १९६५, पृ० ६७२२

छब्बीसवाँ अध्याय

युद्धापराध

(War Crimes)

युद्धापराध का स्वरूप (Nature of War Crimes)—पिछले अध्यायों में स्थल, जल और आकाश में होने वाले युद्धों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से पालन करने योग्य नियमों का वर्णन हो चुका है, इनका उल्लंघन करना युद्धापराध (War Crimes) माना जाता है। ब्रिटिश सेना की निर्देशपुस्तिका (Manual) के अनुसार दया दान (Quarter) न करना, युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार, लूटपाट और निरुद्देश्य विध्वंस युद्धापराध हैं। १८९९ के हेग सम्मेलन ने युद्ध के नियमों और प्रथाओं के प्रतिकूल कार्यों को युद्धापराध घोषित किया था। प्रो० हिगिन्स ने युद्धापराधों में निम्नलिखित कार्यों का समावेश किया है— सशस्त्र सेनाओं के सैनिकों द्वारा युद्ध के माने हुए नियमों का अतिक्रमण, सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा अवैध शत्रुता के कार्य (Illegitimate hostilities), जासूसी, युद्ध-राजद्रोह (War treason) और प्रलुण्ठन (Marauding)।[1] ओपेनहाइम के शब्दों में 'युद्धापराध सैनिकों तथा अन्य व्यक्तियों के ऐसे शत्रुतापूर्ण कार्य हैं, जिन्हें करने वाले पकड़े जाने पर शत्रु द्वारा दण्डित किये जाते हैं। इनमें ऐसे कार्यों का समावेश होता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल तथा अपराध करने वाले व्यक्ति के अपने राज्य के कानून के विरुद्ध होते हैं, जैसे हत्या, वैयक्तिक लाभ की दृष्टि से की गई लूटपाट, शत्रुराज्य की ओर से अथवा उसके आदेश से युद्धनियमों के विरुद्ध किये गये कार्य।" ओपेनहाइम ने युद्धापराधों के चार विभिन्न प्रकार बताये हैं — (क) सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों द्वारा युद्ध के सम्बन्ध में स्वीकार किये जाने वाले नियमों को तोड़ना। (ख) ऐसे व्यक्तियों द्वारा सशस्त्र लड़ाई के कार्य, जो शत्रु की सशस्त्र सेनाओं के सदस्य नहीं है। (ग) जासूसी और युद्ध सम्बन्धी राजद्रोह। (घ) प्रलुण्ठन के सभी कार्य।

युद्ध के नियमों के उल्लंघन के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण निम्नलिखित हैं — (१) विषैले या निषिद्ध शस्त्रों का, दम घोटने वाली तथा विषैली गैसों का प्रयोग, (२) बीमारी या घावों के कारण असमर्थ सैनिकों अथवा हथियार डाल देने वाले सिपाहियों को मारना या घायल करना, (३) हत्यारों को पैसा देकर हत्या कराना, (४) धोखा देने की दृष्टि से बीमार या घायल होने का बहाना करना, (५) युद्धबन्दियों, आहतों और बीमारों के साथ दुर्व्यवहार, उनकी ऐसी सम्पत्ति तथा बहुमूल्य

१. ओपेनहाइम——इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ५६६

वस्तुओं को हथियाना, जो सार्वजनिक सम्पत्ति न हो, (६) निर्दोष असैनिक शत्रु-व्यक्तियों को मारना, उन पर हमला करना, उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति को लूटना, अधिकृत प्रदेश की जनता से शत्रु की प्रतिरक्षा के साधनों की जानकारी लेने के लिए उन पर दबाव डालना, (७) रणक्षेत्र में मृत व्यक्तियों के शवों को विकृत करना, इनकी ऐसी धनराशि तथा बहुमूल्य वस्तुओं को हथियाना जो सार्वजनिक सम्पत्ति न हो, (८) संग्रहालयों, चिकित्सालयों, चर्चों, स्कूलों तथा ऐसी अन्य संस्थाओं की सम्पत्ति नष्ट करना तथा हथियाना, (९) अरक्षित, खुले शहरों का धावा, घेरा और गोलाबारी, नौसेनाओं द्वारा अरक्षित स्थानों की गोलाबारी, असैनिक जनता पर केवल भय उत्पन्न आतंकित करने या हमला करने के उद्देश्य से की गई बमवर्षा, (१०) ऐतिहासिक स्मारकों, चिकित्सालयों, धर्म, कला, विज्ञान, परोपकार के कार्यों में लगी हुई तथा रैडक्रास आदि विशेष चिह्नों द्वारा अपनी इस स्थिति को प्रदर्शित करने वाली इमारतों पर अनावश्यक गोलाबारी, (११) जेनेवा अभिसमयों (देखिये ऊपर २२वाँ अध्याय) का उल्लंघन, (१२) ऐसे जहाजों पर आक्रमण या उनको डुबाना, जिन जहाजों ने समर्पण करने के लिए अपना झण्डा झुका दिया हो। तलाशी की प्रार्थना के बिना शत्रु के व्यापारिक जहाजों पर हमला करना, (१३) चिकित्सा के कार्य में लगे जलयानों पर आक्रमण और उन्हें पकड़ना, जेनेवा अभिसमय द्वारा निर्धारित समुद्री युद्ध के नियमों का तोड़ना, (१४) शत्रु के अभिगृहीत (Prize) माल का अनुचित विध्वंस, (१५) युद्ध में शत्रु के गणवेश (Uniform) का और समुद्री लड़ाई में शत्रु के झण्डे का उपयोग, (१६) शत्रुदेश के ऐसे व्यक्तियों पर आक्रमण, जिन्हें जाने के लिए पासपोर्ट मिले हों, या जिन्हें सुरक्षित गमन (Safe Conduct) का आश्वासन दिया गया हो, (१७) रण विराम (Truce) के झण्डे ले जाने वालों पर आक्रमण, (१८) रण विराम के झण्डों को प्रदान की जाने वाली सुरक्षा का दुरुपयोग।

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले युद्धापराधों के लिए प्रायः अभियोग नहीं चलाये जाते थे। उस समय यह रिवाज था कि युद्ध की समाप्ति पर दोनों पक्ष अपनी शान्ति-सन्धियों में सामान्य निर्मुक्ति (Amnesty) या क्षमा सम्बन्धी धारा रखते थे। इसके अनुसार युद्ध में गलत या अपकारपूर्ण (Wrongful) कार्य करने वाला को इन अपराधों के दण्ड से मुक्ति मिल जाती थी। शान्ति-सन्धि में स्पष्ट रूप से ऐसी व्यवस्था न रहने पर भी इस प्रकार की आम माफी युद्ध की समाप्ति का एक स्वाभाविक कानूनी परिणाम समझा जाता था।[2] किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर १९१९ की वर्साय की सन्धि के अनुच्छेद २२७ में उक्त प्रथा का परित्याग करते हुए मित्र एवं साथी (Allied and Associated) शक्तियों का यह अधिकार माना गया कि वे युद्ध के कानूनों और प्रथाओं का उल्लंघन करने वाले कार्यों को करने वाले जर्मनों पर सैनिक न्यायालयों में अभियोग चला सकते हैं। इसमें जर्मन सम्राट् कैसर के विरुद्ध सन्धियों की पवित्रता और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के उल्लंघन करने के अपराधों का मुकदमा चलाने की व्यवस्था

२. फैनविक—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६६८

थी। इनके अपराधों पर विचार करने के लिए पाँच महाशक्तियों का एक न्यायाधिकरण (Tribunal) भी बनाया गया। किन्तु डच सरकार ने अपने देश में शरण ग्रहण करने वाले भूतपूर्व जर्मन सम्राट् विलियम को समर्पण करने से इकार कर दिया (देखिये पृ० ३१०)। अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोग इस कानूनी कठिनाई के आधार पर नहीं चलाये जा सके कि अभियुक्त बताये जाने वाले व्यक्तियों ने अपने कार्य सैनिक आदेशों के अनुसार तथा उच्च अधिकारियों की आज्ञाओं का पालन करते हुए ही किये थे, अत उन्हें इसके लिये दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। इसके अतिरिक्त विधि-शास्त्र का एक सर्वसम्मत सिद्धान्त यह है कि पहले से विद्यमान (Pre existing) कानून के अभाव में किसी अपराध के लिये दण्ड नहीं दिया जा सकता। यही Nullum Crimen sini lege (नियमाभावे दण्डाभावः) का नियम है। उस समय युद्धापराधियों की जाच के लिये बनाये गये १५ व्यक्तियों के आयोग ने बेल्जियम की तटस्थता का भग करने तथा लुक्सेमबर्ग के विषय मे १८६७ की सन्धि का उल्लघन करना युद्धापराध नही माना। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लाइपजिग (Leipzig) के जर्मन सर्वोच्च न्यायालय में युद्धापराधों के लिये १६ व्यक्तियों पर मामले चलाये गये, इनमें केवल छ व्यक्तियों को मामूली दण्ड दिये गये।

न्यूरेम्बर्ग अभियोगों के प्रादुर्भाव का इतिहास (Nuremberg Trials, its Genesis)—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद १९३३ से हिटलर की नात्सी पार्टी के वार्षिकोत्सवों के अधिवेशन का स्थान बनने वाले नगर न्यूरेम्बर्ग में नात्सी जर्मनी के प्रसिद्ध नेताओं और सेनाधिकारियों पर विभिन्न युद्धापराधों के लिये अभियोग चलाये गये। इन पर ऐसे मामले चलाने का निश्चय १९४३ के मास्को सम्मेलन में हुआ था। इसमें ग्रेट ब्रिटेन, स० रा० अमरीका तथा रूस ने यह घोषणा की थी कि अत्याचारों, क्रूरताओं और हत्याकाण्डों के लिए उत्तरदायी जर्मन अधिकारियों और नात्सी पार्टी के व्यक्तियों को युद्ध के बाद उन देशों में अभियोग चलाने के लिए भेजा जायगा, जहाँ उन्होंने ये क्रूर कृत्य किये हों। १९४५ के याल्टा सम्मेलन में इस सकल्प को पुन दोहराया गया। इसके बाद लार्ड राइट की अध्यक्षता में **स० रा० युद्धापराध आयोग** (United Nations War Commission) इस उद्देश्य से बनाया गया कि वह युद्धापराधियों की सूची तैयार करे, उसे इन व्यक्तियों को गिरफ्तार करने का भी अधिकार दिया गया। अगस्त १९४५ में ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस, स० रा० अमरीका और फ्रास में यह समझौता हुआ कि युद्धापराधियों की जाँच के लिए एक **अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण** (International Military Tribunal) नियत किया जाय। इस समझौते के साथ एक चार्टर भी सलग्न था, इसमें न्यायाधिकरण के सविधान, कार्यों तथा क्षेत्राधिकार का वर्णन था। इसके आधार पर न्यूरेम्बर्ग में नात्सी नेताओं पर युद्धापराधों के मामले चलाये गये।

न्यूरेम्बर्ग के अभियोगों का औचित्य सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं। पहली युक्ति यह है कि जर्मनी सहित राष्ट्र सघ ने २४ सितम्बर १९२७ को अनाक्रमणात्मक युद्ध (Aggressive War) को अपराध घोषित किया था। दूसरी

युक्ति १९२८ के युद्ध-विरोधी केलाग ब्रीयाँ पैक्ट (Kellogg-Briand Pact) की है। इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के समाधान के लिये युद्ध के उपाय की निन्दा करते हुए, इन्हे शान्तिपूर्ण उपायो से सुलझाने पर बल दिया गया था। इस समझौते पर जर्मनी, जापान और इटली के हस्ताक्षर थे। इन सबने इस पैक्ट द्वारा राष्ट्रीय नीति के रूप मे युद्ध न छेड़ने का वचन दिया था। तीसरी युक्ति युद्ध मे धुरी राष्ट्रो द्वारा किये जाने वाले असाधारण क्रूरता के कार्य थे। इनके कारण मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद उससे इनके प्रतिकार का पूरा निश्चय कर लिया। इसीलिये उपर्युक्त न्यायाधिकरण तथा उसके द्वारा पालन किये जाने वाले नियमो और युद्धापराधो के लिये कानून भी बना दिया गया। उसका यह कहना था कि जर्मनी द्वारा आत्मसमर्पण करने के बाद उन्हे पराजित तथा अधिकृत देश के लिये कानून बनाने का पूरा अधिकार है। वर्साय की सन्धि के बाद नियमो के अभाव मे मुकद्मे न चल सकने के दोष को तथा अन्य दोषो को पहले से ही दूर करने के लिये उपर्युक्त चार्टर बनाया गया था।

इस चार्टर के अनुसार, न्यायाधिकरण ने न्यूरेम्बर्ग मे २० नवम्बर १९४५ से जर्मन युद्धापराधियो के मामले सुनने शुरू किये, ३१ अगस्त १९४६ तक ये मामले चलते रहे। १ अक्टूबर १९४६ को न्यायाधिकरण ने अपना निर्णय सुनाते हुए २२ नात्सी नेताओ मे से तीन को मुक्त कर दिया, बारह को प्राणदण्ड, तीन को आजीवन कारावास का तथा चार को विभिन्न अवधि के कारावास का दण्ड दिया।

न्यायाधिकरण का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Tribunal)— उपर्युक्त चार्टर मे न्यायाधिकरण के क्षेत्राधिकार का वर्णन करते हुए उसे निम्न तीन प्रकार के अपराधो की जाँच का अधिकार दिया गया था—(क) **शान्ति के विरुद्ध किये गये अपराध**, ये ऐसे अपराध थे—आक्रमणात्मक युद्ध (Aggressive War) की योजना बनाना, इसकी तैयारी करना, इसका आरम्भ और सचालन करना अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो, समझौतो, आश्वासनो का उल्लघन करते हुए युद्ध करना, उपर्युक्त प्रकार के युद्धो की पूर्ति के लिये किसी सामान्य योजना या षड्यन्त्र मे भाग लेना, (ख) **युद्धापराध**—युद्ध की प्रथाओ तथा नियमो को तोड़ना, जैसे अधिकृत प्रदेश मे असैनिक जनता की हत्या और दुर्व्यवहार, युद्धवन्दियो की हत्या या दुर्व्यवहार, शरीरबन्धको (Hostages) की हत्या, सार्वजनिक या वैयक्तिक सम्पत्ति की लूट, सैनिक आवश्यकता न होने पर नगरो का निरर्थक विध्वस, (ग) **मानवीयता के विरुद्ध अपराध**—युद्ध से पहले या युद्ध के समय असैनिक जनता के साथ किये जाने वाले अमानवीय कार्य, इन्हे दास बनाना और इनकी हत्या करना, राजनीतिक, जातीय (Racial) या धार्मिक मतभेद के आधार पर अत्याचार करना।

न्यूरेम्बर्ग न्यायाधिकरण मे अभियुक्तो पर यह आरोप था कि उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो, समझौतो और आश्वासनो का उल्लघन करके आक्रमणात्मक युद्ध की योजना बनाई, उसे सचालित किया। नात्सी पार्टी इसका माध्यम थी। इसके उद्देश्य ये थे—(क) वर्साय की सन्धि को तथा इस द्वारा जर्मनी के सैनिक पुन

शस्त्रीकरण पर लगाये गये प्रतिबन्धों को भग करना, (ख) प्रथम विश्वयुद्ध मे जर्मनी द्वारा खोये हुए प्रदेश को प्राप्त करना, (ग) योरोप मे जर्मनी के विस्तार (Lebensraum) के लिए जर्मन नस्ल द्वारा आबाद अन्य प्रदेशो को हस्तगत करना। लुक्सेमबर्ग मे नात्सी जर्मनी के गुप्त पुलिस विभाग—गेस्टापो (Gestapo) ने १००० नागरिको को अवैध रीति से प्राणदण्ड दिया। विशाल जनसख्याओं के उन्मूलन के लिये वृन्दवादन (orchestra) के सगीत के साथ बडे पैमाने पर बडे जनसमूहो को गोलियो का शिकार बनाया गया, पानी के टबो मे ठण्ड से मारा गया, बाल्टिक राज्यो मे, लेनिनग्राड, स्टालिनग्राद तथा अन्य नगरो मे असैनिक जनता को गोलियो से भूना गया। युद्धबन्दियो के लिए समुचित भोजन, वस्त्र, चिकित्सा और निवास की व्यवस्था नहीं की गई, उनसे बेगार मे जबर्दस्ती काम लिया गया। युद्ध के नियमो के प्रतिकूल शरीरबन्धको (Hostages) का वध किया गया।

इन आरोपो के उत्तर मे अभियुक्तों ने अपनी यह सफाई पेश की—(क) उन पर अग्राक्रमणात्मक युद्ध की योजना बनाने तथा सचालन करने का आरोप सिद्ध नहीं किया जा सका। (ख) सब सभ्य देशो मे विधिशास्त्र का यह मौलिक सिद्धान्त है कि कानून के पहले विद्यमान होने पर ही उसका उल्लघन करने पर दण्ड दिया जाता है, न कि कोई घटना हो जाने पर उसके सम्बन्ध मे कानून बना दिया जाय और उस कानून द्वारा उसके कानून के बनने से पहले किये गये अपराधो के लिए व्यक्तियों को दण्डित किया जाय। घटना के बाद बनाये जाने वाला (Ex-post facto) और भूतकाल मे अपना प्रभाव रखने वाला कानून (Retroactive law) सर्वथा अन्यायपूर्ण है, क्योकि विधिशास्त्र Nullum crimen sine lege (नियमाभावे दण्डाभाव) का सिद्धान्त मानता है। इस मुकद्दमे मे दण्ड देने वाला कानून १९४५ के चार्टर मे बनाया गया है और इसके अनुसार इस कानून के बनने से पहले के छ वर्षो मे किये गये तथाकथित अपराधो के लिए उन्हे दण्डित किया जा रहा है। उपर्युक्त चार्टर बनने से पहले किसी प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य ने अग्राक्रमणात्मक युद्ध (Aggressive War) को अपराध घोषित नहीं किया था और इस कार्य को अपराध बनाने वाला कोई अन्य कानून नहीं था और ऐसी दण्ड व्यवस्था भी नहीं थी, इस अपराध के लिये दण्ड देने वाला कोई न्यायालय नहीं था। अत अभियुक्तो को वर्तमान न्यायालय द्वारा इन अपराधो के लिये दण्डित नहीं किया जा सकता। (ग) युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार के आरोप की सफाई मे कहा गया था कि रूस ने इस विषय मे जेनेवा अभिसमय (Convention) पर हस्ताक्षर नहीं किये थे, अत उसके युद्धबन्दियो के सम्बन्ध मे उपर्युक्त अभिसमय को लागू नहीं किया जा सकता। (घ) अभियुक्तो का यह कहना था कि युद्ध की योजना हिटलर ने बनाई थी, उन्होने केवल उसकी आज्ञाओं का पालन किया है। आज्ञापालन उनका कर्तव्य था, इसके लिए उनके विरुद्ध मामला नहीं चलाया जा सकता। युद्ध का सारा उत्तरदायित्व हिटलर पर है। (ङ) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार युद्ध राज्य का कार्य है, इसका सारा उत्तरदायित्व राज्य पर होना है, न कि व्यक्तियो पर। अत. व्यक्तियों को इसके लिए दण्डित नहीं किया जा सकता।

न्यायाधिकरण ने अपने निर्णय मे सफाई पक्ष की उपर्युक्त युक्तियो को निम्नलिखित कारणों के आधार पर स्वीकार नही किया—(क) न्यायाधिकरण इसका निर्माण करने वाले तथा इसका क्षेत्राधिकार निश्चित करने वाले चार्टर से बँधा हुआ है। मित्रराष्ट्रो को इसे बनाने का पूरा अधिकार था, जर्मनी ने उनके आगे बिना शर्त आत्मसमर्पण किया था; अत वे अधिकृत प्रदेश के लिए कानून बना सकते थे। चार्टर कोई मनमाना कानून नही है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अभिव्यक्ति है। (ख) न्यायालय की सम्मति मे अनाक्रमणात्मक युद्ध का सचालन न केवल अन्तर्राष्ट्रीय अपराध था, अपितु सर्वोच्च (Supreme) अन्तर्राष्ट्रीय अपराध था, अन्य युद्धापराधो से यह केवल इसी अश मे भिन्न था कि इसमे सभी युद्धापराधो की बुराई पुजीभूत होती है। जर्मनी का पोलैण्ड के विरुद्ध छेडा गया युद्ध अनाक्रमणात्मक था। बेल्जियम, हालैण्ड और लुक्सेमबर्ग पर तथा डेन्मार्क और नार्वे पर हमले का कोई उचित कारण नहीं था। यह विशुद्ध रूप से इन देशो के विरुद्ध अनाक्रमण (Aggression) था। (ग) न्यायालय ने नियम के अभाव मे दण्ड के अभाव की (Nullum crimen sine lege) युक्ति स्वीकार नही की। "यह मानना सर्वथा असत्य है कि सन्धियो और आश्वासनो की अवहेलना करके पडोसी राज्यो पर हमला करने वाले व्यक्तियो को दण्डित करना अन्यायपूर्ण है, क्योकि ऐसी परिस्थितियो मे आक्रान्ता को इस बात का ज्ञान अवश्य होता है कि वह गलत कार्य कर रहा है। इस अवस्था मे उसको दण्डित करना नही, किन्तु दण्डित न करना अन्यायपूर्ण है। अभियुक्त जर्मन सरकार मे बडे ऊँचे पदो पर थे, उन्हे जर्मनी द्वारा की गई सन्धियो का ज्ञान था। उन्हे यह भी मालूम था कि जर्मनी अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के निर्णय के लिए युद्ध के उपाय का अवलम्बन करना १९२८ मे केलाग ब्रीआँ पैक्ट द्वारा अवैध घोषित कर चुका है। उन्हे यह बात अच्छी तरह ज्ञात थी कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन कर रहे हैं। इस अवस्था मे उन पर 'नियमाभावे दण्डाभाव' का तथा घटनोत्तर विधि (Ex post facto law) का नियम लागू नही होता। (घ) न्यायालय ने अभियुक्तो का यह तर्क भी स्वीकार नही किया कि युद्ध करना राज्य का कार्य है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य होते है, अत व्यक्तियो को इन नियमो का उल्लघन करने के लिए दण्डित नही किया जा सकता। अभियुक्तो ने ये सब कार्य हिटलर के आदेश से किए थे, वे आज्ञापालन के लिए बाध्य थे, अत वे इनका पालन करते हुए किए गए अपराधो के लिए उत्तरदायी नही हैं। इस विषय मे न्यायालय का यह मत था कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध अपराध करने वाले नर-नारी होते हैं, न कि अमूर्त सत्तायें। ऐसा अपराध करने वाले व्यक्तियो को दण्ड देकर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्थाओ को लागू किया जा सकता है।" ऐसे अपराध करने वाले अपने बचाव के लिए सरकारी पद पर होने की युक्ति नही दे सकते। न्यायालय के शब्दो मे 'युद्ध के नियम तोडने वाला इस युक्ति के आधार पर दण्ड से मुक्ति नही पा सकता कि उसने राज्य के आदेश का पालन करते हुए ऐसा कार्य किया है। यदि राज्य का यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण करता है, तो इसे करने वाला व्यक्ति अवश्य दण्डित होना चाहिए।" यदि किसी सैनिक को युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को तोडते हुए किसी

की हत्या करने या यातना देने का आदेश दिया जाय तो इस पाशविक कार्य के लिये यह सफाई नही दी जा सकती कि यह आदेश का पालन करने के लिए किया गया है। अभियुक्तों ने यह युक्ति दी है कि "उन्होने ये कार्य हिटलर के आदेश से किए है, इसमे वे इन कार्यो के लिए अपने उत्तरदायित्व से नही बच सकते, किन्तु इसके आधार पर उनके दण्ड मे न्यूनीकरण (Mitigation) हो सकता है।" किन्तु "उच्चाधिकारी का सैनिक को दिया गया आदेश उस अवस्था मे उसके दण्ड के न्यूनीकरण मे भी सहायक नहीं हो सकता, जबकि अपराध जानबूझकर, निर्दयतापूर्वक बिना किसी उचित कारण के व्यापक पैमाने पर किए गए हो तथा (मानवीयता को गहरा) आघात पहुँचाने वाले हो।"

न्यायालय की सम्मति मे उसके समक्ष उपस्थित की गई साक्षी मे यह सिद्ध हो गया था कि कुछ अभियुक्तो ने अनाक्रमणात्मक युद्धो के आयोजन और संचालन मे भाग लिया है। इस विषय मे यह तर्क नहीं माना जा सकता कि वे हिटलर की अधिनायकता (Dictatorship) मे थे, हिटलर इनके सहयोग के बिना अनाक्रमणात्मक युद्ध नही चला सकता था, उसके लिए राजनीतिज्ञो, सैनिक नेताओ, उद्योगपतियों का सहयोग आवश्यक था। अत हिटलर के उद्देश्य को जानते हुए भी जब इन्होने उसको सहयोग दिया तो ये उसके अनाक्रमणात्मक युद्धो की योजना मे सम्मिलित हो गये। अतएव ये युद्धापराधो के आरोप से मुक्त नहीं हो सकते। न्यायाधिकरण ने इन्हे अपराधी मानते हुए विभिन्न दण्ड दिए।

न्यूरेम्बर्ग अभियोगो का महत्व तथा आलोचना (Importance and Criticism of Nuremberg Trials)—न्यूरेम्बर्ग के अभियोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे कई कारणो से असाधारण महत्व रखते है। **पहला कारण** यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे नवीन सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। इससे पहले परम्परागत दृष्टिकोण यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य है, व्यक्ति इसका विषय नही हो सकते, अन्तर्राष्ट्रीय नियमो का उल्लघन करने के लिए उन पर कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता, क्योंकि राज्य द्वारा निश्चित नीति के अनुसार उत्तराधिकारियो के आदेश से ही वे ऐसे कार्य करते हैं। न्यूरेम्बर्ग न्यायालय ने इस दृष्टिकोण को तथा इन युक्तियों को अस्वीकार करते हुए व्यक्तियो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लघन के लिए उत्तरदायी समझने के नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय (Subject) माना (देखिये अध्याय १५)। **दूसरा** कारण यह था कि इसने राष्ट्रों के कानून के इतिहास मे पहली बार हेग अभिसमयो, वर्साय सन्धि, १६२५ के लोकार्नो पैक्ट तथा १६२८ के पेरिस पैक्ट द्वारा निश्चित किए गए अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को लागू करने का प्रयत्न किया। **तीसरा** कारण यह था कि इसने युद्ध के नियमो को भग करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करके भविष्य मे ऐसा कार्य करने वालों को कडी चेतावनी दी। यह सम्भव है कि इन दण्डो से भयभीत होकर आगे युद्ध के नियमों का इतने बडे पैमाने पर उल्लघन न किया जाय, जैसा कि दूसरे विश्वयुद्ध मे जर्मनी द्वारा हुआ। इसने अनाक्रमणात्मक युद्ध छेड़ने को अपराध मानते हुए ऐसा करने वालो को दण्डित किया, यदि भविष्य मे दण्ड के भय से ऐसे युद्ध न हो तो ससार मे स्थायी शान्ति की सभावनाये

बढ सकती है। चौथा कारण यह है कि इससे विश्व के राष्ट्रों मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास और सहिताकरण की प्रवृत्ति प्रबल हुई है। युद्धापराधो का कानून पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विशद हुआ है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करने की सम्भावनाये बढा दी हैं। पांचवां कारण यह है कि इसने विजेताओ द्वारा पराजित शत्रुओ के नेताओ को दण्डित करके ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण उदाहरण स्थापित किया है कि भविष्य मे विजेता राष्ट्र इस प्रकार शत्रुदेशो के नेताओं का उन्मूलन किया करेंगे।

न्यूरेम्बर्ग अभियोगो की कई दृष्टियो से बडी कडी आलोचना की गई है। (१) ये अभियोग एकपक्षीय थे, केवल मित्रराष्ट्रो द्वारा धुरी राष्ट्रो के नेताओं और उच्चाधिकारियो पर चलाये गए थे। वस्तुत युद्धापराध कम या अधिक मात्रा मे दोनो पक्षो द्वारा हुए थे। फ्रच प्रतिरोध आन्दोलन के नेता मिन्थोम (M de Menthom) ने कहा था—"कोई भी देश अपने प्रदेश मे निर्दोष नही था, प्रत्येक युद्ध स्वयमेव ऐसी बुराइयाँ उत्पन्न करता है कि इसमे वैयक्तिक और सामूहिक अपराध होने हैं क्योंकि युद्ध मनुष्य मे सोयी हुई दुर्भावनाओ को जागृत कर देता है।" केवल जर्मनी ने ही युद्ध का परित्याग करने वाले १९२८ के पेरिस पैक्ट का उल्लघन किया हो, सो बात नही है। रूस ने भी फिनलैंड पर १९३९ मे हमला करके इसका अतिक्रमण किया था। किन्तु रूसी अधिकारियों पर इसके लिए कोई अभियोग नही चलाया गया क्योंकि 'समरथ को नहीं दोष गुसाईं'। (२) प्राध्यापक स्मिथ का कहना है कि इनमे न्याय के मौलिक सिद्धान्त—निष्पक्षता का पालन नही किया गया। (३) कई सुप्रसिद्ध विधिशास्त्रियो का मत है कि इस न्यायालय द्वारा लागू की जाने वाली घटनोत्तर विधि (Ex post facto law) और इसके अनुसार दिए जाने वाले दण्ड राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल थे। स्मिथ ने बताया है कि १९४२ तक सैनिक कानून की ब्रिटिश नियमावली (British Manual) मे युद्धापराध के आरोप से मुक्ति पाने के लिए उच्चाधिकारियो के आदेश का होना उत्तम बचाव (Defence) समझा जाता था। किन्तु अप्रैल १९४० मे इस व्यवस्था को नियमावली से निकाल दिया गया। (४) न्यूरेम्बर्ग के अभियोगो म पेरिस के पैक्ट को बहुत महत्व दिया गया था, इसका उल्लघन करने के कारण जर्मन नेताओं को दण्डित किया गया। किन्तु "पैक्ट के शब्द दण्ड व्यवस्था का विधान करने वाले नहीं थे, व कानून की नहीं किन्तु धर्मशास्त्र की भाषा मे थे। उनके आधार पर किसी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकता था।" जब जापान ने मचूरिया मे चीन पर हमला करके तथा इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण करके पेरिस के पैक्ट का उल्लघन किया, तो उन पर आक्रान्ता होने का कोई अभियोग नही चलाया गया। फिर जर्मनी पर आस्ट्रिया चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करने के लिए क्यो मामला चलाया जाय? (५) यह कहना सत्य नहीं है कि इस अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण की स्थापना का आधार—ऐतिहासिक तथा कानूनी पूर्वोदाहरण (Legal Precedents) के रूप मे अभिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) थे। शिक (Schick) ने इसका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि यह सत्य है कि अभिग्रहण न्यायालय पहले विजयी राष्ट्रो द्वारा बनाए गए थे, किन्तु इनका सैनिक

न्यायालय से एक महत्त्वपूर्ण मौलिक भेद यह है कि फौजदारी मामलो मे इनका क्षेत्राधिकार नही होता था। न्यूरेम्बर्ग के न्यायालय का एक बडा दोष यह भी था कि इसके सभी न्यायाधीश विजेता राष्ट्रो के थे। इनमे यदि तटस्थ देशो के तथा जर्मनी के भी कुछ विधिशास्त्री न्यायाधीश रखे जाते तो यह न्यायाधिकरण अधिक निष्पक्ष होता।

टोकियो अभियोग (Tokyo Trials)—न्यूरेम्बर्ग के न्यायालय ने जर्मन युद्धापराधियों के मामलो पर विचार किया था, जापानी नेताओ तथा सैन्याधिकारियो के युद्धापराधो की जाँच टोकियो मे की गई। २० जुलाई १९४५ की मित्रराष्ट्रो की पोटसडम घोषणा मे तथा २ सितम्बर १९४५ के जापान के समर्पणपत्र मे ऐसी जाँच करने का उल्लेख था। तदनुसार ऐसी जाँच के लिए स्थापित किए जाने वाले "सुदूर पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण" (International Military Tribunal for the Far East) के सविधान का चार्टर सर्वोच्च सेनानायक जनरल मैकार्थर ने १९ जनवरी १९४६ को स्वीकार किया। यह न्यूरेम्बर्ग न्यायालय के चार्टर जैसा था। इसके अनुसार जापान से लडने वाले ग्यारह देशो—स० रा० अमरीका, चीन, ग्रेट ब्रिटेन, रूस, आस्ट्रेलिया, कनाडा, फ्रास, भारत आदि का एक-एक प्रतिनिधि इसमे न्यायाधीश बना। भारत के प्रतिनिधि कलकत्ता के सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री श्री राधाविनोदपाल थे। इस न्यायालय के सभापति आस्ट्रेलिया के सर विलियम वैब थे। इसमे ग्यारह देशो ने २८ अभियुक्तो पर विभिन्न प्रकार के आरोप लगाए। यह जाँच ४ जून १९४६ से १४ नवम्बर १९४८ तक चलती रही।

इसमे अभियुक्तो पर तीन प्रकार के पचपन आरोप थे। (क) ३६ आरोप **शान्ति के विरुद्ध किये गये अपराधो** के सम्बन्ध मे थे। इनमे उल्लेखनीय अपराध ये थे—पूर्वी एशिया, प्रशात महासागर तथा हिन्द महासागर पर प्रभुता पाने के लिए षड्यन्त्र करना, मचूरिया और चीन पर प्रभुत्व स्थापित करना, १९ देशो के विरुद्ध अवैध युद्ध छेडना और उसका सचालन करना, जर्मनी और इटली के साथ मिलकर विश्व पर प्रभुता पाने की दृष्टि से षड्यन्त्र करना तथा अपने विरोधियो के साथ अवैध युद्धो का सचालन करना। (ख) १६ आरोप हत्याविषयक थे। इनमे निम्न अपराधो का समावेश था—शान्ति काल मे हेग के तीसरे अभिसमय का तथा अन्य सन्धियो का उल्लघन करते हुए जापानी सशस्त्र सेनाओ द्वारा स० रा० अमरीका, फिलिप्पाइन द्वीप समूह, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल, हालैण्ड और स्याम की जनता पर आक्रमण करना तथा इनका वध कराना, ७ तथा ८ दिसम्बर १९४१ को पर्लहार्बर मे तथा हागकाग और शघाई पर जापान की सशस्त्र सेनाओ का आक्रमण। (ग) तीन आरोप अन्य युद्धापराधो तथा मानवीयता के विरुद्ध अपराधो के सम्बन्ध मे थे। ये निम्नलिखित थे—सयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल, फ्रास, हालैण्ड, चीन और रूस के हजारो युद्धबन्दियो तथा असैनिक व्यक्तियो के साथ क्रूरता के कार्य करते हुए युद्ध के नियमो तथा सन्धियो का भग करने के लिए जापानी सेनापतियो को तथा युद्ध मन्त्रालय के अधिकारियो को आदेश देना।

अभियुक्तो ने जाँच के आरम्भ मे ही यह आपत्ति उठायी कि उन्हे इस न्यायालय

से न्याय की आशा नही है क्योकि इसके सभी न्यायाधीश विजेता राज्यो के प्रतिनिधि हैं। किन्तु जजो ने उनकी इस आपत्ति को इस आधार पर रद्द कर दिया कि विजेता राज्यो के प्रतिनिधि होते हुए भी वे यहाँ न्यायासन पर अपने वैयक्तिक रूप मे बैठे हुए हैं। न्यायालय ने अपना विचार करने के बाद केवल उन्ही व्यक्तियो को प्राणदण्ड दिया, जिन पर अन्य अपराधो के अतिरिक्त ये आरोप भी थे कि उन्होने युद्धबन्दियो के तथा असैनिक जनता के सम्बन्ध मे युद्ध के नियमो और समझौतो का उल्लघन किया तथा युद्धापराध करने की आज्ञा या अनुमति दी, केवल शान्ति के विरुद्ध अपराध करने वालो को विभिन्न अवधि के कारावास के दण्ड दिए गए।

भारत के प्रतिनिधि डा० राधाविनोदपाल ने न्यायालय के बहुमत के निर्णय से असहमति प्रकट करते हुए अपना पृथक् निर्णय दिया। इसमे अग्राक्रमणात्मक युद्ध के स्वरूप तथा युद्धापराधो के जटिल प्रश्न पर बडा सुन्दर प्रकाश डाला गया है। उनके मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे युद्ध अभी तक कानून के क्षेत्र मे नही आया। पेरिस का पैक्ट सब देशो के लिए अनिवार्य रूप से पालन की जाने वाली व्यवस्था नही है, अभी तक कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय कानून या रिवाज नही है, जो युद्ध को अपराध बनाता हो। जापानी प्रधानमन्त्री तोजो तथा उसके साथियो ने अपने सब कार्य देशभक्ति के उद्देश्यो से प्रेरित होकर किए हैं। इनकी तुलना नाजी पार्टी के कार्यों से नही हो सकती। जापान की जनता नाजी जर्मनी की भाँति दास नही बनाई गई थी, उसे अपने धर्म, विश्वास और आचरण के विषय मे पूरी स्वतन्त्रता थी। १ जनवरी १९२८ से २ सितम्बर १९४५ तक जापानी नेताओ द्वारा पूर्वी एशिया की जनता के विरुद्ध युद्ध छेडने के षड्यन्त्र करने की बात सिद्ध नही की जा सकी। यदि उन्होने ऐसा षड्यन्त्र किया हो तो भी वे अपराधी नही हैं, क्योकि अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से ऐसा षड्यन्त्र करना अपराध नही है। अत माननीय न्यायाधीश की सम्मति मे सभी अभियुक्तो पर जो आरोप लगाए गए है, वे उनके दोषी नही है और इन्हे मुक्त कर दिया जाना चाहिए। अपने निर्णय के अन्त मे डा० राधाविनोदपाल ने लिखा था—"न्याय करने वाले अधिकरण के रूप मे हम किसी भी रूप मे ऐसा व्यवहार नही कर सकते, जिसके आधार पर लोग अपनी इस भावना को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न करे कि इसकी स्थापना का उद्देश्य वस्तुत राजनीतिक था, किन्तु इसे न्यायिक आवरण से ढाँप दिया गया है। प्रतिशोधपूर्ण प्रतिकार को दीर्घ बनाने के उद्देश्य से न्याय के नाम का अवलम्ब नही लेना चाहिए। विश्व को इस समय वस्तुत उदार विशालचित्तता तथा एक दूसरे को समझने वाले प्रेमभाव (Generous magnanimity and understanding charity) की आवश्यकता है। • जब समय बीतने पर उत्तेजित भावनाये और पक्षपात शान्त हो जायेगे, बुद्धि भ्रान्ति के आवरण को विच्छिन्न कर देगी, उस समय न्याय की देवी अपने दोनो पलडो को सन्तुलित रूप मे थामेगी और भूतकाल की बहुत-सी निन्दा और स्तुति अपना स्थान परिवर्तन कर लेगी।" यह निर्णय वस्तुत वाल्मीकि रामायण मे रावण के वध के बाद श्री रामचन्द्र जी द्वारा स्थापित 'मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्त नः प्रयोजनम्' की गौरवपूर्ण परम्परा का अनुसरण करता है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

युद्ध की समाप्ति तथा पूर्वावस्था

(The Termination of War and Postliminium)

युद्धावसान की रीतियाँ (Modes of Termination of War)—प्रत्येक युद्ध की समाप्ति अवश्यम्भावी है। ओपेनहाइम के मतानुसार इसकी तीन रीतियाँ हैं।[1] पहली रीति युद्ध करने वाले दोनों पक्षों द्वारा लड़ाई के शत्रुतापूर्ण कार्यों को बन्द कर देना है। इसमें विशेष सन्धि द्वारा शान्ति स्थापित किये बिना ही दोनों पक्ष लड़ना बन्द कर देते हैं। दूसरी रीति शान्ति की विशेष सन्धि करके विधिपूर्वक शान्ति की परिस्थितियों को स्थापित करना है। तीसरी रीति शत्रु के वशीकरण (Subjugation) द्वारा युद्ध का अवसान करना है। सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री हाइड (Hyde) ने चौथी रीति एक पक्ष द्वारा इसकी औपचारिक घोषणा करना बताया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वर्साय की सन्धि सं० रा० अमरीका की सीनेट द्वारा रद्द हो जाने पर, कांग्रेस के दोनों सदनों ने २१ मई १९२० को एक संयुक्त प्रस्ताव पास करके जर्मनी के साथ युद्ध का अवसान किया। इसके बाद २५ अगस्त १९२१ को दोनों देशों में हुई एक शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इसी प्रकार ३० सितम्बर १९१९ को चीन की सम्राट् ने यह प्रस्ताव पास किया कि जर्मनी और चीन के मध्य पुनः शान्ति सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं, इस घोषणा के बाद २० मई १९२१ को दोनों देशों में शान्ति-सन्धि (Peace Treaty) हुई। यहाँ युद्धावसान की उपर्युक्त तीन रीतियों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

(क) शत्रुतापूर्ण कार्यों का बन्द होना (Cessation of Hostile Acts)—जब दोनों पक्ष लड़ाई के सब कार्य बन्द कर देते हैं तो युद्ध स्वयमेव समाप्त हो जाता है, भले ही इसे बन्द करने के लिए विधिपूर्वक कोई सन्धि न की गई हो। उदाहरणार्थ, फ्रांस ने मेक्सिको में सम्राट् मैक्सिमिलियन को गद्दी पर बिठाने के लिए इसमें १८६४ में युद्ध शुरू किया। तीन वर्ष तक यह लड़ाई चलने के बाद फ्रांस ने मैक्सिमिलियन का समर्थन करना छोड़ दिया, इससे यह लड़ाई स्वयमेव बन्द हो गई। इसी प्रकार १८६५ से १८६८ तक चलने वाला स्पेन और चिली का युद्ध इसलिए समाप्त हो गया कि स्पेन ने अपनी शर्तें पूरी कराने का प्रयत्न बन्द कर दिया। १७१६ में स्वीडन और पोलैण्ड का, १७२० में फ्रांस और स्पेन का तथा १८०१ में रूस और ईरान का युद्ध इसी प्रकार बन्द हुआ।

किन्तु युद्धावसान की यह रीति कई कारणों से असुविधाजनक है, अतएव

---

१. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५९६-७

इसकी प्रथा अब लुप्त हो रही है। इसका सबसे बडा दोष यह है कि इसमे यद्यपि लडाई बन्द हो जाती है, किन्तु युद्धावस्था (State of war) का विधिपूर्वक अवसान नही किया जाता, इससे अनेक कानूनी पेचीदगियाँ उत्पन्न हो जाती है, युद्धावस्था के लिये बनाये गए कानून लडाई बन्द होने पर भी चलते रहते है और इनमे व्यक्तियो को न्याय प्राप्त करने मे बडी असुविधा होती है। उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्वयुद्ध बन्द होने के तीन वर्ष बाद १९४८ मे स० रा० अमरीका मे एक जर्मन नागरिक ने 'शत्रु विदेशी कानून' (Enemy Alien Act) के अनुसार उसे देश से निकालने के आदेश को रद्द करने के लिये न्यायालय को बन्दीप्रत्यक्षीकरण (Habeus Corpus) की याचिका दी, उसका यह कहना था कि लडाई १९४५ मे जर्मनी द्वारा आत्मसमर्पण करने पर बन्द हो चुकी है, किन्तु न्यायाधीशो का यह निर्णय था कि जर्मनी और अमरीका मे कोई शान्ति सन्धि न होने के कारण युद्धावस्था और उसके सब कानून यथापूर्व बने हुए है इसलिये उसके देशनिर्वासन की आज्ञा ठीक है। २ सितम्बर १९४५ को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया, किन्तु स० रा० अमरीका के न्यायालयो ने अनेक मामलो मे यह घोषणा की कि जब तक जापान से सन्धि नही होती तब तक दोनो देशो मे युद्धावस्था है। केवल लडाई के कार्य बन्द कर देने से युद्ध का अवसान करने का बडा दुष्परिणाम यह है कि उसमे कानूनी दृष्टि से युद्धावस्था बनी रहती है। इस कारण बडी अनिश्चितता का वातावरण होता है। अत युद्ध की समाप्ति के लिए शान्ति-सन्धि की अथवा इसकी समाप्ति की घोषणा करना आवश्यक समझा जाता है।

सादी रणनिवृत्ति (Simple Cessation of Hostilities) मे दोनो पक्षो के सम्बन्धो को व्यवस्थित करने वाली शान्ति-सन्धि न होने के कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि दोनो पक्षो की स्थिति युद्ध से पहले की यथापूर्व स्थिति (*Status quo ante bellum*) मानी जाय या लडाई बन्द होने के बाद की स्थिति (Status quo post bellum) मानी जाय। पिछली स्थिति को **जितभोगाधिकार या जितस्वत्व** (Uti possidetis) की स्थिति कहते है। आगे (पृ० ५१०) इसका वर्णन होगा। अधिकाश विधिशास्त्रियो का यह मत है कि दूसरी स्थिति ठीक है, सादी रणनिवृत्ति के बाद जिस पक्ष के पास जितना जीता हुआ प्रदेश, सम्पत्ति या अन्य वस्तुये होती है, उन पर उसका स्वत्व मूक भाव से मान लिया जाता है। इसका यह कारण है कि यदि शत्रु द्वारा सैनिक दृष्टि से अधिकृत प्रदेश को बिना लिए ही दूसरा पक्ष लडाई बन्द कर देता है तो यह मानना सर्वथा स्वाभाविक है कि उसने अपने प्रदेश पर अपना अधिकार स्वयमेव छोड दिया है।

(ख) वशीकरण (Subjugation)—पहले (पृ० ४८९) यह बताया जा चुका है कि वशीकरण और विजय (Conquest) मे सूक्ष्म अन्तर है। विजय सैनिक शक्ति द्वारा शत्रु के प्रदेश को जीतना तथा उस पर अधिकार करना है। जब कोई शक्ति अपनी सेना द्वारा शत्रु के प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित कर लेती है तो उस प्रदेश की विजय हो जाती है। किन्तु यह शत्रु के प्रबल होने पर पराजय मे भी परिणत हो सकती है, यहाँ वह अपना स्वत्व पुन स्थापित कर सकता है। विजित शत्रु

के साथ विजेता उदार व्यवहार करते हुए उसे अपना प्रदेश वापिस लौटा सकता है, उसके साथ शान्ति संधि कर सकता है। वशीकरण विजय के बाद की अगली स्थिति है। जब किसी प्रदेश को सेनाओं द्वारा पूरी तरह जीतने के बाद विजेता शत्रुराज्य का समूलोन्मूलन करके उसे अपने राज्य का अंग बना लेता है तो यह वशीकरण है। इसमें शत्रु की सेनाओं के विध्वंस और प्रदेश की विजय के बाद, अंगीकरण (Annexation) द्वारा शत्रु की सत्ता बिल्कुल समाप्त कर दी जाती है।

इतिहास में वशीकरण के अनेक उदाहरण हैं। अंग्रेजों ने तृतीय बर्मा युद्ध (१८८६) के बाद वहाँ के राजा को हराकर उसे भारत के ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। आधुनिक इटली का निर्माण सार्डीनिया के राज्य द्वारा १८५९ में दो सिसलियों के राज्य के तथा टस्कनी, पार्मा, मोडेना की डचियों के तथा १८७० में पोप के राज्यों के वशीकरण द्वारा हुआ। १८६६ में प्रशिया ने हनोवर के राज्य, नासौ (Nassau) की डची तथा हस्से कैसल के एलेक्टोरेट[1] तथा माइन नदी के फ्रैंकफोर्ट का वशीकरण किया। १९०० में ग्रेट ब्रिटेन ने आरेंज फ्री स्टेट तथा दक्षिण अफ्रीका के गणराज्य को और १९३६ में इटली ने एबीसीनिया को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया।

(ग) शान्ति-संधि (Peace Treaty) — युद्धावसान की सर्वाधिक लोकप्रिय रीति शान्ति-संधि है, इसे ऐसा नाम देने का यह कारण है कि इससे युद्ध की समाप्ति होकर शान्ति की स्थापना होती है। इसमें युद्धकारी देशों में पुनः शान्तिपूर्ण मैत्री सम्बन्धों का आरम्भ होता है। शान्ति संधि से पहले प्रायः संधिवार्त्ता चलाने के लिए एक **अवहार या सामान्य रणविराम** (General Armistice) होता है।[2] इसका अभिप्राय शत्रुतापूर्ण लड़ाई के कार्यों को कुछ समय के लिए स्थगित कर देना है, दोनों पक्षों की ओर से गोलाबारी और आक्रमण प्रत्याक्रमण की सैनिक कार्यवाहियाँ बन्द कर दी जाती है। यह यदि किसी विशेष क्षेत्र में किया जाय तो इसे **स्थानीय रणविराम** (Local Armistice) कहा जाता है, यदि यह समूचे रणक्षेत्र के लिए किया जाय तो इसे सामान्य (General) रणविराम कहा जाता है। इसे करने का अधिकार प्रधान सेनापतियों या कूटनीतिक प्रतिनिधियों को होता है तथा इसकी पुष्टि राज्य की उच्च

---

१. पवित्र रोमन सम्राट (Holy Roman Emperor) को मध्यकाल में जर्मनी के कुछ राजा चुना करते थे, इन्हें इसका निर्वाचक होने के कारण इलेक्टर (Elector) कहा जाता था और इनका प्रदेश (Electorate) कहलाता था।

२. अंग्रेजी में इसके लिए Armistice और Truce का प्रयोग होता है। इन दोनों को यद्यपि पर्यायवाची समझा जाता है, फिर भी Armistice अल्पकाल के लिए शत्रुतापूर्ण सैनिक कार्य स्थगित करना है और Truce काफी लम्बे समय के लिए ऐसा करना है। इस दृष्टि से इन्हें अल्पकालिक और दीर्घकालिक रणविराम कह सकते हैं। इनके लिए प्राचीन भारतीय शब्द अवहार है—महाभारत में इसका कई बार प्रयोग हुआ है—जैसे द्रौपदी के स्वयंवर के बाद राजाओं में हुई लड़ाई बन्द करने के लिए—निवृत्तमवहारोऽस्माद्युद्धाद्ब्राह्मणसत्तात् (१।१९०।७४) तथा एव राजन्नवहारो बभूव (५।१८२।२०)। अवहार तथा Armistice दोनों का मूल शब्दार्थ लड़ाई के लिए निकाले गए हथियारों का हटा लेना और शान्ति की स्थिति में ले आना है।

सत्ता द्वारा होती है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध मे ११ नवम्बर १९१८ को रणविराम हुआ था तथा इस दिन ११ बजे दोनो पक्षो की ओर मे लडाई के सब सैनिक कार्य बन्द कर दिये गये थे। रणविराम से हथियारो की लडाई बन्द होती है, युद्धावस्था का अवसान नही होता। रणविराम की वार्त्ता युद्धकारी देशो मे पत्रो द्वारा अथवा विशेष वार्तावह (Negotiator) दूतो द्वारा की जाती है। शत्रु के वार्तावह और रणविराम का सफेद झण्डा लाने वाले व्यक्ति अवध्य समझे जाते है।

शान्ति-सधि की सभी शर्ते रणविराम के समय तय नही हो सकती। अत इस समय शान्ति-सधि की आरम्भिक बाते तय की जाती है, इसे **आरम्भिक या उप-सधि** (Preliminary Treaty) कहते हैं, इसके आधार पर बाद मे अन्तिम और निश्चित सधि की जाती है, इसे **पूर्ण सधि** (Definite Treaty) कहते है। आजकल पूर्ण सधि प्राय अवहार या रणविराम के काफी समय के बाद होती है। योरोप मे आस्ट्रिया, फ्रास और सार्डीनिया का युद्ध ११ जुलाई १८५९ को विल्लाफ्राका (Villafranca) की प्रारम्भिक वार्ता से बन्द हो गया, किन्तु पूर्ण सधि १० नवम्बर १८५९ को ज्यूरिख मे हुई। फ्रैको जर्मन युद्ध मे लडाई की समाप्ति २६ फरवरी १८७१ की वर्साय की प्रारम्भिक वार्ता (Preliminaries) से हुई, किन्तु पूर्ण सधि १० मई १८७१ को फ्रैंकफोर्ट मे हुई। प्रथम विश्वयुद्ध मे रणविराम या अवहार ११ नवम्बर १९१८ को हुआ, किन्तु मित्रराष्ट्रो की शान्ति-सधि जर्मनी के साथ २८ जून १९१९ को, हगरी के साथ ४ जून १९२० को तथा तुर्की के साथ १० अगस्त १९२० को हुई।

द्वितीय विश्वयुद्ध का अवहार (Armistice) जर्मनी के बिना शर्त आत्मसमर्पण के साथ ८ मई १९४५ को हुआ, किन्तु उसके साथ सधि के विषय मे मित्रराष्ट्रो मे उग्र मतभेद होने के कारण पूर्ण सधि अब तक नही हो सकी। १९५१ मे स० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने तथा २५ जनवरी १९५५ को सोवियत रूस ने इसके साथ युद्धावस्था का अन्त किया। जापान ने १४ अगस्त १९४५ को आत्मसमर्पण करते हुए युद्ध बन्द कर दिया, किन्तु स० रा० अमरीका तथा अन्य देशो के साथ इसकी शान्ति-सधि छ वर्ष बाद १९५१ मे ही सम्पन्न हो सकी।

शान्ति सधि करने का अधिकार राज्यो के अध्यक्ष राजाओ तथा राष्ट्रपतियो को होता है। वैटल ने कहा है कि राजा के बन्दी हो जाने पर यद्यपि वह राजपद के अधिकार से वचित नही होता, किन्तु शत्रु के साथ सधि करने के अधिकार से वचित हो जाता है। ग्रेट ब्रिटेन मे राजा को युद्ध छेडने और सधि करने के असीम अधिकार हैं। कई देशो मे सविधान द्वारा शासनाध्यक्ष के सधि करने के अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जाते है। उदाहरणार्थ, स० रा० अमरीका मे सधि का सीनेट द्वारा पास किया जाना आवश्यक है। १९१९ की पेरिस की शान्ति परिषद् मे यद्यपि स० रा० अमरीका की ओर से उसके राष्ट्रपति विल्सन इसमे सम्मिलित हुए थे, वर्साय की सधि उनकी सहमति से तय हुई थी, किन्तु सीनेट ने १९ मार्च १९२० को इस सधि को अस्वीकार कर दिया।

शान्ति सधियो मे यदि इन्हे लागू करने की तिथि का स्पष्ट उल्लेख न हो तो

इन्हे हस्ताक्षर किये जाने की तिथि से लागू हुआ समझा जाता है। शीघ्रगामी सवाद-प्रेषण के आधुनिक साधनों के अभाव मे पहले कई बार युद्ध के भूमण्डल के अनेक भागो मे विस्तीर्ण होने पर, दोनो पक्षो को युद्ध बन्द होने की सूचना देने के लिये कुछ समय आवश्यक होता था, अत शान्ति संधि करते समय लडाई बन्द करने की कोई भावी तिथि या अवधि निश्चित की जाती थी। नैपोलियन के साथ ग्रेट ब्रिटेन की १८०१ की आमियेज (Amiens) की सन्धि मे हिन्द महासागर मे लडाई बन्द करने के लिये पाँच मास की अवधि तय की गई थी, क्योंकि उस समय सवाद प्रेषण के साधन वर्तमान युग की भाँति उन्नत नही थे और दूरवर्ती समुद्रो मे विद्यमान अपने जलपोतो को समाचार या आज्ञाय पहुँचाने मे बहुत समय लगता था। जब शान्ति-सन्धियों का अनुसमर्थन (Ratification) आवश्यक होता है तो ये इसके बाद ही लागू की जाती हैं, यदि यह अनुसमर्थन न हो तो लडाई पुन आरम्भ की जा सकती है। कई बार शांति-संधि हो जाने के बाद भी लडाई चलती रहती है। रूस जापान युद्ध मे यद्यपि अमरीकन राष्ट्रपति के प्रयत्नो से शान्ति-सन्धि ५ सितम्बर १९०५ को हो गयी, किन्तु लडाई बन्द करने के समझौते पर १४ सितम्बर तक हस्ताक्षर नही हो सके और १६ सितम्बर तक शत्रुतापूर्ण युद्ध कार्य चलते रहे।

शान्ति-सन्धि के प्रभाव और परिणाम (Effects and Results of Peace Treaty)—इसका पहला सामान्य प्रभाव यह है कि युध्यमान देशो के मध्य पुन. शान्तिपूर्ण मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो जाते है। शान्ति-सन्धि लागू होते ही दोनों पक्ष राष्ट्रपरिवार (Family of Nations) के सदस्यो द्वारा शांतिकाल मे पालन किये जाने वाले कर्त्तव्यो तथा अधिकारो का उपभोग करने लगते है। युद्धकाल मे वैध समझे जाने वाले सभी कार्यों की वैधता समाप्त हो जाती है अब शत्रुसेनाओं पर तथा उसके दुर्गो पर आक्रमण, उसके प्रदेश पर बलपूर्वक अधिकार, उसके जहाजों का पकडना निषिद्ध एव अवैध कार्य समझे जाते हैं। यदि शान्ति सन्धि की सूचना प्राप्त न होने के कारण किन्ही क्षेत्रों मे सेनाओ द्वारा ऐसे शत्रुतापूर्ण कार्य किए जाते है तो इसका हर्जाना दिया जाता है और शान्ति सन्धि के समय की स्थिति बनाये रखने का प्रयत्न होता है। शान्ति-संधि के बाद युद्धबन्दियों को मुक्त कर देना चाहिए, पकडे हुए जहाजों को छोडना तथा अधिकृत प्रदेश को खाली करना आवश्यक है। दोनो युध्यमान देशो मे तथा इनके नागरिको मे युद्ध से पहले की तरह का शान्तिपूर्ण सम्पर्क स्थापित हो जाता है। युद्धारम्भ के समय भग हुए दौत्य सम्बन्ध पुन शुरु होते हैं, दोनों पक्ष राजदूतों का आदान-प्रदान करते है और वाणिज्यदूत (Consuls) अपना कार्य करने लगते है।

दूसरा प्रभाव यथास्थितिअधिकार (Uti Possidetis) का नियम है, इसके अनुसार शान्ति-सन्धि के समय दोनो पक्षो द्वारा जीते गए प्रदेश और सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार उन्हे दिया जाता है, बशर्ते कि शांति-सन्धि में इसके लिए कोई विशेष व्यवस्था न की जाय। ओपेनहाइम के शब्दो मे इस प्रकार आक्रमण करने वाले युध्यमान पक्ष द्वारा छीनी हुई शत्रुराज्य की सारी चल सम्पत्ति जैसे गोलाबारूद, खाद्य पदार्थ, हथियार, धनराशि, घोडे, यातायात के साधन विजेता के समझे जाते

है।[४] शत्रु का जीता गया प्रदेश भी विजेता का माना जाता है। किन्तु आजकल शान्ति-सन्धि द्वारा विधिपूर्वक इसे प्राप्त करना अधिक अच्छा समझा जाता है। शान्ति-सन्धि न होने पर भी विजेता राज्य इसे अगीकरण (Annexation) द्वारा अपने राज्य में मिला सकता है। इसका एक मनोरंजक उदाहरण १९१२ का तुर्की-इटली युद्ध है, इसमें इटली ने तुर्की से ट्रिपोली और साइरेनायिका (Cyrenaica) के प्रदेश छीनने के उद्देश्य से उसे परास्त किया था। तुर्की शान्ति-सन्धि में इन प्रदेशों को स्पष्ट रूप से देने के लिए तैयार नहीं था, इटली इन्हें लेने के लिए कटिबद्ध था। अन्त दोनों पक्षों ने लौज़ान में १८ अक्टूबर १९१२ की शान्ति सन्धि करने से पहले १५ अक्टूबर को एक प्रोटोकोल समझौता किया, इसके अनुसार तुर्की ने तीन दिन के भीतर उपर्युक्त दोनों प्रदेशों को पूर्ण स्वायत्त शासन देकर अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करना स्वीकार किया। इसके स्वतन्त्र होने पर दोनों देशों में सधि हो गई और इटली ने ट्रिपोली तथा साइरेनायिका को अपने राज्य का अग बनाने की घोषणा की और सम्बद्ध राज्यों को इसकी सूचना दी।[५]

शान्ति-सन्धि का **तीसरा प्रभाव** सामान्य क्षमादान (General Amnesty) होना है। इसका यह अभिप्राय है कि युद्ध के समय युद्धकारी देशों की सेनाओं तथा उनके प्रजाजनों द्वारा शत्रुजनों के विरुद्ध किए गए अपकारपूर्ण (Wrongful) और दण्डनीय कार्यों के लिए दिए जाने वाले दण्डों से उन्हें छूट या उन्मुक्ति मिल जाती है। कई बार सन्धियों में क्षमादान की धारा का विशेष रूप से उल्लेख होता है। यह क्षमादान सामान्य रूप में शत्रु के विरुद्ध किए गए अपकारपूर्ण कार्यों के लिए होता है, अपनी सरकार के विरुद्ध किये गए दण्डनीय कार्य इसमें नहीं आते, बशर्ते कि सन्धि में इसके लिए स्पष्ट व्यवस्था न की गई हो। रूस ने १८७८ में तुर्की के साथ सैन स्टीफानो की सन्धि करते हुए उसकी धारा १७ में यह शर्त रखी थी कि तुर्की इस युद्ध में उसका साथ छोड़ने वालों को भी माफ कर देगा। सामान्य रूप से ऐसे व्यक्तियों पर राजद्रोह आदि के अभियोग चलाये जाते हैं। इस क्षमादान का सामान्य अपराधों के साथ कोई सबंध नहीं है। यदि कोई युद्धबन्दी अपनी बन्दी दशा में कोई हत्या करता है तो शान्ति-सन्धि के बाद इसके लिए उस पर मनुष्य-हत्या का अभियोग चलाया जाता है।

चौथा प्रभाव युद्धबन्दियों को शान्ति सधि होते ही एकदम मुक्त कर देना है। इस विषय में पुरानी व्यवस्था १९२९ के जेनेवा अभिसमय के अनुच्छेद ७५ में की गई थी, इसमें कहा गया था कि शान्ति सन्धि सम्पन्न होने पर यथासम्भव शीघ्र ही युद्धबन्दियों को स्वदेश भेज दिया जायगा। किन्तु दूसरे विश्वयुद्ध के अनुभव से इसमें सशोधन की आवश्यकता अनुभव हुई। इटली, जर्मनी और जापान द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण कर देने के बाद मुख्य युद्धकारी देशों में कई वर्षों तक कोई शान्ति-सन्धि

४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, ख० २, पृ० ६११

५. वही—आपेनहाइम ने इसे प्रच्छन्न हस्तान्तर (Concealed cession) कहा है। किन्तु डीना (Diena) का यह विचार है कि यह प्रच्छन्न हस्तान्तर नहीं किन्तु तुर्की द्वारा इन प्रदेशों में अपनी सत्ता का त्याग (Dereliction) था, इटली ने इन प्रदेशों के स्वामीहीन होने की दशा में इनका आवेशन (Occupation) करके इन पर अपना अधिकार स्थापित किया।

नही हो सकी। इस समय वास्तविक लडाई बन्द हो जाने पर युद्धबन्दियो का शत्रु-देशो मे निरोध (Detention) बनाये रखना अनावश्यक तथा अन्यायपूर्ण समझा गया। अब १९४९ के जेनेवा अभिसमय के अनुच्छेद ११८ मे उपर्युक्त नियम का सशोधन करते हुए बड़े स्पष्ट और असदिग्ध शब्दो मे यह कहा गया—कि "क्रियाशील शत्रुतापूर्ण कार्यों के अवसान (Cessation of active hostilities) के बाद अविलम्ब युद्धबन्दियो की मुक्ति तथा स्वदेश प्रत्यावर्त्तन होना चाहिए।" 'शत्रुतापूर्ण कार्यों के सक्रिय अवसान का अर्थ अल्पकालिक रणविराम सन्धि या अवहार (Armistice) नही है, जिसकी समाप्ति पर पुन लडाई आरम्भ होने की सम्भावना हो, किन्तु शत्रु के पूर्ण आत्मसमर्पण के बाद ऐसी विरामसन्धि है, जिसके बाद पुन युद्ध आरम्भ होने की सम्भावना न हो। इस अवस्था मे युद्धबन्दियों को फौरन मुक्त कर दिया जाना चाहिए। जर्मनी के साथ मित्रराष्ट्रो का सक्रिय युद्ध १९४५ मे समाप्त हो गया था, शाति-सन्धि अब तक भी न होने पर १९४६ तक मित्रराष्ट्रो ने सब जर्मन युद्धबन्दी मुक्त कर दिये थे।

पाँचवाँ प्रभाव युद्धावस्था की समाप्ति है। विरामसन्धि (Armistice) तथा शान्ति सन्धि (Peace Treaty) मे एक बडा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि विरामसन्धि मे केवल अस्थायी रूप म हथियारो द्वारा लडाई बन्द हो जाती है, किन्तु युद्ध की स्थिति बनी रहती है। यह लडाई किसी भी समय विरामसन्धि की समाप्ति पर पुन छिड सकती है किन्तु शान्ति सन्धि के बाद लडाई स्थायी रूप से बन्द हो जाती है और इसके पुन छिड़ने की कोई सम्भावना नही होती। शाति सन्धि के कुछ अन्य परिणाम ये हैं – युद्ध से पहले लिये गये ऋण और सविदाएँ (Contracts) पुनरुज्जीवित हो जाती है। शाति सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद शत्रु के प्रदेश से उसकी सामग्री का बलपूर्वक उपयोग और धन की जबर्दस्ती वसूली (Requisitions and Contributions) नही की जा सकती। युद्धकाल मे शत्रु द्वारा छीनी गई वैयक्तिक सम्पत्ति उन्हे लौटा दी जाती है इसी प्रकार युद्धबन्दियों से ली गई बहुमूल्य वस्तुएँ भी उन्हे वापिस की जाती हैं। सन्धियो के सम्बन्ध मे ओपेनहाइम ने यह लिखा है[६] कि युद्ध छिड़ने पर जिन सन्धियो का पालन स्थगित हो जाता है शाति सन्धि के बाद ये पुनरुज्जीवित हो जाती है। प्राय शान्ति-सन्धियो मे दोनो पक्ष पुनरुज्जीवित की जाने वाली सन्धियो के बारे मे विशेष व्यवस्थाएँ करते है। १९४७ मे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इटली की शाति सन्धि मे मित्रराष्ट्रो ने इसके अनुच्छेद ४४ मे यह व्यवस्था की थी कि इस सन्धि के लागू होने के छ महीने के भीतर मित्रराष्ट्र इटली को यह सूचित करेंगे कि दोनो देशो की कौन-सी सन्धियाँ वे बनाये रखना या पुनरुज्जीवित रखना चाहते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य सभी सन्धियाँ रद्द समझी जाएँगी।

अन्य सन्धियो की भाँति शाति-सन्धियो का पालन पूरी ईमानदारी और निष्ठा के साथ किया जाना चाहिये। इनमे निर्धारित शर्तो के अनुसार अधिकृत प्रदेश को खाली

---

६. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ६१५

करना, युद्ध का हर्जाना देना, नई सीमान्त रेखाओं का निर्माण बड़े जटिल कार्य होते हैं, इनके लिए कई बार विशेष आयोग नियत किये जाते हैं। कई बार सन्धि की शर्तें पूरी कराने के लिए पराजित पक्ष के प्रदेश पर सैनिक अधिकार रखा जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद वर्साय की सन्धि में ऐसी व्यवस्था की गई थी और इसके अनुसार १९२२ में जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति की अदायगी न होने पर फ्रांस ने जनवरी १९२३ में उसके रूर के औद्योगिक प्रदेश पर सेनाओं द्वारा कुछ समय के लिए कब्जा कर लिया था।

शांति-सन्धि को पूर्णरूप से अथवा आंशिक रूप से भंग किया जा सकता है। एक पक्ष द्वारा उसकी व्यवस्थाओं के उल्लंघन से यह सन्धि स्वयमेव रद्द नहीं हो जाती। दूसरा पक्ष इसे इस आधार पर रद्द कर सकता है, किन्तु यह तभी होना चाहिए जब इसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक शर्तों का दूसरे पक्ष द्वारा भंग किया जाय।

पूर्वावस्था (Postliminium)

पूर्वावस्था का अभिप्राय (Meaning of Postliminium)—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने यह परिभाषा रोमन कानून से ग्रहण की है। इसका प्रयोग उस समय किया जाता है जब कोई प्रदेश, व्यक्ति या सम्पत्ति युद्धकाल में शत्रु के अधिकार में चले जाने के बाद, युद्ध के समय या उसकी समाप्ति पर पुनः अपने पहले स्वामी या प्रभु के अधिकार में आ जाती है, इसे इनका **पूर्वावस्था** में आना कहा जाता है। पूर्वावस्था का वाचक लैटिन शब्द Post (पूर्व) तथा Limen (सीमा) के दो शब्दों से मिलकर बना है।[7] रोमन कानून में इस शब्द का व्यवहार उस समय किया जाता था, जब रोमन किसी ऐसे देश पर आक्रमण करते थे जिसके साथ उनकी मैत्री सन्धि नहीं होती थी। ऐसे राज्य पर आक्रमण करने वाले रोमन शत्रु द्वारा दास बनाये जा सकते थे और उनका सामान जब्त किया जा सकता था। पूर्वावस्था का नियम यह था कि (१) यदि इस प्रकार दास बनाया गया रोमन नागरिक रोमन साम्राज्य की सीमा में लौट आता था तो वह स्वतः (Ipso facto) रोमन नागरिक के उन सब अधिकारों को पा लेता था, जो उसे बन्दी बनाए जाने से पूर्व प्राप्त थे। (२) विदेशी राज्य में प्रवेश के बाद जब्त की हुई सम्पत्ति यदि रोमन साम्राज्य की सीमा में वापिस लाई जाती थी। तो इस पर इसके भूतपूर्व रोमन स्वामी का अधिकार हो जाता था। इस सिद्धान्त का प्रयोग वर्तमान समय में शत्रु द्वारा जीते प्रदेश के उसके मूलस्वामी के पास लौट जाने के सम्बन्ध में किया जाता है। विजित प्रदेश अपने मूलस्वामी को कई प्रकार से मिल सकता है। पहला प्रकार अधिकृत प्रदेश से शत्रु का स्वयमेव हट जाना है और मूलस्वामी द्वारा इस पर फौरन अधिकार कर लेना है। इसे शत्रु से कोई अन्य वैध राजा भी जीत सकता है और जीतने के बाद इसे मूलस्वामी को लौटा सकता है। जनता के सामूहिक विद्रोह द्वारा यह प्रदेश असली मालिक को मिल जाता है। शान्ति-सन्धि में भी इसे मूलस्वामी को लौटाने की व्यवस्था हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में पूर्वावस्था के

७. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ६१६

निम्नलिखित तीन प्रभाव होते हैं —

(क) वस्तुओं की पूर्वावस्था प्राप्त होना (Return to Original Conditions)—युद्ध द्वारा किसी प्रदेश पर शत्रु की सेनाओं का अधिकार हो जाने पर भी, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इस पर शत्रु की प्रभुसत्ता (sovereignty) स्थापित नहीं होती। यदि शत्रु इस पर वशीकरण (subjugation) द्वारा अपनी प्रभुसत्ता स्थापित नहीं करता तो इस पर कानूनी स्वत्व भूतपूर्व शासक का ही माना जाता है, भले ही वह इस पर अपने स्वत्व का प्रयोग न कर सके। ज्योंही शत्रु इस प्रदेश से स्वयमेव, जनता के विद्रोह से अथवा मित्रदेशों के सैनिक दबाव के कारण हटता है, तो स्वत इस प्रदेश मे पूर्वावस्था लौट आती है। यह प्रदेश और इसके व्यक्ति भूतपूर्व वैध प्रभु की सत्ता के आधीन समझे जाते हैं। इस प्रदेश मे घटित होने वाली सब महत्वपूर्ण घटनाओं के लिये अन्य राज्य उसी शासक को उत्तरदायी समझने लगते हैं।

(ख) वैध कार्यों की वैधता (Legality of Legal Acts)—किसी प्रदेश मे सैनिक अधिकार रखने वाली शक्ति से वैध कार्यों पर पूर्वावस्था का कोई प्रभाव नहीं पडता। शत्रु के लौट जाने से पहले उस द्वारा किये गए वैध कार्यों को अवैध नहीं बनाया जा सकता। यदि उस समय उस शक्ति ने कुछ कर एकत्र किये हैं, स्थावर सम्पत्ति की पैदावार बेची है, युद्ध के नियमों का पालन करते हुए अपने अधिकार में आई चल सम्पत्ति का विनियोग किया है तो युद्ध के बाद इस प्रदेश पर पुन अधिकार प्राप्त करने वाला वैध शासक उपर्युक्त व्यवस्थाओं को बदल नहीं सकता। इन कार्यों के किये जाने की आवश्यक शर्त यह है कि ये उसके अधिकार के समय मे (During the occupation) किये गये हों।

फ्रेंको जर्मन युद्ध के एक उदाहरण मे यह स्पष्ट हो जायगा। अक्टूबर १८७० मे फ्रास के दो जिलो—म्यूज तथा म्यूरते (Departments of de la Meuse and de la Meurthe) पर जर्मन सेनाओं का अधिकार था। इसी समय बर्लिन की एक फर्म ने जर्मन सरकार से इन जिलो मे बाञ्ज (oak) के १५००० पेड गिराने का ठेका लिया और इसके लिए २२५० पौंड की राशि अग्रिम रूप मे प्रदान की। बर्लिन की कम्पनी ने अपने ये सांविदिक अधिकार (contractual rights) एक दूसरी कम्पनी को बेच दिये। इसने मार्च १८७१ तक ६००० पेड काटने और बेचने के बाद शेष ६००० पेड काटने का ठेका तीसरी कम्पनी को दे दिया। इसने जर्मन सेनाओं के रहते हुए कुछ पेड काटे। किन्तु इसी बीच मे दोनों पक्षो मे फ्रैंकफोर्ट की सन्धि हो गयी। जर्मन सेनायें स्वदेश लौट गयी, फ्रेंच सरकार का इस प्रदेश पर पुन अधिकार स्थापित हो गया, उसने ठेकेदारों को पेड काटने से रोक दिया और उन्हे कोई हर्जाना नही दिया, क्योंकि जर्मन सरकार को इस प्रकार का ठेका देने का अधिकार केवल अपने अधिकारकाल मे था, उसके बाद उसका यह कार्य सर्वथा अवैध था, अत फ्रेंच सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया।

(ग) अवैध कार्यों की अवैधता (Illegality of Illegal Acts)—यदि युद्ध के समय अधिकार करने वाली शक्ति ने कुछ ऐसे कार्य किये हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि मे उसे नहीं करने चाहिए थे तो पूर्वावस्था इन्हे अवैध ही समझेगी। यदि

उसने राज्य की कुछ अचल सम्पत्ति बेची है तो युद्ध के बाद यह इसे खरीदने वालों से बगैर मुआवजा दिये वसूल की जा सकती है। यदि उसने अधिकार न होते हुए कुछ व्यक्तियों को पद दे दिये हैं तो ये उनसे युद्ध के बाद छीने जा सकते है।

इस नियम की मर्यादायें (Limitations of the Doctrine)—पूर्वावस्था का नियम केवल वही लागू होता है, जहाँ जीता गया प्रदेश युद्ध मे या युद्ध की समाप्ति के बाद भूतपूर्व वैध शासक के पास लौट आये। किन्तु जब कोई विजित प्रदेश कुछ समय तक शान्ति-सधि द्वारा शत्रु को दिया जाय, जीत लिया जाय, अगीकरण (Annexation) द्वारा राज्य मे मिला लिया जाय और बाद मे अपने मूलस्वामी के अधिकार मे आये तो पूर्वावस्था का नियम लागू नही होता। इसके लिए किसी मध्य-वर्ती शासन (Interregnum) का व्यवधान नही होना चाहिए। यह नियम केवल युद्धकालीन सैनिक अधिकार के सम्बन्ध मे लागू होता है, शान्तिकाल मे चिरकाल तक दूसरे राज्यो के अधिकार मे रहने वाले प्रदेश इस नियम का लाभ नही उठा सकते। यह हैस कैसल (Hesse Cassel) के निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

हैस कैसल का मामला (Hesse Cassel's Case)—१८०६ मे फ्रास और प्रशिया मे युद्ध छिड़ने पर नैपोलियन बोनापार्ट की फ्रेच सेनाओ ने हैस कैसल के तटस्थ प्रदेश पर अधिकार कर लिया तथा इसके शासक (Elector) को इस आधार पर यहाँ से खदेड दिया कि उसकी सशस्त्र तटस्थता से फ्रेंच सेना की सुरक्षा सकटग्रस्त हो गयी है। १८०७ तक यह प्रदेश फ्रास के सैनिक शासन मे रहा। इसके बाद रूस के साथ टिलसिट की सधि करने पर नैपोलियन ने इसे वैस्टफेलिया नामक नये राज्य का अग बना दिया और इसकी राजगद्दी पर अपने भाई जेरोम बोनापार्ट को बिठाया। इस राज्य का कुछ भाग नैपोलियन ने अपने पास भी रखा, दोनों भाइयो ने इसके बँटवारे के विषय मे २२ अप्रैल १८०८ को एक समझौता किया। हैस कैसल के इलेक्टर ने अपने प्रजाजनो से कुछ ऋण लेने थे। इसके सम्बन्ध मे जेरोम का यह कहना था कि इनकी अदायगी नैपो-लियन को होनी चाहिये क्योकि इस प्रदेश का विजेता होने से वही इसका वास्तविक स्वामी है। अत. उसने इन पर अपने दावे का परित्याग किया। नैपोलियन ने यह घोषणा की कि उसने इस प्रदेश के पूर्ण स्वामित्व और उपभोग के बदले मे इन ऋणो की अदायगी जेरोम को सौंप दी है। १८१३ के अन्त मे नैपोलियन की शक्ति क्षीण होने पर मित्रराष्ट्रो ने एक सधि द्वारा हैस कैसल इसके मूलस्वामी को वापिस लौटा दिया।

काउण्ट वान हान (Count Von Hahn) नामक एक बडे जमीदार को हैस कैसल के इलेक्टर ने कुछ धनराशि उधार दी थी, उसने इसमे से कुछ भाग नैपोलियन को लौटा दिया और उसकी प्रेरणा से मैकलेनवर्ग के ड्यूक ने १५ जून १८१० की आज्ञा द्वारा उसे पूरे ऋण की अदायगी से मुक्त कर दिया। हैस कैसल के इलेक्टर ने इसे अवैध मानते हुए यह कहा कि यह लुटेरे का कार्य है, विजेता का नही, उसे अपनी पूरी धनराशि वापिस मिलनी चाहिए। किन्तु उस समय इस मामले की अपील सुनने वाले न्यायालय ने इस विषय मे पूर्वावस्था का सिद्धान्त लागू नही किया, क्योंकि हैस कैसल की विजय के बाद इस पर नैपोलियन का पूरा अधिकार स्थापित हो गया था, १८१३ मे इलेक्टर का

स्वदेश मे वापिस आना वेस्टफेलिया के शासन के एक लम्बे व्यवधान के बाद हुआ, इसे पुराने शासन को जारी रखने वाला नही माना जा सकता, इस बीच मे नैपोलियन द्वारा किए गए सब कार्य वैध थे, भले ही उसने ऋणो की पूरी अदायगी न की हो। अत न्यायालय का निर्णय हैस कैसल के इलेक्टर के प्रतिकूल हुआ।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

तटस्थता

(Neutrality)

लक्षण (Definition)—युद्ध छिड़ने पर उसमें भाग न लेने वाले तथा इस संघर्ष से पृथक् रहने वाले राज्य तटस्थ और इनकी यह प्रवृत्ति तटस्थता (Neutrality) कहलाती है। लारेन्स (Lawrence) के शब्दों में तटस्थता राज्यों की वह अवस्था है, जिसमें युद्ध के समय वे इस संघर्ष में कोई भाग नहीं लेते तथा दोनों युध्यमान पक्षों से अपना शान्तिपूर्ण सम्पर्क बनाए रखते हैं। बिन्करशोयेक (Bynkershoek) के मतानुसार वही राज्य तटस्थ कहे जा सकते हैं, जो युद्धकारी शक्तियों में से किसी पक्ष की ओर से नहीं लड़ते और जो मैत्रीसंधि द्वारा किसी पक्ष के साथ नहीं बँधे होते। फेनविक के कथनानुसार "बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्वीकार की जाने वाली तटस्थता का लक्षण यह किया जा सकता है कि यह ऐसे राज्य की कानूनी स्थिति है, जो दो राज्यों अथवा राज्यसमूहों में युद्ध छिड़ने पर इससे *पृथक् रहता है, दोनों युध्यमान पक्षों के साथ अपने* कुछ अधिकार बनाए रखता है तथा परम्परागत कानूनों से, अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों से तथा सन्धियों से निश्चित किए गए कुछ नियमों का पालन करता है।"[1] स्टार्क ने लिखा है—"सामान्य लोकप्रिय अर्थ में तटस्थता किसी राज्य की उस प्रवृत्ति को व्यक्त करती है, जिसमें वह राज्य युध्यमान पक्षों के साथ लड़ाई नहीं करता और शत्रुतापूर्ण कार्यों में कोई भाग नहीं लेता। अपने पारिभाषिक अर्थ में यह इस प्रवृत्ति से कुछ अधिक अर्थ देती है, विशेष प्रकार की ऐसी कानूनी स्थिति को सूचित करती है, जिसमें युध्यमान पक्षों तथा तटस्थ राज्यों को समान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का पालन करना पड़ता है।"[2] आपेनहाइम[3] के मत में 'तटस्थता

---

१. फेनविक—इंटरनेशनल लॉ, तृतीय संस्करण, पृ० ६११

२. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३८३

३. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ६५३। इस प्रसंग में प्राचीन भारत की तटस्थताविषयक मान्यताओं का उल्लेख उपयोगी होगा। तटस्थता के लिए प्राचीन शब्द आसन है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२ १५०।३–५) में इसका सुस्पष्ट लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि दो देशों में लड़ाई छिड़ जाने पर अपने देश में ही बैठे रहना आसन है (विग्रहेऽपि स्वके देशे स्थितिरासनमुच्यते)। आसन भारतीय राजनीति के सुप्रसिद्ध षड्गुणों—संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय, द्वैधीभाव में तीसरा स्थान रखता है। इन गुणों का वर्णन कौटिल्य (सप्तम अधिकरण), मनु (७।१६० प्र०), कामन्दक (९–१६), विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२।१४५–१५०),

का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह दो युद्ध करने वाले पक्षों के प्रति तीसरे राज्यों द्वारा अपनायी गई निष्पक्षता की ऐसी प्रवृत्ति है, जिसे युद्ध करने वाले देश स्वीकार करते हैं और जो निष्पक्ष राज्यों और युध्यमान पक्षों के बीच में कुछ अधिकार और कर्त्तव्य उत्पन्न करती है।"

अग्निपुराण (२४० अध्याय), मानसोल्लास (पृ० ६४—१६६), राजनीतिप्रकाश (पृ० ३२४—४१३) में है। इनके प्रसंग में आसन का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया गया है। मनु (७।१६६) ने आसन दो प्रकार का बताया है—सेना, कोश आदि की दृष्टि से कमजोर होने की दशा में, अथवा इनमें समृद्ध होते हुए भी अपने मित्र के अनुरोध से लड़ाई में न पड़ना आसन है। (क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा। मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥) कौटिल्य के मतानुसार लड़ाई की उपेक्षा करना अर्थात् उसमें भाग न लेना आसन है (७।१, उपेक्षणमासनम्)। उसने यह भी कहा है कि जब कोई राजा यह समझे कि 'मुझे कोई शत्रु नहीं परास्त कर सकता' और 'मैं भी शत्रु को परास्त नहीं कर सकता' तो राजा आसन की नीति का अवलम्बन करे (७।१, न मा परो नाहं परमुपहन्तुं शक्त इत्यासीत)। कौटिल्य ने ७।४ में तटस्थता के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया है—स्थान, आसन और उपेक्षण। स्थान का आशय है—सामान्य रूप से लड़ाई छिड़ने पर चुपचाप बैठे रहना। शत्रु की अपेक्षा शक्ति कम होने की स्थिति में 'स्थान' का अवलम्बन किया जाता है, क्योंकि इसमें शत्रु द्वारा किए अपकार का प्रत्यपकार द्वारा प्रतिकार नहीं किया जा सकता है। अपनी उन्नति और वृद्धि के लिए तटस्थता का अवलम्बन आसन है सन्धि आदि किसी उपाय का प्रयोग न करना उपेक्षण है (स्थानमासनमुपेक्षणं चेत्यासनपर्यायाः विशेषस्तु गुणैकदेशे स्थानम्। स्ववृद्धिप्राप्त्यर्थमासनम्। उपायानामप्रयोग उपेक्षणमिति)। कदम्बराजा काकुत्स्थवर्मा के तालगुण्ड स्तम्भ अभिलेख (एपिग्राफिका इंडिका, खं० ७, सं० ५, १३) में आसन शब्द का प्रयोग हुआ है, इसमें कहा गया है कि यद्यपि वह आसन की स्थिति में रहता था तो भी प्रभु, उत्साह तथा मन्त्र शक्तियाँ होने के कारण सामन्त तथा अन्य राजा उससे भयभीत रहते थे। श्री रामचन्द्र दीक्षितार ने 'वार इन ऐन्शेण्ट इंडिया' (पृ० ३२२) में इसे सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) की स्थिति बताया है, तटस्थता के दस भेदों के लिए देखिए—दीक्षितार की उपर्युक्त पुस्तक (पृ० ३२०)।

तटस्थता के लिए दूसरा प्राचीन शब्द उदासीनता है। गीता (६।९) में उदासीन और मध्यस्थ शब्दों का प्रयोग हुआ है और टीकाकारों ने इसका भेद अच्छी तरह स्पष्ट किया है। शंकराचार्य के मतानुसार किसी पक्ष को न लेने वाला उदासीन तथा दो विरोध करने वाले पक्षों में दोनों का हित चाहने वाला मध्यस्थ होता है (उदासीनो न कस्यचित्पक्षं भजते, मध्यस्थो यो विरुद्धयोः उभयो- हितैषी)। नीलकण्ठ ने दोनों पक्षों में पक्षपातशून्य को उदासीन बताया और दोनों के हितेच्छु को मध्यस्थ (उदासीन उभयत्र पक्षपातशून्यः, मध्यस्थ- उभयहितैषी)। उदासीन की इस व्याख्या में तटस्थता की एक मुख्य विशेषता—निष्पक्षता को अधिक महत्व दिया गया है। मधुसूदनी टीका की व्याख्या तटस्थता के आधुनिक लक्षण से अधिक मिलती है। यह इस प्रकार है—लड़ने वाले दोनों पक्षों की उपेक्षा करने वाला उदासीन और ऐसे दोनों पक्षों का हितैषी मध्यस्थ है (उदासीनो विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः। मध्यस्थो विवदमानयोरुभयोरपि हितैषी)। इस प्रसंग में भाष्योत्कर्ष दीपिका का अरि का यह लक्षण उल्लेखनीय है—अरिः शत्रुः स्वकृतस्तो मारणोद्यतः।

तटस्थता की विशेषतायें (Characteristics of Neutrality)—उपर्युक्त लक्षणों से तटस्थता की अनेक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। इसकी पहली विशेषता यह है कि यह केवल युद्ध के समय में होती है। लड़ाई की घोषणा या आरम्भ होने के साथ इस अवस्था का श्रीगणेश होता है और युद्ध बन्द होते ही इसका अन्त हो जाता है। दूसरी विशेषता यह है कि यह एक प्रवृत्ति या मनोवृत्ति (Attitude) है अतः तटस्थ होने के लिए किसी देश को कानूनी तौर से किसी औपचारिक (Formal) घोषणा करने की आवश्यकता नहीं है। उसके युद्ध में सम्मिलित न होने के रुख से ही यह मान लिया जाता है कि वह तटस्थ है। तीसरी विशेषता निष्पक्षता की मनोवृत्ति है। निष्पक्ष रहने के कारण तटस्थ राज्य युद्ध करने वाले दोनों पक्षों में से किसी को ऐसी सहायता या मदद नहीं दे सकता, जो दूसरे पक्ष को हानि पहुँचाने वाली हो और न ही वह किसी पक्ष को ऐसी हानि पहुँचा सकता है, जो दूसरे पक्ष के लिये लाभप्रद हो। अतएव तटस्थ देशों को ऐसे उपायों तथा साधनों का अवलम्बन करना आवश्यक है, जिनके कारण दोनों युद्धकारी पक्ष युद्ध के समय सामरिक प्रयोजनों के लिए उसके प्रदेश तथा साधन-सम्पत्ति का कोई लाभ न उठा सकें। अतः उसके प्रदेश में दोनों पक्षों में कोई युद्ध नहीं हो सकता, उसकी भूमि में से शत्रुसेनाओं का, रणसामग्री का तथा सैनिकों की खाद्य-सामग्री का परिवहन या ढुलाई नहीं हो सकती, उसके बन्दरगाहों में किसी पक्ष के रण-पोतों का निर्माण, सज्जा या मरम्मत नहीं हो सकती।

किन्तु निष्पक्षता की मनोवृत्ति का यह आशय नहीं है कि तटस्थ देश किसी युध्यमान पक्ष के साथ सहानुभूति नहीं कर सकता। सहानुभूति इतनी मात्रा तक ही होनी चाहिये कि वह निष्पक्षता का अतिक्रमण करने वाले कार्य न करे। दोनों विश्व-युद्धों के आरम्भ में कुछ समय तक तटस्थ रहने पर भी स० रा० अमरीका की सहानु-भूति ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य मित्रराष्ट्रों के साथ थी। तटस्थ देशों को यह अधिकार है कि वे सहानुभूति रखने वाले युध्यमान पक्ष को ही अपने मानवीय कार्यों—जैसे आहतों की सेवा शुश्रूषा के लिए दवाइयों, हस्पतालों, डाक्टरों को भेजने आदि का लाभ पहुँचाएँ। इससे उनकी निष्पक्ष वृत्ति किसी तरह खंडित नहीं होती।[४] किसी पक्ष द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन होने पर तटस्थ देश को इसे रोकने के सम्बन्ध में की जाने वाली कार्यवाही उसकी निष्पक्षता में बाधक नहीं समझी जाती। इस अवस्था में तटस्थ देशों को हस्तक्षेप करने का अधिकार होता है। चौथी विशेषता निष्पक्षता की मनोवृत्ति में युद्ध छिड़ने पर तटस्थ रहने वाले देशों के कुछ विशेष अधिकार और कर्तव्य उत्पन्न हो जाना है। आगे इनका वर्णन किया जायगा।

तटस्थता के विचार का विकास (Development of the Idea of Neutrality)—पश्चिमी जगत् के प्राचीनकाल के इतिहास में तटस्थता का कोई विचार नहीं था।[५] मध्ययुग में शनैः शनैः इसका आविर्भाव हुआ। ग्रोशियस के समय तक यह विचार

४ आपेनहायम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० ६५५

५. वही, पृ० ६२४-५

अपनी शैशव दशा मे था, उसने अपने ग्रंथ के एक अतिसक्षिप्त अध्याय मे इस विषय मे केवल दो सामान्य नियमो का वर्णन किया है। पहला नियम यह है कि तटस्थ देश ऐसा कोई कार्य न करें जिससे अधर्म्य या अन्यायपूर्ण पक्ष (Unjust cause) वाले युद्धकारी देश का पक्ष सुदृढ हो या न्यायपूर्ण पक्ष वाले देश को हानि पहुँचे। दूसरा नियम यह है कि जब दोनों युद्धकारी देशों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो कि किसका पक्ष धर्मानुकूल है, तो तटस्थ राज्य दोनो युद्धकारियो के साथ समान व्यवहार करे, उनकी सेनाएँ अपने प्रदेश मे से न गुजरने दे, सेनाओ को खाद्य सामग्री न प्रदान करे तथा घिरे हुए व्यक्तियो की सहायता न दे।

१७वी शताब्दी के अन्त तक तटस्थता के कोई विशद नियम नही थे। १८वी शताब्दी मे इसके नियमो मे विशदता और सुस्पष्टता आने लगी। तटस्थ देश स्विट्जरलैण्ड के विधिशास्त्री वैटल ने १७५८ मे इसका सुन्दर लक्षण करते हुए कहा—"किसी युद्ध मे वे देश तटस्थ होते हैं, जो इसमें कोई भाग नही लेते, दोनो पक्षो के मित्र होते हैं, किसी एक पक्ष की सेनाओ को लाभ पहुँचाकर दूसरे पक्ष को हानि नही पहुँचाते।" इस शताब्दी के दूसरे प्रसिद्ध विधिशास्त्री बिन्करशोयेक ने तटस्थ देशो के लिये ग्रोशियस की इस शर्त को स्वीकार नही किया कि तटस्थ देश न्यायपूर्ण युद्धो के आधार पर लडाई करने वालो के साथ अपने व्यवहार मे भेदभाव करे, वह तटस्थ राज्य को दोनो युध्यमान पक्षो का मित्र मानता था। इस समय तक तटस्थ देश के व्यापार करने वाले जलपोतो के सम्बन्ध मे कोई नियम नही बने थे। ग्रेट ब्रिटेन यह मानता था कि युद्ध करने वाले देश तटस्थ देशो के जलपोतो पर लदा हुआ केवल शत्रु का माल जब्त कर सकते थे, शत्रु के जलपोतो पर लदा हुआ तटस्थ देश का माल नही पकडा जा सकता था। तटस्थ राज्यो को यह अधिकार था कि युद्ध के समय वे युद्धकारी देशो के साथ उसी प्रकार का व्यापारिक सम्बन्ध रख सके, जैसा शान्तिकाल मे रखते थे। किन्तु फ्रास और स्पेन की नीति इससे भिन्न थी। वे शत्रु के जहाजो पर लदा तटस्थ देशों का माल तथा तटस्थ जहाजो पर लदा शत्रु का माल समान रूप से पकडा जाने योग्य या अभिग्रहणीय समझते थे। १७५६ मे छिडने वाले इगलैंड और फ्रास के सप्तवर्षीय युद्ध मे इस विषय में एक नया नियम विकसित हुआ, इसे १७५६ का नियम भी कहते हैं। उस समय सब योरोपियन राज्यों की यह नीति थी कि वे अपने समुद्रतट की बन्दरगाहो मे तथा उपनिवेशो मे केवल अपने स्वदेशी जहाजों को व्यापार करने देते थे, विदेशी जलपोत इस व्यापार मे भाग नही ले सकते थे। सप्तवर्षीय युद्ध छिडने पर फ्रास ने यह अनुभव किया कि उसका नौसैनिक बेडा ब्रिटेन के बेडे की अपेक्षा निर्बल है, इसीलिए वह अपने समुद्र पार के उपनिवेशो से व्यापार नही कर सकता, उसने इस युद्ध मे तटस्थ रहने वाले हालैण्ड को यह व्यापार करने की अनुमति दे दी। इस पर इगलैण्ड ने अपने समुद्री बेडे को यह आदेश दिया कि वह ऐसे व्यापार मे लगे सभी डच जहाजो को उनके माल के साथ पकड ले, क्योंकि उपर्युक्त फ्रेंच व्यवस्था से डच बेडा फ्रेंच बेडे का अग बन जाने के कारण शत्रु का बेडा बन गया है। इसी नियम को १७५६ का नियम कहा जाता है। ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय इसे १७४४ मे ही स्वीकार कर चुके थे।

सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality)—१७८० में अमरीकन स्वतन्त्रता संग्राम के समय रूस ने पहली सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) की घोषणा की, यह १७५६ के नियम का संशोधन था। इसमें उसने एक परिपत्र द्वारा फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन तथा स्पेन को इन पाँच नियमों का पालन करने को कहा—(१) तटस्थ देशों के जलपोतों को युद्ध करने वाले देशों के समुद्रतटों के बन्दरगाहों में व्यापार की अनुमति दी जाय। (२) विनिषिद्ध (Contraband) सामग्री के अतिरिक्त तटस्थ जलपोतों पर लदा हुआ शत्रु का माल युद्धकारी देशों को नहीं पकड़ना चाहिए। (३) विनिषिद्ध सामग्री के विषय में रूस और ग्रेट ब्रिटेन की १७७६ की सन्धि के १०, ११ अनुच्छेद लागू करने चाहिएँ। (४) किसी बन्दरगाह को उसी अवस्था में परिवेष्टित (Blockaded) समझना चाहिए, जबकि परिवेष्टन करने वाले युद्धकर्त्ता देश वहाँ अपने जहाज रखें और इनके कारण तटस्थ जलपोतों को वहाँ प्रवेश करने में खतरा हो। (५) अधिग्रहण न्यायालयों (Prize Courts) में अधिगृहीत वस्तुओं (Prize) की वैधता पर विचार करते हुए उपर्युक्त सिद्धान्तों को लागू किया जाय।

जुलाई १७८० में रूस ने डेन्मार्क के साथ तथा अगस्त में स्वीडन के साथ सन्धियाँ की, इनका उद्देश्य उपर्युक्त नियमों को लागू करने के लिए कुछ रणपोतों को सुसज्जित करना था। बाद में ऐसी सन्धि १७८१ में हालैंड, प्रशिया और आस्ट्रिया के साथ, १७८२ में पुर्तगाल के और १७८१ में दो सिसलियों के राज्य के साथ की गयी। फ्रांस, स्पेन और स० रा० अमरीका ने इसके सिद्धान्त स्वीकार किए। इस प्रकार तटस्थता के नियमों की रक्षा के लिए सशस्त्र जलपोतों की व्यवस्था की गयी, इसीलिए इसे **'सशस्त्र तटस्थता'** कहते हैं। यद्यपि इसके नियमों का बहुधा उल्लंघन होता रहा है, तथापि इसका विशेष महत्व इसलिए है कि १८५६ की पेरिस की घोषणा का आधार इसके उपर्युक्त नियम थे। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय उपर्युक्त नियमों की घोषणा करने वाले रूस ने स्वयमेव १७९३ में ग्रेट ब्रिटेन के साथ मिलकर इनका उल्लंघन करते हुए फ्रेंच बन्दरगाहों में तटस्थ जहाजों का प्रवेश निषिद्ध ठहराया, इसका उद्देश्य फ्रांस को भूखा मारकर उसे क्रान्ति के पथ से च्युत करना था, इनका यह कहना था कि क्रान्तिकारी फ्रांस सभ्य जगत् की सुरक्षा के लिए महान् संकट है, अतः उसके विरुद्ध किया गया यह कार्य सर्वथा न्यायोचित है। फ्रेंच सरकार ने इसका बदला लेने के लिए फ्रेंच बेड़े को तटस्थ देशों के ऐसे सभी जहाज जब्त करने का आदेश दिया, जो शत्रु के बन्दरगाहों को माल या खाद्य सामग्री ले जा रहे हों।

१८०० ई० में रूस ने **दूसरी बार** **'सशस्त्र तटस्थता'** की घोषणा की, इसका कारण यह था कि उस समय ग्रेट ब्रिटेन ने रणपोतों के संरक्षण (Convoy) में जाने वाले तटस्थ देशों के व्यापारिक जहाजों का निरीक्षण और तलाशी लेना आरम्भ कर दिया था। इस विषय में हालैण्ड और ग्रेट ब्रिटेन की लड़ाई के समय १६५३ में स्वीडन ने सर्वप्रथम यह माँग की कि युद्धकारी देशों को स्वीडिश रणपोतों के संरक्षण में यात्रा करने वाले वणिक्पोतों की तलाशी लेने का कोई अधिकार, उस अवस्था में नहीं है, जब रणपोतों का कप्तान यह घोषणा करे कि वणिक्पोतों पर कोई विनिषिद्ध सामग्री

नही है । अन्य राज्यो ने भी इस अधिकार की माँग शुरू की । ग्रेट ब्रिटेन इस सिद्धान्त को मानने को तैयार नही था । अत जुलाई १८०० मे उसने डेन्मार्क के एक रणपोत तथा उसके सरक्षण मे जाने वाले वणिक्पोतो (Merchantmen) को पकड लिया, क्योकि वे तलाशी देने को तैयार नही थे। इस पर रूस ने स्वीडन, डेन्मार्क तथा प्रशिया को दूसरी सशस्त्र तटस्थता मे सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया, तथा उपर्युक्त पाँच नियमो मे इस छठे नियम की भी वृद्धि की कि युद्धकारी देशो को उस अवस्था मे तटस्थ देशों के जलपोतो के निरीक्षण और तलाशी का अधिकार नही है, जब इन्हे अपने सरक्षण मे ले जाने वाले रणपोतो का कप्तान यह घोषणा करे कि इन जहाजो मे कोई विनिषिद्ध सामग्री नही है । रूस के सम्राट् पाल ने दिसम्बर १८०० मे इस विषय मे स्वीडन, डेन्मार्क तथा प्रशिया से सधियाँ की, किन्तु यह दूसरी सशस्त्र तटस्थता केवल एक वर्ष ही चली। २३ मार्च को रूसी सम्राट् की हत्या तथा २ अप्रैल १८०१ को कोपनहेगन के युद्ध मे नेल्सन द्वारा डेनिश बेडे के पराभव से इसका अन्त हो गया ।

१९वी शताब्दी मे तटस्थता के नियमो के विकास मे तीन तत्वों ने महत्वपूर्ण भाग लिया। पहला तत्व स० रा० अमरीका का फ्रेंच क्रान्ति एव नैपोलियन के युद्धो मे १७९३ से १८१५ तक तटस्थ रहना था। उन दिनो १७७६ के स्वतन्त्रता सग्राम के कारण स० रा० अमरीका ग्रेट ब्रिटेन का विरोधी होने के कारण फ्रास का मित्र था। १७९३ मे जब इगलैण्ड फ्रास विरोधी पहली गुटबन्दी (First Coalition) मे सम्मिलित हुआ तो वाशिंगटन मे फ्रेंच राजनयिक प्रतिनिधि जेने (Genet) ने अमरीकी बन्दरगाहो मे विद्यमान अमरीकी नागरिको के वणिक्पोतो को ब्रिटिश जहाज पकडने के अधिकार-पत्र (Letters of Marque) देने शुरू किए। इन वैयक्तिक जहाजो द्वारा पकडे गये ब्रिटिश जहाजो के मामलो पर विचार करने के लिए फ्रेंच राजदूत ने अमरीकन बन्दरगाहो मे फ्रेंच वाणिज्य दूतावासो (Consulates) की सहायता से अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) स्थापित किये। ब्रिटिश सरकार द्वारा तीव्र प्रतिवाद करने पर अमरीकन सरकार ने फ्रेंच अधिग्रहण न्यायालयो को बन्द करने तथा वैयक्तिक जहाजो को नि शस्त्र करने की आज्ञा दी। गिडियोन हेनफील्ड नामक व्यक्ति के अभियोग मे यह ज्ञात हुआ कि उस समय तक का अमरीकन कानून अमरीकी नागरिको के लिए विदेशी युद्धकारी राज्य की सेना मे भर्ती होना अवैध नही समझता था। अत काग्रेस ने १७९४ मे एक कानून पास करके अस्थायी रूप से अमरीकी नागरिको द्वारा विदेशी युद्धकारी देश से 'अधिकारपत्र' (Letters of Marque) लेना तथा उनका विदेशी स्थल अथवा जल सेना मे भर्ती होना वर्जित ठहराया और विदेशी युद्धकारी देशो की सहायता के लिए अपनी बन्दरगाहो म वैयक्तिक जहाजो को शस्त्रो से सुसज्जित करने का निषेध किया। २० अप्रैल १८१८ को काग्रेस ने उपर्युक्त व्यवस्थाओ को स्थायी रूप देने के लिए 'विदेशी भर्ती कानून' (Foreign Enlistment Act) पास किया। ग्रेट ब्रिटेन ने १८१९ मे इसी के आधार पर अपना 'विदेशी भर्ती कानून' बनाया, इससे तटस्थता के नियमो मे बडी स्पष्टता और विशदता आयी। नैपोलियन के युद्धो के समय लार्ड स्टोवैल ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय के न्यायाधीश थे। उनकी प्रतिभा से भी तटस्थ देशो के अधिकारो

और कर्तव्यों के कानून में प्रौढ़ता आयी।

तटस्थता के विकास में दूसरा सहायक तत्व स्विट्जरलैंड और बेल्जियम का स्थायी तटस्थीकरण (Neutralisation) था (देखिये ऊपर पृ० १४५)। इन राज्यों ने पिछली शताब्दी में होने वाले सभी योरोपियन युद्धों में अपनी तटस्थता में दोनों पक्षों के प्रति पूरी निष्पक्षता बनाये रखी तथा अपने देश और साधनों का किसी पक्ष को लाभ नहीं उठाने दिया, इसके लिये उन द्वारा की गई कार्यवाहियों ने तटस्थता के नियम को पुष्ट किया। तीसरा तत्व १८५६ की पेरिस की घोषणा थी (ऊपर देखिए प्रथम अध्याय), इसने दो नियमों पर बल दिया। पहला नियम यह था कि शत्रु के जहाजों पर लदा तटस्थ देशों का माल नहीं पकड़ा जा सकता, यह 'स्वतन्त्र जहाज, स्वतन्त्र माल' (Free Ship, Free Goods) का नियम कहलाता है, क्योंकि इसके अनुसार न तो स्वतन्त्र अर्थात् तटस्थ जहाजों को पकड़ा जा सकता है और न ही उनके माल को, भले ही वह शत्रु के जलपोत पर लदा हो। दूसरा नियम यह था कि परिवेष्टन (Blockade) प्रभावशाली होने चाहिएँ। इनके अतिरिक्त अमरीकी गृहयुद्ध के समय स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में तटस्थ अधिकारों के अनेक विवादों ने इस कानून को स्पष्टता प्रदान की। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध १८७२ का **अल्बामा दावा पंच-निर्णय** (Albama Claims Arbitration) था (देखिये प्रथम परिशिष्ट)।

हेग अभिसमय (Hague Conventions on Neutrality)—दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध (१९००) की तथा रूस-जापानी युद्ध (१९०४) की अनेक घटनाओं ने तटस्थता सम्बन्धी जटिल प्रश्न उत्पन्न किये। १९०७ के द्वितीय हेग सम्मेलन ने इन पर विचार करते हुए दो अभिसमयों (Conventions) में तटस्थता के नियम बनाये। **पांचवें अभिसमय** में स्थल युद्ध में तटस्थ शक्तियों और व्यक्तियों के अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन था और **तेरहवें अभिसमय** में नौयुद्ध में इनके अधिकारों और कर्तव्यों का प्रतिपादन था। किन्तु इन दोनों अभिसमयों का अनुसमर्थन (Ratification) ग्रेटब्रिटेन ने नहीं किया। इनके अतिरिक्त, तटस्थता के कुछ नियमों का वर्णन इन सम्मेलन द्वारा बनाये गये अन्य अभिसमयों में भी है, जैसे वणिक्पोतों को रणपोत बनाने का **सातवां अभिसमय**, समुद्र में सुरंगें बिछाने का **आठवां अभिसमय**, निग्रह या पकड़ने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने वाला **ग्यारहवां अभिसमय** तथा अन्तर्राष्ट्रीय अभिग्रहण न्यायालय का **बारहवां अभिसमय**। **पांचवें अभिसमय** द्वारा स्थल युद्ध में तटस्थ दशा के लिए बनाए गए मुख्य नियम इस प्रकार थे—(१) तटस्थ देशों का प्रदेश अनतिक्रम्य (Inviolable) है (अनु० १)। (२) युद्धकारी देश तटस्थ प्रदेश में से अपनी सेना या युद्ध सामग्री नहीं ले जा सकते। यहाँ कोई बेतार की तार का या सैनिक भर्ती करने का सैनिक केन्द्र नहीं बना सकते (अनु० ३, ४)। (३) तटस्थ देश युद्धकारी देशों के घायल और बीमार सैनिकों को अपने प्रदेश में से गुजरने की अनुमति दे सकते हैं (अनु० १४)। अनुच्छेद १६ में तटस्थ व्यक्ति की परिभाषा करते हुए कहा गया था कि यह युद्ध में भाग न लेने वाला है, किन्तु यदि यह किसी युद्धकारी देश के विरुद्ध कोई शत्रुतापूर्ण कार्य करता है, किसी युद्धकारी के पक्ष में कोई कार्य करता है, उसकी सेना में भर्ती

होता है तो वह अपनी तटस्थता से वंचित हो जाता है। **समुद्री युद्ध सम्बन्धी तटस्थता के तेरहवें अभिसमय** के नियमों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) तटस्थ देशों के प्रादेशिक समुद्रों (Territorial Waters) में युद्धकारी देशों द्वारा शत्रुता का कोई भी कार्य—जहाजों पर आक्रमण, इनको पकड़ना तथा इनकी तलाशी लेना वर्जित है, ऐसे कार्यों से इनकी तटस्थता भंग होती है (अनु० २)। (२) युद्धकारी देश तटस्थ देश में या इसके प्रादेशिक समुद्र में विद्यमान किसी जलपोत पर कोई अधिग्रहण न्यायालय नहीं बना सकते (अनु० ४)। (३) युद्धकारी देश शत्रु पर नौसैनिक आक्रमण करने के लिये तटस्थ देश के बन्दरगाहों का तथा इसके प्रादेशिक समुद्र को अड्डा या आधार नहीं बना सकते (अनु० ५)। (४) तटस्थ शक्ति युद्धकारी देश को प्रत्यक्ष या परोक्ष —किसी रीति से रणपोत, गोलाबारूद तथा अन्य रण सामग्री नहीं दे सकती (अनु० ६)। (५) तटस्थ सरकार को अपने क्षेत्राधिकार की सीमा में किसी जहाज को बनने या सुसज्जित नहीं होने देना चाहिए जिसके बारे में तनिक भी यह संदेह हो कि वह ऐसे देश के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्य करेगा जिसके साथ तटस्थ देश के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं। (६) किसी तटस्थ देश की तटस्थता उसके प्रादेशिक समुद्र में युद्धकारी देशों के रणपोत गुजरने मात्र से भंग नहीं होती (अनु० १०)। (७) विशेष व्यवस्थाओं के अभाव में तटस्थ देशों के प्रादेशिक समुद्र में युद्धकारी देशों के रणपोत २४ घण्टे से अधिक नहीं रह सकते (अनु० १२)। (८) तटस्थ देशों के बन्दरगाहों में युद्धकारी देशों के रणपोतों की केवल उतनी ही मरम्मत हो सकती है, जो उनकी समुद्री यात्रा के लिए आवश्यक हो इसमें उन्हें हथियारों में सुसज्जित नहीं किया जा सकता (अनु० १७)। ये नियम केवल तभी लागू होते थे जब युद्ध करने वाले दोनों पक्षों ने इन्हें स्वीकार कर लिया हो।

लन्दन की घोषणा तटस्थता के नियमों को संहिताबद्ध करने का एक अन्य प्रयत्न १९०९ के लन्दन के नौसम्मेलन (London Naval Conference) में किया गया। इसमें नौयुद्ध में परिवेष्टन (Blockade), विनिषिद्ध सामग्री, अतटस्थ सेवा (Unneutral Service) आदि के नियम बनाये गए, इन्हें लन्दन की घोषणा (Declaration of London) कहते हैं। टर्की-इटली के युद्ध (Turco Italian War) में इन नियमों का पूरा पालन किया गया, यद्यपि टर्की ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर नहीं किए थे। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने से पहले तक लन्दन घोषणा का अनुसमर्थन (Ratification) किसी भी देश ने नहीं किया। इसके छिड़ जाने पर स० रा० अमरीका ने दोनों पक्षों को यह घोषणा स्वीकार करने के लिए कहा। जर्मनी और आस्ट्रिया हंगरी इसे इस शर्त पर मानने को तैयार हुए कि उनके शत्रु भी इसे स्वीकार करें। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस इसे अनेक संशोधनों के साथ ही मानने को तैयार थे। युद्ध के आरम्भिक काल में ग्रेट ब्रिटेन ने इसे कुछ अंशों में स्वीकार भी किया, किन्तु शनैः-शनैः वह इसके नियमों का पालन मर्यादित करने लगा और ७ जुलाई १९१६ के बाद उसने इस घोषणा के किसी भी नियम का पालन नहीं किया।

प्रथम विश्वयुद्ध में तटस्थता (Neutrality in the First World War)—

प्रथम विश्वयुद्ध मे तटस्थता के नियमो का बहुत उल्लघन हुआ। इसके आरम्भ मे ही बेल्जियम की तटस्थता का भग हुआ। स० रा० अमरीका ने इस युद्ध मे तटस्थ रहने की घोषणा की थी, किन्तु जर्मन पनडुब्बियो ने इसके समुद्री व्यापार को भीषण क्षति पहुँचाई, जर्मनी ने यह घोषणा की कि एक निश्चित क्षेत्र मे आने वाले सभी जहाजो को—चाहे वे किसी देश के हो—डुबो दिया जायगा। इस पर अमरीका ने ६ अप्रैल १९१६ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की। उस समय तटस्थता को बडी घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और यह कहा जाने लगा कि तटस्थ रहने वाला देश "अपने मानवीय कर्त्तव्यों के पालन के दायित्व से बचना चाहता है।"[१] इस युद्ध मे यह भी स्पष्ट हो गया कि जब युद्धकारी दोनो के महत्वपूर्ण स्वार्थ खतरे मे पडते हैं तो दोनों पक्ष तटस्थ देशों के हितो की उपेक्षा करने के लिए कानूनी और नैतिक युक्तियाँ ढूंढ लेते हैं। गार्नर के शब्दो मे पहले विश्वयुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि तटस्थ देशो के लिए अपनी तटस्थता की रक्षा करना बहुत कठिन है।

राष्ट्र संघ और तटस्थता (League of Nations and Neutrality)—प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर राष्ट्र सघ (League of Nations) का सविधान (Covenant) बना। इसने तटस्थता के नियमों पर गहरा प्रभाव डाला। फेनविक का यह मत है कि इसने तटस्थता के परम्परागत कानून (Traditional Law) के सिद्धान्त को समाप्त कर दिया। किन्तु ओपेनहाइम का मत ऐसा नही है। वस्तुत सघ के प्रतिज्ञा-पत्र के अनुसार दो प्रकार के युद्ध हो सकते थे। पहले प्रकार के युद्ध वे थे, जो शान्ति पूर्ण उपायों द्वारा विवादास्पद प्रश्नों का समाधान न होने पर किए जाते थे। ये प्रतिज्ञा-पत्र के अनुकूल थे, इनके सम्बन्ध मे सघ के सदस्यों पर कोई दायित्व नही थे, इनमे सदस्य अपनी इच्छानुसार तटस्थ रह सकते थे। दूसरे प्रकार के युद्ध प्रतिज्ञापत्र का उल्लघन करके किये जाने वाले थे, इनके विषय में प्रतिज्ञापत्र के अनुच्छेद १०, ११, १२, १३, १५ और १६ मे की गई व्यवस्थाएँ सब सदस्य राज्यो पर ऐसे उत्तरदायित्व

१. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अनेक विधिशास्त्रियों ने इस प्रवृत्ति का प्रबल समर्थन किया। वे तटस्थता को सर्वथा अनैतिक समझते थे, क्योंकि एक ओर तो राज्यों द्वारा युद्ध को समाप्त करने तथा आक्रमण को रोकने की प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं, दूसरी ओर किसी राज्य द्वारा इनका उल्लघन करने पर वे तटस्थता के नाम पर चुपचाप बैठ जाते हैं। यह मनोवृत्ति सामूहिक सुरक्षा (Collective security) तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और नियमों की प्रतिष्ठा को गहरी क्षति पहुँचाने वाली थी। पालिटिस (Politis) के मतानुसार तटस्थता एक अनैतिक और अव्यावहारिक दकियानूसी पन (Immoral and impractical anachronism) था। लो फर (Le Fur) ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की उपज बताया था। कोहन (Cohn) ने परम्परागत तटस्थता के विचार को रद्द करते हुए अवैध युद्ध को बन्द करने के लिए तटस्थ देशों द्वारा सगठन बनाने पर बल दिया। फेनविक ने लिखा है कि उस समय यह समझा जाता था कि अगले युद्ध में तटस्थ देश या तो अपनी परम्परागत नीति का परित्याग करेंगे या उन्हें इसे बनाये रखने के लिए लडना पडेगा। (फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६१७-१८)। आगे यह बताया जायगा कि दूसरे विश्वयुद्ध में तटस्थता के नियमों का पहले विश्वयुद्ध की अपेक्षा अधिक घोर उल्लघन हुआ।

डालती थी, जिनके कारण उनका तटस्थ रहना सम्भव ही नहीं था। इसके अनुच्छेद १० मे सब सदस्यो का यह कर्तव्य बताया गया था कि वे "सघ के सब सदस्यो की प्रादेशिक अखण्डता का तथा वर्त्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करेंगे तथा बाह्य अग्राक्रमण (External aggression) से इसकी रक्षा करेंगे।" इस दायित्व के कारण सघ के किसी भी सदस्य के लिए कहीं भी अग्राक्रमण का शिकार बनने वाले राज्य की रक्षा के लिए की जाने वाली सामूहिक सुरक्षा मे भाग लेना अनिवार्य कर्त्तव्य था। इस आक्रमण को रोकने के लिए की गई कार्यवाही मे कोई राज्य तटस्थ नही रह सकता था। इसी प्रकार अनुच्छेद ११ मे किसी युद्ध या युद्ध की धमकी को—भले ही वह "किसी सदस्य-राज्य पर तात्कालिक प्रभाव न डालती हो"—समूचे सघ के लिए चिंता का विषय बताते हुए सघ को यह अधिकार दिया गया कि वह इस विषय मे "राष्ट्रो की शान्ति की सुरक्षा के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण और प्रभावशाली समझे जाने वाली" कोई भी कार्यवाही कर सकता है। इस प्रकार सघ के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भग के कार्यो को रोकने के लिए सामूहिक रूप से बाधित थे। अनुच्छेद १६ के अनुसार शान्तिपूर्ण समाधान की अवहेलना करके युद्ध छेड़ने वाले सघ के सदस्य के बारे मे यह कहा गया था कि वह अपने ऐसे कार्य स स्वत (Ipso facto) सघ के सभी सदस्यो के विरुद्ध युद्ध छेड़ता है और अन्य सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसके साथ अपने व्यापारिक और वित्तीय सम्बन्ध बन्द कर दें। यही सघ की सुप्रसिद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic sanctions) लगाने की व्यवस्था थी। आपेनहाइम ने तटस्थता पर सघ के प्रतिज्ञापत्र के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए लिखा है[७] 'यह कहना ठीक नहीं है कि इसने तटस्थता को समाप्त कर दिया। यह भी सत्य नहीं है कि इसने तटस्थता पर कोई प्रभाव नहीं डाला। यथार्थ दृष्टिकोण सम्भवत यह है कि कुछ अवस्थाओ मे जब युद्ध करना प्रतिज्ञापत्र के प्रतिकूल न हो, तब इसने तटस्थता के कानून मे परिवर्त्तन नहीं किया। किन्तु इसने तटस्थता को समाप्त न करते हुए उन अवस्थाओ मे इस पर मार्मिक प्रभाव डाला, जिनमे सघ के सदस्य प्रतिज्ञापत्र के अनुच्छेद १६ के अनुसार किसी देश के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने के लिए बाधित थे।'

१६२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट (पेरिस पैक्ट) अथवा युद्ध परित्याग की सामान्य सधि (General Pact for the Renunciation of War) पर हस्ताक्षर करने वाले देशो ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के समाधान के लिए युद्ध के उपाय के अवलम्बन की निन्दा की, राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप मे युद्ध के परित्याग की घोषणा करते हुए यह कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का समाधान केवल शान्तिपूर्ण साधनों से किया जाना चाहिए। किन्तु इस पैक्ट मे इसे लागू या पालन कराने वाली व्यवस्थाओ का अभाव था, अत तटस्थता के नियम पर इसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा।

१६३१ से १६३६ तक मचूरिया और चीन पर जापान के आक्रमण, जर्मनी मे हिटलर के उत्कर्ष तथा एबीसीनिया पर इटली के आक्रमण मे राष्ट्र सघ की सामूहिक

७. ओपनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ६३५

सुरक्षा की व्यवस्था को गहरा धक्का लगा। इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने की आशायें धूमिल होने लगी। नये विश्वयुद्ध की सभावना बढ़ने लगी और इस परिस्थिति में कुछ राज्यों ने इससे बचने और तटस्थ रहने के प्रयत्न आरम्भ किये। बेल्जियम और हालैण्ड ने तटस्थता की घोषणा की, १९३८ में स्कैण्डेनेविया प्रायद्वीप के राज्यो ने तटस्थता के नियमो के पालन का तथा आपस में पूर्व परामर्श किये बिना इनमें सशोधन न करने का निश्चय किया। १९३६-३७ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने स्पेन के गृहयुद्ध के प्रति अहस्तक्षेप (Non-intervention) की नीति अपनायी। स० रा० अमरीका को प्रथम विश्वयुद्ध में यह कटु अनुभव प्राप्त हो चुका था कि तटस्थ होते हुए भी उसे किस प्रकार बाधित होकर युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा था, अत. उसने इसकी पुनरावृत्ति रोकने तथा तटस्थता बनाये रखने के लिए ऐसे कानूनो को पास करना शुरू किया, जिनसे युद्धकारी देशो के साथ उसके सघर्ष होने की सभावना बहुत कम हो जाय। इस दृष्टि से १९३७ में स० रा० अमरीका ने तटस्थता का कानून (Neutrality Act) पास किया, १९३९ में इसका सशोधन किया गया। इसका आधार 'नकद दाम दो और माल ले जाओ' (Cash and Carry) का सिद्धान्त था। इसके अनुसार कानून में बनायी गयी शस्त्रास्त्र सामग्री के अतिरिक्त अन्य माल को दूसरे देश स० रा० अमरीका से भिन्न देशों के जहाजों में ही ले जा सकते थे। युद्धकारी राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र सामग्री बेचना, इसे अमरीकी जहाजो में युद्धकारी राष्ट्रों को भेजना, इनके जहाजों में अमरीकी नागरिकों की यात्रा करना, इन युद्धकारी देशो की सरकारी सिक्यूरिटियाँ खरीदना, युद्धकारी देशो के रणपोतों, पनडुब्बियों तथा सशस्त्र व्यापारिक जहाजों द्वारा अमरीकी बन्दरगाहों का उपयोग इस कानून द्वारा निषिद्ध कार्य बना दिये गये। इनका उद्देश्य स० रा० अमरीका को युद्ध से पृथक् रखना था।

किन्तु हिटलर द्वारा १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छेड़ने तथा १९४० के वसन्तकाल में नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम तथा लुक्सेमबर्ग की तटस्थता का अतिक्रमण करने पर स० रा० अमरीका को शनै -शनै अपनी तटस्थता की नीति में परिवर्तन करने के लिए बाधित होना पड़ा। राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने यह अनुभव किया कि हिटलर की विजय का परिणाम लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता का विनाश होगा, अत उन्होंने अमरीका को लोकतन्त्र का शस्त्रागार (Arsenal of Democracy) बनाने तथा हिटलर से लड़ने वाले ग्रेट ब्रिटेन आदि लोकतन्त्रो को अधिक से अधिक रणसामग्री भेजने का निश्चय किया। २४ जून १९४० को फ्रास के पतन के बाद अमरीका ने ब्रिटेन को प्रत्येक प्रकार की रणसामग्री भेजी, न्यूफाउन्डलैण्ड से ब्रिटिश गायना तक के ८ अड्डे ९९ वर्ष के पट्टे पर लेकर उसे ५० विध्वसक (Destroyer) प्रदान किये। उसका यह कार्य स्पष्ट रूप से तटस्थता विरोधी था। ११ मार्च १९४१ को अमरीकी कांग्रेस ने उधार पट्टा (Lend lease) कानून पास किया। इसके अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया था कि वह स० रा० अमरीका की सुरक्षा के लिए जिस देश की सुरक्षा आवश्यक समझे, उस देश की सरकार को सुरक्षा के लिए आवश्यक

सभी प्रकार की रणसामग्री बेच सकता है, उधार या पट्टे पर दे सकता है। यद्यपि इस समय तक कानूनी रूप से स० रा० अमरीका तटस्थ देश था, तथापि उसने उधार पट्टे कानून द्वारा तटस्थता के सभी महत्वपूर्ण नियमों का परित्याग कर दिया था। उसके इस विलक्षण कार्य का समर्थन तीन कारणों के आधार पर किया गया[8]—(१) जर्मनी और इटली द्वारा १९२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट का भंग तथा तटस्थ राज्यों की तटस्थता का अतिक्रमण। (२) जर्मनी और इटली जैसी शक्तियों से आत्मसंरक्षण। यदि स०रा० अमरीका ग्रेट ब्रिटेन को जर्मनी द्वारा जीता जाने देता तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सर्वथा लोप हो जाता। (३) धुरी राष्ट्रों द्वारा स० रा० अमरीका पर आक्रमण करके उसे जीतने का षड्यन्त्र करना।

ओपेनहाइम ने यह मत प्रकट किया है कि स० रा० अमरीका द्वारा ग्रेट ब्रिटेन को पचास विध्वंसक देना और उधार पट्टा कानून (Lend lease Act) पास करना १९वीं शताब्दी के तटस्थता के विचारों के तथा हेग अभिसमयों के नियमों (देखिये ऊपर पृ० ५२३-२४) के अनुकूल नहीं था।[9] किन्तु सम्भवतः "ये कार्य समूचे रूप में तथा समग्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखे जाने वाले तटस्थता कानून के अनुकूल थे।" ये ऐसे युद्धकारी राष्ट्र के विरुद्ध भेदभावपूर्ण व्यवहार था, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तिलांजलि देते हुए युद्ध आरम्भ किया था। यह ग्रोशियस तथा उसके समकालीन अन्य लेखकों की अपूर्ण या विशिष्ट (qualified) तटस्थता की नीति का परिणाम था। पूर्ण तटस्थता की नीति युद्ध छेड़ने के पूर्ण अधिकार (absolute right) पर अवलम्बित थी। किन्तु १९२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट द्वारा जर्मनी सहित सब देश इस नीति का परित्याग कर चुके थे। इसके अनुसार आक्रमण का शिकार बनने वाले देश को सहायता देना तथा आक्रान्ता को रोकना सब देशों का कर्तव्य था। इस प्रकार परोक्ष रूप से इस पैक्ट ने पूर्ण तटस्थता के कानून की जड़ें खोखली कर दी थीं। इस अवस्था में स० रा० अमरीका का उधार पट्टा कानून पास करना आवश्यक था। इस नीति परिवर्तन का **दूसरा कारण** आत्मरक्षा की भावना थी। धुरी राष्ट्र विश्व पर प्रभुता पाने के साथ उन आधारों को नष्ट करने पर तुले हुए थे, जिन पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून टिका हुआ था, अतः आत्मरक्षा के लिए ऐसी व्यवस्थायें आवश्यक थीं। उधार पट्टा कानून का सरकारी नाम इस तथ्य को भली भाँति सूचित करता है, यह नाम इस प्रकार था—**स० रा० अमरीका की प्रतिरक्षा पुष्ट करने वाला अधिनियम** (An Act to promote the Defence of the United States)। **तीसरा कारण** अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों में पारस्परिकता (Mutuality of International Obligations) का सिद्धान्त है। जर्मनी ने अभूतपूर्व पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन किया था। वह स्वयमेव इसका घोर अतिक्रमण करते हुए तथा तटस्थ देशों के अधिकारों को कुचलते हुए दूसरे देशों से यह आशा नहीं रख सकता था कि वे तटस्थता

८. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६८८
९. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६३८—४०

के नियमो का पूरा पालन करेंगे। ६ जनवरी १६४२ को अमरीकन राष्ट्रपति ने काग्रेस को भेजे गये अपने सदेश मे कहा था—"एकपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय कानून—जिसके पालन मे पारस्परिकता का अभाव है—उत्पीडन का साधन बन जाता है।" इस दृष्टि से स० रा० अमरीका के उपर्युक्त कार्य जर्मनी द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लघन के लिये उससे लिए जाने वाले प्रतिशोध या प्रत्यपहार (Reprisals) के रूप मे थे। जर्मनी ने १६२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट का घोर अतिक्रमण किया था, स० रा० अमरीका के लिये यह बडा महत्वपूर्ण था, उसने इसका बदला लेने के लिए उपर्युक्त कार्य किये।[10]

स० रा० अमरीका ने पूरे दृढ निश्चय के साथ मित्रराष्ट्रो की सहायता के लिए परम्परागत तटस्थता के नियमो के प्रतिकूल कई अन्य कार्य भी किये। २७ मई १६४१ को अमरीकन राष्ट्रपति ने यह घोषणा की कि ग्रेट ब्रिटेन को आवश्यक सामान सुरक्षित रूप मे पहुँचाने के लिये अमरीका के गश्ती जहाजो ने सहायता देनी शुरू कर दी है। जर्मन पनडुब्बियो ने जब युद्ध के नियम तोडते हुए अमरीकन जहाजों पर हमले किये तो सितम्बर १६४१ मे इनके प्रतिरोध के लिए अमरीका के समुद्री बेडे को दी गयी हिदायतो ने लगभग ऐसी शत्रुतापूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी, जिसका युद्ध से अन्तर करना बडा कठिन था। स० रा० अमरीका की नौसेना के ग्रीयर (Greer) नामक विध्वसक पोत पर जर्मन पनडुब्बी का हमला होने पर ११ सितम्बर १६४१ को राष्ट्रपति ने यह घोषणा की कि 'अमरीका की प्रतिरक्षा के लिए जिस समुद्र की रक्षा आवश्यक है, इसमे जर्मन और इटालियन जलपोत 'खतरा उठाकर' ही प्रविष्ट हो सकते है, अमरीका की नौसेनाओ को यह आज्ञा दे दी गयी है कि इसमे प्रविष्ट होने वाले जर्मन तथा इटालियन जलपोतो और पनडुब्बियो को देखते ही इन पर गोली चला दी जाय। अमरीका ने इस कार्य का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा था कि वह इस प्रकार महासमुद्रा मे नौचालन की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की रक्षा करना चाहता है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार जलदस्युओ (Pirates) के हमले के विरुद्ध कार्यवाही का अधिकार है। इस प्रकार ११ दिसम्बर १६४१ को जर्मनी और इटली के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने से पूर्व ही उपर्युक्त कार्यों द्वारा स० रा० अमरीका की तटस्थता लगभग समाप्त हो चुकी थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध में तटस्थता के नियम से सम्बद्ध दो महत्वपूर्ण घटनाय ग्राफ स्पी का आत्मनाश तथा आल्टमार्क जहाज से नार्वे के प्रादेशिक समुद्र मे एक ब्रिटिश विध्वसक द्वारा बन्दी ब्रिटिश नाविको को जबर्दस्ती उतार लेना था। ग्राफ स्पी (Graf Spee) जर्मनी का जगी जहाज था, दिसम्बर १६३६ मे ब्रिटिश क्रूजरो द्वारा हमला किये जाने पर इसने माण्टीविडियो (Montivideo) के बन्दरगाह मे शरण ली। ब्रिटिश क्रूजर बन्दरगाह से बाहर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। यह दक्षिण अमरीका मे, युद्ध में तटस्थ राज्य उरूगुये (Uruguay) मे था, इसने जर्मन रणपोत को मरम्मत के लिये ७२ घटे बन्दरगाह मे रहने की अनुमति दी और इसके बाद इसे बन्दरगाह से बाहर जाने को कहा। ग्राफ स्पी को ब्रिटिश विध्वसको के आक्रमण का भय था,

१०. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खं० २, पृ० ६४०

अत उसने बन्दरगाह को छोडने के बाद प्रादेशिक समुद्र मे ही अपने पेंदे मे छेद कर तथा डुबोकर अपने आप को नष्ट कर दिया। **आल्टमार्क** (Altmark) की घटना का वर्णन प्रथम परिशिष्ट मे किया गया है।

दोनो विश्वयुद्धों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अब तटस्थता का स्वरूप अत्यधिक मर्यादित हो गया है। डा० लौटरपैक्ट ने लिखा है—"दो विश्वयुद्धो के अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है कि तटस्थता के परम्परागत कानून का तटस्थ देशों के व्यापार के अधिकारो से सम्बद्ध रखने वाला महत्त्वपूर्ण पहलू अब बहुत अशो मे अप्रचलित (Obsolete) हो गया है।"[11] वस्तुत. वर्तमान युद्ध मे सैनिक और आर्थिक पहलुओ का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया है कि कोई भी युद्धकारी देश किसी तटस्थ देश का अपने शत्रु के साथ व्यापार करने की स्वतन्त्रता देना, उसकी शक्ति को बढाने वाला समझता है, अत वह इसे अत्यधिक मर्यादित करके नगण्य बना देता है। इस अवस्था मे तटस्थ देश के युद्धकारी देशो के साथ व्यापार के अधिकार अब लगभग समाप्त हो गये है।

स० रा० सघ का चार्टर और तटस्थता (The Charter of U N O and Neutrality) सघ के चार्टर द्वारा इसके सदस्यो पर डाले गए दायित्वों के कारण तटस्थता बहुत-कुछ कम हो गई है। चार्टर के अनुच्छेद २ के अनुसार सब सदस्यो का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे चार्टर की व्यवस्थाओ के अनुसार सघ द्वारा की जाने वाली प्रत्येक कार्यवाही मे उसे सभी प्रकार की सहायता दे और सघ जिसके विरुद्ध निरोधात्मक (Preventive) या पालनात्मक (Enforcement) कार्यवाही कर रहा हो, उसे कोई सहायता न दे। अनुच्छेद ४१ के अनुसार सदस्य राज्यो का यह कर्तव्य है कि वे सुरक्षा परिषद् द्वारा आवश्यक समझे जाने पर, किसी देश के साथ अपना सम्पूर्ण अथवा आशिक आर्थिक सम्बन्ध, रेल, समुद्र, हवाई, डाकतार, रेडियो आदि का सम्बन्ध तथा दौत्य सम्पर्क विच्छिन्न कर देंगे। अनुच्छेद ४२ मे यह कहा गया है कि उपर्युक्त उपाय अपर्याप्त समझने पर सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए किसी देश के विरुद्ध स० रा० सघ के सदस्य-राज्यो की सेनाओ द्वारा स्थलीय, समुद्री या हवाई सैनिक कार्यवाही कर सकती है। अनुच्छेद ४५ मे यह व्यवस्था है कि स० रा० सघ के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने के लिए सुरक्षा परिषद् के आह्वान पर उसे अपनी सेनाओ की सहायता देंगे और इन्हे अपने प्रदेश में से गुजरने की सब सुविधायें प्रदान करेंगे। अनुच्छेद ५१ मे यह कहा गया है कि यदि स० रा० सघ के किसी सदस्य पर सशस्त्र हमला होता है, तो उसे सुरक्षा परिषद् द्वारा कार्यवाही करने से पहले आत्मरक्षा करने का वैयक्तिक या सामूहिक अधिकार है, तटस्थ देश भी इस प्रकार अपनी आत्मरक्षा कर सकते है।

चार्टर की उपर्युक्त व्यवस्थाओ का यह परिणाम हुआ है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सकट उत्पन्न होने पर सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर इसके सब सदस्यो

---

११. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ६४७

का कर्तव्य है कि वे इसके निवारण के लिए परिषद् द्वारा बतायी हुई कार्यवाही मे सहयोग प्रदान करें। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि अब ऐसी स्थिति मे कोई सदस्य-राज्य तटस्थ नही रह सकता, यदि वह ऐसा करता है तो अपने कर्तव्य के पालन न करने का दोषी होता है। हैन्स केलसन (Kelsen) ने अनुच्छेद ५१ के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"तटस्थ राज्यो पर निष्पक्षता का दायित्व लागू करने वाले सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्थान अब चार्टर ने ले लिया है और इस प्रकार उस नियम को निरर्थक और बेकार (Supersede) बना दिया है।"[12] लौटरपैक्ट के मतानुसार[13] "चार्टर मे तटस्थता की स्थिति कुछ बातो मे सघ के प्रतिज्ञापत्र के आधीन स्थिति से मिलती है। चार्टर ने स० रा० सघ के सदस्यो के तटस्थ रहने के अधिकार पर निर्णयात्मक प्रभाव डाला है, किन्तु इसने रा० रा० सघ के सदस्यो के बीच मे, अथवा इसके गैर सदस्यो के बीच मे या सदस्य और गैर-सदस्यो के बीच मे लड़े जाने वाले युद्धो मे उनके तटस्थ रहने के अधिकार का वास्तविक रूप मे उन्मूलन नही किया। सिद्धान्त के रूप मे, सघ के किसी सदस्य को ऐसी लडाई मे अपनी इच्छा से तटस्थ रहने का अधिकार नही है, जिसमे सुरक्षा परिषद् ने किसी राज्य को शान्ति भग करने का दोषी पाया है और जिसके विषय मे उसने सघ के सदस्यों को उस राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करने को या युद्ध से मिलती-जुलती कार्यवाही करने को कहा है।" फेनविक के मतानुसार "२६ जून १९४५ को स० रा० सघ के चार्टर का स्वीकार किया जाना, कानूनी पद्धति के तौर पर अन्तिम रूप से तटस्थता की समाप्ति का सूचक है।"[14] किन्तु स्टार्क ने इससे असहमति प्रकट करते हुए कहा है कि चार्टर से तटस्थता का पूर्णरूप से उन्मूलन नही हुआ है।[15] सुरक्षा परिषद् द्वारा कोई कार्यवाही किए जाने पर अनु० ४८ तथा ५० के अनुसार कुछ सदस्य-राज्यो को इसका पालन न करने की छूट दी गई है, इस अवस्था मे उनकी स्थिति अपूर्ण तटस्थता (Qualified Neutrality) की होती है। जब सुरक्षा परिषद् का कोई स्थायी सदस्य अपने निषेधाधिकार (Veto) द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही रोक देता है तो सदस्य-राज्य दोनों युध्यमान पक्षो के प्रति पूर्ण रूप से तटस्थ रह सकते है।

५. तटस्थता के औचित्य का आधार (Basis of Justification for Neutrality)—तटस्थता का औचित्य प्राय निम्नलिखित चार कारणो के आधार पर सिद्ध किया जाता है—(१) यह युद्धो का क्षेत्र सीमित करती है। (२) युद्धो की प्रवृत्ति कम करती है। (३) राज्यों को युद्ध से पृथक् रहने मे समर्थ बनाती है। (४) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नियमन करती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने पहले दोनों कारणों की निरर्थकता भली-भाँति सिद्ध कर दी

Principle

१२. हैन्स केलसन—प्रिन्सिपल्स आफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ८७
१३. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ६५२
१४. फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६२१
१५. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३८८-९

है। इसमे नार्वे, डेन्मार्क, हालैंड और बेल्जियम की तटस्थता ने न तो युद्ध का क्षेत्र सीमित किया और न युद्ध की प्रवृत्ति कम की, तटस्थ होने के कारण ये देश सम्मिलित रूप मे अपनी प्रतिरक्षा के लिए प्रभावशाली साधन नही बना सके, अत जर्मनी ने इन्हे बडी सुगमता से अपने अग्राक्रमण (Aggression) का शिकार बनाया। इससे युद्ध का क्षेत्र सीमित नही हुआ, किन्तु इन देशो मे फैल जाने के कारण विशाल हो गया। इससे जर्मनी की शक्ति मे असाधारण वृद्धि हुई, इटली ने जर्मनी की ओर से युद्ध मे प्रवेश किया, जापान को प्रशान्त महासागर मे युद्ध छेडने की प्रबल प्रेरणा मिली। योरोपियन युद्ध के क्षेत्र को मर्यादित करने के स्थान पर, इसने उसे विश्वयुद्ध के रूप मे परिणत कर दिया।

तीसरे कारण को भी सही नही माना जा सकता। पहले यह बताया जा चुका है कि अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए ही पहले विश्वयुद्ध मे स० रा० अमरीका, फ्रास तथा ग्रेट ब्रिटेन की ओर से लडाई मे कूदा था। दूसरे विश्वयुद्ध मे रूस तथा स० रा० अमरीका ने तटस्थ रहने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु जर्मनी और जापान के आक्रमणो के कारण इन्हे युद्ध मे सम्मिलित होना पडा। इसके औचित्य का चौथा कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बधो को नियमित बनाना है। किन्तु यह भी यथार्थ नही प्रतीत होता। राष्ट्रसघ का १९२० से ४० तक का अनुभव यह प्रदर्शित करता है कि तटस्थता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे कानून का शासन (Rule of law) बनाए रखने मे साधक नही, किन्तु बाधक रही है। तटस्थता के परम्परागत दृष्टिकोण और विचारो के कारण सघ के सदस्यो ने उसे अग्राक्रमण की कार्यवाही रोकने के लिए प्रभावशाली पग नही उठाने दिए।

वर्तमान समय मे तटस्थता का महत्व घटने का एक मुख्य कारण युद्ध छेडने के सम्बन्ध मे कुछ विचारो मे मौलिक अन्तर आना है। पहले प्रत्येक राज्य को इच्छानुसार युद्ध छेडने का पूर्ण अधिकार था, उस समय सब देशो को तटस्थ रहने का भी अधिकार था। किन्तु युद्धो के वर्तमान भीषण रूप ने तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास ने इस धारणा मे आमूलचूल परिवर्तन किया है। १९२८ के केलाग ब्रीआं पैक्ट के बाद लगभग सभी देशो ने राष्ट्रीय नीति के रूप मे युद्ध के साधन के परित्याग की घोषणा की है, शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा अपने विवादो के हल करने का सकल्प प्रकट किया है। रा० रा० सघ के चार्टर मे भी यही बात दोहरायी गई है। इन समस्याओ के समाधान के लिए तथा शान्ति बनाए रखने के लिए सुरक्षा परिषद् स्थापित की गई है, इसके निर्णयो को क्रियान्वित करने मे सहयोग देना सब सदस्य राज्यो का कर्तव्य है। इस परिस्थिति मे तटस्थता का विचार निरर्थक हो गया है।

इसके अतिरिक्त वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ ने तटस्थता का क्षेत्र बहुत सकुचित कर दिया है। इस समय विश्व दो विरोधी गुटो मे विभक्त है। एक गुट का नेता रूस तथा दूसरे का सयुक्त राज्य अमरीका है। जहां एक ओर रूस ने पूर्वी योरोप के आठ देशो को वारसा सधि (Warsaw Pact) सगठन मे बांध रखा है, वहां दूसरी ओर स० रा० अमरीका ने पन्द्रह देशो को नाटो (Nato) के सगठन मे आबद्ध किया है, मध्यपूर्व मे अमरीका का ऐसा सगठन सैण्टो (Central Treaty Organisation) तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया मे सीटो (South East Treaty Organisation) है। इन

सगठनो मे किसी एक पर आक्रमण होने की दशा मे अन्य राज्यो ने उसे सहायता देने का वचन दिया है। तटस्थता पर पहले सबसे अधिक बल देने वाला रा० रा० अमरीका अब इनका प्रभावशाली सदस्य है। भारत जैसे बहुत थोडे देश ही इन सगठनो मे सम्मिलित नही हुए। विश्वव्यापी प्रादेशिक सगठनो ने तटस्थ राज्यो का महत्व लगभग समाप्त कर दिया है।

तटस्थता के प्रकार (Kinds of Neutrsality)—इसके प्रमुख भेदो और प्रकारो मे **पहला स्थायी या सनातन तटस्थता** (Perpetual or Permanent Neutrality) है। यह उन राज्यो की होती है, जो विशेष सन्धियो द्वारा सदा के लिये तटस्थीकृत (Neutralised) राज्य बना दिये जाते हैं, जैसे स्विट्ज़रलैण्ड (देखिये ऊपर पृ० ५२३)। इनके कर्त्तव्य और अधिकार तटस्थ राज्यो जैसे होते है तथा इन्हे अपने प्रदेश को सैनिक प्रयोजनो के लिये प्रयुक्त न होने देने के लिये, दोनो युध्यमान पक्षो को समान रूप से रोकना पडता है। १८७०-७१ के फ्रैंको जर्मन युद्ध मे स्विट्ज़रलैण्ड ने दोनो पक्षो की सेनाओ, रणसामग्री तथा रगरूटो को अपने प्रदेश मे से नही गुजरने दिया। रणक्षेत्र से भागकर स्विट्ज़रलैण्ड मे शरण लेने वाले फ्रेंच सैनिको को नि शस्त्र करके युद्ध की समाप्ति और शान्ति सधि तक निरोध (Detention) मे रखा। **स्थायी तटस्थता का सामान्य तटस्थता** से यह भेद है कि पहली शाश्वतकाल के लिये समझी जाती है और दूसरी तटस्थता का अवलम्बन देश अपनी सुविधा और लाभ देखकर करते हैं, वे इसे जब चाहे तब तोड सकते हैं किन्तु पहली तटस्थता कभी भग नही की जाती, इसका सदैव पालन होता है।

दूसरा भेद सामान्य और आशिक (General and Partial) तटस्थता का है। जब किसी देश के कुछ हिस्से का विशेष सन्धि द्वारा तटस्थीकरण (Neutralisation) किया जाता है तो उसे आशिक तटस्थता कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जब आयोनियन टापू यूनान को दिये गये तो पहले १८६३ मे इन सब टापुओ को तटस्थ घोषित किया गया, बाद मे २४ मार्च १८६४ की **लन्दन की सधि** के अनुच्छेद २ के अनुसार कोरफू तथा पैक्सो (Paxo) नामक टापुओ का ही तटस्थीकरण किया गया। इनमे कोई सेना नही रखी जा सकती थी। १८८८ मे स्वेज नहर के क्षेत्र को तथा १६ नवम्बर १९०१ की सन्धि द्वारा पानामा नहर के क्षेत्र को यही स्थिति प्रदान की गयी। मैगलेन के जलडमरूमध्य (Straits of Magellan) को अर्जेण्टायना तथा चिली ने २३ जुलाई १८८१ की सन्धि द्वारा तटस्थीकरण का दर्जा दिया गया है। सामान्य तटस्थता ऐसे राज्यो की तटस्थता है, जिनके किसी विशेष अश या प्रदेश का तटस्थीकरण किसी सन्धि द्वारा न किया गया हो।

तीसरा भेद ऐच्छिक (Voluntary) तथा अभिसमयात्मक (Conventional) तटस्थता का है। ऐच्छिक, सरल या स्वाभाविक तटस्थता मे कोई राज्य किसी युद्ध मे तटस्थ रहने के लिये किसी सामान्य या विशेष सन्धि से बँधा हुआ नही होता है। अधिकाश अवस्थाओ मे तटस्थता इसी प्रकार की होती है। किन्तु जब कोई राज्य युद्ध मे तटस्थता का पालन करने के लिये किसी विशेष सन्धि या अभिसमय द्वारा बँधा होना

है तो इसे अभिसमयात्मक (Conventional) तटस्थता कहते हैं। पहले (पृ० १४६) इस विषय मे स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम तथा आस्ट्रिया के उदाहरण दिये जा चुके हैं। सन्धियो द्वारा तटस्थता के कुछ अन्य उदाहरण ये हैं - १८१५ की वियना कांग्रेस द्वारा पोलैण्ड मे क्रैको (Cracow) का नगर स्वतन्त्र और तटस्थ बनाया गया था, १८४६ मे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास और स्विट्जरलैण्ड का विरोध करने पर भी आस्ट्रिया ने इसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया। १८८५ की बर्लिन कांग्रेस ने अफ्रीका मे कागो के स्वतन्त्र राज्य को तटस्थ बनाया। १८५६ मे रूस ने फिनलैण्ड की खाडी मे आलैण्ड (Aaland) टापुओ मे किलेबन्दी न करने तथा वहाँ स्थलीय अथवा समुद्री सेनायें न रखने का वचन दिया। १६२१ मे जेनेवा मे इन टापुओ के तटस्थीकरण के एक अभिसमय (Convention) पर महाशक्तियो ने हस्ताक्षर किये।

चौथा भेद सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) का है। जब कोई तटस्थ देश अपनी तटस्थता को सुरक्षित रखने के लिए इस उद्देश्य से सैनिक कार्यवाही करता है कि दोनों युध्यमान पक्षो मे से कोई उसके तटस्थ प्रदेश का उपयोग न कर सके तो यह सशस्त्र तटस्थता होती है।[१६] फ्रैको जर्मन युद्ध (१८७०) मे स्विट्जरलैंड की तटस्थता इसी प्रकार की थी। १६३६ के द्वितीय विश्वयुद्ध मे बेल्जियम की यही स्थिति थी, उसने अपनी सेना को स्थायी सज्जावस्था (Mobilisation) की स्थिति मे रखा। हालैंड और स्विट्जरलैंड की लगभग ऐसी स्थिति थी। 'सशस्त्र तटस्थता' के शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ मे भी होता है। जब तटस्थ राज्यो को यह आशका या सम्भावना होती है कि युद्धकारी पक्षो मे से कोई पक्ष उनके तटस्थता के अधिकारों का अतिक्रमण या उल्लघन करेगा तो उन राज्यों द्वारा तटस्थता की रक्षा के लिये की जाने वाली सैनिक कार्यवाही भी सशस्त्र तटस्थता कहलाती है। इस विषय के सुप्रसिद्ध उदाहरण १७८० ई० तथा १८०० ई० की सशस्त्र तटस्थतायें (देखिये ऊपर पृ० ५२१-२) हैं।

पांचवां भेद परोपकारी तटस्थता (Benevolent Neutrality) है। आजकल तटस्थता मे निष्पक्षता के तत्त्व पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण यह भेद बिल्कुल समाप्त हो गया है। पुराने जमाने मे जब तटस्थता के दायित्वो और कर्त्तव्यो का पालन इतनी कठोरता से नहीं हुआ करता था तो तटस्थ राज्य अपनी यह स्थिति रखते हुए भी किसी पक्ष के साथ विशेष पक्षपात का व्यवहार करते थे, उसे अनेक प्रकार से लाभ पहुँचाते थे। इसे एक पक्ष को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से परोपकारी तटस्थता कहते थे।

छठा भेद पूर्ण अथवा निरपेक्ष (Perfect or Absolute) तथा अपूर्ण, सापेक्ष या विशिष्ट (Imperfect or Qualified) तटस्थता का है। पुराने जमाने मे इस भेद का बहुत महत्त्व था। उस समय किसी राज्य की अपूर्ण या विशिष्ट तटस्थता की स्थिति तब समझी जाती थी, जब यह सामान्य रूप से तटस्थ रहते हुए युद्धकारी पक्षो मे से किसी एक पक्ष को युद्ध छिडने से पहले की हुई सन्धि की शर्तों के अनुसार सक्रिय अथवा निष्क्रिय रूप से, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से सहायता पहुँचा रहा हो। किन्तु

१६. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६६२

यदि कोई तटस्थ देश किसी भी युध्यमान पक्ष को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से, निष्क्रिय या सक्रिय रूप में सहायता न पहुँचा रहा हो तो इसे पूर्ण (Perfect) तटस्थता कहा जाता था। १८वीं शताब्दी में इस व्यवस्था का बहुत प्रचलन था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस विषय में इस बात में संदेह प्रकट किया जाने लगा कि तटस्थता के पूर्ण तथा अपूर्ण नामक दो भेद करना न्यायोचित है या नहीं। अधिकांश आधुनिक विधिशास्त्री आजकल यह सम्भव ही नहीं मानते कि कोई राज्य तटस्थ रहते हुए किसी युध्यमान पक्ष को किसी प्रकार सहायता पहुँचा सकता है।

इस समय पूर्ण तथा अपूर्ण तटस्थता के भेद को बिल्कुल स्वीकार नहीं किया जाता, किन्तु पहले इसे बहुत महत्त्व दिया जाता था और इसके कुछ प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण ये हैं—(१) १७७८ में स० रा० अमरीका तथा फ्रांस ने सौहार्द और व्यापार की सन्धि (Treaty of Amity and Commerce) की, इसके अनुसार स० रा० अमरीका ने फ्रांस के निजी युद्धपोतों (Privateers) को तथा इनके द्वारा पकड़े हुए जहाजों को युद्ध के समय अमरीकन बन्दरगाहों में प्रवेश का अधिकार दिया और यह वचन दिया कि वह फ्रांस के शत्रुओं के निजी युद्धपोतों को अपने बन्दरगाहों में प्रवेश नहीं करने देगा। १७९३ में फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने जब स० रा० अमरीका से फ्रांस के निजी युद्धपोतों के अमरीकन बन्दरगाहों में प्रवेश पर आपत्ति की तो स० रा० अमरीका ने उत्तर दिया कि वह १७७८ की सन्धि द्वारा ऐसा काम करने के लिये वचनबद्ध है। (२) डेन्मार्क ने १७८१ की तथा अन्य सन्धियों द्वारा रूस को रणपोत तथा सेनाएँ देने का वचन दिया था। १७८८ के रूस स्वीडन युद्ध में डेन्मार्क ने अपना वचन पूरा करते हुए रूस को ऐसी सहायता दी किन्तु फिर भी वह इस युद्ध में तटस्थ माना गया। (३) १८४८ में जर्मनी और डेन्मार्क में युद्ध छिड़ने पर ग्रेट ब्रिटेन ने एक पुरानी सन्धि के आधार पर जर्मनी को शस्त्र निर्यात करना बन्द कर दिया किन्तु डेन्मार्क को शस्त्र भेजना जारी रखा। (४) १९०० के दक्षिण अफ्रीका के युद्ध में पुर्तगाल ने एक पुरानी सन्धि के अनुसार दक्षिण अफ्रीका को अपने प्रदेश में से ब्रिटिश फौजों को गुजरने के लिए रास्ता प्रदान किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी पुरानी मैत्री सन्धियों के अनुसार उसने ग्रेट ब्रिटेन को अपने अजोस के टापू में नौसैनिक और वैमानिक अड्डे बनाने की अनुमति दी। (५) प्रथम विश्वयुद्ध में १९१५ में ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाएँ सैलोनिका के यूनानी बन्दरगाह में उतरीं। यूनान उस समय तटस्थ था, इन फौजों का उद्देश्य यूनान के मित्र सर्बिया को सहायता पहुँचाना था। यूनान ने यद्यपि इस कार्य का प्रतिवाद किया, किन्तु फौजों के उतरने का विरोध नहीं किया।

सातवाँ भेद तातटस्थ्यतुल्यता (Quasi neutrality) का है। इसका विकास कोरिया युद्ध (१९४९-५३) आदि आधुनिक परिस्थितियों के कारण हुआ है। तटस्थता से गहरा सादृश्य रखने के कारण इसे तातटस्थ्यतुल्यता कहा जाता है। इसके लिए अब तक तटस्थता व शब्द का प्रयोग होता था। किन्तु स्टार्क ने लिखा है[17] कि आजकल

---

१७. स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल ला, पृ० ३८२ तथा ३८६

राज्यो के विरोधी सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—(क) युद्ध, (ख) युद्धेतर सशस्त्र संघर्ष (Non-war armed conflicts) तथा शान्तिभंग की घटनायें, जैसे कोरिया युद्ध (देखिये ऊपर अध्याय २१)। इनके आधार पर इन संघर्षों से पृथक् रहने वाले राज्यो की तटस्थता की स्थिति भी दो प्रकार की होती है—(क) युद्ध में तटस्थ रहने की स्थिति, (ख) युद्धेतर सशस्त्र संघर्ष से पृथक रहने की तथा इसमें भाग न लेने की स्थिति। इसे स्टार्क ने तटस्थ्यतुल्यता की स्थिति कहा है। इसके नियम अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निश्चित नही हुए है।

तटस्थ तथा युध्यमान देशो के अधिकार और कर्तव्य (Rights and Duties in General of Neutrals and Belligerents)—तटस्थता के कारण तटस्थ और युध्यमान देशों को दो अधिकार तथा दो कर्त्तव्य प्राप्त होते हैं। तटस्थ देशो का युध्यमान देशो के प्रति पहला कर्त्तव्य यह है कि वह उनके प्रति निष्पक्षता की मनोवृत्ति बनाये रखे। दूसरे कर्त्तव्य द्वारा वह युध्यमान देश का यह अधिकार स्वीकार करता है कि वह परिवेष्टन (Blockade) का भंग करने वाले, विनिषिद्ध (Contrband) सामग्री ले जाने वाले तथा अतटस्थ सेवा (Unneutral service) करने वाले उसके जहाजों को दण्डित करे, उनका निरीक्षण और तलाशी ले तथा उनका निग्रह (Capture) करे। युध्यमान देशो का तटस्थ देशो के प्रति पहला कर्त्तव्य यह है कि वे उनके साथ निष्पक्षता का व्यवहार करें और दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वे शत्रु के साथ तटस्थता के नियम के अनुकूल, उनके व्यापारिक सम्पर्क को कोई क्षति न पहुँचायें।

युध्यमान तथा तटस्थ देशो के अधिकार उपर्युक्त कर्त्तव्यो से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक युध्यमान देश को तटस्थ देश के राज्य से निष्पक्षता के व्यवहार की मांग करने का अधिकार है और प्रत्येक तटस्थ राज्य को भी युध्यमान देश से निष्पक्ष आचरण बनाए रखने की मांग का अधिकार है। तटस्थ देशो को यह मांग करने का भी अधिकार है कि शत्रु के साथ उनके सम्पर्क—विशेषत व्यापारिक सम्बन्ध का विच्छेद या दमन नही किया जायगा। किन्तु इसके साथ ही इसमें सम्बन्ध रखने वाला यह अधिकार भी युध्यमान देशो को है कि वे तटस्थ देशो के उन व्यक्तियों तथा जलपोतो को दण्डित करे, जो उनके परिवेष्टन को तोडते हैं, विनिषिद्ध युद्ध सामग्री शत्रु को पहुँचाते हैं उन्हे इस कार्य से रोकने के लिये उन्हें तटस्थ जहाजो के निरीक्षण और तलाशी तथा निग्रह (Visit, Search and Capture) का अधिकार है। इस तरह यह स्पष्ट है कि तटस्थ देशो के कर्तव्य युध्यमान राज्यों के अधिकार तथा उनके अधिकार युध्यमान देशो के कर्तव्य है। अब यहाँ पहले तटस्थ देशो के प्रधान कर्तव्यों तथा बाद में उनके प्रमुख अधिकारों का वर्णन होगा।

तटस्थ देशों के कर्त्तव्य (Duties of Neutral States)—स्टार्क ने इन्हे तीन मुख्य भागों में बांटा है—परिवर्जन (Abstention) के, निवारण (Prevention) के तथा मौनसहमति (Acquiescence) के कर्त्तव्य। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

(१) परिवर्जन के कर्त्तव्य (Duties of Abstention)—तटस्थ देश का कर्तव्य

है कि वह कुछ कार्य करने से अपने को बचाए रखने (परिवर्जन) का पूरा प्रयत्न करे। उसे किसी भी युध्यमान पक्ष को किसी प्रकार की कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष (Indirect) सहायता नही देनी चाहिये। उदाहरणार्थ, इसे किसी पक्ष को कोई सेनायें नही भेजनी चाहिएँ, कोई ऋण या इनकी गारण्टी नही देनी चाहिए, किसी पक्ष की सशस्त्र सेनाओ को आश्रय नही प्रदान करना चाहिए। तटस्थ राज्य को किसी युद्धकारी पक्ष की सैनिक सहायता किसी भी रूप मे नही करनी चाहिए। इसका यह भी कर्तव्य है कि यह अपने देश के व्यक्तियो द्वारा किसी पक्ष को रणसामग्री का निर्यात न करने दे। किन्तु कई बार राज्यो के लिए अपने नागरिको को वैयक्तिक रूप मे युद्ध मे भाग लेने से रोकना सम्भव नही होता। १९४९-५० के कोरिया युद्ध मे साम्यवादी चीन की नियमित सेनाओ के असम्बद्ध सैनिको (Irregulars) ने बडी सख्या मे सीमा पार करके उत्तरी कोरिया वालो को सहायता दी थी, सुरक्षा परिषद् मे यह विषय उपस्थित होने पर साम्यवादी चीन ने इनकी कोई जिम्मेवारी लेना या इन्हे रोकना स्वीकार नही किया। १९०७ के **पाँचवें हेग अभिसमय** के अनुच्छेद ६ मे कहा गया है कि यदि कुछ व्यक्ति किसी युध्यमान पक्ष मे भाग लेने के लिये तटस्थ राज्य के प्रदेश मे से गुजरते है तो इनके गुजरने मात्र से उस राज्य पर तटस्थता का नियम भग करने की जिम्मेवारी नही डाली जा सकती। इसके साथ ही युध्यमान पक्ष का भी यह कर्तव्य है कि वह तटस्थ प्रदेश मे शत्रुता के कोई कार्य न करे।

(२) निवारण के कर्तव्य (Duties of Prevention) — तटस्थ राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रदेश में तथा क्षेत्राधिकार मे निम्न कार्यों का निवारण करे, इन्हे होने से रोके—किसी भी युध्यमान पक्ष की सेना के लिये भर्ती, लडाई की तय्यारी तथा इसके प्रदेश मे और प्रादेशिक समुद्र मे लड़ाई के कार्य तथा किसी युध्यमान पक्ष के अधिग्रहण न्यायालयों (Prize Courts) की स्थापना। इसे अपने प्रदेश में से किसी युद्धकारी पक्ष की सेनाओं को गुजरने से रोकना चाहिए। किन्तु दोनो पक्षो के घायल और बीमार सैनिक तटस्थ देश म से होकर जा सकते है। १८वी शताब्दी मे तटस्थ देशो से सेनाओ को गुजरने का अधिकार दिया जाता था, क्योकि उस समय अनेक जर्मन राज्यो के प्रदेश बहुत बिखरे हुए थे, एक राज्य के एक भाग से दूसरे भाग तक जाने के लिये बीच मे अन्य राज्यो के प्रदेश में से गुजरना पडता था। १९वी शताब्दी के शुरू मे ऐसा होता रहा, १८०५ मे प्रशिया ने इस प्रकार सेनायें गुजारने के लिये रूस से गुप्त सधि की। नैपोलियन ने बर्नडाट को फ्रेंच सेनाएँ प्रशिया मे बिना पूछे उसके राज्य में ले जाने का आदेश दिया। १८१३ म स्विस सरकार के प्रतिवाद के बावजूद आस्ट्रियन सेनाये उसके प्रदेश में से होकर गुजरीं। १८१५ म स्विट्ज़रलैंड ने मित्रराष्ट्रो की सेनाओ को नैपोलियन को हराने के लिये अपने प्रदेश म से होकर जाने दिया। किन्तु इसके बाद से तटस्थ देशा म से युद्धकारी राष्ट्रो की सेनायें न गुजरने का नियम सार्वभौम रूप से स्वीकार किया जाने लगा।

अक्टूबर १९१५ मे यूनान के तटस्थ होते हुए भी इसके प्रधानमन्त्री वेनिजेलोस (Venizelos) के निमन्त्रण पर मित्रराष्ट्रो की सेनाये सर्विया को सहायता पहुँचाने के

उद्देश्य से इसके बन्दरगाह सेलोनिका (Salonika) में उतरी, यूनानी सरकार ने इसका औपचारिक (Pro forma) निरोध तो किया, किन्तु इसमे कोई बाधा नही डाली। इस पर जर्मनी ने सेलोनिका पर आक्रमण कर दिया। जुलाई १९४५ मे योरोप मे जर्मनी के साथ लड़ाई बन्द हो जाने पर स्विट्जरलैंड ने स्वदेश लौटने वाली कुछ निशस्त्र सेनाओ को अपने देश मे से होकर गुजरने दिया, किन्तु अभी तक जापान के साथ युद्ध बन्द नही हुआ था, अत स्विट्जरलैण्ड ने ग्रेट ब्रिटेन से आग्रह करके यह वचन लिया कि इसके प्रदेश मे से गुजरने वाली ब्रिटिश सेनाओ का प्रयोग सुदूरपूर्व के रणक्षेत्र मे नही किया जायगा।

पांचवें हेग अभिसमय (Hague Convention V) के दूसरे अनुच्छेद के अनुसार युद्ध करने वाले देश किसी तटस्थ प्रदेश मे से कोई युद्धसामग्री नही ले सकते। किन्तु इसके सातवें अनुच्छेद मे कहा गया है कि निजी व्यक्तियो द्वारा किसी युध्यमान पक्ष को भेजी जाने वाली, स्थलसेना तथा जलसेना के किसी उपयोग मे आ सकने वाली वस्तुओ तथा रणसामग्री के निर्यात या अपने देश मे से होकर गुजरने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए तटस्थ देश बाधित नही हैं। प्रथम विश्वयुद्ध मे इस अनुच्छेद के सम्बन्ध मे ग्रेट ब्रिटेन और हालैंड में बड़ा विवाद हुआ। उन दिनो बेल्जियम जर्मनी के अधिकार मे था, यहाँ से जर्मनी ने कुछ धातुये हालैंड के रास्ते स्वदेश भेजी। ब्रिटिश सरकार ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि यह कार्य उसके शत्रु को सहायता पहुँचाना तथा तटस्थता के नियम का भग करना है। हालैंड का यह कहना था कि वह केवल सैनिक कार्यो से सबद्ध वस्तुओ का भेजा जाना ही रोक सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे ८ जुलाई १९४० को जर्मनी ने स्वीडन के साथ यह समझौता किया कि स्वीडन उसे अपने प्रदेश मे से जर्मन युद्धसामग्री, जर्मनी से नार्वे ले जाने की अनुमति प्रदान करे। ग्रेट ब्रिटेन ने इसे स्वीडन की तटस्थता का उल्लघन मानते हुए इसका प्रतिवाद किया। इसी प्रकार उसने इस युद्ध मे जर्मनी और इटली के स्विट्जरलैण्ड होकर गुजरने वाले माल के मर्यादित किये जाने पर बल दिया, १९४४ में जर्मन सेनाओ द्वारा उत्तरी इटली पर अधिकार कर लेने के बाद स्विस सरकार ने जर्मनी से इटली जाने वाले माल पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए।

तटस्थ देश को यह उचित है कि वह अपने प्रदेश मे किसी ऐसे जहाज को शस्त्रास्त्र मे सुसज्जित एव तैयार न होने दे, जिसके बारे मे यह सन्देह हो कि वह युद्ध करने वाले किसी पक्ष को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से तैयार किया जा रहा है। अलबामा दावा (Albama Claims) का मामला इसका सुन्दर उदाहरण है। प्रथम परिशिष्ट मे इसका विस्तृत विवरण दिया गया है।

किसी तटस्थ देश के प्रादेशिक समुद्र को नौसैनिक युद्ध का अड्डा नही बनाया जा सकता। १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध म एक नौयुद्ध म परास्त होने पर रूसी रणपोतो ने शघाई के बन्दरगाह मे शरण ली। चीन इस युद्ध मे तटस्थ था, अत जापान की सरकार ने यह माँग की कि इसका गोलाबारूद चीनी सरकार को दे दिया जाय, इसे निरस्त्र करके चीनी सरकार को सौंप दिया जाय। एप्पम (Appam) के मामले मे

(देखिए प्रथम परिशिष्ट) सं० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने यह फैसला दिया था कि शत्रु के किसी जहाज को पकड़कर उसे तटस्थ देश के बन्दरगाह में रखना तटस्थता के नियमों का उल्लंघन करना है।

तटस्थ देशों को अपने बन्दरगाहों में तथा प्रादेशिक समुद्र में युद्धकारी देशों के रणपोतों को नियत अवधि से अधिक नहीं रुकने देना चाहिए। विशेष अनुमति के अभाव में रणपोत तटस्थ बन्दरगाह में २४ घण्टे से अधिक नहीं रुक सकता। तूफान और आवश्यक मरम्मत आदि की विशेष अवस्थाओं में यह अवधि बढ़ाई भी जा सकती है। तूफान समाप्त होते ही या मरम्मत पूरी होने पर इस जहाज को प्रादेशिक समुद्र से बाहर चले जाना चाहिए। मरम्मत का आशय रणपोत के लड़ने की शक्ति में वृद्धि करना नहीं, किन्तु इसे समुद्री यात्रा के योग्य बनाना है। यदि इसकी सैनिक दृष्टि से मरम्मत की जाती है तो इसे तटस्थ बन्दरगाह से बाहर नहीं जाने देना चाहिए। लेना (Lena) जहाज के मामले में यह निर्णय किया गया था कि तटस्थ बन्दरगाह में जहाज की असैनिक (Civil) मरम्मत ही हो सकती है। ट्रेक (Trek) के मामले में किए गये निर्णय के अनुसार युध्यमान पक्ष के जलपोत तटस्थ बन्दरगाह में २४ घण्टे से अधिक नहीं रह सकते और उन्हें यहाँ से अपने देश के निकटतम बन्दरगाह तक पहुँचने के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री से अधिक सामान लेने का अधिकार नहीं है।

(३) मूकसहमति के कर्त्तव्य (Duties of Acquiescence)—तटस्थ देश को वैध युद्ध के कार्यों में होने वाली क्षति को, युद्धकारी देशों द्वारा इसके जहाजों के निरीक्षण और तलाशी के अधिकार को तथा निषिद्ध रणसामग्री ले जाने वाले अपने जहाजों की जब्ती को मूकभाव से सहन करना पड़ता है। युद्ध के समय उसका नौचालन और व्यापार का अधिकार बहुत सीमित और नियन्त्रित हो जाता है, उस पर अनेक प्रतिबन्ध लग जाते हैं। ये सब उसे स्वीकार करने पड़ते हैं।

उपर्युक्त तीन कर्त्तव्यों के अतिरिक्त तटस्थ देशों के दो अन्य कर्त्तव्य भी हैं। पहला क्षतिपूर्ति (Reparations) देने का कर्त्तव्य है। यदि तटस्थ देश की दुर्भावना या गलती से किसी युद्धकारी को हानि पहुँचती है तो तटस्थ देश को इसका मुआवज़ा देना चाहिए। दूसरा कर्त्तव्य प्रत्यास्थापन (Restoration) है। इसका यह आशय है कि यदि कोई युध्यमान पक्ष तटस्थ देश के प्रादेशिक समुद्र में शत्रु द्वारा पकड़े जहाज को पकड़ लेता है तो वह दोहरा अपकार (wrong) करता है, इसमें तटस्थ देश की प्रभुसत्ता (sovereignty) का अतिक्रमण होता है तथा शत्रु से उसकी वस्तु अनुचित रूप से छिन जाती है। इस अवस्था में तटस्थ देश को उपर्युक्त अपकार करने वाले देश से यह माँग करने का अधिकार है कि वह इसका समुचित प्रतिकार करे तथा अनुचित रूप से छीनी हुई चीज को वापिस लौटाये। प्रत्यास्थापन (Restoration) का यही अभिप्राय है।

तटस्थ राज्यों के अधिकार—इनका पहला अधिकार अपने प्रदेश की अनतिक्रम्यता (Rights of Neutrals—Inviolability) है। इसमें शत्रुता और युद्ध के कोई कार्य नहीं हो सकते। युद्धकारी देश अपने प्रदेशों में अथवा महासमुद्र (High

Seas) मे लडाई कर सकते हैं, किन्तु तटस्थ राज्य के प्रदेश मे अथवा प्रादेशिक समुद्र मे शत्रुता का कोई कार्य, लडाई, जहाजो का निरीक्षण, तलाशी या पकडना नही हो सकता। केवल अत्यन्त असाधारण अवस्थाओ मे आत्मसरक्षण के उद्देश्य से ये कार्य किए जा सकते हैं, किन्तु फौरन इनके लिए सफाई देना और क्षतिपूर्ति करना आवश्यक है। निम्नलिखित उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जायगा —

फ्लोरिडा (Florida) —इस मामले मे दक्षिणी राज्यो का यह जहाज अमरीकन गृहयुद्ध के समय अमरीकी क्रूजर वाचूसेट (Wachusett) द्वारा ब्राज़ील के प्रादेशिक समुद्र मे बहिया नामक बन्दरगाह मे पकडा गया। ब्राज़ील उस युद्ध मे तटस्थ था, उसने अपने प्रदेश के इस अतिक्रमण का प्रबल प्रतिवाद किया, इस पर अमरीकी सरकार ने क्षमा मांगी अपने रणपोत के कप्तान का कोर्ट मार्शल किया, फ्लोरिडा को पकडने की सलाह देने वाले बहिया के अपने वाणिज्यदूत को पदच्युत किया, अपने एक रणपोत को इसके पकडे जाने की जगह पर ब्राज़ील के झण्डे को सलामी देने के लिए भेजा और यह स्वीकार किया कि उसका यह कार्य सर्वथा 'अनधिकृत और अवैध' था।

किन्तु कई बार युद्ध राज्य आत्मरक्षा के आधार पर तटस्थता का अतिक्रमण करते है। १८०७ मे नैपोलियन के युद्धो मे ग्रेट ब्रिटेन ने ऐसा कार्य किया था। उस समय डेन्मार्क तटस्थ देश था, ग्रेट ब्रिटेन ने इससे यह मांग की कि वह अपना नौसैनिक बेडा उसे दे दे क्योकि इस बात की सम्भावना है कि नैपोलियन इस पर जबरदस्ती अधिकार कर लेगा। डेन्मार्क ने इगलैड की यह प्रार्थना स्वीकार नही की, इस पर उसने इसके बेडे पर आक्रमण करके इसे नष्ट कर दिया। प्रथम विश्वयुद्ध मे जर्मनी ने बेल्जियम और लुक्सेमबर्ग की तटस्थता के उल्लघन के लिए आत्मरक्षा की युक्ति दी थी, उसका यह कहना था कि उसे इन देशो की दिशा से फ्रास के आक्रमण का भय था। मार्च १९१५ मे ब्रिटिश रणपोतो ने जर्मन युद्धपोत ड्रेस्डन (Dresden) पर चिली के प्रादेशिक समुद्र मे आक्रमण किया। इस अवसर पर यद्यपि ब्रिटिश विदेशमत्री ने फौरन क्षमा मागी, किन्तु अपने कार्य की सफाई देते हुए ब्रिटिश सरकार ने यह भी कहा कि ड्रेस्डन स्वयमेव चिली की तटस्थता का दुरुपयोग कर रहा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध मे तटस्थता के अतिक्रमण बहुत बडे पैमाने पर हुए। प्रादेशिक समुद्र मे इसके उल्लघन के ग्राफ स्पी (Graf Spee, देखिये ऊपर पृ० ५२६) तथा आल्टमार्क (देखिये प्रथम परिशिष्ट) सुप्रसिद्ध उदाहरण हैं। इसमे अनेक तटस्थ देशो पर आक्रमण हुए। ६ अप्रैल १९४० को जर्मन सरकार ने तटस्थ देश नार्वे पर आक्रमण किया और यह कहा कि उसके पास ऐसे लिखित प्रमाण हैं कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास का इरादा नार्वे पर हमला करने का था, इसे रोकने के लिए यह कार्यवाही की जा रही है। इसी दिन उसने एक अन्य तटस्थ राज्य डेन्मार्क पर भी आक्रमण किया। इसके एक महीने बाद अग्रेजो ने तटस्थ देश आइसलैण्ड पर यह कहते हुए अधिकार कर लिया कि इस पर जर्मनी का हमला होने वाला था। ९ मई को जर्मन सरकार ने तीन तटस्थ राज्यो—बेल्जियम, लुक्सेमबर्ग और हालैण्ड पर बिना चेतावनी के एकसाथ आक्रमण किया और अपने कार्य के समर्थन मे यह कहा कि उसके पास इस बात के प्रमाण हैं कि

मित्रराष्ट्र इन पर हमला करने वाले थे। २८ अक्टूबर १९४० को इटली ने यह घोषणा की कि यूनान की तटस्थता केवल कोरी कल्पना है, उसकी यह माँग थी कि युद्ध की अवधि के लिए उसे यूनान की भूमि पर कब्जा करने का अधिकार दे दिया जाय। इस माँग के अस्वीकृत होने पर उसने यूनान के विरुद्ध युद्ध छेड दिया। ६ अप्रैल १९४१ को धुरी राष्ट्रों ने यूगोस्लाविया पर आक्रमण किया, यूगोस्लाव सरकार के मतानुसार इसका कारण यह था कि उसने तटस्थता की नीति का परित्याग करने से इन्कार किया था। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि यद्यपि तटस्थ राज्यों का प्रदेश अनतिक्रम्य माना जाता है, फिर भी उनका अतिक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करते हुए बहुधा होता रहता है।

(2) तटस्थ देशों का दूसरा अधिकार यह है कि उन्हे अपने प्रदेश के ऊपर के आकाश मे पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त है, किसी युद्धकारी देश के विमान को इन्हे अपने आकाश मे नही उड़ने देना चाहिए। वे ऐसी उडान करने वाले विमान को गोली मारकर नीचे गिरा सकते है। इनका तीसरा अधिकार यह है कि ये युद्धकारी देशों मे रहने वाले अपने नागरिकों की रक्षा कर सकते हैं, ये इस बात की माग कर सकते है कि इनके नागरिकों को युद्धकारी देश अपनी सेना मे भर्ती न करें। चौथा अधिकार यह है कि अपनी तटस्थता का अतिक्रमण करने वाले युद्धकारी देश से तटस्थ देश क्षतिपूर्ति की माँग कर सकते है। पाँचवां अधिकार यह है कि उन्हे अपने प्रदेश को लडाई की तैयारी के कार्यों से सर्वथा मुक्त रखना चाहिए। हेग के पाँचवें अभिसमय मे स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि तटस्थ प्रदेश मे युद्ध की कोई तैयारी नही होनी चाहिए। Twee Gebroeders के मामले मे लार्ड स्टोवेल ने लिखा था—"शत्रुता का कोई कार्य तटस्थ प्रदेश मे आरम्भ नही हो सकता। • आप तटस्थ प्रदेश से किसी स्थान का ऐसा उपयोग नही कर सकते कि यह आपको लाभ प्रदान करने वाली भूमि हो। तटस्थ देश को दोनो युध्यमान पक्षों के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार करते हुए किसी पक्ष को लाभ नही पहुँचाना चाहिए।"

तटस्थ देश का छठा अधिकार यह है कि वह अपने प्रदेश मे अथवा प्रादेशिक समुद्र मे होने वाले लड़ाई के कार्यों को रोकने का अधिकार रखता है। ग्रोशियस के शब्दों मे "तुम अपने शत्रु को उसके देश मे, अपने देश मे ऐसी भूमि मे जो किसी मनुष्य की न हो, अथवा महासमुद्र मे मार सकते हो, किन्तु तटस्थ देश मे नही मार सकते।" इनका सातवाँ अधिकार जहाँ तक हो सके समुद्री तारों को क्षति न पहुँचाने देना है। आठवाँ अधिकार अपने प्रदेश मे से होकर फौजों को न जाने देना है। नवाँ अधिकार इसे युध्यमान पक्षों की सशस्त्र सेनाओं को आश्रय (Asylum) देने का अधिकार है। स्थल युद्ध मे पीछा की जाती हुई समूची सेना को इस प्रकार शरण दी जा सकती है। किन्तु इस अवस्था मे तटस्थ राज्य ऐसी सेना को निश्शस्त्र करके उसी देश के व्यय पर युद्ध की समाप्ति तक उसे अपने देश मे रोककर रखता है। १८७१ मे बूरबाकी (Bourbaki) की सेनानायकता मे एक फ्रेंच सेना को स्विट्जरलैण्ड ने इस प्रकार आश्रय दिया था। इसका दसवाँ अधिकार अपने प्रदेश मे अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction)

का है। इसके अनुसार कोई युध्यमान देश तटस्थ प्रदेश मे अधिग्रहण न्यायालय स्थापित नही कर सकता। तटस्थ देश का ग्यारहवाँ अधिकार दोनो युध्यमान पक्षो के साथ दौत्य सम्बन्ध बनाये रखने का है। लार्ड स्टोवैल के शब्दो मे "राज्यो का व्यवहार (Practice) तटस्थ राज्यो को युद्धकारी राज्यो से राजदूत ग्रहण करने का अधिकार प्रदान करता है। किन्तु एक युद्धकारी देश मे भेजे जाने वाले दूत को मार्ग मे दूसरा युद्धकारी पक्ष अपने प्रदेश मे रोक सकता है। तटस्थ देश मे युद्धकारी देश के राजदूत को अपनी सरकार के साथ निर्बाध रूप म पत्र-व्यवहार करने का अधिकार है, इसमे दूसरा युद्धकारी पक्ष कोई विघ्न नहीं डाल सकता।"

युद्धकारी राष्ट्रो के अधिकार (Rights of Belligerent Countries)—तटस्थता मे जहाँ एक ओर तटस्थ राज्यो को कुछ अधिकार है, वहाँ दूसरी ओर युद्ध करने वाले राज्यो को भी कुछ अधिकार है। इनम से अनेक अधिकारो का तो ऊपर वर्णन हो चुका है, यह बताया जा चुका है कि इनके रणपोत तटस्थ बन्दरगाहो मे २४ घण्टे तक रुक सकते हैं, समुद्री तूफान म शरण ले सकते है, अपने जहाजो की असैनिक मरम्मत करा सकते है। किन्तु इनके कुछ विशेष अधिकार भी हैं। यहाँ इनमे से अगरी (Angary) तथा अतटस्थ सेवा रोकने के अधिकारो का सक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

अगरी (Angary)—युद्ध के समय असाधारण सार्वजनिक सकट होने पर, युद्धकारी राष्ट्रो द्वारा मुआवजा देकर तटस्थ राज्यो के जहाजो तथा अन्य सम्पत्ति को उपयोग में लाना या नष्ट करना अगरी का कानून (Jus angariae) कहलाता है। ओपेनहाइम के मतानुसार यह शब्द यूनानी के सदेशहर का अर्थ देने वाले angaros शब्द से निकला है'', लैटिन मे इसका अर्थ जबर्दस्ती काम लेना है। मध्ययुगीन मे योरोप मे युद्धकारी देश जहाजो की कमी होने पर, बन्दरगाहो मे विद्यमान तटस्थ देशो के व्यापारिक जलपोतो पर बलपूर्वक अधिकार कर लेते थे और इनके नाविक वर्ग को इस बात के लिए बाधित करते थे कि वे उनसे अगाऊ रूप मे भाडा लेकर उनकी सेनाओ, रणसामग्री और खाद्यसामग्री का परिवहन करें। इस प्रकार उस समय यह तटस्थ जहाजो द्वारा लडाई के लिए आवश्यक सामग्री की ढुलाई कराने का अधिकार था। फ्रास के प्रसिद्ध शासक लुई चौदहवे (१६३८–१७१५) ने इसका प्रचुर मात्रा मे उपयोग किया। १७वी शताब्दी म अपने जहाजो के युद्धकाल मे इस प्रकार पकडे जाने को रोकने के लिए विभिन्न राज्यो ने सन्धियाँ करनी शुरू की। इसके परिणामस्वरूप १८वी शती मे इसका प्रयोग बिल्कुल बन्द हो गया तथा ओपेनहाइम[19] के मतानुसार १९वी शताब्दी म इसके उपयोग का एक भी उदाहरण नही है।[20] २०वी शताब्दी मे

१८. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ७२९

१९. वही, ख० २, पृ० ७३०

२०. १८७० के फ्रैंको-जर्मन युद्ध में इस प्रकार की एक घटना हुई थी। जर्मन अधिकारियों ने कोयला ढोने वाले कुछ ब्रिटिश जहाजों को सीन (Seine) नदी में डवलेयर के निकट इस उद्देश्य से डुबो दिया था कि यह नदी फ्रेंच गनबोटों के नौचालन की

प्रथम विश्वयुद्ध में इसका पुनः प्रयोग होने लगा, किन्तु इसका स्वरूप मध्यकालीन अगरी से कुछ भिन्न था। पहले इसका प्रयोग सेनाओं के तथा इनकी आवश्यक सामग्री के परिवहन के लिए किया जाता है, जहाजों को लेने के साथ नाविक वर्ग में भी काम लिया जाता था। आजकल अगरी का स्वरूप बहुत विस्तृत हो गया है, इसमें जहाजों के अतिरिक्त तटस्थ देशों की सभी प्रकार की सम्पत्ति का उपयोग या विध्वंस कुछ विशेष अवस्था में किया जा सकता है।

अगरी का आधुनिक स्वरूप (Modern Law of Angary)—ओपेनहाइम (२।७६२) ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है —"अगरी के मूल (मध्यकालीन) अधिकार की तुलना में अगरी का आधुनिक अधिकार युद्धकारी देशों का ऐसा अधिकार है, जिसके अनुसार युद्धकारी देश आवश्यकता पड़ने पर, आक्रमण के अथवा प्रतिरक्षा के प्रयोजन से, अपने प्रदेश में, शत्रु के प्रदेश में अथवा महासमुद्रों में विद्यमान तटस्थ देशों की सम्पत्ति नष्ट कर सकते हैं या उपयोग में ला सकते हैं।" स० रा० अमरीका की नौयुद्ध संहिता (Naval War Code) में कहा गया है (अनु० ६) —"सैनिक आवश्यकता होने पर, युद्धकारी देश की अधिकार सत्ता की सीमाओं के भीतर विद्यमान तटस्थ देशों के जहाजों को पकड़ा जा सकता है, नष्ट किया जा सकता है, या अन्य सैनिक प्रयोजनों के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। किन्तु इन अवस्थाओं में तटस्थ जहाजों के मालिकों का पूरा मुआवजा दिया जाना चाहिए।" दूसरे हेग सम्मेलन के पाँचवें अभिसमय (अनु० ६) में युद्धकारी देशों को असाधारण आवश्यकता की दशा में मुआवजा देकर तटस्थ देश की रेल सामग्री आदि का उपयोग करने का अधिकार दिया गया है। फिलिमोर (Phillimore) का यह मत है कि इस अधिकार का प्रयोग तभी होना चाहिए, जब माल की ढुलाई का भाड़ा पहले ही अदा कर दिया जाय और यदि इस माल की ढुलाई के समय कुछ क्षति या नुकसान हो तो उसका पूरा मुआवजा देना चाहिए।

अगरी के आवश्यक तत्वों पर भी बुल्लक (Bullock) ने बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है।[२१] उसके मतानुसार अगरी के आधुनिक कानून की निम्नलिखित विशेषतायें हैं —(क) युद्धकारी राज्य को विदेशी जहाजों, वायुयानों तथा परिवहन के अन्य साधनों के अधिग्रहण (Requisition) करने का अधिकार है। (ख) यह तभी होना चाहिए, जब परिवहन के प्रयोजनों के लिए इनकी अत्यावश्यकता हो। (ग) ये वस्तुएं अधिग्रहण के समय इन पर अधिकार करने वाले राज्य के प्रदेश की सीमाओं के अन्दर होनी चाहिए। (घ) इनका अधिग्रहण राष्ट्र के आकस्मिक सकटकाल (Emergency) में

दृष्टि से निरर्थक हो जाय। ब्रिटिश सरकार ने जर्मनी की इस कार्यवाही का विरोध किया क्योंकि वह इस युद्ध में तटस्थ था, उसने क्षतिपूर्ति की भी माग की। इस पर बिस्मार्क ने कहा कि जर्मनी का ऐसा कोई कर्त्तव्य नहीं है, जिसके अनुसार वह जहाजों के मालिकों को मुआवजा दे, फिर भी उसने क्षतिपूर्ति देना स्वीकार कर लिया।

२१. बुल्लक—ब्रिटिश यीअर बुक आफ इन्टरनेशनल लॉ, १९२२-२३, पृ० ९९-१२९

होना चाहिए। (ङ) ली जाने वाली सामग्री का पूरा मुआवजा देना चाहिए। (च) छीने गए जलपोतो या वायुयानो के विदेशी नाविको या वैज्ञानिको को जहाज चलाने की सेवायें देने के लिए बाधित नही किया जा सकता। बुल्लक ने इसमे अधिग्रहण की जाने वाली सामग्री, केवल परिवहन के साधन जलपोत, विमानादि माने हैं, किन्तु आगे बताये जाने वाले मामलो और उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह तटस्थ युद्ध की दृष्टि से उपयोगी राज्य की कोई भी सम्पत्ति हो सकती है।

वर्तमान समय मे अगरी के अधिकार का प्रयोग प्रथम एव द्वितीय विश्वयुद्धो मे व्यापक रूप से किया गया। पहले विश्वयुद्ध मे १९१७ मे ब्रिटिश सरकार ने तटस्थ देश स्वीडन के Sphinx, Bellgrove, Phyllis, Cremeoa आदि जलपोतोपर तथा हालैण्ड के Vembergen, Kelbergen आदि जहाजो पर अधिकार किया तथा इनके उपयोग का मुआवजा दिया। २० मार्च १९१८ को स० रा० अमरीकी सरकार ने यह घोषणा की कि राष्ट्रो के कानून के अनुसार उसे युद्धकारी देश होने के नाते यह अधिकार है कि सैनिक आवश्यकता होने पर युद्ध सचालन के प्रयोजन पूरा करने के लिए वह अपने क्षेत्राधिकार मे विद्यमान जहाजो को ले ले तथा इनका उपयोग करे। इस घोषणा के आधार पर उसने अमरीकी बन्दरगाहो मे विद्यमान ७७ जहाजो पर अधिकार कर लिया और इनके मालिको को पूरा मुआवजा दिया। इसके बाद ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास और इटली ने भी ऐसा ही किया। प्रथम विश्वयुद्ध मे जमोरा (Zamora, देखिये प्रथम परिशिष्ट) के मामले मे युद्ध के प्रयोजन की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने इस पर लदे हुए तावे और इमारती लकडी को ले लिया था। लार्ड पार्कर ने अपने निर्णय मे अगरी के अधिकार का विवेचन करते हुए कहा कि युद्धकारी देश को तटस्थ देश के किसी भी जहाज या माल को निम्नलिखित विशेष अवस्थाओं मे लेने का अधिकार है—(१) इस प्रकार लिए जाने वाले जहाजो या माल की प्रतिरक्षा के लिए अथवा युद्ध चलाने के लिए अत्यधिक आवश्यकता हो। (२) इस विषय मे विचार के लिए वास्तविक प्रश्न होना चाहिए। (३) अधिग्रहण न्यायालय न्यायिक (Judicial) दृष्टि से यह निश्चय करे कि इस मामले की परिस्थितियो मे इस अधिकार का प्रयोग होना चाहिए या नही।

अतटस्थ सेवा (Unneutral Service)—तटस्थ राज्यो द्वारा युद्ध करने वाले पक्षो में से किसी एक को लाभ पहुँचाने वाले कार्य अतटस्थ सेवा कहलाती है। इसे अतटस्थ नाम देने का कारण यह है कि ऐसे कार्य तटस्थ देशो को नही करने चाहिएँ। इनसे तटस्थ देश अतटस्थ देशोचित कार्य करता है, अत यह अतटस्थ सेवा कहलाती है। युद्धकारी राज्यो को किसी तटस्थ देश द्वारा उसके शत्रु को इस प्रकार लाभ पहुँचाने वाले कार्यो को रोकने तथा तटस्थ देश को दण्डित करने का अधिकार है। उदाहरणार्थ, यदि किसी तटस्थ देश का कोई वैयक्तिक जहाज किसी युध्यमान पक्ष के लिए सेनाओ का परिवहन करता है, या रेडियो द्वारा उसे दूसरे पक्ष की सैनिक सूचनायें भेजता है, तो इसे देखते ही तत्काल नष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई तटस्थ जलपोत किसी युद्धकारी पक्ष को लाभ पहुँचाने के लिए समुद्र मे सुरगे बिछाता है तो उसे डुबाया जा सकता है।

अतटस्थ सेवा के स्वरूप का विशद स्पष्टीकरण १६०६ की लन्दन की घोषणा (अनु० ४५; तथा ४७) द्वारा सर्वप्रथम किया गया था। इससे पहले इसका अर्थ तटस्थ जलपोतों द्वारा शत्रु की सेनाओं का परिवहन करना था। विनिषिद्ध (Contraband) के होते हुए भी इस नई परिभाषा की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि विनिषिद्ध में केवल निषिद्ध रणसामग्री की ढुलाई का समावेश होता था,[22] सेनाओं की ढुलाई उसमें सम्मिलित नहीं थी। दूसरा कारण यह भी था कि रणसामग्री सीधे रूप में शत्रु के लिए होती हो, सो बात नहीं है, किन्तु सैनिकों की ढुलाई प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से शत्रुओं के लिए होती है। इन दोनों कारणों से इसके लिए अतटस्थ सेवा की पृथक् परिभाषा बतायी गयी, फ्रेंच में इसके लिए De l' assistance hositle अर्थात् "शत्रु की सहायता" शब्द का प्रयोग होता है और यह इसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट करता है।

लन्दन की घोषणा के अनुसार तटस्थ जलपोतों द्वारा दो प्रकार के कार्य—किसी युद्धकारी देश के लिए सेनाओं का परिवहन तथा किसी पक्ष को सैनिक सूचना (Military intelligence) देना—अतटस्थ सेवा माने गए हैं। सशस्त्र सेनाओं की ढुलाई के बारे में निम्न चार नियम बनाए गए—(क) यदि कोई तटस्थ जलपोत विशुद्ध रूप से (Exclusively) शत्रुसेनाओं की ढुलाई में लगा होगा तो इसे शत्रुरूप (Enemy character) प्राप्त होगा (देखिये ऊपर अध्याय २१), यह अतटस्थ सेवा नहीं समझी जायगी। (ख) यदि कोई तटस्थ जलपोत न तो विशुद्ध रूप से सशस्त्र सेनाओं की ढुलाई में लगा है, न ही वह इस प्रयोजन से यात्रा कर रहा है, किन्तु उस पर स्वाभाविक रूप से अपनी यात्रा करते हुए किसी पक्ष के कुछ सशस्त्र सैनिक यात्रा कर रहे हैं और जहाज के स्वामी तथा कप्तान को इसका ज्ञान है तो यह अतटस्थ सेवा समझी जायगी। (ग) यदि तटस्थ जलपोत पर इसके स्वामी, या इसे किराये पर ले जाने वाले कप्तान की जानकारी में किसी युद्धकारी पक्ष के या तटस्थ देश के प्रजाजन इस पर सवार हैं और अपनी समुद्रयात्रा में वे संकेतप्रेषण (signalling) या रेडियो-सन्देश प्रेषण द्वारा शत्रु को सहायता पहुँचाते हैं तो यह अतटस्थ सेवा होगी। (घ) यदि तटस्थ जलपोत पर शत्रु की सशस्त्र सेनाओं के कुछ व्यक्ति सवार हैं और जहाज की यात्रा विशेष रूप से इनकी ढुलाई के लिए की जा रही है तो इसे अतटस्थ सेवा माना जायगा। विशेष यात्रा का यह अभिप्राय है कि वह अपनी सामान्य यात्रा में आने वाले बन्दरगाहों के अतिरिक्त किसी अन्य बन्दरगाह में जाए या अपने स्वाभाविक मार्ग का परिवर्तन करे। यदि कोई पोत अपनी सामान्य यात्रा करते हुए किसी पक्ष के किन्हीं सशस्त्र व्यक्तियों को ले जाता है तो यह अतटस्थ कार्य नहीं समझा जायगा।

किसी युध्यमान पक्ष को सैनिक सूचना देने के सम्बन्ध में भी लन्दन सम्मेलन ने दो प्रकार के नियम बनाए (क) विशुद्ध रूप से (exclusively) शत्रु को सूचना देने का कार्य करने वाला तटस्थ जहाज शत्रुरूप प्राप्त कर लेता है। (ख) यदि वह विशेष रूप से इसी उद्देश्य से अपना स्वाभाविक मार्ग छोड़कर यात्रा करता है तो यह

२२. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ८३२

अतटस्थ सेवा होगी, किन्तु यदि स्वाभाविक मार्ग पर यात्रा करते हुए ऐसा कार्य किया जाता है तो इसे अनटस्थ कार्य नही माना जा सकता। तटस्थ जलपोत निम्न चार अवस्थाओं में शत्रुरूप धारण करता है और उसके साथ शत्रुता का व्यवहार किया जाता है—(क) जब तटस्थ जहाज लडाई के शत्रुतापूर्ण कार्यों मे प्रत्यक्ष भाग ले, (ख) जब तटस्थ पोत शत्रुसरकार द्वारा इस पर बिठाये गए किसी अभिकर्ता या एजेण्ट के नियन्त्रण मे हो, (ग) जब यह अनन्य रूप से शत्रु की सरकार का कार्य कर रहा हो। (घ) जब यह अनन्य रूप से शत्रु के सैनिको की ढुलाई कर रहा हो, यह उसे सैनिक सूचनायें पहुँचाने मे लगा हुआ हो।

लन्दन घोषणा का किसी राज्य ने अनुसमर्थन (Ratification) नही किया। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर मित्रराष्ट्रों ने अतटस्थ सेवा के सम्बन्ध मे इस घोषणा के नियमों को स्वीकार किया और जुलाई १९१६ तक इन्हे पूरी तरह लागू करते रहे। किन्तु इसके बाद जर्मनी द्वारा सब देशों के जहाजों को अन्धाधुन्ध डुबाने की नीति अपनाने के कारण मित्रराष्ट्रो ने इस घोषणा का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् इस विषय मे परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन होने लगा।

अतटस्थ सेवा के परिणाम—तटस्थ जलपोतों को अतटस्थ सेवा के लिए महासमुद्र (Open sea) मे अथवा दोनों युद्धकारी पक्षों के प्रादेशिक समुद्र (Territorial Waters) मे पकडा जा सकता है। डाक ले जाने वाले जहाजों का भी व्यापारिक पोतों के समान निग्रह (Capture) सम्भव है। शत्रु की सेना तथा सैनिक सूचना पहुँचाने वाले जहाज का राज्यसात्करण (Confiscation) हो सकता है। अमरीकन तथा ब्रिटिश परम्परा के अनुसार जब कोई तटस्थ जहाज इन कार्यों के लिये पकडा जाता है तो उस पर यात्रा करने वाले सैनिकों को पकडने के साथ साथ जहाज को पकडना भी आवश्यक होता है। १८६१ मे ट्रेण्ट (Trent) के मामले मे (देखिये प्रथम परिशिष्ट), इस जहाज से दक्षिणी राज्यो के प्रतिनिधि मेसन और स्लिडेल को जबर्दस्ती पकडने के बाद जहाज को छोड दिया गया था। जहाज को पकडे बिना इन प्रतिनिधियों का पकडना अवैध समझा गया था।

अतटस्थ सेवा के मामले (Cases of Unneutral Service)—इस विषय के कुछ महत्वपूर्ण मामलों और निर्णयों से इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। पहले बताया जा चुका है कि अतटस्थ सेवा मुख्य रूप मे दो प्रकार की होती है पहली तटस्थ जहाज द्वारा शत्रु को सैनिक सूचनायें पहुँचाने की तथा दूसरी शत्रु के लिये सैनिक वहन करने की। पहले प्रकार के प्रमुख उदाहरण ये हैं—(१) रैपिड (Rapid) एक अमरीकन जहाज था। यह १८१० म ग्रेट ब्रिटेन और हालैण्ड की लडाई मे न्यूयार्क से टानिजन (Tonningen) जाते हुए इसलिए पकडा गया कि यह हालैण्ड के मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य को भेजी जाने वाली चिट्ठी टानिजन के एक व्यापारी को सम्बोधित किये गये लिफाफे मे छिपाकर ले जा रहा था। किन्तु सं० रा० अमरीका के अधिग्रहण न्यायालय ने इस जहाज को मुक्त कर दिया, क्योंकि अतटस्थ सेवा के लिये यह आवश्यक है कि जहाज वालो को इसके माध्यम से शत्रु को भेजी जाने वाली सूचना का ज्ञान हो और

वह जहाज इस सूचना को भेजने के लिए किराये पर लिया गया हो। (२) एटलाण्टा (Atlanta) का मामला रैपिड से भिन्न था। यह तटस्थ जहाज १८०८ में बटेविया से ब्रेमन जा रहा था। रास्ते में एक फ्रेंच बन्दरगाह में इसे फ्रांस के एक मन्त्री के नाम कुछ पत्र दिये गये। इन पत्रों का कप्तान को पूरा ज्ञान था और इन्हें चाय के सन्दूक में जान-बूझकर छिपा दिया गया था। मार्ग में ब्रिटिश सरकार ने इस जहाज को पकड़ लिया, अविग्रहण न्यायालय ने जहाज और माल दोनों को इस आधार पर दण्डित किया कि इस प्रकार के पत्र ले जाना शत्रुतापूर्ण कार्य है और इन्हें ले जाने वाले जहाज को जब्त किया जाना चाहिए।

शत्रु के सैनिक वहन करने वाले तटस्थ जहाजों के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण ये हैं—

(१) दी फ्रेंडशिप (The Friendship) नामक अमरीकन जहाज को १८०७ में इसलिए दण्डित किया गया था कि यह फ्रेंच सेना के अधिकारियों तथा समुद्री सैनिकों को ले जा रहा था। शत्रु द्वारा सैनिकों के परिवहन के लिये किराये पर लिये गये इस तटस्थ पोत को दण्डयोग्य समझा जाना स्वाभाविक था।

(२) ओरोजेम्बो (Orozembo) नामक अमरीकन जहाज १८०७ में डच सरकार के आदेश से हालैण्ड के तीन डच सैनिक अधिकारियों तथा सिविल सर्विस के दो अधिकारियों को बटेविया ले जा रहा था। उस समय हालैंड और ग्रेट ब्रिटेन में युद्ध चल रहा था। ग्रेट ब्रिटेन ने इस जहाज को अतटस्थ सेवा के लिए पकड़ लिया। इस मामले के निर्णय में यह कहा गया कि ऐसे अपराध में सैनिकों की संख्या का कोई महत्व नहीं है, यह सम्भव है कि उच्च पद रखने वाले अल्पसंख्यक व्यक्ति साधारण सैनिकों की बहुसंख्या से अधिक महत्वपूर्ण हों। इसमें जहाज के कप्तान को यह ज्ञान नहीं था कि वह शत्रु को लाभ पहुँचाने वाला कार्य कर रहा है, किन्तु फिर भी इस मामले में यह माना गया कि सच्ची (Bonafide) अज्ञानता में भी भले ही वास्तविक अपराध न हो, किन्तु यदि इससे शत्रु को लाभ पहुँचता है तो युद्धकारियों को इसे रोकने का अधिकार है।

(३) १८०२ में स्वीडन के जहाज कैरोलिना (Carolina) को ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के युद्ध में सर विलियम स्काट ने इसलिए दण्डित किया कि उसने फ्रेंच सेनाओं को मिस्र से इटली पहुँचाया था। जहाज के मालिक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उसने बाधित होकर विवशता में ऐसा कार्य किया है, किन्तु उसका कार्य हानि पहुँचाने वाला था, अतः न्यायालय ने उसका विवशता का तर्क स्वीकार नहीं किया।

(४) हनीमुन (Hanimun) के मामले में यह निर्णय दिया गया कि युद्ध के कार्यों से सम्बद्ध सन्देश तटस्थ जहाज से किसी युद्धकारी देश को नहीं भेजे जा सकते।

(५) स्टीमशिप चायना (S S China) यह शंघाई से अमरीकन बन्दरगाहों में डाक तथा सवारियाँ ले जाने वाला अमरीका का जहाज था। १९१६ में इस पर सवार होकर कुछ जर्मन, आस्ट्रेलियन और तुर्क मनीला जा रहे थे। एक ब्रिटिश लड़ाकू

जहाज ने इन सवारियो को जहाज से उतार लिया। अमरीकी सरकार ने इस कार्य का इस आधार पर प्रबल प्रतिवाद किया कि लन्दन घोषणा (देखिये ऊपर पृ० ५४५-६) के अनुच्छेद ४७ के अनुसार केवल स्थल और जलसेनाओं मे नौकरी करने वाले व्यक्तियो को ही पकडा जा सकता है। ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि ये व्यक्ति विध्वसात्मक कार्यों मे तथा हथियारो को चोरी से लाने के काम (Smuggling) मे लगे हुए थे। इस विवाद का निर्णय होने से पहले ही स० रा० अमरीका प्रथम विश्वयुद्ध मे कूद पडा और ये व्यक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा छोड दिये गये। इस विषय के दो प्रसिद्ध उदाहरणो ट्रेण्ट (Trent) तथा असमा मारू (Asama Maru) का वर्णन प्रथम परिशिष्ट मे किया गया है।

उनतीसवाँ अध्याय

परिवेष्टन

(Blockade)

परिवेष्टन का स्वरूप (Nature of Blockade)—युद्ध के समय यद्यपि तटस्थ देशों को युद्ध करने वाले दोनों पक्षों के साथ व्यापार करने का अधिकार होता है, तथापि यह अधिकार दोनों पक्षों द्वारा शत्रु के परिवेष्टन या नाकाबन्दी से बहुत सीमित एवं मर्यादित हो जाता है। इसमें शत्रु के समुद्रतट और बन्दरगाहों को इस प्रकार घेर लिया जाता है कि बाह्य जगत् से उनका कोई सम्पर्क न रहे। आजकल शत्रु को परास्त करने के लिये तथा उसकी अर्थव्यवस्था को विच्छिन्न करने के लिये इस साधन का बहुत प्रयोग किया जाता है। दोनों विश्वयुद्धों में जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन ने परिवेष्टन का प्रयोग व्यापक रूप से किया था। इसका मुख्य उद्देश्य शत्रु को अन्य देशों से पहुँचने वाली सामग्री प्राप्त करने से रोकना, उसके उद्योग-धन्धों के लिए आवश्यक कच्चे माल के स्रोत बन्द करना, बाहर से आने वाले खाद्य पदार्थों के जहाज रोककर उसे भूखा मारना तथा इस प्रकार आत्मसमर्पण के लिये बाधित करना है।

स्टार्क[1] ने इसका लक्षण करते हुए कहा है कि परिवेष्टन तब होता है, जब कोई युध्यमान पक्ष शत्रु के समुद्रतट के समूचे अथवा कुछ हिस्से का रास्ता सब देशों के जलयानों और विमानों के प्रवेश या आगमन (Ingress) और निर्गमन (Egress) के लिए रोक देता है। ओपेनहाइम के मतानुसार[2] परिवेष्टन शत्रु के समूचे समुद्रतट को अथवा इसके कुछ हिस्से के मार्ग को रणपोतों (Men-of War) द्वारा इस प्रयोजन से बन्द कर देना है कि इनसे किसी जलपोत या विमान का आगमन और निर्गमन न हो सके। इसमें रणपोत शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है। यदि किसी बन्दरगाह का रास्ता केवल पत्थरों से लदे जहाजों को डुबाकर बन्द होगा, जैसा १८६१ में अमरीकन गृह-युद्ध में चार्ल्सटन के बन्दरगाह में किया गया तो यह परिवेष्टन नहीं समझा जायगा, इसमें तटस्थ जहाजों का आना जाना निषिद्ध नहीं समझा जा सकता। परिवेष्टन (Blockade) घेरे (Siege) से भिन्न है, घेरा डालने का उद्देश्य किसी दुर्ग या घिरे स्थान पर विजय पाना होता है। परिवेष्टन का मुख्य लक्ष्य समुद्री मार्ग से बाह्य जगत् के साथ शत्रु के सम्पूर्ण व्यापारिक सम्पर्क को विच्छिन्न करना है।

शत्रु को हराने की दृष्टि से परिवेष्टन का प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा है।

---

१. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल ला, पृ० ४०३

२. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ७६८

ग्रोशियस ने लिखा है कि डिमेट्रियस (Demetrius) ने एथेन्स को आत्मसमर्पण के लिये विवश करने की दृष्टि से उसे भूखा मारने की योजना बनाई, उसको अनाज पहुँचाने वाले एक जहाज के स्वामी और चालक को फाँसी दे दी, इसी तरह उसने अन्य व्यक्तियों को भी एथेन्स में खाद्य सामग्री पहुँचाने से रोका तथा स्वयमेव एथेन्स का अधीश्वर बन गया। आधुनिक काल में डच सरकार ने १५८४ में तथा १६३० में इसका सर्वप्रथम प्रयोग करते हुए फ्लैण्डर्स (वर्तमान बेल्जियम) में स्पेन के अधिकार में विद्यमान सब बन्दरगाहों का परिवेष्टन किया। शनैः-शनैः इसके नियमों का विकास होने लगा।

पेरिस की घोषणा (Declaration of Paris 1856) तथा लन्दन की घोषणा (London Declaration 1909) में इनका सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्धों में इसे वर्तमान रूप मिला।

पहले परिवेष्टन शत्रु की बन्दरगाहों और समुद्रतट तक ही सीमित रखा जाता था, तटस्थ देशों के बन्दरगाहों या समुद्रतट में प्रवेश को नहीं रोका जाता था। किन्तु अब इसका क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है, लम्बी दूरी (Long distance) का परिवेष्टन भी वैध माना जाता है। इसके लिये सार्वदेशिक (Universal) होना आवश्यक है, परिवेष्टित प्रदेश में बिना किसी भेदभाव के सब देशों के जहाजों के आने-जाने पर प्रतिबन्ध होना चाहिये। यह आवश्यकतानुसार सामरिक (Strategic) अथवा व्यापारिक (Commercial) हो सकता है। सामरिक परिवेष्टन शत्रु के समुद्रतट के विरुद्ध किये जाने वाले सैनिक कार्यों का अंग होता है तथा इसका उद्देश्य तटवर्ती शत्रुसेनाओं से प्राप्त हो सकने वाली सहायता को रोकना है। व्यापारिक परिवेष्टन में शत्रु के समुद्रतट का अन्य देशों के साथ वाणिज्य का सम्पर्क विच्छिन्न कर दिया जाता है किन्तु इस तट पर कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की जाती। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विधिशास्त्री हाल (Hall) ने यह मत प्रकट किया था[१] कि व्यापारिक परिवेष्टन अवैध है, इसे समाप्त कर दिया जाना चाहिए। किन्तु आजकल दोनों प्रकार के परिवेष्टन वैध माने जाते हैं।

पेरिस तथा लन्दन की घोषणायें (Declarations of Paris and London)—पेरिस की घोषणा (१८५६) द्वारा परिवेष्टन के सम्बन्ध में यह नियम बनाया गया था कि इसके बाध्य रूप से पालनीय (Binding) होने के लिये "इसका प्रभावशाली (Effective) होना आवश्यक है।" इसका यह अर्थ है कि इसे लागू करने वाली शक्ति इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि वह वस्तुतः शत्रु के समुद्रतट तक प्रवेश को रोक सके।' किन्तु इस घोषणा ने 'पर्याप्त शक्ति' की व्याख्या नहीं की।

१९०९ की लन्दन की घोषणा का यद्यपि किसी राज्य ने अनुसमर्थन (Ratification) नहीं किया, फिर भी उसके इस विषय में बनाये गये स्पष्ट और विशद नियमों का बहुत महत्व है। इनमें से कुछ ये हैं—(क) इसने परिवेष्टन के प्रभावशाली होने के

---

१ हाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ७५७

१८५६ के नियम को सपुष्ट किया।

(ख) परिवेष्टन के आरम्भ करने की तथा उसकी भौगोलिक सीमाओं की सूचना तटस्थ देशों को दी जानी चाहिये। यह घोषणा करने का अधिकार युद्धकारी देश को अथवा उसकी ओर से कार्य करने वाले नौसेनापति को है। इनके अतिरिक्त, कोई अन्य व्यक्ति ऐसी घोषणा नहीं कर सकता। इस घोषणा का यह उद्देश्य था कि तटस्थ देशों को पूरी सूचना और चेतावनी, परिवेष्टित प्रदेश में प्रवेश से पहले ही मिल जानी चाहिये, ताकि वे खुद सोच-विचार करने के बाद, अपना दायित्व और खतरा समझते हुए ही इसमें प्रवेश करें।

(ग) शत्रु की बन्दरगाहों से तथा समुद्रतट से आगे के प्रदेश में परिवेष्टन नहीं होना चाहिये तथा तटस्थ बन्दरगाहों पर और तटस्थ देशों के तटों पर प्रवेश में प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये।

(घ) परिवेष्टन का ज्ञान होने पर इस प्रदेश में घुसने वाले जहाज को जब्त किया जा सकता है। यदि किसी जहाज को तटस्थ देश के बन्दरगाह से रवाना होने से पूर्व उस देश को परिवेष्टन की सूचना दी जा चुकी है और इस सूचना को प्रकाशित करने के लिये स्थानीय अधिकारियों को पर्याप्त समय मिल चुका है, तो यह मान लिया जायगा कि जहाज को परिवेष्टन की सूचना प्राप्त हो गई है (अनु० १५)।

(ङ) तटस्थ जहाज केवल रणपोतों की कार्यवाही करने के क्षेत्र में पकड़ा जा सकता है।

(च) जहाज का तथा उसके माल का अन्तिम पहुँचने का स्थान कोई भी हो, उसे तब तक परिवेष्टन के भग के लिये नहीं पकड़ा जा सकता, जब तक वह अपरिवेष्टित (Non Blockaded) बन्दरगाह की ओर जा रहा हो (अनु० १६)।

(छ) लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २१ में परिवेष्टन भग करने पर दण्ड की व्यवस्था थी। इसे भग करने वाले पोत को दण्डित किया जा सकता है, इस पर लदा हुआ माल भी तब तक दण्डयोग्य है, जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि इस माल के लादे जाने के समय जहाज के मालिक को परिवेष्टन का ज्ञान नहीं था और उसका इसे भग करने का कोई इरादा नहीं था।

परिवेष्टन के विभिन्न रूप (Various Forms of Blockade)— इसका **पहला रूप कागजी परिवेष्टन** (Paper Blockade) होता है। जब कोई शक्ति इसकी घोषणा करती है, इसे छाप देती है, किन्तु प्रभावशाली ढग से क्रियात्मक रूप देने की सामर्थ्य नहीं रखती, अपने रणपोतों द्वारा शत्रु के बन्दरगाहों में जहाजों के आने जाने पर कोई पाबन्दी नहीं लगा सकती तो यह केवल कागज पर लिखी घोषणामात्र रह जाती है। लारेन्स के शब्दों में यह परिवेष्टन नहीं, किन्तु बिना अधिकार के तटस्थ जलपोतों को हानि पहुँचाने का अवैध प्रयत्न है।

दूसरा रूप प्रभावशाली परिवेष्टन (Effective Blockade) का है, इसमें रणपोतों की सहायता से शत्रु के बन्दरगाहों में जहाजों का आना जाना बिल्कुल रोक देना है।

तीसरा रूप सामरिक (Strategic) तथा चौथा व्यापारिक (Commercial) है। इनका पहले (पृ० ५५०) स्पष्टीकरण किया जा चुका है। पाँचवाँ रूप राजनयिक ढग से सूचना देकर किया जाने वाला परिवेष्टन (Blockade by Notification) है। आपेनहाइम ने इसके अन्य दो रूप आगमन परिवेष्टन (Blockade Inwards) तथा निर्गमन परिवेष्टन (Blockade Outwards) बताये हैं। जब किसी बन्दरगाह या समुद्र मे प्रवेश का निरोध किया जाय तो यह आगमन परिवेष्टन होता है, १८५४ के क्रीमिया युद्ध में मित्रराष्ट्रो ने डेन्यूब नदी के मुहाने का ऐसा परिवेष्टन किया था, क्योंकि उसका उद्देश्य डेन्यूब नदी के रास्ते से कृष्ण समुद्र मे रूसियो को मिल सकने वाली सहायता बन्द करना था।

परिवेष्टन योग्य स्थान (Places of Blockade)—पहले केवल किलेबन्दी वाले या इससे रहित बन्दरगाहो का ही परिवेष्टन किया जाता था। कई बार बन्दरगाहो के साथ समुद्रतट भी शत्रु के जहाजो के लिये बन्द कर दिये जाते थे। स० रा० अमरीका के गृहयुद्ध मे उत्तरी राज्यों ने दक्षिणी राज्यो के २५०० मी० लम्बे समुद्रतट की नाकेबदी की थी। शत्रु के हाथ मे पडे हुए बन्दरगाह भी परिवेष्टित किये जाते हैं, १८७० के फ्रैंको जर्मन युद्ध मे फ्रास ने जर्मनो द्वारा अधिकृत बन्दरगाहो—रूआ (Rouen), दियेप (Dieppe) तथा फेकाप (Fecamp) मे ऐसा किया था। उद्गम से मुहाने तक एक ही देश मे बहने वाली राष्ट्रीय नदियो (National Rivers) (देखिये ऊपर पृ० २०५) का परिवेष्टन हो सकता है। किन्तु अनेक देशीय अथवा सीमावर्ती (Boundary) नदियो को परिवेष्टित नही किया जा सकता, क्योंकि उन पर राष्ट्र का नही, किन्तु अनेक राष्ट्रो का स्वामित्व है। १८५४-५६ के क्रीमिया युद्ध मे जब ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने डैन्यूब का परिवेष्टन किया तो इस नदी से सबद्ध बवेरिया तथा वुर्टमबर्ग के जर्मन राज्यो ने इसका विरोध किया। आपेनहाइम ने लिखा है कि इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून सुनिश्चित नही है।[४] १८७० के फ्रैंको जर्मन युद्ध मे फ्रास ने उत्तरी सागर के जर्मन समुद्रतट का परिवेष्टन करते हुए एम्स नदी के मुहाने डोलार्ट (Dollart) को छोड दिया क्योकि यह डच और जर्मन प्रदेश की सीमा बनाता था। १८६३ के अमरीकन गृहयुद्ध मे दक्षिणी राज्यो के समुद्रतट का परिवेष्टन करते हुए उत्तरी देशो के नूजर वन्डेरबिल्ट (Venderbilt) ने रिओग्राण्डे नदी के मेक्सिको वाले तट के मातामोरोस स्थान को जाते हुए ब्रिटिश पोत पीटरहोफ (Peterhoff) को पकड लिया, किन्तु न्यायालय ने इसे मेक्सिको के तटस्थ होने के कारण छोड दिया।

जलडमरूमध्यों के परिवेष्टन के विषय मे तीन प्रकार के नियम है। एक राज्य से सम्बन्ध रखने वाले प्रदेशो को विभक्त करने वाले तथा खुले समुद्र के दो भागो को न जोडने वाले जलडमरूमध्यो का परिवेष्टन हो सकता है। किन्तु डार्डेनल्ज जैसे एक राज्य के दो प्रदेशो को विभक्त करने वाले तथा खुले समुद्र के दो बडे हिस्सो के मिलाने वाले जलडमरूमध्यो के बारे मे कोई नियम निश्चित नही हुआ है। १९११ के टर्की इटली

४. आपेनहाइम—इन्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ७७२

युद्ध के समय इटली ने डार्डेनल्ज़ का परिवेष्टन नही किया। ऐसे जलडमरूमध्यो के बारे मे अभी तक कोई नियम निश्चित रूप से नही स्थिर हुआ है। यही स्थिति दो विभिन्न राज्यों को विभक्त करने वाले जलडमरूमध्यो की है। एक देश मे विद्यमान नहर का परिवेष्टन हो सकता है। किन्तु दो महासमुद्रों को जोडने वाली स्वेज़ और पानामा नहर के बारे मे विशेष समझौते हैं। कानूनी रूप से इनका परिव्वेष्टन नही हो सकता।

वास्तविक परिवेष्टन की आवश्यक शर्तें (Essential Conditions of Real Blockade)—इसकी पहली शर्त यह है कि इसकी स्थापना उचित रीति से, युद्धकारी राष्ट्र की सरकार द्वारा अथवा उस द्वारा विशेष रूप से नियुक्त नौसेनापति द्वारा होना चाहिए। दूसरी शर्त प्रभावशाली होने की है, पेरिस और लन्दन की घोषणाओ ने इस पर बल दिया था। इसे लागू करने के लिए इतनी शक्ति का प्रयोग होना चाहिए कि इसे तोडने मे भारी खतरा हो। १७८० की पहली सशस्त्र तटस्थता (First Armed Neutrality) के अनुसार परिवेष्टन तभी प्रभावशाली होता है, जब तट तक पहुँचने का मार्ग लगर डाले हुए रणपोतो द्वारा इस तरह घिरा हो, सब पोत एक दूसरे के इतने निकट हो कि बगैर खतरा उठाये इनकी पंक्ति को न तोडा जा सकता हो। फिलिमोर ने लिखा है कि तथ्यानुसार या वास्तविक (De facto) परिवेष्टन कई जहाजो की पंक्ति द्वारा होता है, ये जहाज निषिद्ध बन्दरगाह के मुहाने पर एक तोरण या मेहराब (Arch) सी बनाये होते है, यदि यह किसी एक स्थान पर भी भग होती है तो सारा परिवेष्टन भग हो जाता है। पहले विश्वयुद्ध तक फ्रास प्रभावशाली परिवेष्टन के लिए रणपोतो द्वारा ऐसा घेरा डालना आवश्यक मानता था।

इस विषय मे दूसरा दृष्टिकोण स० रा० अमरीका जर्मनी, तथा ग्रेट ब्रिटेन का है। डा० लशिंगटन ने १८५५ मे फ्रासिस्का (Franciska) के मामले मे (देखिए प्रथम परिशिष्ट) इसकी व्याख्या करते हुए कहा था कि परिवेष्टन के प्रभावशाली होने के लिए इतनी पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए कि वह इस क्षेत्र मे आगमन और निर्गमन को, कुहरे, तेज हवा, आवश्यक अनुपस्थिति आदि की विशेष अवस्थाओ के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओ मे सकटपूर्ण बना दे, इनमे इसे भग करने का प्रयत्न करने वाले जहाज का पकडा जाना अत्यधिक सभव हो। इसके अनुसार परिवेष्टन के लिए बन्दरगाह के प्रवेश मार्ग को घेरने वाले, लगर डाले हुए रणपोतो की पंक्ति या तोरण का होना आवश्यक नही है। प्रधान न्यायाधीश काकबर्न ने १८७२ मे Geipal v Smith के मामले मे यह निर्णय दिया था कि "कानून की दृष्टि से एक परिवेष्टन तब प्रभावशाली समझना चाहिए, जब शत्रु के जहाजो की सख्या और स्थिति ऐसी हो कि सामान्यत इसे भग करना खतरे मे पडना हो, भले ही कुछ जहाज इसे तोडने मे सफल हों।"

सामान्य रूप से, प्रभावशाली परिवेष्टन एक तग जलप्रणाली मे लगी जहाजो के बेडे द्वारा स्थापित किया जाता है। इसे अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए समीपवर्ती तट पर इसे भग करने वाले जहाज पर गोले बरसाने वाले तोपखाने भी लगाये जाते हैं। परिवेष्टन मे कम से कम एक रणपोत अवश्य होना चाहिए। इसमे आजकल वायुयानो से भी बहुत सहायता ली जाने लगी है। परिवेष्टन तभी तक प्रभावशाली

है, जब तक इसका उल्लघन करने मे खतरा बना रहता है। यदि यह खतरा रणपोतो के हट जाने से दूर हो जाय तो परिवेष्टन स्वयमेव समाप्त हो जाता है।

परिवेष्टन की तीसरी शर्त इसका निरन्तर (Continuous) बनाये रखना है। इसमे कोई व्यवधान नही होना चाहिए। यदि परिवेष्टन स्थापित करने के कुछ समय बाद इसे प्रभावशाली बनाने वाला बेडा वापिस लौट जाता है तो परिवेष्टन को समाप्त समझा जायगा। किन्तु यदि ऋतु की प्रतिकूलता के कारण कुछ समय के लिए रणपोतों को अस्थायी रूप से अपने स्थान से हटना पडता है तथा ऋतु अनुकूल होने पर वे पुनः अपने स्थान पर लौट आते हैं, तो लन्दन घोषणा के अनुसार रणपोतो के यहाँ से अस्थायी रूप से हटने के कारण परिवेष्टन की समाप्ति नही समझी जायगी।

चौथी शर्त उपयुक्त सूचना (Notification) देने की है। प्राय परिवेष्टन करने वाला नौसेनापति इसकी सूचना परिवेष्टित तट या बन्दरगाह मे अधिकारियो को, वहाँ रहने वाले वाणिज्यदूतो को तथा तटस्थ समुद्री राज्यो को भेजता है। फ्रास तथा इटली इस विषय मे यह सावधानी भी बरतते हैं कि परिवेष्टित स्थान के पास आने वाले तटस्थ पोतो को वे परिवेष्टन की पुन सूचना देते हैं। किन्तु स० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और जापान ऐसा करना आवश्यक नही समझते। यदि परिवेष्टन का वास्तविक ज्ञान रखने वाले किसी पोत को कोई सूचना नही दी गयी और वह परिवेष्टन को भग करता है तो इन देशो की परिपाटी के अनुसार उसे पकडा जा सकता है।

पाँचवीं शर्त निष्पक्षता की है। परिवेष्टन करने वाले राज्य को सभी देशो के जहाजों का आगमन और निर्गमन समान रूप से रोकना चाहिए। फ्रासिस्का के मामले मे प्रिवी कौंसिल ने रूस के रीगा नामक बन्दरगाह का ब्रिटिश परिवेष्टन इसलिए अवैध समझा था कि यह सब देशो के लिए समान एव निष्पक्ष रूप से लागू नही किया गया था, इसमें कुछ युद्धकारी देशो को ऐसी छूट या ढील दी गयी थी, जो तटस्थ देशो को प्राप्त नही थी। इसकी छठी शर्त यह है कि तटस्थ देशो के तटो तथा बन्दरगाहो का रास्ता बन्द नही किया जा सकता। सातवीं शर्त यह है कि परिवेष्टन का क्षेत्र इसे बनाये रखने वाले रणपोतो के कार्यक्षेत्र से अधिक विस्तीर्ण नही हो सकता।

परिवेष्टन की समाप्ति (Cessation of Blockade)—युद्ध के अवसान से परिवेष्टन करने वाली शक्ति द्वारा इसे वापिस लेने से अथवा इसके प्रभावशाली न रहने से इसकी समाप्ति हो जाती है। इसके अन्य कारण परिवेष्टन करने वाले जगी बेडे की हार और पलायन तथा इस बेडे को युद्ध के लिये दूसरे स्थान पर बुला लेना है।

परिवेष्टन का भग (Breach of Blockade)—बेटसी (Betsey) के मामले मे १७६८ मे निर्णय देते हुए सर विलियम स्काट ने कहा था कि परिवेष्टन के भग के लिए तीन बातो का सिद्ध करना आवश्यक है। प्रथम, वास्तविक परिवेष्टन की सत्ता द्वितीय, भग करने वाले पक्ष को इसका ज्ञान होना, तृतीय, परिवेष्टन आरम्भ होने के बाद लदे हुए माल के साथ निषिद्ध क्षेत्र मे आने या जाने का कार्य करके परिवेष्टन को तोडना। आपेनहाइम के मतानुसार "परिवेष्टन के अतिक्रमण या भग का आशय

परिवेष्टन होते हुए भी किसी जहाज का बिना आज्ञा के आगमन या निर्गमन है। जहाँ तक दण्ड का सम्बन्ध है, इसके अतिक्रमण का प्रयत्न करना, अतिक्रमण के तुल्य अपराध है।"

परिवेष्टन की सूचना न होने पर इसके भग का कोई अपराध नहीं हो सकता। किन्तु इसकी सूचना की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विभिन्न देशों की परिपाटी एक-सी नही है। इटली और फ्रास मे राजनयिक (Diplomatic) तथा स्थानीय (Local)—दोनो ढगो से सूचना देना आवश्यक समझा जाता है। इन दोनो देशो की परिपाटी के अनुसार किसी जहाज को तब तक परिवेष्टन भग करने का अपराधी नही माना जाता, जब तक उसे इस क्षेत्र मे प्रवेश करने से पहले परिवेष्टन करने वाले रणपोत ने रोककर विशेष चेतावनी न दी हो और इसे अपनी दैनिक नौपञ्जिका (Logbook) मे अकित न किया हो। स० रा० अमरीका, जापान और ग्रेट ब्रिटेन की परिपाटी इससे भिन्न है। वे राजनयिक सूचना (Diplomatic notice) को पर्याप्त समझते हैं, स्थानीय सूचना देना या रणपोतो द्वारा चेतावनी देना आवश्यक नही मानते। यह उनके मतानुसार वास्तविक सूचना (Actual notice) है। वे इसके स्थान पर Constructive notice को अधिक महत्व देते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि राजनयिक सूचना द्वारा अथवा परिवेष्टन के बारे मे प्रसिद्धि होने से ही यह मान लिया जाता है कि सब जहाजो को परिवेष्टन की सूचना मिल गई है।

परिवेष्टन भग करने के परिणाम (Consequences of the Breach of Blockade)—लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २१ मे परिवेष्टन भग करने वाले जहाज को दण्डनीय बताया गया है। इसमे सामान्य नियम यह है कि जहाज तथा उस पर लदा हुआ माल, दोनो दण्डित किये जाते हैं। यह समझा जाता है कि इस पर माल लादते समय मालिको को परिवेष्टन का ज्ञान था, अत वे भी परिवेष्टन भग करने के अपराधी माने जाते हैं। परिवेष्टन तोडने वाले जहाज को पकडकर अधिग्रहण न्यायालय के सम्मुख विचार के लिए उपस्थित किया जाता है। जहाज के नाविकों को बन्दी बनाना आवश्यक नही है, यदि जहाज और माल का मालिक एक हो तो दोनो को जब्त कर लिया जाता है। यदि दोनों अलग हों तो माल को उसी दशा मे जब्त किया जाता है, जब कि यह युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री हो अथवा इसे लादते समय इसके स्वामी को परिवेष्टन का ज्ञान रहा हो।

परिवेष्टन के मामले (Cases of Blockade)—इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण (Case) डेनिश जहाज फ्रासिस्का (Franciska) का है। इसका वर्णन प्रथम परिशिष्ट मे किया गया है। दूसरा **बेटसी** (Betsey) का है, इसके निर्णय मे परिवेष्टन के लिए सिद्ध की जाने वाली तीन आवश्यक शर्तों का पहले उल्लेख हो चुका है। तीसरा मामला फ्रेडरिक मोल्के (Fredrick Molke) का है। यह एक डेनिश जहाज था। १७९८ मे फ्रास और ग्रेट ब्रिटेन की लडाई में इसे एक ब्रिटिश जहाज ने हाव्रे (Havre) बन्दरगाह का परिवेष्टन तोडकर बाहर निकलते हुए पकड लिया। उस समय डेन्मार्क लडाई मे तटस्थ था। लार्ड स्टोवैल ने इस जहाज और माल को इस

आधार पर दण्डित किया कि इसे परिवेष्टन की सूचना दी जा चुकी थी। जमोरा (देखिये प्रथम परिशिष्ट) के मामले मे लार्ड पार्कर ने यह कहा था कि परिवेष्टन की घोषणा करने वाला आदेश—परिवेष्टित बन्दरगाहो मे प्रविष्ट होने का प्रयत्न करने वाले जहाजो को उपरिदर्शी (Prima facie) रूप मे निग्रहणीय एव दण्डयोग्य बना देता है, किन्तु उन्हे ऐसी साक्षी उपस्थित करने से नही रोकता, जिससे परिवेष्टन की प्रभावशालिता का अभाव और अवैधता सिद्ध हो सके।

विश्वयुद्धो मे परिवेष्टन का नियम—लम्बी दूरी का परिवेष्टन (The rule of long distance Blockade in World Wars)—प्रथम विश्वयुद्ध से पहले, परिवेष्टन मे शत्रु के बन्दरगाहो के तथा समुद्र तट के समीप जगी जहाजो का घेरा डालकर उन्हे घेर लिया जाता था, इसे समीप का **आसन्न परिवेष्टन** (Close Blockade) कहा जाता था। किन्तु पहले महासमर मे जर्मनी द्वारा समुद्रो मे बडे पैमाने पर सुरगें बिछाने के कारण और पनडुब्बियो द्वारा भीषण विध्वस किये जाने पर मित्रराष्ट्रो ने जर्मन बन्दरगाहो से एक हजार मील से अधिक दूरी तक के समुद्र मे परिवेष्टन आरम्भ किया। यही लम्बी दूरी का परिवेष्टन (Long distance Blockade) था। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे नया विकास था। मित्रराष्ट्रों को इसका अवलम्बन विशेष कारण से करना पडा।[५] जर्मनी ने अपने समुद्र तट तथा बन्दरगाहो की प्रतिरक्षा का सगठन सुरगो तथा पनडुब्बियो की सहायता से इतने प्रभावशाली रूप मे किया कि मित्रराष्ट्र इनका १९वी शती के ढग का पुराना परिवेष्टन नही कर सकते थे। यदि वे ऐसा करते तो उन्हे भीषण क्षति उठानी पडती। इसके अतिरिक्त जर्मनी द्वारा समुद्री जहाजो के उग्र विध्वस की नीति से भी उन्हे ऐसा परिवेष्टन करना पडा। फरवरी १९१५ मे जर्मनी ने ब्रिटिश द्वीपसमूह के चारो ओर के समुद्र को युद्धक्षेत्र घोषित करते हुए कहा कि इसमे पाये जाने वाले शत्रु के सभी पोतो को नष्ट कर दिया जायगा और इसमे आने वाले तटस्थ जहाज भी सकट मे पड सकते हैं। इस पर ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि इसके प्रतिकार के रूप मे, वह अपने साथी राष्ट्रो के साथ मिलकर यह प्रयत्न करेगा कि जर्मनी मे किसी सामग्री का आयात या निर्यात न हो सके। ११ मार्च १९१५ के ब्रिटिश आर्डर-इन-कौंसिल मे उपर्युक्त व्यवस्था करते हुए इसे स्पष्ट रूप से प्रतिशोधनात्मक (Retaliatory) कहा गया था, इसमे परिवेष्टन के स्थापित करने का कोई उल्लेख न था। किन्तु इसके कुछ दिन बाद ब्रिटिश विदेशमन्त्री ने स० रा० अमरीका के राजदूत को नई नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"ब्रिटिश बेडे ने एक ऐसे परिवेष्टन की स्थापना की है, जिसमे जर्मनी को आने-जाने वाले समुद्री मार्ग का नियन्त्रण लडाकू जहाजो के घेरे (Cruiser cordon) द्वारा बडे प्रभावशाली ढग से हो रहा है।" स० रा० अमरीका जैसे तटस्थ राज्यो ने इस नए 'लम्बी दूरी' के परिवेष्टन का उग्र प्रतिवाद किया। यद्यपि अमरीका यह स्वीकार करता था कि नौयुद्ध के साधनो और परिस्थितियो मे महान् परिवर्तन आ जाने के कारण, बन्दरगाहो

५- ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, ख० २, पृ० ७९२

के पास किये जाने वाले निकट परिवेष्टन (Close Blockade) के पुराने नियम अब उपयोगी नहीं रहे, किन्तु उसका यह कहना था कि इस विषय में ग्रेट ब्रिटेन ने जिन उपायों का अवलम्बन किया है, वे "युद्ध के नियमों की भावना, सिद्धान्तों और मूलतत्व" के अनुकूल नहीं हैं। उसने तीन मुख्य कारणों के आधार पर ब्रिटिश उपायों की आलोचना की थी—(१) इनके कारण तटस्थ देशों के बन्दरगाहों का परिवेष्टन हो गया है, क्योंकि इनमें खुले महासमुद्रों का बहुत अधिक क्षेत्र आ जाता है, घेरा डालने वाले जंगी जहाज शत्रु के प्रदेश से बहुत दूरी पर होते हैं। तटस्थ पोतों को अपने बन्दरगाहों में पहुँचने के लिए इनके घेरे में से आवश्यक रूप से गुजरना पड़ता है। ग्रेट ब्रिटेन को युद्धकारी देश होने के कारण तटस्थ बन्दरगाहों के परिवेष्टन का कोई अधिकार नहीं है। २ अप्रैल १९१५ के तथा ५ नवम्बर १९१५ के अपने नोटों में स० रा० अमरीका ने इस युक्ति पर बहुत बल दिया था। (२) स्कैण्डेनेविया (नार्वे, स्वीडन) के बन्दरगाहों तथा बाल्टिक सागर के जर्मन बन्दरगाहों के बीच में व्यापार को नहीं रोका गया था, इस कारण सब तटस्थ देशों के साथ इस परिवेष्टन द्वारा "तुल्य कठोरता" (Equal severity) का व्यवहार नहीं हो रहा था। यह परिवेष्टन के 'समानता और निष्पक्षपात' के सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। (३) ये उपाय प्रभावशाली नहीं थे, 'क्योंकि स्कैण्डेनेवियन देशों के साथ जर्मन तट के बन्दरगाहों का व्यापार जारी था।' अतएव संयुक्त राज्य अमरीका का यह कहना था कि लम्बी दूरी का ब्रिटिश परिवेष्टन सार्वभौम रूप से स्वीकार की जाने वाली उपर्युक्त तीन कसौटियों पर खरा नहीं उतरता, इसे "कानून की, व्यवहार की या प्रभाव की किसी भी दृष्टि से परिवेष्टन नहीं माना जा सकता।"

ब्रिटिश सरकार ने इन युक्तियों का उत्तर अपने २३ जुलाई १९१५ तथा २४ अप्रैल १९१६ के नोटों में दिया। उसका यह कहना था कि ये उपाय परिवेष्टन के पुराने सिद्धान्तों को विशेष परिस्थितियों के अनुरूप बनाने का प्रयत्न है तथा इन सिद्धान्तों की मूल भावना के अनुकूल है। (१) तटस्थ बन्दरगाहों के परिवेष्टन की अमरीकी युक्ति के प्रत्युत्तर में ब्रिटिश सरकार ने यह कहा कि "यदि परिवेष्टन को प्रभावशाली बनाने के लिए इसको तटस्थ बन्दरगाहों में से होकर गुजरने वाले व्यापार पर लागू किया गया है तो यह इसके सामान्य रूप से माने जाने वाले सिद्धान्तों के अनुकूल ही है। मित्रराष्ट्रों ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि वे सच्चे (bona fide) तटस्थ व्यापार में तथा जर्मनी के लिए किए जाने वाले व्यापार में भेद कर। इन उपायों के कारण तटस्थ देशों के साथ होने वाली कठोरता में भी मित्रराष्ट्रों ने कमी की है। तटस्थ देशों द्वारा इस परिवेष्टन का भंग होने पर उन्हें कम दण्ड दिया जाता है। (२) परिवेष्टन के निष्पक्ष न होने की युक्ति का यह उत्तर दिया गया कि इसके बावजूद यदि किसी परिवेष्टित प्रदेश में जल या स्थल मार्ग से कुछ व्यापारिक माल आ जाता है तो इससे कभी यह परिणाम नहीं निकाला जाता कि परिवेष्टन प्रभावशाली नहीं रहा। (३) तीसरी युक्ति का उत्तर देते हुए ब्रिटिश सरकार ने यह कहा कि आज तक किसी भी परिवेष्टन में, इसे भंग करके शत्रु के प्रदेश में प्रविष्ट होने वाले जहाजों की संख्या

इतनी कम नही रही, जितनी परिवेष्टन में है। इसकी प्रभावशालिता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है ?

इस परिवेष्टन को लागू करने तथा तटस्थ देशो के व्यापार को सुरिक्षत करने की दृष्टि से मित्रराष्ट्रो ने अनेक उपायो का अवलम्बन किया। जर्मनी के विदेशो के साथ व्यापार के प्रच्छन्न रूपो को खोजने तथा बन्द करने के लिए पृथक् विभाग बनाये, ये इस बात पर बल देते थे कि जर्मनी के पडोसी देशो से होने वाले निर्यात की सभी वस्तुओ के साथ उनके "उद्गम का प्रमाणपत्र" (Certificate of Origin) होना चाहिए। यह इसलिए किया गया था कि जर्मनी पडोसी राज्यो के माध्यम से अपना माल बाहर न भेज सके, इन प्रमाणपत्रो के अनुसार हालैण्ड, स्वीडन, डेन्मार्क और नार्वे से केवल वही माल बाहर भेजा जा सकता था, जो विशुद्ध रूप से इन देशो मे बना हो तथा उसके साथ ऐसा प्रमाणपत्र हो। ऐसे प्रमाणपत्र रहित, निर्यात होने वाले माल को जब्त कर लिया जाता था। तटस्थ देशो मे होता हुआ कोई माल जर्मनी न पहुँच सके, इस दृष्टि से उन्होने पडोसी तटस्थ देशो मे आयात करने वाले व्यापारियो के सगठनो का निर्माण किया। इनके साथ वे यह समझौता करते थे कि यदि ये मित्र-राष्ट्रो को इस बात की गारण्टी दे कि उनका कोई माल किसी भी प्रकार शत्रु को नही पहुँच पायेगा तो वे इनके माल मे कोई हस्तक्षेप नही करेगे, इन्हे बिना किसी रोक टोक के जाने देग। हालैण्ड मे इस प्रकार का सगठन Netherlands Overseas Trust था। ऐसे सगठन स्विट्जरलैण्ड स्वीडन, नार्वे और डेन्मार्क मे भी थे। मित्रराष्ट्रो ने जहाजी कम्पनियो को यह प्रेरणा की कि वे निरीक्षण और तलाशी (Visit and search) के झझट, व्यय और विलम्ब से बचने के लिए सदिग्ध माल को इगलैंड के बन्दरगाहो मे लाने तथा युद्ध की समाप्ति तक उन्हे वहा रखने के लिए तैयार हो जाएँ अथवा यह माल इसे पाने वाला को इस कडी शर्त और गारण्टी पर दिया जाय कि यह किसी भी रूप मे शत्रु तक नही पहुँच सकेगा। अन्य जहाजी कम्पनियो के साथ यह समझौता किया गया कि वे उत्तरी योरोप जाने वाले माल को अपने जहाजो पर तभी लादें जब मित्रराष्ट्रो के अधिकारियों द्वारा उन्हे परिवेष्टन मे से गुजरने का प्रमाणपत्र मिल जाय। इसे नौप्रमाणपत्र (Navicert) कहते थे। उन्होंने तटस्थ देशो के जहाजो को उस समय तक कोयला देना बन्द कर दिया जब तक कि उनके मालिक यह गारण्टी न दें कि वे अपने अथवा किराये पर लिए जहाजो द्वारा शत्रु के किसी बन्दरगाह के साथ व्यापार नही करेंगे और न ही कोई माल पहुँचायेंगे। इसके अतिरिक्त मित्र-राष्ट्रो ने तटस्थ देशो की व्यापारिक सस्थाओ के साथ ऐसे भी समझौते किए कि वे बाहर से केवल उतना ही माल मँगायेगे जिससे उनके देश की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी हों।

अप्रैल १९१७ मे स० रा० अमरीका मित्रराष्ट्रो की ओर से प्रथम विश्वयुद्ध मे सम्मिलित हुआ। इसके बाद उपर्युक्त व्यवस्थायें कठोरतापूर्वक लागू की गयी। उत्तरी योरोप के तटस्थ देशो को होने वाला निर्यात-व्यापार विशेष अनुमति से ही हो सकता था, इसे प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त प्रकार की गारण्टियाँ और वचन देने पडते

ये। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी तथा उसके साथी देशों का पूर्ण परिवेष्टन हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने पर उपर्युक्त व्यवस्थाओं की पुनरावृत्ति हुई। २७ नवम्बर १९३९ को ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी के अवैध रूप से सुरंग बिछाने तथा पनडुब्बी युद्ध करने का प्रतिकार करने के लिए यह आर्डर-इन-कौंसिल निकाला कि जर्मन बन्दरगाहों में लादे गए, जर्मनी से आने वाले या जर्मन स्वामित्व रखने वाले माल को पकड़कर रोक लिया जायगा या बेच दिया जायगा। १९४० तथा ४२ में इसी प्रकार के अन्य आदेश निकाले गए। पहले इटली, स० रा० अमरीका तथा रूस ने तटस्थ होने के कारण इनका विरोध किया, किन्तु बाद में ये सभी देश युद्ध में सम्मिलित हो गए और जर्मनी का पूरा परिवेष्टन हुआ।

परिवेष्टन का भविष्य (Future of Blockade)—डा० लौटरपैक्ट के मतानुसार द्वितीय विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन तथा उसके साथियों द्वारा परिवेष्टन के लिये अवलम्बन किए गए उपाय "सामान्य रूप से इनके लिए स्वीकार किए जाने वाले कानून की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थे। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि वर्तमान युद्ध ने प्रधान रूप से आर्थिक रूप धारण कर लिया है। परिवेष्टन के लिए स्वीकार किए जाने वाले कानून के कुछ नियम नौयुद्ध की तथा सचार साधनों की परिवर्तित परिस्थितियों में लागू करने योग्य नहीं रहे। यदि इन्हें पारस्परिक समझौते द्वारा नहीं बदला जायगा तो इनका भंग इनके पालन की अपेक्षा अधिक होगा।"[६] वस्तुत आजकल युद्ध में आर्थिक पहलू का महत्त्व इतना अधिक बढ गया है कि परिवेष्टन का प्रयोग आर्थिक शस्त्र के रूप में होने लगा है। यह सैनिक शस्त्र से कम प्रभावशाली नहीं है। अत. भविष्य में तटस्थ देशों के युद्धकारी देशों के साथ व्यापार के अधिकार पर अधिकाधिक प्रतिबन्ध लगने की सभावना है। ऐतिहासिक दृष्टि से परिवेष्टन और विनिषिद्ध सामग्री (Contraband, देखिए अगला अध्याय) का कानून दो विरोधी दावों में समझौते का परिणाम है। एक ओर तटस्थ देश यह कहते हैं कि उन्हें दोनों युध्यमान (Belligerent) पक्षों के साथ व्यापार का निर्बाध अधिकार होना चाहिए, दूसरी ओर युद्ध करने वाले देशों का आग्रह है कि उन्हें समुद्री मार्ग से युद्ध में उपयोगी हो सकने वाली किसी भी वस्तु को शत्रु तक पहुँचने से रोकने का अधिकार है। १९वीं शताब्दी में युद्धोपयोगी वस्तुओं की संख्या सीमित थी, अत उस समय तटस्थ देशों के पास दोनों युद्धकारी पक्षों के साथ व्यापार के अधिकार अधिक थे। किन्तु बीसवीं शती में युद्ध का रूप इतना व्यापक हो गया है, युद्धोपयोगी वस्तुओं की संख्या इतनी बढ गयी है कि तटस्थ देशों के व्यापार का क्षेत्र अत्यन्त सकुचित हो गया है। भविष्य में इसके और भी अधिक सीमित होने की सभावना है।

---

६. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ७९९

तीसवाँ अध्याय

विनिषिद्ध के नियम

(Contraband)

विनिषिद्ध का स्वरूप और लक्षण (Nature of Contraband)—युद्ध के समय दोनों पक्ष स्वाभाविक रूप से इस बात का पूरा प्रयत्न करते है कि उनके शत्रु को युद्ध सचालन मे सहायता देने वाली रण सामग्री—शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुयें तटस्थ देशो से प्राप्त न हो सके। इस उद्देश्य से वे शत्रु के साथ तटस्थ देशो के व्यापार के विषय मे अनेक नियम या कानून बनाते हैं। इनके अनुसार कुछ निश्चित वस्तुओ का शत्रु को पहुँचाना निषिद्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसे स्वीकार करता है और युद्धकाल मे इन वस्तुओं का शत्रु के साथ व्यापार वर्जित माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय विधि द्वारा ऐसी सामग्री का व्यापार निषिद्ध होने के कारण उसे विधिनिषिद्ध का या सक्षिप्त रूप मे विनिषिद्ध (Contraband)[1] का नियम कहते है। इस नियम का मौलिक सिद्धान्त यह है कि युद्ध मे दोनों पक्षो को यह अधिकार है कि वे शत्रु को रण मे सहायता पहुँचाने वाली सामग्री ले जाने वाले जहाजों को तथा उनके माल को छीनकर जब्त कर ले।

आपेनहाइम के कथनानुसार "युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री इस प्रकार के माल का नाम है, जो दोनों युद्धकारी पक्षों द्वारा शत्रु को पहुँचाना इस आधार पर वर्जित समझा जाता है कि इसके पहुँचने से शत्रु अधिक शक्ति के साथ युद्ध का सचालन करने मे समर्थ होगा।"[2] स्टार्क के शब्दो मे "विनिषिद्ध ऐसी वस्तुओं का नाम है, जिनका परिवहन करना युद्धकारी पक्षो द्वारा आपत्तिजनक समझा जाता है, क्योंकि इनसे शत्रु को युद्ध सचालन मे सहायता मिल सकती है।"[3] इसके ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए जेस्सप ने लिखा है—"युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री के कानून के २०वी शती के विचारो मे तीन बाते आवश्यक समझी जाती है"—(क) शत्रुदेश को भेजी जाती हुई कुछ निश्चित वस्तुओ को युद्धकारी पक्षो द्वारा पकडने तथा जब्त करने का अधिकार। (ख) तटस्थ देशों के लिये ऐसा कोई कर्त्तव्य या बाध्यता नही है कि वे इस प्रकार की विनिषिद्ध सामग्री की ढुलाई अपने जहाजों मे न करें। (ग) तटस्थ देशो के

१. यह शब्द लैटिन के दो शब्दों Contra तथा Bannum या bandum से मिलकर बना है, इनका अर्थ है विधि या आदेश के विरुद्ध अथवा इसकी अवहेलना करते हुए।

२. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, स० २, पृ० ८००

३. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ

नागरिकों को शत्रुदेश तक ऐसा माल पहुँचाने का अधिकार है, किन्तु उन्हें यह खतरा उठाने के लिए तैयार होना चाहिये कि युद्धकारी पक्ष इस माल को छीनकर जब्त कर सकते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इस पद्धति का शनैः-शनैः विकास हुआ है।[४] सर्वप्रथम तेरहवीं शती में कुछ राज्यों ने अपनी घोषणाओं द्वारा शत्रु के साथ सम्पूर्ण व्यापार को बन्द करना चाहा। १६वीं १७वीं शताब्दी से तटस्थ देशों ने इसका घोर विरोध करते हुए अपने व्यापार की स्वतन्त्रता बनाये रखने पर बड़ा बल दिया। तटस्थ देशों के अधिकारों का विकास होने के कारण युद्धकारी देशों को शत्रु के साथ इन देशों के व्यापार के पूर्ण प्रतिबन्ध को शिथिल करना पड़ा, इनसे दो प्रकार के महत्वपूर्ण समझौते करने पड़े तथा रियायतें देनी पड़ीं। पहला समझौता भौगोलिक था, इसके अनुसार व्यापार का निषेध शत्रु के सम्पूर्ण प्रदेश से हटा कर कुछ विशेष बन्दरगाहों तक सीमित कर दिया गया, केवल इन्हीं को परिवेष्टित (Blockade) किया जाने लगा। दूसरा समझौता प्रवर्गीकरण (Categorisation) का था। पहले सब प्रकार की वस्तुओं का व्यापार वर्जित था, अब वस्तुओं के विभिन्न वर्ग (Class) या प्रवर्ग (Category) वर्ग बनाये गये, इनमें से कुछ वर्गों में आने वाला माल ही शत्रु को भेजा जाना अवैध समझा गया।

वस्तुओं का वर्गीकरण (Classification of Commodities)—ग्रोशियम ने सर्वप्रथम इस दृष्टि से व्यापार की विभिन्न वस्तुओं को तीन वर्गों में बाँटा था। यद्यपि उसने विनिषिद्ध (Contraband) शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु उसका त्रिविध

---

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र में विनिषिद्ध के कुछ संकेत मिलते हैं। इनका वर्णन प्रथम नावध्यक्ष (२।२८) और शुल्काध्यक्ष (२।२१) के प्रकरण में है, और इसका उद्देश्य माल को चुंगी से बचाने और चोरी से लाने वालों को दण्डित करना है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि युद्ध के समय इन व्यवस्थाओं का पालन कठोरतापूर्वक किया जाता होगा। कौटिल्य ने अन्यत्र (५।१४) व्यापारिक मार्गों को शत्रु के लिये बन्द करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। नावध्यक्ष के प्रकरण में कहा गया है यदि कोई गुप्त रूप से महत्वपूर्ण वस्तुयें (भाण्डभाण्ड), सरकारी आदेश (शासन), हथियार, विस्फोटक द्रव्य (अग्नियोग) लिये ले जा रहा हो, तो ऐसे व्यक्ति को पकड़ ले (२।२८, गूढभारभाराज्ञानशस्त्राग्नियोग विरह्य चोपग्राहयेत्)। कौटिल्य की २।२१ की व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि उस समय वर्तमान विनिषिद्ध की भांति कुछ वस्तुओं के ले जाने पर पाबन्दी होती थी, इन्हें 'अनिर्वाह्य' (न ले जाने योग्य) कहते थे, इन्हें ले जाने वालों को दण्ड दिया जाता था। यदि कोई "हथियार, कवच, लोहा, रथ, रत्न, अन्न तथा पशु आदि में से कोई न ले जाने योग्य वस्तु बाहर ले जाय तो उसे राजा द्वारा निर्धारित दण्ड दिया जाय तथा उनका ऐसा माल (पण्य) नष्ट कर दिया जाय। इनके नगर के अन्दर लाने पर, इस वस्तु को दुर्ग के बाहर बिना किसी शुल्क के बेच डाला जाय। (शस्त्रवर्मकवचलोहरथरत्नधान्यपशूनामन्यतमा निर्वाह्य निर्वाहयतो यथावघुषितो दण्डः पण्यनाशश्च। तेषामन्यतमस्यानयने बहिरेवोच्छुल्को विक्रयः)। इनमें पहली चार वस्तुयें वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा के अनुसार पूर्ण विनिषिद्ध (Absolute contraband) हैं, तथा पिछली तीन वस्तुयें अवस्थानुसार विनिषिद्ध (Conditional contraband) हैं (देखिये नीचे पृ० ५६२-४)।

वर्गीकरण बडा लोकप्रिय हुआ। इसके अनुसार पहला वर्ग उन वस्तुओं का था, जिनका उपयोग केवल युद्ध मे होना है, अत इनका व्यापार सदैव विनिषिद्ध है। इसमे हथियारो तथा गोलाबारूद का समावेश होता है। दूसरा वर्ग विलास सामग्री का है, जैसे शृगार की वस्तुये, इनका युद्ध मे कभी उपयोग नही होता, अत इनका व्यापार कभी निषिद्ध नही होता। तीसरा वर्ग धनराशि, खाद्य सामग्री, जहाज, इनके लिये आवश्यक साज-सामान आदि का है। इनका उपयोग युद्ध एव शान्ति के दोनो कालो मे होता है। इनका व्यापार परिस्थितियो को देखते हुए निषिद्ध या विहित होता है। यदि ये शत्रु को युद्ध सचालन मे सहायता प्रदान करते है तो इनका व्यापार निषिद्ध होता है। ऐसा न होने की परिस्थिति मे इनका व्यापार निषिद्ध नही होता। बाद मे इन्ही वस्तुओ को अवस्थानुसार या पूर्ण विनिषिद्ध (Conditional or absolute contraband) कहा जाने लगा।

१६वी शताब्दी से अनेक राज्यो ने इन वर्गो मे आने वाले पदार्थो को निश्चित करने के लिये अनेक सधियाँ की, किन्तु इनमे गिनाये गये विहित और निषिद्ध पदार्थों मे पर्याप्त भेद है। युद्ध के समय मे विभिन्न राज्य परिस्थितिया के अनुसार अपनी समझ से वस्तुओ के उपयुक्त वर्गीकरण मे काफी हेरफेर करते रहे है। १७८० तथा १८०० की प्रथम तथा द्वितीय सशस्त्र तटस्थताओं ने विनिषिद्ध पदार्थों की सख्या मर्यादित करने का निष्फल प्रयत्न किया। १८५६ की पेरिस की घोषणा मे विनिषिद्ध शब्द का प्रयोग किया गया, किन्तु इसका लक्षण या व्याख्या नही की गयी थी। १६०६ की लन्दन घोषणा मे (अनुच्छेद २२ से २६ तक) विनिषिद्ध पदार्थो का विस्तारपूर्वक परिगणन किया गया। इसके अनुसार निम्न वस्तुय विनिषिद्ध हैं—प्रत्येक प्रकार के शस्त्र, बन्दूको और तोपो से फैकी जाने वाली और इनमे भरी जाने वाली वस्तुये, कारतूस, युद्ध के लिये विशेष रूप से बनाया गया बारूद तथा अन्य विस्फोटक पदार्थ, तोप चढाने के यन्त्र, इन्हे खीचने वाली गाडियाँ, सैनिक गाडियाँ, सैनिक काम के कपडे, सैनिक काम के साज, सवारी के और ढुलाई करने वाले पशु, फौजी पडाव मे काम आने वाली वस्तुयें, जहाजो की रक्षा के लिये धातु की चादरें, रणपोत, नावें, केवल रणपोतों के काम मे आने वाले कल-पुर्जे, रणोपयोगी वस्तुओ के बनाने और मरम्मत करने के यन्त्र। लन्दन घोषणा के अनुसार उपर्युक्त वस्तुय पूर्ण रूप से विनिषिद्ध (Absolute Contraband) सूची मे थी। इसमे राज्यो को यह अधिकार दिया गया था कि वे पूर्ण रूप से युद्ध के लिये उपयोग मे आने वाली अन्य वस्तुओ की विज्ञप्ति (Notification) प्रकाशित करके इस सूची मे जोड सकते थे। इस सूची के बाद इसम दूसरी सूची सापेक्ष अथवा अवस्थानुसार निषिद्ध पदार्थों (Conditional Contraband) की थी। इसमे ऐसे पदार्थ थे, 'जिनका उपयोग युद्ध एव शान्ति के प्रयोजन पूरा करने के लिये हो सकता" था। इस सूची मे परिगणित पदार्थों में भी विशेष विज्ञप्ति द्वारा अन्य वस्तुये जोडी जा सकती थी। इसमे खाद्य सामग्री, ईंधन, जहाज, रेल सामग्री जैसी वस्तुयें थीं, किन्तु फ्रास और रूस खाद्य सामग्री को पूर्ण रूप से निषिद्ध पदार्थों की सूची मे सम्मिलित करना चाहते थे। तीसरी 'स्वतन्त्र सूची' (Free list) थी, इसमे गिनाई गई वस्तुयें 'युद्ध के उपयोग मे न आ

सकने के कारण' कभी विनिषिद्ध घोषित नहीं की जा सकती थी। इनके प्रमुख उदाहरण कपास, ऊन, रबड़ तथा कच्ची धातें (Metallic ores) थीं।

किन्तु लन्दन घोषणा का राज्यों ने समर्थन नहीं किया। प्रथम विश्वयुद्ध में यह स्पष्ट हो गया कि इस बात का पूर्ण रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता कि कौन से पदार्थ पूर्ण रूप से निषिद्ध समझे जाय। तटस्थ राज्यों के स्वार्थ लड़ाई में सम्मिलित होने पर तथा युद्धकारी राष्ट्र की स्थिति ग्रहण करने पर बिल्कुल बदल जाते हैं, तटस्थ रूप में वे जिन पदार्थों को निषिद्ध नहीं समझते, बाद में उन्हीं का व्यापार वर्जित समझने लगते हैं। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण तथा समग्र युद्ध (Total war) के विचार से विनिषिद्ध वस्तुओं के स्वरूप में मौलिक अन्तर आ गया है। इसने लन्दन घोषणा की उपर्युक्त तीन सूचियों तथा त्रिविध वर्गीकरण के सूक्ष्म अन्तर को निरर्थक बना दिया है।

पूर्ण तथा सापेक्ष विनिषिद्ध (Absolute and Relative Contraband)—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हथियार, गोलाबारूद, रणपोत आदि कुछ वस्तुयें केवल युद्ध में उपयोगी होती हैं, ऐसी वस्तुओं का व्यापार पूर्ण रूप से निषिद्ध होता है, अतः यह पूर्ण विनिषिद्ध (Absolute Contraband) कहलाता है। कुछ अन्य वस्तुएँ **केवल युद्ध के लिए नहीं, किन्तु युद्ध एवं शान्ति के दोनों कालों के लिये** उपयोगी होती हैं, जैसे खाद्य पदार्थ, सोना, चाँदी, कोयला। इनके व्यापार का निषेध उन्हीं परिस्थितियों या अवस्थाओं में किया जाता है जब ये शत्रु द्वारा युद्ध संचालन के लिए आवश्यक या अत्यन्त उपयोगी हों। जब शत्रु अनाज की कमी के कारण अपने देश में खाद्यान्नों के वितरण के लिये राशन प्रणाली आरम्भ करता है तो उसका उद्देश्य यह होता है कि सेना को इस सामग्री की पूर्ति अबाध रीति से होती रहे। इस अवस्था में उसे भेजा जाने वाला अनाज सेना के उपयोग में आ सकता है, अतः इस दशा में परिस्थिति में विनिषिद्ध घोषित कर दिया जाता है। विशेष अवस्थाओं में विनिषिद्ध होने के कारण इसे **अवस्थानुसार विनिषिद्ध** (Conditional Contraband) या सापेक्ष (Relative) विनिषिद्ध कहते हैं।

यह वर्गीकरण १६वीं १७वीं शताब्दी में किया गया था। उस समय लड़ाई करने वाली सेनायें बहुत छोटी होती थीं, इसमें युद्धकारी देश की जनसंख्या का अत्यल्प अंश ही भाग लेता था। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के समय से युद्धकारी देशों में अनिवार्य सैनिक सेवा की व्यवस्था हो जाने के कारण प्रत्येक बालिग पुरुष को सेना में भर्ती होना पड़ता है, देश के समूचे साधनों का उपयोग युद्ध को सफल बनाने के लिए किया जाता है, सरकार किसी भी समय किसी भी वस्तु को युद्ध संचालन के लिये आवश्यक समझ कर उस पर अपना पूर्णाधिकार स्थापित कर सकती है। अतः अब यह समझा जाता है कि विनिषिद्ध को पूर्ण और सापेक्ष नामक दो वर्गों में विभक्त करना तथा इसमें सूक्ष्म अन्तर बनाना भूतकाल की घटनामात्र रह गई है। वर्तमान समय में उसका कोई नियामक उपयोग नहीं रहा। इस समय पूर्ण रूप में विनिषिद्ध वस्तुओं का क्षेत्र बढ़ रहा है और सापेक्ष विनिषिद्ध का क्षेत्र संकुचित हो रहा है। युद्ध की नवीन परिस्थितियों के अतिरिक्त वैज्ञानिक आविष्कार भी इस प्रवृत्ति में सहायक हैं। उदाहरणार्थ, पहले कपास

का युद्ध मे कोई उपयोग न होने के कारण इसे विनिषिद्ध पदार्थों मे नही गिना जाता था। ऊपर (पृ० ५६३) यह बताया जा चुका है कि १६०६ की लन्दन घोषणा मे इसका परिगणन स्वतन्त्र सूची मे किया गया था। किन्तु इस घोषणा के छः वर्ष बाद १६१५ मे मित्रराष्ट्रो ने इसे पूर्ण विनिषिद्ध घोषित किया क्योंकि इस बीच नवीन आविष्कारो के कारण विस्फोटक पदार्थ बनाने के लिये कपास का उपयोग होने लगा था।

पूर्ण निषिद्ध (Absolute Contraband)—लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २२ मे ११ प्रकार के विभिन्न वस्तु-समूहो को पूर्ण रूप से निषिद्ध बतलाया गया था, पहले इनका उल्लेख हो चुका है (पृ० ५६२)। ये वस्तुयें सदैव निषिद्ध मानी जाती हैं, इनके लिये किसी विशेष घोषणा करने या सूचना देने की आवश्यक्ता नही। अनुच्छेद २३ मे ऐसे पदार्थों की सूची थी, जिनका प्रयोग केवल युद्ध के लिये नही होता था, फिर भी इन्हें विशेष घोषणा और सूचना के बाद पूर्ण निषिद्ध बताया जा सकता था। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर विभिन्न सरकारी आदेशो द्वारा पूर्णतया विनिषेध की जाने वाली वस्तुओ की सख्या बढने लगी, २ जुलाई १६१७ की अन्तिम ब्रिटिश सूची लन्दन गजट के दो पृष्ठो मे छपी। १६३६ मे दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने पर ४ सितम्बर १६३६ के लन्दन गजट की पूर्ण निषिद्ध की सूची यद्यपि ब्यौरे की दृष्टि से सक्षिप्त है, किन्तु वास्तविक दृष्टि से बहुत व्यापक है। इसमें मुख्य रूप से निम्न वस्तुओ के व्यापार का पूर्ण विनिषेध है—(क) सब प्रकार के शस्त्र, गोलाबारूद, विस्फोटक पदार्थ, रासायनिक युद्ध के लिये उपयुक्त रासायनिक पदार्थ, इन्हे बनाने या ठीक करने की मशीनें, इन मशीनो के कल-पुर्जे, इनका उपयोग करने के लिए आवश्यक पदार्थ, इनके निर्माण के काम में आनेवाली सामग्री, इनके उत्पादन या उपयोग के लिए आवश्यक अथवा सुविधाजनक वस्तुयें। (ख) सब प्रकार का ईंधन (Fuel), जल तथा आकाश मे परिवहन के सभी साधन, इनका निर्माण या मरम्मत करने वाली मशीनें, इनके कल-पुर्जे, इनके उपयोग के लिये आवश्यक औजार तथा अन्य वस्तुयें, इनके निर्माण मे आने वाली सामग्री, इनके उत्पादन या उपयोग के लिये आवश्यक या सुविधाजनक वस्तुएं। (ग) सवादप्रेषण (Communication) के सब साधन, औजार, उपकरण, साज-सामान, नक्शे, चित्र, कागज, शत्रुता-पूर्ण कार्य करने के लिए सहायक या आवश्यक वस्तुएं। (घ) सिक्के, सोना, चादी, पत्रमुद्रा इनके निर्माण मे उपयोगी या सुविधाजनक धातुएँ सामग्री, ठप्पे (Dies), प्लेटें, मशीनें तथा अन्य वस्तुएं। यह सूची इतनी लचकीली और विस्तृत है कि इसमे आवश्यकता पडने पर किसी वस्तु का समावेश किया जा सकता है।

सापेक्ष या अवस्थानुसार विनिषिद्ध (Conditional Contraband)--पहले यह बताया जा चुका है कि कुछ पदार्थ युद्ध एव शान्ति के दोनो कालो मे उपयोगी होते हुए भी कुछ विशेष अवस्थाओ मे, जब प्रधान रूप से युद्ध सचालन के लिए उपयोगी होते हैं, तो इनको 'अवस्थानुसार विनिषिद्ध' घोषित किया जाता है। ओपेनहाइम के मतानुसार इसके लिए दो शर्तें होनी आवश्यक है[१]—(क) इन्हे जहाजो द्वारा शत्रु के देश

१. ओपेनहाइम—इटरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ८०५

को ले जाया जा रहा हो। (ख) इन्हे सैनिक या नौसैनिक प्रयोजनो की पूर्ति के उद्देश्य से ले जाया जा रहा हो। किन्तु इस वर्ग मे किन पदार्थों को सम्मिलित किया जाय, इस विषय मे विधिशास्त्रियो मे बडा मतभेद है। विभिन्न देशो का व्यवहार और आचरण भी इस विषय मे एक जैसा नही है। ऐसी वस्तुओ के मुख्य उदाहरण खाद्य पदार्थ, घोडे, कोयला तथा अन्य ईंधन, धनराशि (Money) और रूई हैं।

(१) खाद्य पदार्थ (Food stuffs)—इनके सम्बन्ध म सामान्य रूप से यह माना जाता है कि साधारण अवस्थाओं में इनके विनिषिद्ध होने की घोषणा नहीं करनी चाहिये। ब्लशली (Bluntschli) और मूर (Moore) का यह मत है कि इनको सापेक्ष रूप से कभी विनिषिद्ध घोषित नही किया जा सकता। किन्तु अधिकाश विधिशास्त्रियो का यह विचार है कि यदि खाद्य पदार्थ स्थल सेना अथवा नौसेना के उपयोग के लिये भेजे जा रहे हो तो इनका विनिषेध किया जा सकता है। ग्रेट ब्रिटेन और जापान इस नियम का अनुसरण करते रहे हैं। जोंगे मारगरेथा (Jonge Margaretha) के मामले मे १७९९ मे ब्रिटिश न्यायालय ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। हालैंड का यह जहाज एमस्टर्डम से ब्रैस्ट नामक बन्दरगाह को पनीर ले जा रहा था। यह बन्दरगाह उन दिनो फ्रास का नौसैनिक अड्डा था। उस समय फ्रास और इगलैंड का युद्ध चल रहा था। ब्रिटिश बेडे ने पनीर की खाद्य सामग्री ले जाने वाले इस तटस्थ जहाज को पकड लिया क्योंकि यह शत्रु की सेनाओं के लिये पनीर ले जा रहा था। इस आधार पर ब्रिटिश न्यायालय ने पनीर को विनिषिद्ध माना। उसका यह कहना था कि यदि यही माल किसी 'सामान्य व्यापारिक बन्दरगाह' को भेजा जाता तो इसका असैनिक उपयोग होने के कारण इसे जब्त नही किया जा सकता था। १८८५ ई० में चीन-फ्रास युद्ध मे फ्रास ने चावल को विनिषिद्ध घोषित किया क्योंकि चीनी जनता के खाद्य पदार्थों मे इसका प्रमुख स्थान था। १९०४ के रूस जापान युद्ध में रूस ने चावल तथा अन्य खाद्य पदार्थों को पूर्ण विनिषिद्ध घोषित किया, ग्रेट ब्रिटेन तथा स० रा० अमरीका ने इसका प्रबल विरोध किया, इस पर इसे सापेक्ष विनिषिद्ध माना गया। Arbida तथा Cachas के मामलो मे रूसी सर्वोच्च अधिग्रहण न्यायालय ने इस अन्तर को स्वीकार किया। लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २४ के अनुसार खाद्य पदार्थ सापेक्ष रूप से विनिषिद्ध हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध छिडने पर स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन मे इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद था। लडाई शुरू होते ही १५ अगस्त १९१४ के परिपत्र (Circular) मे अमरीका ने यह घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो के अनुसार उसे युद्धकारी देशो को अनाज भेजने का अधिकार है, बशर्ते कि यह स्थलसेना या जलसेना के उपयोग के लिये अथवा शत्रु द्वारा अधिकृत या परिवेष्टित बन्दरगाहो को न भेजा जा रहा हो। २६ सितम्बर १९१४ के वक्तव्य मे अमरीकी सरकार द्वारा पुन इस बात पर बल दिया गया कि खाद्य पदार्थ व्यापार की वैध वस्तुये हैं, शत्रुदेश के बन्दरगाह को इन्हे भेजा जाने मात्र से ऐसे माल का पकडना और दण्डित करना न्यायोचित नही माना जा सकता। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन इस विषय में बिल्कुल विभिन्न मत रखता था। वह स० रा० अमरीका की यह मान्यता स्वीकार नहीं करता था कि तटस्थ बन्दरगाहो को अथवा

शत्रु द्वारा अपरिवेष्टित या अनधिकृत बन्दरगाहो को भेजे जाने वाले खाद्य पदार्थ पकडे और जब्त नही किये जा सकते, क्योकि ये अन्ततोगत्वा शत्रु के प्रदेश मे पहुँच सकते थे। १६१५ मे ब्रिटिश सरकार ने नार्वे तथा स्वीडन के कई जहाजो किम (Kim), अलफ्रेड नोबल (Alfred Nobel), ब्योर्नस्तेयर्ने (Bjornstjerne) तथा फ्रिदलैण्ड (Fridland) को खाद्य पदार्थों, रबड और खालें कोपनहेगन ले जाते हुए मार्ग मे पकड लिया। कोपनहेगन यद्यपि तटस्थ बन्दरगाह था, यह माल वहाँ ले जाया जा रहा था, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियो से यह प्रकट होता था कि इस माल के पहुँचाने का अन्तिम लक्ष्य स्थान जर्मनी है। ब्रिटिश न्यायालय ने कोपनहेगन के पिछले कई वर्षों के व्यापारिक आकडे जाँचने के बाद यह परिणाम निकाला कि युद्ध छिडने के पहले के तीन वर्षो मे प्रतिवर्ष डेन्मार्क मे सूअर की चर्बी का जितना आयात होता था, ये जहाज उससे तेरह गुनी चर्बी एक महीने से भी कम समय मे कोपनहेगन ले जा रहे थे। इससे यह स्पष्ट था कि चर्बी डेन्मार्क की सामान्य आवश्यकताओ से बहुत अधिक थी और इसका अन्तिम लक्ष्य स्थान जर्मनी था। अतएव ब्रिटिश सरकार ने इसे जब्त कर लिया।

१३ अप्रैल १६१६ को ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण और सापेक्ष विनिषिद्ध (absolute and conditional contraband) का भेद इस आधार पर बिल्कुल समाप्त कर दिया कि शत्रुदेश के निवासियो की इतनी अधिक सख्या प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे युद्ध के कार्यों मे भाग ले रही है कि अब जर्मनी की सैनिक और असैनिक जनता मे कोई भेद या अन्तर नही रहा, जर्मन सरकार ने सापेक्ष रूप से विनिषिद्ध समझी जाने वाली अन्नादि वस्तुओ का वितरण अपने हाथ मे ले लिया है, खाद्य पदार्थ सेना की आवश्यकतायें पूरी करने के बाद ही असैनिक जनता को दिये जाते है, अत अब इनके सैनिक और असैनिक उपयोग का विचार करना और इस आधार पर इनके विनिषेध को दो वर्गों मे बाँटना बिल्कुल बेकार है। सम्पूर्ण खाद्य सामग्री पूर्णरूप से विनिषिद्ध है। तटस्थ देशो के माध्यम से जर्मनी तक खाद्य पदार्थों की पहुँच बन्द करने के लिये तटस्थ देशो के लिये भी ग्रेट ब्रिटेन ने राशन की व्यवस्था शुरू की। इसमे इन देशो मे शान्तिकाल मे प्रतिवर्ष आयात होने वाली वस्तुओ की औसत मात्रा निकाली गई, युद्धकाल मे भी इनके लिये इसी औसत मात्रा मे वस्तुओ का आयात निश्चित कर दिया गया। इससे अधिक आयात की जाने वाली वस्तुओ के सम्बन्ध मे यह कल्पना की गई कि वे इनकी आन्तरिक आवश्यकतायें पूरी करने के लिये नही हैं उनका चरम लक्ष्य जर्मनी पहुँचना है। ऐसे सभी खाद्य तथा अन्य पदार्थ रास्ते मे ही रोक लिय जाते थे। स० रा० अमरीका ने मित्रराष्ट्रो की ओर से युद्ध मे सम्मिलित होने के बाद तटस्थ देशो के साथ व्यापार के लिये लाइसेन्स लेने का नियम बना दिया यह वस्तुत राशन प्रणाली का दूसरा रूप था।

सितम्बर १६६५ के भारत पाक सघर्ष मे पाकिस्तान ने विनिषिद्ध वस्तुओ की सूची का अत्यधिक विस्तार करते हुए इसमे चाय तथा जूट जैसे पदार्थों को भी सम्मिलित कर दिया था (एशियन रिकार्डर, पृ० १६६५)। इस समय उसने रिवर स्टीम

नेवीगेशन कम्पनी के छोटे जहाजों द्वारा कलकत्ता लाई जाने वाली तथा वहाँ से विदेशों को भेजी जाने वाली चाय को विनिषिद्ध घोषित करते हुए इस जब्त करके बेचने की आज्ञा दी थी (स्टेट्समैन, १० अक्तूबर १९६५, पृ० १)। पाकिस्तान का यह कार्य कई दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने वाला था। पहला कारण यह था कि विदेशों को भेजी जाने वाली चाय विनिषिद्ध वस्तुओं (Contraband) की सूची में नहीं आ सकती थी। दूसरा कारण यह था कि उसे पाकिस्तान को पकड़ने का अधिकार नहीं था, वह युद्ध में 'शत्रुसम्पत्ति' (Enemy Property) को ही पकड़ सकता था। भारत के विरुद्ध उसने युद्ध-घोषणा करके लड़ाई शुरू नहीं की थी, अतः भारतीय माल 'शत्रु की सम्पत्ति नहीं' था।

(२) **भारवाही पशु** (Beasts of Burden) — प्रथम विश्वयुद्ध से पहले मोटर-गाड़ियों और ट्रकों का आविष्कार न होने से सैनिक परिवहन तथा ढुलाई के कार्य भारवाही पशुओं—घोड़ा, खच्चरों द्वारा हुआ करते थे। घुड़सवार सेना तथा तोपखाना के लिए इनका असाधारण महत्त्व था। अतः इन्हें कई बार पूर्णरूप से विनिषिद्ध समझा जाता था। १९०० ई० की सं० रा० अमरीका की नौसैनिक युद्धसंहिता (Naval War Code) के अनुच्छेद ३६ में इसका स्पष्ट विधान है। रूस जापान युद्ध में रूस ने भारवाही पशुओं के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था की थी। लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २२ में भी ऐसा ही माना गया। द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर भारवाही पशुओं का स्थान—मोटरों और ट्रकों ने ले लिया, सितम्बर १९३९ में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा पूर्ण रूप से निषिद्ध वस्तुओं में "परिवहन के सम्पूर्ण साधनों" के रूप में उनका समावेश किया गया था।

(३) **कोयला** (Coal) — रणपोतों का संचालन प्रायः वाष्पशक्ति और पेट्रोल द्वारा होता है, अतः समुद्र में युद्ध करने के लिए इनका ईंधन—कोयला तथा पेट्रोल असाधारण महत्त्व रखते हैं। १८५४ में ग्रेट ब्रिटेन युद्धकारी देशों के रणपोतों तथा नौसैनिक बन्दरगाहों के लिए भेजे जाने वाले कोयले को विनिषिद्ध समझता रहा है। किन्तु १८५९ में फ्रांस और इटली ने इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया। १८८५ में रूस ने यह घोषणा की कि वह इस विनिषिद्ध मानने के लिए कभी अपनी सहमति नहीं देगा, किन्तु १९०४ में उसने कोयले, अल्कोहल आदि प्रत्येक प्रकार के ईंधन को पूर्ण विनिषिद्ध घोषित किया। लन्दन की घोषणा (अनु० २४) में इसे सापेक्ष विनिषिद्ध माना गया। प्रथम विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने पट्रोल आदि तरल ईंधनों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के ईंधनों को ऐसा ही माना। मोटरों, हवाई जहाजों तथा पनडुब्बियों के पेट्रोल द्वारा संचालित होने के कारण इसका पूर्ण विनिषेध किया गया। जर्मनी ने कोयले, कोक तथा खनिज तेलों को पूर्ण रूप से तथा अन्य ईंधनों को सापेक्ष रूप से विनिषिद्ध माना।

(४) **धनराशि** (Money) — इसके सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि इससे शत्रु को युद्ध में कोई सहायता नहीं मिलनी चाहिए। इस प्रकार की सहायता

पहुँचाने वाला सोना-चादी, सिक्के, पत्रमुद्रा और ऋण विनिषिद्ध माने जाते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ मे मित्रराष्ट्रो ने सोना-चादी तथा पत्रमुद्रा को सापेक्ष रूप से विनिषिद्ध घोषित किया था, किन्तु १९१६ मे उन्होंने इन वस्तुओ को पूर्ण विनिषिद्ध बना दिया। जर्मनी ने भी इनका पूर्ण विनिषेध किया।

(५) रूई (Raw Cotton) के विषय मे यह कहा जाता है कि १८६१ मे अमरीकन गृहयुद्ध के समय विशेष परिस्थितियो के कारण स० रा० अमरीका ने इसे पूर्ण विनिषिद्ध घोषित किया, क्योकि दक्षिणी राज्य दूसरे देशो से खरीदे जाने वाले हथियारो, गोलाबारूद और जहाजो का दाम चुकाने के लिये मुद्रा के स्थान मे रूई भेज रहे थे। किन्तु सामान्यत प्रथम विश्वयुद्ध से पहले रूई पूर्णत. विनिषिद्ध वस्तुओ मे सम्मिलित नही की जाती थी। १९०४ मे जब रूस-जापान युद्ध मे रूस ने इसके ऐसा होने की घोषणा की तो ग्रेट ब्रिटेन ने इसका प्रतिवाद किया। लन्दन घोषणा (अनु० २८) के अनुसार यह 'स्वतन्त्र सूची' (Free list) (देखिये ऊपर पृ० ५६२-३) मे रखी गई। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर मित्रराष्ट्रो ने इसे विनिषिद्ध घोषित नही किया। किन्तु जब नये वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण विस्फोटक द्रव्यो के निर्माण मे इसका उपयोग होने लगा तो इसके पूर्ण विनिषिद्ध होने की घोषणा की गई।

लन्दन घोषणा मे दी गई सापेक्ष विनिषिद्ध वस्तुओ की सूची प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्वीकार नही की गई। इसमे विभिन्न आदेशो द्वारा परिवर्तन होते रहे। २ जुलाई १९१७ की घोषणा के अनुसार इसमे ३४ प्रकार की वस्तुएँ थी। दूसरे विश्वयुद्ध के आरम्भ मे ग्रेट ब्रिटेन की सापेक्ष विनिषिद्ध की सूची मे खाद्यान्न, चारा, कपड़ा तथा इनके उत्पादन मे उपयोगी सभी वस्तुओ को सम्मिलित किया गया। जर्मनी ने भी ऐसा किया। उस समय अर्जेण्टाइना, सोवियत रूस तथा कुछ अन्य राज्यो ने खाद्यान्नो को विनिषिद्ध वस्तुओ की सूची मे सम्मिलित करने का विरोध किया। पानामा मे हुए विदेशमन्त्रियो के सम्मेलन ने ३ अक्टूबर १९३९ को अपने 'अन्तिम निर्णय' (Final Act) मे यह कहा कि जो खाद्यान्न और वस्त्र असैनिक जनता के उपयोग के लिये हो, किसी युद्धकारी देश की सरकार के लिये या दूसरी सेनाओ के लिये प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे उपयोग के लिए न जा रहे हो, उसे इस सूची मे शामिल नही करना चाहिए।

विरोधी गम्यस्थान (Hostile Destination)—कोई भी वस्तु केवल उसी दशा मे विनिषिद्ध होती है, जब उसे किसी युद्धकारी पक्ष के युद्ध मे उपयोग करने की दृष्टि से भेजा जा रहा हो। किसी तटस्थ देश को भेजे जाने वाले हथियार या गोला-बारूद विनिषिद्ध नही हो सकते। विनिषिद्ध की मुख्य कसौटी यह है कि यह माल कहाँ और किस के उपयोग के लिये भेजा जा रहा है, इसका गम्यस्थान (Destination) या लक्ष्य क्या है। यदि यह शत्रुदेश के किसी व्यक्ति को या बन्दरगाह को भेजा जा रहा है तो इसे विरोधी गम्यस्थान (Hostile destination) की ओर जाने वाला कहा जाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि यह माल सीधा शत्रुदेश के व्यक्ति को न भेज

कर तटस्थ देश के किसी व्यापारी को इस इरादे से भेजा जाता है कि वह इसे शत्रु को पहुँचा देगा। ऐसा इरादा पता लगने पर तटस्थ देश को जाने वाले माल का भी अन्तिम लक्ष्य विरोधी शत्रुदेश होने के कारण इसे विनिषिद्ध माना जाता है। कई बार जहाज का गम्यस्थान तटस्थ देश होता है, किन्तु उसे रास्ते में शत्रु के बन्दरगाह पर रुकना पड़ता है, इससे शत्रु को माल पहुँच सकता है, अत ऐसे माल को विनिषिद्ध समझा जाता है। १९३९ में हैम्बर्ग के जर्मन अधिग्रहण न्यायालय ने मिन्ना (The Minna) के सम्बन्ध में ऐसे मामले पर विचार किया था। यह एक तटस्थ देश—इस्टोनिया का जहाज था, इसका गम्यस्थान स० रा० अमरीका भी तटस्थ था, किन्तु रास्ते में कप्तान का विचार कोयला लेने के लिये स्काटलैंड के बन्दरगाह पर रुकने का था, इस कारण उस पर लदी लकड़ी की लुगदी (Pulp) को न्यायालय ने विनिषिद्ध घोषित किया।

लन्दन घोषणा (अनु० ३०) के अनुसार पूर्ण विनिषिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में, निम्न अवस्थाओं में विरोधी गम्यस्थान समझा जाता है—माल का शत्रु को अथवा शत्रु की तटस्थ सेनाओं को भेजा जाना। अनुच्छेद ३१ के अनुसार निम्नलिखित अवस्थाओं में यह माना जाना चाहिए कि पूर्ण विनिषिद्ध का विरोधी गम्यस्थान प्रमाणित हो गया है—(क) जब माल शत्रु के किसी बन्दरगाह को या शत्रु की सशस्त्र सेनाओं को भेजा जाय। (ख) जब जहाज को केवल शत्रु के बन्दरगाहों पर जाना हो या तटस्थ देश के बन्दरगाह पर माल ले जाने से पहले रास्ते में शत्रु के बन्दरगाहों पर रुकना हो या शत्रु की सेनाओं से मिलना हो।

विनिषिद्ध सम्बन्धी अपराध के तीन आवश्यक तत्व हैं। लारेन्स के मतानुसार पहला तत्व ऐसी वस्तुओं की ढुलाई या परिवहन है, न कि इनका व्यापार और बिक्री। तटस्थ देशों के व्यापारियों को अपने देश में शत्रुदेश के प्रतिनिधियों को हथियार तथा गोलाबारूद बेचने का पूरा अधिकार है, किन्तु जब वे इस सामग्री का निर्यात किसी युद्धकारी पक्ष को करते हैं, तभी दूसरे पक्ष को शत्रु को भेजे जाने वाले इस माल को पकड़ने का अधिकार है। दूसरा आवश्यक तत्व विरोधी गम्यस्थान (Hostile destination) है। ऊपर इसका वर्णन किया जा चुका है। तीसरा तत्व किसी युद्धकारी पक्ष को यह सामग्री पहुँचाने के उद्देश्य से इसे जहाज पर लादकर यात्रा के लिए प्रादेशिक समुद्र से बाहर निकल जाना है। लार्ड स्टोवैल ने इमिना (Imina) के मामले में कहा था कि वस्तुओं को अपराधावस्था में (in delecto) अर्थात् शत्रु के बन्दरगाह की ओर जाते हुए पकड़ा जाना चाहिए।

विनिषिद्ध की दण्ड व्यवस्था (Penalty for carrying Contraband)—१९०९ की लन्दन घोषणा (अनु० ३९, ४०) के अनुसार यदि मूल्य, भार या परिमाण की दृष्टि से किसी जहाज पर लदे माल में आधे से अधिक विनिषिद्ध वस्तुएँ हों तो ऐसे माल और जहाज दोनों को पकड़ा जा सकता है। इस प्रकार पकड़े गये माल और जहाजों को विचार के लिए अधिग्रहण न्यायालयों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यदि यह माल को विनिषिद्ध ठहराता है तो इसे जब्त कर लिया जाता है। यदि यह

जहाज को निर्दोष समझकर मुक्त करता है तो इसे वे सब व्यय देने पड़ते हैं, जो इस अभियोग के चलाने में तथा अभियोग के समय में इसे अपने संरक्षण (Custody) में रखने में किये गये हों। विनिषिद्ध वस्तुओं के स्वामी का यदि इस जहाज पर, विनिषिद्ध में न आने वाला कुछ अन्य माल लदा हुआ है तो उसे भी जब्त कर लिया जाता है। किन्तु इस पर लदा हुआ अन्य व्यक्तियों का माल उन्हें वापिस लौटा दिया जाता है। यदि जहाज पर लदे माल में आधे से कम माल विनिषिद्ध हो तो इसे जब्त करने के बाद जहाज इसके स्वामी को लौटा दिया जाता है। The Neurtralitet के मामले में सर विलियम स्काट ने यह निर्णय दिया था कि 'राष्ट्रों के कानून' के वर्तमान नियम के अनुसार जहाजों को विनिषिद्ध पदार्थों का परिवहन करने के लिये दण्डित नहीं किया जा सकता। किन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं। यदि कोई जहाज विनिषिद्ध सामग्री के मालिक का है, झूठे कागजों के साथ झूठे गम्यस्थान पर जाता है तो इस जहाज को भी जब्त किया जा सकता है।

परिवेष्टन और विनिषिद्ध (Blockade and Contraband)—इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध और सूक्ष्म अन्तर है। पिछले अध्याय में पहले यह बताया जा चुका है कि परिवेष्टन का उद्देश्य शत्रु के समुद्रतट तथा बन्दरगाहों का रणपोतों द्वारा ऐसा घेरा डालना है कि दूसरे देशों के साथ उनका व्यापारिक सम्पर्क पूर्णरूप से विच्छिन्न हो जाय, इसका लक्ष्य न केवल शत्रुदेश में आयात होने वाली वस्तुओं का प्रवेश बन्द करना है, अपितु यहाँ से दूसरे देशों को निर्यात होने वाली वस्तुओं के निर्गमन को भी रोकना है। विनिषिद्ध के आवश्यक तत्व वस्तुओं का स्वरूप तथा विरोधी गम्यस्थान (Enemy destination) है। इसका उद्देश्य युद्ध में सहायता देने वाली तथा शत्रु के देश को जाने वाली सामग्री को पकड़ना तथा छीन लेना है। इन दोनों में तीन महत्वपूर्ण भेद हैं।

पहला भेद यह है कि परिवेष्टन में इसके मार्ग पर सभी व्यापारिक जहाजों को पकड़ा जा सकता है, भले ही उन पर विनिषिद्ध वस्तुयें लदी हों या न लदी हों। विनिषिद्ध में केवल उन्हीं जहाजों का निग्रह हो सकता है जो ऊपर बताई गई विनिषिद्ध सामग्री का वहन कर रहे हों।

दूसरा भेद यह है कि दोनों के स्वरूप में मौलिक अन्तर है। परिवेष्टन में शत्रु के समुद्रतट और बन्दरगाहों तक पहुँचाने के सब मार्ग इस दृष्टि से बन्द कर दिये जाते हैं कि अन्य देशों के साथ उनका कोई सम्पर्क न रहे, किन्तु विनिषिद्ध में शत्रु को युद्ध में सहायता पहुँचाने वाला माल पकड़ लिया जाता है।

तीसरा भेद यह है कि परिवेष्टन प्रादेशिक दृष्टि से सीमित होता है, इसमें शत्रु के किसी विशेष समुद्रतट या बन्दरगाह पर घेरा डाला जाता है, अतः यह भौगोलिक प्रदेश की दृष्टि से मर्यादित होता है, किन्तु विनिषिद्ध पदार्थों या वस्तुओं की दृष्टि से सीमित होता है, इसमें रणसामग्री आदि कुछ निश्चित वस्तुओं का शत्रु तक पहुँचाना वर्जित होता है, अन्य वस्तुओं का शत्रु तक पहुँचाना निषिद्ध नहीं है। परिवेष्टन में शत्रु को सब प्रकार की वस्तुएँ भेजना वर्जित होता है।

प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्धों ने इन दोनों का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण कर दिया है कि अब इनमें कोई अन्तर नहीं रहा और ये लगभग निरर्थक हो गये हैं। आजकल युद्धों का रूप इतना व्यापक और विशाल हो गया है कि लगभग प्रत्येक वस्तु युद्धोपयोगी बन गई है। 'समग्र युद्ध' (Total war) के विचार ने लड़ाई की परिस्थितियों को बिल्कुल बदल दिया है। रबड़, पट्रोल आदि युद्धोपयोगी वस्तुओं में आत्मनिर्भरता (Ersatz) प्राप्त करने के लिए इन्हें कृत्रिम रूप में बनाया जाने लगा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची बहुत विस्तृत और व्यापक हो गई है और यह परिवेष्टन का कार्य करने लगी है। स्मिथ ने लिखा है—"विनिषिद्ध का कानून परिवेष्टन का प्रयोजन पूरा करने लगा है, पहले परिवेष्टन की बड़ी सकीर्ण भौगोलिक सीमायें होती थीं, वर्तमान परिस्थितियों ने इसका अन्त कर दिया है। दो विश्वयुद्धों में दोनों पक्षों की ओर से जो कुछ किया गया है, उसका अर्थ केवल यही है कि शत्रु की आवश्यकतायें पूरी करने वाली समस्त व्यापारिक वस्तुओं को नष्ट करने का अधिकार दूसरे पक्ष को है, भले ही इन वस्तुओं का परिवहन तटस्थ देश का झण्डा फहराने वाला जहाज कर रहा हो और वह मार्ग किसी भी देश में गुजर रहा हो।"[6] इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि परिवेष्टन का क्षेत्र शत्रु के विशेष समुद्रतट या बन्दरगाहों तक सीमित न रहकर, समुद्रों का सम्पूर्ण प्रदेश हो गया है। इस दृष्टि से परिवेष्टन का कानून विनिषिद्ध के कानून में सम्मिलित हो गया है। इसी तरह विनिषिद्ध के कानून की उपेक्षा करते हुए सभी जहाजों को पकड़ा जाने लगा है, भले ही उनमें विनिषिद्ध माल न लदा हुआ हो। समग्र युद्ध' की वर्तमान परिस्थिति में इन दोनों के अन्तर या भेद को बनाए रखना सम्भव नहीं रहा।

फेनविक ने लिखा है कि परिवेष्टन के कानून की भाँति विनिषिद्ध के कानून का अधिकांश भाग पहले विश्वयुद्ध में समाप्त हो गया था उसका जो अंश शेष रहा था, उसकी समाप्ति दूसरे विश्वयुद्ध में हो गई।[7] स० रा० अमरीका ने दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ होने से पहले ही यह प्रकट कर दिया कि उसने प्रथम विश्वयुद्ध में तटस्थ देशों के जिन अधिकारों की रक्षा के लिए बड़ा आग्रह किया था, अगले विश्वयुद्ध में वह उनकी सुरक्षा पर बल नहीं देगा, क्योंकि ऐसा करने का परिणाम युद्ध में सम्मिलित होना था। अमरीकी कांग्रेस ने कुछ व्यक्तियों के व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए 'महासमुद्रों की स्वतन्त्रता' के परित्याग का निश्चय किया, वह यह नहीं चाहती थी कि इनके स्वार्थों पर आंच आने के कारण स० अमरीका को युद्ध में पड़ने के लिए विवश करें। अत: १९३९ में जब ग्रेट ब्रिटेन और धुरी राष्ट्रों ने विनिषिद्ध पदार्थों की विस्तृत सूचियाँ प्रकाशित की तो स० रा० अमरीका ने इसका कोई प्रतिवाद नहीं किया।

अविच्छिन्न समुद्री यात्रा का सिद्धान्त (The Doctrine of Continuous Voyage)—तटस्थ देशों के जहाज विनिषिद्ध वस्तुओं का वहन करते हुए पकड़े जाने

---

६. एच० ए० स्मिथ—दी क्राइसिस इन दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० ४६

७ फेनविक--इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६४१

से बचने के लिए छलपूर्ण रीति से काम लेते हैं, वे अपनी यात्रा को दो हिस्सो मे बाँट लेते है या विच्छिन्न कर लेते हैं, ऊपर से दिखावे के तौर पर उनका गम्यस्थान शत्रु का समीपवर्ती कोई तटस्थ बन्दरगाह होता है, उनके कागजो मे यही दर्ज होता है। यहाँ पहुँचकर वे अपना माल उतार देते है, इसका तटकर भी दे देते हैं और फिर यहाँ से इस माल को जहाज पर पुन लादकर अपने असली गम्यस्थान-शत्रु के बन्दरगाह की ओर प्रयाण करते हैं। इसी प्रकार परिवेष्टन भग करने के लिए भी इसी कपटपूर्ण रीति का अवलम्बन किया जाता है। परिवेष्टित समुद्रतट के निकट किसी बन्दरगाह तक माल पहुँचाकर, वहाँ से उसे किसी अन्य छोटी नौका या जहाज द्वारा शत्रु को पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है। स० रा० अमरीका के गृहयुद्ध के समय दक्षिणी राज्यो को माल पहुँचाने के लिए इस उपाय का अवलम्बन किया जाता था। उस समय यह माल पहले लन्दन, लिवरपूल आदि ब्रिटिश बन्दरगाहो से दक्षिणी राज्यो के समीपस्थ वैस्ट इडीज के नासो आदि बन्दरगाहो मे ले जाया जाता था, यहाँ से दुबारा इन्ही जहाजो मे अथवा दूसरी नौकाओ पर लादकर दक्षिणी राज्यों को पहुँचाया जाता था।

तटस्थ देशो द्वारा इस प्रकार अपनी समुद्री यात्रा को दो भागो मे विभक्त करके शत्रु को प्रच्छन्न रीति से माल पहुँचाना बन्द करने की दृष्टि से **'अविच्छिन्न समुद्री यात्रा के सिद्धान्त'** का विकास हुआ है। इसके अनुसार इस प्रकार परोक्ष रीति से माल पहुँचाने की दृष्टि से दो हिस्सो मे बाँट कर की गई समुद्री यात्रा एक ही अविच्छिन्न यात्रा (Continuous Voyage) मानी जाती है। स्टार्क ने इसका लक्षण करते हुए कहा है "यह ऐसा साहसिक कार्य है, जिसमे माल का परिवहन पहले तो एक तटस्थ बन्दरगाह तक और पुन वहाँ से किसी दूरवर्ती तथा विरोधी गम्यस्थान तक किया जाता है। इस सिद्धान्त मे इन दोनो को शत्रु के गम्यस्थान तक एक ही परिवहन समझा जाता है और इसको वे सब परिणाम भोगने पडते हैं, जो तटस्थ बन्दरगाह बीच मे न पडने पर भोगने पडते।"[८] सरल शब्दो मे इसका यह अभिप्राय है कि तटस्थ-बन्दरगाह की ओर जाते हुए भी इसके बारे मे यह कल्पना की जाती है कि यह शत्रु के बन्दरगाह की ओर जा रहा है और यदि इस पर कोई विनिषिद्ध पदार्थ लदे होते हैं तो जहाज और माल वैसे ही पकड लिया जाता है, जैसे शत्रु को विनिषिद्ध माल पहुँचाने वाले पोत का निग्रह किया जाता है। यदि एक ही जहाज तटस्थ बन्दरगाह मे यात्रा भग करके यह माल शत्रु को पहुँचाये तो इस यात्रा को एक ही मानते हुए इसे **'अविच्छिन्न यात्रा'** (Continuous Voyage) का सिद्धान्त कहते है, और यदि यह माल तटस्थ बन्दरगाह पर उतारकर अन्य नौकाओ या जहाजो द्वारा शत्रु को पहुँचाया जाय तो इसे **अविच्छिन्न परिवहन** (Continuous Transport) का सिद्धान्त कहते है। आपेनहाइम के मतानुसार[९] इस सिद्धान्त का प्रादुर्भाव १८वी शती के अन्त मे होने वाले एग्लो-फ्रेंच युद्धो से हुआ है और

---

८. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इटरनेशनल लॉ, पृ० ३११

९. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २

यह **१७५६ के नियम** (Rule of 1756) को लागू करने का परिणाम था। आगे (पृ० ५७५ पर) इसका वर्णन किया जा जायगा। इस नियम का यह अभिप्राय था कि उपनिवेशो के साथ व्यापार का एकमात्र अधिकार उन पर अधिकार रखने वाले राज्यो को है। फ्रास ने सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६–६३) मे हालैण्ड और स्पेन को भी अपने उपनिवेशो के साथ व्यापार की अनुमति दी, क्योकि उसका अपना समुद्री बेडा निर्बल था। ब्रिटिश रणपोतो ने ऐसे जहाजो को शत्रु घोषित करते हुए पकडना शुरु किया। इससे बचने के लिए ये जहाज पहले अपना माल तटस्थ देश के बन्दरगाह मे ले जाने लगे और वहाँ से इसे पुन लादकर अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने लगे। **विलियम** (The William 1805) नामक जहाज के मामले मे यह सिद्ध हुआ कि इस तटस्थ जहाज ने स्पेनिश बन्दरगाह ला गुइरा (La Guira) से उस समय तटस्थ स० रा० अमरीका के मैसाचुसेट्स राज्य के एक बन्दरगाह के लिए माल लादा, वहाँ माल उतारने और चुंगी देने के बाद इस माल को अन्य माल के साथ पुन लादा गया और यह जहाज स्पेन के बन्दरगाह बिल्बओ की ओर रवाना हुआ। ऐसे सभी उदाहरणों मे ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय औपनिवेशिक बन्दरगाह से तटस्थ बन्दरगाह तक और यहाँ से शत्रु के बन्दरगाह तक एक ही अविच्छिन्न या अविरत यात्रा मानते थे और ऐसे जहाजो पर लदे माल को जब्त करने की आज्ञा देते थे। लार्ड स्टोवैल ने **'मेरिया'** (The Maria) नामक जहाज के मामले मे इस सिद्धान्त का सुन्दर प्रतिपादन करते हुए कहा था—"यह स्वाभाविक रूप से निश्चित सिद्धान्त है कि यदि कोई जहाज केवल किसी बन्दरगाह पर कुछ समय के लिए रुकता है और उस देश के सामान्य माल मे अपने माल के आयात द्वारा वृद्धि नही करता तो इससे उसकी समुद्री यात्रा मे कोई अन्तर नही आयगा, सभी दृष्टियो मे इसे उस देश की अन्तिम बन्दरगाह तक की अविच्छिन्न यात्रा करने वाला समझा जाना चाहिए, जहाँ वह अपना माल पहुँचाने के प्रयोजन से जा रहा है।"

अमरीकन गृहयुद्ध मे अनेक मामलो मे स० रा० अमरीका के अधिग्रहण न्यायालय ने इस छलपूर्ण रीति से दक्षिणी राज्यो को सहायता पहुँचाने वाले जहाजो को दण्ड दिया तथा इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। १८६५ मे **बरमूडा** (The Bermuda) नामक जहाज इगलैण्ड से नासौ (वैस्ट इडीज) की यात्रा करते हुए पकडा गया। इस मामले मे न्यायालय ने कहा—"जहाज के विद्रोही बन्दरगाह तक पहुँचने का गम्यस्थान प्रत्यक्ष (Direct) एव परोक्ष (Ulterior) दोनो प्रकार का हो सकता है, किन्तु इससे इस विषय मे कोई अन्तर नही पडता। गम्यस्थान के प्रश्न पर इस बात का भी कोई प्रभाव नही पडता कि इस माल को नासौ मे उतारा जा रहा है, बशर्ते कि वहाँ से इसे पुन लादा जाना हो। यह इस माल के परिवहन की अविच्छिन्नता (Continuity of Transport) को भग नही कर सकता। **तटस्थ देश से रवानगी और युद्धकारी देश के गम्यस्थान के बीच मे एक तटस्थ बन्दरगाह को डालना विनिषिद्ध सामग्री ले जाने वालो तथा परिवेष्टन तोडने वालों का प्रिय उपाय रहा है।** किन्तु जब उनके अन्तिम गम्यस्थान का निश्चय हो जाय तो इससे उन्हे कोई लाभ नही मिल सकता। एक स्थान से दूसरे स्थान तक की ढुलाई तब तक अविच्छिन्न या अविरत बनी रहती है, जब तक

इसे एक निश्चित स्थान तक ले जाने का इरादा अपरिमित रूप से बना रहता है, भले ही इसे ले जाने वाला जहाज रास्ते मे कई स्थानो पर रुके और अपना माल उतारे।" १८६६ मे अमरीकी गृहयुद्ध के समय पीटरहाफ (Peterhoff) नामक ब्रिटिश जहाज तटस्थ देश मेक्सिको के बन्दरगाह मेटामोरोस (Metamoros) की यात्रा कर रहा था। यह बन्दरगाह दक्षिणी राज्यों की सीमा के बिल्कुल साथ लगा हुआ था, रियो ग्रान्दे नदी पर इसके बिल्कुल सामने टैक्सास राज्य का ब्रौन्सविले नामक नगर था। इस पर युद्धोपयोगी सामान लदा हुआ था। तटस्थ बन्दरगाह को जाते हुए भी इस जहाज को पकड लिया गया और इसका युद्धोपयोगी सामान जब्त कर लिया गया। इस विषय का एक अन्य सुप्रसिद्ध उदाहरण स्प्रिंगबोक (Springbok) है। यह ब्रिटिश जहाज १८६६ मे बहामा टापुओ मे नासौ के तटस्थ बन्दरगाह को सामान ले जाता हुआ पकडा गया। स० रा० अमरीका के अभिग्रहण न्यायालय ने इसे इस आधार पर दण्डित किया कि इसमे लादे हुए माल से यह प्रतीत होता है कि इस माल का अन्तिम लक्ष्य कोई परिवेष्टित (Blockaded) बन्दरगाह था। "उनका कहना था, हमे इसमे कोई सन्देह नही कि परिवेष्टन तोडने के इरादे से ही इस जहाज पर माल लादा गया था। इस माल के मालिको का यह इरादा था कि नासौ मे इसे उतारकर ऐसे छोटे जहाज मे लाद दिया जाय, जो इस बडे जहाज की अपेक्षा अधिक सुरक्षा के साथ माल को परिवेष्टित बन्दरगाह मे पहुँचा सके। अत कानून और पार्टियो के इरादे की दृष्टि से लन्दन से परिवेष्टित बन्दरगाह तक की यात्रा एक ही है और यदि यह अपनी यात्रा आरम्भ करने के बाद इसके किसी हिस्से मे पकडा जाता है तो इसे दण्डित किया जा सकता है।"

इस निर्णय की तटस्थ देशों द्वारा इस आधार पर कटु आलोचना की गई कि इससे तटस्थ देशो के अधिकारो का अपहरण होता है, परिवेष्टन का प्रभाव तटस्थ देशो के बन्दरगाहो पर पडता है, इससे न केवल शत्रु के, किन्तु तटस्थ देशो के बन्दरगाह भी परिवेष्टित हो जाते है। 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्था' की एक समिति ने इस निर्णय को 'तटस्थ देशो के अधिकारो पर गम्भीर आक्रमण' बताया। किन्तु 'ऐसे आक्रमण' जारी रहे। बोअर युद्ध के समय १६०० मे ब्रिटिश क्रूजरो ने पुर्तगाल के डेलगओ खाडी के तटस्थ बन्दरगाहो को जाते हुए तीन जर्मन जहाज Bundesrath, Herzog तथा General इस आधार पर पकड लिये कि ये बोअरो के लिए विनिषिद्ध सामग्री ले जा रहे है। जर्मनी ने इसका विरोध करते हुए कहा कि ये जहाज एक तटस्थ बन्दरगाह से दूसरे तटस्थ बन्दरगाह को जा रहे है, अत इन्हे नही पकडा जा सकता। ब्रिटिश सरकार का यह दावा था कि ऐसा होते हुए भी इन पर ऐसी युद्धसामग्री लदी हुई थी, जिसका अन्तिम लक्ष्य उसके शत्रुप्रदेश मे पहुँचना था, अत उसका कार्य सर्वथा न्यायोचित था।

अविच्छिन्न यात्रा का सिद्धान्त फ्रास ने क्रीमिया के युद्ध मे, स० रा० अमरीका ने अपने गृहयुद्ध मे तथा ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिणी अफ्रीका के बोअर युद्ध मे स्वीकार एव लागू किया, किन्तु योरोप के अन्य देश इसे स्वीकार नही करना चाहते थे। लन्दन सम्मेलन मे इस विषय मे दोनो पक्षो म तीव्र मतभेद था। अन्त मे लन्दन घोषणा में इस विषय मे यह समझौता किया गया कि पूर्ण विनिषिद्ध (Absolute contraband) के

परिवहन के बारे मे अविच्छिन्न यात्रा का सिद्धान्त पूरी तरह लागू किया जाय, किन्तु सापेक्ष विनिषिद्ध सामग्री के परिवहन के सम्बन्ध में इसे कुछ अपवादों को छोड़कर बिल्कुल लागू न किया जाय। इस घोषणा म यह भी कहा गया कि जहाज या माल का अन्तिम लक्ष्य या गम्यस्थान भले ही कुछ हो, किन्तु यदि वह किसी अपरिवेष्टित (Nonblockaded) बन्दरगाह की यात्रा कर रहा है, तो उसे नहीं पकडा जा सकता। इस घोषणा का राज्यों ने अनुसमर्थन (Ratification) नही किया और दोनों विश्वयुद्धो में इस नियम की अवहेलना होती रही। निम्न उदाहरण से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा।

प्रथम विश्वयुद्ध छिडने पर नवम्बर १९१४ मे ग्रेट ब्रिटेन ने न्यूयार्क से कोपेनहेगन जाते हुए नार्वे तथा स्वीडन के किम (Kim) तथा कुछ अन्य जहाजों को पकड लिया (देखिये ऊपर पृ० ५६६)। किम पर खाले और रबड लदा हुआ था। सर सेमुअल इवान्स ने किम के मामले में निर्णय देते हुए कहा था – 'समुद्री एवं स्थलीय मार्ग द्वारा ढुलाई के विषय म अविच्छिन्न यात्रा या परिवहन का सिद्धान्त वर्तमान युद्ध आरम्भ होते ही राष्ट्रों के कानून का अग बन चुका है, यह स्वीकार किये जाने वाले कानूनी निर्णयों के सिद्धान्तों के अनुकूल है। आधुनिक विधिशास्त्रियों में अधिकांश विद्वान इससे सहमत है तथा यह आधुनिक समुद्री युद्ध मे राज्यों द्वारा पालन किये जाने वाले आचरण के अनुरूप है।" इस मामले मे इस सिद्धान्त का प्रबल प्रतिपादन करते हुए यह नियम जल एवं स्थल दोनों भागो द्वारा शत्रु को पहुँचायी जाने वाली विनिषिद्ध सामग्री के बारे में लागू किया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध मे ग्रेट ब्रिटेन ने अनेक सरकारी आदेशों द्वारा अविच्छिन्न समुद्री यात्रा के सिद्धान्त को मान्यता दी। ७ जुलाई १९१६ के 'समुद्री अधिकार सपरिषद् आदेश' (Martime Rights Order-in-Council) म लन्दन घोषणा की उपयुक्त व्यवस्था (पृ० ५७४) का परित्याग करते हुए बडे सरल और स्पष्ट शब्दों म यह कहा गया था —' अविच्छिन्न समुद्री यात्रा अथवा अन्तिम गम्यस्थान (Ultimate destination) का सिद्धान्त विनिषिद्ध तथा परिवेष्टन के दोनों मामलों में क्रियान्वित किया जायगा।" १९१७ मे बाल्टो (Balto) के मामले मे यह कच्ची खाला के बारे म भी लागू किया गया। स्वीडन का बाल्टो जहाज बोस्टन से गोथनबर्ग खाले ले जा रहा था। स्वीडन उस समय तटस्थ देश था, फिर भी ब्रिटिश रणपोतों ने उसे पकड लिया। खालों के स्वामी का यह कहना था कि इस पर अविच्छिन्न यात्रा का सिद्धान्त नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह माल एक तटस्थ देश से दूसरे तटस्थ देश को भेजा जा रहा है और यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इसका चरम लक्ष्य जर्मनी है। ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि ये खाले बूट बनाने के लिए ले जायी जा रही है, ये बूट जर्मनी की सेनाओं के लिये भेजे जायेंगे। इस आधार पर उसने बाल्टो का माल जब्त कर लिया।

१७५६ के युद्ध का नियम (Rule of the War of 1756) – इसका अविच्छिन्न यात्रा के सिद्धान्त मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहा जाता है कि इस सिद्धान्त की उत्पत्ति इस नियम से हुई है। इगलैण्ड और फ्रान्स के सप्तवर्षीय (१७५६–६३) युद्ध म ग्रेट ब्रिटेन के

समुद्री बेड़े की प्रबलता के कारण फ्रांस के लिये अपने उपनिवेशों के साथ फ्रेंच पोतो द्वारा व्यापार करना सम्भव न रहा। उसने हालैण्ड को यह व्यापार करने का अधिकार दिया। ग्रेट ब्रिटेन को यह सह्य नहीं था। उसने डच जहाजों को उन पर लदे माल के साथ पकड़ना शुरू किया। इन परिस्थितियों में इस नियम का प्रादुर्भाव हुआ। इस नियम के अनुसार शान्तिकाल में उपनिवेश तथा उसके संस्थापक मातृदेश (Mother Country) में व्यापार का एकमात्र अधिकार मातृदेश के जहाजों को होता है, अतः युद्ध के समय कोई तटस्थ देश किसी मातृदेश और उसके उपनिवेशों के बीच कोई व्यापारिक परिवहन नहीं कर सकता। १७९९ में लार्ड स्टोवैल ने इम्मेनुएल (Immanuel) के मामले में इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहा था—"जब तटस्थ देशों को शान्तिकाल में किसी तटीय या औपनिवेशिक व्यापार में भाग लेना वर्जित हो तो युद्धकाल में ऐसा व्यापार करने वाले तटस्थ पोत शत्रु के व्यापारिक जलपोतों में सम्मिलित समझे जायेंगे।" स० रा० अमरीका तथा जापान ने बाद में १७५६ के नियम को स्वीकार किया। १९०९ की लन्दन घोषणा ने इस विषय में कोई विचार नहीं प्रकट किया।

निरीक्षण और तलाशी का अधिकार (The Right of Visit and Search)— तटस्थ जहाजों द्वारा परिवेष्टन तथा विनिषिद्ध के नियमों का भंग रोकने के लिये युद्धकारी राष्ट्रों को यह अधिकार दिया जाना आवश्यक है कि महासमुद्रों में वे इनका निरीक्षण कर सकें और इनकी तलाशी ले सकें। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में युद्धकारी देशों का ऐसा अधिकार स्वीकार किया जाता है, यही उनका निरीक्षण और तलाशी का अधिकार (Right of visit and search) है। ओपेनहाइम ने इसका लक्षण करते हुए लिखा है[10] कि यह तटस्थ व्यापारिक जहाजों का इस उद्देश्य से निरीक्षण का तथा आवश्यकता पड़ने पर तलाशी लेने का अधिकार है कि ये जहाज वस्तुतः तटस्थ देशों के व्यापारिक पोत हैं ये परिवेष्टन तोड़ने का, विनिषिद्ध सामग्री ले जाने का या अतटस्थ सेवा (२८वाँ अध्याय) का कार्य नहीं कर रहे। इसके अस्तित्व का कारण इतना स्पष्ट है कि चिरकाल से, सार्वभौम रूप, से व्यवहार में इसे स्वीकार किया जा रहा है। युद्धकारियों (Belligerents) के पास केवल मात्र यही एक ऐसा साधन है, जिससे वे यह जानने में समर्थ हो सकते है कि क्या तटस्थ व्यापारिक पोत शत्रु को सहायता पहुँचाने का या उसकी अतटस्थ सेवा करने का इरादा रखते हैं।" बिन्करशोयेक के कथनानुसार—"यह सर्वथा वैध है कि एक तटस्थ जहाज को रोककर यह निश्चय किया जाय कि वह केवल अपनी ध्वजा के कारण ही तटस्थ नहीं है, क्योंकि इसे कपटपूर्ण रीति से लगाया जा सकता है। किन्तु जहाज पर विद्यमान लेखपत्रों (Documents) के आधार पर भी वह वस्तुतः तटस्थ है।"

यह अधिकार युध्यमान देशों के रणपोतों (Warships) को ही होता है। वे इसका प्रयोग युद्ध छिड़ने के बाद और इसकी समाप्ति से पूर्व ही कर सकते हैं। युद्ध बन्द हो जाने के बाद या शान्तिकाल में उन्हें ऐसा कोई अधिकार नहीं रहता। इस

---

१०. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, ख० २, पृ० ८४८

अधिकार का प्रयोग युध्यमान देशो के प्रादेशिक समुद्रो मे अथवा महासमुद्र (Open sea) मे ही हो सकता है। तटस्थ देशो ने प्रादेशिक समुद्र मे निरीक्षण या तलाशी का कार्य नही हो सकता। इस अधिकार का प्रयोग केवल व्यापारिक और वैयक्तिक (Private) जहाजो पर होता है, तटस्थ देशो के सार्वजनिक (Public) तथा रणपोतो (Men of war) का निरीक्षण और तलाशी नही ली जा सकती। डाक ले जाने वाले जहाजो के विषय मे कानूनी स्थिति स्पष्ट नही है। यदि इनके नायक का कप्तान नौसेना के अधिकारी होते है तो इन्हे रणपोत समझकर इस अधिकार के प्रयोग से मुक्त कर दिया जाता है।

निरीक्षण की प्रक्रिया (The Procedure of Visit)—इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ निश्चित नियम नही है। प्राय इस सम्बन्ध मे **१६५६ की पिरेनीज की शान्ति-सधि** के अनुच्छेद १७ को आदर्श समझा जाता है। इसी के आधार पर अनेक समुद्री राज्य अपने रणपोतो को निर्देश देते है। अत इस सम्बन्ध मे बहुत अशो मे लगभग एक जैसी प्रक्रिया और औपचारिक विधियाँ सब देशो मे पायी जाती हैं। जब युद्धकारी देश का कोई रणपोत तटस्थ व्यापारिक पोत का निरीक्षण करना चाहता है तो वह पहले उसे रोकता है। रोकने से पहले भले ही उसने झूठा झण्डा लगा रखा हो किन्तु इसे रोकते समय उसे अपने देश का सच्चा झण्डा लगा लेना चाहिए। रोकने का आदेश एक-दो खाली कारतूस छोडकर दिया जाता है, इस पर भी यदि वह न रुके तो रणपोत को इसे रुकवाने के लिए आवश्यक बल प्रयोग का अधिकार है। इसके रुक जाने पर रणपोत से एक या दो अधिकारी नौका द्वारा व्यापारिक पोत पर इसके निरीक्षण के लिये भेजे जाते है। ये जहाज की राष्ट्रीयता तथा उसके माल और सवारियो के स्वरूप के निश्चय करने का तथा उस जहाज के आने-जाने के तथा रुकने के बन्दरगाहो का पता लगाने के लिये उसके कागजो की जाँच करते है। बहुधा इस प्रकार के निरीक्षण के लिये व्यापारिक पोत के कप्तान को उसके जहाज के सब कागजो के साथ रणपोत पर बुला लिया जाता है। जहाज के मुख्य कागज ये है उसकी रजिस्ट्री या प्रमाणपत्र, उस पर काम करने वाले अधिकारियों तथा अन्य व्यक्तियो की दैनिक उपस्थिति की नामावलि (Muster roll), सरकारी दैनिक नौविवरण पंजिका (Logbook), माल का विवरणपत्र, माल के वहनपत्र (Bills of lading), यदि किसी व्यक्ति ने जहाज किराये (Charter) पर लिया हो तो उसका प्रमाणपत्र। यदि इन सब पत्रो के निरीक्षण के बाद सब बाते सही पायी जाती है, किसी कपट-व्यवहार का सदेह नही होता तो जहाज को आगे बढने दिया जाता है और उसकी विवरण पंजिका मे निरीक्षण की बात अकित कर दी जाती है। किन्तु यदि जहाज के कागजो के निरीक्षण से इस बात का सदेह हो कि वह विनिषिद्ध सामग्री ले जा रहा है तो उसे रोककर उसकी तलाशी ली जाती है।

तलाशी (Search)—यह समुद्र मे रणपोत के एक या दो अधिकारियो द्वारा व्यापारिक पोत के कप्तान की उपस्थिति मे ली जाती है। इसे लेते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि इससे जहाज को या माल को कोई हानि न पहुँचे। इसम

बल का प्रयोग नही होना चाहिये, कोई ताला जबर्दस्ती या तोडकर नहीं खोला जाना चाहिये। व्यापारिक पोत के कप्तान का यह कर्त्तव्य है कि वह सब ताले खुलवाये, किन्तु उसे ताले खुलवाने के लिये बाधित नही किया जा सकता। यदि वह ताले नही खुलवाता तो यह जहाज को तथा उसके माल को पकडने का पर्याप्त कारण समझा जाता है। तलाशी लेने के बाद यदि कोई आपत्तिजनक वस्तु नही मिलती तो उसकी विवरण पंजिका म यह बात अंकित करके उसे आगे बढने दिया जाता है। किन्तु यदि इस पर विनिषिद्ध सामग्री लदे होने का प्रमाण मिल जाता है तो इसे पकडकर अधिग्रहण न्यायालय के समक्ष उपस्थित किया जाता है। यदि इस पर विनिषिद्ध सामग्री लदे होने का सदेह होता है तो इसके निराकरण के लिये तथा पूरी तलाशी के लिये इसे रणपोत किसी बन्दरगाह मे ले जाता है। किन्तु रणपोत के नायक को ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि अन्त मे अधिग्रहण न्यायालय द्वारा यह जहाज निर्दोष घोषित किया गया तो उसे इस प्रकार रोकने से हुई क्षति का पूरा मुआवजा देना पडेगा। अत समुद्र म तलाशी लेने के बाद जब सदेह करने के प्रबल कारण और आधार विद्यमान हो, तभी व्यापारिक पोत को पकडना उचित है।

तलाशी के लिये जहाजो को बन्दरगाहो मे लाना—पहले तटस्थ देश के व्यापार म अनावश्यक हस्तक्षेप को रोकने की दृष्टि से निरीक्षण और तलाशी के अधिकार पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। प्रथम एव द्वितीय विश्वयुद्धो मे 'समग्र युद्ध' (Total War) की आवश्यकताओं के आधार पर युद्धकारी पक्षो ने इन प्रतिबन्धो की घोर उपेक्षा और अवहेलना की। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले यह नियम था कि निरीक्षण और तलाशी के बाद ही तटस्थ जहाज पकडा जाय, तलाशी महासमुद्र मे ही ली जाय। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध मे ग्रेट ब्रिटेन ने तटस्थ पोतो को सदेह के कोई प्रमाण न होने पर भी पकडकर पूरी तलाशी लेने के लिये अपने बन्दरगाहो मे भेजना आरम्भ किया। स० रा० अमरीका इस समय तक युद्ध मे तटस्थ था। उसने महासमुद्र मे तलाशी लिये बिना अपने जहाजो को पकडकर बन्दरगाहो मे भेजने का प्रबल प्रतिवाद किया। ब्रिटिश सरकार ने अपनी कार्यवाही के समर्थन म तीन मुख्य युक्तियाँ उपस्थित की—(क) वर्तमान भारवाही जहाजो का आकार और परिमाण बहुत बढ गया है, इनमे विनिषिद्ध सामग्री को छिपाकर ले जाने की अधिक सभावनाये है। इनकी तलाशी बडी जटिल, कठिन और बहुत समय लेने वाली प्रक्रिया है। अत यह कार्य खुले समुद्र मे नही किया जा सकता। (ख) पनडुब्बियो के विकास के कारण समुद्र मे रणपोतो द्वारा तलाशी लेना बडा सकटपूर्ण हो गया है। (ग) अमरीकन गृह-युद्ध मे, रूस-जापान युद्ध मे तथा दूसरे बाल्कान युद्ध मे तटस्थ जहाजो को बन्दरगाहो मे ले जाकर तलाशी ली जाती रही है। तटस्थ जहाजो को इस प्रकार होने वाली असुविधाओं और कठिनाइयो स मुक्त करने के लिये १६१६ म नौप्रमाणपत्रों (Navicerts) की प्रणाली स्वीकार की गयी।

नौप्रमाणपत्र (Navicerts)—ये प्रमाणपत्र तटस्थ देश मे निवास करने वाले युद्धकारी देशो के राजदूतो या वाणिज्यदूतो द्वारा जारी किये जाते है, इनमे यह

प्रमाणित किया जाता है कि इस जहाज पर लदा हुआ माल सर्वथा निर्दोष है, अत इसे पकड़ना या जब्त नहीं करना चाहिए। ऐसा प्रमाणपत्र होने पर युद्धकारी देश इस प्रकार के जहाज को तलाशी के लिये नहीं रोकते थे। यह तटस्थ जहाजों के लिये बड़ी सुविधाजनक व्यवस्था थी। इसका आरम्भ १५६० में रानी एलिज़ाबेथ की सरकार द्वारा किया गया था, किन्तु व्यापक रूप से प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध में १९१६ से शुरू हुआ। १९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने पर इसका खूब प्रयोग हुआ तथा ऐसा प्रमाणपत्र रखनेवाले जहाज को तलाशी से मुक्त समझा जाता था। जून १९४० में जर्मनी द्वारा फ्रांस, हालैण्ड और बेल्जियम पर अधिकार करने के बाद ग्रेट ब्रिटेन ने नौप्रमाणपत्र की व्यवस्था को कठोरतापूर्वक लागू किया। पहले नौप्रमाणपत्र का अभाव मात्र किसी तटस्थ पोत के पकड़े जाने और दण्डित होने का पर्याप्त कारण नहीं था। किन्तु ३१ जुलाई १९४० को प्रकाशित किये गये ग्रेट ब्रिटेन के "प्रत्यपहार सपरिषद् आदेश" (Reprisals Order in Council) का यह प्रभाव हुआ - (क) यदि किसी माल के साथ नौप्रमाणपत्र न हो तो इसे पकड़ा और जब्त किया जा सकता था। (ख) नौ-प्रमाणपत्र न होने की दशा में यह कल्पना की जा सकती थी कि यह माल शत्रु के देश को भेजा जा रहा है। यद्यपि इस आदेश ने तटस्थ पोतों के लिये स्पष्ट शब्दों में नौ-प्रमाणपत्र का लेना अनिवार्य नहीं बनाया। किन्तु अब इनके बिना माल ले जाने वालों का खतरा बहुत बढ़ गया तथा अपने माल को निर्दोष सिद्ध करने का उत्तरदायित्व उन पर आ गया। इस आदेश की तटस्थ देशों द्वारा कटु आलोचना की गई, किन्तु स्टार्क ने यह कहा है कि इसका समर्थन प्रत्यपहार (Reprisals दे० ऊपर अध्याय २०) के वैध कार्य के रूप में किया जा सकता है, इसका उद्देश्य परिवेष्टन को सरल बनाना, शत्रु पर अधिक दबाव डालना और समूचे व्यापार का अनुमतिपत्रों की प्रणाली (System of Passes) द्वारा नियन्त्रण करना था।[११]

निरीक्षण व तलाशी के मामले (Cases of Visit and Search)—निरीक्षण और तलाशी के अधिकार के स्वरूप का स्पष्टीकरण अनेक मामलों में हुआ है। इसका पहला सुप्रसिद्ध उदाहरण **मेरिया** (Maria) का है। यह स्वीडन का व्यापारिक जहाज था। १७९९ में फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन की लड़ाई के समय यह स्वीडिश रक्षक बेड़े (Convoy) के संरक्षण में जा रहा था। ब्रिटिश बेड़े ने मेरिया की तलाशी लेनी चाही, रक्षक बेड़े द्वारा इसका विरोध करने पर मेरिया को पकड़ लिया गया। इसे दण्डित करते हुए लार्ड स्टोवैल ने इस विषय में निम्न तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

(१) युद्धकारी देश के रणपोतों को निर्विवाद रूप से यह अधिकार है कि वे महासमुद्र में किन्हीं जहाजों का तथा उनके माल का निरीक्षण कर सकें और तलाशी ले सकें। "मैं कहता हूँ कि जहाजों का, माल का तथा गन्तव्यस्थानों का स्वरूप कुछ भी क्या न हो, जब तक इनका निरीक्षण और तलाशी नहीं होती, तब तक इनका ज्ञान नहीं होता। इन बातों को निश्चित करने का प्रयोजन पूरा करने के लिए निरीक्षण और

---

११ स्टार्क—दि इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ

तलाशी के अधिकार की आवश्यकता है।"

(२) यदि इस मामले मे तटस्थ देश के पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राजा (Sovereign) को डाल दिया जाय तो भी युद्धकारी देश के विधिपूर्वक अधिकृत रणपोत द्वारा इसके निरीक्षण और तलाशी के अधिकार मे कोई अन्तर नही आता।

(३) इस अधिकार के हिंसापूर्ण प्रतिरोध का परिणाम इस प्रकार निरीक्षण और तलाशी से बचाई जाने वाली सम्पत्ति और माल का जब्त कर लेना है। स्टोवेल के इस निर्णय से तटस्थ देशो का भयभीत और चिन्तित होना स्वाभाविक था। बाल्टिक सागर के देशो द्वारा १८०० मे दूसरी सशस्त्र तटस्थता (देखिये ऊपर पृ० ५२१) की सन्धि का एक प्रेरक कारण यह भी था।

न्यायाधीश स्टोरी (Story) ने The Marianna Flora के मामले मे यह कहा था कि युद्ध के समय राष्ट्रो की सामान्य सहमति द्वारा निरीक्षण और तलाशी का अधिकार स्वीकार किया जाता है और यह केवल युद्धकाल के लिये ही होता है। पच-निर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) ने कार्थेज (Carthage) के मामले मे इस अधिकार को स्वीकार करते हुए कहा था—"सार्वभौम रूप से स्वीकार किये गये सिद्धान्तो के अनुसार, एक युद्धकारी देश के रणपोत को, सामान्य नियम के रूप मे, यह अधिकार प्राप्त है कि वह तटस्थ देश के व्यापारिक पोत को खुले समुद्र में रोके तथा यह देखने के लिए उसकी तलाशी ले कि वह तटस्थता के नियमो, विशेषतः विनिषिद्ध के नियमो का पालन कर रहा है।"

प्रथम परिशिष्ट

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्वपूर्ण मामले

इस पुस्तक में अनेक स्थलों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनविषयक विभिन्न मामलों या वादों (Cases) का उल्लेख किया गया है और अनेक न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों का निर्देश किया गया है। यहाँ कुछ महत्वपूर्ण मामलों में किये गये निर्णयों की चर्चा इनका स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से कुछ विस्तार से की जा रही है। प्रत्येक मामले के नामोल्लेख के बाद कोष्ठक में निर्णय किये जाने के वर्ष का तथा उसके विषय का निर्देश किया गया है। यहाँ पहले विदेशों के न्यायालयों द्वारा तथा बाद में भारतीय न्यायालयों द्वारा निर्णीत मामले दिये गये हैं।

(क) विदेशी न्यायालयों के मामले

(१) चुंग ची चेउग विरुद्ध राजा (१९३६)—(प्रादेशिक समुद्र में सार्वजनिक जहाजों पर अदालतों का क्षेत्राधिकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून)।

चुंग ची चेउग (Chung Che Cheung) नाम का एक व्यक्ति चीन के सशस्त्र सार्वजनिक जलपोत (Armed Public vessel) पर काम करने वाला नौकर था। जब यह जहाज हांगकांग के ब्रिटिश टापू के प्रादेशिक समुद्र (Territorial waters) में था तो चुंग ने इस जहाज के कप्तान डगलस कैम्पबैल पर गोली चलाकर उसे मार डाला। इसके बाद उसने जहाज के स्थानापन्न मुख्याधिकारी पर गोली चलाकर उसे घायल किया। मुख्याधिकारी ने जहाज को फौरन तेज रफ्तार से हांगकांग वापिस ले जाने को कहा और वहाँ पहुँचने पर अपराधी को गिरफ्तार करवा दिया गया। इस मामले में हत्यारा और मृत व्यक्ति दोनों ब्रिटिश प्रजाजन थे, किन्तु चीनी सरकार के सशस्त्र जहाज पर काम करने के कारण चीनी सरकार की सेवा में थे।

चीनी अधिकारियों ने इस मामले में हत्यारे को उन्हें सौंप देने (Extradition) की माँग की। किन्तु यह प्रार्थना दो कारणों से अस्वीकृत कर दी गई। पहला कारण यह था कि इस विषय में अपील करने वाला ब्रिटिश नागरिक था। दूसरा कारण यह था कि यह हत्या हांगकांग के प्रादेशिक समुद्र अर्थात् ब्रिटिश प्रदेश में हुई थी। हत्यारे पर हांगकांग की एक अदालत में मुकद्दमा चला कर उसे प्राणदण्ड दिया गया। हत्यारे का यह दावा स्वीकार नहीं किया गया कि चीनी सरकार की सेवा में होने के कारण हांककांग के न्यायालयों को उसका मामला सुनने का अधिकार नहीं है। इस पर अभियुक्त ने इस निर्णय के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की, किन्तु यह स्वीकार

नहीं हुई।

इस अपील मे प्रिवी कौंसिल के सामने मुख्य विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या स्थानीय ब्रिटिश न्यायालय को दूसरे देशो के सार्वजनिक जहाजो पर उस समय मे किए गये अपराधो के मुकद्दमे सुनने का अधिकार है, जब कि वे जहाज ग्रेट ब्रिटेन के प्रादेशिक समुद्र में हो। प्रिवी कौंसिल का यह निर्णय था कि इन्हे इस प्रकार का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) है और इसे अस्वीकार करने का कोई वैध कारण नहीं है।

इस मामले मे निर्णय सुनाते हुए लार्ड एटकिन (Atkin) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर प्रकाश डालते हुए कहा—"यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ तक इस देश के न्यायालयो का सम्बन्ध है अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस समय तक वैध नहीं है जब तक कि हमारे अपने देश का घरेलू (Domestic) कानून उसके सिद्धान्तों को स्वीकार एव ग्रहण न करे। कोई ऐसी बाह्य शक्ति नहीं है जो हमारे मौलिक कानून (Substantive Law) पर अथवा कानूनी प्रक्रिया पर अपने नियमो को थोप सके। हमारी अदालतें एक ऐसे नियमसमूह की सत्ता मानती है, जिसे विभिन्न राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार के लिये स्वीकार करते हैं। न्याय सम्बन्धी किसी विवादास्पद प्रश्न पर अदालत यह निश्चय करने का प्रयत्न करती हैं कि इस विषय में क्या नियम है। इसे जान लेने के बाद वे इसे उस समय तक अपने घरेलू या देशीय कानून का अग मानती जब तक कि यह नियम पार्लियामेंट द्वारा बनाये गये कानूनों से असगत न हो और अदालतो द्वारा ऐसा घोषित न किया जाय। इस अवस्था मे यह प्रश्न विचारणीय है कि हमारे न्यायालयो ने दूसरे देशो के सार्वजनिक जहाजो के लिए अपने अदालतो के क्षेत्राधिकार मे कौन-सी छूटे या उन्मुक्तियाँ (Immunities) स्वीकार कर रखी है और ये किन सिद्धान्तों पर आधारित है?

क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) के विषय में दो सिद्धान्त लोकप्रिय हुए हैं। पहला सिद्धान्त यह है कि एक राष्ट्र के सार्वजनिक जहाज को सब प्रयोजनों के लिये उस राष्ट्र के प्रदेश का एक हिस्सा समझना चाहिये। यदि यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय तो किसी देश के न्यायालयो को उसके प्रादेशिक समुद्र मे विद्यमान अन्य देशों के जहाजो पर होने वाले अपराधो के मामले सुनने का क्षेत्राधिकार नहीं है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि दूसरे देश के प्रादेशिक समुद्र मे एक सार्वजनिक जहाज (Public Ship) को उस पर स्वामित्व रखने वाले राष्ट्र का प्रदेश नहीं समझा जाना चाहिए, देशीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो के अनुसार जहाज को इसके नाविक-वर्ग को तथा इसके सामान को कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान करेंगे। इनमे कुछ उन्मुक्तियों का स्वरूप निश्चित हो चुका है, कुछ अभी तक विवादग्रस्त है। इस विचार के अनुसार इन उन्मुक्तियो का आधार कोई स्थूल राज्यक्षेत्रबाह्यता (Exterritoriality) नहीं है, किन्तु यह उस देश के कानून के ध्वनितार्थों (Implications) पर आश्रित है। उन्मुक्तियाँ कुछ शर्तों के साथ होती हैं और इस जहाज पर स्वामित्व रखने वाला देश इनका परित्याग भी कर सकता है।'

"न्यायाधीशों को इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि दूसरा सिद्धान्त ठीक है। यह अधिक शुद्ध एवं तार्किक दृष्टि से, राष्ट्रों के उस समझौते को व्यक्त करता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करता है। यह प्रत्येक देश की एक सबसे बड़ी आवश्यकता के अनुरूप है, यह आवश्यकता अपने देश की सीमाओं में अपराधियों पर अभियोग चलाकर तथा उन्हें दण्डित करके आन्तरिक अव्यवस्था से देश की रक्षा करता है।"

"सच्चा दृष्टिकोण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रथाओं के अनुसार किसी प्रदेश में सम्पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाला प्रभु (Sovereign) विदेशी राजाओं को उनके दूतों को, सार्वजनिक जहाजों को और इन द्वारा ले जायी जाने वाली नौसेना को अपनी कानूनी प्रक्रिया से कुछ उन्मुक्तियाँ (Immunities) प्रदान करता है। जब किसी स्थानीय न्यायालय के सामने उन्मुक्तियों के विषय में कोई प्रश्न आये तो उसे यह निश्चय करना है कि इस मामले में उन्मुक्ति या छूट की सत्ता है या नहीं। यदि न्यायालय को यह निश्चय हो कि इसकी सत्ता है तो वह इसे अपने उपक्रम (Initiative) पर क्रियात्मक रूप देगा। विदेशी राजा, उसके दूत, उसकी सम्पत्ति तथा उसके सशस्त्र जलपोतों पर कोई कानूनी कार्यवाही नहीं हो सकती। ये उन्मुक्तियाँ भली भाँति सुनिश्चित हो चुकी है। विचारणीय मामला एक युद्धपोत के नाविक वर्ग से सम्बन्ध रखता है। यह स्पष्ट है कि ऐसे जहाज के नाविक वर्ग के आन्तरिक झगड़े कानूनी प्रक्रिया से छूट या उन्मुक्ति के अन्तर्गत है। जहाज पर नाविक वर्ग के एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध किए गए अपराधों पर स्थानीय न्यायालयों का क्षेत्राधिकार नहीं है।"

'अत: जब हांगकांग के प्रादेशिक समुद्र में चीन के जंगी जहाज पर नाविक वर्ग के एक व्यक्ति द्वारा एक अधिकारी की हत्या होती है दूसरे की हत्या का प्रयत्न किया जाता है तो इस अपराध पर चीनी सरकार का क्षेत्राधिकार है। चीनी सरकार द्वारा अपराधी के प्रत्यर्पण की माँग बिल्कुल ठीक होती अपराधी तथा मृत व्यक्ति के ब्रिटिश नागरिक होने से इस मामले में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि दोनों युद्धपोत के नाविक वर्ग के सदस्य थे। किन्तु यदि यह प्रार्थना की ही नहीं गई और प्रत्यर्पण की प्रार्थना सम्पन्न नहीं हुई तो यह समझा जा सकता है कि चीनी सरकार इस बात के लिये सहमत हो गई कि ब्रिटिश न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करें और हांगकांग के ब्रिटिश न्यायालय को इस अपराध पर विचार करने का अधिकार है।'

(२) वैस्ट रैण्ड गोल्ड माईनिंग कम्पनी विरुद्ध राजा (१९०५) (अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राष्ट्रीय कानून, राज्य का उत्तराधिकार)।

वैस्ट रैण्ड ग्रेट ब्रिटेन में रजिस्टर्ड हुई एक ब्रिटिश कम्पनी थी। यह ट्रान्सवाल (दक्षिण अफ्रीका) में सोने की खुदाई का कार्य करती थी। इस कम्पनी के सोने के दो पार्सल तत्कालीन दक्षिण अफ्रीकी गणराज्य (South African Republic) की डच सरकार के अधिकारियों ने पकड़ लिये। उस समय के कानून के अनुसार सरकार के लिए यह आवश्यक था कि वह या तो इन पार्सल को लौटा दे अथवा इनका मूल्य प्रदान करे।

यह घटना १८९९ मे डचो तथा अंग्रेजों मे बोअर युद्ध (Boer war) छिड़ने से पूर्व हुई। इस लडाई के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने डचो के दक्षिण अफ्रीकी गणराज्य को जीत लिया, इसे अपने साम्राज्य का अग बना लिया। इसके बाद इस कम्पनी ने पुरानी डच सरकार के स्थान पर स्थापित नई ब्रिटिश सरकार को आवेदन-पत्र देकर उक्त दोनो पार्सलो के सोने को वापिस करने अथवा इसका मूल्य प्रदान करने की मांग की। कम्पनी का यह कहना था कि विजय के बाद इस प्रदेश मे स्थापित ब्रिटिश सरकार पहली डच सरकार की उत्तराधिकारिणी है, उसने पहली सरकार के सब अधिकार और दायित्व (Obligation) भी उत्तराधिकार मे प्राप्त किए है और उनका पूरा करना उसका कर्त्तव्य है।

किन्तु प्रिवी कौन्सिल ने कम्पनी की यह मांग रद्द कर दी और इसे अस्वीकार करते हुए प्रधान न्यायाधीश लार्ड एल्वरस्टोन ने अपने निर्णय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बडी सुन्दर व्याख्या की। "आवेदको द्वारा उपस्थित किये गये विधिशास्त्रियों (Jurists) के ग्रन्थों के विशिष्ट उद्धरणों पर विचार करने से पहले हम इस विषय पर विचार करना चाहते हैं कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सैद्धान्तिक रूप से विजेता राष्ट्र को विजित राष्ट्र के सभी दायित्वो का पूरा करना आवश्यक है। हमारा विचार है कि सैद्धान्तिक रूप से इसे स्वीकार नही किया जा सकता। सधि करते समय विजय करने वाली शक्ति विजित देश के वित्तीय दायित्वो के सम्बन्ध मे मनचाही शर्तें रख सकती है, यह पूर्ण रूप से उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह किन शर्तों का पालन करेगी। इस विषय मे एकमात्र कानून सैनिक शक्ति का है। हमे इसका कोई कारण समझ नही आता कि चुप्पी का यह अर्थ क्यो लगाया जाय कि वह इस बात का सूचक है कि नई सरकार विजित राज्य की सरकार के साथ हुए वर्तमान सभी ठेकों या सविदाओ (Contracts) को स्वीकार करती है। अनेक मामलो मे यह कहा जा चुका है कि एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार को किसी प्रदेश के हस्तान्तर (Cession) का अभिप्राय यह कभी नही होता कि उस प्रदेश के व्यक्तियों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई है। यदि ऐसे प्रदेश मे सम्पत्ति का कुछ भाग कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को देता है, इसे गिरवी या रेहन पर रखता है, या इस पर कोई स्वत्व (Lien) पैदा हो जाता है, तो इसमे उत्पन्न होने वाले विचारणीय प्रश्न उनसे सर्वथा भिन्न होते है, जिनमे यह विचार किया जाता है कि विजित राज्य के सविदा सम्बन्धी दायित्वो को विजेता राज्य कहां तक स्वीकार करता है। इन कारणो से हमारी यह सम्मति है कि आवेदको के आवेदन-पत्र मे मांगा गया कोई ऐसा अधिकार नही है, जिसे यह अथवा अन्य कोई न्यायालय ब्रिटिश सरकार से कम्पनी को दिलवा सके।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप पर तथा राष्ट्रीय (Municipal) कानून के साथ इसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए इस निर्णय मे यह कहा गया था "यह बिल्कुल सत्य है कि जिन नियमों को सब सभ्य देशो ने स्वीकृति प्रदान की है, उन्हे हमारे देश की स्वीकृति भी अवश्य मिल चुकी है। अन्य देशो के साथ हमने सामान्य रूप से जिन नियमो की स्वीकृति दी है, उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जाता है। इस रूप मे हमारे

राष्ट्रीय न्यायालय इन नियमो को स्वीकार करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर इन्हे लागू करते हैं। किन्तु इस प्रकार स्वीकार किया जाने वाला सिद्धान्त ऐसा होना चाहिये जिसका आवश्यक रूप से पालन करना विभिन्न राष्ट्रो ने वस्तुत स्वीकार किया हो। लागू किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिये यह आवश्यक है कि उसकी सत्ता सन्तोपजनक साक्षी द्वारा सिद्ध की जाय। इस साक्षी मे यह प्रदर्शित होना चाहिये कि इस प्रकार के विशेष सिद्धान्त को हमारे देश ने स्वीकार कर लिया है या इसके अनुसार आचरण किया है या वह सिद्धान्त इस प्रकार का है, इसे इतने व्यापक और सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि इसके बारे मे यह कल्पना नही की जा सकती कि कोई सभ्य राज्य इसे अस्वीकार करेगा। इस विषय मे यह स्मरण रखना चाहिये कि सुविख्यात और विद्वान् विधिशास्त्रियो (Jurists) के विचार मात्र अपनेआप मे किसी सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नही है। इन विचारो को या तो अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का स्पष्ट समर्थन मिलना चाहिये या विभिन्न राष्ट्रो के व्यवहारो (Practices) मे बार-बार व्यावहारिक स्वीकृति द्वारा इन विचारो का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अग के रूप मे शनै-शनै विकास होना चाहिये।"

(३) दी पाक्वेट हवाना और लोला (१८९९)—(मछली पकड़ने वाले जहाज और राष्ट्रो की प्रथाये)—१८९८ ई० मे स्पेन और स० रा० अमरीका मे युद्ध चल रहा था। इस समय एक अमरीकी रणपोत ने पाक्वेट हवाना (Paquete Habana) और लोला (Lola) नामक दो जहाजो को पकड़ लिया, क्योकि इन पर स्पेन का झण्डा फहरा रहा था और इनका स्वामी एक स्पेनिश नागरिक था। इन जहाजो पर किसी प्रकार के हथियार या रणसामग्री नही, किन्तु ताजी मछली लदी हुई थी, ये मछली का शिकार करने वाले जहाज थे। इन्हें इस बात का ज्ञान नही था कि दोनो देशो मे युद्ध-घोषणा हो चुकी है और इन देशों ने शत्रु का समुद्री यातायात रोकने लिये परिवेष्टन (Blockade) डाल रखा है। इन जहाजो ने इस घेरे को तोड़ने का कोई प्रयत्न नही किया, पकड़े जाने के समय किसी प्रकार का विरोध नही किया। इनसे शत्रु को किसी प्रकार की सहायता पहुँचने की सभावना नही थी। किन्तु इनका माल युद्ध मे अधिगृहीत (Prize) समझा गया और एक न्यायालय की आज्ञा द्वारा बेच दिया गया। निचले न्यायालय की इस आज्ञा के विरुद्ध स० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट मे अपील की गई।

सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशो के बहुमत का यह निर्णय था कि मछली का शिकार करने वाले जहाजो को युद्ध मे इस प्रकार नही पकड़ा जा सकता। सभ्य राष्ट्रो का इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा पड़ा है, जिनमे मछली पकड़ने वाले जहाजो को पकड़ने (Capture) के योग्य नही माना गया। यह सत्य है कि इस नियम को फ्रेंच राज्यक्रान्ति मे थोड़े समय के लिये नहीं माना गया, किन्तु इसे १८०६ मे पुन माना जाने लगा और इसके बाद से इसका निरन्तर पालन होता रहा है। यदि मछली पकड़ने वाले जहाज अपना कार्य ईमानदारी से करते हैं, शत्रु को कोई सहायता या सूचना नही देते तो इन्हे अपने सब औजारो, उपकरणों, माल और नाविक-वर्ग के साथ पकड़े जाने योग्य

नहीं समझा जाना चाहिये। किन्तु अल्पमत रखने वाले न्यायाधीशों फुलर (Fuller), हॉर्लान (Harlan) और मेकेन (Mackenn) का यह मत था कि मछली पकड़ने वाले जहाजों को पकड़ने (Capture) से मुक्त मानने की परिपाटी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आचारिक नियम (Customary Rule) नहीं बना, यह केवल शिष्टतावश पालन किया जाने वाला नियम है।

इस मामले में बहुमत के निर्णय को सुनाते हुए न्यायाधीश ग्रे (Gray) ने यह कहा—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का अंग है। उपर्युक्त क्षेत्राधिकार रखने वाले न्यायालयों द्वारा इसका निश्चय किया जाना तथा प्रशासन किया जाना आवश्यक है। जब किसी विषय में कोई संधि न हो, इसे नियन्त्रित करने वाला सरकार का आदेश अथवा विधानसभा का कोई कानून न हो तथा न्यायालय का कोई निर्णय न हो तो ऐसे विषय में सभ्य राष्ट्रों में प्रचलित आचारों (Customs) तथा प्रथाओं (Usages) का अवलम्बन लेना पड़ता है और इनकी साक्षी के लिये ऐसे विधिशास्त्रियों तथा इनके टीकाकारों के ग्रन्थ देखने पड़ते हैं, जिन्होंने वर्षों तक अनुसन्धान तथा अनुभव द्वारा इन विषयों का अच्छा परिचय पा लिया है। न्यायालय इन ग्रन्थों का सहारा इसलिए नहीं लेते कि वे लिखने वालों के ये विचार जानना चाहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून किस प्रकार का होना चाहिये, किन्तु वे इन्हें इस बात की विश्वसनीय साक्षी समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप वास्तव में क्या है?"

(४) चरकियेह (१८७२) (अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति) चरकियेह (Charkieh) मिश्र के खदीव (शासक) का एक जहाज था। १९ अक्टूबर १८७२ को इंगलैंड की टेम्ज नदी में इसकी एक दूसरे जहाज स्टीमशिप बटेवियर (S. S. Batavier) से टक्कर हो गई और इसे बहुत क्षति पहुँची। बटेवियर के मालिकों ने इसके लिये मिश्री जहाज को जिम्मेवार ठहराया, इसके विरुद्ध एक मुकद्दमा चलाया, टक्कर से होने वाली क्षतिपूर्ति के हर्जाने के लिये दावा किया।

इस पर चरकियेह की ओर से अपने विरुद्ध कानूनी कार्यवाही को रोकने के लिये एक आवेदन-पत्र इस आधार पर दिया गया कि यह जहाज मिश्र के खदीव की सम्पत्ति है। वह एक स्वतन्त्र राजा या प्रभु (Independent Sovereign) है, अतएव वह ब्रिटिश नौसैनिक न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत नहीं है। जिस समय यह टक्कर हुई, उस समय इस पर टर्की की उस्मानिया नौसेना (Ottoman Navy) का झण्डा फहरा रहा था। उन दिनों खदीव टर्की के सुलतान के अधीन समझा जाता था।

न्यायालय ने मिश्र की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार करते हुए यह निर्णय दिया कि उस समय खदीव सभी दृष्टियों से एक स्वतन्त्र राजा या प्रभु नहीं था तथा इस दशा में उसकी सम्पत्ति स्थानीय न्यायालयों की कानूनी कार्यवाही से मुक्त नहीं है।

(५) हेलमिलासी विरुद्ध केबल एण्ड वायरलेस लिमिटेड (१९३९)—(राज्य-विषयक उत्तराधिकार)—केबल एण्ड वायरलेस लिमिटेड (Cable and Wireless) Ltd) ग्रेट ब्रिटेन की कम्पनी थी, इसने १९३५ में ईथियोपिया (एबीसीनिया) के डाक-तार विभाग के सचालक के साथ ग्रेट ब्रिटेन और ईथियोपिया के बीच बेतार की

तार व्यवस्था कराने के लिये एक अनुबन्ध (Contract) किया। इसके अनुसार कम्पनी ने ईथियोपिया की सरकार को कुछ राशि देनी थी।

इसी बीच इटली ने इथियोपिया पर अधिकार कर लिया तथा ईथियोपिया के सम्राट हैलसिलासी को यहाँ से भागकर इंगलैण्ड में शरण लेनी पड़ी। यहाँ उसने उक्त कम्पनी पर उपर्युक्त अनुबन्ध के अनुसार देय राशि प्राप्त करने के लिये अभियोग चलाया। कम्पनी ने यह तो स्वीकार किया कि उसे इस अनुबन्ध की राशि अदा करनी है, किन्तु उसका यह कहना था कि उसे लन्दन के इटालियन राजदूत का इस आशय का एक पत्र मिला है कि यह राशि हैलसिलासी को न दी जाय, किन्तु इटली की सरकार को दी जाय। कम्पनी का यह भी कहना था कि इटली ने ईथियोपिया को अपने राज्य का अंग बना लिया है, अतः वह उस देश का सर्वोच्च शासक या प्रभु (Sovereign) हो गया है। ब्रिटिश सरकार ने इटली की सरकार को ईथियोपिया की तथ्यानुसार सरकार (De facto-Government) मान लिया है। कम्पनी द्वारा दी जाने वाली राशि सरकारी ऋण की राशि है यह ईथियोपिया में सर्वोच्च सत्ता रखने वाली सरकार को दी जानी चाहिये और यह सत्ता इस समय इटली की सरकार है।

इटली की सरकार इस मामले के निर्णय के लिये किसी ब्रिटिश न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानने को तैयार नहीं थी। अतः न्यायालय ने ग्रेट ब्रिटेन के विदेश कार्यालय (Foreign Office) से सम्राट् हैलसिलासी की तथा ईथियोपिया में इटालियन सरकार की स्थिति पर प्रकाश डालने के लिये कहा। विदेश कार्यालय का यह उत्तर था कि ब्रिटिश सरकार सम्राट् हैलसिलासी को ईथियोपिया का विध्यनुसार (De Jure) सम्राट् मानती है तथा इटली की सरकार को ईथियोपिया के सब हिस्सों को अपने नियन्त्रण में रखने वाली वास्तविक या तथ्यानुसार (De facto) सरकार मानती है। इस सूचना को पाने के बाद यह मुकद्दमा सुनने वाले न्यायाधीश बेनेट (Bennet) ने यह निर्णय दिया कि इटालियन सेना द्वारा ईथियोपिया पर किये जाने वाले अधिकार तथा इटालियन सरकार द्वारा इस देश की वास्तविक सरकार बन जाने के कारण यद्यपि हैलसिलासी से उसकी सारी वास्तविक शक्ति छिन गई है किन्तु इसका यह प्रभाव नहीं मानना चाहिये कि इससे वह अपने आगम (Title) से वंचित हो गया है। उसके पास ईथियोपिया के सर्वोच्च शासक के रूप में कम्पनी से राशि पाने का जो अधिकार था वह अब तक यथापूर्व बना हुआ है।

कम्पनी ने ३ नवम्बर १९३८ को जस्टिस बेनेट के निर्णय के विरुद्ध अपील की। इसी समय ब्रिटिश सरकार ने पार्लियामेण्ट में यह घोषणा की कि उसका इरादा यह है कि इटली के राजा को ईथियोपिया का कानूनी या विध्यनुसार (De Jure) शासक मान लिया जाय। इस घोषणा के परिणामस्वरूप अदालत ने इस मामले की सुनवाई इस विषय का निश्चित निर्णय हो जाने तक कुछ समय के लिये स्थगित कर दी। ३० नवम्बर १९३८ को इस अदालत में विदेश कार्यालय का एक प्रमाण-पत्र पेश किया गया, इसमें यह कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार अब हैलसिलासी को ईथियोपिया का कानूनी सम्राट् स्वीकार नहीं करती। इन परिवर्तित परिस्थितियों में न्यायालय

ने यह निर्णय किया कि अब कम्पनी से राशि प्राप्त करने का अधिकार हेलसिलासी को नही, किन्तु इटली के राजा को है। इस अधिकार परिवर्तन का समय दिसम्बर १९३६ समझा जाना चाहिये, क्योंकि इसी समय से ब्रिटिश सरकार ने इटली की सरकार को ईथियोपिया की वास्तविक या तथ्यानुसार (De facto) सरकार स्वीकार किया था।

१९३९ ई० मे ब्रिटिश यीअरबुक आफ इण्टरनेशनल लॉ ने इस मामले के सम्बन्ध मे यह सत्य ही लिखा था "जस्टिस बेनेट ने तथा अपील के न्यायालय (Court of Appeal) ने राज्य के उत्तराधिकार (Succession) के सम्बन्ध मे तीन महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय किया (१) यह स्पष्ट रूप से तथा निर्विवाद रूप मे मान लिया गया है कि जब पहले से स्वाधीन किसी राज्य को जीतकर कोई उसका नया सर्वोच्च शासक बनता है तो वह इगलैण्ड मे विद्यमान उन सब ऋणों को प्राप्त करने का उत्तराधिकारी हो जाता है, जो सार्वजनिक रूप मे उससे पहले स्वतन्त्र शासक को प्राप्त होने वाले थे। जब कानूनी रूप से नये शासक का स्वत्व माना जायगा तो इगलैण्ड मे उसकी अन्य सम्पत्ति पर भी नये शासक का उत्तराधिकार स्थापित हो जायगा। (२) इगलैण्ड मे इस सम्पत्ति को उत्तराधिकार मे पा सकना तब तक नही होगा, जब तक पुराने शासक को विध्यनुसार या कानूनी (De Jure) शासक माना जा रहा है और नया शासक केवल उस प्रदेश का तथ्यानुसार या वास्तविक (De facto) शासक है। (३) जब एक बार किसी शासक को कानूनी तौर से स्वीकृति प्रदान की जाती है तो सम्पत्ति को विरासत मे पाने के लिये यह स्वीकृति भूतकाल मे उस समय तक पीछे की ओर जा सकती है जब कि ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार किया हो कि नये सर्वोच्च शासक ने वास्तविक या तथ्यानुसार (De facto) शासक का स्वत्व पा लिया है। यह पूर्व सम्बन्ध (Relation back) के सिद्धान्त को व्यवहार मे लाना है।"

(६) स्टीमशिप अरन्तज़ाज़ू मेन्दी, विरुद्ध स्पेन की गणराज्य सरकार (मान्यता तथा प्रादेशिक क्षेत्राधिकार)—अरन्तज़ाज़ू मेन्दी (Arantzazu Mendi) एक स्पेनिश जहाज था। स्पेन के बिल्बाओ नामक बन्दरगाह मे इसकी रजिस्ट्री हुई थी। रजिस्ट्री के समय यहाँ स्पेन की गणतन्त्रीय (Republican) सरकार का शासन था। जून १९३७ मे इस बन्दरगाह पर जनरल फ्राको के नेतृत्व मे विद्रोहियों ने अधिकार कर लिया तथा स्पेन की एक नई राष्ट्रवादी सरकार (Nationalist Government) का निर्माण किया। जब अरन्तज़ाज़ू महासमुद्र मे था, तभी गणतन्त्रीय सरकार ने इसके अधिग्रहण (Requisition) करने का आदेश दिया। अगस्त मे यह जहाज लन्दन पहुँचा। इसे ब्रिटिश नौसेना के अधिकारियों द्वारा बन्दी बना लिया गया। किन्तु इसी समय जहाज के मालिकों ने इसको उनके अधिकार मे देने के लिए न्यायालय मे आवेदन-पत्र दिया। अप्रैल १९३८ मे फ्राको की राष्ट्रवादी स्पेनिश सरकार ने इस जहाज के स्वामियों की सहमति से अपने लिय इसके अधिग्रहण (Requisition) का आदेश दिया। इस प्रकार स्पेन की दोनो सरकारों ने अपने कार्य के लिये इस जहाज को लेने की आज्ञायें जारी कर दी। गणतन्त्रीय सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन से यह प्रार्थना की कि

ब्रिटिश न्यायालय राष्ट्रवादी सरकार की आज्ञा को क्रियान्वित न करने का आदेश प्रदान करे। इस पर राष्ट्रवादी सरकार ने यह आपत्ति उठायी कि ब्रिटिश न्यायालय को किसी विदेशी राज्य के मामले के सम्बन्ध मे विचार करने का कोई अधिकार नही है।

इस मामले पर विचार करने वाले न्यायालय ने ब्रिटिश सरकार के विदेश कार्यालय से यह जानकारी माँगी कि फ्राको की राष्ट्रवादी सरकार को ब्रिटिश सरकार विदेशी सरकार स्वीकार करती है या नही। न्यायालय को इसका यह उत्तर मिला कि स्पेन की राष्ट्रवादी सरकार बार्सिलोना मे स्थापित गणतन्त्रीय सरकार के साथ संघर्ष कर रही है, ब्रिटिश सरकार गणतन्त्रीय सरकार को स्पेन की कानूनी (de jure) सरकार स्वीकार करती है, यह राष्ट्रवादी सरकार को उत्तरी स्पेन के सब बास्क प्रान्तो पर वास्तविक (de facto) नियन्त्रण करने वाली सरकार मानती है और राष्ट्रवादी सरकार स्पेन की किसी दूसरी सरकार के आधीन नही है। राष्ट्रवादी सरकार विदेशी (Foreign) राज्य है या नही, यह कानूनी प्रश्न है इसका निर्णय करना न्यायालय का कार्य है। वह यह कार्य इस मामले की परिस्थितियो और तथ्यो को देखकर करेगा।

इस विषय मे अदालत ने यह फैसला किया कि जनरल फ्राको की राष्ट्रवादी सरकार विदेशी सपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) राज्य है। सम्पत्ति मे उसका हित (Interest) है, अत उस पर ब्रिटिश न्यायालय मे मामला नही चलाया जा सकता। इस निर्णय के विरुद्ध प्रिवी कौन्सिल मे अपील की गई। किन्तु यह स्वीकार नही हुई। लार्ड एटकिन ने अपने निर्णय मे लिखा—"वास्तविक प्रशासन के नियन्त्रण करने का अथवा प्रभावशाली प्रशासनात्मक नियन्त्रण करने का अभिप्राय मैं यह समझता हूँ कि यह एक सपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) सरकार द्वारा निम्नलिखित कार्यो का सम्पादन करना है—कानून और व्यवस्था को बनाये रखना, न्यायालयो की स्थापना करना तथा इन्हे चलाते रहना, एक प्रदेश के निवासियो के एक दूसरे के साथ तथा सरकार के साथ सम्बन्धो को नियन्त्रण करने वाले कानून को बनाना तथा लागू करना। आवश्यक रूप से इसका ध्वनितार्थ यह भी है कि यह सैनिक और असैनिक कार्यो के लिये अनेक प्रकार की सम्पत्ति के स्वामी होने तथा उसके नियन्त्रण करने का अधिकार रखती है, इस सम्पत्ति मे लडाकू तथा व्यापारिक दोनो प्रकार के जहाजो का समावेश होता है। उपर्युक्त अवस्थाओ मे मुझे यह प्रतीत होता है कि यदि किसी प्रदेश मे वहाँ किसी अन्य सरकार के वशवर्ती न होने पर, उपर्युक्त विशेषतायें रखने वाली किसी सरकार को मान्यता प्रदान की जाती है तो यह इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से विदेशी सपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के समान मान लेना है।"

(७) मिघेल बनाम जोहोर का सुल्तान (१८६४)—सर्वोच्च शासक को विदेशी न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से छूट—मलाया मे अवस्थित जोहोर नामक राज्य के एक सुल्तान ने इगलैण्ड मे निवास करते हुए एल्बर्ट बेकर (Albert Baker) का नाम धारण किया। मिघेल (Mighell) नामक ब्रिटिश महिला से उसका इस रूप मे परिचय हुआ। बाद मे इस महिला ने उस पर वचन भग का आरोप करते हुए यह मुक-दमा चलाया कि उसने उसके साथ विवाह करने का वचन दिया था, किन्तु इसे पूरा

नही किया। सुल्तान ने इसका विरोध करते हुए यह कहा कि वह एक स्वतन्त्र सर्वोच्च शासक (Independent sovereign ruler) है, अतः ब्रिटिश न्यायालयों का उस पर कोई क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) नही है। न्यायालय ने उसकी बात स्वीकार करते हुए मिचेल की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।

इस पर मिचेल ने उच्च-अदालत मे अपील की। उसका यह कहना था कि प्रतिवादी अपनेआपको उसे एक निजी व्यक्ति (Private individual) बताता रहा है, इस रूप मे वह इगलैण्ड का प्रजाजन है और ब्रिटिश न्यायालयों का उस पर क्षेत्राधिकार है। यह बात भी पूरी तरह सिद्ध नही हो पायी कि प्रतिवादी एक स्वतन्त्र सपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक है, इस विषय में औपनिवेशिक कार्यालय (Colonial Office) का पत्र पर्याप्त प्रमाण नही है।

लार्ड एशर (Esher) ने इस मामले मे निर्णय देते हुए कहा—"औपनिवेशिक कार्यालय (Colonial Office) का पत्र इस विषय मे पूरी तरह प्रामाणिक है कि प्रतिवादी जोहोर के सुल्तान के रूप मे स्वतन्त्र एव सपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक है। न्यायाधीश ने अपील करने वालो का यह तर्क भी स्वीकार नही किया कि निजी तौर पर रहने के कारण प्रतिवादी स्वतन्त्र तथा सपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक के विशेषाधिकारो से वचित हो गया है। उसने पार्लेमेण्ट बेल्जे (Parlement belge) के निर्णय को उद्धृत करते हुए कहा—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार प्रत्येक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य (Sovereign State) सभी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की स्वतन्त्रता तथा प्रतिष्ठा का आदर करता है। प्रत्येक राज्य किसी भी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक पर अपने न्यायालयों के क्षेत्राधिकार की सत्ता मानने से इन्कार करता है, विदेशी शासक पर न्यायालय तभी अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सकता है जबकि इसे ऐसा करने को कहा जाय तथा शासक इसके क्षेत्राधिकार को स्वयमेव स्वीकार कर ले। यदि शासक ऐसा स्वीकार नही करता तो न्यायालय का उस पर कोई क्षेत्राधिकार नहीं है।" इन कारणों से अपील को नामजूर कर दिया गया।

(६) स्टीमशिप लोटस (१६२७)—(प्रादेशिक और वैयक्तिक क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून)—लोटस (S. S. Lotus) एक फ्रेंच जहाज था। यह २ अगस्त १६२६ को टर्की के एक बन्दरगाह कुस्तुन्तुनिया की ओर जा रहा था। सिगरी अन्तरीप से छ मील दूर तुर्की के प्रादेशिक समुद्र से बाहर महासमुद्र (High Sea) मे, तुर्की के कोयला ढोने वाले बोज कोर्ट (Bouz Kourt) नामक जहाज से इसकी टक्कर हो गई, परिणामस्वरूप बोज कोर्ट डूब गया और इस पर विद्यमान आठ तुर्क नागरिकों को अपने प्राण गँवाने पड़े। इस टक्कर के समय फ्रेंच जहाज पर लेफ्टिनेण्ट देमोन (Demons) की निरीक्षण की ड्यूटी थी, बोजकोर्ट जहाज का कप्तान हसन बे था।

३ अगस्त को लोटस कुस्तुन्तुनिया पहुँचा। तुर्क अधिकारियों ने इस दुर्घटना की जाँच मे देमोन से गवाही देने की प्रार्थना की, ५ अगस्त को उसे तथा हसन बे को बन्दी बना लिया गया। देमोन की गिरफ्तारी से पहले इसकी कोई सूचना फ्रेंच वाणिज्य

महादूत (Consul-General) को इसलिये नहीं दी गई कि कहीं वह भाग न जाय। इस गिरफ्तारी का उद्देश्य उक्त दुर्घटना में डूबे तुर्क नागरिकों के परिवारों की प्रार्थना पर दोनों जहाजों के जिम्मेवार अधिकारियों पर मानवहत्या का अभियोग चलाना था।

तुर्की की फौजदारी अदालत में मुकद्दमा चलने पर ले० देमान ने यह आवेदन किया कि फ्रेंच प्रजाजन होने से तथा दुर्घटना के महासमुद्र में घटित होने के कारण तुर्की के न्यायालयों को उस पर मुकद्दमा चलाने का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) नहीं है। अदालत ने इस युक्ति को स्वीकार नहीं किया, उसकी उपेक्षा और असावधानी को दुर्घटना का एक कारण मानते हुए उसे आठ दिन की जेल और २२ पौंड का जुर्माना किया, हसन बे को इसकी अपेक्षा कुछ कठोर दण्ड दिया गया।

फ्रेंच सरकार ने अपने कूटनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा इस बात पर बल दिया कि या तो ले० देमोन को मुक्त कर दिया जाय अथवा यह अभियोग किसी फ्रेंच अदालत में चलाया जाना चाहिए। तुर्की की सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया, किन्तु पेरिस के बहुत आग्रह पर वह इस बात के लिए सहमत हो गया कि क्षेत्राधिकार के संघर्ष (Conflict of jurisdiction) का यह मामला हेग के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of Internatioual Justice) के सम्मुख लाया जाए। १२ अक्टूबर १९२६ को जेनेवा में दोनों देशों में इस सम्बन्ध में हुए समझौते के अनुसार यह मामला हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपा गया।

इस न्यायालय के समक्ष दो प्रश्न विचार के लिये लाये गये—(१) क्या तुर्की ने अपने देश के कानून के अनुसार फ्रेंच स्टीमर लोटस के कुस्तुन्तुनिया पहुँचने पर ले० देमोन पर हसन बे के साथ संयुक्त रूप में फौजदारी मुकद्दमा चलाकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के प्रतिकूल आचरण किया है? (२) यदि पहले प्रश्न का उत्तर हाँ में हो तो ले० देमोन को आर्थिक क्षतिपूर्ति की राशि कितनी दी जानी चाहिए। यह राशि अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रकार के मामलों में दी जाने वाली राशि के अनुरूप होनी चाहिए।

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों में उग्र मतभेद था। इसके सभापति के निर्णायक मत द्वारा पहले प्रश्न का नकारात्मक फैसला करते हुए यह कहा गया कि तुर्की ने फ्रेंच स्टीमर के कुस्तुन्तुनिया पहुँचने पर इसके फ्रेंच नागरिक ले० देमोन पर तुर्क अदालत में हसन बे के साथ फौजदारी का संयुक्त मामला चलाने में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं किया। पहले प्रश्न का नकारात्मक उत्तर होने के कारण ले० देमोन को मुआवजा देने के दूसरे प्रश्न पर न्यायालय को निर्णय देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

फ्रेंच सरकार ने इस मामले में तुर्की से यह माँग की थी कि वह देमान पर मामला चलाने का तथा अपना क्षेत्राधिकार रखने का अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा स्वीकृत कोई प्रमाण उपस्थित करे। तुर्क सरकार ने इस विषय में अपने पक्ष में २४ जुलाई १९२३ को लोजान में हुए समझौते की १५वीं धारा को उपस्थित किया और न्यायालय ने इस प्रमाण को स्वीकार किया।

इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप की विवेचना करते हुए न्यायालय ने यह मत प्रकट किया —"अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वतन्त्र राज्यो के सम्बन्धो का नियमन करता है। अत इस क्षेत्र मे राज्यो पर लागू होने वाले नियम उनकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रादुर्भूत होते हैं, इन्हे पारस्परिक समझौतो मे व्यक्त किया जाता है अथवा ये नियम ऐसी प्रथाओ से निश्चित होते हैं जिन्हे सामान्य रूप से सब देश स्वीकार करते हैं। इन नियमो की स्थापना का प्रयोजन सहवर्ती (co existing) एव स्वतन्त्र समुदायो के आपसी सम्बन्धो का इस दृष्टि से नियमन करना होता है कि ये अपने सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति कर सके । अत राज्यो की स्वतन्त्रता को मर्यादित करने वाले ऐसे प्रतिबन्धो (Restrictions) की कल्पना (Presumptions) नहीं की जा सकती, जो राज्यो द्वारा स्वीकार न किये गये हो।

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य पर सबसे बड़ा प्रतिबन्ध यह है कि वह दूसरे राज्य के प्रदेश मे अपनी शक्ति का प्रयोग बिल्कुल नही कर सकता। इस प्रकार राज्य का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) निश्चित रूप से प्रादेशिक है। कोई राज्य इसका प्रयोग अपने प्रदेश से बाहर नही कर सकता, केवल अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज या समझौते द्वारा अनुमति दिये जाने पर ही कोई राज्य अपने प्रदेश से बाहर अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकता है।

"किन्तु इससे यह परिणाम नही निकालना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी राज्य को अपने प्रदेश मे किसी ऐसे मामले मे क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने से रोक सकता है, जिसका सम्बन्ध इस राज्य के प्रदेश से बाहर हुए कार्यो से हो तथा जिसमे इसे ऐसा करने की अनुमति देने वाला अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम न हो। यह दृष्टिकोण तभी स्वीकार किया जा सकता है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे सब राज्यो के सम्बन्ध मे एक ऐसा सामान्य प्रतिबन्ध मान लिया जाय कि वे अपने प्रदेश से बाहर विद्यमान व्यक्तियो और सम्पत्ति तथा कार्यो के सम्बन्ध मे अपने कानूनों को लागू नही करेगे तथा इनके विषय मे अपने न्यायालयो का क्षेत्राधिकार नही मानेंगे। किन्तु वर्तमान समय मे निश्चित रूप मे ऐसी स्थिति नही है। राज्यो का क्षेत्राधिकार सीमित करने के स्थान पर, यह उन्हे इस विषय मे बहुत बडी मात्रा मे कार्यवाही करने का विवेक (Discretion) प्रदान करता है। इन अवस्थाओ मे फ्रेंच सरकार का यह दावा ठीक नही है कि तुर्की को अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम प्रमाण के रूप मे उपस्थित करना चाहिये।"

फ्रेंच सरकार ने निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर यह तर्क उपस्थित किया कि उपर्युक्त सिद्धान्त तुर्की को इस मामले मे फ्रेंच प्रजाजन का फौजदारी मामला सुनने का क्षेत्राधिकार प्रदान नही करता :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी राज्य को यह अधिकार नही प्रदान करता कि वह विदेशियो द्वारा देशान्तर (Abroad) मे किये गये अपराधो के सम्बन्ध मे केवल पीडित व्यक्ति की नागरिकता के आधार पर कार्यवाही कर सके। इस मामले मे तुर्क सरकार ने डूबने वाले तुर्कों की मानव हत्या का आरोप ले० देमोन पर लगाया है और

इन व्यक्तियों की राष्ट्रीयता तुर्क होने के कारण वह अपनी फौजदारी अदालत में देमोन पर मामला चला रही है, किन्तु देमोन तुर्की का नागरिक नहीं है और यह अपराध तुर्की की प्रादेशिक सीमाओं से बाहर महासमुद्र में फ्रेंच जहाज पर किया गया है, अतः तुर्की की सरकार को ऐसे अपराध के विरुद्ध कार्यवाही करने का कोई अधिकार नहीं है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून यह स्वीकार करता है कि महासमुद्र में किसी जहाज पर जो घटनायें होती हैं, उनके सम्बन्ध में कार्यवाही करने का एकमात्र अधिकार उसी देश को होता है, जिस देश का झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा हो। लोटस स्टीमर पर फ्रेंच पताका थी, अतः महासमुद्रों में इस पर हुई सब घटनाओं के सम्बन्ध में कार्यवाही करने का अधिकार केवल फ्रांस की सरकार को है।

(३) यह सिद्धान्त टक्कर या भिडन्त (Collision) होने की दशा में विशेष रूप से लागू होता है।

न्यायालय ने पहली युक्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए फ्रेंच सरकार का यह दावा स्वीकार नहीं किया कि कोई राज्य किसी विदेशी द्वारा देशान्तर में किये गये अपराध को केवल पीड़ित व्यक्ति की नागरिकता के आधार पर दण्डित करने का अधिकार नहीं रखता। अनेक देशों के न्यायालय अपने फौजदारी कानून के सम्बन्ध में यह व्याख्या करते हैं कि अपराध करने के समय भले ही उसे करने वाले व्यक्ति दूसरे राज्य के प्रदेश में हों, फिर भी वे अपराध राष्ट्रीय प्रदेश में ही किये गये समझे जाते हैं, बशर्ते कि अपराध का एक घटक (Constituent) तत्व, विशेष रूप से इस अपराध के प्रभाव उनके प्रदेश में पड़े हों। इस मामले में दुर्घटना के परिणामस्वरूप तुर्कों के डूबने का प्रभाव तुर्की पर पड़ा है, अतः महासमुद्र में घटित होने पर भी इसके लिए उत्तरदायी विदेशी प्रजाजनों पर अभियोग चलाने का अधिकार टर्की की सरकार को है।

फ्रेंच सरकार की दूसरी युक्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कहा—"यद्यपि यह सत्य है कि महासमुद्रों में यात्रा करने वाले जलपोतों पर उसी राज्य का अधिकार होता है जिस राज्य का झण्डा उन पर होता है, तथापि इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि राज्य को अपने प्रदेश में उन कार्यों के सम्बन्ध में कोई क्षेत्राधिकार नहीं है, जो महासमुद्रों में विदेशी जहाजों पर हुए हों। यदि महासमुद्रों में किया गया कोई अपकारपूर्ण कार्य अपना प्रभाव दूसरे देश का झण्डा फहराने वाले जलपोत पर अथवा दूसरे देश के प्रदेश पर डालता है तो इस दशा में वही सिद्धान्त लागू होंगे, जो विभिन्न राज्यों के प्रदेशों में हुए अपराधों पर लागू होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जो अपराधों के प्रभावों को प्राप्त करने वाले जहाज पर स्वामित्व रखने वाले राज्य को इस बात से रोक सके कि यह अपराध उस राज्य के प्रदेश में हुआ है और उसे अपराधी को दण्ड देने का पूरा अधिकार है।

तीसरी युक्ति के सम्बन्ध में न्यायालय का यह मत था कि जहाजों की टक्कर के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसके अनुसार फौजदारी कार्यवाही करने का एकमात्र या अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive jurisdiction) केवल

उसी राज्य को है, जिसका झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा हो।

"इस मामले मे ले० देमोन पर उसकी लापरवाही अथवा असावधानी के लिये मुकद्दमा चलाया गया। यह अपराध यद्यपि उसने लोटस जहाज पर किया, किन्तु इसके प्रभाव बोजकोर्ट जहाज पर पड़े। कानूनी दृष्टि से ये दोनों तत्व सर्वथा पृथक् न हो सकने वाले तथा ऐसी रीति से मिले हुए है कि उनको पृथक् कर देने से अपराधी की सत्ता ही नही रहती। न्याय की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये तथा दोनो राज्यो के हितो को प्रभावशाली रीति से सुरक्षित रखने के लिये यह उचित है कि इस मामले मे न तो दोनो राज्यो मे से किसी एक का एकमात्र क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction) माना जाय और न ही दोनो मे से प्रत्येक का क्षेत्राधिकार, उनके जहाजो पर होने वाली घटना तक सीमित किया जाय। यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक राज्य इसमे क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सके तथा ऐसा करते हुए वह पूरी घटना पर विचार करे। अत यह मामला समवर्ती क्षेत्राधिकार (concurrent jurisdiction) का है अर्थात् इसमे दोनो देशो को कार्यवाही करने का अधिकार है।"

उपर्युक्त विचार करने के बाद न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रत्येक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य को प्राप्त होने वाले विवेक (Discretion) के आधार पर टर्की ने यह फौजदारी कार्यवाही की है, अत उसने अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तो के प्रतिकूल कार्य नही किया।

कुछ आलोचको का यह मत है कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का यह निर्णय ठीक नही था। चाहे सभापति के निर्णायक मत से फ्रास के मत को अस्वीकार कर दिया गया, किन्तु सही मत वही था, क्योकि सार्वजनिक जहाज महासमुद्रो पर विदेशी राज्यो के क्षेत्राधिकार से मुक्त (Immune) रहते है। शान्ति काल मे यह सिद्धान्त विशेष रूप से लागू होता है। जब लोटस तथा बोजकोर्ट मे टक्कर हुई, उस समय किसी प्रकार का युद्ध नही चल रहा था, अत टर्की को फ्रास के जहाज पर या फ्रेंच प्रजाजन पर मुकद्दमा चलाने का कोई अधिकार नही था।

(६) दी वर्जिनियस (१८७३)—प्रादेशिक क्षेत्राधिकार—१८७० ई० मे वर्जिनियस (Virginius) नामक जहाज की रजिस्ट्री स० रा० अमरीका मे हुई थी। १८७३ मे पश्चिमी हिन्द द्वीपसमूह (West Indies) के क्यूबा टापू मे स्पेन के आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह हुआ। उस समय इस जहाज को विद्रोहियो ने ले लिया। यह जमैका टापू की राजधानी किंगस्टन से, ऊपर से दिखाने के लिये तो, कोस्टा रिका नामक राज्य की ओर रवाना हुआ, किन्तु इसका वास्तविक लक्ष्य क्यूबा पहुँचना था। इस समय एक स्पेनिश जगी जहाज ने इसका पीछा किया, इससे बचने के लिये कुछ समय तक इसने हैटी टापू के एक बन्दरगाह मे शरण ली। इसके बाद यह पुन क्यूबा की ओर रवाना हुआ, महासमुद्र मे स्पेन के टार्नेडो (Tornerdo) नामक युद्धपोत ने इसका पुन पीछा किया और इसे पकड़ लिया। पकडे जाने के समय इस जहाज पर बडी मात्रा मे हथियार, गोलाबारूद तथा काफी सख्या मे ऐसे यात्री पाये गये, जो क्यूबा के विद्रोहियो को सहायता देने के उद्देश्य से वहाँ जा रहे थे। किन्तु इसमे कुछ ब्रिटिश यात्री

भी थे, जो इस पर कोस्टा रिका जाने के इरादे से सवार हुए थे और उन्हें इसके क्यूबा की ओर जाने का कुछ भी ज्ञान नहीं था।

वर्जिनियस को पकड़ने के बाद इसे पूर्वी क्यूबा के सानटियागो बन्दरगाह में ले जाया गया, यहाँ यात्रियों को तथा नाविक-वर्ग को बन्दी बना लिया गया, इन पर समुद्री डकैती (Piracy) तथा विद्रोहियों को सहायता देने के आरोप लगाये गये। एक फौजी अदालत ने अन्य यात्रियों के साथ १६ ब्रिटिश तथा ९ अमरीकी यात्रियों पर लगाये जाने वाले उक्त आरोपों पर विचार किया तथा यात्रियों में से ३७ को गोली से उड़ान का दण्ड दिया, इनमें १६ ब्रिटिश प्रजाजन थे।

ग्रेट ब्रिटेन तथा स० रा० अमरीका की सरकारों ने स्पेन से इस दण्ड के विरुद्ध तीव्र प्रतिवाद किया, उसे यह कहा कि वह प्राणदण्ड की आज्ञा को अब आगे क्रियान्वित न करे। इस पर स्पेन की सरकार ने उस समय तक जीवित ब्रिटिश प्रजाजन अमरीकी सरकार को सौंप दिये, क्योंकि इस जहाज पर अमरीकी झण्डा फहरा रहा था। इस मामले में विवादास्पद प्रश्न यह था कि स्पेनिश सरकार द्वारा ब्रिटिश तथा अमरीकी नागरिकों पर संक्षिप्त मुकद्दमा चलाना (Summary trial) और दण्ड देना कहाँ तक न्यायोचित था। स्पेन की सरकार का यह कहना था कि वर्जिनियस जहाज पर हथियार और गोलाबारूद लदा हुआ था, इसकी यात्रा भी बड़ी सन्देहजनक थी, इसके कुछ यात्री निश्चित रूप से क्यूबा के विद्रोहियों को सहायता देने के उद्देश्य से जा रहे थे, अतः इस जहाज को समुद्री डकैती (Piracy) के कार्य में लगा हुआ समझना चाहिये।

इसके विपरीत ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि इसमें ब्रिटिश यात्री इस विश्वास के आधार पर सवार हुए थे कि जहाज कोस्टा रिका की ओर सद्भाव से (Bona fide) यात्रा कर रहा है, यात्रियों का पकड़ना और निरोध (Detention) भले ही वैध हो, किन्तु संक्षिप्त ढङ्ग (Summary manner) से उनको प्राणदण्ड देने का बिल्कुल कोई औचित्य नहीं था। इन पर समुद्री डकैती का कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि जहाज ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया था। इस विषय में आवश्यकता (Necessity) या आत्मरक्षा (Self-defence) का तर्क नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि जहाज को पकड़ लेने के बाद उससे किसी प्रकार का कोई भय नहीं रहा था। इस विषय में वाशिंगटन में तीन देशों के मध्य हुए एक सम्मेलन के परिणामस्वरूप स्पेन को वर्जिनियस जहाज, इसके बचे हुए यात्री और नाविक स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन को लौटाने पड़े तथा उसे फौजी अदालत की आज्ञा से मारे गए ब्रिटिश प्रजाजनों के परिवारों को हर्जाने की राशि देनी पड़ी।

इस मामले में एक अन्य विवादास्पद प्रश्न यह भी था कि क्या स्पेन, स० रा० अमरीका में रजिस्ट्री हुए तथा उसका झण्डा फहराने वाले जहाज के, महासमुद्र (High seas) में होने पर इसका पीछा या आक्रमण कर सकता है। स० रा० अमरीका के महान्यायवादी (Attorney General) का कहना था कि "इस जहाज की रजिस्ट्री कपटपूर्ण (fraudulent) थी, उसे अमरीकी झण्डा फहराने का कोई अधिकार नहीं था, किन्तु फिर भी वह समुद्र में विदेशी शक्ति के हस्तक्षेप से उतना ही मुक्त

जितना ठीक ढग से रजिस्ट्री कराने पर होता। स्पेन को अमरीकी झण्डे वाले जहाज को उसी हालत मे पकड़ने और निरोध करने का अधिकार था, जबकि वह स्पेन के प्रादेशिक समुद्र मे क्यूबा के विद्रोहियों को सहायता पहुँचा रहा हो।"

(१०) क्रिस्टीना (१९३८) क्षेत्राधिकार—इस मामले में यह प्रतिपादित किया गया था कि विदेशी राज्य किसी अन्य देश के न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से मुक्त होता है। १९३७ मे स्पेन मे गृहयुद्ध चल रहा था। जनरल फ्राको ने स्पेन की तत्कालीन गणराज्यवादी सरकार (Republican Government) के विरुद्ध विद्रोह करके उससे बहुत सा प्रदेश छीन लिया था। ९ जून १९३७ को उसने स्पेन के एक बडे बन्दरगाह बिल्बोआ (Bilboa) पर अधिकार कर लिया। स्पेन के अधिकाश जहाजो की रजिस्ट्री इस बन्दरगाह मे हुई थी। २८ जून १९३७ को गणराज्यवादी सरकार ने एक सरकारी आदेश द्वारा बिल्बोआ मे रजिस्ट्री हुए सब जहाज अपने अधिकार (Requisition) मे ले लिये। स्पेन की सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन मे विद्यमान ऐसे जलपोतों की सूची देते हुए उन्हें ये निर्देश भेजे कि ये जहाज जब किसी भी ब्रिटिश बन्दरगाह मे आयें इन पर अधिकार कर लिया जाय। इन आदेशों का पालन करते हुए स्पेन के वाणिज्यदूतो (Consuls) ने चालीस जहाजो पर कब्जा कर लिया। इसमें से एक जहाज क्रिस्टीना (Cristina) भी था।

क्रिस्टीना जलपोत के मालिको ने स्पेनिश सरकार की इस कार्यवाही का विरोध करते हुए इस विषय मे ब्रिटिश न्यायालय से सहायता माँगी और इस विषय मे निषेधाज्ञा प्राप्त की। इसपर स्पेन की गणराज्यवादी सरकार ने २७ जुलाई १९३७ को कुछ शर्तों के साथ ब्रिटिश न्यायालय मे उपस्थित होते हुए यह प्रार्थना की कि उसकी जलपोत प्राप्त करने के लिये की गई कार्यवाही को रोकने वाली निषेधाज्ञा को इस युक्ति के आधार पर रद्द कर दिया जाय कि यह जलपोत गणराज्यवादी सरकार के अधिकार मे है और इस मामले मे एक विदेशी राज्य अर्थात् स्पेन की सरकार को पक्ष बना दिया (Implead) गया है तथा स्पेन की सरकार इस विषय मे न्यायालय का क्षेत्राधिकार तथा इसका आदेश मानने को तैयार नही है। गणराज्यवादी सरकार का इस जहाज पर इसलिये भी अधिकार है कि इस विषय मे स्पेन की सरकार २८ जून १९३७ को इस जहाज को अपने कब्जे में लेने के आदेश प्रसारित कर चुकी है। जहाज के मालिकों की यह दलील थी कि स्पेन की गणराज्यवादी सरकार द्वारा जहाजो पर कब्जा करने का आदेश ब्रिटिश बन्दरगाहो मे विद्यमान स्पेनिश जहाजों पर लागू नही हो सकता तथा उस सरकार को इस विषय में कोई अधिकार नही दे सकता है। जहाज के मालिको की इच्छा के विरुद्ध इस पर गणराज्यवादी सरकार द्वारा अपना अधिकार स्थापित करना ब्रिटेन की प्रादेशिक प्रभुसत्ता का उल्लघन करना है। एक विदेशी राज्य किसी ऐसी सम्पत्ति के बारे मे किसी प्रकार की उन्मुक्ति की माँग नहीं कर सकता, जिसपर यह स्वामित्व का नही, अपितु केवल कब्जे का या नियन्त्रण के अधिकार का ही दावा कर सकता है।

किन्तु ब्रिटिश न्यायालय ने जहाज के मालिको की उपर्युक्त युक्तियाँ अस्वीकार करते हुए यह निर्णय दिया कि एक विदेशी राज्य या राजा का उसकी इच्छा

के विरुद्ध किसी भी कानूनी कार्यवाही मे कोई पक्ष नही बनाया जा सकता भले ही यह कार्यवाही विदेशी राजा के शरीर (Person) के विरुद्ध हो अथवा इसका सबन्ध उसकी किसी विशेष सम्पत्ति मे हो अथवा उससे कोई हर्जाना वसूल करना हो। इसके अतिरिक्त विदेशी राजा के स्वामित्व मे अथवा नियन्त्रण मे विद्यमान किसी सम्पत्ति को किसी कानूनी प्रक्रिया द्वारा रोका या जब्त नही किया जा सकता, भले ही इस कानूनी प्रक्रिया मे वह कोई पक्ष बना हो या न बना हो।

(११) दी स्कूनर एक्सचेंज वि० मैकफेड्डन (१८१२) क्षेत्राधिकार स्कूनर एक्सचेज (The Schooner Exchange) एक जहाज था। इसका स्वामी एक अमेरिकन था। यह स० रा० अमेरिका के बाल्टीमोर नामक बन्दरगाह से १८१० मे स्पेन की ओर जा रहा था। उस समय नैपोलियन की ग्रेट ब्रिटेन, स्पेन आदि योरोप के अधिकाश देशो के साथ लडाई चल रही थी, किन्तु स० रा० अमेरिका के साथ लडाई नही थी। नैपोलियन ने शत्रुदेशो के बन्दरगाहो को जाने वाले सभी जहाजों को पकडने का आदेश दे रखा था। इसके अनुसार स्पेन जाने वाले इस जहाज स्कूनर को भी पकड लिया गया, इसके बाद यह स० रा० अमेरिका के फिलाडेल्फिया के बन्दरगाह मे बहुत देर तक पडा रहा। इस स्थिति मे इसके स्वामी मैकफेड्डन ने अमेरिकन सरकार मे इस जहाज को इस आधार पर उसे लौटाने की प्रार्थना की कि यह उसका है तथा किसी न्यायालय ने इस जहाज के मामले पर विचार करके इसे फ्रास को नही दिया है।

इस मामले मे अमेरिकन सरकार का यह दावा था कि स० रा० अमेरिका और फ्रास मे शान्तिपूर्ण सबन्ध हैं, अत फ्रास के सार्वजनिक जलपोत अमेरिका के बन्दरगाह मे बिना किसी रोक टोक के प्रविष्ट हो सकते हैं। पेन्सिलवेनिया की जिला अदालत (District Court) ने सरकार की इस युक्ति को स्वीकार करते हुए जहाज के मालिक को उसका जहाज लौटाने की प्रार्थना अस्वीकार कर दी क्योकि इसको जब एक बार फ्रास ने लडाई मे पकड लिया और यह फ्रास द्वारा अधिकृत जहाज के रूप मे अमेरिकन बन्दरगाह मे प्रविष्ट हुआ तो इसे फ्रास का पोत समझा गया तथा इसे अमेरिका के अधिकार क्षेत्र से बाहर समझा गया। किन्तु जिला अदालत के उपर्युक्त नियम के विरुद्ध दौरा अदालत (Circuit Court) मे की गई अपील स्वीकार कर ली गई। इसके बाद इस निर्णय के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट मे अपील की गई तथा प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने दौरा अदालत के निर्णय को उलटते हुए जिला अदालत के निर्णय को स्वीकार किया तथा प्रादेशिक एव वैयक्तिक क्षेत्राधिकार (Territorial and Personal Jurisdiction) के प्रश्न पर महत्वपूर्ण विवेचना की। इस निर्णय मे यह माना गया कि स्कूनर एक ऐसे विदेशी राजा की सेवा मे लगा हुआ सार्वजनिक सैनिक पोत (Public army vessel) था, जिसके साथ अमेरिका के सबन्ध मैत्रीपूर्ण थे। इस जहाज को यहां इस बात को पहले से ही मानकर लाया गया होगा कि फ्रास के अधिकार मे होने के कारण यह अमेरिकन सरकार के क्षेत्राधिकार से मुक्त होगा।

इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्थिति को स्पष्ट करते हुए मार्शल ने अपने निर्णय मे लिखा था—"जब किसी एक राष्ट्र के युद्धपोत एक मित्रदेश के बन्दरगाह

में प्रविष्ट होते है तो इस विषय में यह समझ लेना चाहिए कि मित्रदेश इस बात के लिये अपनी सहमति (Consent) देता है कि ये जहाज उसके क्षेत्राधिकार से मुक्त समझे जाय। "एक सार्वजनिक युद्धपोत (A public armed ship) विदेशी राष्ट्र की सैनिक शक्ति का एक हिस्सा होता है, यह उस देश के राजा की सीधी कमान (Command) में उसके आदेशों का पालन करता है, राजा अपने कुछ राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस जहाज का प्रयोग करता है। वह किसी विदेशी राज्य को इन उद्देश्यो की पूर्ति मे बाधक नही बनने देना चाहता है। प्रत्येक राष्ट्र को अपने प्रदेश की सीमाओ मे पूर्ण एवं निर्बाध अधिकार प्राप्त होता है, यदि उसे ऐसा अधिकार न प्राप्त हो तो उसकी प्रभुसत्ता (Sovereignty) का कोई अर्थ या महत्व नहीं रह जायगा, वह सीमित हो जायगी। प्रत्येक राष्ट्र पर उसके क्षेत्र मे कोई विदेशी शक्ति प्रतिबन्ध नही लगा सकती है, किन्तु वह अपनी इच्छा से स्वयमेव अपने पर कुछ प्रतिबन्ध लगाता है। इनमे से एक प्रतिबन्ध यह भी है कि वह अपनी सीमा मे विद्यमान विदेशी राजाओ के जहाजो को अपने क्षेत्राधिकार से मुक्त कर देता है। स्कूनर एक्सचेंज भी इसी प्रकार का जहाज है, अत: स० रा० अमेरिका के क्षेत्राधिकार से मुक्त है।

(२१) कोर्फू चैनल का मामला (१९४९)—प्रादेशिक क्षेत्राधिकार, समुद्री सीमा—उत्तरी कोर्फू चैनल (Corfu Channel) या जलप्रणाली अल्बानिया तथा यूनान की सीमा का निर्माण करती है। इसका कुछ भाग इन दोनो राज्यो के प्रादेशिक समुद्र मे आता है। ब्रिटिश नौसेना ने अक्टूबर १९४४ तथा जनवरी १९४५ मे इसमे अपने समुद्री सुरंग साफ करने वाले जहाज भेजे। उस समय यहाँ कोई सुरग न पायी जाने से इस रास्ते को सुरक्षित घोषित किया गया। १५ मई १९४६ को इस प्रणाली मे से गुजर रहे दो ब्रिटिश युद्धपोतो ओरायन (Orion) तथा सुपर्ब (Superb) पर अल्बानिया के तट पर लगी तोपो ने गोलाबारी की। २२ अक्टूबर १९४६ को इसी जलप्रणाली के अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र वाले हिस्से मे से गुजरते हुए दो ब्रिटिश युद्धपोतो को यहाँ बिछाई गई सुरगो से गहरी क्षति पहुँची। इसमे ४४ व्यक्ति मृत तथा ४२ घायल हुए। इसके बाद ग्रेट ब्रिटेन ने इस जलप्रणाली के मार्ग को सुरक्षित बनाने की दृष्टि के अन्तर्राष्ट्रीय सुरग शोधक आयोग (International Mine Sweeping Commission) के निर्णय के अनुसार यहाँ अपने सुरग साफ करने वाले जहाज भेजने का निश्चय किया। १२-१३ नवम्बर १९४६ को अल्बानिया के अधिकारियो की स्वीकृति पाये बिना ही ब्रिटिश बेडे ने इस जलप्रणाली में सुरंगे साफ करने का कार्य किया और अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र मे ठीक उस स्थान पर सुरगों को बिछा हुआ पाया, जहाँ पिछली २२ अक्टूबर को दुर्घटना हुई थी।

अल्बानिया ने ब्रिटिश बेडे द्वारा उसके प्रदेश की सुरगे साफ करने का कार्य 'अपनी प्रभुसत्ता का पूर्वायोजित अतिक्रमण' (Premeditated violation of its sovereignty) बताया और इसका तीव्र प्रतिवाद किया। ग्रेट ब्रिटेन ने इस प्रश्न को स० रा० सघ की सुरक्षा परिषद् मे उठाया और अल्बानिया पर यह आरोप लगाया कि इस जलप्रणाली मे सुरगों की सत्ता का उत्तरदायित्व अल्बानिया पर है। २५ मार्च

१६४७ को परिषद् के बहुमत की यह सम्मति थी कि अल्बानिया को इन सुरगों की उपस्थिति का अवश्य ज्ञान था, इस प्रकार वह इस दुर्घटना के लिए उत्तरदायी है। किन्तु सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार (Veto) द्वारा इस प्रस्ताव को पास नहीं होने दिया। तत्पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव रखा कि यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पास निर्णय के लिये भेजा जाय। सुरक्षा परिषद् ने ६ अप्रैल १६४७ को यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तथा २५ मार्च १६४८ को हुए एक विशेष समझौते के अनुसार न्यायालय का निम्नलिखित दो प्रश्नों के निर्णय करने का कार्य सौंपा गया।

(१) क्या अल्बानिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार २२ अक्टूबर १६४६ को होने वाले उन विस्फोटों के लिए उत्तरदायी है, जो उसके प्रादेशिक समुद्र में हुए ? क्या वह इस दुर्घटना से हुई क्षति तथा मानवीय जीवन की क्षति के लिये जिम्मेवार है ? क्या इसकी क्षतिपूर्ति करना उसका कर्तव्य है ?

(२) क्या ग्रेट ब्रिटेन ने अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र में २२ अक्टूबर तथा १२-१३ नवम्बर के शाही बेड़े के कार्यों द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अल्बानियन जनता के गणराज्य की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण किया है ? क्या इस विषय में अल्बानिया को सन्तुष्ट करना उसका कार्य है ?

न्यायालय ने पहले प्रश्न का निर्णय देते हुए यह कहा कि अल्बानिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार २२ अक्टूबर १६४६ को होने वाले विस्फोटों के लिए तथा इनके परिणामस्वरूप हुई हानि तथा मानवीय जीवन की क्षति के लिये उत्तरदायी है तथा अल्बानिया का यह कर्तव्य है कि वह ग्रेट ब्रिटेन को इसका हर्जाना प्रदान करे। अल्बानिया को उत्तरदायी ठहराने का यह कारण दिया गया कि उसे इन सुरगों का ज्ञान अवश्यमेव रहा होगा, किन्तु उसने इस विषय में जहाजों को उपयुक्त चेतावनी देने में लापरवाही की। इस दुर्घटना के बाद अल्बानिया की सरकार ने इसके कारणों को खोजने तथा इसके लिये उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देने का कोई प्रयत्न नहीं किया। न्यायालय ने अल्बानिया की सरकार का यह मत स्वीकार नहीं किया कि यह हानि बहकर आने वाली (Floating) सुरगों से हुई, क्योंकि इस दुर्घटना में जितनी भीषण क्षति हुई, वह ऐसी सुरगों से कभी नहीं हो सकती थी। न्यायालय ने ग्रेट ब्रिटेन का यह दावा भी पुष्ट प्रमाणों के अभाव में अस्वीकार कर दिया कि ये सुरग अल्बानिया की उपेक्षा (Connivance) में युगोस्लाविया ने बिछाई हैं। अल्बानिया को उत्तरदायी ठहराने का निर्णय पाँच के विरुद्ध ग्यारह के बहुमत से हुआ। सोवियत जज ने बहुमत के निर्णय से विरोध प्रकट करते हुए यह कहा कि किसी राज्य को सम्भावनाओं के आधार पर दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किन्तु बहुमत ने अल्बानिया को इस दुर्घटना में लापरवाही करने का दोषी पाया और उसे ब्रिटिश सरकार को क्षतिपूर्ति के लिये ८,४३,६४७ पौण्ड देने को कहा।

न्यायालय ने अल्बानिया के इस दावे पर विचार किया कि अल्बानिया की सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना ग्रेट ब्रिटेन का अपने युद्धपोतों को अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र में भेजना उसकी प्रभुसत्ता का अतिक्रमण था।

इस विषय मे न्यायालय का यह मत था कि सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है, और अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा भी यही है कि शान्तिकाल मे प्रत्येक राज्य को तटवर्ती राज्य की पूर्व स्वीकृति लिये बिना ऐसे जलडमरूमध्य या जलप्रणाली मे से अपने युद्धपोत भेजने का अधिकार है, जो जलप्रणाली महासमुद्रो के दो बडे भागो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन का मार्ग बनी हुई हो। किन्तु इसमे एक बडी शर्त यह है कि लडाकू जहाजो का यह गुजरना सर्वथा निर्दोष (Innocent) होना चाहिए अर्थात् इसका उद्देश्य आक्रमणात्मक न हो। किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा यदि कोई प्रतिबन्ध न लगाये गये हो तो किसी तटवर्ती राज्य को यह अधिकार नही है कि वह शान्तिकाल मे अपने जलडमरूमध्य मे से किसी राज्य के जहाजो के निर्दोष रूप से गुजरने पर प्रतिबन्ध लगा सके। न्यायालय की सम्मति मे उत्तरी कोर्फू जलप्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय महामार्गों की श्रेणी मे आती है और शान्तिकाल मे कोई तटवर्ती राज्य किसी दूसरे देश के जहाजो को इसमे से गुजरने से नही रोक सकता। इन कारणो के आधार पर न्यायालय ने अल्बानिया की सरकार का यह दावा स्वीकार नही किया कि ग्रेट ब्रिटेन ने उसकी पूर्व स्वीकृति लिये बिना इस जलप्रणाली मे अपने युद्धपोत भेजकर उसकी प्रभुसत्ता का अतिक्रमण किया है। अतः दो वोटो के विरुद्ध चौदह वोटो के बहुमत से न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि २२ अक्टूबर १९४६ को अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र मे ब्रिटिश बेडे के कार्यों से ग्रेट ब्रिटेन ने अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण नही किया।

किन्तु १२-१३ नवम्बर १९४६ को ब्रिटिश बेडे द्वारा अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र मे उसकी स्वीकृति लिये बिना सुरगें साफ करने के कार्य को न्यायालय ने सर्व सम्मति से *ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण घोषित किया।* न्यायालय की सम्मति मे "इस प्रकार से दूसरे देश मे हस्तक्षेप करने का तथाकथित अधिकार बल-प्रयोग की नीति का ही रूप समझा जाना चाहिये। भूतकाल मे इसके अनेक भीषण दुरुपयोग हुए हैं। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सगठन मे कितने ही दोष क्यो न हो, किन्तु इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे स्थान नही दिया जा सकता।" न्यायालय ने ग्रेट ब्रिटेन का यह मत स्वीकार नही किया कि सुरगें साफ करने का उद्देश्य आत्मरक्षा और स्वावलम्बन था। "स्वतन्त्र राज्यों मे एक दूसरे की प्रादेशिक प्रभुसत्ता के प्रति पूरा आदर होना चाहिये, यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का एक आवश्यक आधार है।" न्यायालय ने यद्यपि यह स्वीकार किया कि "२२ अक्टूबर के विस्फोटो के बाद अल्बानिया की सरकार ने अपने कर्त्तव्यो का पालन नही किया, वह ग्रेट ब्रिटेन के साथ इस विषय मे कूटनीतिक पत्र-व्यवहार करने मे बडा विलम्ब करती रही। ये परिस्थितियाँ ग्रेट ब्रिटेन के अपराध की गुरुता को न्यून करने वाली (Extenuating) हो सकती हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति प्रतिष्ठा बढाने के लिये न्यायालय को यह घोषणा अवश्य करनी है कि ब्रिटिश नौसेना का यह कार्य अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण था।"

(१३) श्री सावरकर का मामला (१९११)—प्रत्यर्पण, प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र—प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री विनायक दामोदर सावरकर भारतीय प्रजाजन थे,

ग्रेट ब्रिटेन मे उन्होने भारत को स्वतन्त्र बनाने के लिये क्रान्तिकारी दल का सगठन किया और भारत मे क्रान्ति का प्रसार करने के प्रयत्न किये। इन कार्यों के लिये ब्रिटिश सरकार ने उन्हे इंगलैण्ड मे बन्दी बनाया, उन पर राजद्रोह तथा हत्या की प्रेरणा (Abetment of murder) के अपराधो के लिये अभियोग चलाने के लिये पी० एण्ड ओ० कम्पनी (P. and O Co) के मोरिया (Morea) नामक जहाज द्वारा उन्हे भारत भेजा गया। रास्ते मे यह जहाज फ्रास के मार्सेल्ज नामक बन्दरगाह मे ठहरा। यहाँ २५ अक्टूबर १९१० को श्री सावरकर इस जहाज से समुद्र मे कूद पडे और तैरकर समुद्र-तट पर आ गये। वहाँ इन्हे एक फ्रेंच सिपाही ने पकड लिया और प्रत्यर्पण (Extradition) की पूरी कार्यवाही किये बिना ही इन्हे ब्रिटिश जहाज के कप्तान को सौप दिया गया।

श्री सावरकर राजनीतिक अपराधी थे, अत फ्रेंच सरकार ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि श्री सावरकर फ्रास को वापिस कर दिये जाये और ब्रिटिश सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विधान के अनुसार औपचारिक रूप मे श्री सावरकर को इगलैण्ड को अर्पित करने की प्रार्थना करे। ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रास की यह माँग स्वीकार नही की। पारस्परिक सहमति मे दोनो देश इस मामले को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे ले गये। इसने अपने निर्णय मे यद्यपि यह स्वीकार किया कि इस मामले मे ब्रिटिश अधिकारियो को श्री सावरकर के सौपने मे अनियमितता हुई है तथापि इसने अपना फैसला ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष मे दिया और यह कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसके अनुसार ऐसी परिस्थितियो मे किसी शक्ति को अपने किसी ऐसे बन्दी को लौटाने के लिए बाधित किया जा सके, जो किसी विदेशी व्यक्ति की भूल म उसे मिल गया हो।

अनेक विधिशास्त्रियो (Jurists) ने इस निर्णय की बडी कटु आलोचना की। किन्तु इस मामले की विशिष्ट परिस्थितियो को देखते हुए कई कारणो से यह सर्वथा उचित प्रतीत होता है। पहला कारण यह है कि ब्रिटिश सरकार ने फ्रेंच सरकार को यह सूचना पहले से ही दे दी थी कि मोरिया जहाज मार्सेल्ज बन्दरगाह मे रुकेगा और इस पर एक बन्दी श्री सावरकर भी होगा। फ्रेंच सरकार ने यह सूचना पाने पर कोई आपत्ति नही की। दूसरा कारण यह है कि इस निर्णय से केवल इतना सिद्धान्त ही तय हुआ कि जब किसी राज्य का कोई व्यक्ति या अभिकर्त्ता (Agent) दूसरे राज्य के अधिकारियो को किसी भागे हुए कैदी को सौपने मे कोई अनियमितता करे तथा उसका यह कार्य सद्भावना से किया गया हो, तो यह बन्दी उस राज्य को लौटाया जाना आवश्यक नही है, जिसके अधिकारियो ने पहले इसे पकडकर दूसरे राज्य को दे दिया हो और बाद मे उस राज्य ने अपने अधिकारियो के कार्य को अवैध बताते हुए समर्पित बन्दी को वापिस करने की माँग की हो। इस मामले मे फ्रेंच सरकार ने ९ जुलाई से पूर्व श्री सावरकर को ब्रिटिश पुलिस को सौपने वाले अपने फ्रेंच ब्रिगेडियर के कार्य को अनुचित नहीं ठहराया था। इस समय तक मोरिया मार्सेल्ज से चल चुका था, ब्रिटिश अधिकारियो को यह विश्वास था कि ब्रिगेडियर ने अपनी सरकार से प्राप्त

आदेशो के अनुसार ही श्री सावरकर को उनके हवाले किया है। ब्रिगेडियर ने भी यह कार्य पूर्ण सद्भावना के साथ किया था। यद्यपि उसने इस विषय मे ऊपर से आदेश प्राप्त नही किये थे और प्रत्यर्पण की पूरी कानूनी विधि का पालन नही किया था, फिर भी इस मामले मे फ्रास की प्रभुसत्ता के उल्लघन का कोई कार्य नही हुआ। इसमे सभी व्यक्तियो ने सद्भावना (Good faith) के साथ कार्य किया, कोई अवैध कार्य नही किया। अत प्रत्यर्पण की पूरी कानूनी कार्यवाही न होने पर भी, ग्रेट ब्रिटेन को श्री सावरकर को पुन फ्रास को लौटाने के लिये किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा बाधित नही किया जा सकता था।

(१४) सैब्बाटिनो का मामला (१९६२)—राज्य का उत्तरदायित्व—यह मामला राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न होने वाले राज्य के उत्तरदायित्व (The International Responsibility of State) से सम्बन्ध रखता है। इसमे वादी क्यूबा का राष्ट्रीय बैंक तथा प्रतिवादी सैब्बाटिनो थे। ६ अगस्त १९६० को क्यूबा की साम्यवादी सरकार ने राष्ट्रीयकरण का एक कानून बनाया। इसने इस देश मे विद्यमान स० रा० अमेरिका के नागरिको की सारी सम्पत्ति का तथा इनके द्वारा चलाई जाने वाली कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा की। सैब्बाटिनो एक ऐसी कम्पनी का अस्थायी रिसीवर था, जिसे क्यूबा के कानूनो के अनुसार सगठित किया गया था, किन्तु जिसके अधिकाश हिस्सेदार स० रा० अमेरिका मे रहने वाले थे। इसने स० रा० अमेरिका के न्यायालय मे इस बात का दावा किया कि क्यूबा का राष्ट्रीयकरण का कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने वाला है क्योकि इसमे विदेशियो के एक विशेष वर्ग की सम्पत्ति उनको कोई मुआवजा दिये बिना उनसे जबरदस्ती छीन ली गई है, यह कार्य स० रा० अमेरिका से बदला लेने की भावना से किया गया है और इसमे अमेरिकन नागरिको के साथ ही यह विशेष भेदभाव किया गया है।

निचले न्यायालय ने सैब्बाटिनो के पक्ष मे निर्णय देते हुए कहा कि क्यूबा सरकार की आज्ञा ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन किया है और क्यूबा के राष्ट्रीय बैंक (Banco Nacional) का अधिकार अवैध है। राष्ट्रीय बैंक ने इस निर्णय के विरुद्ध सुप्रीमकोर्ट मे अपील की। इसने निचले न्यायालय के निर्णय को रद्द करते हुए यह कहा[1] कि न्याय विभाग किसी ऐसी विदेशी सरकार द्वारा इसकी सीमाओ के भीतर ली जाने वाली सम्पत्ति की वैधता के प्रश्न पर विचार नही करेगा, जिस सरकार को इस देश की सरकार मुकद्दमा चलाने के समय तक स्वीकार कर चुकी है, भले ही वादी इस विषय मे यह शिकायत करे कि इससे परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना हो रही है। न्यायालय इन प्रश्नो पर उसी समय विचार करेगे, जब इनके कानूनी सिद्धान्तो के बारे मे स्पष्ट रूप से कोई सधि या समझौता हुआ हो। इस प्रकार इस मामले मे 'राज्य-कृत्य' (Act of State) के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने दूसरे राज्य द्वारा किये कार्य को अपने क्षेत्राधिकार का विषय नही माना।

---

१. Banco Nacional de Cuba v Sabbatino, 376 U S 398, American Journal of International Law, Vol 58 (1964)

(१५) ट्रैण्ट काण्ड (१८१२)—दूतों की स्थिति—ट्रैण्ट (Trent) ग्रेट ब्रिटेन का डाक ले जाने वाला जहाज था। वह १८६१ मे क्यूबा की राजधानी हवाना (Havana) से सैण्ट टामस (St Thomas) जा रहा था। इस समय स० रा० अमरीका के उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यो में गृहयुद्ध चल रहा था। ट्रैण्ट जहाज पर दक्षिणी राज्यो द्वारा ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास मे नियत किये गये दो दूत (Envoys) मेसन तथा स्लिडेल भी सवार थे। स० रा० अमरीका की सरकार के एक क्रूजर ने ब्रिटिश विरोध के बावजूद इस जहाज को घेरकर दोनो दूत उनके पूरे सामान के साथ ट्रैण्ट जहाज से उतार लिये, इन्हे बन्दी बना लिया तथा इसके बाद जहाज को अपने गन्तव्य स्थान को जाने दिया।

स० रा० अमरीका का यह कहना था कि उसका यह कार्य सर्वथा न्यायोचित था, मेसन और स्लिडेल सैनिक व्यक्ति थे, वे युद्ध मे वर्जित सन्देशो तथा कागजो को ले जा रहे थे। जब अमरीकी जहाज द्वारा ट्रैण्ट की तलाशी ली गई तो ये कागज बरामद हुए थे, अत. उसे विनिषिद्ध वस्तु (Contraband) के रूप मे इन्हे पकडने का पूरा अधिकार था।

इसके विपरीत ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि मेसन और स्लिडेल दक्षिणी राज्यो के दूत थे, उनका पद और स्वरूप ऐसा था कि उन्हे विनिषिद्ध नही समझा जा सकता था। इन्हे दक्षिणी राज्यो की ओर से तटस्थ देशो मे भेजा जा रहा था, तटस्थ राज्यो को युद्धकारी राज्यो के साथ मैत्रीपूर्ण कूटनीतिक सबन्ध रखने का अधिकार है। अतः ग्रेट ब्रिटेन ने न केवल मेसन और स्लिडेल को अविलम्ब मुक्त करने की माँग की, अपितु अमरीकी सरकार पर इस बात के लिये भी बल दिया कि वह इस काण्ड के लिये क्षमा याचना करे। ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष का समर्थन रूस, प्रशिया, इटली और आस्ट्रेलिया ने भी किया।

चिरकाल तक पत्र-व्यवहार होने के बाद अमरीकी सरकार ने ब्रिटिश सरकार की माँग स्वीकार करते हुए मेसन और स्लिडेल को मुक्त कर दिया और उन्हे एक ब्रिटिश जहाज पर बिठला दिया ताकि वे अपने मूल गन्तव्य स्थान इगलैण्ड और फ्रास तक पहुँच सके। अमरीका द्वारा इस मामले मे झुकने का कारण यह था कि उसके क्रूजर ने मेसन और स्लिडेल को जबर्दस्ती ट्रैण्ट से उतार लिया था जब कि उसे यह उचित था कि वह इस जहाज को अमरीका के अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) मे पेश करके उससे इन्हे उतरवाने की आज्ञा प्राप्त करता।

(१६) जमोरा (१९१५)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राष्ट्रीय कानून तथा तटस्थता—जमोरा (Zamora) स्वीडन का एक व्यापारिक जहाज था। प्रथम विश्वयुद्ध मे यह न्यूयार्क से ताबा तथा अनाज लादकर स्वीडन की राजधानी स्टाकहोल्म को जा रहा था। ८ अप्रैल १९१५ को इसे एक ब्रिटिश क्रूजर ने मार्ग मे ही रोक लिया तथा एक ब्रिटिश बन्दरगाह मे चलने के लिये विवश किया। यहाँ पहुँचते ही इसे पकडने वालो ने यह दावा किया कि इस जहाज के माल को जब्त कर लिया जाय, क्योकि इस पर आधे से अधिक माल (तावा) युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री

(Contraband) मे आता है। उस समय यह भी प्रस्ताव रखा गया कि इस जहाज के माल को इस आधार पर बेच दिया या रोक लिया जाय कि यह शत्रु के देश की ओर जा रहा है अथवा शत्रु की सम्पत्ति है।

इस अवसर पर ग्रेट ब्रिटेन मे युद्ध कार्य के लिये आवश्यक सामग्री सरकार द्वारा ग्रहण करने वाले सबसे बडे अधिकारी (Procurator General) ने इस जहाज के मामले का अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) मे निर्णय होने तक सारा ताबा सरकारी कार्य के लिये प्राप्त कर लेने का आदेश दिया और इसका आनुमानिक मूल्य राज्य की ओर से अधिग्रहण न्यायालय मे जमा करने का वचन दिया।

जमोरा जहाज के मालिको ने स्वीडन के तटस्थ राज्य होने के कारण इस आदेश पर अनेक कानूनी आपत्तियाँ उठायी। किन्तु नौविभाग के न्यायालय (Admiralty Division) के अध्यक्ष सर सेमुअल इवान्स ने उपर्युक्त सरकारी आदेश को वैध ठहराया। इस पर जहाज के मालिक इस मामले को ब्रिटेन के उच्चतम न्यायालय प्रिवी कौंसिल की जुडीशियल कमेटी मे ले गये। प्रिवी कौंसिल मे लार्ड पार्कर ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक निर्णय मे सरकार द्वारा जमोरा जहाज के माल की जब्ती के निचले न्यायालय के फैसले को रद्द कर दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कई जटिल प्रश्नो पर सुन्दर प्रकाश डाला। इस दृष्टि से जमोरा का मामला असाधारण महत्व रखता है।

इस मामले मे कई महत्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय थे। पहला प्रश्न यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार क्या ब्रिटिश सरकार या ताज (Crown) को अधिग्रहण न्यायालय के निर्णय से पूर्व जहाजो को या उनके माल को सरकारी कार्य के लिये जब्त करने का अधिकार है। दूसरा प्रश्न यह था कि क्या अधिग्रहण न्यायालय के लिये इस प्रकार की जब्ती की सरकारी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। लार्ड पार्कर ने अपने निर्णय मे इन प्रश्नो पर विचार करते हुए इस विषय का इतना सुन्दर विवेचन किया कि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय एव राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) के पारस्परिक सम्बन्धो के और युद्ध के समय अन्य देशो के जहाजो को तथा उनके माल को जब्त करने के बारे मे विचार एव मीमासा की आधारशिला यही निर्णय है।

लार्ड पार्कर ने अधिग्रहण न्यायालय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए अपने निर्णय मे लिखा था, "अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) ने जिस कानून के अनुसार प्रशासन करना है, वह राष्ट्रीय (National) या जनपदीय (Municipal Law) कानून नही है, किन्तु राष्ट्रो का कानून (Law of Nations) या अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। इसमे कोई सन्देह नही कि अधिग्रहण न्यायालय एक जनपदीय या राष्ट्रीय न्यायालय है, इसकी आज्ञाओ तथा आदेशो को राष्ट्रीय कानून द्वारा ही वैधता प्राप्त होती है। अत एक दृष्टि से यह समझा जा सकता है कि यह न्यायालय जिस कानून को लागू करता है, वह राष्ट्रीय कानून की ही एक शाखा है। फिर भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे स्पष्ट अन्तर है। राष्ट्रीय कानून के अनुसार निर्णय करने वाला न्यायालय, इसका निर्माण करने वाले, सम्पूर्ण प्रभुसत्ता

सम्पन्न राज्य के नियमो मे बँधा होता है और इस कानून को क्रियात्मक रूप प्रदान करता है। • किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करने वाले न्यायालय को ऐसे कानून का स्वरूप निश्चित करना तथा उसे क्रियात्मक रूप देना है, जिस कानून को किसी विशेष राज्य ने नही बनाया, किन्तु जिसका प्रादुर्भाव या तो विभिन्न सभ्य राष्ट्रों द्वारा एक दूसरे के साथ सम्बन्ध मे पालन किये जाने वाले व्यवहार (Practice) तथा प्रथा (Custom) से हुआ है अथवा जिसका जन्म स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा हुआ है।"

"यदि कोई न्यायालय किसी प्रश्न पर ऐसा निर्णय करता है, जिसे वह राष्ट्रो के कानून के अनुकूल समझता है तो यह विवाद मे एक पक्ष बने हुए ब्रिटिश ताज (Crown) से कोई आदेश ग्रहण नही करता। यह न्यायालय स्वयमेव अपनी सर्वोत्तम योग्यता द्वारा यह निर्धारण करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या होना चाहिये। यह निर्णय चाहे कितने सकोच के साथ किया जाय, किन्तु यह सर्वदा शासकीय आदेश की अपेक्षा प्रबल होता है। केवल इसी प्रकार कोई अधिग्रहण न्यायालय अपना कार्य अच्छी तरह पूरा कर सकता है और दूसरे राज्यो द्वारा इसके निर्णयों म रखे जाने वाले विश्वास का पात्र बना रह सकता है।"

"अधिग्रहण न्यायालय का प्रधान कार्य यह है कि वह (छीनी या पकडी गयी) वस्तु (Res) को उन व्यक्तियों को देने के लिये सुरक्षित रखे, जो अन्ततोगत्वा इस पर स्वत्व या आगम (Title) सिद्ध कर सके। इस प्रकार की सम्पत्ति को बेचने के सम्बन्ध मे न्यायालय की नैसर्गिक शक्ति (Inherent Power) केवल उन्ही मामलो तक सीमित है, जहाँ तक इस प्रकार की सम्पत्ति की सुरक्षा किन्ही कारणों से सम्भव न हो। यह कारण या तो यह हो सकता है कि यह सम्पत्ति क्षयशील (Perishable) हो अथवा कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाए, जिनमे इसका सरक्षण असम्भव या कठिन हो।"

"सरकार द्वारा किसी वस्तु को प्राप्त करने की माग, अधिग्रहण या अर्थना का अधिकार (Right of Requisition) न्यायाधीशो की सम्मति म पूर्ण अधिकार (Absolute) नही है। इस अधिकार का प्रयोग कुछ निश्चित परिस्थितियो में तथा निश्चित उद्देश्यो के लिए ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा के अनुसार यह आवश्यक है कि युद्ध म पकडा गया शत्रु का सारा माल अधिनिर्णय (Adjudication) के लिये अधिग्रहण न्यायालय मे लाया जाय, अत सामान्य नियम के तौर पर अर्थना के अधिकार (Right of Requisition) का तभी प्रयोग किया जा सकता है, जबकि ऐसे माल को विचार के लिए न्यायालय म लाया जा चुका हो। इस बात का निर्णय युद्धसलग्न राज्य की कार्यपालिका ने नही, किन्तु न्यायालय ने करना है कि इस प्रकार जिस अधिकार का दावा किया जा रहा है, उसका प्रयोग किसी विशेष अवस्था मे किया जा सकता है या नही।"

"एक युद्धसलग्न शक्ति (Belligerent Power) को अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा यह अधिकार प्राप्त है कि वह अधिग्रहण न्यायालय द्वारा निर्णय किये जाने से पूर्व, इसके

सरक्षण में विद्यमान, युद्ध में पकडे जहाजो तथा माल के उपयोग की माँग (Requisition) करे। किन्तु यह अधिकार कई प्रतिबन्धो के साथ है। पहला प्रतिबन्ध यह है कि राज्य की रक्षा, युद्ध के सचालन तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से ऐसे जहाज या माल की अत्यावश्यकता होनी चाहिये। दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि न्यायालय के सामने इस प्रकार का वास्तविक प्रश्न होना चाहिये। तीसरा प्रतिबन्ध यह है कि अधिकार का प्रयोग अधिग्रहण न्यायालय के समक्ष आवेदन-पत्र देकर ही होना चाहिये। अधिग्रहण न्यायालय को ही न्यायिक दृष्टि से यह निर्णय करना चाहिये कि किसी विशेष मामले की परिस्थितियो को देखते हुए उसमे अर्थना या अधिग्रहण (Requisition) के अधिकार का प्रयोग होना चाहिये अथवा नही होना चाहिये।'

उपर्युक्त विचारो के आधार पर प्रिवी कौन्सिल ने अपील को स्वीकार करते हुए निचले न्यायालय के न्यायाधीश के निर्णय को इस आधार पर रद्द कर दिया कि उसके सामने ऐसे कोई सन्तोषजनक प्रमाण नही थे, जिनके आधार पर वह जमोरा जहाज की या उसके माल की सरकार द्वारा कोई माँग किये जाने पर यह माल सरकार को प्रदान कर सके। प्रिवी कौन्सिल ने अपील करने वालो का यह तर्क स्वीकार नही किया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अधिग्रहण न्यायालय के सरक्षण म विद्यमान *जहाजो की अथवा माल की माँग सरकार अपनी आवश्यकता के लिये नही कर सकती।* सरकार को यह अधिकार है, किन्तु इसमे उपर्युक्त तीन प्रतिबन्धो का पालन आवश्यक है, इनका पालन न करने के कारण निचले न्यायालय के निर्णय को प्रिवी कौन्सिल ने रद्द कर दिया।

(१७) एप्पम (१९१६)—तटस्थता—एप्पम (Appam) ग्रेट ब्रिटेन का एक व्यापारिक जहाज था। प्रथम विश्वयुद्ध मे जनवरी १९१६ मे इसे मोएवे (Moewe) नामक जर्मन क्रूजर (रणपोत) ने पकड लिया। इस समय यह निकटतम जर्मन बन्दरगाह एम्डन से १६०० मील दूर था। इसे जर्मन क्रूजर ने १ फरवरी १९१६ को स० रा० अमरीका के नारफोक (Narfolk) नामक बन्दरगाह मे पहुँचा दिया।

स० रा० अमरीका की सरकार ने इस प्रकार एक ब्रिटिश जहाज को अपने बन्दरगाह मे लाने का घोर विरोध किया, क्योकि वह उस समय तक तटस्थ देश था। उसने ब्रिटिश जहाज के नाविक वर्ग को तथा यात्रियो को मुक्त कर दिया, इसे पकडने वाले जर्मन क्रूजर के नाविको को नजरबन्द कर लिया और इस जहाज के विरुद्ध मान हानि का अभियोग चलाया, क्योकि स० रा० अमरीका के बन्दरगाह मे उसकी उपस्थिति अमरीका की तटस्थता का भग करने वाली थी।

स० रा० अमरीका की जिला सघीय अदालत (District Federal Court) ने इस विवाद म यह निर्णय किया कि ज्यो ही ब्रिटिश जहाज *तटस्थ देश के समुद्र* मे वहाँ अनिश्चित काल तक रखे जाने के इरादे से प्रविष्ट हुआ, उसी समय जर्मन सरकार का ब्रिटिश जहाज पर अधिकार का कानूनी दावा समाप्त हो गया। इस निर्णय के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट मे अपील की गई। उसने निचले न्यायालय के निर्णय को सुस्पष्ट करते हुए कहा—'युद्ध म पकडे हुए जहाज को कानूनी तौर से तटस्थ समुद्र मे रखने

पोत या बेडे (Convoy) के बिना नहीं लाया जा सकता। एल्पम को पकड़ने के बाद सामान्य पद्धति यह होनी चाहिए थी कि उसे किसी जर्मन बन्दरगाह में ले जाया जाता, वहाँ जर्मनी का अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) उसके सम्बन्ध में निर्णय करके उसे युद्ध में अधिगृहीत पोत (Prize Vessel) घोषित करता। किन्तु यह जहाज न तो जर्मनी के और न उसके किसी मित्रदेश के बन्दरगाह में ले जाया गया, अमरीका में उसे लाने का उद्देश्य उसकी मरम्मत करना नहीं था, वह ऋतु की प्रतिकूलता, ईंधन या खाद्य सामग्री की कमी से विवश होकर थोड़े समय के लिए यहाँ नहीं आया, किन्तु तटस्थ देश के बन्दरगाह में बिना रक्षकयान (Convoy) के आया। इन अवस्थाओं में युद्धसलग्न देश का यह प्रयत्न था कि वह तटस्थ देश अमरीका के बन्दरगाह को युद्ध में पकड़े जहाजों को सुरक्षित रखने का स्थल बनाए, किन्तु उन्हें यहाँ अनिश्चित काल तक रखना हेग के समझौते की व्यवस्थाओं के अनुसार तटस्थता का भंग करना था।"

(१८) आल्टमार्क (१६४०)—तटस्थता—आल्टमार्क जर्मनी का एक सहायक युद्धपोत (Auxiliary Warship) था। सितम्बर १६३६ में जब जर्मनी तथा ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के बीच द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा तो यह मैक्सिको की खाड़ी से राटरडम बन्दरगाह के लिये पैट्रोल का परिवहन कर रहा था। इस पर दूसरे विश्वयुद्ध में जर्मनी द्वारा बन्दी बनाये गये तीन सौ से अधिक ब्रिटिश अधिकारी तथा नाविक भी थे। १४ फरवरी १६४० को आल्टमार्क नार्वे के प्रादेशिक समुद्र (Territorial Waters) में प्रविष्ट हुआ, उसका यह इरादा था कि वह नार्वे और स्वीडन के तटस्थ राज्यों के प्रादेशिक समुद्रों में तट के साथ-साथ चलते हुए किसी जर्मन बन्दरगाह में सुरक्षित रूप से पहुँच जाय और ग्रेट ब्रिटेन के नौसैनिक आक्रमणों से सर्वथा सुरक्षित रहे।

नार्वे के अधिकारी आल्टमार्क के कागजों की जाँच करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे कि वह सहायक युद्धपोत है, इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार तटस्थ देश के समुद्र में से गुजरने का अधिकार है, अतः उन्होंने इसे अपने प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने की अनुमति दी और इस जहाज की तलाशी लेने की ग्रेट ब्रिटेन की प्रार्थना अस्वीकार कर दी, क्योंकि तलाशी केवल व्यापारिक पोतों की ही ली जा सकती है। इस पर ब्रिटिश विध्वंसक कज्जाक (Cossack) ने १६ फरवरी १६४० को आल्टमार्क पर आक्रमण किया और नार्वे सरकार के प्रतिवादों के बावजूद इस जहाज पर विद्यमान बन्दी ब्रिटिश प्रजाजनों को बलपूर्वक छीनकर इंगलैंड पहुँचा दिया।

इस पर नार्वे की सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन पर उसकी तटस्थता भंग करने का दोषारोपण किया, इस कार्य की निन्दा करते हुए उसे कड़ा प्रतिवाद-पत्र भेजा। ब्रिटिश सरकार ने इसका उत्तर देते हुए यह कहा कि उसका कार्य सर्वथा न्यायोचित था, नार्वे की सरकार ने इस जहाज की जाँच और तलाशी ठीक ढंग से नहीं ली थी, इस पर युद्धबन्दियों की उपस्थिति ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की इस व्यवस्था के लाभ से वंचित कर दिया था कि उसे तटस्थ देशों के प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने का अधिकार

है। आल्टमार्क पर युद्धबन्दी लदे होने के कारण इसका नार्वे के समुद्र में से गुजरना अवैध था। नार्वे सरकार का यह कर्त्तव्य था कि वह या तो बन्दियों को मुक्त कराती या जर्मन जहाज को अपने प्रादेशिक समुद्र से बाहर निकल जाने का आदेश देती।

नार्वे की सरकार ने ब्रिटिश सरकार के आदेश का खण्डन करते हुए कहा कि आल्टमार्क युद्धपोत था, अत उसकी तलाशी लेने का कोई अधिकार नार्वे को न था। नार्वे का केवल यही कर्त्तव्य था कि वह उस जहाज के स्वरूप और दर्जे का प्रामाणिक रूप से पता लगाये, यह काय उसके टारपीडो बोट ने १४ फरवरी को कर लिया था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नही है, जिसके अनुसार ऐसे प्रादेशिक समुद्र मे से जहाँ योद्धा देशो के रणपोतो को गुजरने का अधिकार हो, वहाँ रणपोतो द्वारा युद्धबन्दियों का परिवहन अवैध ठहराया गया हो। आल्टमार्क नार्वे के किसी बन्दरगाह मे नही ठहरा, वह अविच्छिन्न रूप से निरन्तर यात्रा (*Continuous voyage*) कर रहा था। १६०७ के हेग अभिसमय मे तथा नार्वे की तटस्थता के नियमो मे ऐसे युद्धपोत के गुजरने के लिये समय की कोई अवधि निश्चित नही की गई है, अत आल्टमार्क के लिये यह आवश्यक नही था कि वह २४ घण्टे के बाद नार्वे के प्रादेशिक समुद्र से बाहर निकल जाय, उसका नार्वे के समुद्र म मे गुजरना सर्वथा वैध था, नार्वे ने इस सम्बन्ध मे अपने अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यो का पालन किया, अत ग्रेट ब्रिटेन द्वारा उसके प्रादेशिक समुद्र म घुसकर ऐसा कार्य करने का कोई औचित्य नही था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विद्वानों मे से कुछ ग्रेट ब्रिटेन का कार्य न्यायसगत समझते है, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि अधिकाश विधिशास्त्री नार्वे का पक्ष न्यायोचित मानते है। उनका मत है कि नार्वे ने अपनी तटस्थता का पालन किया, १६०७ के तेरहवें हेग समझौते की १०वी धारा उसके पक्ष का समर्थन करती है, क्रीमियन युद्ध मे सिटका (Sitka) काण्ड भी उसके दावे का पोषक है। येल विश्वविद्यालय के प्रो० एडविन बोरचर्ड (*Edwin Brochard*) ने इस मामले के सम्बन्ध मे यह सत्य ही लिखा है—"ब्रिटिश विध्वसक द्वारा आल्टमार्क पर विद्यमान युद्धबन्दियों को छुडाने की अदम्य लालसा के साथ सहानुभूति होना स्वाभाविक है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि नार्वे ने अपनी तटस्थता के किन्ही कर्त्तव्यो का उल्लघन किया है। आल्टमार्क की तलाशी लेने का ब्रिटेन को कोई अधिकार नही था।" उसने इस विषय मे १८७० के फ्रैंको-प्रशियन युद्ध का एक मनोरजक दृष्टान्त दिया है। इसमे ग्रेट ब्रिटेन तटस्थ था, एक फ्रेंच युद्धपोत कुछ जर्मनबन्दियों के साथ उसके प्रादेशिक समुद्र फर्थ आफ फोर्थ (Frith of Forth) मे प्रविष्ट हुआ, इस पर जर्मनी के वाणिज्यदूत (*Consul*) लीथ (Leith) ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि तटस्थ होने के नाते वह फ्रेंच पोत के जर्मन युद्धबन्दियो को मुक्त करा दे। उस समय ब्रिटिश सरकार ने यह उत्तर दिया कि फ्रेंच रणपोत को ब्रिटिश प्रादेशिक समुद्र मे प्रवेश करने का तथा कुछ निश्चित समय तक रहने का अधिकार है। इस पर विद्यमान युद्धबन्दी स्वतन्त्र नही हो सकते, क्योंकि इस जहाज पर वे फ्रास के अधिकारक्षेत्र मे हैं और तटस्थ

देश को इसमे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। किन्तु अल्टमार्क के मामले मे ग्रेट ब्रिटेन नार्वे द्वारा इस प्रकार का कार्य करवाना चाहता था। हाइड (Hyde) ने भी यही मत प्रकट किया है कि नार्वे को आल्टमार्क की तलाशी लेने का कोई अधिकार नही था।

(१६) असमा मारू (१६४०) - (तटस्थता) द्वितीय विश्वयुद्ध म जनवरी १६४० मे जापान का एक व्यापारिक जहाज असमा मारू होनोलूलू से योकोहामा की ओर जा रहा था। होनोलूलू तथा योकोहामा क्रमश स० रा० अमरीका तथा जापान के बन्दरगाह थे, उस समय दोनो देश युद्ध म सम्मिलित न होने के कारण तटस्थ राज्य थे। इस जहाज पर असैनिक (Civilian) जर्मन नागरिक भी थे। जब यह जहाज जापान के प्रादेशिक समुद्र के निकट पहुँचा तो एक ब्रिटिश क्रूजर ने इस जहाज को पकड लिया, इसके २१ जर्मन नागरिको को यह कहकर जहाज से उतार लिया कि ये जर्मनी जा रहे हैं और वहाँ सेना मे भर्ती हो सकते है।

जापान की सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन के इस कार्य के विरुद्ध तीव्र प्रतिवाद किया और इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण बताया। ब्रिटिश सरकार ने इसका यह उत्तर दिया कि जर्मन सैन्य कानून के अनुसार १८ वर्ष से ४५ वर्ष तक की आयु वाले प्रत्येक पुरुष जर्मन नागरिक के लिये शस्त्र धारण करके सैनिक सेवा करना अनिवार्य है, इस जहाज के २१ जर्मन यात्री सैनिक सेवा के लिए निर्धारित आयु के थे। अतएव वे युद्ध की विनिषिद्ध वस्तुओ (Contraband of war) मे आते है, क्योकि स्वदेश पहुँचने पर वे सेना मे भर्ती हो सकते है।

जापान की सरकार ने इसका यह उत्तर दिया कि ब्रिटिश सरकार का यह कार्य ट्रैण्ट (देखिये ऊपर पृ० ६०३) के सुप्रसिद्ध मामले तथा **स्टीमशिप चायना** (S S China) के मामला मे निर्धारित किय गये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो के सर्वथा प्रतिकूल है, क्योकि इस मामले मे रोके गये व्यक्तियो का पद और स्वरूप ऐसा नही था जो उन्हे विनिषिद्ध वस्तु बना सके। तटस्थ राज्यो को यह अधिकार है कि वे युद्धकाल मे युद्धसलग्न दोनो पक्षो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। इस अवस्था मे केवल उन्ही व्यक्तियो को रोका जा सकता है, जो सशस्त्र अथवा सहायक (Auxiliary) सेनाओ के सदस्य हो। स्टीमशिप चायना के मामले म यह सिद्धान्त बडे स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया था।

सुप्रसिद्ध विधिशास्त्रियो ने ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण को गलत ठहराया क्योकि यह ट्रैण्ट के मामले तथा स्टीमशिप चायना के मामले मे निश्चित किय गये अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। इनके मतानुसार ग्रेट ब्रिटेन का कार्य किसी भी प्रकार न्यायोचित नही था। अन्त मे ब्रिटिश सरकार ने २१ जर्मनवन्दियो मे से नौ व्यक्तियो को इस आधार पर छोड दिया कि वे सैनिक सेवा करने योग्य नही थे।

(२०) अलबामा क्षतिपूर्ति दावा (१८७१) — स० रा० अमरीका के गृहयुद्ध (१८६१–६५) के समय ग्रेट ब्रिटेन के बन्दरगाहो म दक्षिणी राज्यो के सघ (Confederacy) के लिये अनेक जहाज बनाये गये, उनमे उत्तरी राज्यो के जहाजो पर

हमला करने के लिये भारी तोपें लगायी जाती थी। जब ये ब्रिटिश बन्दरगाहो से निकलते थे तो इन पर कोई हथियार नही होते थे, किन्तु उस समय सब यह जानते थे कि इन जहाजो का प्रधान उद्देश्य उत्तरी राज्यो के समुद्री व्यापार पर आक्रमण करना है। इस प्रकार का एक आक्रान्ता जहाज अलबामा (Albama) लिवरपूल के बन्दरगाह मे तैयार हो रहा था। ग्रेट ब्रिटेन मे उत्तरी राज्यो के अमरीकी प्रतिनिधि श्री एडम्ज ने २३ जून १८६२ को ब्रिटिश सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि यह जहाज उत्तरी राज्यो के समुद्री व्यापार पर हमले के इरादे से तैयार किया जा रहा है अत इसके विरुद्ध तुरन्त कार्यवाही की जाय। ब्रिटिश सरकार ने इस विषय मे आवश्यक जाँच आरम्भ की तथा २६ जुलाई को ब्रिटेन के कानूनी अधिकारियो ने इसके रोक लेने या निरोध (Detention) की सलाह दी।

किन्तु इसी दिन प्रात काल यह जहाज परीक्षणात्मक यात्रा (Trial trip) के लिये बन्दरगाह से समुद्रकी ओर रवाना हो गया और ३१ जुलाई तक एगल्सी (Anglesey) नामक टापू के पास खडा रहा, इसी बीच लिवरपूल से आकर ४० व्यक्ति इस पर चढे और बिना किन्ही हथियारो के यह अजोर्ज (Azores) द्वीपसमूह के टर्सीरा बन्दरगाह की ओर रवाना हो गया, यहाँ लन्दन और लिवरपूल से आने वाले दो जहाजो ने इसे हथियार कोयला, अफसर तथा कप्तान दिये, जहाज पर सवार व्यक्तियो को इसका असली उद्देश्य बताया तथा जो व्यक्ति आक्रमण के कार्य मे भाग नही लेना चाहते थे, उन्हे वापिस भेज दिया गया।

इसके बाद अलबामा ने उत्तरी राज्यो के समुद्री व्यापार पर हमले करने शुरू किये, इसने ७० जलपोतो को पकडकर उनका गम्भीर आर्थिक क्षति पहुँचायी। उत्तरी राज्यो के जहाजो के इस भीषण विध्वस के कारण यह गृहयुद्ध लम्बा खिच गया। इसी प्रकार की हानि अलबामा के अतिरिक्त इगलैड मे तैयार होने वाले अन्य जहाजो ने भी उत्तरी राज्यो को पहुँचायी। गृहयुद्ध समाप्त होने पर अमरीकी सरकार ने ब्रिटिश सरकार से यह मांग की कि वह ब्रिटेन मे तैयार होने वाले जहाजो से स० रा० अमरीका को हुई गहरी आर्थिक क्षति की पूर्ति करे। इस पर दोनो देशो मे बडी अप्रियता और कटुता उत्पन्न हुई इसका अन्त १८७१ की वाशिगटन की सधि द्वारा हुआ। इसके अनुसार दोनो देश क्षतिपूर्ति के प्रश्न को पचायत या मध्यस्थ निर्णय (Arbitration) द्वारा तय कराने के लिये सहमत हो गये।

इसका निर्णय करने के लिये बनाये गये पचो को यह निर्देश दिया गया कि वे इस विषय म तटस्थ राज्यो के कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ नियमो का पूरा ध्यान रखें। ये नियम मुख्य रूप मे तीन प्रकार के हैं—(१) एक तटस्थ सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसा समुचित प्रयत्न करे, जिससे इसके क्षेत्राधिकार मे विद्यमान किसी भी जहाज को बनाने अथवा हथियारो से सुसज्जित करने से उस अवस्था मे रोका जा सके, जब कि इस बात की युक्तिसगत सभावना हो कि यह जहाज उस देश के साथ शान्ति रखने वाली किसी शक्ति के विरुद्ध लडाई करने का इरादा रखता है। इसी प्रकार तटस्थ सरकार को इस बात का भी उद्योग करना चाहिये कि वह अपने

क्षेत्राधिकार से किसी ऐसे जहाज की रवानगी रोक सके जिस जहाज का विचार इस देश के साथ शान्ति रखने वाले किसी देश के विरुद्ध युद्ध करने का हो। (२) तटस्थ सरकार का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि यह युध्यमान (Belligerent) पक्षों में से किसी पक्ष को इसके बन्दरगाहों को या प्रादेशिक समुद्र को दूसरे पक्ष के विरुद्ध नौसैनिक कार्यवाही करने का अड्डा नहीं बनने देगी, और न ही इन्हें सैनिक रसद को तथा शस्त्रास्त्रों का भेजने का अथवा सैनिकों की भर्ती का अड्डा बनाया जा सकता है। (३) इसका यह भी कर्त्तव्य है कि यह अपने बन्दरगाहों तथा प्रादेशिक समुद्रों में ऐसी सावधानी बरतेगी कि यह अपने क्षेत्राधिकार में विद्यमान सभी व्यक्तियों से उपर्युक्त दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन करा सके और किसी व्यक्ति को इनका अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं करने दे।

पाँच मध्यस्थों में से चार के बहुमत से यह निर्णय किया गया कि ग्रेट ब्रिटेन को स० रा० अमरीका द्वारा उठायी गई क्षति की पूर्ति करने के लिये उसे एक करोड़ पचास लाख डालर स्वर्णराशि के रूप में देने चाहियें।

(२१) फ्रासिस्का (१८५५)–(परिवेष्टन)—फासिस्का डेन्मार्क का एक जहाज था। इसे बाल्टिक सागर में रीगा नामक बन्दरगाह को जाते हुए एक ब्रिटिश क्रूजर ने इस आधार पर पकड़ लिया कि उन दिनों क्रीमिया युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने रूसी बन्दरगाहों पर परिवेष्टन या घेरा (Blockade) डाल रखा था। इस युद्ध में ब्रिटिश, फ्रेंच और रूसी सरकारों ने समुद्री व्यापार के सम्बन्ध में अनेक आदेश निकाले थे, इनके अनुसार बाल्टिक सागर के बन्दरगाहों में वे केवल अपने जहाजों को व्यापार की अनुमति देते थे, किन्तु इन आदेशों के अनुसार घेरा डालने का यह परिणाम हुआ कि इन बन्दरगाहों के साथ तटस्थ देशों का व्यापार बन्द हो गया।

फ्रासिस्का जहाज की ओर से यह कहा गया कि उसके मालिकों का ब्रिटिश घेरा तोड़ने का कोई इरादा नहीं था। इस जहाज का परिवेष्टन न होने की दशा में ही रीगा जाने का आदेश दिया गया था।

प्रिवी कौन्सिल ने इस मामले का निर्णय करते हुए यह लिखा—'जिस स्थान का घेरा डाला जाय, वहाँ निरीक्षण के लिये इतनी समुद्री शक्ति अवश्य होनी चाहिये कि उसके कारण उस स्थान में जाना या वहाँ से निकलना सकटपूर्ण हो।" फ्रासिस्का के मालिकों की अपने बचाव की इस दलील को कौन्सिल ने स्वीकार नहीं किया कि उन्हें घेरे या परिवेष्टन का ज्ञान नहीं था, क्योंकि पिछले बन्दरगाह से जहाज के रवाना होने से पहले ही जहाज के कप्तान को यह सूचना मिल चुकी थी। फिर भी माननीय न्यायाधीशों ने इस मामले का फैसला फ्रासिस्का जहाज के मालिकों के पक्ष में ही किया। यह इस आधार पर किया गया कि यह घेरा इस कारण अवैध था कि इसे युद्ध-सलग्न देश अपने लिये तो शिथिल कर देते थे और तटस्थ देशों के लिये कठोर कर देते थे। इस वैषम्य के कारण यह घेरा गैरकानूनी था, अतः रीगा बन्दरगाह में प्रवेश का प्रयत्न करने वाले जहाज को पकड़ना अनुचित था।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भारतीय मामले

(२२) डालमिया दादरी सीमेण्ट कम्पनी लिमिटिड बि० कमीशन ग्राफ इकमटैक्स[1] (१६५८)—राज्य उत्तराधिकार—इस मामले मे पजाब की एक पुरानी रियासत जीन्द मे दादरी नामक स्थान पर सीमेण्ट बनाने तथा बेचने के लिए एक कम्पनी की स्थापना की गई थी। पहली अप्रैल १६३८ को जीन्द के तत्कालीन शासक ने एक समझौते द्वारा इस कम्पनी को बनाने वाले शान्तिप्रसाद जैन को इस विषय मे कुछ अधिकार प्रदान किये, जीन्द राज्य में सीमेण्ट बनाने के कार्य का एकमात्र अधिकार शान्तिप्रसाद को दिया गया। कम्पनी को यह अनुमति २५ वर्ष के लिए दी गई, आय-कर की दर ५ लाख की आमदनी तक ४ प्रतिशत तथा इससे अधिक आमदनी पर ५ प्रतिशत रखी गई थी, कम्पनी को चुगी (Octroi) के अतिरिक्त सभी प्रकार के आयात तथा निर्यात-कर से छूट दी गई। पहले ये सब अधिकार शान्तिप्रसाद जैन को तथा बाद मे २७ मई १९३८ को स्थापित होने वाली डालमिया दादरी सीमेण्ट कम्पनी को प्रदान किये गये।

१५ अगस्त १६४७ को जीन्द के राजा ने अपने प्रदेश की प्रतिरक्षा, विदेशी मामलो तथा सचार साधनो के विषय मे कानून बनाने के बारे मे भारत सरकार का अधिकार स्वीकृत किया। ५ मई १६४८ को पूर्वी पजाब की आठ रियासतो के राजाओ ने एक समझौते द्वारा अपने प्रदेशों को मिलाकर पेप्सू (Patiala East Punjab States Union) नामक राज्यसघ बनाया। २० अगस्त १६४८ को पेप्सू के राजप्रमुख ने जीन्द राज्य का प्रशासन सभाला और एक अध्यादेश (Ordinance) द्वारा घोषणा की गई कि अब इस मे पटियाला राज्य के कानून लागू होंगे, पिछले कानून रद्द कर दिये जायेंगे। २४ नवम्बर १६४६ को राजप्रमुख ने एक घोषणा द्वारा भारतीय सविधान को स्वीकार किया। १३ अप्रैल १६५० को पेप्सू ने भारत सरकार की सघीय वित्तीय एकीकरण योजना (Federal Financial Integration Scheme) स्वीकार की और यहां केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित कर लगाने की व्यवस्था चालू हुई।

इस के बाद कम्पनी की आमदनी पर केन्द्रीय सरकार ने निर्धारित आय कर की दर से कर लगाया। इस विषय म कम्पनी का यह कहना था कि उससे आय कर इस दर से नही, अपितु १ अप्रैल १६३८ को जीन्द के राजा के साथ हुए समझौते मे तय की गई दर से लिया जाना चाहिये, क्योंकि इस समझौते द्वारा राजा ने जो दायित्व और शर्तें स्वीकार की थी, वे नये राज्य को उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त हुई है, वह उनका पालन करने के लिए बाध्य है, नये राज्य का नवीन अध्यादेश पुराने राज्य के साथ किये गये समझौते की कानूनी स्थिति का समाप्त नही कर सकता है। प्रतिवादी का यह कहना था कि राजाओ द्वारा पेप्सू को बनाने के लिए किया गया समझौता राज्य-कृत्य (Act of State) है, इसकी वैधता के बारे मे राष्ट्रीय न्यायालयो (Municipal Courts) को विचार करने का कोई अधिकार नही है।

---

१. आल इण्डिया रिपोर्टर, १६५८ सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट ५१६, १६५६ सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट ७२१

सुप्रीम कोर्ट ने इस विषय मे प्रतिवादी की युक्ति स्वीकार करते हुए कहा कि पूर्वी पंजाब के राजाओं द्वारा संघ बनाने के लिए किया गया समझौता एक ऐसी संधि है, जिसे स्वतन्त्र राज्यों के शासकों ने किया है तथा इस संधि द्वारा उन्होंने अपने प्रदेशों पर अपनी प्रभुसत्ता के अधिकार छोड़ दिये है तथा इनको नवीन राज्य के शासक को प्रदान किया है। यह राज्य-कृत्य (Act of State) है क्योंकि इस शब्द मे किसी प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य द्वारा पहली बार प्राप्त किये गये सभी प्रदेश सम्मिलित होते हैं, भले ही वे किसी भी विधि—विजय या अर्पण (Cession) द्वारा प्राप्त हुए हो। इन प्रदेशों मे रहने वाले निवासी नवीन शासक द्वारा प्रदेश पा लेने के बाद उसके प्रजाजन हो जाते हैं। इस नवीन स्थिति मे इस प्रदेश के निवासियों को वे अधिकार नही प्राप्त होते, जो उन्हे भूतपूर्व प्रभुसत्तासम्पन्न शासक के समय मे प्राप्त थे, अपितु उन्हे केवल वही अधिकार प्राप्त होते है, जिनको नया शासक स्वीकार करता है या प्रदान करता है। इस प्रकार जब एक स्वतन्त्र शासक किसी प्रदेश पर अपनी प्रभुसत्ता किसी दूसरे शासक को प्रदान करता है तो यह कार्य राज्य-कृत्य (Act of State) का रूप धारण कर लेता है। इस विषय मे कोई भी दावा या मामला राष्ट्रीय न्यायालयों (Municipal Courts) मे नहीं लाया जा सकता। इस मामले मे पेप्सू मे सम्मिलित होना राज्य-कृत्य था, इसमे सम्मिलित होने वाले जीन्द के राजा ने अपना प्रदेश पेप्सू को सौंप दिया था, इसके राज्य-कृत्य होने के कारण इस मामले पर इस न्यायालय मे कोई विचार नहीं किया जा सकता था। डालमिया कम्पनी पर नई सरकार द्वारा निर्धारित आय-कर के नये नियम लागू होंगे। जीन्द राज्य के साथ हुए १९३८ के समझौते वाले पुराने नियम इस विषय मे लागू नहीं हो सकते हैं।

इस मामले मे न्यायाधीश विवियन बोस ने अपना मतभेदसूचक पृथक् निर्णय देते हुए यह विचार प्रकट किया कि प्रभुसत्ता के परिवर्तन से पुराने नागरिकों के सब अधिकार समाप्त नहीं हो जाते हैं।

(२३) मद्रास राज्य वि० राजगोपालन (१९५६)—राज्य-उत्तराधिकार— इस मामले मे तथ्य इस प्रकार थे १९३७ मे श्री राजगोपालन इंडियन सिविल सर्विस मे नियुक्त हुए तथा मद्रास सरकार मे काम करने लगे। २ जून १९४७ को उन्होंने कुछ समय के लिए छुट्टी ली, अपनी छुट्टी के दिनों मे उन्हे मद्रास सरकार का एक पत्र १९ जून १९४७ को प्राप्त हुआ, इसमे उनसे यह पूछा गया था कि १५ अगस्त १९४७ को ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को सत्ता हस्तान्तरण करने के बाद क्या वे अपनी नौकरी करना जारी रखना चाहते हैं। उनका उत्तर स्वीकारात्मक था, किन्तु ६ अगस्त १९४७ को उन्हे मद्रास सरकार से प्राप्त एक पत्र मे उन्हे १५ अगस्त के बाद सिविल सर्विस की सेवा मे न रखने के निश्चय की सूचना दी गई। इस प्रकार अपनी सेवा से मुक्त होने की सूचना पाकर श्री राजगोपालन ने इस निश्चय को रद्द कराने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल न होने पर उन्होंने मद्रास हाईकोर्ट मे अपनी सेवा की मुक्ति के आदेश की वैधता को चुनौती देते हुए मामला चलाया। इसमे वादी का यह दावा था कि मद्रास सरकार ने ऐसा आदेश देकर १९३५ के भारत सरकार कानून के खण्ड २४० मे सेवाओं के विषय मे

दी गई साविधिक गारण्टियो (Statutory guarantees) का अतिक्रमण किया है।

मद्रास सरकार का यह कहना था कि १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून के अनुसार सत्ता का हस्तान्तरण होते ही राजगोपालन की सेवायें समाप्त हो गई थी, उसे इसके बाद इस सेवा मे बने रहने का कोई कानूनी अधिकार नहीं था। हाईकोर्ट ने मद्रास सरकार की इस युक्ति को रद्द करते हुए श्री राजगोपालन की प्रार्थना स्वीकार की, मद्रास सरकार के आदेश को अवैध ठहराया। मद्रास सरकार ने इस निर्णय के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट मे अपील की।

सुप्रीम कोर्ट मे अपीलकर्ता ने यह युक्ति दी कि १५ अगस्त १९४७ को होने वाले परिवर्तनो से भारत मे एक नवीन प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का जन्म हुआ, इसके पैदा होते ही पुराने राज्य के समाप्त हो जाने के कारण उसके साथ किये गये सेवा-विषयक अनुबन्ध (Contracts) स्वयमेव समाप्त हो गये। इस विषय मे प्रतिवादी का यह कहना था कि नई सरकार भले ही कितनी स्वतन्त्र क्यो न हो, वह विजय अथवा अर्पण (Cession) के कारण स्थापित होने वाले प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य से बहुत भिन्न है तथा इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह नियम नही लागू हो सकता है कि पिछली सरकार के समाप्त होते ही, उसके साथ किये गये सब अनुबन्ध समाप्त हो जाते हैं।

सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले का निर्णय करते हुए यह कहा कि **भारतीय स्वतन्त्रता कानून १९४७** की धारा ७ (I A) के अनुसार इडियन सिविल सर्विस के विषय मे इसका पूरा नियन्त्रण करने वाला भारतमन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य के रूप मे पूर्णरूप से समाप्त हो गया है। इसका यह परिणाम है कि भारत-मन्त्री (Secretary of State for India) द्वारा इडियन सिविल सर्विस के बारे मे निर्धारित की गई शर्तें समाप्त हो गई हैं। इस प्रकार इस सेवा के विषय मे दी गई गारण्टियाँ तथा किये गये अनुबन्ध समाप्त हो चुके हैं। इडियन सिविल सर्विस के कर्मचारी केवल सिद्धान्त रूप से ही ब्रिटिश राज्य के नीचे है। ब्रिटिश सरकार के भारत से चले जाने पर नई सरकार को यह पूरा अधिकार है कि वह इडियन सिविल सर्विस के पुराने कर्मचारियों को नौकरी पर रखे या न रखे। इस आधार पर सुप्रीम कोर्ट ने मद्रास सरकार की अपील स्वीकार कर ली।

(२४) रावजी अमरसिंह वि० राजस्थान की सरकार (१९५८)—राज्य उत्तराधिकार इस मामले मे वादी रावजी अमरसिंह को २९ जनवरी १९४८ को बीकानेर के भूतपूर्व राज्य मे जिला तथा सैशन जज नियत किया गया था। इसके सेवा-काल मे देश मे कुछ राजनीतिक परिवर्तन हुए। ७ अप्रैल १९४९ को बीकानेर के राज्य ने अन्य राज्यों के साथ मिलकर राजस्थान का सयुक्त राज्य बनाया। नये राज्य ने अपने न्यायिक प्रशासन का पुनः सगठन किया। नय सगठन म रावजी अमरसिंह को सिविल जज नियत करते हुए लघु पदो (Junior Posts) मे उसको अठारहवाँ स्थान दिया गया। वादी को यह परिवर्तन नापसन्द था, उसका यह कहना था कि इसमे उसे भारतीय सविधान की धारा ३११ के अनुसार दिये गये अधिकारो का अतिक्रमण होता है।

सुप्रीम कोर्ट में इस मामले का निर्णय देते हुए न्यायाधीश विनियन बोस ने कहा था कि जब एक राज्य दूसरे राज्य में विजय, विलय (Merger) सम्मिलन (Accession), एकीकरण (Integration) आदि किसी प्रक्रिया से विलीन हो जाता है तो पहली सरकार के तथा इसके सेवकों के बीच में हुए पहले सभी सेवाविषयक अनुबन्ध (Contracts of Service) स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं। अतः जो व्यक्ति नये राज्य में सेवा करना स्वीकार करते हैं, वे नवीन सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों पर इसकी सेवा करते हैं। अतः न्यायालय ने इस विषय में वादी की अपील को रद्द कर दिया।

(२४) यूनियन आफ इण्डिया वि० चमनलाल लूना (१९५८) — राज्य उत्तराधिकार'—इस मामले में प्रतिवादी भारतीय सेना को भूसा देने वाला ठेकेदार था। १९४५ में उसने लाहौर छावनी के मिलिटरी फार्म के मैनेजर के माध्यम से तत्कालीन भारत सरकार के सेना विभाग को भूसा देने का एक ठेका लिया। इसके अनुसार उसने जमानत के रूप में सेना विभाग में ११०२६) रु० जमा कराया। इस ठेके के समझौते में एक शर्त यह भी थी कि इसके बारे में यदि कोई विवाद होगा तो उसका निर्णय एक पंच द्वारा किया जायगा। प्रतिवादी ने पाकिस्तान बन जाने तथा लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने के बाद भारत सरकार के सेना विभाग से ११०२६) रु० की जमानत वापिस करने का दावा किया, भारत सरकार ने इस दावे का विरोध १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता (अधिकार सम्पत्ति और दायित्व) आदेश [Indian Independence (Rights and Liabilities) Order, 1947] के आधार पर करते हुए यह कहा कि इसके अनुसार इस जमानत का उत्तरदायित्व पाकिस्तान पर है, न कि भारत सरकार पर। प्रतिवादी का यह कहना था कि इस मामले में भारतीय स्वतन्त्रता आदेश नहीं, किन्तु १९४७ का प्रतिरक्षा आदेश (Defence O der) लागू होना है, अतः भारत सरकार की युक्ति ठीक नहीं है। निचले न्यायालय ने प्रतिवादी के पक्ष में निर्णय दिया, इस पर भारत सरकार ने इस फैसले के विरुद्ध हाईकोर्ट तथा सुप्रीम कोर्ट में अपील की। सुप्रीम कोर्ट ने भारत सरकार की अपील स्वीकार करते हुए कहा कि यह अनुबन्ध या ठेका १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता आदेश की धारा ८ (१) (b) के अन्तर्गत है, ठेके का प्रयोजन लाहौर छावनी के मिलिटरी फार्म के मैनेजर को भूसा देना था, यह फार्म पाकिस्तान में चला गया है। इस विषय में निर्णय की कसौटी यह है कि १५ अगस्त १९४७ को यदि यह ठेका या अनुबन्ध किया जाता तो यह पाकिस्तान के प्रयोजन को पूरा करने के लिए किया जाता या भारत के प्रयोजन को। लाहौर छावनी के फार्म के पाकिस्तान में चले जाने के कारण इस ठेके का प्रयोजन पाकिस्तान का प्रयोजन पूरा करना है, अतः प्रतिवादी वादी से मुआवजे की मांग नहीं कर सकता है।

(२५) पेमा छिवर उर्फ प्रेमामाई दीवामाई लगन वि० यूनियन आफ इण्डिया

---

१. आल इंडिया रिपोर्टर १९५७, सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट ६५०

एण्ड अदर्स' (१९६६)—राज्य उत्तराधिकार—इस मामले मे सुप्रीम कोर्ट ने इस प्रश्न पर अपना निर्णय दिया है कि सैनिक कार्यवाही द्वारा जीते गये पुर्त्तगाली प्रदेश मे नई सरकार पुरानी सरकार के उन्हीं दायित्वो को पूरा करने के लिये बाध्य की जा सकती है, जिन्हे इसने स्वीकार कर लिया है। इस मामले मे प्रार्थी भूतपूर्व पुर्त्तगाली बस्ती का नागरिक था, जिसे भारत ने २० दिसम्बर १९६१ को सैनिक कार्यवाही करके अपने प्रदेश मे मिला लिया था। प्रार्थी ने ६ अक्टूबर से ४ दिसम्बर १९६१ के बीच मे पुर्त्तगाली अधिकारियो से १० लाख पौण्ड से अधिक मूल्य का माल आयात करने का लाइसेन्स प्राप्त किया, यह १८० दिनो के लिये वैध था। इसके अनुसार २० दिसम्बर से पहले विदेशो से माल मगवाने के आर्डर दे दिये गये थे। चूंकि विदेशो का माल निर्धारित समय मे नही आया था अत प्रार्थी ने भारत सरकार से उपयुक्त लाइसेन्सो के अनुसार माल मँगवाने की अनुमति मांगी, इसे न देने पर उसने मई १९६३ मे सरकार के विरुद्ध यह आवेदनपत्र दिया।

इस मामले मे प्रार्थी की ओर से यह कहा गया था कि भारत सरकार इस बात के लिये बाधित है कि वह उसे वाछित वस्तुओ का आयात करने दे क्योकि वह २० दिसम्बर १९६१ से पहले उसे दिये गये लाइसेन्सो का माल मँगाने के अधिकार को स्वीकार कर चुकी थी। इसके विरुद्ध भारत सरकार का यह दावा था कि उसने पुर्त्तगाली प्रदेश को सैनिक विजय के साधन से प्राप्त किया है, नया प्रभु या सर्वोच्च सत्तासम्पन्न शासक पुरानी पुर्त्तगाली सरकार द्वारा अपने पुराने प्रजाजनो के साथ किये गये समझौतों का पालन करने के लिये बाध्य नही है। यह बात नये शासक की इच्छा पर निर्भर है कि वह पुराने शासक द्वारा किये समझौतो या दिये गये वचनो का पालन करे या न करे। इस मामले मे भारत सरकार ने पुराने वचनो का पालन करने से इन्कार कर दिया है, अत प्रार्थी इस विषय मे कोई अधिकार नही रखता है।

न्यायालय ने इस विषय मे निर्णय देते हुए कहा कि विजय द्वारा प्राप्त किये गये प्रदेशो के सम्बन्ध मे कानूनी स्थिति निश्चित हो चुकी है। इन प्रदेशो के निवासियो को पिछले शासक या प्रभु के प्रजाजन होने के नाते जो अधिकार प्राप्त थे, वे सभी अधिकार उन्हे नये शासक के समय मे स्वत नही प्राप्त हो जाते है, उन्हे इस विषय मे केवल वही अधिकार प्राप्त होते है, जिन्हे देना नया शासक स्वीकार करता है। इस विषय मे न्यायालय ने Dalmia Dadri Cement Co Ltd v Commissioner of Income Tax, 1959 S C R 729, State of Gujrat v Vora Fiddali A I R 1964 S C 1043 के मामलो का हवाला देते हुए कहा है कि इनमे यह तय किया गया था कि एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रदेश को ग्रहण करना राज्य-कृत्य (Act of State) है, पुराने राज्य के प्रजाजन अपने उन्ही अधिकारो को लागू करवा सकते है, जिन्हे नवीन शासक ने स्वीकार कर लिया हो। श्यामलाल के मामले (A I R 1964, S C 1495) मे भी यही स्थिति मानी गई थी। इस सुनिश्चित कानूनी स्थिति के

१. Pema Chhibar v Union of India and others A I R. 1966, S C 442.

आधार पर वर्तमान मामले पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि ३० दिसम्बर १९६१ को गोआ के सैनिक राज्यपाल ने यह घोषणा की थी कि आयात किया गया जो माल जहाजो द्वारा रवाना हो चुका था अथवा जिसकी विदेशी मुद्रा दी जा चुकी थी, उसी माल का आयात किया जा सकेगा। प्रार्थी का आयात किया जाने वाला माल इन दोनों श्रेणियों मे नहीं आता अतः उसके अधिकार को नव शासक ने स्वीकार नहीं किया है, इसलिये यह अधिकार उपर्युक्त नियम के अनुसार उसे नहीं दिया जा सकता है।

(२७) रायल नेपाल एयरलाइन्स विरुद्ध मनोरमा मेहरसिंह लेगर[1] (१९६६)

क्षेत्राधिकार—इस मामले मे कलकत्ता हाईकोर्ट ने राज्य के क्षेत्राधिकार में विदेशी राजा तथा विदेशी सरकार की एजेन्सियों की उन्मुक्ति के बारे में (State Jurisdiction, Sovereign Immunity, Extent of Immunity of Foreign Government Agencies) तथा राज्य द्वारा इन उन्मुक्तियों का दावा किए जाने के बारे में महत्त्वपूर्ण कानूनी प्रश्नों पर विचार किया है। इसमे वादी मनोरमा गयर नैपाल एयरलाइन्स कारपोरेशन नामक कम्पनी में कार्य करने वाले एक कम्पनी के कर्मचारी की विधवा पत्नी थी। यह कम्पनी नेपाल सरकार के नियमों के अनुसार काम करने वाला कारपोरेशन थी, इसका प्रधान कार्यालय नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में था और यह कलकत्ता में भी कार्य करती थी, जो कलकत्ता हाईकोर्ट के क्षेत्राधिकार में था। नवम्बर १९६० मे, एक हवाई दुर्घटना मे वादी का पति मारा गया, वादी का यह कहना था कि यह दुर्घटना प्रतिवादी कारपोरेशन की लापरवाही से हुई अतः उस कम्पनी से पति की मृत्यु से होने वाली हानि का हर्जाना दिया जाना चाहिए।

प्रतिवादी कारपोरेशन ने अपने लिखित वक्तव्य में यह कहा कि रायल नेपाल एयरलाइन्स कारपोरेशन नेपाल सरकार का एक अंग है, नेपाल सरकार एक स्वतन्त्र विदेशी राज्य है, अतः कलकत्ता के न्यायालय को इस विषय को सुनने का अधिकार नहीं है, दुर्घटना में ग्रस्त होने वाला विमान नेपाल सरकार की सम्पत्ति था तथा नेपाल सरकार की देखरेख में काम करने वाले इस कारपोरेशन का सारा व्यय नेपाल सरकार वहन करती थी। इस प्रकार वादी का अभियोग (Cause of Cessqtion) कारपोरेशन के विरुद्ध नहीं, अपितु नेपाल की सरकार और उसके शासक के विरुद्ध था। इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कलकत्ता के न्यायालयों के अधिकारक्षेत्र में पूर्ण रूप से उन्मुक्ति (Immunity) प्राप्त है, इस विषय में कोई भी कार्यवाही भारत सरकार की सहमति के बिना किसी भी दीवानी अदालत में नहीं की जा सकती है अतः इस मामले को गुणावगुण के आधार पर नहीं सुना जा सकता है। किन्तु जज ने प्रतिवादी के आवेदनपत्र को इस आधार पर रद्द कर दिया कि इन मामले की जाँच के लिये सुझाए गए प्रारम्भिक विचारणीय प्रश्न (Preliminary issues) तथ्य के इस मामले के विचारणीय तथ्य के प्रश्नों से एक इस प्रकार सम्मिलित हैं कि इन पर अलग अलग विचार नहीं किया जा सकता है।

---

१. आल इण्डिया रिपोर्टर १९६७, कलकत्ता ३३१

इसके बाद भारत मे नैपाल सरकार के राजदूत की ओर से न्यायालय मे दिये गये एक आवेदनपत्र द्वारा उपर्युक्त तथ्यो को दोहराते हुए दो प्रार्थनायें की गई थी—(१) विदेशी राज्यो को प्राप्त होने वाली उन्मुक्ति के दावे के आधार पर इस मामले को खारिज कर दिया जाय, (२) इस आवेदनपत्र को देने वाले राजदूत को इस मामले मे उन्मुक्ति का दावा करने का अधिकार दिया जाय। इस प्रार्थनापत्र को न्यायाधीश ने इस आधार पर रद्द कर दिया कि दीवानी विधिप्रक्रिया सहिता (Civil Procedure Code) कोई ऐसा प्राविधान नही है कि किसी मामले से सम्बन्ध न करने वाला कोई व्यक्ति उस मामले को खारिज करने की प्रार्थना कर सकता है। निचली अदालत द्वारा दिये गये उपर्युक्त दोनो आदेशो के विरुद्ध कलकत्ता हाईकोर्ट मे दो अपीलें की गई और वहाँ इनकी सुनवाई एकसाथ की गई।

न्यायालय के पहले आदेश के विरुद्ध अपील मे यह कहा गया था कि न्यायाधीश को इस मामले के गुणावगुणो पर विचार करने से पहले इस प्रश्न का निर्णय अवश्य करना चाहिये था कि अपील करने वाला नैपाल सरकार का अग है या नही है, अन्यथा इसका मामले के निर्णय पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की आशका थी। दूसरी अपील मे यह *प्रार्थना की गई थी कि एक विदेशी राज्य किसी मामले मे अप्रत्यक्षरूप से भी सबद्ध* होने पर इस बात का पूरा अधिकार रखता है कि वह इस मामले पर विचार के दौरान किसी भी समय आकर न्यायालय से यह प्रार्थना करे कि इस मामले को सुना जाय या न सुना जाय। इस प्रकार इस मामले मे न्यायालय ने तीन प्रश्नों पर निर्णय देना था—(१) विदेशी राज्य एव राजा की क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति का स्वरूप और मात्रा। (२) इस उन्मुक्ति की माग करने का अधिकार किसे है? (३) इसकी मांग किस प्रकार की जानी चाहिये?

इस विषय मे अपना निर्णय देते हुए प्रधान न्यायाधीश बोस ने यह लिखा कि यह सत्य है कि दीवानी विधिप्रक्रिया सहिता (Civil Procedure Code) मे कहीं यह नही लिखा कि विदेशी राजा या सरकार दीवानी मामलो मे उन्मुक्ति की माँग कर सकती है। किन्तु इस विषय मे यह प्रश्न विचारणीय है कि दीवानी सहिता मे ऐसी लिखित व्यवस्था न होने की दशा मे क्या न्यायालय विदेशी राजा या सरकार से सम्बन्ध रखने वाले मामलो पर विचार कर सकते हैं। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिये कि कानून सामान्य नियम होते हैं, वे भविष्य मे उत्पन्न होने वाले सभी सभावित मामलो के लिये पहले से व्यवस्था नहीं कर सकते। दीवानी विधिसहिता भी इसी प्रकार का कानून है, इसमे न आने वाले किसी विशेष प्रश्न का निर्णय सामान्य नियमों से किया जाना चाहिये। इस विषय मे हाउस आफ लार्डस ने Compania Naviera Vascongada v Steamship Cristina 1938 (Per Lord At Bin) के मामले मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो सामान्य तथा असदिग्ध नियमों का प्रतिपादन किया है—(१) इस देश के न्यायालय विदेशी राजा से सम्बन्ध रखने वाले मामले मे उसकी इच्छा के विरुद्ध ऐसी कोई कानूनी कार्यवाही नही करेंगे, जिसमे वह किसी मामले मे कोई पक्ष बने। विदेशी राजा के विरुद्ध या उसकी सम्पत्ति या उससे हर्जाने की माँग के बारे मे

कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती है। (२) दूसरा नियम यह है कि न्यायालय विदेशी राजा से सबन्ध रखने वाली, उसके स्वामित्व अथवा नियन्त्रण म विद्यमान किसी भी सम्पत्ति को जब्त करने या रोकने (detain) के सम्बन्ध में कोई कार्यवाही कर सकता है, भले ही इस मामले में विदेशी राजा को पक्ष न बनाया गया हो। इन नियमों की पुष्टि मे न्यायालय ने Parlement Belge (1880), The United States of America v Dolfus mieng et Compagnia (1952), Juan Ysmeal & Co v Republic of Indonesia (1955), Rahimtoola v Nizam of Hyderabad के मामलो का उल्लेख किया। इसके बाद Mighell v Sultan of Johore (1894), Krajina v Tass Agency (1949), Baceus S R L v Servicis National Del Trigo (1957) के मामलों का निर्देश करते हुए न्यायाधीश ने लिखा कि मुझे इसमें कोई सदेह नहीं है कि नेपाल के राजदूत द्वारा प्रतिवादी की ओर से प्रस्तुत किए गये हलफनामा म प्रतिपादित सामग्री इस तथ्य बात को स्वीकार करने के लिये पर्याप्त प्रमाण देती है कि वादी नेपाल सरकार का एक विभाग है और वादी द्वारा उसके विरुद्ध हर्जाने के लिए किये गये दावे के बारे म उस इस न्यायालय के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति पाने का दावा करने का पूरा अधिकार है। अत इस मामले का खारिज कर देना चाहिये और इसमें कोई अगली कार्यवाही नहीं करनी चाहिए, इस युक्ति मे कोई बल नहीं है कि नेपाल का राजदूत इस मामले मे कोई पक्ष नहीं बना है।

(२८) कमिश्नर आफ इन्कमटैक्स आन्ध्रप्रदेश विरुद्ध एच० ई० एच० मीर उस्मान अली बहादुर (१६६६) — क्षत्राधिकार— इस मामले मे सुप्रीम कोट ने इस प्रश्न पर अन्तिम निर्णय दिया था कि निजाम हैदराबाद क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से प्रभुसत्तासम्पन्न राजा था और उसे इस आधार पर भारतीय आय-कर कानून स मुक्ति पाने का अधिकार था। इस मामले मे आन्ध्र प्रदेश के आय-कर आयुक्त ने हैदराबाद के भूतपूर्व राजा निजाम की १९४०-४१ की तथा १९४१-४२ की आमदनी पर आय-कर लगाया था और इस विषय में आन्ध्र प्रदेश के हाईकोर्ट से निम्न प्रश्नों पर सम्मति मांगी थी— (१) क्या निजाम अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से १९५०-५१ का कर देने से उन्मुक्ति पाने का अधिकार रखता है ? (२) क्या १५ जनवरी १९५० को हुए समझौते के अनुसार उससे १९२२ के आय-कर कानून के अनुसार कर लिया जा सकता है ?

आन्ध्र प्रदेश के हाईकोर्ट ने यह सम्मति दी कि २५ जनवरी १९५० तक निजाम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार एक प्रभुसत्तासम्पन्न राजा (Sovereign) था, अत इस तिथि तक उसे अपनी आय पर आय-कर से उन्मुक्ति पाने का अधिकार है, उसके बाद राजा न रहने से उसे यह अधिकार नहीं है। इसके बाद इस प्रश्न पर सुप्रीम कोर्ट ने विचार किया तथा हाईकोर्ट की सम्मति को स्वीकार नहीं किया। इस विषय में न्यायालय ने प्रधान रूप से दो प्रश्नों पर विचार किया— (१) विदेशी राजाओं को कर से मुक्ति पाने के अधिकार की मात्रा और स्वरूप क्या है ? (२) क्या हैदराबाद के निजाम को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (International Person) या प्रभुसत्तासम्पन्न राजा माना जा सकता है ?

पहले प्रश्न के सबन्ध मे न्यायालय का यह मत था कि इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून विकसित हो रहा है तथा उसे कोई सुनिश्चित रूप नही प्राप्त हुआ है। हेलसबरी और आपेनहाइम जैसे लेखको ने यह मत प्रकट किया है कि प्रभुसत्तासम्पन्न शासको (Sovereign Rulers) पर कोई कर नही लगाया जा सकता है। किन्तु हाउस आफ लार्डस ने Sultan of Johore v. Abubakar Dunpur (1952) के मामले मे यह कहा था कि न्यायाधीशो का यह विचार है कि "इगलैण्ड मे इस विषय मे अभी तक अन्तिम रूप मे कानून निश्चित नही हुआ है...यह कोई निरपवाद नियम (Absolute rule) नही है कि किसी स्वतन्त्र विदेशी राजा के सबन्ध मे हमारे न्यायालयो मे कोई भी कार्यवाही नही की जा सकती है।' इसके बाद न्यायालय ने विदेशी राजाओ की सम्पत्ति पर कर मे मुक्ति के विषय मे अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ (खण्ड ८६, पृ० २८६) मे प्रकाशित एक लेख से उद्धरण देते हुए यह बताया कि विदेशी राजाओ की अपनी सम्पत्ति पर कर से मुक्ति की कुछ मर्यादायें होनी चाहिये। यह कर उन्ही अवस्थाओं म मुक्त होना चाहिये, जब वे इनमे परम्परागत शासन सबन्धी कार्य कर रहे हो। किन्तु वे यदि अपनी सम्पत्ति को विदेशी व्यापार मे ऐसे कार्यों मे लाभ के लिये लगाते है, जिनमे अन्य व्यक्ति अपनी पूंजी लगा रहे है तो इस बात का कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता है कि उन्हे करो मे मुक्ति प्रदान करके अन्य व्यक्तियों की तुलना मे कोई विशेषाधिकार दिया जाय और वे अपने कर का भार अनावश्यक रूप से दूसरे व्यक्तियों पर डाले।

न्यायालय ने निजाम के स्वतत्र, प्रभुसत्तासम्पन्न राजा (Sovereign Ruler) तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति होने पर विशेष विस्तार से विचार किया। उन्होने कहा कि आपेनहाइम के मतानुसार राज्यो के परिवार (Family of Nations) का सदस्य होकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए किसी राज्य मे चार विशेषतायें होनी चाहियें—(१) समानता, (२) प्रतिष्ठा या गौरव, (३) स्वतन्त्रता, (४) प्रादेशिक एव वैयक्तिक सर्वोच्च सत्ता। निजाम हैदराबाद इन चार विशेषताओ के होने पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति माना जा सकता है।

हैदराबाद राज्य का पुराना इतिहास देते हुए न्यायालय ने यह बताया कि १८५८ मे ग्रेट ब्रिटेन के राजा (Crown) ने समूचे भारत का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से अपने हाथो मे ले लिया। सम्पूर्ण भारत को ब्रिटिश ताज की छत्रछाया मे लाने की घोषणा करते हुए लार्ड केनिंग ने कहा था कि ब्रिटिश ताज (Crown) भारत की सर्वोच्च शक्ति (Paramount Power) है। "भारतीय रियासतो पर श्वेतपत्र (White Paper on Indian States) मे भी यही स्थिति स्वीकार की गई थी। १९३५ मे भारत सरकार कानून (Government of India Act) ने राज्यो को भारतीय सघ मे सम्मिलित होने या न होने की स्वतन्त्रता कुछ शर्तों पर ही दी थी, किन्तु १९३९ मे सघ के विचार को छोड दिया गया। १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून से ब्रिटिश प्रभुता समाप्त हो जाने पर रियासतो को सर्वोच्च सत्ता उन्हे वापिस मिल गई, किन्तु इससे उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International Personality) नही प्राप्त हुआ। किसी

भी राज्य ने हैदराबाद को वास्तविक (de facto) या कानूनी (de jure) मान्यता नहीं प्रदान की। २३ नवम्बर १९४९ को निजाम ने एक घोषणा प्रकाशित करके भारत के संविधान को इस शर्त पर स्वीकार किया कि हैदराबाद राज्य की संविधान परिषद् भी इसे संपुष्ट (ratify) करे। इस परिषद् द्वारा इस विधान को स्वीकार करने के बाद हैदराबाद को संविधान की प्रथम अनुसूची के खण्ड 'बी' में सम्मिलित किया गया। इस इतिहास से यह स्पष्ट है कि हैदराबाद १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून से पहले ब्रिटिश ताज की प्रभुता (Suzerainty) में था और इसके बाद सधिवार्ता द्वारा भारतीय राज्य का अंग बन गया। इसे किसी भी समय में अन्य राष्ट्रों ने स्वतन्त्र राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। ब्रिटिश शासन के समय में हैदराबाद की स्थिति अन्य रियासतों के समान वशवर्ती राज्य (Vassal State) के रूप में थी। इस विषय में न्यायालय ने ओपेनहाइम (५म संस्करण, खण्ड १, पृ १६५-६) का यह कथन उद्धृत किया कि भारतीय रियासतों की ग्रेट ब्रिटेन के साथ ऐसे वशवर्ती राज्यों की स्थिति है, जो आपस में अथवा विदेशी राज्यों के साथ कोई अन्तर्राष्ट्रीय सबन्ध नहीं रखते थे। हाल ने भी अपनी पुस्तक International Law के अष्टम संस्करण में यही मत प्रतिपादित किया है कि भारतीय रियासतें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं बन सकती हैं। इन बातों के आधार पर अन्त में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार हैदराबाद को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त नहीं था, अतः इसका राजा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति पर लगाये कर से मुक्ति का दावा नहीं कर सकता है।

(२९) सैण्ट्रल बैंक आफ इंडिया लिमिटेड वि० रामनारायण[1] **(१९५५)—राष्ट्रीयता**—इस मामले में तथ्य इस प्रकार थे। रामनारायण नामक व्यक्ति पाकिस्तान में चले गये मुल्तान नामक नगर में सैण्ट्रल बैंक आफ इण्डिया की एक शाखा में कर्मचारी था, वह मुल्तान का रहने वाला था, १५ अगस्त १९४७ को भारत के स्वतन्त्र होने पर भी वह भारत नहीं आया और मुल्तान के बैंक में काम करता रहा। वहाँ ९ नवम्बर १९४७ को उसने गबन का अपराध किया और १० नवम्बर १९४७ को वह भारत भाग आया। भारत के सैण्ट्रल बैंक ने उस पर मुकद्दमा चलाने की स्वीकृति पूर्वी पंजाब की सरकार से प्राप्त की तथा उस पर कई अपराधों के लिये मुकद्दमा चलाया।

रामनारायण ने अपने विरुद्ध चलाये गये मामले में प्रारम्भिक आपत्ति उठाते हुए यह कहा कि वह पाकिस्तान का नागरिक है, अत उसके विरुद्ध मामला चलाने के लिये भारतीय दण्डविधान (Indian Penal Code) के चौथे खण्ड (Section) तथा फौजदारी प्रक्रिया (Code of Criminal Procedure) के खण्ड १८८ के अन्तर्गत ली गई अनुमति अवैध है, अत उस पर यह मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। किन्तु निचले न्यायालय ने रामनारायण की इस आपत्ति को इस आधार पर रद्द कर

१. आल इंडिया रिपोर्टर १९५५, सुप्रीम कोर्ट २६

दिया कि रामनारायण को इस युक्ति के आधार पर पाकिस्तान का नागरिक नहीं माना जा सकता कि वह १५ अगस्त से १० नवम्बर १९४७ तक मुल्तान में रहता रहा है। श्री रामनारायण ने इसके विरुद्ध हाईकोर्ट में अपील की और हाईकोर्ट ने निचली अदालत की आज्ञा रद्द करते हुए उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इसके विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील की गई, यहाँ भी हाईकोर्ट के निर्णय का समर्थन किया गया।

सुप्रीम कोर्ट में महाधिवक्ता (Attorney General) ने यह युक्ति दी कि जब रामनारायण का अभियोग चलाने की स्वीकृति दी गई थी, उस समय वह भारत में था और भारतीय नागरिक था, भारतीय दण्डविधान के अनुसार भारत के नागरिकों पर उनके द्वारा भारत की सीमाओं से बाहर किये गये अपराधों के लिये मुकद्दमा चलाया जा सकता है। सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन ने इस युक्ति को अस्वीकार करते हुए कहा कि भारतीय दण्डविधान के चतुर्थ खण्ड की व्यवस्थायें तभी लागू होती है, जब अपराध करने के समय अपराधी भारत का नागरिक हो। अपराध करने के बाद यदि कोई भारतीय नागरिकता प्राप्त कर लेता है तो इसे भारतीय न्यायालयों को उसके भारतीय नागरिक बनने से पहले किये गये उसके अपराधों पर विचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता है। न्यायाधीश के शब्दों में—"इस मामले में वस्तुत *रामनारायण की नागरिकता का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता है।* इस मामले में वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या अपराध करने के समय रामनारायण भारतीय नागरिक था। हमारा संविधान लागू होने के समय (२६ जनवरी १९५०) भारत में निवास करने वाले *व्यक्तियों को संविधान के अनुसार भारतीय नागरिक माना गया है। यदि रामनारायण* अपराध करने के समय भारतीय नागरिक होता तो यह भारतीय दण्डविधान के चौथे खण्ड तथा फौजदारी प्रक्रिया संहिता के खण्ड १८८ के क्षेत्र में आ जाता। श्री *रामनारायण का निवास स्थान उस समय तक पाकिस्तान ही माना जाना चाहिए जब तक* वह स्पष्ट रूप से अपने इस निवास स्थान को छोड़ने का इरादा नहीं प्रकट करता है। उस समय तक वह पाकिस्तान का नागरिक है, बाद में भारत का नागरिक बन जाने पर उससे पहले *विदेश में किये गये* अपराधों के लिये उसके विरुद्ध भारतीय *न्यायालयों* में मामला नहीं चलाया जा सकता।

द्वितीय परिशिष्ट

प्राचीन भारत के कुछ अन्तर्राष्ट्रीयनियम

(१) युद्धविषयक नियम

युद्धसम्बन्धी नियमों के बारे में कौरव पाण्डवों का समझौता (महाभारत भीष्मपर्व, प्रथम अध्याय, श्लोक २६–३३)—

ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
धर्मांश्च स्थापयामासुर्युद्धानां भरतर्षभ ॥२६॥
निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात्प्रीतिर्नः परस्परम् ।
यथापरं यथायोगं न च स्याच्छलनं पुनः ॥२७॥
वाचा युद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम् ।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन ॥२८॥
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः ।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत ॥२९॥
यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम् ।
समाभाष्य प्रहर्त्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले ॥३०॥
एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा ।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ॥३१॥
न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु ।
न भेरीशङ्खवादेषु प्रहर्त्तव्यं कथंचन ॥३२॥
एवं ते समयं कृत्वा कुरुपाण्डवसोमकाः ।
विस्मयं परमं जग्मुः प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥३३॥

युधिष्ठिर और भीष्म का संवाद

शान्तिपर्व ९५।६–१४

युधिष्ठिर उवाच

अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजत् ।
कथं सम्प्रति योद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥६॥

भीष्म उवाच

नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे ।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥७॥

स चेत्सन्नद्ध आगच्छेत्सन्नद्धव्य ततो भवेत् ।
स चेत्ससैन्य आगच्छेत्ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥८॥
स चेन्निकृत्या युध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत् ।
अथ चेद्धर्मतो युद्धयेद्धर्मेणैव निवारयेत् ॥९॥
नाश्वेन रथिन यायादुदियाद्रथिन रथी ।
व्यसने न प्रहर्तव्य न भीताय न जिताय च ॥१०॥
इषुलिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम् ।
यथार्थमेव योद्धव्य न क्रुध्येत जिघासत ॥११॥
साधूना तु मिथो भेदात्साधुश्चेद्व्यसनी भवेत् ।
निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्य कथचन ॥१२॥
भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहन ।
चिकित्स्य स्यात्स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् ॥१३॥
निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्म सनातन. ।
तस्माद्धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायभुवोऽब्रवीत् ॥१४॥

शान्तिपर्व ९९।३-४

विशीर्णकवच चैव तवास्मीति च वादिनम् ।
कृताञ्जलि न्यस्तशस्त्र गृहीत्वा न हि हिंसयेत् ॥३॥
बलेन विजितो यश्च न त युध्येत् भूमिप. ।
सवत्सर विप्रणयेत्तस्माज्जात पुनर्भवेत् ॥४॥

शान्तिपर्व ९८।४८-४९

वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठत ।
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ॥

शान्तिपर्व १००।२६-२८

विजय लभते नित्य सेना सम्यक् प्रयोजयन् ।
प्रसुप्तास्तृषितान् श्रान्तान् प्रकीर्णान्नाभिघातयेत् ॥२६॥
मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयो ।
अतिक्षिप्तान् व्यतिक्षिप्तान् निहतान्प्रतनूकृतान् ॥२७॥
सुविश्रब्धान्कृतारम्भानुपन्यासान् प्रतापितान् ।
बहिश्चरानुपन्यासान्कृतवेश्मानुसारिण ॥२८॥

शान्तिपर्व २९७।४, पराशर का वचन—

श्रान्त भीत भ्रष्टशस्त्र रुदन्त ।
पराङ्मुख पारिबर्हैश्च हीनम् ।
अनुद्यन्त रोगिण याचमान ।
न वै हिंस्याद् बालवृद्धौ च राजन् ॥

कर्णपर्व ९०।११-१३, अर्जुन को कर्ण का कथन

प्रकीर्णकेशे विमुखे ब्राह्मणेऽथ कृताञ्जलौ ॥११॥
शरणागते न्यस्तशस्त्रे याचमाने तथाऽर्जुन ।
अबाणे भ्रष्टकवचे भ्रष्टभग्नायुधे तथा ॥१२॥
न विमुञ्चन्ति शस्त्राणि
शूरा साधुव्रते स्थिताः ।
त्वं च शूरतमो लोके
साधुवृत्तश्च पाण्डव ॥१३॥

द्रोणपर्व १४३।७-८, भूरिश्रवा का अर्जुन को कथन—

ननु नामास्त्रधर्मज्ञस्त्वं लोकेऽभ्यधिकः परैः ।
सोऽयुध्यमानस्य कथं रणे प्रहृतवानसि ॥७॥
न प्रमत्ताय भीताय विरथाय प्रयाचते ।
व्यसने वर्तमानाय प्रहरन्ति मनस्विनः ॥८॥
इदं तु नीचाचरितमसत्पुरुषसेवितम् ।
कथमाचरितं पार्थ पापकर्म सुदुष्करम् ॥९॥

सौप्तिकपर्व ५।११-१२, कृप का अश्वत्थामा को कथन —

न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः ।
तथैवापास्तशस्त्राणां विमुक्तरथवाजिनाम् ॥११॥
ये च ब्रूयुस्तवास्मीति ये च स्युः शरणागताः ।
विमुक्तमूर्धजा ये च ये चापि हतवाहनाः ॥१२॥

सौप्तिकपर्व ६।२१-२२

स पथः प्रच्युतो धर्मात्कुपथे प्रतिहन्यते ।
गो-ब्राह्मण-नृपस्त्रीषु सख्युर्मातुर्गुरोस्तथा ॥२१॥
हीनप्राणजडान्धेषु सुप्तभीतोत्थितेषु च ॥
मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु न शस्त्राणि च पातयेत् ॥२२॥

बौधायनधर्मसूत्र, १।१०।१०-११

न कर्णिभिर्न दिग्धैः प्रहरेत् । भीतमत्तोन्मत्तप्रमत्तविसन्नाहस्त्रीबालवृद्धब्राह्मणैर्न युध्येतान्यत्राततायिनः ।

गौतमधर्मसूत्र, १०।१७।१८

न दोषो हिंसायामाहवे ॥१७॥ अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षाधिरूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः ॥१८॥

शङ्ख—न पानीयं पिबन्तं न भुञ्जानं नोपानहौ मुञ्चन्तं नाभवर्माणं सवर्मा न स्त्रियं न करेणुं न वाजिनं न सारथिं न दूतं न ब्राह्मणं न राजानमराजा हन्यात् । (विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति १।३२६ पर उद्धृत ।)

मनुस्मृति ७।९०–९३

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥९०॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥९१॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥९२॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥९३॥

याज्ञवल्क्य स्मृति १।३२६

तवाहं वादिनं क्लीबं निर्हेतिं परसंगतम् ।
न हन्याद्विनिवृत्तं न युद्धप्रेक्षणकादिकम् ॥

आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।५।११

न्यस्तायुधप्रकीर्णप्राञ्जलिपराङ् वृत्तानामार्यविध परिचक्षते ।

वाल्मीकि रामायण (युद्धकाण्ड १८।२८–३३)

न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रु परन्तप ।
आर्त्तो वा यदि वा दृप्त परेषां शरणागत ॥२८॥
अरि प्राणान्परित्यज्य रक्षितव्य कृतात्मना ।
स चेद् भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति ॥२९॥
स्वया शक्त्या यथान्याय तत्पाप लोकगर्हितम् ।
विनष्ट पश्यतस्तस्यारक्षिण शरणागत ॥३०॥
आदाय सुकृत तस्य सर्वं गच्छेदरक्षित ।
एव दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे ॥३१॥
अस्वर्ग्यं चायशस्य च बलवीर्यविनाशनम् ।
करिष्यामि यथार्थं तु कण्डोर्वचनमुत्तमम् ॥३२॥
धर्मिष्ठं न यशस्य च स्वर्ग्यं स्यात्तु फलोदये ।
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ॥३३॥

कौटिलीय अर्थशास्त्र १३।४

परदुर्गमवस्कन्द्य स्कन्धावार वा पतितपराङ्मुखाभिपन्नमुक्तकेशशस्त्रभयविरूपेभ्यश्चाभयम युध्यमानेभ्यश्च दद्यु ।

कौटिल्य ने युद्ध मे अग्नि के प्रयोग को मर्यादित करने का प्रयत्न किया है (१३।४)

नत्वेव विद्यमाने पराक्रमेऽग्निमवसृजेत् । अविश्वास्यो ह्यग्निर्दैवपीडन च । अप्रतिसंख्यातप्राणिधान्यपशुहिरण्यकुप्यद्रव्यक्षयकर । क्षीणनिचय चावाप्तमपि राज्य क्षयायैव भवति ।

अग्नि पुराण (रणदीक्षा कथन अध्याय २३५)

गजाद्यैश्च गजाद्यारच न हन्तव्या पलायिन ।
न प्रेक्षका प्रविष्टाश्च ग्रशस्त्रा पतितादय ॥५७॥
शान्ते निद्राभिभूते च अर्द्धोत्तीर्णे नदीवने ।
दुर्दिने कूटयुद्धानि शत्रुनाशार्थमाचरेत् ॥५८॥
सम्प्राप्य विजय युद्धे देवान् विप्राश्च सयजेत् ।
रत्नानि राजगामीनि अमात्येन कृते रणे ॥६२॥
तस्य स्त्रियो न कस्यापि रक्ष्यास्ताश्च परस्य च ।
शत्रु प्राप्य रणे मुक्त पुत्रवत् परिपालयेत् ॥६३॥

शुक्रनीति के युद्धसम्बन्धी नियम (चतुर्थ अध्याय, सप्तम प्रकरण)

गजो गजेन यातव्यस्तुरगेण तुरगम
रथेन च रथो योज्य पत्तिना पत्तिरेव च ।
एकेनैकश्च शस्त्रेण शस्त्रमस्त्रेण वास्त्रकम् ॥३५४॥
नचहन्यात्स्थलारूढ नक्लीव नकृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशमासीन न तवास्मीति वादिनम् ॥३५५॥
न सुप्त न विसन्नाह न नग्न न निरायुधम् ।
नायुध्यमान पश्यन्त युध्यमान परेण च ॥३५६॥
पिबन्त न च भुजानमन्यकार्याकुल न च ।
न भीत न पराद्वृत्त सता धर्ममनुस्मरन् ॥३५७॥
वृद्धो बालो न हन्तव्यो नैव स्त्री केवलो नृप ।
यथायोग्य तु सयोज्य निघ्नन् धर्मो न हीयते ॥३५८॥
धर्मयुद्धे तु कूटे वै न सन्ति नियमा अमी ।
न युद्ध कूटसदृश नाशन बलवद्रिपो ॥३५९॥

आक्रमण करने वालों के तीन प्रकार

कौटिलीय अर्थशास्त्र १३।१

त्रयोऽभियोक्तारो धर्मासुरलोभविजयिन इति । तेषामभ्यवपत्या धर्मविजयी तुष्यति । तमभ्यवपद्यत । परेषामपि भयाद् भूमिद्रव्यहरणेन लोभविजयी तुष्यति तमर्थेनाभ्यवपद्येत । भूमिद्रव्यपुत्रदारप्राणहरणेनासुरविजयी त भूमिद्रव्याभ्यामुपगृह्याग्राह्य प्रतिकुर्वीत ।

नीतिवाक्यामृत

स धर्मविजयी राजा विधेयमानेनैव सन्तुष्ट: प्राणार्थाभिमानेषु न व्यभिचरति । स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीति प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति । सोऽसुरविजयी य. प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलपति ।

युद्धसम्बन्धी आदर्श

महाभारत शान्तिपर्व ९४।१, वामदेव की उक्ति

अयुद्धेनैव विजय वर्धयेद्वसुधाधिप ।
जघन्यमाहुर्विजय युद्धेन च नराधिप ।।

शान्तिपर्व ९६।१, भीष्म का वचन

नाधर्मेण मही जेतु लिप्सेत जगतीपति ।
अधर्मविजय लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिप ।।१।।
अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ।
सादयत्येष राजान मही च भरतर्षभ ।।२।।
अनीकयो सहृनयोर्यदीयाद्ब्राह्मणोऽन्तरा ।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्य तदाभवेत् ।।८।।
मर्यादा शाश्वती भिन्द्याद्ब्राह्मण योऽभिलघयेत् ।
अथ चेल्लघयेदेव मर्यादा क्षत्रियब्रुव ।।६।।
असख्येयरतदूर्ध्व स्यादनादेयश्च ससदि ।
यस्तु धर्मविलोपेन मर्यादाभेदनेन च ।।१०।।
ता वृत्ति नानुवर्तेत विजिगीपुर्महीपति ।
धर्मलब्धाद्धि विजयाल्लाभ कोऽन्यधिकोभवेत्।।११।।
नामित्रो विनिकर्तव्यो नातिच्छेद्य कथचन ।
जीवित ह्यप्यतिच्छिन्न सत्यजेच्च कदाचन ।।१४।।

(२) सधि के भेद

कामन्दकीय नीतिसार के नवे सर्ग मे सधि के निम्नलिखित सोलह भेद बताये गये है —

कपाल उपहारश्च सन्तान सगतस्तथा ।
उपन्यास प्रतीकार सयोग पुरुषान्तर ।।२।।
अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपग्रह ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परिभूषण ।।३।।
स्कन्धोपनेय सधिश्च षोडश परिकीर्तित ।
इति षोडशक प्राहु सधि सन्धिविचक्षणा ।।४।।
कपालसधिविज्ञेय केवल समसन्धित ।
सम्प्रपानाद्भवति य उपहार स उच्यते ।।५।।
सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वक ।
सद्भि सगतसधिस्तु मैत्रीपूर्व उदाहृत ।।६।।
यावदायु प्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजन ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च कारणैर्यो न भिद्यते ।।७।।

सगन मधिरेवैष प्रहप्टत्वात्सुवर्णवत् ।
सोऽपरैर्है मन्धिकुशलै काञ्चन परिकीर्तित ॥८॥
भव्यामेकार्थससिद्धि समुद्दिश्य क्रियेत य ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृत ॥९॥
मयास्योपकृत पूर्वं ममाप्येष करिष्यति।
इति य क्रियते मंधि प्रतीकार स उच्यते ॥१०॥
उपकार करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति।
अयञ्चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥११॥
एकार्थां सम्यगुद्दिश्य त्रिया यत्राभिगच्छत ।
स सहितप्रयाणस्तु मन्धि सयोग उच्यते ॥१२॥
आवयोर्योधमुख्याभ्या मदर्थ साध्य इत्यपि।
यस्मिन्पण प्रक्रियते स सन्धि पुरुषान्तर ॥१३॥
त्वयैकेन मदीयार्थ सम्प्रसाध्यस्त्वसाविति ।
यत्र शत्रु पण कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुष स्मृत ॥१४॥
यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुर्वजित ।
सधीयते सधिविद्भिरादिष्ट सधिरुच्यते ॥१५॥
स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मामिष इति स्मृत ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रह ॥१६॥
कोशाशेनाथकुप्येन सर्वकोषेण वा पुन ।
शेषप्रकृतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृत ॥१७॥
भुवा सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
सर्वभूम्युत्थितफलदानेन परिभूषण ॥१८॥
परिच्छिन्न फल यत्र स्कन्ध स्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेय त प्राहु सन्धि सन्धिवियोजना ॥१९॥
परस्परोपकारश्च मैत्र सम्बन्धजस्तथा।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारस्ते च मन्धय ॥२०॥

(३) दूत की विशेषतायें तथा नियम

वाल्मीकि रामायण (अयोध्या काण्ड १००।३५) मे श्री रामचन्द्र ने भरत को दूत की निम्न विशेषतायें बतलायी हैं—अपने ही राज्य म रहने वाला (जानपद), दूसरे के अभिप्राय को जानने वाला (विद्वान्-पराभिप्रायज्ञ), समर्थ, प्रत्युत्पन्नमति और कही हुई बातो को कहने वाला—

कच्चिज्जानपदो विद्वान्दक्षिण प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डित ॥

महाभारत (शान्तिपर्व ८५।२६–२८) मे दूत की अवध्यता का तथा उसकी विशेषताओ का प्रतिपादन निम्न श्लोको मे किया गया है —

न तु हन्यान्नृपो जातु दूत कस्याञ्चिदापदि ।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवै सह ॥२६॥
यथोक्तवादिन दूत क्षत्रधर्मरतो नृप ।
यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयु ॥२७॥
कुलीन कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्ष प्रियवद ।
यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूत स्यात्सप्तभिर्गुणै ॥२८॥

कामन्दकीय नीतिसार १२।२-३, २२-२३

प्रगल्भ स्मृतिमान्वाग्मी शास्त्रे चास्त्रे च निष्ठित ।
अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति ॥२॥
निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा शासनवाहक ।
सामर्थ्यात्पादतो हीनो दूतस्तु त्रिविध स्मृत ॥३॥
रिपो शत्रुपरिच्छेद सुहृद्बन्धुविभेदनम् ।
दुर्गकोपबलज्ञान कृत्यपक्षोपसग्रह ॥२२॥
राष्ट्राव्यपेतपालानामात्मसात्करण तथा ।
युद्धापसारभूज्ञान दूतकर्मेति कथ्यते ॥२३॥

मनुस्मृति ६।६३-६४,

दूत चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इगिताकारचेष्टज्ञ शुचि दक्ष कुलोद्गतम् ॥६३॥
अनुरक्त शुचिर्दक्ष स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञ प्रशस्यते ॥६४॥
दूत एव हि सधत्ते भिनत्त्येव च सहतान् ॥
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवा ॥६६॥

मत्स्यपुराण—वीरमित्रोदय के राजनीतिप्रकाश पृ० १८० पर उद्धृत

यथोक्तवादी दूत स्याद्देशभाषाविशारद ।
सूक्त क्लेशसहो वाग्मी देशकालविभागवित् ॥
विज्ञाय देश काल च यद्धित स्यान्महीक्षित ।
वक्ता तस्यापि य काले स दूतो नृपतेर्भवेत् ॥

गरुडपुराण—राजनीतिप्रकाश पृ० १८० पर उद्धृत

बुद्धिमान्मतिमाश्चैव परचित्तोपलक्षक ।
क्रूरो यथोक्तवादी च एष दूतो विधीयते ॥

सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत—१३वाँ अध्याय दूत समुद्देश —

अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मत्री ॥१॥ स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्य शुचित्वममूर्खता प्रागल्भ्य प्रतिभावत्व क्षान्ति परमर्मवेदित्व जातिश्च प्रथमेति दूतगुण ॥२॥ स च त्रिविधो निसृष्टार्थ परिमितार्थ शासनहरश्चेति ॥३॥ यत्कृतौ स्वामिन सन्धिविग्रहौ प्रमाण स नि सृष्टार्थो यथा कृष्ण पाडवाना ॥४॥ कृत्योपग्रहोऽ—कृत्योत्थापन सुतदायादावरुद्धोपजाप स्वमडलप्रविष्टगूढपुरुषपरिज्ञानमन्तर्भूमिपाला

टविकसवन्ध कोशदेशतत्रमित्रावबोध कन्यारत्नवाहनविनिश्रावण स्वाभीष्ट पुरुषप्रयोगात् परप्रकृतिक्षोभकरण च दूतकर्म ॥८॥ वीर पुरुष परिवारित शूर पुरुषान्तरितान् परदूतान् पश्येत ॥१३॥ श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णप्रयोगैरेक नन्द जघान ॥१४॥ शत्रुप्रहित शासनमुपायन च स्वैरपरीक्षित नोपाददीत ॥१५॥ श्रूयते हि स्पर्शविषवासितादभुतवस्त्रोपायनेन करहाटपति कैटभो वसुनामान राजानमाशीविषधरोपेतकरडकप्राभृतेन च करवाल कराल जघानेति ॥१६॥ महत्यपकारेऽपि न दूतमुपहन्यात् ॥१७॥ उद्धतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजान ॥१८॥ तेषामन्त्यावसायिनोऽप्यवध्या किमङ्ग पुनर्ब्राह्मण ॥१९॥ वध्याभावाद् ता सर्वमेवजल्पति ॥२०॥

(४) मण्डल सिद्धान्त

सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत (१६।२०)

उदासीनमध्यमविजिगीषुरिमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दसारातर्धयो यथासम्भवगुण विभवान्तरतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातार ॥२०॥ अग्रत पृष्ठत कोणे वा सनिकृष्ट वा मण्डले स्थितो मध्यमादीना विग्रहीताना निग्रहे सहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित्कारणेनान्यस्मिन्भूपतौ विजिगीषुमाणे य उदास्ते स उदासीन ॥२१॥ उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित्कारणादन्यस्मि न्नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभावमवलम्बते स मध्यस्थ ॥२२॥ राजात्मदैवद्रव्य प्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठान विजिगीषु ॥२३॥ य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रातिकूल्यमियत्ति स एवारि ॥२४॥ मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ॥२५॥ या विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोप जनयति स पार्ष्णिग्राह ॥२६॥ पार्ष्णिग्राहाद्य पश्चिम स आक्रन्द ॥२७॥ पार्ष्णिग्राहमित्रमासार आक्रन्दमित्र न ॥२८॥ अरिविजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभयवेतन पर्वताटवीकृताश्रयश्चा-न्तर्धि ॥२९॥

कामन्दकीय नीतिसार के अष्टमसर्ग मे मण्डल सिद्धान्त का वर्णन है।

(५) अधिग्रहण के नियम (Prize Law)

गौतम धर्मसूत्र (१०।२०–२३) मे यह कहा गया है कि राजा की आज्ञा से सग्राम मे शत्रु को जीतने पर जो धन मिलता है, वह जीतने वाले का होता है किन्तु हाथी, घोडा आदि वाहन राजा का होता है, न कि जीतने वाले का। यदि सब सैनिक मिलकर एकसाथ शत्रु के सामान को जीतते हैं तो राजा को इसमे से छाटा गया निरोप द्रव्य (उद्धार) दिया जाना चाहिये, इसके अतिरिक्त अन्य द्रव्य राजा को सब सैनिकों मे उनके शौर्य अथवा कार्य के अनुसार बाट देना चाहिये। (जता लभते साग्रामिक वित्तम् ॥२०॥ वाहन तु राज्ञ ॥२१॥ उद्धारश्चापृथग्जये ॥२२॥ अन्यत्तु यथार्ह भाजयेद्राजा ॥२३॥) मनुस्मृति की व्यवस्था (७।९६ ९७) गौतम सूत्र की उपर्युक्त व्यवस्था से कुछ भिन्न है। वह रथ, घोडे, हाथी आदि पर जीतने वाले का

स्वत्व मानता है, केवल सोना चादी, भूमि, रत्न आदि उत्कृष्ट सम्पत्ति जीतने वाले सैनिको द्वारा राजा को समर्पित करने योग्य समझता है। गौतम की भाँति उसने भी उत्कृष्ट वस्तुओ मे राजा को विशेष अश देने की बात कही है और श्रुति के नाम से इसकी पुष्टि की है—

रथाश्व हस्तिन छत्र धन धान्य पशूंस्त्रिय ।
सर्वद्रव्याणि कुप्य च यो यज्जयति तस्य तत् ॥९६॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुति ।
राज्ञा च सर्व योधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥९७॥

शुक्रनीति मे सोने, चादी तथा अन्य धातुओ मे कोई भेद न करते हुए शत्रु की छीनी हुई सभी सम्पत्ति पर जीतने वालो का अधिकार माना गया है—

रूप्य हेम च कुप्यञ्च यो यज्जयति तस्य तत् ।
दद्यात् कार्यानुरूपञ्च हृष्टो योधान्प्रहर्षयन् ॥ ४।७।३७२

(६) परिवेष्टन (Blockade)

कौटिल्य ने इसे पर्युपासन कर्म (१३।४) कहा है। शत्रु को हराने के लिए वह इसे विशेष महत्व देता है और एक पूरे अध्याय मे इसका वर्णन करता है। वह दुर्ग जीतने के पाँच कारणों—उपजाप (शत्रुपक्षीय लोगो मे फूट डालना), अपसर्प (गुप्तचरो द्वारा शत्रु की जासूसी करना), वामन (शत्रु को अपने दुर्ग मे बाहर निकालना), पर्युपासन (शत्रु के किले को चारो ओर से घेरना) और अवमर्द (शत्रु के दुर्ग को ध्वस्त करना)—मे परिवेष्टन को चौथा स्थान देता है।

उपजापोऽपसर्पो वा वामन पर्युपासनम् ।
अवमर्दश्च पञ्चैते दुर्गलम्भस्य हेतव ॥

पर्युपासन मे कौटिल्य ने शत्रु के सचित अन्न (मुष्टि), फसल (सस्य), वीवध (अन्य देशो से या चढाई के समय अपने देश से अन्न और खाद्य सामग्री के आयात के साधन—१०।२ स्वदेशान्वायनिर्वीवध) तथा प्रसार (किसी दूर देश से घास, ईंधन आदि की आमद) को नष्ट करने पर बहुत बल दिया। जैसे १३।४ मे विषमस्थस्य मुष्टि सस्य वा हन्याद्वीवधप्रसारौ च ।

प्रसारवीवधच्छेदान्मुष्टिसस्यवधादपि
वमनात् गूढधाताच्च जायते प्रकृतिक्षय ॥

(श्रीमूलाटीका—विषमस्थस्य शत्रुपरोधसकटप्राप्तस्य मुष्टि बीजवाप, सस्य वा हन्यात्। वीवधप्रसारौ च वीवधो धान्यस्नेहादिभार प्रसार तृणकाष्ठादिप्रवेश, तौ च, हन्यात् ॥ वमनात्—अन्यत्र नयनात्, प्रकृतिक्षय अमात्यद्यपचय)।

कौटिल्य ने अन्यत्र (१२।४) शत्रु को हराने के उपायो का निर्देश करते हुए कहा है कि जब प्रबल आक्रमण करने वाले शत्रु का वीवध (खाद्य पदार्थ), भारवाहियो का समुदाय, उसकी मित्रसेना एव पशुओ के लिए घास चारा लादे हुए काफिला चला आ रहा हो और चलते चलते एक-एक व्यक्ति द्वारा गुजरने योग्य सकरे मार्ग (एकायन)

पर पहुँचे तो गुप्तचर उनके ऊपर आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर दे—एकायन वीवधासारप्रसारान् वा। श्रीमूलाटीका—एकायने एकैकक्रमगम्ये सकुचितमकटे मार्गे। वीवधासारप्रसारान् वीवधो धान्यादिप्राप्ति आसार सुहृद्बलागम प्रसारस्तृणकाष्ठादि-प्रवेश एतान् अभिहन्यु।

कौटिल्य ने १०।४ में घुडसवार सेना के प्रधान कार्यों मे शत्रु के वीवध (उसके देश से अविच्छिन्न रूप से आने वाले खाद्य पदार्थों के आयात) को तथा आसार (मित्रसेना के आगमन) को रोकना तथा अपने वीवध और आसार की रक्षा करना बताया है (वीवधासारयोर्घातो रक्षा वा)।

(७) राज्य के आवश्यक तत्व

कौटिल्य अर्थशास्त्र (१३।४) के अनुसार राज्य के दो आवश्यक तत्व जनता और भूमि है—

न ह्यजनो राज्यमजनपद वा भवतीति कौटिल्य। मि० ७।११ पुरुषवद्धि राज्यम्। अपुरुषा गौर्वन्ध्येव किं दुहीत।

राज्य प्राप्ति के प्रकार

कौटिल्य ने राज्य प्राप्ति या लम्भ (Acquisition) के तीन प्रकार बताये हैं (१३।५)—

त्रिविधश्चास्य लम्भ —नवो भूतपूर्व पित्र्य। श्रीमूलाटीका—नव अस्वीय एव विजिगीषुणा शत्रुसकाशार्जित। भूतपूर्व स्वीय एव शत्रुवशे स्थितस्त जित्वा प्रत्याहृत। पित्र्य स्वपितृसबन्ध्येवार्थ परहस्तगत पर जित्वा प्रत्याहृत।

(८) राज्य व राजाओ के विभिन्न प्रकार

शुक्रनीति १।१८३–८७

लक्षकर्षमितो भागो राजतो यस्य जायते।
वत्सरे वत्सरे नित्य प्रजानामविपीडनै ॥१८३॥
सामन्त स नृप प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधि।
तदूर्ध्वं दशलक्षान्तो नृपो **माण्डलिक** स्मृत ॥१८४॥
तदूर्ध्वन्तु **भवेद्राजा** यावत् विंशतिलक्षक।
पञ्चाशल्लक्षपर्यन्तो **महाराज** प्रकीर्तित ॥१८५॥
ततस्तु कोटिपर्यन्त **स्वराट्** सम्राट् तत परम्।
दशकोटिमितो यावत **विराट्** तु तदनन्तरम् ॥१८६॥
पञ्चाशत्कोटिपर्यन्त **सार्वभौमस्तत** परम्।
सप्तद्वीपा च पृथिवी यस्य वश्या भवेत् सदा ॥१८७॥

तृतीय परिशिष्ट

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन में उपयोगी ग्रन्थसूची

(१) पत्र-पत्रिकायें वार्षिक विवरण

अन्तर्राष्ट्रीय कानून निरन्तर विकसित हो रहा है। उसकी नवीनतम प्रगति का परिचय सबसे अधिक पत्रिकाओं और वार्षिक विवरणों द्वारा होता है इनमें विभिन्न विषयों पर अधिकारी विद्वानों और विधिशास्त्रियों के लेख तथा विश्व न्यायालय तथा राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों के विस्तृत विवरण होते हैं।

American Journal of International Law (New York 1907—)

American Political Science Review (Baltimore 1907—)

Annals of the American Academy of Political and Social Science (Philadelphia 1890—)

Annual Digest and Reports of International Law Cases, 9 Vols 1919 1949

Annual Register (London 1863—)

British Year Book of International Law 1920 1939, 1944— (London)

International Law Reports (1950—)

The Indian Journal of International Law (New Delhi)

Soviet Year book of International Law (Moscow)

The Yearbook of World Affairs, ed by George Keeten, George Schwartzenberger, Stevens (London)

Yearbook of International Law Commission (United Nations)

(२) सामान्य ग्रन्थ

Brierly, J L—The Law of Nations, Sixth Edition, rev by C H M Waldock, 1963

Briggs—The Law of Nations, Cases, Documents and Notes (2nd Edition, 1953)

Oppenheim—International Law Vol I (Peace) Eighth Edition 1955 and Vol II (War) Seventh Edition 1952, both edited by Judge Lauterpacht, the leading British Treatise

Hyde—International Law, chiefly as interpreted and applied by the United States, 2nd revised Edition 1947, 3 Vols, Leading American Treatise

Starke, J L—An Introduction to International Law, 5th Edition, 1963

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशिष्ट अगो के ग्रन्थ

Agrawala, S K—International Law, Indian Courts and Legislature, N M Tripathi, Bombay, 1965

Anand, R P—Compulsory Jurisdiction of International Court of Justice, Asia, Bombay 1961

Arnold, R—Treaty Making Procedure A Comparative study of the methods obtaining in different States, 1933

Auguste, Burry B D—The Continental Shelf Librarie Minard, Paris, 1960

Baade, Hans, W (ed)—The Soviet Impact on International Law, Dobbs Ferry, New York, 1966

Berber, F J—Rivers in International Law (Stevens)

Bishop, William—International Law, Cases and Material Little Brown, Boston, 1962.

Blix, Hans—Treaty Making Power (Stevens London)

Blum, Yehuda, Z—Historic Titles in International Law, Nijhoff, The Hague, 1965

Bouchez, L J—The Regime of Bays in International Law, Leyden, 1964

Brierly, J L—The Outlook for International Law (Oxford, 1944)

Briggs, H W—The Doctrine of Continuous Voyage (Baltimore, 1926)

Carlston, Keiths—Law and Organization in World Society (Uni of Illinois Press, 1962)

Carlston, K S—The process of International Arbitration, 1946

Castel, Jean-Gabriel—International Law chiefly as Interpreted and Applied in Canada, Toronto Uni, 1965

Cecil, Viscount (Lord Robbert)—A Great Experiment (New York, 1941)

Chamberlain, J P—The Regime of the International Rivers, Danube and Rhine (New York and London 1923)

Chamberlain, Waldo—Annual Review of United Nations Affairs (Oceana Publications, New York)

Chaudhari, M A—Growth of International Law and Pakistan, Uni of Pakistan, Karachi, 1965
Cheng, T C—The International Law of Recognition, 1951
Clive Parry (ed)—A British Digest of International Law, Vols 5, 6, 7, 8, Stevens London, Tripathi, Bombay, 2 Vols, 1965
Cobbet, Pit—Cases on International Law, Vol I Peace, 5th ed, by F T Gray (London, 1931), Vol II War and Neutrality, 5th ed, by W L Walker (London, 1937)
Cohen, M (ed)—Law and Politics in Space, Montreal, 1963
Cohn, G—Neo Neutrality (New York, 1939)
Colombos, C J—A Treatise on the Law of Prize, 2nd ed., (London, 1940)
Colombos, C J—The International Law of Sea, 4th ed, London 1959
Connell, D P O—International Law, 2 Vols Stevens London, Tripathi Bombay, 1965
Deak, F and *Jessup P C*—A Collection of Neutrality Laws, Regulations and Treatise of Various Countries, 2 Vols. (Washington, 1939)
Eagleton, C—International Government (New York, 1948)
Fabela Isidro—Intervention—A Pedene Paris, 1961
Fenwick C G—Cases on International Law, 2nd ed, Chicago, 1951
Fenwick C G—International Law, Vakils, Bombay, 1967
Finch, G A—The Sources of Modern International Law (Washington, 1937)
Garner, F W—International Law and the World War, 2 Vols (New York 1920)
Glueck, S—The War Criminals, Their Prosecution and Punishment (New York, 1944)
Goodrich, L M, and *Hambro E*—Charter of the United Nations Commentary and Documents (Boston, 1946)
Greenspan Morris—The Modern Law of Land Warfare, Uni of California, 1959
Green, L C—International Law through the Cases, 2nd ed, Stevens London
Hackworth, G H—Digest of International Law, 8 Vols (Washington, 1940 44) It brings Moore up to date Infra
Hall, F A—The Law of Naval Warfare, 2nd ed, (London, 1921)

Hall, W E—A Treatise of International Law, 8th ed, by A P Higgins (Oxford, 1924)
Hambro—The Case Law of the International Court, 2 Vols (Leyden, 1960) Vols 4A-B (1959 63) Nijthoff Leyden, 1966
Hayten, Robert—National Interests in Antarctica, Washington, 1960
Hershey, A S—The Essentials of International Public Law and Organization (New York, 1937)
Hervey, J C—The Legal Effect of Recognition in International Law (Philadelphia 1928)
Heydecker, J J and *Leebe*—The Nuremberg Trials (Heinmann, 1962)
Higgins, A P—The Hague Peace Conference (Cambridge, 1909)
Higgins, A P and *Colombos C J*—The International Law of the Sea (London New York Toronto 1943)
Hogan, A E—Pacific Blockade (Oxford 1908)
Holland, Sir Thomas Erskine—Lectures on International Law, 1933)
Hudson, M O—The Permanent Court of International Justice (Cambridge, 1925)
Hudson, M O—The Permanent Court of International Justice 1920 42 (New York 1943)
Hudson, M O—Cases and other materials on International Law, 3rd ed, St Paul 1951
Hudson, M.O—International Tribunals Past and Future (Washington, 1948)
Hudson, M O (Ed)—International Legislation, 7 Vols (Washington, 1931 41)
Hyde, C C—International Law chiefly as Interpreted and Applied by the U S A, 2nd rev ed, 3 Vols, Boston 1945
Indian Yearbook of International Affairs
International Law Association—The effect of Independence on Treatise Stevens, 1965
Jocobini, H B—International Law, 1962
Jennings, R Y—The Progress of International Law, New York, 1960
Jessup, Philip—The Use of International Law (Uni of Michigan)

Jessup, P C—The Law of Territorial Waters and Maritime Jurisdiction (New York, 1927).
Jessup, P C—A Modern Law of Nations, 1948.
Joseph Obeita—The International Status of the Suez Canal
Kelson, H—Law and Peace in International Relations (Cambridge, 1942)
Kelson, H—Peace through Law (Chapel Hill, 1944)
Kelsen, Hans—Principles of International Law, Holt, New York 1966
Knights W S M—The Life and Works of Hugo Grotious (London, 1925)
Kohang, Tae, Jin—Law, Politics and the Security Council, Nijhoff, The Hague, 1964
Kozhevnikov, F I—International Law (Foreign Languages Publishing House, Moscow)
Lall, Arthur—Modern International Negotiation Principles and Practice (Columbia Uni, New York, 1966).
Lauterpacht, H—Recognition in International Law (Cambridge, 1947)
Lauterpacht, H—Annual Digest and Reports of Public International Law Cases.
Lawrence, T J—Principles of International Law
Liacourus, Peter J—The International Court of Justice, 2 Vols, Duke Uni Curham, 1962
McDougal, Myris S—Studies in World Public Order Yale University Press, 1960.
McNair, Sir, A D—Legal Effects of War, 2nd ed, Cambridge, 1944
McNair, Sir, A D—The Law of Treaties, Oxford Uni Press, 1961.
McNair, Sir, A D—The Law of the Air, 1932.
McNair, Sir, A D—International Law Opinions (1956) Vols I-III.
Maine, Sir, H S—International Law, 1st ed (New York, 1888) and 2nd ed 1894.
Moore—Digest of International Law (1906), 8 Vols
Meyer, C.B V.—The Extent of Jurisdiction in Coastal Waters, 1937
Mukerji, Sobhanlal—International Law, A. Mukerjee, 1961
Padelford, N J—The United Nations in Balance, Praegar, (New York 1965)

Patel, S R —A Textbook of International Law, Asia, Bombay, 1964

Parithran, A K —Substance of Public International Law, Western and Eastern, A P Rajendran, Madras, 1965

Phillimore, R —Commentaries upon International Law, 3rd ed , 4 Vols (London, 1879 1889)

Panhuys, H F Van—The Role of Nationality in International Law (A W. Sijthoff Leyden, 1959)

Potter, P.B —An Introduction to the Study of International Organization

Potter, P B —The Freedom of the Seas in History, Law and Politics (New York, 1924)

Pyke, H R —The Law of Contraband of War (Oxford, 1915)

Ramundo, B A —The Socialist Theory of International Law, Washington, 1964

Reid, H D —International Servitudes in Law and Practice, 1932

Research in International Law Nationality Responsibility of State for Injustices to Aliens Territorial Waters (Cambridge, Mass, 1929)

Research in International Law Diplomatic Privileges and Immunities Legal Position and Function of Consuls Competence of Courts in regard to Foreign State Piracy Laws of Various Countries (Cambridge, Mass, 1932)

Research in International Law Extradition Jurisdiction with respect to Crime Law of Treaties (Cambridge, 1935)

Research in International Law Judicial Assistance Rights and Duties of Neutral States in Naval and Aeril War, Rights and Duties of States in case of aggression (Cambridge, 1939)

Ronning, C N —Diplomatic Asylum, Legal Norms and Political reality in Latin American Relations, Nijhoff, The Hague, 1965

Schwarzenberger, G —International Law and Totalitarian Lawlessness, 1943

Schwarzenberger, G —The League of Nations and World Order, 1936

Schwarzenberger, G —International Law, Vols I, II, III

Schwarzenberger, G —A Manual of International Law, 2 Vols , Stevens, 1960

Schwarzenbarger, G —The Frontiers of International Law, Stevens, 1962

Second United Nations Conference on the Law of the Sea, Columbia Uni Press, New York, 1960.

Simpson, J L and *H Fox*—International Arbitration (Stevens, London).

Smith—Great Britain and the Law of Nations, Vol. I (1932), Vol II (1935).

Smith, H A —The Crisis in the Law of Nations, 1947

Smith, H A —The Law and Custom of the Sea, 1950

Sompong Sucharitkul—State Immunities and Trading Activities in International Law (Frederich A Praegar, New York, 1959)

Spaight, F M —The Atomic Problem, 1948

United Nations War Crimes Commission History of the United Nations War Crimes Commission and the Development of the Laws of War, 1948

Wilfred, Jenks C —International Immunities, Stevens, 1961

Wheaton, H —Elements of International Law, 1st ed (1836), 8th ed by R H Dana, Jr (Boston, 1866), 6th Eng ed by A B Keith (London, 1929)

●

अनुक्रमणिका